महाकविकालिदासप्रणीतम्
अभिज्ञान
शाकुन्तलम्
डा० राजदेव मिश्र

महाकविकालिदासप्रणीतम्

अभिज्ञानशाकुन्तलम्

(निर्णय सागर प्रेस के मूल पाठानुसार)

(बृहद् भूमिका, विशद अनुवाद, संस्कृत-व्याख्या एवं महत्त्वपूर्ण टिप्पणी आदि सहित)

सम्पादक एवं व्याख्याकार

डॉ० राजदेव मिश्र

(पूर्व कुलपति)

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय

डॉ० (कु०) शुचिता राय

प्रवक्ता, संस्कृत-विभाग

आचार्य नरेन्द्रदेव किसान स्नातकोत्तर महाविद्यालय

बभनान – गोण्डा (उ०प्र०)

प्रकाशक

घनश्यामदास एण्ड सन्स

चौक, फैजाबाद

प्रकाशक
धनश्यामदास एण्ड सन्स
चौक, फैजाबाद
फोनं : २२८१३

प्रथम संस्करण, २००० ई०

मूल्य — नब्बे रूपया मात्र

मुद्रक :
सीमा प्रेस
ईश्वरगंगी, वाराणसी
(फोन : ०५४२-२११०१२)

समर्पणम्

ययोः प्रसादाद्विवृतिं प्रयातं
भव्यं वरेण्यं शुभनाट्यमेतत् ।
उमामहेशौ जगतः सुवन्द्यौ
ताभ्यां सहर्षं सुसमर्प्यतेऽदः ॥

—सम्पादकद्वयम्

पुरोवाक्

वाणी के वरदान महाकवि कालिदास की लोकविश्रुत कृति 'अभिज्ञानशाकुन्तल' के विषय में आधिकारिक रूप से कुछ लिखना असाध्य नहीं तो दुःसाध्य अवश्य है। फिर भी सहृदय मनीषियों एवं प्रबुद्ध जिज्ञासुओं, विशेषतः विद्यार्थियों, की आकांक्षा एवं अपेक्षा को दृष्टिगत कर उक्त कृति पर लेखनी चलाने का प्रयास करना पड़ा। वस्तुतः यह प्रयास कालिदास के ही शब्दों में 'प्रांशुलभ्ये फले लोभादुद्बाहुरिव वामनः' की भाँति है।

उक्त पुस्तक तीन भागों में विभक्त होकर अभिज्ञ अध्येताओं के समक्ष प्रस्तुत है—(१) भूमिका, (२) मूलभाग, (३) परिशिष्ट। **भूमिका** में कालिदास के जीवन-वृत्त, स्थिति-काल एवं कृतियों पर प्रकाश डालकर, शाकुन्तल की बृहत् समीक्षा की गयी है। **द्वितीय भाग** में श्लोक का अन्वय, शब्दार्थ, अनुवाद, संस्कृत-व्याख्या एवं संस्कृत-सरलार्थ प्रस्तुत करने के पश्चात् तद्गत (श्लोकगत) पदों (शब्दों) की व्याकरणात्मक व्याख्या तथा उसमें प्रयुक्त छन्दों-अलङ्कारों को लक्षण सहित प्रस्तुत किया गया है। अन्त में **'टिप्पणी'** शीर्षक के अन्तर्गत अपेक्षित पदों अथवा वाक्यांशों की व्याख्या एवं स्पष्टीकरण दिया गया है। गद्यांशों के शब्दों का व्याकरण तथा शाब्दार्थ आदि देकर फिर उनका अनुवाद है। **तृतीय भाग** में कुल आठ परिशिष्टों को निविष्ट कर उनमें ग्रन्थ से सम्बद्ध अनेक उपयोगी तथा आवश्यक विषयों पर प्रकाश डाला गया है। इस प्रकार ग्रन्थ को सर्वाङ्गपूर्ण व्याख्या के साथ प्रस्तुत करने का प्रयास अवश्य किया गया है, परन्तु प्रयास की वास्तविक सफलता की कसौटी तो सहृदय-हृदय की सन्तुष्टि ही है। सूत्रधार का यह कथन 'आपरितोषाद् विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्' एक प्रकार से हमारे ही मन की बात का प्रकाशन है। हमारा यह सारस्वत प्रयास यदि सुधी पाठकों की जिज्ञासा एवं अपेक्षा का किञ्चिन्मात्र भी समाधान कर सका तो हम अपने प्रयास को सफल मानेंगे।

जिन मनीषी विद्वानों की कृतियों से हमें अपने इस प्रयास में सफलता मिली है, उनके विज्ञ लेखकों के प्रति हम आभार व्यक्त करते हैं। इस ग्रन्थ को शुद्ध एवं परिष्कृत रूप प्रदान कराने में विद्वद्वर डॉ० प्रभुनाथ द्विवेदी तथा डॉ० शिवाकान्त शुक्ल का प्रयास श्लाध्य है, अतः इन्हें हार्दिक धन्यवाद। प्रकाशक घनश्याम दास एण्ड सन्स एवं मुद्रक सीमा प्रेस का सहयोग भी उल्लेख्य है। ग्रन्थ के विषय में विद्वज्जनों के किसी सुझाव का हम स्वागत करेंगे।

श्रावणीपूर्णिमा, वि०सं० २०५७

१५/०८/२०००, फैजाबाद।

विनीत,

सम्पादकद्वय

विषयानुक्रम

मूलभाग

परिशिष्ट–१-८

भूमिका

संस्कृत-साहित्य

व्यापकता एवं सर्वाङ्गीणता

संस्कृत-साहित्य जैसा विशाल एवं सर्वाङ्गपूर्ण साहित्य संसार की किसी अन्य भाषा में उपलब्ध नहीं है। इसकी विशालता एवं सर्वाङ्गीणता को समझने के लिए चारों वेदों, उपवेदों, व्याकरण, ज्योतिष आदि छः वेदाङ्गों, माण्डूक्य, तैत्तिरीय आदि उपनिषदों, ऐतरेय, शतपथ आदि ब्राह्मणों, आरण्यकों, पुराणों, न्याय-वैशेषिक, वेदान्त-मीमांसा, सांख्य-योगादि षड्दर्शन सम्बन्धी ग्रन्थों के अतिरिक्त काव्य के सभी अङ्गों, महाकाव्यों, खण्डकाव्यों, चम्पूकाव्यों, कथा तथा नाट्यशास्त्र, दशरूपक, काव्यालंकार, काव्यादर्श, ध्वन्यालोक तथा काव्यप्रकाश आदि काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों से परिचय पाना आवश्यक है। इतना ही नहीं इधर आधुनिक काल में भी शतशः महाकाव्यों, गीतकाव्यों, नाटकों, लघुकथाओं की रचनायें हुई हैं और आज भी हो रही हैं; अतः उन्हें भी दृष्टिगत करना आवश्यक है। इन सबका आकलन कर लेने के पश्चात् संस्कृत-साहित्य की व्यापकता तथा विशालता स्पष्ट हो जाती है और संस्कृत को मृत भाषा कहने वालों की धारणा स्वतः धराशायी हो जाती है।

संस्कृत-साहित्य में मानव के लिए निर्धारित चार पुरुषार्थों (धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष) का विवेचन बड़े ही मार्मिक ढंग से हुआ है। 'धर्मार्थकामाः सममेव सेव्या यो ह्येकसक्तः स नरो जघन्यः' का उद्घोष करने वाले संस्कृत-वाङ्मय में 'अर्थ अथवा काम की उपेक्षा हुयी है'– इस प्रकार की धारणा निर्मूल ही है।

वस्तुतः संस्कृत-साहित्य में आध्यात्मिक अभ्युत्थान के साधन श्रेय तथा भौतिक विकास के साधन प्रेय दोनों का सम्यक् विवेचन किया गया है।

काव्यवैभव

संस्कृत का काव्यवैभव अत्यन्त उदात्त, प्राञ्जल, सर्वाङ्गपूर्ण एवं गतिशील है। कवि के कर्म को 'काव्य' कहा जाता है–'कवेः कर्म काव्यम्।' कवि अपार काव्य संसार का स्रष्टा है और उसका कर्म (काव्यसृष्टि) भी अलौकिक गुणों से विभूषित है—

"अपारे काव्यसंसारे कविरेकः प्रजापतिः"।

कवि में दर्शन एवं वर्णन दोनों की अनुपम क्षमता होती है। वह अपने प्रातिभ चक्षु से न केवल वर्तमान अपितु अतीत, अनागत, व्यवहित-अव्यवहित सभी पदार्थों का

सूक्ष्मातिसूक्ष्म पर्यवेक्षण करने में समर्थ होता है। इसीलिए वह क्रान्तिदर्शी कहलाता है और उसके लिये यह उक्ति चरितार्थ होती है 'यत्र न रविः तत्र कविः'। यह 'कवयः क्रान्तदर्शिनः' ही उसकी अनुभूति है। इस अनुभूति को जब वह अपनी अलौकिक वर्णना के द्वारा वाणी का कलेवर प्रदान करता है तब वही (अनुभूति) वर्णित होकर झटिति काव्य की पदवी को प्राप्त कर लेती है।

कवि की इसी वर्णना-शक्ति को लक्ष्य कर मम्मट ने लोकोत्तरवर्णना में निपुण कवि के कर्म को 'काव्य' संज्ञा प्रदान की है—

''काव्यं लोकोत्तरवर्णनानिपुणकविकर्म''—काव्यप्रकाश, १.२, वृत्ति

संस्कृत की मौलिकता, व्यापकता तथा सर्वाङ्गीणता के विषय में इतना कहना प्रासङ्गिक यथार्थ है कि संस्कृत-साहित्य प्रत्येक क्षेत्र में विकास की चरमावस्था को प्राप्त कर चुका है। पर विशाल सागर स्वरूप उसके जिस रत्नविशेष ने उसकी कीर्ति में चार चाँद लगाये हैं, वह है उसका काव्यवैभव। अपने इसी काव्यात्मक वैभव के कारण संस्कृत-साहित्य भारतीय तथा अभारतीय उभयविध विद्वानों की प्रशंसा का भाजन बना हुआ है। निस्सन्देह संस्कृत-साहित्य काव्य की सभी धाराओं के चमत्कारात्मक सौन्दर्य से मण्डित है। संस्कृत कवियों ने जिस कविता-कामिनी की सृष्टि की है वह अपनी स्वर-माधुरी, संगीतात्मक प्रवाह, पदलालित्य तथा भावव्यञ्जना के द्वारा सदियों से सहृदयों के सरस हृदय को हठात् अपनी ओर खींचकर उसे रससिक्त कर रही है। सम्प्रति यहाँ पर संस्कृत के सर्वश्रेष्ठ महाकवि कालिदास के विषय में कुछ कहना अभीष्ट है। संस्कृत के जिन कवियों की अनुपम एवं रससिक्त रचनाओं ने उसके माहात्म्य का देश-विदेश में जयघोष गुञ्जित किया है, उनमें महाकवि कालिदास सर्ववरेण्य हैं।

यद्यपि संस्कृत-काव्य जगत् को गौरवास्पद एवं सहृदय-हृदय-वन्द्य बनाने में अनेक महाकवियों का स्तुत्य योगदान रहा है, पर व्यास एवं वाल्मीकि के पश्चात् उसको उच्चता की पराभूमि में प्रतिष्ठित करने का प्रधान श्रेय महाकवि कालिदास को ही है। महाकवि कालिदास सदियों से संस्कृत काव्यवैभव एवं भारतीय प्रतिभा-प्रतिष्ठा की पहचान बन गये हैं। सम्प्रति भारत के साथ ही पाश्चात्त्य जगत् में संस्कृत काव्यलोक की जो दिग्दिगन्तव्यापिनी सारस्वत कीर्ति प्रसृत है उसमें इस महाकविका अविस्मरणीय योगदान है। उन्होंने महाकाव्य, खण्डकाव्य एवं दृश्य काव्य इन तीनों क्षेत्रों में अतुल यश प्राप्त किया है। इस दृष्टि से उनकी सभी रचनायें सरस, वरेण्य एवं रस संचार में सर्वथा समर्थ है। रघुवंश जैसा यशस्वी महाकाव्य, मेघदूत जैसा हृदयावर्जक खण्डकाव्य एवम् अभिज्ञानशाकुन्तल जैसा विश्ववन्द्य नाटक अन्य और किस कवि का हो सकता है।

■

महाकवि कालिदास

प्राचीन भारतीय मनीषियों एवं तत्त्ववेत्ताओं की दृष्टि में जीवनी का कोई महत्त्व नहीं था। उनका दृढ़ विश्वास था कि मनुष्य अपने जीवनवृत्त से नहीं प्रत्युत अपनी कीर्ति से अजर-अमर होता है—'कीर्तिर्यस्य स जीवति'। कीर्ति की आधारशिला कृति होती है क्योंकि अनुपम कृति के द्वारा ही मनुष्य विमल कीर्ति को प्राप्त करता है। यही कारण है कि हमारे पूर्वजों ने एक ओर जहाँ अपनी रचनाओं में प्रतिपाद्य विषयों के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अंशों के विवेचन एवं विश्लेषण में अपना जीवन बिताया, वहीं दूसरी ओर उन्होंने अपने जीवनवृत्त के विषय में स्वयं कुछ भी लिखने का प्रयास नहीं किया। पाश्चात्त्य आलोचकों की दृष्टि में यह भले ही भारतीय मनीषियों की अदूरदर्शिता रही हो पर यदि वे भारतीय विचारकों की वास्तविक दृष्टि को समझने का प्रयास करें तो उन्हें स्वयं अपनी ही अदूरदर्शिता पर पश्चात्ताप करना पड़ेगा। "कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः" की परम्परा में पलने वाले महाकवि कालिदास उक्त भारतीय परम्परा के अपवाद कैसे हो सकते थे? उन्होंने अपनी जीवनी के विषय में कहीं कुछ नहीं लिखा। फलतः आज उनके जीवन-वृत्त, स्थितिकाल आदि के विषय में गहन मन्थन एवं प्रयास करने पर भी कोई सर्वसम्मत समाधान नहीं निकल सका।

अनेक कालिदास—'कालिदास' उपाधि-धारियों के कारण भी समस्या उलझ जाती है। साहित्य-जगत् में सरस्वती के वरपुत्र कालिदास की असाधारण प्रसिद्धि के कारण बाद में उनका नाम अन्य के लिए उपाधि हो गया। किसी ने कालिदास की उपाधि प्राप्त की, तो किसी ने कालिदास को अपने उपनाम के रूप में प्रतिष्ठित कर लिया। राजशेखर ने तो तीन ही कालिदास का उल्लेख किया पर टी०एस० नारायण शास्त्री ने ऐसे कालिदासों की संख्या नौ गिनायी है।

उक्त कारणों से विवश होकर हमें अपने प्रिय महाकवि के जीवनवृत्त आदि की जानकारी के लिये या तो उनकी कृतियों में उल्लिखित किन्हीं आधार-तत्त्वों को ढूँढ़ना पड़ता है या किंवदन्तियों की शरण में जाना पड़ता है अथवा उन रचनाओं, प्रशस्तियों एवं कथनों का आश्रय लेना पड़ता है जिनसे उनकी (कालिदास की) जीवनी आदि के विषय में किञ्चिन्मात्र भी प्रकाश पड़ता है। यहाँ कालिदास के जीवनवृत्त, जन्म-स्थान, स्थितिकाल तथा रचनाओं आदि के विषय में संक्षेपतः प्रकाश डाला जा रहा है।

जीवन-वृत्त

किंवदन्तियाँ

भारतीय परम्परा सार्वभौम ख्याति को प्राप्त करने वाले अपने महापुरुषों के जीवन-वृत्त को किसी न किसी किंवदन्ती के साथ जोड़ने में सिद्धहस्त है। ऐसी ही किंवदन्तियाँ महाकवि कालिदास के साथ जुड़ी हैं।

१. एक किंवदन्ती के अनुसार वे ब्राह्मण-कुल में उत्पन्न हुए थे और पशुपालन आदि का निकृष्ट कार्य करते थे। प्रारम्भ में वे महान् मूर्ख थे। ईर्ष्या और द्वेषवश पण्डितों ने छल-प्रपञ्च करके उनका विवाह उस समय की सुविख्यात विदुषी, शारदानन्द की कुमारी पुत्री विद्योत्तमा से करा दिया। कुछ समय बाद जब विद्योत्तमा को कालिदास की मूर्खता का पता चला तो उसने उन्हें घर से बाहर कर दिया। बाद में काली की उपासना करके उन्होंने विद्या अर्जित की और विद्वान् एवं कवि बनकर घर लौटे। उन्होंने 'अनावृतकपाटं द्वारं देहि' कहकर दरवाजा खटखटाया। विद्योत्तमा ने उनसे पूछा 'अस्ति कश्चिद् वाग्विशेषः ?' कालिदास ने अपनी वाणी का उत्कर्ष दिखलाने के लिए 'अस्ति' शब्द से प्रारम्भ होने वाले (अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवातात्मा....) कुमारसम्भव, 'कश्चित्' से प्रारम्भ होने वाले (कश्चित् कान्ताविरहगुरुणा...) मेघदूत तथा वाक् शब्द से प्रारम्भ होने वाले (वागर्थाविव संपृक्तौ) रघुवंश की रचना की। कालिदास के विश्वविख्यात नाटक अभिज्ञानशाकुन्तल तथा अन्य ग्रन्थों की रचना कैसे हुई ? इसका किंवदन्ती में उल्लेख नहीं है। उक्त किंवदन्ती का सारांश यही है कि मूर्ख कालिदास को महाकवि बनाने का श्रेय उनकी पत्नी को है।

महाकवि तुलसीदास के विषय में भी एक ऐसी ही किंवदन्ती प्रचलित है, जिसके अनुसार अपनी पत्नी की डाँट सह कर वे महाकवि बन गये। किंवदन्तियों के अनुसार दोनों ही अपनी पत्नी की डाँट सहकर ही महाकवि बने। अन्तर केवल इतना है कि कालिदास अपने घर में डाँटे गये थे जबकि तुलसीदास अपनी ससुराल में। यदि पत्नी की डाँट से ही महाकवि बनने की बात हो तो भला कौन नहीं डाँट खाने के लिए तैयार हो जायेगा ?

२. एक अन्य किंवदन्ती के अनुसार कालिदास (मातृगुप्त नाम से) विक्रमादित्य की सभा में प्रतिष्ठित थे।

३. जैन विद्वान् मेरुतुङ्गाचार्य कालिदास को अवन्ती के राजा विक्रमादित्य का जामाता मानते हैं।

उक्त किंवदन्तियों के आधार पर कालिदास के जीवनवृत्त के विषय में किसी निष्कर्ष पर पहुँचना कठिन है, पर उनकी कृतियों में उल्लिखित तथ्यों के आधार पर हम कुछ अनुमान लगाने में समर्थ हो जाते हैं।

कालिदास जन्मत: ब्राह्मण थे। रघुवंश के प्रथम सर्ग में उन्होंने 'क्व सूर्यप्रभवो वंश: क्व चाल्पविषया मति:' इस कथन के द्वारा जिस प्रकार अपने विनय का प्रकाशन किया है, उससे लगता है कि वे स्वभावत: विनम्र एवं निरभिमानी थे। उन्होंने अपने ग्रन्थों में "जगत: पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ" (रघुवंश) तथा "या सृष्टि: स्रष्टुराद्या"—(शाकु०) आदि में शिव के प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट की है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि वे सामान्यत: देवतामात्र के प्रति श्रद्धालु होते हुए भी शिव के प्रति अधिक आस्थावान् थे। उनका वर्णाश्रम धर्म के प्रति अटूट विश्वास था। वे राज-प्रासादों से लेकर आश्रमों तक के जीवन से पूर्ण परिचित थे। वे आश्रम-प्रधान संस्कृति तथा कर्त्तव्यनिष्ठ तपोमय जीवन के पक्षधर थे। उन्हें जीवन के हर क्षेत्र का व्यावहारिक अनुभव प्राप्त था। यह बात उनकी रचनाओं की उन अगणित सूक्तियों से प्राप्त होती है जो जीवन के हर क्षेत्र की हर परिस्थिति में हमें शिक्षा देती हैं और हमारा मार्गदर्शन करती हैं।

कालिदास ने वेद, वेदाङ्ग, दर्शन, पुराण, धर्मशास्त्र, संगीत, आयुर्वेद आदि विविध शास्त्रों का अध्ययन किया था। उन्होंने सम्पूर्ण भारत के पर्वतों, नदियों, वनों का जिस प्रकार सजीव वर्णन किया है उससे यह भी ज्ञात होता है कि उन्हें न केवल भूगोल विद्या का ज्ञान था अपितु उन्होंने भ्रमण करके साक्षात् अनुभव भी प्राप्त किया था।

इस प्रकार 'लोकशास्त्राद्यवेक्षणात्' अर्जित ज्ञान का सम्बल लेकर उनकी नैसर्गिकी काव्य-प्रतिभा काव्य-सर्जना में प्रवृत्त हुई। उनमें काव्यप्रतिभा कितनी थी ? इस विषय में आगे प्रकाश डाला जायगा।

जन्म-स्थान

कालिदास के जन्म-स्थान के विषय में भी बहुत विवाद है। कालिदास की लोकविश्रुति एवं अतुल कीर्ति के कारण लोग अपनी जन्मभूमि से कालिदास का नाता जोड़कर अपनी जन्मभूमिकी महत्ता का प्रख्यापन करना चाहते हैं। अनेक राज्यों में उनके जन्मस्थान के रूप में जिन स्थानों का नाम लिया जाता हैं उनमें से कुछ प्रमुख स्थानों के नाम निम्नांकित हैं—

१. कश्मीर—कश्मीरी विद्वान् प्रो० कल्ला ने अपनी कृति "कालिदास का जन्म-स्थान" में कालिदास का जन्म कश्मीर में माना है।

२. बंगाल—बंगाली लोग कालिदास के नामगत 'काली' और 'दास' इन दो पदों तथा 'मेघदूत' के प्रथम श्लोक 'आषाढस्य प्रथमदिवसे' के आधार पर कालिदास को बंगाल-भूमि का रत्न मानते हैं क्योंकि बंगाल की इष्ट देवी काली है और वहाँ नाम के साथ दास लगाने की प्रथा है। बंगाल में तो कालिदास के नाम पर स्मारक भी बन गया है।

३. विदर्भ—इसके समर्थक डॉ० पीटर्सन आदि हैं।

४. मिथिला—इसके समर्थक पं० आदित्य नाथ झा आदि विद्वान् है। एक अभिलेख में 'कालिदास का चौपड़ी' यह उल्लेख ही उनके मत का आधार है।

५. विदिशा—इसके समर्थक हरप्रसाद शास्त्री तथा परांजपे हैं। मेघदूत में विदिशा के प्रति कालिदास का विशेष आग्रह ही उनके मत का मूलाधार है।

६. उज्जयिनी (मालवा)—महाकवि कालिदास ने मेघदूत में उज्जयिनी का बड़ा हृदयावर्जक वर्णन किया है, जिससे उस नगरी के प्रति उनके अनुरागातिशय का पता चलता है। कालिदास के आश्रयदाता चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने उज्जयिनी को अपनी दूसरी राजधानी बनाया था। इन सब तथ्यों के आधार पर प्रो० मिराशी आदि विद्वान् उज्जयिनी को कालिदास की कर्म-भूमि मानते हैं। सम्प्रति उज्जयिनी में प्रतिवर्ष कालिदास के नाम पर समारोह होता है।

उक्त स्थानों के अतिरिक्त अयोध्या, गढ़वाल, जालौर (जोधपुर के समीप) से भी कालिदास का सम्बन्ध जोड़ा जाता है।

ऐसी दशा में कालिदास की जन्मभूमि तथा कर्मभूमि के रूप में किसी स्थान-विशेष का निर्धारण करना कठिन है पर उज्जयिनी के पक्ष में दिये गये तर्कों के आधार पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि महाकवि का उज्जयिनी से किसी न किसी प्रकार का सम्बन्ध अवश्य रहा है। अधिकांश विद्वान् भी इसी मत के पोषक हैं।

स्थितिकाल

जीवनवृत्त एवं जन्मस्थान की भाँति कालिदास के स्थितिकाल का निर्धारण भी एक जटिल प्रश्न है। अनेक भारतीय एवं पाश्चात्त्य विद्वानों ने उनके समय का निर्धारण करने के लिये एड़ी चोटी का पसीना एक किया है पर सर्वसम्मत समाधान निकालने में वे असफल रहे हैं। जब आजतक यही निर्णय न हो सका कि महाकवि कालिदास किस शताब्दी में हुए तब उनकी जन्मतिथि एवं मरणतिथि का निश्चय करना तो एक प्रकार से टेढ़ी खीर ही है।

काल की पूर्वापर सीमा—विश्वसनीय सामग्री के अभाव में कालिदास के स्थितिकाल के विषय में विभिन्न विद्वानों द्वारा अनेक मत स्थिर किये गये हैं। विद्वानों की कल्पना एवं रुचि की अनेकरूपता तथा किंवदन्तियों के बाहुल्य के कारण कालनिर्धारण सम्बन्धी समस्या और उलझ गयी है। यदि कालिदास के स्थितिकाल के विषय में प्रचलित सभी मतों (ई० पू० ८ वीं शताब्दी के मत से लेकर ईसा की ११ वीं शताब्दी तक के मतों) को दृष्टिगत किया जाय तब तो कालिदास की पूर्व सीमा ई० पू० ८ वीं शताब्दी तथा अपर सीमा ११ वीं शताब्दी तक पहुँच जाती है। पर ठोस अन्तः और बाह्य साक्ष्यों के आधार पर विचार करने पर उनके काल की पूर्ववर्ती सीमा १५० ई० पूर्व से पहले और ई० की सातवीं शताब्दी के पश्चात् नहीं जा सकती। साक्ष्य निम्नांकित हैं—

(१) कालिदास ने अपने मालविकाग्निमित्र नाटक का नायक प्रसिद्ध शुंगवंशी नरेश अग्निमित्र को बनाया है। अग्निमित्र मौर्यवंश के विनाशक सेनापति पुष्यमित्र के पुत्र थे। पुष्यमित्र का समय १५० ई० पूर्व माना जाता है। ऐसी स्थिति में कालिदास १५० ई० पूर्व के पहले नहीं हो सकते।

(२) कन्नौज-सम्राट् हर्ष के आश्रित महाकवि बाणभट्ट विरचित हर्षचरित की प्रस्तावना में कालिदास का उल्लेख हुआ है—'निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु'। हर्ष के आश्रित होने के कारण बाणभट्ट का समय ६०६ ई० से ६४७ ई० है।

(३) पुलकेशी द्वितीय के आश्रित कवि रविकीर्ति ने ऐहोल वाले शिलालेख में कालिदास का नाम लिखा है—"स विजयतां रविकीर्तिः कविताश्रितकालिदासभारविकीर्तिः"। उक्त शिलालेख का समय शक संवत् ५५६ (ई० ३३४) है। अतः कालिदास को ई० की सातवीं शताब्दी के बाद का नहीं माना जा सकता। अधिकांश विद्वान् उक्त दोनों सीमाओं के मानने के पक्षधर हैं। अब हमें इन्हीं दो सीमाओं (ई० पू० द्वितीय शताब्दी से लेकर ई० की सातवीं शताब्दी) के मध्य कालिदास के काल का निर्धारण करना है।

अनेक मत—जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कालिदास के समय-निर्धारण में निम्नांकित तीन मत प्रमुख हैं, अतः संक्षेप में उन्हीं का विवेचन नीचे किया जा रहा है—

१. छठीं शताब्दी का मत

२. गुप्तकालीन मत

३. ई० पूर्व प्रथम शताब्दी का मत

(१) छठीं शताब्दी का मत—इस मत के समर्थक डॉ० हार्नली, फर्ग्युसन तथा डॉ० हरप्रसाद शास्त्री आदि हैं। डॉ० हार्नली के अनुसार छठीं शताब्दी में सम्राट् यशोधर्मन् ने बालादित्य नरसिंह गुप्त की सहायता से हूणवंश के प्रतापी राजा मिहिरकुल को परास्त किया था। विजयान्तर 'विक्रमादित्य' की उपाधि धारण कर उन्होंने विजय के उपलक्ष्य में एक नवीन संवत् चलाया जो विक्रम संवत् के नाम से प्रसिद्ध हुआ। अपने चलाये गये संवत् की प्राचीनता सिद्ध करने के लिये यशोधर्मन् ने अपने संवत् के ६०० पूर्व से, अर्थात् ई० पूर्व ५७ से, प्रारम्भ होने की बात प्रचारित की। डॉ० हार्नली की नवीन संवत्सरकी कल्पना का उपयोग फर्ग्युसन ने कालिदास के समय निर्धारण में किया।

समर्थन में तर्क—इस मत के समर्थन में दिये गये कुछ तर्क निम्नाङ्कित हैं—

१. विक्रमादित्य की सभा में कालिदास का होना प्रसिद्ध ही है।

२. कालिदासविरचित 'रघुवंश' नामक महाकाव्य में रघु की दिग्विजय की सीमा यशोधर्मन् की राज्य सीमा से मिलती है। कालिदास की रचनाओं में यवन, शक, हूण आदि का उल्लेख मिलता है। हूणों ने ५०० ई० में भारत पर आक्रमण किया था।

३. मैक्समूलर के अनुसार छठीं शताब्दी ही संस्कृत के पुनरुत्थान का समय है। अतः कालिदास का उस काल में होना सम्भव है।

४. ज्योतिर्विदाभरण नामक ग्रन्थ के अनुसार कालिदास शकारि विक्रमादित्य के नवरत्नों में से थे। उस ग्रन्थ का रचना काल ५८० ई० है।

५. छठीं शताब्दी के ज्योतिषाचार्य वराहमिहिर ने वर्षा-ऋतु का आरम्भ आषाढ से माना है और कालिदास ने मेघदूत में 'आषाढस्य प्रथमदिवसे' कहकर आषाढ से वर्षा-ऋतु का आरम्भ स्वीकार किया है। इसके साथ ही कालिदास ने अपनी रचनाओं में वराहमिहिर के अनेक ज्योतिष सम्बन्धी सिद्धान्तों का उल्लेख किया है।

खण्डन—१. छठीं शताब्दी के राजा यशोधर्मन् के द्वारा विजय के उपलक्ष्य में संवत् चलाकर उसे ६०० वर्ष पहले से आरम्भ होने का प्रचार न तर्कसङ्गत है और न इतिहाससम्मत। अतः फर्ग्युसन महोदय की कल्पना आधारहीन है। मालव संवत् के नाम से उक्त संवत् पहले से ही प्रचलित था और उसका 'विक्रम' नाम बाद में पड़ा।

२. भारतीय जनश्रुति के अनुसार कालिदास शकारि विक्रमादित्य के आश्रित कवियों में से एक थे। 'शकारि' यह उपाधि शकों को परास्त करने वाले चन्द्रगुप्त द्वितीय ने धारण की थी। वस्तुतः छठी शताब्दी में विक्रमादित्य नाम का अन्य कोई राजा नहीं हुआ।

३. रघुवंश के रघु-दिग्विजय वर्णन में जिन शकों, यवनों का उल्लेख हुआ है वे आक्रमणकारी नहीं थे। रघु ने उन्हें भारत की सीमा के बाहर ही परास्त किया था।

४. प्रथम शताब्दी के अश्वघोष (७८ ई०) कृत बुद्धचरित तथा सौन्दरनन्दादि काव्यों तथा भास के नाटकों से यह सिद्ध हो चुका है कि छठीं शताब्दी के पूर्व में भास, अश्वघोष तथा काव्यात्मक शिलालेखों के रहते छठीं शताब्दी के पूर्व काल को अंधकार-काल कहना तथा छठीं शताब्दी को संस्कृत का पुनरुज्जीवन-काल कहना समीचीन नहीं है।

५. 'ज्योतिर्विदाभरण' जैसे अप्रामाणिक ग्रन्थों के आधार पर कुछ कहना ठीक नहीं है।

६. वर्षाऋतु के आषाढ मास से प्रारम्भ होने के आधार पर कालिदास को वराहमिहिर का समकालीन मानना उचित नहीं है। आषाढ से वर्षा-ऋतु के प्रारम्भ की मान्यता भी वराहमिहिर से पूर्व की है।

७. मध्य भारत के मन्दसौर नामक स्थान में वत्सभट्टिकृत शिलालेख (४७३ ई०) में कालिदास के ऋतुसंहार एवं मेघदूत के पद्यों की स्पष्ट झलक है।

(२) गुप्तकालीन अथवा चतुर्थ शताब्दी का मत—भारतीय जनश्रुति के अनुसार ....'कालिदासकवयो नीताः शकारातिना' लेख के आधार पर तथा कालिदास

के ग्रन्थों में अङ्कित 'विक्रम' पद के श्लेष के आधार पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि कालिदास किसी शकारि विक्रमादित्य के आश्रय में थे जिसकी राजधानी उज्जयिनी थी। चन्द्रगुप्त द्वितीय (३७५-४१३) तथा उसके पौत्र स्कन्दगुप्त दोनों ने ही विक्रमादित्य की उपाधि धारण की थी। दो विक्रमादित्य की स्थिति होने के कारण यह मत दो भागों में विभक्त हो जाता है—

१. पूना के प्रो० के०वी० पाठक कालिदास को स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य का समकालीन मानते हैं। कुमारगुप्त के पुत्र स्कन्दगुप्त ने ४५५ ई० में हूणों को परास्त कर विक्रमादित्य की उपाधि धारण की थी। यह मत जिन तथ्यों पर आधारित हैं वे ठीक नहीं हैं। क्योंकि रघुवंश में रघु द्वारा हूणों को परास्त करने की घटना ४५५ ई० पूर्व की ही सिद्ध होती है जब हूणों का भारत में आगमन हुआ था। दूसरी बात यह है कि स्कन्दगुप्त हूणारि थे न कि शकारि। उसने शुङ्गवंशी क्षत्रपों के विजय के उपलक्ष्य में पूर्वप्रचलित मालव संवत् को (अपना नाम विक्रम लगाकर) विक्रम संवत् नाम से चलाया।

२. प्रो० पाठक के मत के विपरीत पाश्चात्त्य विद्वान् डॉ० कीथ, मैक्डॉनल, विण्टरनित्ज तथा भारतीय विद्वान् डॉ० आर० डी० भण्डारकर, म०म० रामावतार शर्मा आदि कालिदास को चन्द्रगुप्त द्वितीय (३७५-४१३ई०) का आश्रित कवि मानते हैं। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने शकों को भारत से निकाल कर विक्रमादित्य की उपाधि धारण की थी। इस मत के पक्ष में निम्नाङ्कित तर्क दिये जाते हैं—

१. शकारि विक्रमादित्य (चन्द्रगुप्त द्वितीय) की राजधानी उज्जयिनी थी। वह स्वयं विद्वान् पण्डितों का आश्रयदाता एवं दानी था। अतः ऐसे राजा के आश्रय में कालिदास जैसे कवि का रहना समीचीन एवं सङ्गत है। कालिदास की कृतियों में वर्णित सुख-समृद्धि, राजकीय वैभव तथा विलास भी चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय के प्रतीत होते हैं।

२. चौथी शताब्दी की हरिषेण द्वारा विरचित प्रयाग वाली प्रशस्ति में किये गये समुद्रगुप्त (३३६-३७५ ई०) के विजय वर्णन में तथा रघुवंश के चतुर्थ सर्ग के रघुदिग्विजय-वर्णन में बहुत कुछ समतायें हैं। मालविकाग्निमित्र में वर्णित अश्वमेध यज्ञ समुद्रगुप्त के अश्वमेध यज्ञ को इङ्गित करता है। सम्भव है समुद्रगुप्त के विजयवर्णनों को दृष्टिगत कर ही कालिदास ने रघु के दिग्विजय का वर्णन किया हो।

३. कालिदास के विक्रमोर्वशीय नाटक का नामकरण विक्रमादित्य नाम को ध्यान में रख कर किया गया है तथा कुमारसम्भव महाकाव्य की रचना चन्द्रगुप्त के पुत्र कुमारगुप्त के जन्म को लक्षित कर की गयी प्रतीत होती है। इसी प्रकार वाकाटक राजा रुद्रसेन तथा चन्द्रगुप्त द्वितीय की पुत्री प्रभावती के विवाहोत्सव पर कालिदास ने अपने मालविकाग्निमित्र की रचना की।

४. रघुवंश के 'ज्योतिष्मती चन्द्रमसैव रात्रिः', 'इन्दुनवोत्थानमिवेन्दुमत्यै' इत्यादि पंक्तियों में 'इन्दु' तथा 'चन्द्रमस्' शब्द चन्दगुप्त को ही लक्षित करता है। 'स्ववीर्यगुप्ता हि मनोः प्रसूतिः', 'जुगोपात्मानमत्रस्तो भेजे धर्ममनातुरः' तथा 'जुगोप गोरूपधरामिवोर्वीम्' इत्यादि स्थलों में अनेक बार 'गुप्' धातु का प्रयोग भी उनके गुप्तकालीन होने का सङ्केत करते हैं।

खण्डन—१. चन्द्रगुप्त द्वितीय द्वारा पूर्वप्रचलित मालव संवत् को अपने नाम से चलाने की बात सङ्गत नहीं है। यदि विजय के उपलक्ष्य में उसे संवत् चलाना ही था तो उसने नया संवत् क्यों नहीं चलाया ? दूसरी बात यह है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय के पितामह चन्द्रगुप्त प्रथम ने स्वयं गुप्त संवत् चलाया था। अपने पितामह द्वारा चलाये सवंत् को न अपना कर दूसरे संवत् को अपनाना हास्यास्पद है। चन्द्रगुप्त द्वितीय के बाद किसी गुप्त राजा ने विक्रम संवत् को नहीं अपनाया। स्कन्दगुप्त के गिरिनार वाले शिलालेख का ही उल्लेख है— **'गुप्तप्रकाले गणनां विधाय।'** वस्तुस्थिति यह है कि विक्रम संवत् का प्रथमोल्लेख नवीं शताब्दी में मिलता है।

२. किसी भी गुप्त राजा का नाम विक्रमादित्य नहीं है। चन्द्रगुप्त द्वितीय और स्कन्दगुप्त की 'विक्रमादित्य' उपाधि है। कोई भी उपाधि तभी प्रचलित होती है जब उस नाम का कोई व्यक्ति पहले से ही ख्याति प्राप्त कर चुका हो। यदि 'कालिदास' उपाधिधारियों को ही वास्तविक कालिदास मान लिया जाय तब तो संस्कृत साहित्य को कम से कम दस कालिदास प्राप्त हो जायेंगे। अतः 'विक्रमादित्य' उपाधिधारी चन्द्रगुप्त द्वितीय को वास्तविक विक्रमादित्य मानना कथमपि न्याय-सङ्गत नहीं है। इसी प्रकार चन्द्रगुप्त द्वितीय को शकारि कहना भी ठीक नहीं है।

३. कालिदास के रघुवंश में वर्णित दिग्विजय का मूल हरिषेण विरचित प्रयाग की प्रशस्ति में वर्णित समुद्रगुप्त के दिग्विजय में ढूँढ़ना असङ्गत है। दिग्विजयों का वर्णन अति प्राचीन ग्रन्थों रामायण, महाभारत पुराणादि में भी मिलता है। इसी प्रकार कालिदास के समक्ष उनके पूर्ववर्ती राजाओं 'पुष्यमित्रादि' द्वारा किये गये अश्वमेध यज्ञों का वर्णन भी विद्यमान था।

४. चन्द्रगुप्त द्वितीय के पुत्र कुमारगुप्त के जन्म की स्मृति में कुमारसम्भव की तथा विक्रमादित्य के 'विक्रम' शब्द के आधार पर 'विक्रमोर्वशीय' की रचना मानना भी ठीक नहीं है। संस्कृत-साहित्य के अन्य ग्रन्थों में भी पुत्र अर्थमें कुमार शब्द अत्यधिक प्रचलित है। कालिदास ने अपनी कृतियों में कुमार के पर्यायवाची पुत्र, तनय, आत्मज आदि शब्दों का भी प्रयोग किया है। कालिदास ने कुमार-सम्भव में कुमार शब्द का प्रयोग इसलिये किया है कि शिव के पुत्र स्कन्द के लिये कुमार शब्द अधिक प्रचलित है। विक्रमोर्वशीय में प्रयुक्त विक्रम शब्द को चन्दगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के लिये मानना अनुचित है क्योंकि विक्रमोर्वशीय

में विक्रम शब्द पराक्रम का पर्याय है और उससे पुरूरवा के पराक्रम की सूचना मिलती है। अग्निमित्र पुष्यमित्र का पुत्र था और उसका समय सम्भवत: १५० ई० पू० रहा होगा। कालिदास ने अपने समय के समीप होने के कारण उसके गुणों से प्रभावित होकर उसकी प्रशंसा में अपने नाटक की रचना की है। अत: चन्द्रगुप्त द्वितीय की पुत्री प्रभावती के विवाह के अवसर पर विक्रमोर्वशीय की रचना मानना भी ठीक नहीं है। यदि ऐसी बात होती तो वे गुप्तवंशी राजाओं में से ही किसी को अपने नाटक का नायक बनाते।

५. कालिदास के काव्यों में 'गुप्' धातु का बारम्बार प्रयोग गुप्त राजाओं के लिये किया गया है, यह मान्यता भी निराधार है। कालिदास के काव्यों में सामान्य रक्षा अर्थ में ही, रक्षार्थक अन्य धातुओं (रक्ष्, पा, त्रै आदि) की भाँति ही 'गुप्' का प्रयोग हुआ है।

६. कालिदास ने अपने काव्यों में ('चन्द्रमसैव रात्रिः' आदि स्थलों में) जो 'चन्द्र' अथवा 'चन्द्र' के पर्यायवाची 'इन्दु' आदि शब्दों का प्रयोग किया है, वह भी सामान्य अर्थ में ही। संस्कृत के प्रायः सभी काव्य-ग्रन्थों में चन्द्रवर्णन एक सामान्य बात है।

अत: ठोस प्रमाण के बिना केवल उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर ही महाकवि कालिदास को चन्द्रगुप्त द्वितीय का समकालिक मानना उचित नहीं है।

(३) ई० पू० प्रथम शताब्दी का मत—भारतीय जनश्रुतियों के अनुसार कालिदास का सम्बन्ध किसी विक्रमादित्य नामक राजा से था जो विद्याव्यसनी, उदारचेता और कवियों आदि का आश्रयदाता था। अनेक भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानों की यह मान्यता है कि कालिदास ई०पू० प्रथम शताब्दी में विराजमान विक्रमादित्य के आश्रित कवि थे। उनके मत में विक्रमादित्य परमारवंशी थे और उन्होंने शकों को परास्त कर विजय के उपलक्ष्य में मालवगणस्थिति संवत् चलाया जो बाद में विक्रम संवत् के नाम से प्रसिद्ध हुआ। विरोधी पक्ष को ई०पू० प्रथम शताब्दी में विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता, उनके द्वारा विक्रम संवत् चलाये जाने की बात तथा कालिदास का उक्त का आश्रित होना मान्य नहीं है। क्योंकि उनकी दृष्टि में विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता आदि को सिद्ध करने के लिए कोई ठोस प्रमाण नहीं मिलता। अत: सर्वप्रथम इन तीनों के विषय में विचार करना आवश्यक है।

विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता—१. हाल की गाथासप्तशती (प्र० शताब्दी ई०) में विक्रमादित्य नामक एक प्रतापी, उदार तथा महादानी राजा का उल्लेख है जिसने शकों पर विजय पाने के उपलक्ष्य में भृत्यों को लाखों रुपये का उपहार दिया था— "विक्रमादित्योऽपि भृत्यस्य करे लक्षं ददाति'—टीकाकार गदाधर।

२. गुणाढ्य (७८ ई०) की बृहत्कथापर आश्रित सोमदेवकृत कथासरित्सागर में उज्जयिनी के राजा विक्रमादित्य का उल्लेख है। उसके अनुसार विक्रमादित्य परमारवंशी

महेन्द्रादित्य का पुत्र था और उसने शकों को पराजित कर विजय के उपलक्ष्य में मालवगणस्थिति संवत् चलवाया जो बाद में विक्रम संवत् के नाम से प्रचलित हुआ। उक्त ग्रंथ में विक्रमादित्य के राज्याभिषेक का भी वर्णन है तथा पिता-पुत्र दोनों के शैव होने की बात कही गयी है।

३. जैनकवि मेरुतुङ्गाचार्य द्वारा विरचित पद्यावली से पता चलता है कि उज्जयिनी के राजा गर्दभिल्ल के पुत्र विक्रमादित्य ने शकों से उज्जयिनी का राज्य महावीर के निर्वाण के ४७० वें वर्ष (ई० ५७ वर्ष) में छीन लिया था।

४. सर विलियम जोन्स, विन्सेन्ट स्मिथ, स्टेन कोनों तथा एजर्टन आदि पाश्चात्य और प्रो० क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय, डॉ० राजबली पाण्डेय आदि भारतीय विद्वानों ने भी विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता को मान्यता प्रदान की है।

उक्त प्रमाणों तथा अन्य तथ्यों के होने पर भी विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता को स्वीकार न करना एक प्रकार का दुराग्रह ही है। केवल शिलालेख आदि सामग्री के आधार पर ही किसी की ऐतिहासिकता सिद्ध नहीं होती। ऐसा होने पर तो न जाने कितने महापुरुषों की सत्ता अमान्य हो जायेगी।

विक्रमादित्य उपाधि—इस सन्दर्भ में विक्रमादित्य उपाधि तथा विक्रम संवत् के प्रवर्तन के समाधान पर थोड़ा विचार कर लेना प्रसङ्गोपेत है—'विक्रमादित्य'– इस उपाधि ने किन्हीं आलोचकों को और भ्रमित किया है। इसलिये वे कालिदास का सम्बन्ध विक्रमादित्य उपाधि-धारी चन्द्रगुप्त द्वितीय अथवा स्कन्दगुप्त के साथ जोड़ते हैं। वास्तविकता यह है कि ई०पू० प्रथम शताब्दी के राजा महेन्द्रादित्य के पुत्र का वास्तविक नाम ही विक्रमादित्य था। विक्रमादित्य उसकी उपाधि नहीं थी। उसकी उदारता, विद्याप्रेम, दानवीरता तथा न्यायप्रियता ने उसे इतना लोकप्रिय बना दिया था कि उसके नाम के साथ अनेक जनश्रुतियाँ जुड़ गयीं। भारत के ग्रामीण क्षेत्र का भी शायद ही कोई हिन्दू हो जिसने विक्रमादित्य का नाम न सुना हो। महापुरुषों के नाम को परवर्ती लोगों द्वारा उपाधि के रूप में धारण करने की प्रथा प्रत्येक देश में प्रचलित है। चन्द्रगुप्त द्वितीय तथा स्कन्दगुप्त द्वारा विक्रमादिंत्य की तथा कुमारगुप्त के द्वारा महेन्द्रादित्य की उपाधि धारण करना इसी तथ्य का द्योतक है। ऐसी स्थिति में कालिदास का सम्बन्ध वास्तविक विक्रमादित्य के साथ न जोड़कर विक्रमादित्य उपाधिधारी चन्द्रगुप्त द्वितीय आदि के साथ जोड़ना ठीक नहीं है।

विक्रम संवत्—जहाँ तक ई०पू० प्रथम शताब्दी वाले विक्रमादित्य के द्वारा विक्रम संवत् के प्रवर्तन का प्रश्न है उसके बारे में विरोधियों का यह कहना है कि यदि उक्त विक्रमादित्य ने संवत् का प्रवर्तन किया हो तो उन्होंने अपने नाम से क्यो नहीं चलाया ? उन्होंने संवत् को मालव नाम से क्यों चलाया था ? पाँचवीं तथा छठीं शताब्दी के शिलालेखें

में 'मालवगणस्थित्या' 'श्रीमालवगणा' आदि रूपों में इस संवत् का उल्लेख है। संवत् के साथ 'विक्रम' नाम नवीं या दसवीं शताब्दी में जुड़ा।

इस प्रसङ्ग में दो बातें कहनी हैं। प्रथम यह कि 'गणस्थिति' का अर्थ गणना पद्धति है। दूसरी यह कि विक्रमादित्य ने प्रारम्भ में संवत् के साथ अपना नाम जोड़ना उचित न समझकर उसमें 'मालवगण' का ही नाम जोड़ दिया। बाद में उनकी ख्याति के कारण वह संवत् विक्रम के नाम से चल पड़ा।

कालिदास का विक्रमादित्य का आश्रित होना—विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता सम्बन्धी समस्या का समाधान हो जाने के बाद यह प्रश्न विचारणीय हो जाता हैं कि कालिदास विक्रमादित्य के आश्रित थे या नहीं ? निम्नांकित तथ्यों को दृष्टिगत करने पर यह सिद्ध हो जाता है कि कालिदास विक्रमादित्य के आश्रित थे—

१. विक्रमादित्य विद्याव्यसनी, काव्यप्रेमी तथा संस्कृत के अनुरागी थे। अतः उनके आश्रय में कालिदास की स्थिति सर्वथा संभव है।

२. कालिदास ने रघुवंश में अवन्ति के राजा विक्रमादित्य का श्रद्धा के साथ उल्लेख किया है-'अवन्तिनाथोऽयमुदग्रबाहु....' ६/३२ तथा 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में संवत् १६९९ (१६४२ ई०) की हस्तलिखित पाण्डुलिपि में भी विक्रमादित्य का स्पष्ट उल्लेख हुआ है। इससे यह सिद्ध होता है कि कालिदास विक्रमादित्य के आश्रित थे और उनके शाकुन्तल का अभिनय उनकी सभा में हुआ था।

३. कालिदास ने अपने नाटक विक्रमोर्वशीय के नाम में नाटक के नायक पुरूरवा के स्थान पर 'विक्रम' नाम प्रतिष्ठित किया है और नाटक में 'महेन्द्र' शब्द का प्रयोग अनेक बार किया है। इससे भी कालिदास की विक्रमादित्य की आश्रयता सिद्ध होती है।

४. शाकुन्तल, मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशीय तथा रघुवंश में महाकवि ने भगवान् शङ्कर की वन्दना की है। विक्रमादित्य भी शैव थे। कालिदास के काव्यों में सूर्यवंशी राजाओं का वर्णन हुआ है। विक्रमादित्य भी सूर्यवंशी थे। यहाँ यह स्मरणीय है कि गुप्त राजा वैष्णव थे तथा उनका सम्बन्ध चन्द्रवंश से था।

५. 'ज्योर्तिर्विदाभरण' में उल्लिखित नवरत्नों के बीच कालिदास के नाम को देखकर यह अनुमान लगाना कि 'कालिदास ई० पूर्व प्रथम शताब्दी में नहीं थे' ठीक नहीं है क्योंकि उसमें चर्चित क्षपणक, शंकु आदि अज्ञात हैं। दूसरे सभी नव कवियों की समकालीनता भी सन्दिग्ध है।

अतः उक्त प्रमाणों से विक्रम संवत् के प्रवर्तक शकारि विक्रमादित्य (ई० पू० प्रथम शताब्दी) के आश्रय में कालिदास की स्थिति निर्विवाद रूप से प्रमाणित हो जाती है। यों विक्रमादित्य के आश्रय में कालिदास की स्थिति सिद्ध हो जाने पर उनका ई० पू० प्रथम

शताब्दी में विद्यमान होना भी सिद्ध हो जाता है। परन्तु निम्नांकित साक्ष्य भी कालिदास की सत्ता ई०पू० प्रथम शताब्दी में सिद्ध करते हैं। अतः वे भी द्रष्टव्य हैं।

१. अश्वघोष तथा कालिदास की रचनाओं के तुलनात्मक अध्ययन से यह सिद्ध होता है कि अश्वघोष पर कालिदास का प्रभाव है। अश्वघोष कुषाण सम्राट कनिष्क (प्रथम शताब्दी) के गुरु तथा राजकवि थे। अतः विरोधियों का कालिदास को अश्वघोष का परवर्ती मानना ठीक नहीं है।

२. कालिदास की रचनाओं में अनेक अपाणिनीय प्रयोग मिलते हैं जिससे यह सिद्ध होता है कि कालिदास ने अपने काव्यों की रचना तब की जब पाणिनीय व्याकरण का प्रभाव पूरी तरह प्रतिष्ठित नहीं हो पाया था। यह काल ई०पू० प्रथम शताब्दी के बाद का नहीं हो सकता क्योंकि प्रथम शताब्दी के अश्वघोष में तथा परवर्ती कवियों में अपाणिनीय प्रयोग बहुत कम मिलते हैं।

३. कालिदास ने 'मालविकाग्निमित्र' नाटक का नायक अग्निमित्र को बनाया है। अग्निमित्र का समय १५० ई०पू० है। उक्त नाटक में चित्रित कुछ बातें भी कालिदास को अग्निमित्र का समीपवर्ती सिद्ध करती हैं।

४. भीटा (प्रयाग) के एक मुद्राचित्र में हरिण का शिकार करता हुआ एक रथारूढ़ राजा दिखलाया गया है। उक्त स्थान शुङ्ग की सीमा में पड़ता है। इससे सिद्ध होता है कि कालिदास शुङ्गों का शासन समाप्त होने के पहले थे। शुङ्गों का समय ई० पू० २५ है।

५. गुप्तकालीन शिलालेखों की भाषा शैली से कालिदास की भाषा शैली की तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जाता हे कि शिलालेखों की समासबहुल और कृत्रिम भाषा शैली की अपेक्षा कालिदास की शैली सरल एवं स्वाभाविक है। उसमें लम्बे समासों का भी अभाव है। इससे भी कालिदास का गुप्तकाल की अपेक्षा पूर्ववर्ती होना सिद्ध होता है। कालिदास की शैली महाभाष्य (ई० पू० द्वितीय शताब्दी) के निकट है।

६. कालिदास ने रघुवंश में इन्दुमती के स्वयंवर के अवसर पर अवन्तिनाथ पाण्ड्य का—'अवन्तिनाथोऽयमुदग्रबाहुः......' तथा उस पर रघु के विजय का वर्णन किया है—'तस्यामेव रघोः पाण्ड्या प्रतापं न विषेहिरे' ४/४९। पाण्ड्य राजाओं की स्थिति ई०पू० प्रथम शताब्दी में थी।

उक्त प्रमाणों तथा तथ्यों के आधार पर कालिदास का स्थितिकाल ई०पू० प्रथम शताब्दी में मानना समीचीन एवं सङ्गत हैं।

कालिदास की रचनायें

संस्कृत-जगत् में महर्षि वाल्मीकि एवं भगवान् वेदव्यास के अनन्तर जिस महाकवि ने सर्वाधिक सम्मान एवं लोकप्रियता प्राप्त की है उसका नाम है कालिदास। संस्कृत-साहित्य

का यह सौभाग्य है कि उसने महाकवि कालिदास जैसे कविरत्न को प्राप्त किया है जो महाकाव्य, खण्ड-काव्य तथा नाट्य-तीनों काव्यविधाओं की रचना में कुशल है। कालिदास के परवर्ती संस्कृत-साहित्य पर तो कालिदास का इस प्रकार प्रभाव पड़ा है कि कई कवियों ने अमरता प्राप्त करने के लिये अपनी रचनाओं के साथ कालिदास का नाम भी जोड़ दिया। परिणामस्वरूप यह विषय निर्विवाद नहीं रह सका कि कालिदास की वास्तविक रचनायें कितनी हैं ? कालिदास के नाम पर विरचित जिन कृतियों का नाम लिया जाता है उनमें प्रमुख कृतियाँ निम्नाङ्कित हैं—

१. ऋतुसंहार २. कुमारसम्भव ३. मेघदूत ४. रघुवंश ५. मालविकाग्निमित्र ६. विक्रमोर्वशीय ७. अभिज्ञानशाकुन्तल ८. श्रुतबोध ९. राक्षसकाव्य १०. शृङ्गारतिलक ११. गङ्गाष्टक १२. श्यामलादण्डक १३. नलोदयकाव्य १४.पुष्पबाणविलास १५. ज्योतिर्विदाभरण १६. कुन्तलेश्वरदौत्य १७. लम्बोदर प्रहसन १८. सेतु-बन्ध तथा १९. कालिस्तोत्र आदि।

उक्त कृतियों में संख्या दो से लेकर संख्या सात तक की रचनायें निर्विवाद रूप से कालिदास की मानी जाती हैं। प्रथम कृति 'ऋतु-संहार' के बारे में विद्वान् एकमत नहीं है परन्तु परम्परा उसे भी कालिदास की कृति स्वीकार करती है। अतः इन्हीं सात कृतियों को कालिदास की रचना मानकर उनका परिचय दिया जा रहा है।

काव्य-विधा की दृष्टि से उक्त सात कृतियों को तीन श्रेणियों में रखा जा सकता है—

१. गीति-काव्य अथवा खण्ड काव्य—(क) ऋतुसंहार (ख) मेघदूत।

२. महाकाव्य—(क) कुमारसम्भव (ख) रघुवंश।

३. नाट्य अथवा दृश्य काव्य—(क) मालविकाग्निमित्र (ख) विक्रमोर्वशीय (ग) अभिज्ञानशाकुन्तल।

इन सात कृतियों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

१. ऋतुसंहार—यह कालिदास की प्रथम रचना मानी जाती है। इसमें कुल छः सर्ग हैं और उनमें क्रमशः ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमन्त, शिशिर तथा वसन्त इन छः ऋतुओं का अत्यन्त स्वाभाविक, सरस एवं सरल वर्णन है। इसमें ऋतुओं का सहृदयजनों के ऊपर पड़ने वाले प्रभाव का भी हृदयग्राही चित्रण है। प्राकृतिक दृश्यों का चित्रण हृदय को अत्यन्त आह्लादित करता है। इस काव्य में कालिदास की कमनीय शैली के दर्शन न होने के कारण कुछ विद्वान् इसे कालिदास की रचना नहीं मानते।

२. मेघदूत—यह एक खण्ड-काव्य अथवा गीति-काव्य है। इसके दो भाग हैं—(१) पूर्वमेघ (२) उत्तरमेघ। इसमें अपनी वियोग-विधुरा कान्ता के पास वियोगी यक्ष मेघ के द्वारा अपना प्रणय-संदेश भेजता है। पूर्वमेघ में महाकवि, रामगिरि से लेकर अलका तक के

मार्ग का विशद वर्णन करते समय, भारतवर्ष की प्राकृतिक छटा का एक अतीव हृदयावर्जक चित्र खड़ा कर देता है। वस्तुतः पूर्वमेघ में बाह्य-प्रकृति का सजीव चित्र आँखों के समक्ष नाचने लगता है। उत्तरमेघ में मानव की अन्तः प्रकृति का ऐसा विशद चित्रण हुआ है जिससे सहृदय का चित्त-चञ्चरीक नाच उठता है।

इस खण्ड-काव्य ने कालिदास को सहृदय जनों के मानस मन्दिर में महनीय स्थान का भागी बना दिया है। इसकी महत्ता का आकलन इसी से किया जा सकता है कि इस पर विद्वानों द्वारा लगभग ७० टीकायें लिखी गयीं और इसको आदर्श मानकर प्रचुर मात्रा में सन्देश-काव्यों की रचनायें की गयीं। आलोचकों की 'मेघे माघे गतं वयः' यह उक्ति यथार्थ ही है।

३. **कुमारसम्भव**—यह एक महाकाव्य है। इसमें कुल सत्रह सर्ग हैं। मल्लिनाथ ने प्रारम्भिक आठ सर्गों पर ही टीका लिखी है और परवर्ती अलङ्कारशास्त्रियों ने इन्हीं आठ सर्गों के पद्यों को अपने ग्रन्थों में उद्धृत किया है। इसलिए विद्वान् प्रारम्भिक आठ सर्गों को ही कालिदास द्वारा विरचित मानते हैं। इस महाकाव्य में शिव के पुत्र कुमार की कथा वर्णित है। कुमार को षाण्मातुर, कार्तिकेय तथा स्कन्द भी कहा जाता है। इसकी शैली मनोरम एवं प्रभावशाली है। भगवान् शङ्कर के द्वारा मदनदहन, रतिविलाप, पार्वती की तपःसाधना तथा शिव-पार्वती के प्रणय-प्रसंग आदि का वृत्तान्त बड़े ही कमनीय ढंग से वर्णित है जिससे सरसजनों का मन इसमें रमता है।

४. **रघुवंश**—उन्नीस सर्गों में रचित कालिदास का यह सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य है। इसमें राजा दिलीप से प्रारम्भ कर अग्निवर्ण तक के सूर्यवंशी राजाओं की कथाओं का काव्यात्मक वर्णन है। सूर्यवंशी राजाओं में मर्यादा पुरुषोत्तम राम के वर्णन हेतु महाकवि ने छः सर्गों (१०-१५) को निबद्ध किया है।

कालिदास की इस कृति में लक्षण ग्रन्थों में प्रतिपादित महाकाव्य का सम्पूर्ण लक्षण घटित हो जाता है। इस महाकाव्य में कालिदास की काव्यप्रतिभा एवं काव्य-शैली दोनों को खुलकर खेलने का अवसर प्राप्त हुआ है। इसकी रसयोजना, अलङ्कार-विधान, चरित्र-चित्रण तथा प्रकृति-सौन्दर्य आदि सभी अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच कर सहृदय समाज का रसावर्जन करते हुए कालिदास की कीर्ति-कौमुदी को चतुर्दिक् बिखेरते हैं। रघुवंश की व्यापकता एवं लोकप्रियता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि उस पर लगभग ४० टीकायें लिखी गयी हैं और इसकी रचना करने के कारण कालिदास को 'रघुकार' की पदवी से विभूषित किया जाता है।

५. **मालविकाग्निमित्र**—यह पाँच अंकों का एक नाटक हैं। इसमें शुङ्गवंशीय राजा अग्निमित्र तथा मालविका की प्रणय कथा का मनोहर तथा हृदयहारी चित्रण है। इसमें विलासी राजाओं के अन्तःपुर में होने वाली कामक्रीडाओं तथा रानियों की पारस्परिक ईर्ष्यादि का अतीव यथार्थ तथा सजीव चित्रण है।

६. विक्रमोर्वशीय—इस नाटक में कुल पाँच अङ्क हैं। ऋग्वेद आदि में वर्णित चन्द्रवंशीय राजा पुरूरवा तथा अप्सरा उर्वशी का प्रेमाख्यान इस नाटक का इतिवृत्त है। परोपकार-परायण पुरूरवा द्वारा अप्सरा उर्वशी का राक्षसों के चंगुल से उद्धार, से ही इसकी कथा का प्रारम्भ होता है। तदनन्तर उर्वशी की पुरूरवा के प्रति कामासक्ति और उर्वशी के वियोग में राजा की मदोन्मत्तता ही प्रतिपाद्य विषय बन जाती है। नाट्य-कौशल की उपेक्षा कर कवि ने इसमें अपने काव्यात्मक चमत्कार का ही प्रदर्शन किया है।

७. अभिज्ञानशाकुन्तल—कालिदास की नाट्य कला की चरम परिणति शाकुन्तल में हुई है। यह भारतीय तथा अभारतीय दोनों प्रकार के आलोचकों में समान आदर का भाजन है। जहाँ एक ओर भारतीय परम्परा 'काव्येषु नाटकं रम्यं तत्र रम्या शकुन्तला' कहकर इसकी महनीयता का गुणगान करती है वहीं पाश्चात्त्य जर्मन विद्वान् महाकवि गेटे 'ऐश्वर्यं यदि वाञ्छसि प्रियसखे ! शाकुन्तलं सेव्यताम्' कहकर उसके रसास्वाद हेतु सम्पूर्ण सहृदय जगत् का आह्वान करते हैं। शाकुन्तल में सब मिलाकर सात अङ्क हैं और इसमें पुरुवंशीय नरेश दुष्यन्त तथा कण्व-दुहिता शकुन्तला की प्रणय-कथा का अतीव चित्ताकर्षक एवं मनोरम वर्णन है। शाकुन्तल की विस्तृत समीक्षा आगे की जायेगी।

■

अभिज्ञानशाकुन्तल

संक्षिप्त कथावस्तु

प्रथम अङ्क—नान्दी पाठ के अनन्तर सूत्रधार नटी को 'अभिज्ञानशाकुन्तल' का अभिनय प्रस्तुत करने का आदेश देता है। तत्पश्चात् रथारूढ राजा धनुष-बाण हाथ में लिये मृग का पीछा करता हुआ सारथि के साथ तपोवन में प्रवेश करता है। राजा मृग पर ज्यों ही बाण-वर्षा करना चाहता है त्यों ही एक तपस्वी वैखानस राजा को यह कह कर रोक देता है कि 'आश्रम-मृग अवध्य है।' राजा तत्काल अपने बाण को प्रत्यञ्चा से उतार लेता है। तपस्वी शुभाशीष प्रदान करता है कि 'उसे चक्रवर्ती पुत्र की प्राप्ति हो'। तपस्वी वैखानस राजा से निवेदन करता है कि वह (राजा) मालिनी नदी के तट पर कुलपति कण्व के आश्रम में अतिथि-सम्मान ग्रहण करे। सम्प्रति कुलपति कण्व शकुन्तला की भाग्य-विपरीतता के शमन हेतु सोमतीर्थ गये हैं। उनकी अनुपस्थिति में शकुन्तला अतिथि-सत्कार का दायित्व सँभाल रही है। राजा दुष्यन्त रथ को आश्रम के सीमान्त में रोक कर साधारण वेष में आश्रम में प्रविष्ट होता है। इतने में ही जब वह कुछ मधुर स्वर सुनता है तो घूमकर देखता है, वहाँ तीन आश्रम कन्यायें वृक्ष-सेचन में तल्लीन हैं। उन कन्याओं में से कण्व-पुत्री शकुन्तला के रूपमाधुर्य पर वह आकृष्ट हो जाता है और वृक्ष की ओट में छिपकर अपलक नेत्रों से उसके रूप-सौन्दर्य का पान करता है। शकुन्तला कभी मौलसिरी वृक्ष की ओर तथा कभी वनज्योत्स्ना के समीप जाती है। सखियों के हास-परिहास के मध्ये ऊपर आया एक भौंरा शकुन्तला के मुख की ओर आने लगता है। शकुन्तला सम्भ्रमित होकर रक्षा के लिये सखियों को पुकारती है। सखियाँ मुस्कराकर राजा दुष्यन्त को पुकारने के लिए कहती हैं। क्योंकि आश्रमजन राजा द्वारा ही रक्षित होते हैं। अवसर देखकर छिपा हुआ दुष्यन्त स्वयं प्रकट हो कर भ्रमर से आक्रान्त शकुन्तला की रक्षा करता है। अकस्मात् अपरिचित राजा को सम्मुख देकर प्रियंवदा सखी शकुन्तला को राजा का सत्कार करने के लिये कहती है। राजा को वृक्ष की छाया में बैठाकर स्वयं तीनों बैठ जाती हैं। वार्तालाप के प्रसङ्ग में राजा को अनसूया से ज्ञात होता है कि शकुन्तला का जन्म ऋषि विश्वामित्र एवं मेनका के सम्पर्क से हुआ है एवं परित्यक्ता होने पर वह कण्व द्वारा पालित एवं पोषित है। राजा के प्रश्न जिज्ञासा का समाधान करती हुई प्रियंवदा जब यह कहती है कि पिता कण्व इसे योग्य वर को देने लिये कृतसंकल्प हैं। तब राजा अपने मन में शकुन्तला के साथ अपने विवाह के विषय में आश्वस्त हो जाता है परन्तु प्रियवंदा की बातों को सुनकर शकुन्तला कुछ रुष्ट होकर जाने के लिये उद्यत हो उठती है। तब तक परिहास में वृक्ष-सेचन के ऋण का स्मरण कराकर प्रियंवदा उसे रोकना

चाहती है। राजा अंगूठी द्वारा शकुन्तला को ऋणरहित करना चाहता है। अंगूठी पर अंकित दुष्यन्त के नाम को पढ़कर अनसूया और प्रियंवदा जब एक दूसरे की ओर देखने लगती हैं, तब राजा अपने को दुष्यन्त न समझने का निवेदन करता है। नेपथ्य में ध्वनि होती है कि एक जंगली हाथी भयभीत होकर इधर ही आ रहा है। भयाक्रान्त होकर तापस कन्यायें आश्रम की ओर चली जाती हैं। शकुन्तला के प्रति आकृष्ट राजा राजधानी-गमन स्थगित कर खिन्न होकर पड़ाव की ओर चला जाता है।

द्वितीय अङ्क—द्वितीय अङ्क में सर्वप्रथम विदूषक प्रवेश करता है। वह शिकार के व्यसनी राजा दुष्यन्त की मैत्री से दुःखी है इसलिये वह किसी प्रकार राजा से आज का अवकाश ग्रहण करने के विषय में सोचता है। इतने में ही यथोक्त सेवकों सहित प्रेमासक्त राजा प्रवेश करता है। विदूषक राजा से एक दिन का विश्राम चाहता है। उधर राजा का भी मन शकुन्तला का निरन्तर स्मरण आने के कारण शिकार से हट सा गया है। विदूषक के निवेदन से सहमत होकर वह सेनापति को आदेश देता है कि वह जंगली पशुओं को एकत्र करने के लिये निकले हुये सेवक-वर्ग को लौटा ले। इसके बाद परिजन-वर्ग चला जाता है।

विदूषक के साथ राजा एकान्त वृक्ष की छाया से निर्मित वितान के नीचे शिलापट्ट पर बैठ जाता है। वहीं पर वह शकुन्तला के प्रति अपनी आसक्ति के विषय में विदूषक को इङ्गित करता है तथा आश्रम में एक बार और जाने के लिये उससे कोई व्याज ढूँढ़नेको कहता है। इसी समय दो तपस्वी ऋषिकुमार आ जाते हैं। वे (ऋषिकुमार) यज्ञ में विघ्न उत्पन्न करने वाले राक्षसों के निवारणार्थ राजा से आश्रम में आने का निवेदन करते हैं। अपने मनोऽनुकूल निमन्त्रण को राजा स्वीकार कर लेता है और रथारूढ़ होकर विदूषक के साथ आश्रम की ओर प्रस्थान करता है। इतने में ही नगर से करभक नामक सेवक आता है जो सन्देश देता है कि महारानी की आज्ञा है कि 'आगामी चौथे दिन उनके (महारानी के) उपवास की पारणा होगी। उस समय आयुष्मान् दुष्यन्त माता को अवश्य सम्मानित करें।' राजा चिन्ता-निमग्न हो जाता है कि 'वह तपस्वियों का कार्य करे अथवा गुरुजनों की आज्ञा का पालन करें।' काफी सोच-विचार कर माता के द्वारा पुत्र रूप में माने गये विदूषक को हस्तिनापुर भेज देता है। हस्तिनापुर में माता को सन्देश भेजता है कि इस समय वह तपस्वियों के कार्य में व्यग्रचित्त है। अतः उसका वहाँ आना सम्भव नहीं है। उसे यह भय है कि विदूषक चञ्चलतावश कहीं उसके प्रणय-प्रसङ्ग को अन्तःपुर में न कह दे। अतः वह विदूषक से शकुन्तला के प्रति अपनी आसक्ति को सही न मानने के लिये आग्रह करता है।

तृतीय अङ्क—हाथ में कुश लिये हुये यजमान का शिष्य प्रवेश करता है और सूचना देता है कि राजा द्वारा रक्षा किये जाने पर आश्रम की सभी क्रियायें निर्विघ्न सम्पन्न हो रही हैं। आकाश-भाषित द्वारा यह सूचना मिलती है कि शकुन्तला धूप के आघात से अत्यन्त

अस्वस्थ हो गयी है। उसी समय मदनावस्था में राजा प्रवेश करता है। "उस धूप की वेला में शकुन्तला अपनी सखियों के साथ प्रायः लतावलयों से युक्त मालिनी नदी के तट पर व्यतीत करती है" ऐसा सोच कर राजा बेंत की लता से आवृत लतामण्डप में पहुँचता है। वहाँ वृक्ष की शाखाओं की ओट से अपनी प्रियतमा को देखकर उसके नेत्र निर्वाण-सुख को प्राप्त कर लेते हैं। शकुन्तला पुष्पशय्या पर पड़ी है और सखियाँ उसकी सेवा में तल्लीन हैं। वह छिपकर प्रेयसी और उसकी सखियों के विश्वस्त वार्तालाप को सुनता है। लता-मण्डप में दोनों सखियाँ शकुन्तला से यह जानने को उत्सुक हैं कि उसके सन्ताप का मूल कारण काम है अथवा ग्रीष्मातप। सखियों के अनुरोध पर निष्कपटहृदया शकुन्तला स्वीकार करती है कि तपोवन के रक्षक राजर्षि दुष्यन्त के प्रति वह आकृष्ट हो गयी है और उसको प्राप्त करने की उसके हृदय में तीव्र लालसा है। उसकी कृशता का मूल कारण यही है। प्रियंवदा प्रसन्न होती है कि उसकी सखी ने अनुरूप व्यक्ति के प्रति ही प्रेम किया है।

प्रियंवदा शकुन्तला को एक प्रेमपत्र लिखने का परामर्श देती है। परन्तु शकुन्तला का मन अवज्ञा के भय से आशङ्कित हो जाता है। उधर वृक्ष की ओट में छिपा हुआ राज अत्यन्त प्रसन्न होता है और मन ही मन कहता है कि "भीरु! जिससे तुम अपमान की आशङ्का कर रही हो वह तुम्हारे समागम के लिये उत्सुक बैठा है।" शकुन्तला सखियों के आग्रह से नलिनी-पत्र पर नाखूनों से राजा को प्रेमपत्र लिखती है। राजा सहसा उपस्थित होकर शकुन्तला के प्रति उत्कट मनोविकार को प्रकट कर देता है। प्रणयी युगल राजा और शकुन्तला को एकान्त में छोड़कर दोनों सखियाँ (प्रियंवदा और अनसूया) वहाँ से चली जाती हैं। राजा और शकुन्तला काम-व्यापार में संलग्न हो जाते हैं। रात्रि होने लगती है। तभी शकुन्तला की अस्वस्थता का समाचार पाकर शान्ति-जल लिये हुए आर्या गौतमी आती हैं। राजा वृक्ष की ओट में छिप जाता है। गौतमी के साथ शकुन्तला आश्रम की ओर प्रस्थान करती है। इसी बीच आकाशवाणी सुनाई पड़ती है कि राक्षसों की भयोत्पादक छायायें आश्रम का बार-बार चक्कर लगा रही हैं। ऐसा सुनकर कामाभिभूत होने पर भी राजा राक्षसों के विघ्न को दूर करने के लिये प्रस्थान कर देता है।

चतुर्थ अङ्क—चतुर्थ अङ्क के प्रारम्भ में पुष्प-चयन करती हुई शकुन्तला की दोनों सखियाँ अनसूया और प्रियंवदा प्रवेश करती हैं। उनके वार्तालाप से ज्ञात होता है कि राजा और शकुन्तला का गान्धर्व विवाह हो गया है। गान्धर्व विवाह के शीघ्र बाद ही राजा शकुन्तला को शीघ्र लिवा जाने का आश्वासन देकर हस्तिनापुर चला गया है। शकुन्तला राजा का स्मरण करती हुई चित्रलिखित सी कुटी में बैठी है। तभी दुर्वासा ऋषि का आगमन होता है। शकुन्तला से अतिथि-सत्कार न पाकर कोपराट् दुर्वासा उसको अभिशाप दे देते हैं— "जिसका स्मरण करती हुई तुम मेरे जैसे तपस्वी का सत्कार नहीं कर रही हो वह प्रणयी याद दिलाये जाने पर भी तुम्हें पहचानेगा नहीं"। उद्विग्नमना शकुन्तला कुछ भी नहीं सुन पाती जब कि उसकी सखियाँ यह सब कुछ सुन लेती हैं और शाप-निवारण के लिये प्रियंवदा

प्रस्थान कर देती है। अत्यधिक अनुनय-विनय के पश्चात् दुर्वासा आश्वासन देते हैं कि अभिज्ञान (आभरण) के दर्शन से शाप-मुक्ति हो सकती है। प्रियंवदा और अनसूया दुर्वासा के शाप की बात न तो शकुन्तला को, न ही किसी अन्य को बताती हैं। वे दोनों इसलिये किसी प्रकार धैर्य-धारण करती हैं क्योंकि राजा ने स्वयं जाते समय अपनी नामाङ्कित अंगूठी स्मृति रूप में शकुन्तला को पहनायी थी। इस प्रकार शकुन्तला तो स्वयं ही शाप-मुक्त हो सकती है।

ऋषि कण्व सोमतीर्थ से वापस आ जाते हैं। अनसूया विचार करती है कि शकुन्तला के आपन्नसत्त्वा होने के वृत्तान्त से महर्षि कण्व को कैसे अवगत कराया जाय। उधर ऋषि कण्व को आकाशवाणी सुनायी देती है कि शकुन्तला का दुष्यन्त के साथ गान्धर्व विवाह हो गया है और वह आपन्नसत्त्वा है। ऋषि इस विवाह का समर्थन करते हैं एवं शकुन्तला को हस्तिनापुर ले जाने के लिये गौतमी, शार्ङ्गरव आदि को आदेश देते हैं। शकुन्तला की विदाई की तैयारी प्रारम्भ हो जाती है। इस मङ्गल बेला में वनवृक्षों से रेशमी वस्त्र, आभूषण एवं प्रसाधन-समग्री प्राप्त हो जाती है। पतिगृह के लिये प्रस्थान करने के समय तपस्वी वीतरागी कण्व का गला भर जाता है। सारा तपोवन शकुन्तला के वियोग से व्यथित हो जाता है। मृग शावक शकुन्तला के आँचल से लिपट जाता है। हिरणियाँ जुगाली करना तथा मयूर नाचना छोड़ देते हैं। चेतन जगत् की बात तो दूर तपोवन के जड़ जगत् के लिये भी शकुन्तला का वियोग असह्य हो जाता है। महर्षि कण्व राजा के लिये संदेश भेजते हैं कि इसे राजा अपनी पत्नियों में सम्मान पूर्वक स्थान दे। तदनन्तर वे शकुन्तला को कर्तव्य-शिक्षा देते हैं। शकुन्तला पिता के चरणों में गिर पड़ती है तथा दोनों सखियों का आलिङ्गन करती हैं। सखियाँ शकुन्तला से बतलाती हैं कि यदि राजा उसे न पहचाने तब उसके स्मरण चिह्न अँगूठी को वह दिखला देगी। तत्पश्चात् शकुन्तला गौतमी, शार्ङ्गरव एवं शारद्वत के साथ चली जाती है। दोनों सखियाँ विलाप करती रहती हैं। शकुन्तला को पतिगृह भेजकर कुलपति कण्व हार्दिक शान्ति का अनुभव करते हैं।

पञ्चम अङ्क—सर्वप्रथम आसन पर बैठा हुआ राजा एवं विदूषक दिखलायी देते हैं। राजा दुष्यन्त हंसपदिका के गीत को सुनकर अत्यधिक उत्कण्ठित हो जाता है तथा विदूषक से कहता है कि हंसपदिका ने अति सुन्दर गीति गायी है। कञ्चुकी आकर कण्व-शिष्यों के आगमन की सूचना देता है। नेपथ्य में दो स्तुति-पाठक राजा का स्तुतिगान करते हैं। राजा दुष्यन्त यज्ञशाला में शकुन्तला सहित गौतमी तथा कण्व के दोनों शिष्यों से मिलता है। तभी शकुन्तला का वामेतर नेत्र फड़कने लगता है। अमङ्गल की आशङ्का से वह भयभीत हो जाती है। दुर्वासा के शाप के कारण राजा सारा प्रणयवृत्तान्त भूल जाता है। अतः लावण्यवती शकुन्तला को देखकर वह उसकी ओर आकृष्ट नहीं होता है। वह शार्ङ्गरव तथा शारद्वत से कुशल-क्षेम पूछता है। वे दोनों ऋषि-कुमार राजा को कण्व का संदेश सुनाते है—"शकुन्तला तथा दुष्यन्त के गान्धर्व विवाह का मैंने अनुमोदन कर दिया है अतः

गर्भवती शकुन्तला को आप स्वीकार करें।'' राजा यह सुनकर आश्चर्यान्वित हो जाता है और शकुन्तला के साथ विवाह की घटना को असत्य बतलाता है। गौतमी शकुन्तला का मुख दिखाती है फिर भी राजा नहीं पहचानता। शकुन्तला अभिज्ञान (अंगूठी) को दिखाने का उपक्रम करती है परन्तु इससे पूर्व कि वह शङ्का का निवारण करे, देखती है कि अंगूठी अंगुली में नहीं है। गौतमी कहती है कि वह अंगूठी शक्रावतार में शचीतीर्थ के जल की वन्दना के समय गिर गयी है। शकुन्तला संयोग के दिनों के मधुर प्रसङ्गों को सुनाती है पर राजा को कुछ भी याद नहीं आता। अंगूठी न दिखा पाने के कारण राजा शकुन्तला को कपट-व्यवहार करने वाली स्त्री समझता है। इस पर क्रोधावेश में शारद्वत राजा को खरी-खोटी सुनाता है और शकुन्तला को वहीं छोड़कर चला जाता है। उसी के साथ शार्ङ्गरव और गौतमी भी चली जाती हैं।

राजा अनिश्चयावस्था में पड़ जाता है। ऐसी स्थिति में राजगुरु स्थिति सँभालता हैं। वह कहता है कि सन्तानोत्पत्ति तक शकुन्तला उसके घर रहेगी। यदि सिद्ध पुरुषों की भविष्यवाणी के अनुसार शकुन्तला से उत्पन्न पुत्र चक्रवर्ती-लक्षणों से समन्वित होगा तो शकुन्तला को अन्तःपुर में स्थान दिया जायेगा, अन्यथा दोंनो को कण्वाश्रम में पहुँचा देना उचित होगा। राजा सहमत हो जाता है। शकुन्तला रोती हुई पुरोहित के पीछे चल पड़ती है। इतने में अप्सरा-तीर्थ में स्त्री रूप एक दिव्य-ज्योति उसे उठा ले जाती है। इस घटना से राजा को सन्देह होता है कि कहीं वह भूल तो नहीं कर रहा है।

षष्ठ अङ्क—प्रारम्भ में नगर-रक्षक श्याल और पीछे बँधे एक मनुष्य को लेकर दो रक्षी (सिपाही) मञ्च पर आते हैं। रक्षी पुरुष को पीटकर पूछते हैं कि राजा के नाम से चिह्नित यह अँगूठी उसके पास कहाँ से आयी ? वह बतलाता है शक्रावतार तीर्थ में फँसाई गई मछली का पेट फाड़ने पर उसके अन्दर से यह अंगूठी मिली है। उसकी बात की पुष्टि के लिये नगर-रक्षक (श्याल) यह सूचना राजा को देता है तथा राजा के कहने से अँगूठी के बराबर धन देकर उसे छोड़ देता है। श्याल धीवर के साथ प्रसन्न होकर मदिरा की दुकान पर जाता है।

मेनका की सखी सानुमती नामक अप्सरा अन्तर्धान होकर राजा दुष्यन्त के प्रमदवन में उसकी दो परिचारिकाओं की बातें सुनती है। वसन्त का मादक सौन्दर्य चारों तरफ विकीर्ण हो रहा है और परिचारिकायें कामदेव की पूजा कर रही हैं। तभी कञ्चुकी आकर उनको फूल तोड़ने का निषेध करता है एवं कहता है कि राजा ने मदनोत्सव का निषेध कर दिया है। उन परिचारिकाओं द्वारा निषेध का कारण पूछने पर कञ्चुकी बतलाता है कि अँगूठी के दर्शन से राजा की स्मृति सजीव हो गयी। परिणामस्वरूप जब उसे शकुन्तला के साथ अपने गान्धर्व विवाह का स्मरण आया तब से वह पश्चात्ताप की अग्नि में दग्ध हो रहा है। उद्विग्न मन होने के कारण उसने उत्सव का निषेध कर दिया है।

तदन्तर विदूषक के साथ राजा उद्यान में प्रेवश करता है। वह विदूषक को शकुन्तला का चित्र दिखलाता है तथा उसे (शकुन्तला को) अँगूठी देने का वृत्तान्त सुनाता है। सानुमती यह सब सुनकर अत्यन्त प्रसन्न होती है कि उसकी सखी शकुन्तला को भूला प्रणयी अब उसके प्रति अनुरक्त हो रहा है। राजा अनेक प्रकार से अपने को अपराधी स्वीकार करता हुआ खिन्न हो जाता है तथा शकुन्तना का चित्र मँगाकर उसमें परिवर्धन करने की कल्पना करके आँसू बहाता है।

तत्पश्चात् प्रतीहारी मंत्री का एक पत्र लाती है कि धनमित्र नामक एक व्यापारी नौका-दुर्घटना में मर गया। वह चूँकि सन्तानहीन है अतः उसका धन राजकोष में जायेगा। सन्तानहीन का प्रसङ्ग आने पर राजा इसलिए और दुःखी हो जाता है कि गर्भ-धारण करने वाली उसकी पत्नी उसके द्वारा छोड़ दी गयी। वंश-विच्छेद से अत्यन्त आकुल हो रहे पितरों की दशा को सोचकर उसका हृदय फट जाता है। यह दृश्य सानुमती देखती है और राजा के निश्चल प्रेम की जानकारी पर वह आश्वस्त होकर चली जाती है।

उसके बाद प्रतीहारी प्रवेश करती है। इसी समय इन्द्र का सारथि मातलि विदूषक को पकड़ कर पीटना शुरू कर देता है। उसकी रक्षा रकने के लिये राजा ध्वनि के सहारे शर-सन्धान करता है। तब विदूषक को छोड़कर मातलि राजा के समक्ष उपस्थित होता है और निवेदन करता है कि दुर्जय नामक राक्षसों को नष्ट करने के लिए आप इन्द्र से सहायता करें। राजा मातलि से पूछता है कि उसने माढव्य के प्रति ऐसा व्यवहार क्यों किया ? तब वह उत्तर देता है, "मैंने आपको अत्यन्त उद्विग्न देखा अतः वीरोचित कार्य के सम्पादन हेतु आपको उत्तेजित करने के लिये ऐसा कार्य किया।" इन्द्र की आज्ञा को दृष्टिगत कर राजा मन्त्री पिशुन को प्रत्यावर्तन काल तक राज्य भार सौंप कर तथा इन्द्र के रथ पर आरूढ होकर स्वर्ग के लिये प्रस्थान करता है।

सप्तम अङ्क—राजा दानवों का विनाश करके इन्द्र की आशा पूरी करता है। इन्द्र राजा को एक विशाल समारोह में विदाई देता है। रथ से लौटते समय उसे हेमकूट पर्वत पर मारीच ऋषि का आश्रम दिखलाई पड़ता है। दुष्यन्त मातलि के साथ रथ से उतर कर इन्द्र, विष्णु आदि देवताओं और ब्रह्मा के पौत्र कश्यप तथा उनकी धर्मपत्नी अदिति के दर्शनार्थ जाता है। शुभ शकुन की द्योतक राजा की दक्षिण भुजा फड़कती है। इतने में ही राजा दो तपस्विनियों द्वारा अनुसरण किये जाते हुए एक बालक को देखता है। वह बालक सिंह-शावक को माँ का दूध नहीं पीने देता है एवं शावक का दाँत गिनने का प्रयत्न करता है। उस बालक को देखकर राजा का वात्सल्य उमड़ पड़ता है। वह उसे गोद में ले लेता है। तभी बच्चे का चक्रवर्ती-लक्षण युक्त हाथ भी देख लेता है। बच्चे की आकृति राजा दुष्यन्त से मिलती है। राजा उस बालक का वंश पूछता है। तपस्विनी के द्वारा शिशु के वंश का ज्ञान होने पर पुरुवंशी राजा के हृदय में आशा का सञ्चार होता है। तभी दूसरी तपस्विनी बालक

के लिये मिट्टी का मोर ले आती है और कहती है "सर्वदमन इस शकुन्त (पक्षी) का सौन्दर्य देख।" बालक को शकुन्त शब्द से माता का भ्रम हो जाता है। वह पूछता है "कहाँ है मेरी माँ ?" इस पर दुष्यन्त सोचता है कि क्या इसकी माता का नाम भी शकुन्तला है ? इतने में बच्चे के हाथ से गिरा हुआ रक्षासूत्र दुष्यन्त उठाने लगता है। तपस्विनी यह कहकर मना करती है कि माता-पिता के अतिरिक्त यह सूत्र उठाने वाले को सर्प बनकर डँस लेता है। परन्तु दुष्यन्त का कुछ भी अमङ्गल नहीं होता। वह मनोरथ पूर्ण होने पर बालक का आलिङ्गन करता है। तभी सूचना पाकर तपस्या के कारण कृश एवं वियोग-विधुरा शकुन्तला आती है। वह राजा को प्रणाम करती है। राजा अपनी विस्मृति के लिये उससे क्षमा-याचना करता है। उसी समय मातलि आता है। शकुन्तला एवं पुत्र-सहित राजा मारीच के दर्शन करता है एवं यथोचित आशीष प्राप्त करता है। मारीच योगबल से जान लेते हैं कि दुर्वासा के शाप के कारण ही शकुन्तला को दुष्यन्त ने विस्मृत कर दिया था। वह शाप अँगूठी-दर्शन से समाप्त हो गया और राजा निर्दोष है। मारीच सर्वदमन के भावी सम्राट् होने की बात कहते हैं। मारीच दोनों के सुखद संयोग के समाचार को कण्व तक पहुँचाते हैं। पुत्र-सहित दम्पत्ति को आशीर्वाद देकर विदा करते हैं। भरत-वाक्य के साथ सप्तम अङ्क समाप्त हो जाता है।

अभिज्ञानशाकुन्तल की कथा का मूल स्त्रोत

शकुन्तला की कथा महाभारत तथा पद्मपुराण-इन दो प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध होती है। अब प्रश्न यह है कि महाकवि कालिदास ने महाभारत की कथा को अपने नाटक की कथा का आधार बनाया है अथवा पद्मपुराण की कथा को। पद्मपुराण एवं अभिज्ञानशाकुन्तल की कथावस्तु के साम्य के आधार पर अनेक विद्वानों ने यह माना है कि कालिदास ने पद्मपुराण की कथा के आधार पर अपने नाटक की रचना की है परन्तु निम्नाङ्कित प्रमाणों के आधार पर उनके मत का समर्थन करना समीचीन नहीं है।

१. पद्मपुराण की रचना ईसा की छठीं या सातवीं शताब्दी में हुई है जबकि कालिदास का स्थिति-काल ई० पू० प्रथम शताब्दी है।

२. पद्मपुराण और शाकुन्तल के कथा-साम्य के आधार पर जिस प्रकार पद्मपुराण की कथा को शाकुन्तल की कथा का आधार माना जा सकता है उसी प्रकार शाकुन्तल की कथा को पद्मपुराण की कथा का आधार क्यों नहीं माना जा सकता ? वास्तविकता यह है कि पद्मपुराण की कथा महाभारत और शकुन्तला की कथा पर आधारित है। पद्मपुराण में वर्णित कथावस्तु का अधिकांश भाग शाकुन्तल की कथा का अनुवाद मात्र प्रतीत होता है।

३. भाषा आदि की दृष्टि से अध्ययन करने पर भी पद्मपुराण कालिदास की परवर्ती रचना सिद्ध होता है।

४. कालिदास जैसे मौलिक महाकवि के लिए यह कथमपि सम्भव नहीं है कि वह पद्मपुराण की कथा को ज्यों का त्यों लेकर अपने नाटक की रचना करता।

५. ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में शाकुन्तल का कथानक अत्यधिक लोकप्रिय एवं लोकविश्रुत हो चुका था। अतः यह कहने में सन्देह का अवसर नहीं है कि पद्मपुराण के रचयिता ने शाकुन्तल की कथावस्तु को ही अपरिवर्तित रूप में ले लिया।

उक्त बिन्दुओं को दृष्टिगत कर पद्मपुराण की कथावस्तु को शाकुन्तल के कथानक का मूल नहीं माना जा सकता है। पद्मपुराण सम्बन्धी मान्यता का खण्डन हो जाने पर यह निर्विवाद रूप से सिद्ध हो जाता है कि शाकुन्तल की कथा का मूल स्रोत महाभारत की कथा में निहित है।

महाभारत में शकुन्तला की कथा—महाभारत के आदिपर्व के शकुन्तलोपाख्यान में (सर्ग ६९ से ७४) शकुन्तला की कथा वर्णित है। कथा का सारांश निम्नाङ्कित है—

जनमेजय ने वैशम्पायन से दुष्यन्त एवं शकुन्तला की कथा के विषय में जब अपनी जिज्ञासा प्रकट की तो उन्होंने जनमेजय को इस प्रकार शकुन्तलादुष्यन्त की कथा सुनायी—"एक बार राजा दुष्यन्त ने अपनी विशाल सेना के साथ मृगया हेतु वन में प्रवेश किया। उस वन में उन्हें अनेक प्रकार के वृक्षों और यज्ञीय अग्नियों से युक्त एक आश्रम दिखलाई पड़ा। वह आश्रम कण्व ऋषि का था। राजा ने अपनी सेना को बाहर ही रोक दिया और मुनि के दर्शन हेतु अपने राजचिह्नों आदि को छोड़कर तपोवन में प्रवेश किया। उस समय महर्षि कण्व की अनुपस्थिति में शकुन्तला ने आकर उनका स्वागत किया। राजा उसके रूप लावण्य पर मुग्ध हो गया। राजा ने जब महर्षि कण्व के बारे में पूछा तब शकुन्तला ने बतलाया कि उनके पिता फलादि लाने के लिए बाहर गये हैं और थोड़ी ही देर में आ जायेंगे। राजा ने शकुन्तला से उसके जन्मादि के बारे में अपनी जिज्ञासा प्रकट की तथा साथ ही यह भी बतलाया कि वह उसके प्रति प्रेमासक्त हो गया है। जब शकुन्तला ने अपने को तपस्या-निरत धर्मज्ञ मनीषी कण्व की पुत्री बतलाया तब राजा ने अपने मन के संशय को यह कह कर प्रकट किया कि भगवान् कण्व ऊर्ध्वरेता एवं तपोनिष्ठ है अत: वह (शकुन्तला) उनकी पुत्री कैसे हो सकती है ? इस पर शकुन्तला ने अपनी वास्तविक उत्पत्ति की कथा सुनाई जिसके अनुसार उसकी उत्पत्ति महातपस्वी विश्वामित्र तथा मेनका से सम्पर्क से हुई। जन्म देने के अनन्तर उसकी माता मेनका उसे मालिनी नदी के तट पर छोड़कर इन्द्र के पास लौट गयी। वहाँ के पक्षियों ने उसकी (नवजात शिशु की) रक्षा की। जब भगवान् कण्व एक दिन स्नान करने के लिये मालिनी-तट पर गये तो वे पक्षियों से आवृत उसे अपने साथ उठा लाये और उसका पालन-पोषण करने लगे। चूँकि वह निर्जन वन में पक्षियों से आवृत (शकुन्तैः परिवारिता) थी अत: उसका नाम शकुन्तला रख दिया गया। इस प्रकार पालन पोषण करने के नाते कण्व उसके धर्मपिता हैं और वह उनकी धर्म-पुत्री। शकुन्तला की उत्पत्ति का वृत्तान्त

सुनने के बाद जब राजा को यह ज्ञात हुआ कि वह क्षत्रिय है तब वह अनेक प्रलोभनों द्वारा उसे अपनी भार्या बनाने का प्रस्ताव करने लगा। पहले तो शकुन्तला ने पिता की अनुमति के बिना उसके प्रस्ताव को मानने में अपनी असमर्थता प्रकट की, पर बाद में दुष्यन्त के द्वारा गान्धर्व विवाह का औचित्य समझाने पर वह इस शर्त के साथ विवाह के लिये तैयार हो गयी कि वह (राजा) उससे उत्पन्न पुत्र को ही युवराज (राज्य का उत्तराधिकारी) बनायेगा। राजा ने 'एवमस्तु' कहकर प्रस्ताव मान लिया। दोनों का गान्धर्व विवाह हो गया। कुछ समय तक रहने के बाद राजा यह कहकर वापस चला गया कि वह शीघ्र ही उसे बुलाने के लिये अपनी चतुरङ्गिणी सेना भेजेगा। वहाँ से जाने के बाद राजा के हृदय में महर्षि कण्व के शाप का भय उत्पन्न हो गया क्योंकि उसने उनकी अनुमति के बिना ही गान्धर्व विवाह किया था। फलस्वरूप उसने शकुन्तला को बुलाने के लिये सेना नहीं भेजी।

जब महर्षि कण्व बाहर से आश्रम लौटे तो उन्हें अपने तपोबल से सारी घटना का पता चल गया। उन्होंने दुष्यन्त एवं शकुन्तला के विवाह का अनुमोदन कर दिया और शकुन्तला को यह आशीर्वाद दिया कि उसे चक्रवर्ती पुत्र की प्राप्ति होगी। गर्भ पूर्ण होने पर शकुन्तला ने एक अति तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया। छः वर्ष की स्वल्पायु में ही वह महाबलवान् हो गया और वन के हिंसक पशुओं का भी दमन करने लगा। सभी का दमन करने के कारण महर्षि ने उसका नाम सर्वदमन रखा। अधिक समय तक विवाहिता पुत्री को अपने साथ रखना उचित न समझ कर कण्व ने सर्वदमन के सातवें वर्ष पुत्रसहित शकुन्तला को ऋषियों की देखरेख में राजा के पास भेज दिया। ऋषिगण शकुन्तला को वहाँ भेजकर वापस चले आये।

जब शकुन्तला राजा के समक्ष उपस्थित हुई तो राजा ने उसके साथ सम्पन्न अपने गान्धर्व विवाह को अस्वीकर कर दिया। उसने शकुन्तला से उत्पन्न पुत्र को युवराज बनाने के शकुन्तला के प्रस्ताव को भी अमान्य कर दिया। यही नहीं, उसने शकुन्तला से जहाँ कहीं चले जाने को कहा। शकुन्तला ने करुणामय शब्दों में अनेक प्रकार से अनुनय विनय किया पर राजा ने सब कुछ अनसुनी कर दी। निराश होकर शकुन्तला वहाँ से जाने लगी। उसी समय आकाशवाणी हुई 'शकुन्तला का कथन सत्य है। वह उसकी विवाहिता पत्नी और सर्वदमन उसका पुत्र है अतः वह उनको स्वीकार करें।' पुरोहित और मन्त्रियों आदि की सम्मति से राजा ने शकुन्तला तथा सर्वदमन को स्वीकार किया। उक्त अवसर पर राजा ने अपने मन्त्रियों आदि से कहा कि उसे भी वृत्तान्त का स्मरण था पर उसने जानबूझ कर ऐसा इसलिये किया जिससे सर्वदमन के जन्म की शुद्धता के विषय में किसी को सन्देह न रह जाय। शकुन्तला को यह कहकर उसने आश्वस्त किया कि यदि वह ऐसा न करता तो लोग उसके आचरण के विषय में सन्देह करते। इसके साथ ही उसने शकुन्तला के द्वारा कहे गये कटु वचन के लिये भी उसे क्षमा किया।

अन्त में अपने प्रिय पुत्र एवं प्राण-वल्लभा पत्नी को पाकर राजा प्रसन्न हुआ और शकुन्तला को महारानी तथा सर्वदमन को युवराज पद पर प्रतिष्ठित किया। आकाशवाणी के अनुसार सर्वदमन का नाम भरत रखा गया।

मूलकथा में परिवर्तन

यद्यपि महाकवि कालिदास ने महाभारत के शकुन्तलोपाख्यान की कथा के आधार पर ही अभिज्ञानशाकुन्तल की रचना की है, तथापि दोनों की कथावस्तु का तुलनात्मक अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि महाकवि ने अपनी नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा के बल पर महाभारत की नीरस कथा को किस प्रकार सजीव एवं सरस बना दिया है। सहृदय के हृदय का आह्लाद तथा उपदेश ये काव्य के दो मुख्य प्रयोजन हैं। सहृदय के हृदय का आह्लाद तब होता है जब काव्य अथवा नाटक में सम्यक् रस-योजना हो और उपदेश तब प्राप्त होता है जब नाटक अथवा काव्य के पात्रों के चित्रित आचरण अनुकरणीय एवं आदर्शपरक हों। इन्हीं दो बिन्दुओं को दृष्टिगत कर महाकवि लोकविश्रुत प्राचीन कथाओं को लेकर उसमें आवश्यक परिवर्तन अथवा परिवर्धन करता है। कहीं-कहीं तो उसे कथा के उस वंश का परित्याग भी कर देना पड़ता है जो नायक अथवा रस के विरुद्ध होता है। नाट्यशास्त्राचार्य धनञ्जय का निम्नांकित कथन इस सन्दर्भ में विशेष उल्लेखनीय है—

यत्तत्रानुचितं किञ्चिन्नायकस्य रसस्य वा।
विरुद्धं तत्परित्याज्यमन्यथा वा प्रकल्पयेत॥ दशरूपक, ३.२४

महाकवि कालिदास ने नाट्यशास्त्र की इस मान्यता को दृष्टि में रखकर ही महाभारत के शकुन्तला विषयक इति-वृत्त को लेकर उसके अनुपयोगी अंशों का परित्याग कर दिया है, किन्हीं अंशों में आवश्यक परिवर्तन कर दिया है और कुछ कल्पनाप्रसूत कथांशों को जोड़ दिया है। सम्प्रति इन सब का विचार करणीय है—

१. महाभारत की कथा के अनुसार राजा दुष्यन्त मृगया-प्रसङ्ग में सेना सहित उस वन में प्रवेश करता है जिसमें कण्व का आश्रम है। आश्रम का ज्ञान होने पर वह अपनी सेना को बाहर रोककर स्वयं अकेले आश्रम में जाता है।

शाकुन्तल के अनुसार राजा अकेला ही सारथि के साथ मृग का पीछा करता हुआ आश्रम में प्रवेश करता है। उसकी सेना पीछे छूट जाती है।

२. मूल कथा के अनुसार दुष्यन्त के आश्रम में प्रवेश के समय कण्व फल लेने हेतु बाहर गये हैं। जबकि शाकुन्तल के अनुसार महर्षि कण्व शकुन्तला के प्रतिकूल ग्रहों की शान्ति के लिए सोमतीर्थ गये हुए हैं।

३. मूलकथानुसार महर्षि कण्व के फल लेने जाने की सूचना शकुन्तला स्वयं राजा दुष्यन्त को देती है जबकि शाकुन्तल में महर्षि कण्व के सोमतीर्थ जाने की सूचना राजा को वैखानस देता है।

४. मूल कथा में राजा के पूछने पर शकुन्तला स्वयं अपने जन्म का वृत्तान्त बतलाती है। परन्तु शाकुन्तल में शकुनतला के जन्म-विषयक वृत्तान्त को उसकी सखी अनसूया सुनाती है।

५. मूल कथा के अनुसार शकुन्तला राजा के प्रणय-निवेदन को इस शर्त पर स्वीकार करती है कि उसका पुत्र ही राज्य का उत्तराधिकारी होगा। इसके विपरीत शाकुन्तल में शकुन्तला स्वयं ऐसी कोई शर्त नहीं रखती। उसकी सखी राजा से सपत्नियों के मध्य शकुन्तला को सम्मानित स्थान देने की बात कहकर आश्वासन लेती है।

६. मूल कथा के अनुसार दुष्यन्त शीघ्र ही तपोवन छोड़कर इसलिए चला जाता है कि कहीं इसी बीच महर्षि कण्व न टपक पड़ें। पर शाकुन्तल में राजा के राजधानी-गमन-विषयक किसी कारण का उल्लेख नहीं किया गया है।

७. मूल कथा के अनुसार शकुन्तला कण्व के आश्रम में ही एक पुत्र की जननी बनती है जबकि शाकुन्तल के अनुसार यह कार्य महर्षि कश्यप के आश्रम में होता है।

८. मूल कथा के अनुसार जब शकुन्तला का पुत्र भरत युवराज होने के योग्य हो जाता है तब वह राजा दुष्यन्त के पास जाती है। शाकुन्तल के अनुसार गर्भवती अवस्था में ही वह राजा के पास जाती है।

९. मूल कथा में राजा के पास पहुँचकर शकुन्तला राजा से भरत को युवराज बनाने के लिये अनुनय करती है पर राजा लोकापवाद के भय से शकुन्तला को जानते हुए भी पहचानने से मुकर जाता है। इसके विपरीत शाकुन्तल में शार्ङ्गरव एवं शारद्वत शकुन्तला के साथ जाते हैं और दुर्वासा द्वारा अभिशप्त होने के कारण राजा शकुन्तला को नहीं पहचान पाता।

१०. मूलकथा में दुष्यन्त के स्वीकार न करने पर शकुन्तला, कण्वाश्रम की ओर लौट आती है। पर शाकुन्तल के अनुसार उसको छोड़कर शार्ङ्गरव और शारद्वत लौट आते हैं और वहीं उसे एक अज्ञात शक्ति (मेनका) उठा ले जाती है।

११. मूल कथा के अनुसार दुष्यन्त आकाशवणी होने पर पुरोहितों आदि की उपस्थिति में उसे स्वीकार करता है। जबकि शाकुन्तल के अनुसार उसे महर्षि मारीच के आश्रम में ग्रहण करता है।

मूलकथा में परिवर्तन के उद्देश्य

कालिदास द्वारा मूल कथा में किये गये परिवर्तन के उद्देश्य निम्नांकित हैं—

१. मूल कथा में केवल फल लाने के लिये कण्व के बाहर जाने की अपेक्षा शाकुन्तल में शान्ति हेतु उनके सोमतीर्थ जाने की कथा अधिक सङ्गत है; क्योंकि शकुन्तला और दुष्यन्त के मिलन तथा गान्धर्व विवाह के लिये पर्याप्त समय मिल जाता है।

२. मूल कथा में दुष्यन्त से शकुन्तला का स्वयं अपने जन्म का वृत्तान्त बताना कुमारी कन्या के अनुरूप नहीं है। शाकुन्तल में अनसूया द्वारा उसके (शकुन्तला के) वृत्तान्त का कथन सर्वथा समीचीन तथा शकुन्तला के चरित्र की रक्षा में समर्थ है। इसी प्रकार विवाह के पहले अपने पुत्र को युवराज बनाने का शर्तनामा भी कथमपि ठीक नहीं है, उसकी अपेक्षा अनूसया का शर्तविहीन अनुरोध अधिक उपयुक्त है। इससे शकुन्तला के हित तथा अनसूया के सख्य दोनों की रक्षा हो जाती है।

३. मूल कथा में कण्व के आश्रम में ही पुत्र की उत्पत्ति तथा शकुन्तला का दुष्यन्त की सभा में अपने पुत्र को युवराज बनाने का निवेदन एवं राजा का पहचानते हुए भी उसे स्वीकार न करना ये तीनों कार्य समीचीन तथा शोभनीय नहीं है। इसके विपरीत शाकुन्तल में प्रत्याख्यान के बाद पुत्रोत्पत्ति तथा शाप के कारण दुष्यन्त का शकुन्तला को न पहचानना दुष्यन्त एवं शकुन्तला दोनों के व्यक्तित्व की रक्षा के लिए अधिक उपयोगी है। उक्त परिवर्तनों के अतिरिक्त नाट्यकला-विशारद कालिदास ने निम्नांकित परिवर्धन कर कथा-वस्तु को रोचक, उपयोगी तथा उद्देश्ययुक्त बनाया है—

(१) शाप की कल्पना से जहाँ एक ओर दुष्यन्त के चरित्र की रक्षा होती है वहीं दूसरी ओर शकुन्तला को सान्त्वना भी मिल जाती है। यही नहीं, शाप के अभाव में दुष्यन्त द्वारा शकुन्तला को स्वीकार कर लेने पर पञ्चम अङ्क में नाटक समाप्त हो जाता है। शाप के कारण ही छठें तथा सातवें अङ्क के लिए कवि को अवसर मिलता है।

(२) मुद्रिका की परिकल्पना सर्वथा नवीन एवं कालिदास की सूक्ष्म बुद्धि की परिचायक है। यही घटना का मूल केन्द्र बिन्दु बनकर नाटक के नामकरण का कारण बनती है। यही नहीं, इससे वस्तु-संघटना में अपूर्व सहायता मिलती है। फलस्वरूप सप्तम अंक में दुष्यन्त-शकुन्तला का सुखद मिलन होता है। इन्द्र के आमन्त्रण पर दुष्यन्त का स्वर्ग जाना और वहाँ से मुनि कश्यप के आश्रम में लौटना आदि सभी घटनाएँ नाटक के सुखद-अवसान में सहायक होती हैं। अनसूया, प्रियंवदा, शार्ङ्गरव, शारद्वत आदि पात्रों की परिकल्पना से भी नाटक की सफलता में अपूर्व साहाय्य मिलता है।

इस प्रकार कालिदास ने केवल पञ्चम अंक तक ही पहुँचने वाली महाभारत की नीरस तथा निर्जीव कथा को लेकर अपनी नाट्य-प्रतिभा तथा अप्रतिम कल्पना के सहारे उसे सरस और सजीव बनाकर सप्तम अंक की सुखद मंजिल तक पहुँचा दिया है।

अभिज्ञानशाकुन्तल का नामकरण

महाकवि अपने काव्यों या नाटकों का नामकरण या तो नायक-नायिका के नाम पर करता है अथवा वर्ण्यविषय या किसी घटना विशेष के आधार पर, जो काव्य अथवा नाटक की केन्द्र बिन्दु होती है। मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशीय, मालती-माधव आदि प्रथम कोटि के उदाहरण हैं जबकि मृच्छकटिक, प्रतिज्ञा-यौगन्धरायण, वेणीसंहार, अभिज्ञानशाकुन्तल आदि द्वितीय कोटि के। शाकुन्तल में दुर्वासा के शाप से विस्मृत शकुन्तला का स्मरण नायक दुष्यन्त को मुद्रिका रूप अभिज्ञान (पहचान) के द्वारा होता है। अतः इस नाटक का नाम अभिज्ञानशाकुन्तल है। विद्वानों ने इसकी व्युत्पत्ति अनेक प्रकार से की है जिनमें से कुछ का उल्लेख नीचे किया जा रहा है—

१. 'अभिज्ञायते अनेन इति अभिज्ञानम्'। अभि उपसर्ग पूर्वक ज्ञा धातु से करण अर्थ में 'करणाधिकरणयोश्च' सूत्र से ल्युट् प्रत्यय; अभि+ज्ञा+ल्युट् = अभिज्ञानम्। शाकुन्तलम् — शकुन्तलामधिकृत्य कृतं नाटकं शाकुन्तलम्। यहाँ पर 'अधिकृत्य कृते ग्रन्थे' सूत्र से अण् प्रत्यय हुआ है। अभिज्ञानप्रधानं शाकुन्तलम् अभिज्ञानशाकुन्तलम्। 'शाकपार्थिवादीनां सिद्धये उत्तरपदलोपस्योपसङ्ख्यानम्।' इस वार्तिक से उत्तर पद का लोप होकर अभिज्ञानशाकुन्तलम् निष्पन्न होता है। जिसका तात्पर्य है—शकुन्तला विषयक वह नाटक जिसमें अङ्गुलीय रूपी अभिज्ञान प्रधान है।

२. अथवा, अभिज्ञानसहितं शाकुन्तलमभिज्ञानशाकुन्तलम् उत्तर पद 'सहित' का लोप। तात्पर्य है—अभिज्ञान के वर्णन से समन्वित शकुन्तला विषयक नाटक।

३. अभिज्ञायते अनेन इति अभिज्ञानम्। अभि+ज्ञा+ल्युट् (करण के अर्थ में) जिसके द्वारा पहचाना जाय उसे अभिज्ञान कहते हैं। अभिज्ञानेन स्मृतम्-अभिज्ञानस्मृतम्। शकुन्तलायाः इदमिति शाकुन्तलम् (शकुन्तला का परिणय) अभिज्ञानस्मृतञ्च तत् शाकुन्तलञ्च इति अभिज्ञानशाकुन्तलम् अर्थात् अभिज्ञान के स्मरण से किया हुआ शकुन्तला का पाणिग्रहण। औपचारिक अभिन्नता के कारण नाटक को अभिज्ञानशाकुन्तलम् कहा जाता है।

४. अभि+ज्ञा+भाव अर्थ में ल्युट् प्रत्यय। शकुन्तलायाः इदमिति शाकुन्तलम्। शकुन्तला+अण् प्रत्यय ('तस्येदम्' सूत्र से) अभिज्ञानञ्च तत्शाकुन्तलञ्चेत्यभिज्ञानशाकुन्तलम्। 'मयूरव्यसंकादयः' सूत्र से समास। अर्थ है—अभिज्ञान से याद की गयी शकुन्तला। उपचार की अभिन्नता से नाटक को 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' कहा जाता है।

५. अभिज्ञानञ्च शकुन्तला चेत्यभिज्ञानशाकुन्तले ते अधिकृत्य कृतं नाटकम् 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्।' अभिज्ञानशाकुन्तल+अण्, अभिप्राय है—अभिज्ञान एवं शकुन्तला विषयक विरचित नाटक 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्'।

कतिपय विद्वान् जिनमें प्रो० काले, प्रो० राय, प्रो० गोस्वामी, प्रो० बोस आदि प्रमुख हैं, 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' इस नाटक का मौलिक नाम 'अभिज्ञानशकुन्तलम्' मानते

हैं। उस अवस्था में इसकी व्युत्पत्ति अधोलिखित रीति से की जायगी—'अभिज्ञायते अनेन इति अभिज्ञानम्' अभि+ज्ञा+ल्युट् (करणे ल्युट्), अभिज्ञानेन स्मृता अभिज्ञानस्मृता।'अभिज्ञानस्मृता शकुन्तला यस्मिन् (नाटके) तदभिज्ञानशकुन्तलम्।' शाकपार्थिवादि० इस वार्तिक से उत्तर पद 'स्मृता' का लोप अर्थात् अभिज्ञान से स्मृत शकुन्तला।

उपर्युक्त व्युत्पत्ति के आधार पर 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' नाटक के नाम की सार्थकता सिद्ध हो जाती है।

शाकुन्तल का नाटकत्व

रूपक के दस भेदों में शाकुन्तल 'नाटक' नामक भेद के अन्तर्गत आता है। क्योंकि इसमें नाटक के अधिकांश लक्षण घटित हो जाते हैं।

१. **वस्तु**—'नाटकं ख्यातवृत्तं स्यात्' इस लक्षण के अनुसार शाकुन्तल की कथावस्तु महाभारत से ली गयी है। अतः वह प्रख्यात है।

२. **नायक**—नाटक के लक्षणानुसार नाटक का नायक प्रख्यातवंशी कोई राजर्षि हो सकता है, जो धीरोदात्त कोटि का हो—'प्रख्यातवंशो राजर्षिर्धीरोदात्तः प्रतापवान्।' शाकुन्तल के नायक दुष्यन्त का सम्बन्ध इतिहास-प्रसिद्ध चन्द्रवंश से है तथा वह नायक के धीरोदात्त कोटि में आता है।

३. **रस**—नाटक का मुख्य रस शृंगार अथवा वीर होता है, अन्य रस उसके सहायक होते हैं—'एक एव भवेदङ्गी शृङ्गारो वीर एव वा। अङ्गमन्ये रसाः सर्वे।' शाकुन्तल में शृंङ्गार रस मुख्य है तथा वीर, भयानक, हास्य आदि (रस) उसके अङ्ग रूप से निबद्ध हैं।

४. **अङ्क**—नाटक में पाँच से दस अङ्क होते हैं—'पञ्चादिका दशपरास्तत्राङ्काः परिकीर्तिताः।' शाकुन्तल में कुल सात अङ्क हैं।

५. **सन्धि**—नाटक में पाँच सन्धियों का विधान होता है—'पञ्चसन्धिसमन्वितम्' तथा निर्वहण सन्धि में अद्भुत कार्यों की योजना होती है। शाकुन्तल के प्रथम अङ्क के 'ततः प्रविशति मृगानुसारी' से लेकर द्वितीय अङ्क के 'इत्युभौ परिक्रम्योपविष्टौ' तक मुख-सन्धि; द्वितीय अङ्क के 'माधव्य, अनवाप्तचक्षुःफलोऽसि' से लेकर तृतीय अङ्क की समाप्ति तक प्रतिमुख सन्धिः, चतुर्थ अङ्क के प्रारम्भ से लेकर पञ्चम अङ्क के 'इति यथोक्तं करोति' तक गर्भ सन्धिः, पञ्चम अङ्क के 'शकुन्तलां निर्वण्यात्मगतं' से लेकर षष्ठ अङ्क की समाप्ति तक विमर्श सन्धि तथा सम्पूर्ण सप्तम अङ्क में निर्वहण सन्धि है। सप्तम अङ्क में निबद्ध निर्वहण सन्धि में अनेक अद्भुत कार्यों का भी विधान किया गया है।

नाटक में सुख-दुःखादि की स्थिति तथा अन्य विधेय कार्यों का विधान करके उसे (नाटक को) सर्वाङ्गपूर्ण बनाया गया है। अतः नाट्य-शास्त्रीय दृष्टि से शाकुन्तल एक सफल नाटक है।

काव्येषु नाटकं रम्यम्
अथवा
नाट्य की महत्ता एवं वैशिष्ट्य

१. सार्वजनिक मनोरञ्जन का साधन—नाट्य या रूपक एक ऐसा सार्वजनिक मनोरञ्जन का साधन (सार्ववर्णिक क्रीडनीयक) है जिसकी रचना सर्वजनहिताय तथा सर्वजनसुखाय हुई है, क्योंकि देवताओं के समाज-हित-चिन्तन की इच्छा को ध्यान में रखकर ही ब्रह्मा ने उसकी सृष्टि की है—

''क्रीडनीयकमिच्छामि दृश्यं श्रव्यं च यद् भवेत्
तस्मात् सृजापरं वेदं पञ्चमं सार्ववर्णिकम् ।।''

ना०शा० १/१ प्र० अ० ॥

चार वेदों से केवल तीन वर्णों का ही हितसाधन होता है पर इस सार्ववर्णिक पञ्चम वेद (नाट्य) से तो निर्धन-धनी, सवर्ण-असवर्ण सभी का मनोरञ्जन तथा हित होता है। नाट्य से सभी वर्ग के लोग आनन्दानुभूति करते हैं क्योंकि दृश्य होने से वह हृद्य (रमणीय) है और श्रव्य होने से व्युत्पत्तिप्रद (उपदेशजनक)। इस प्रकार वह एक ही साथ सहृदय के हृदय में आनन्दानुभूति भी जगाता है तथा उसे कान्तासम्मित उपदेश भी देता है—

'दृश्यं हृद्यं व्युत्पत्तिप्रदमिति प्रीतिव्युत्पत्तिप्रदम्''—अभिनवभारती - ना०शा०, प्र०अं०।

वस्तुतः नाट्यशास्त्र के आचार्यों ने नाट्य को सार्वजनिक मनोरञ्जन के साधन के रूप में स्वीकार किया है। महाकवि कालिदास ने यदि नाट्य को विभिन्न रुचि वाले प्राणियों के लिये एक सा आनन्द प्रदान करने वाला अद्वितीय समाराधन माना तो उसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं–''नाट्यं भिन्नरुचेः जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम''— मालविकाग्निमित्र १/४ ॥

२. व्यापकता तथा सर्वाङ्गीणता—नाट्य अपने विषय की परिधि में सारे त्रैलोक्य के चर-अचर को समेट लेता है। उसमें समस्त त्रैलोक्य के भावों का अनुकीर्तन (प्रदर्शन) होता है। संसार का कोई ऐसा ज्ञान, शिल्प, विद्या, कला, योग और कर्म नहीं है, जो नाट्य में न हो—

त्रैलोकस्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम् ।। ना०शा० १/१०७

न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला ।

नासौ योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते ।। ना०शा० १/११६

नाट्य तो प्राणिमात्र के नाना भावों तथा अवस्थाओं के चित्रण से युक्त तथा लोकवृत्त के अनुकरण से संवलित ऐसी काव्य-विधा है जो श्रमार्त्त तथा शोकार्त सभी लोगों के लिये विश्रान्तिजनक, हितकारक तथा उपदेशप्रद है—

''विश्रान्तिजननं लोके नाट्यमेतत् भविष्यति ।

विनोदजननं लोके नाट्यमेतद् भविष्यति'' ।। ना० शा० । प्र०अ० ।।

३. सत्यम् शिवम् सुन्दरम् का योग—नाट्य में ऐसा कोई भाव और अवस्था नहीं जिसका चित्रण न हो, ऐसा कोई लोकवृत्त नहीं जो उपेक्षित हो। उसमें तो उत्तम, मध्यम, अधम सभी नरों का चित्र है। यथार्थ होने से वह सत्य है, हितोपदेशजनक होने से शिव है और विश्रान्तिजनक तथा विनोदजनक क्रीडनीयक होने से वह सुन्दर है। क्या सत्यं शिवं सुन्दरं का ऐसा मनोहर योग काव्य की किसी विधा में सम्भव है ?—ना० शा० १।११२-११५।

४. रसानुभूति की सुगमता—सहृदय के हृदय का आह्लाद अर्थात् सहृदय के हृदय में रसानुभूति जगाना ही काव्य का उद्देश्य हैं रसानुभूति का मूल कारण स्थायी भाव का विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव के साथ संयोग है—

''विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः'' ।

दृश्य-काव्य में रङ्गमंच पर उपस्थित पात्रों की वेशभूषा, उनके आकार, उनकी भाव-भङ्गिमो, संवाद आदि से एक सजीव, मनोहर तथा हृदयग्राही बिम्ब खड़ा हो जाता है जिससे सहृदय जन का रसानुभूति का मार्ग निर्बाध ही नहीं प्रत्युत सुगम भी हो जाता है। इसी अभिप्राय को दृष्टि में रखकर ''**नाटकान्तं कवित्वम्**'' कहा गया है। वस्तुतः काव्य का चरम लक्ष्य नाट्य से प्राप्त हो सकता है।

श्रव्य-काव्य की अपेक्षा दृश्य-काव्य की श्रेष्ठता—

(१) श्रव्य काव्य में सहृदय श्रवण अथवा पठन के द्वारा रसानुभूति की चेष्टा करता है उसे अपनी कल्पना के सहारे तत्सम्बन्धी समस्त बिम्ब को कल्पित करना पड़ता है। उसमें शब्द ही मानसिक चित्र उपस्थित करते हैं। फलस्वरूप उसकी अनुभूति में वह तीव्रता, सजीवता तथा मनोहरता नहीं आ पाती जो अपेक्षित होती है। इसके विपरीत दृश्य काव्य में अभिनेताओं के द्वारा किये जाने वाले चार प्रकार के अभिनयों से वर्ण्य का साक्षात् बिम्ब खड़ा हो जाता है, फलस्वरूप उसे (सहृदय को) कल्पना के अनावश्यक प्रपञ्च में नहीं जाना पड़ता।

(२) श्रव्य काव्य के माध्यम से शिक्षित समाज ही रसानुभूति कर सकता है पर नाट्य के द्वारा सर्वसाधारण आनन्दानुभूति कर सकता है। इसीलिये भरत ने उसे सार्वजनिक मनोरञ्जन का साधन कहा है।

(३) दृश्य काव्य में दर्शक और नाट्यपात्रों में साक्षात् सम्बन्ध रहता है जिससे अनुभूति में तीव्रता आ जाती है। इसके विपरीत श्रव्य काव्य में कवि के माध्यम से सम्बन्ध होता है फलतः अनुभूति में तीव्रता नहीं आ पाती।

(४) दृश्य काव्य में संगीत, वाद्य, दृश्यविधान आदि काव्यात्मक प्रभाव की वृद्धि में विशेष रूप से सहायक होते हैं और उसकी कथावस्तु संवाद के सहारे आगे बढ़ती है जिससे सहृदय का मन उसमें लगा रहता है। उसके विपरीत श्रव्य काव्य में अधिकांश रूप में वर्णन के द्वारा वस्तु आगे बढ़ती है जिससे पाठक के हृदय में कौतूहल-वृत्ति जाग्रत नहीं होती जो आनन्द की एक प्रमुख कड़ी है।

(५) यद्यपि दृश्य काव्य का आनन्द नेत्र तथा श्रवण दोनों के द्वारा प्राप्त होता है पर वह (दृश्य काव्य) प्रधानतः चक्षुरिन्द्रिय का विषय होता है जबकि श्रव्यकाव्य श्रवणेन्द्रिय का। प्रत्यक्षतः देखी गयी वस्तु श्रवणगोचर वस्तु की अपेक्षा अधिक प्रभावोत्पादक एवं रमणीय होती है। इसीलिए कालिदास ने नाट्य को चाक्षुष यज्ञ कहा है—"**शान्तं क्रतुं चाक्षुषम्**"- माल० १।४॥

(६) श्रव्य काव्य तथा दृश्य काव्य दोनों में कान्तासम्मित उपदेश रहता है। पर 'क्रीडनीयक' होने से नाट्य गुडप्रच्छन्न कटु औषध के समान चित्त को सन्मार्ग पर आरूढ़ होने की प्रेरणा देता है—

"इदमस्माकं गुडप्रच्छन्नकटु औषधकल्पं चित्तविक्षेपमात्रफलम्"।

अभिनवभारती, पृ० ६७।

उक्त तथ्यों को ध्यान में रखने पर यह बात आपाततः स्पष्ट हो जाती है कि नाट्य अथवा रूपक काव्य के अन्य भेदों की अपेक्षा आह्लादकर तथा मनोरम है। अतः उसके विषय में यह उक्ति सर्वांशतः सत्य एवं समीचीन है—"**काव्येषु नाटकं रम्यम्**।"

तत्र रम्या शकुन्तला
अथवा
अभिज्ञानशाकुन्तल का वैशिष्ट्य
अथवा
कालिदासस्य सर्वस्वमभिज्ञानशाकुन्तलम्

अभिज्ञानशाकुन्तल संस्कृत-साहित्य ही नहीं अपितु विश्व-साहित्य की अमूल्य निधि है। पाश्चात्य विद्वानों को संस्कृत-साहित्य के प्रति उन्मुख करने का श्रेय शाकुन्तल को ही है। आज महाकवि कालिदास को सम्पूर्ण विश्व में जो एक महनीय स्थान प्राप्त है उसमें भी इस अमर कृति का ही बहुमूल्य योगदान है। विद्वन्मण्डली काव्य में नाटक को रमणीय मानती है और नाटक में भी अभिज्ञानशाकुन्तल को सर्वश्रेष्ठ स्थान पर प्रतिष्ठित करती है.

"काव्येषु नाटकं रम्यं तत्र रम्या शकुन्तला"

अब प्रश्न यह है कि शाकुन्तल में वे कौन से गुण विद्यमान हैं जिनके कारण वह (शाकुन्तल) भारतीय तथा अभारतीय दोनों (प्रकार के) विद्वानों की प्रशंसा का भाजन बना है। इस प्रश्न का उत्तर पाने के लिए हमें कालिदास की काव्य-प्रतिभा, नाट्यकला, काव्यशैली, रससर्जना आदि सभी का आकलन करना होगा। कालिदास तथा उनकी अमर कृति शाकुन्तल की प्रायः सभी विशेषताओं का पहले उल्लेख किया जा चुका है और उनका सही आकलन कर लेने पर शाकुन्तल के सार्वभौम माहात्म्य का कोई अंश शेष अथवा अस्पृष्ट नहीं रह जाता फिर भी उसकी महनीयता के कारणों की ओर यहाँ सङ्केत मात्र किया जा रहा है—

१. कालिदास ने अपनी अप्रतिम नाट्य-कला के बल पर इस नाटक की कथावस्तु की ऐसी संघटना की है जिससे आदि से लेकर अन्त तक सारी घटनायें अति स्वाभाविक ढंग से गतिशील होती है। कथावस्तु का कोई भी अंश न अनावश्यक है और न ही अनुपयोगी। वस्तुयोजना सम्बन्धी इस नाट्यकौशल ने शाकुन्तल को इतना आकर्षक एवं आह्लादकर बना दिया है कि पाठक एक ही बैठक में पूरे नाटक को देखने या सुनने के लिये लालायित हो जाता है। (एतदर्थ 'कालिदास की नाट्यकला' का वस्तुसंघटना अंश द्रष्टव्य है)।

२. शाकुन्तल में नाट्य के द्वितीय तत्त्व नेता अर्थात् पात्रों का संयोजन भी नितान्त सुन्दर तथा भव्य है। सारे पात्रों के क्रिया-कलाप नाटक के चरम उद्देश्य की पूर्ति में साहाय्य प्रदान करते हैं। कालिदास की चरित्र-चित्रण सम्बन्धी अद्भुत कला ने सभी पात्रों को सजीव एवं क्रियाशील बना दिया है तथा उनके वास्तविक स्वरूप को हमारे सामने मूर्तिमान् कर दिया है। वैयक्तिकता से मण्डित पात्र हमारे इतने नजदीक हो जाते हैं कि हम उनके साथ तादात्म्यानुभूति कर अनायास ही काव्यानन्द की प्राप्ति कर लेते हैं। (एतदर्थ पात्रों का चरित्र-चित्रण द्रष्टव्य है।)

३. नाटक में नाट्य के तृतीय तत्त्व रस का भी सुन्दर परिपाक हुआ है। शृङ्गार रस के मूर्धन्य कवि कालिदास की कमनीय कला को यहाँ खेलने का पूरा अवसर मिला है। फलतः शृङ्गार के दोनों पक्षों का उन्होंने हृदयग्राही उद्घाटन किया है। शृङ्गार के साथ ही बीच में कारुण्य का पुट देकर उन्होंने उसे और रमणीय बना दिया है। शृङ्गार के संयोग पक्ष से आरम्भ कर उसकी संयोग पक्ष में ही समाप्ति से नाटक सहृदयों के मानस-मन्दिर में इस प्रकार प्रतिष्ठित हो गया है कि उसे वहाँ से स्थानान्तरित करना सम्भव नहीं है।

४. कालिदास की परिकल्पना के अग्रदूत विदूषक के द्वारा की गयी हास्य सर्जना दुष्यन्त का तो जी हलका करती ही है साथ ही वह सहृदयों के हृदय को भी आकर्षित एवं स्फूर्तिमय बना देती है, जिससे वह (सहृदय) प्रसन्न मुद्रा में नाट्य रस का आस्वादन करता है। (द्रष्टव्य विदूषक का चरित्र-चित्रण ।)

५. शाकुन्तल की भाषा पात्रोपयुक्त, अतीव सरल, प्रसादगुणमयी, लालित्यपूर्ण और मुहावरेदार है। उसके संवाद इतने स्वाभाविक, रोचक तथा मनोवैज्ञानिक हैं कि पाठक स्वयं नाटक का पात्र बनकर संवाद में भाग लेने के लिये लालायित हो जाता है। भाषा और संवाद के इन गुणों ने नाटक की कीर्ति में चार चाँद लगा दिये हैं। (द्रष्टव्य कालिदास की भाषा एवं संवाद अंश।)

६. कालिदास की वैदर्भी शैली का इस नाटक में पूर्ण परिपाक है। यहाँ उनके वर्णनकौशल के प्रख्यापन का भी अवसर मिला है। वर्णनकला से वर्ण्यविषय (आश्रम, भयभीत मृग, शकुन्तला आदि) आँखों के समक्ष नाचने लगता है।

इस नाटक में कालिदास ने प्रेम एवं सौन्दर्य के कोमल एवं मधुर स्वरूप को अतीव चारु ढंग से उद्‌घाटित किया है जिसके कारण नाटक का पूरा वातावरण मनोमोहक एवं सरस हो गया है। (द्रष्टव्य प्रेम एवं सौन्दर्य-चित्रण)

इस नाटक का सबसे महत्त्वपूर्ण अंश है प्रकृति का मानवीकरण। कालिदास जैसे प्रकृतिप्रेमी एवं सरसहृदय कवि के हाथों पड़कर प्रकृति भी दुष्यन्त, शकुन्तला, अनसूया तथा प्रियंवदा आदि की भाँति सजीव पात्र बन गई है। पूरे आश्रम के वातावरण में साम्यवाद छा गया है। प्रकृति यदि मानव जगत् के सुख-दुःख में भाग लेती है और उसके सौन्दर्यादि गुणों को द्विगुणित करती है तो मानव भी उसके प्रति पुत्र, भाई-बहिन का सा व्यवहार करता है। यही नहीं मानव (शकुन्तला आदि) उसकी सेवा में ही रत रह कर अपने जीवन को कृतार्थ करता है। कालिदास की इस प्रकार की अनुपम प्रकृतिचित्रण सम्बन्धी कला ने नाटक की कीर्तिकौमुदी को दिग्‌दिगन्त में विकीर्ण कर दिया है (द्रष्टव्य प्रकृति-चित्रण भाग)।

इस प्रकार वस्तुयोजना, पात्र एवं प्रकृति का चित्रण, प्रकृति-मानव तादात्म्य, अपूर्व वर्णन-कौशन, मनोहर रस-योजना, भाषा-लालित्य आदि सभी दृष्टियों से अभिज्ञानशाकुन्तल संस्कृत काव्य-जगत् का ही नहीं अपितु समस्त विश्व-साहित्य का महनीय अङ्ग बन गया है। उक्त गुणों से मण्डित शाकुन्तल की पाश्चात्य विद्वान् महाकवि गेटे ने यदि निम्नाङ्कित रूप से प्रशस्ति की तो उसमें न कोई अतिशयोक्ति है और न ही चाटुकारिता—

वासन्तं कुसुमं फलञ्च युगपद् ग्रीष्मस्य सर्वं च यद्
यच्चान्यन्मनसो रसायनमतः सन्तर्पणं मोहनम्।
एकीभूतमभूतपूर्वमथवा स्वर्लोकभूलोकयो-
रैश्वर्यं यदि वाञ्छसि प्रिय सखे! शाकुन्तलं सेव्यताम्।।

भारतीय आलोचकों ने शाकुन्तल को कालिदास का सर्वस्व तथा नाटका में सर्वाधिक रमणीय घोषित किया है—

''कालिदासस्य सर्वस्वमभिज्ञानशाकुन्तलम्''

''काव्येषु नाटकं रम्यं तत्र रम्या शकुन्तला''

मेरी सम्मति में शाकुन्तल कालिदास के ही साहित्य अथवा अन्य समस्त नाटकों का सर्वस्वभूत नहीं है अपितु विश्व साहित्य का देदीप्यमान काव्यरत्न है—

''विश्वसाहित्यस्य सर्वस्वमभिज्ञानशाकुन्तलम्''

तत्रापि च चतुर्थोऽङ्कः

सहृदयों ने अभिज्ञानशाकुन्तल के चतुर्थ अङ्क की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। वस्तुतः यह अङ्क महाकवि कालिदास की नाट्यकला का चरमोत्कर्ष है। इस अङ्क में उनकी काव्य-प्रतिभा, अनुपम नाट्यकौशल, अप्रतिम प्रकृति-प्रेम, भावना की सरसता, लौकिक ज्ञान की गरिमा आदि के साक्षात् दर्शन होते हैं। चतुर्थ अङ्क की कतिपय विशेषतायें निम्नांकित हैं—

१. छाया की भाँति सदा साथ रहने वाली अनसूया तथा प्रियंवदा की ऊहापोहमय स्थिति से इस अङ्क का प्रारम्भ होता है। इस अङ्क के विष्कम्भक में दुष्यन्त के चिन्तन में सुध-बुध खोयी शकुन्तला के द्वारा अतिथि-सत्कार न करने पर उसके ऊपर महर्षि दुर्वासा का शाप रूपी वज्रपात तथा अनुनय-विनय करने पर किसी अभिज्ञान द्वारा पुनः दुष्यन्त द्वारा शकुन्तला के अभिज्ञान (पहचान) की कल्पना से नाटक के दो लक्ष्य सिद्ध हो जाते हैं। प्रथम उसके भावी वियोग का मार्ग निर्बाध हो जाता है। दूसरे अभिज्ञान की योजना से नाटक के नाम की सार्थकता भी सिद्ध हो जाती है। इस प्रकार नाट्य-कथानक में आमूल परिवर्तन का सूत्रपात होता है। वस्तुतः शाप और मुद्रिका की कल्पना ने क्रमशः त्याग और बलिदान से प्रेम को पवित्र करने तथा नाटक को सुखान्त बनाने में अभूतपूर्व भूमिका निभायी है।

२. प्रातःकाल के वर्णन में एक ही साथ चन्द्रमा के अस्ताचल को जाने तथा सूर्य के उदयाचल पर्वत पर आरूढ होने के द्वारा संसार के प्राणियों की दशाओं में अवश्यम्भावी परिवर्तन का नियमन—

यात्येकतोऽस्तशिखरं पतिरोषधीना-
माविष्कृतोऽरुणपुरःसर एकतोऽर्कः।
तेजोद्वयस्य युगपद्व्यसनोदयाभ्यां
लोको नियम्यत इवात्मदशान्तरेषु।।४/२।।

प्रकारान्तर से इस बात का संकेत करता है कि मानव-जीवन में सुख (प्रणय-जनित आनन्द) सदा स्थायी नहीं रहता। प्राणी को कड़वे घूँट भी पीने पड़ते हैं।

निम्नाङ्कित श्लोक में प्रणयी की उपेक्षाजनित शकुन्तला की असह्य मनोव्यथा को व्यञ्जित कराकर कवि ने अबला मात्र के प्रति करुणा एवं सहानुभूति जगायी है—

अन्तर्हिते शशिनि सैव कुमुद्वती मे

दृष्टिं न नन्दयति संस्मरणीयशोभा।

इष्टप्रवासजनितान्यबलाजनस्य

दुःखानि नूनमतिमात्रसुदुःसहानि ।। ४/३ ।।

३. इस अङ्क में कालिदास ने मानव एवं प्रकृति को एक ही प्रणय सूत्र में बाँध दिया है। निसर्गसुकुमारी शकुन्तला की विदाई के अवसर पर उसे सुसज्जित एवं अलङ्कृत करने के लिए वनस्पति आभूषण और वस्त्र देते हैं—

क्षौमं केनचिदिन्दुपाण्डुतरुणा माङ्गल्यमाविष्कृतं

निष्ठ्यूतश्चरणोपरागसुभगो लाक्षारसः केनचित्।

अन्येभ्यो वनदेवताकरतलैरापर्वभागोत्थितै-

र्दत्तान्याभरणानि नः किसलयोद्भेदप्रतिद्वन्द्विभिः ।। ४/५ ।।

महर्षि कण्व उनसे पुत्री शकुन्तला की विदाई का आदेश माँगते हैं—

पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु या

नादत्ते प्रियमण्डनाऽपि भवतां स्नेहेन या पल्लवम्।

आद्ये वः कुसुमप्रसूतिसमये यस्या भवत्युत्सवः

सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम्।। ४/९ ।।

पुत्रवत् विरहकातर मृग-शावक शकुन्तला को रोकने के लिए सत्याग्रह करता है **'को नु खल्वेष.......'** च०अ०। शकुन्तला की बहिन सरीखी लतायें विरह विदग्ध होकर आँसू बहाती हैं, भाई-सरीखे मृग तृण का ग्रास चबाना छोड़ देते हैं। मयूर नर्तन करना बन्द कर देते हैं-

उद्गलितदर्भकवला मृग्यः परित्यक्तनर्तना मयूराः।

अपसृतपाण्डुपत्रा मुञ्चन्त्यश्रूणीव लताः ।। ४/१२ ।।

मानव और प्रकृति के बीच इतना तादात्म्य, इतना घनिष्ठ सम्बन्ध अन्यत्र कहीं नहीं दृष्टिगोचर होता। क्या प्रकृति के द्वारा किया गया इस प्रकार का अनशन और सत्याग्रह किसी दूसरे कवि की कल्पना में सम्भव था ? अपनी सन्तान के वियोग में माता-पिता, भाई-बन्धु को विलखते तो सभी देखते हैं पर किसी के असह्य वियोग में लताओं को द्रवीभूत होते किसने देखा ? और पशु, पक्षी, वनस्पति आदि को मित्र, पुत्र, अभिभावक आदि के रूप में किसने सुना ?

४. कण्व के द्वारा शकुन्तला को दिया गया शाश्वत एवं सार्वभौम उपदेश इसी अङ्क में है जो प्रत्येक वधू के जीवन-मार्ग में पदे-पदे पथ-प्रदर्शन करता है—

शुश्रूषस्व गुरून् कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने
भर्तुर्विप्रकृताऽपि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः ।
भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भाग्येष्वनुत्सेकिनी
यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो वामाः कुलस्याधयः ।।४/१८।।

५. पिता कण्व की अनुमति के बिना ही उनकी अनुपस्थिति में उनकी लाडली पुत्री के साथ गान्धर्व विवाह करने वाले बहुपत्नीक चक्रवर्ती सम्राट् दुष्यन्त को दिया जाने वाला सन्देश भी यही है—

अस्मान् साधु विचिन्त्य संयमधनानुच्चैः कुलं चात्मन-
स्त्वय्यस्याः कथमप्यबान्धवकृतां स्नेहप्रवृत्तिं च ताम् ।
सामान्यप्रतिपत्तिपूर्वकमियं दारेषु दृश्या त्वया
भाग्यायत्तमतः परं न खलु तद् वाच्यं बधूबन्धुभिः ।।४/१७।।

६. वीतरागी महर्षि कण्व के तपः पूत एवं निर्विकार मानस को उद्वेलित करने वाले पुत्री-प्रेम का उद्घाटन भी—

यास्यत्यद्य शकुन्तलेति हृदयं संस्पृष्टमुत्कण्ठया
कण्ठः स्तम्भितबाष्पवृत्तिकलुषश्चिन्ताजड दर्शनम् ।
वैक्लव्यं मम तावदीदृशमिदं स्नेहादरण्यौकसः
पीड्यन्ते गृहिणः कथं नु तनयाविश्लेषदुःखैर्नवैः ।। ४/१६ ।।
शममेष्यति मम शोकः कथं नु वत्से त्वया रचितपूर्वम् ।
उटजद्वारविरूढं नीवारबलिं विलोकयतः ।। ४/२१ ।।

अन्य स्थलों में भी यही हुआ है। प्रणय-पारखी महाकवि कालिदास की प्रेम भावना का जयघोष करने वाला आदर्श प्रेम भी इसी अङ्क में सजीव हो उठा है।

पूरा का पूरा चतुर्थ अङ्क सखीप्रेम, पितृप्रेम तथा पुत्रीप्रेम से ओत-प्रोत है। पिता कण्व पुत्री-स्नेह से कातर हैं, शकुन्तला की दोनों सखियाँ (अनसूया और प्रियंवदा) यदि अपनी प्रियसखी के हितचिन्तन-मूलक स्नेह से सिक्त हैं तो प्रकृति मानव-स्नेह की दीवानी ! पूरा आश्रम प्रेम के अखण्ड-साम्राज्य की दीप्ति से दीप्तिमान् हो गया हैं। यहाँ पर चतुर्थ अङ्क की महत्ता एवं वैशिष्ट्य को प्रख्यापित करने वाले पं० चन्द्रशेखर पाण्डेय के कथन को उद्धृत करना समीचीन होगा—

"कण्व की व्यग्रता, अनसूया और प्रियंवदा की आनन्द में परिणत चिन्ता, कण्व का राजा के नाम सन्देश और भावी गृहलक्ष्मी को उपदेश तथा आश्रम की नीरवता में विविध

भाव और घटनायें, ये सब ऐसी मार्मिकता तथा प्रगाढ़ सुकुमारता से चित्रित हुए हैं कि प्रतीत होता है कि यह अङ्क मानो शब्दनिर्मित मानव हृदय ही हो ।।''— संस्कृत साहित्य की रूपरेखा।

तत्र श्लोकचतुष्टयम्

भारतीय समीक्षक-मण्डली अभिज्ञानशाकुन्तल के चतुर्थ अङ्क की प्रशंसक होते हुए भी उसके चार श्लोकों की मनोहरता एवं उत्कृष्टता का विशेष गुणगान करती है—**''तत्र श्लोकचतुष्टयम्''**। चतुर्थ अङ्क में कुल २२ श्लोक हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि उनमें किन चार श्लोकों को सर्वश्रेष्ठ एवं मनोहर माना जाय ? इस प्रश्न का निर्विवाद समाधान दृष्टिगोचर नहीं होता क्योंकि सभी ने अपनी तत्त्वान्वेषिणी दृष्टि में चार श्लोकों का चयन किया है। मोटे तौर पर विद्वानों के मतों का आकलन करने पर चार श्लोकों के निम्नांकित छः वर्ग बन जाते हैं—

१— क–यात्येकतो ४/२
ख–यास्यत्यद्य ४/६
ग–शुश्रूषस्व ४/१८
घ–उद्गलित ४/१२

२— क–यास्यत्यद्य ४/६
ख–उद्गलित ४/१२
ग–पातुं ४/९
घ–शममेष्यति ४/२१

३— क–यास्यत्यद्य ... ४/६
ख–शुश्रूषस्व ४/१८
ग–अस्मान् ४/१७
घ–भूत्वा ४/२०

४— क–यास्यत्यद्य ४/१६
ख–शुश्रूषस्व ४/१८
ग–अभिजन ४/१९
घ–भूत्वा ४/२०

५— क–यास्यत्यद्य ४/६
ख–शुश्रूषस्व ... ४/१८
ग–अस्मान् ४/१७
घ–पातुं ४/९

६— क–यास्यत्यद्य ४/६
ख–शुश्रूषस्व ... ४/१८
ग–अभिजन ४/१९
घ–रम्यान्तर ... ४/११

उक्त वर्गों की कुल श्लोक संख्या २४ हो जाती है परन्तु उन सभी वर्गों में निम्नांकित १० श्लोक ही यत्र तत्र परिगणित हैं—

१- यात्येकतोऽस्तशिखरं ... ४/२
२- यास्यत्यद्य ४/१६
३- पातुं न ४/९
४- रम्यान्तरः ४/११
६- अस्मान् ४/१७
७- शुश्रूषस्व ... ४/१८
८-अभिजन ४/१९
९- भूत्वा ४/२०

५–उद्गलित .... ४/१२　　　　१०– शममेष्यति... ४/२१

उक्त दस श्लोकों में क्रम संख्या २ **'यास्यत्यद्य'** श्लोक ऐसा है जो सभी वर्गों में है। इससे यह सिद्ध होता है कि यह श्लोक सभी दृष्टि में (निर्विवाद रूप से) सर्वोत्तम है। दूसरे स्थान पर सं. ७ **'शुश्रूषस्व'** श्लोक आता है जो एक वर्ग (संख्या २) छोड़कर सभी के द्वारा समादृत है। क्रमसंख्या ३,५,६,८,९ वाले श्लोक दो दो वर्गों में प्रतिष्ठित हैं। क्रम संख्या १,४ और १० वाले श्लोक केवल एक वर्ग में ही स्थान पा सके हैं।

मेरी सम्मति में निम्नाङ्कित चार श्लोक (वर्ग संख्या ५ में उल्लिखित) चतुर्थ अङ्क के सर्वोत्तम श्लोक हैं, क्योंकि इन्हीं के माध्यम से चतुर्थ अङ्क का क्रमशः सारभूत कारुण्य, मानव तथा प्रकृति का तादात्म्य, आदर्शदाम्पत्य-जीवन के लिए उदात्त उपदेश तथा कण्व का दुष्यन्त के लिए सारगर्भित सन्देश व्यञ्जित होता है—

१–यास्यत्यद्य ... तनयाविश्लेषदुःखैर्नवैः ॥ ४/६ ॥

२–पातुं न ..... सर्वैरनुज्ञायताम् ॥ ४/९ ॥

३–अस्मान् .... वधूबन्धुभिः ॥ ४/१७ ॥

४–शुश्रूषस्व .... वामाः कुलस्याधयः ॥ ४/१८ ॥

१. ''यास्यत्यद्य––'' इस श्लोक के माध्यम से पुत्री-वियोग की ऐसी उत्कट और असह्य वेदना व्यञ्जित हुई है जो वीतरागी एवं निर्विकारचेता महर्षि कण्व के अन्तःस्थल को भी झकझोर देती है। जिस प्रकार वियोग-विधुर क्रौञ्च पक्षी के करुणामय विलाप को सुनकर महर्षि वाल्मीकि का मूक शोक **'मा निषाद ! प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः'** इस श्लोक के रूप में मुखरित हो गया **'शोकः श्लोकत्वमागतः'**। उसी प्रकार इस श्लोक में भी पिता कण्व की पुत्री-वियोग सम्बन्धी व्यथा मुखर हुई है। स्तम्भितबाष्पवृत्तिकलुषकण्ठ तथा चिन्ताजडदर्शन कण्व की व्यथा को व्यञ्जित करने में भाषा का सौन्दर्य सहायक हो रहा है। इस प्रकार भाव एवं भाषा के मधुर संयोग से व्यञ्जित करुणा (करुण विप्रलम्भ) सहृदय के हृदय को हठात् रससिक्त कर देती है। इस श्लोक की सर्वोत्कृष्टता एवं समीचीन है—**''यास्यत्यद्येति तत्रापि श्लोकः सर्वमनोहरः''** ॥

२. ''पातुं न प्रथमं..........'' इस श्लोक के माध्यम से एक ओर जहाँ प्रकृति-कन्या शकुन्तला का वनस्पतियों के प्रति स्वाभाविक स्नेहातिशय तथा सान्निध्य व्यञ्जित होता है वहीं दूसरी ओर समदर्शी महर्षि कण्व का शकुन्तला की ही भाँति, उन वृक्षों के प्रति भी वात्सल्यातिशय प्रकट होता है। इसके द्वारा प्रकृति और मानव के बीच परस्पर आत्मीय भाव का सजीव चित्रण किया गया है। कण्व की दृष्टि में शकुन्तला केवल उनकी ही बेटी नहीं अपितु वह पूरे आश्रम-निवासियों की बेटी है, अतः विदाई के लिये सभी से अनुमति माँगना सर्वथा उचित है। मानव एवं प्रकृति का यह मधुर सौहार्द भाव किसको नहीं अनुप्राणित करता !

३. ''**अस्मान्!........**''दुष्यन्त के लिये भेजे गये कण्व के इस सन्देश में अनेक गम्भीर तथ्यों का उद्घाटन हुआ है। ''संयमधनान्'' जहाँ एक ओर यह द्योतित करता है कि महर्षि कण्व ने जिस प्रकार दुष्यन्त तथा शकुन्तला के गान्धर्व विवाह को कृपा पूर्वक अनुमति प्रदान कर दी उसी प्रकार वे उसका अनादर होने पर शापादि दण्ड देने में भी समर्थ हैं, वहीं दूसरी ओर वह उनके (कण्व के) दहेज आदि न देने की असमर्थता की भी अभिव्यक्ति करता है। दुष्यन्त को उसके उच्च वंश का स्मरण कराने '**उच्चैः कुलं चात्मनः**' का अभिप्राय उसे अपने वचनों का पालन करने से है। बिना बन्धु बान्धवों की अनुमति के ही शकुन्तला की दुष्यन्त के प्रति स्नेह-प्रवृत्ति '**अबान्धवकृतां**' की चर्चा का लक्ष्य यही है कि दुष्यन्त उसके प्रति किसी भी प्रकार अपनी कृतघ्नता को प्रकट न करे क्योंकि शकुन्तला ने उसके लिये अपना सर्वस्व समर्पित कर दिया है। श्लोक के उत्तरार्द्ध में कण्व द्वारा अपनी पुत्री के लिए समान आदरभाव '**सामान्यप्रतिपत्ति**' की याचना तथा अधिक सुख की प्राप्ति को भाग्याधीन '**भाग्यायत्तमतः**' बतलाना तत्कालीन बहुपत्नी प्रथा की विवशता तथा बड़े जनों की भाग्यवादिता की अभिव्यक्ति कराता है। इस दृष्टि से यह सन्देश निस्सन्देह बहुत महत्त्वपूर्ण, मार्मिक तथा गम्भीर है।

४. ''**शुश्रूषस्व गुरून्.....**''शकुन्तला को दिये गये कण्व के इस उपदेश में तो पूरी भारतीय संस्कृति ही प्रतिबिम्बित होती है। गुरुजनों की सेवा करना, सपत्नियों के प्रति सख्य-भाव रखना, पति के अपमान करने पर भी उसके प्रतिकूल न होना, सेवकों के प्रति कृपालु एवं उदार होना, भोग्य वस्तुओं के कारण अभिमान न करना, इन्हीं गुणों के कारण तो कोई भी नववधू गृहिणी पद की प्राप्ति कर सकती है। इन गुणों से विहीन नववधू पितृकुल एवं पतिकुल दोनों के लिये शोचनीय हो जाती है। पतिगृह को जाने वाली शकुन्तला को दिया जाने वाला यह उपदेश वस्तुतः समस्त नववधुओं के लिये दीक्षोपदेश है। इस प्रकार का सार्वभौम एवं शाश्वत उपदेश तो कालिदास जैसे भारतीय संस्कृति के उपासक महाकवि द्वारा ही सम्भव है।

कालिदास की भाषा एवं शैली

शैली—काव्य जगत् में महाकवि कालिदास की लोकप्रियता का प्रधान कारण उनकी परिष्कृत, प्रसादगुणमयी सरल-सरस शैली ही है। कालिदास वैदर्भी रीति के सर्वश्रेष्ठ कवि माने जाते हैं—

''वैदर्भीरीतिसन्दर्भे कालिदासो विशिष्यते''।

शब्द-माधुर्य, रचना-लालित्य तथा समस्त पदों की स्वल्पता ही वैदर्भी रीति की विशेषताएँ हैं—

''माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णै रचना ललितात्मिका।
अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा वैदर्भी रीतिरिष्यते'' ।। सा० द० ।।

कालिदास की शैली की मुख्य विशेषतायें इस प्रकार हैं—

१. कालिदास की शैली अत्यन्त परिष्कृत है। उसमें रसानुकूल मधुर शब्दों का प्रयोग है। वाक्य छोटे होते हुए भी भावाभिव्यक्ति में सर्वथा समर्थ हैं। शाकुन्तल में सौन्दर्य-वर्णन आदि के अवसर पर भाव अथवा प्रसङ्ग के अनुकूल कवि ने कोमलकान्त पदावली का प्रयोग किया है—

अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररुहैः ।। २/१० ।।

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं.....

किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम् ।। १/२० ।।

२. उनकी शैली में प्रसाद, माधुर्य एवं ओज सभी विराजमान हैं, पर प्रसाद और माधुर्य गुण का ही बाहुल्य है। द्रष्टव्य—शा० १/२०, १/२८, ३/११, ४/२२ आदि।

३. कालिदास की शैली अत्यन्त संक्षिप्त ध्वन्यात्मक है। वे अपने वर्ण्य-विषय का विस्तृत वर्णन न करके सूक्ष्म रूप में ही उसकी व्यञ्जना कराते हैं।

४. कालिदास की शैली की यह भी विशेषता है कि उन्होंने अपने काव्यों में ऐसे अनेक वाक्यों का प्रयोग किया है जिनमें जीवन की सच्चाई और अनुभूति भरी हुई है। इसके लिये काव्यगत सूक्तियाँ ली जा सकती हैं।

५. कालिदास की शैली की सबसे बड़ी विशेषता है उसकी ध्वन्यात्मकता जिससे भविष्य में घटित होने वाली घटनाओं की सूचना मिल जाती है। शाकुन्तल के निम्नांकित स्थल एतदर्थ द्रष्टव्य हैं—

'दिवसाः परिणामरमणीयाः' - प्र० अङ्क

'आर्ये, सम्यगनुबोधितोऽस्मि' - प्र० अङ्क

'यात्येकतोऽस्तशिखरं' - च० अंक

पञ्चम अङ्क में हंसपदिका का गीत आदि।

भाषा

(१) कालिदास का भाषा पर पूर्ण अधिकार है। उनकी भाषा परिमार्जित एवं परिष्कृत है। वे पात्रों के अनुकूल भाषा का प्रयोग करने में अत्यन्त पटु हैं। जो पात्र जिस कोटि का है वह वैसी भाषा में अपने भाव का प्रकाशन करता है। कण्व की भाषा ऋषि के अनुरूप है—**'दिष्ट्या धूमाकुलित'** - चतुर्थ अङ्क। विदूषक की उक्तियाँ उसके पेटूपन स्वभाव के अनुरूप हैं। इसी प्रकार स्त्री पात्रों की भाषा भी उने स्वभाव के अनुकूल हैं।

(२) कालिदास की भाषा में अप्रचलित शब्दों का अभाव है। उनकी भाषा प्राञ्जल

तथा परिष्कृत है। उसमें न समास का बाहुल्य है न क्लिष्टता है। मुहावरों के प्रयोग से उनके वाक्य अत्यधिक स्वाभाविक एवं प्रभावशाली हो जाते हैं। ये सन्दर्भ द्रष्टव्य हैं—

को नामोष्णोदकेन .. चतुर्थ अङ्क

किमत्र चित्रं यदि विशाखे शशाङ्कलेखामनुवर्तेते २/८ के आगे। नवम अङ्क

'कृतं भवता निर्मक्षिकम्'

अरण्ये मया रुदितमासीत् - २/३ के आगे।

(३) कालिदास के वाक्य छोटे और सारगर्भित होते हैं। भावों की अभिव्यक्ति में वे पूर्णरूपेण समर्थ होते हैं—

''अनाघ्रातं पुष्पं .....''शा० २/१०।

''अस्मान् साधु चिचिन्त्य ....''– शा० ४/१७ आदि।

उनकी भाषा में सरलता तथा मनोहरता के भी दर्शन होते हैं— **''सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यम्।।**

''स्निग्धं वीक्षिमेमन्यतोऽपि नयने''–शा० २/२।

इत्यादि स्थलों में इस विशेषता के दर्शन होते हैं।

(४) **समाहार शक्ति**—कालिदास की भाषा में समाहार शक्ति है। वे नपी-तुली भाषा में भावों की व्यञ्जना कराने में पटु हैं—

'अये लब्धं नेत्रनिर्वाणम् — 'मधुरमासां दर्शनम्' — 'श्रुतं श्रोतव्यम्' 'स्वागतमविलम्बिनो मनोरथस्य...'

इत्यादि स्थल इसके प्रमाण हैं।

(५) **ध्वन्यात्मकता**—भाषा की ध्वन्यात्मकता कालिदास की ऐसी विशेषता है जो उन्हें अन्य कवियों से पृथक् कर देती है। **'अयं जनः कस्य हस्ते समर्पितः,** च० अङ्कः 'तव न जाने हृदयम्' आदि में उनकी यह विशेषता परिलक्षित होती है।

कालिदास की नाट्यकला

कालिदास की काव्यकला को उदात्त एवं श्रेष्ठ बनाने में उनकी नाट्यकला का अपूर्व योगदान है। उनके तीनों नाटकों में उनकी नाट्यकला के पदे-पदे दर्शन होते हैं। उनकी वस्तु-संघटना, चरित्र-चित्रण तथा रस-योजना इतनी आकर्षक, हृदयग्राही, उपयुक्त तथा समीचीन है कि उनकी नाट्य रचनाओं को सहृदय के हृदय का भाजन बना देती है। हम यहाँ शाकुन्तल को दृष्टिगत कर संक्षेप में विचार करना चाहते हैं।

१. **वस्तुयोजना**—कालिदास ने महाभारत की नीरस कथावस्तु को परिवर्तित कर किस प्रकार उसे सरस और उपयोगी बनाया है यह बतलाया जायेगा। नाटक का **प्रथम अङ्क** मृगया-दृश्य से प्रारम्भ होता है। मृग का अनुसरण करते हुए राजा को मृग पर बाण चलाने के लिए ऋषिकुमार मना करते हैं। राजा मान जाता है और उनके अनुरोध पर आश्रम में राजा का प्रवेश स्वाभाविक हो जाता है। वह छिपकर आश्रम-कन्याओं की परिहासमयी बातों को सुनता है और भ्रमर से पीड़ित शकुन्तला की रक्षा हेतु सहसा उपस्थित होता है। तदन्तर दुष्यन्त और शकुन्तला का परस्पर अनुराग हो जाता है। इसी बीच शकुन्तला के जन्म-वृत्तान्त की जानकारी होने पर उसके अनुराग में श्रीवृद्धि हो जाती है। इस प्रकार राजा के प्रवेश, आश्रम-कन्याओं के समक्ष उसकी उपस्थिति तथा शकुन्तला के प्रति उसके प्रेम में एक प्रकार की स्वाभाविकता आ जाती है और साथ ही कथावस्तु की गतिशीलता में भी सहायता मिलती है। **द्वितीय अङ्क** में राजा की मृगया से विरति और विदूषक के साथ शकुन्तला के विषय में वार्तालाप, आश्रम में जाने के लिये व्याज को सोचते ही दो ऋषि-कुमारों की राजा से आश्रम में चलने के लिये प्रार्थना आदि घटनाओं से नायक-नायिका की प्रणय-कथा को गतिशील करने में सहायता मिलती है। विदूषक को राजधानी भेज देने से **तृतीय अङ्क** में दुष्यन्त-शकुन्तला के मिलन का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। फलस्वरूप बड़े ही स्वाभाविक ढंग से विरही प्रणयी-युगल का संयोग होता है और दोनों गान्धर्व-विवाह के बन्धन में बँध जाते हैं। गौतमी के प्रवेश द्वारा तृतीय अङ्क समाप्त होता है। गौतमी का प्रवेश भी गत्यवरोधक के रूप में कथावस्तु की गति को मन्द कर उसे सही राह पर ले जाता है। **चतुर्थ अङ्क** के विष्कम्भक में दुर्वासा के शाप की घटना तथा किसी अभिज्ञान के दिखाने पर शाप-मुक्ति का आश्वासन दोनों से ही वस्तु-योजना में अपूर्व सहायता मिलती है क्योंकि शाप की स्थिति न होने की दशा में दुष्यन्त के पहचान लेने पर पञ्चम अङ्क में ही कथा समाप्त हो जाती। शाप के कारण आगे दो अङ्कों की योजना स्वाभाविक हो जाती है। **पञ्चम अङ्क** में राजा के द्वारा शकुन्तला का प्रत्याख्यान कर देने के बाद एक अप्सरा (दिव्य ज्योति) द्वारा ले जाना भी उक्त क्रम में सहायक होता है। षष्ठ अङ्क में धीवर प्रसङ्ग के द्वारा मुद्रिका प्राप्ति की घटना नितान्त महत्त्वपूर्ण है। उसके कारण राजा शकुन्तला को स्मरण करता है और विरहव्यथित होकर उसके मिलन के लिये तड़पता है और अन्त में इन्द्र के आह्वान पर अपनी कामुक वृत्ति का परित्याग कर राजा दुष्यन्त कर्त्तव्यपरायण पति के रूप में अपनी पतिव्रता पत्नी तथा चक्रवर्ती लक्षणों से युक्त पुत्र से मिलता है।

२. **चरित्र-चित्रण**—कालिदास की नाट्य-कला की दूसरी विशेषता है अनुकूल पात्रों की सृष्टि और उनका चरित्र-चित्रण। उन्होंने बड़े ही मनोवैज्ञानिक ढंग से अपने पात्रों का चरित्र-चित्रण किया है। सभी पात्र अपने विशिष्ट गुणों से मण्डित हैं और समाज के विभिन्न वर्गों का प्रतिनिधित्व करते हैं।

३. रसयोजना—रसवादी कालिदास ने अपनी रस-योजना के द्वारा भी अपने नाटक को अत्यन्त सरस तथा हृदयग्राही बनाया है। सहृदय रसास्वाद करता हुआ उनके नाटक को देखता या पढ़ता है।

४. संवाद—पात्रों के कथोपकथन घटनाओं एवं परिस्थितियों के सर्वथा उपयुक्त हैं। भाषा की सरलता, सुबोधता, स्वाभाविकता तथा लालित्य के कारण एक ओर काव्यानन्द प्राप्त होता है, दूसरी ओर संवाद के सहारे घटना आगे बढ़ती है।

कालिदास के नाटकों के संवाद अनावश्यक विस्तार से रहित हैं। शाकुन्तल के संवाद अतीव रोचक तथा संक्षिप्त हैं। नाट्यकला की दृष्टि से वे उपयोगी तथा स्वाभाविक हैं। प्रथम अङ्क में दुष्यन्त तथा तापस कन्याओं, द्वितीय अङ्क में राजा तथा विदूषक, तृतीय अङ्क में शकुन्तला, अनसूया, प्रियंवदा तथा राजा, चतुर्थ अङ्क में कण्व तथा अनसूयादि, पञ्चम अङ्क में राजा एवं शार्ङ्गरव तथा शकुन्तला के संवाद अतीव रोचक तथा पात्रों के स्वभाव एवं विषय के अनुकूल हैं। उनमें छोटे-छोटे किन्तु स्पष्ट वाक्यों का प्रयोग हुआ है।

५. वर्णन-कुशलता—उनकी नाट्यकला की एक यह भी विशेषता है कि उनकी वर्णन-शैली सर्वथा संक्षिप्त एवं सरस है। नपी तुली भाषा में नपे तुले ढंग से वे वर्ण्य विषय का वर्णन करते हैं जिससे काव्य-सौन्दर्य तो अवश्य रहता है पर नाट्य-स्वरूप खण्डित नहीं होता। शाकुन्तल में भयभीत मृग, दुष्यन्त, विरहाकुल शकुन्तला, मारीच आश्रम आदि के वर्णन उदाहरण स्वरूप लिये जा सकते हैं।

अलङ्कार-योजना

जिस प्रकार लोक में सौन्दर्य की अभिवृद्धि के लिये आभूषणादि अपेक्षित होते हैं उसी प्रकार कविताकामिनी को आकर्षक और भावस्पर्शी बनाने के लिये भी अलङ्कारों की आवश्यकता होती है। अलङ्कार शब्द की व्युत्पति भी इसी तथ्य का प्रकाशन करती है—**'अलं करोति इति अलंकारः'** अथवा **अलंक्रियते अनेन इति अलङ्कारः।** अलङ्कार की इसी अर्थवत्ता के कारण आचार्यों ने अपने-अपने काव्य-लक्षणों में उसे समुचित स्थान दिया है। एक ओर जहाँ भामह, जयदेव आदि काव्य में अलङ्कार का प्राधान्य स्वीकार करते हैं, वही दूसरी ओर भरत, आनन्दवर्धन, मम्मट, विश्वनाथ आदि आचार्य अलङ्कार की गौणता को ही मान्यता प्रदान करते हैं। काव्य के क्षेत्र में भी इस दृष्टि से कवियों के दो वर्ग हो जाते हैं। एक वर्ग में वे कवि हैं जिनकी दृष्टि अलङ्कारपरक है। काव्य-जगत् के अलङ्कृत मार्ग के कवि इसी श्रेणी में आते हैं। दूसरी कोटि में रससिद्ध मार्ग के कवि आते हैं जो आत्मतत्त्वभूत रस को प्रधान मानकर सौन्दर्य-साधन के रूप में ही अलङ्कारों का प्रयोग करते हैं। महाकवि कालिदास स्वभावतः रससिद्ध कवि हैं, अतः वे अलङ्कार की उपयोगिता तथा गौणता दोनों को अच्छी प्रकार समझते हैं। इसीलिये अलङ्कार के प्रयोग में वे अपनी रसमर्मज्ञता का ही परिचय देते हैं। अपनी कविताकामिनी की सौन्दर्यवृद्धि तथा भावाभिव्यञ्जना

के लिये वे अलङ्कारों का प्रयोग अवश्य करते हैं परन्तु वे उसे (कविताकामिनी को) अलङ्कारों के अनावश्यक भार से आक्रान्त नहीं करते।

अलङ्कार के शब्दालङ्कार तथा अर्थालङ्कार ये दो भेद होते हैं। चित्रकाव्य के चित्रकार कवि शब्दालङ्कारों के ऊपर अधिक बल देते हैं। इसके विपरीत रसवादी कवियों की दृष्टि शब्दालङ्कारों की अपेक्षा अर्थालङ्कारों पर अधिक केन्द्रित होती है। यही कारण है कि भाषा की सरसता एवं लालित्य के कारण कालिदास की कृतियों में अनुप्रास अलङ्कार प्रायः दृष्टिगोचर होता है पर श्लेषादि अलङ्कार के दर्शन कम ही होते हैं। रघुवंश के वसन्त आदि के वर्णन में जहाँ यमक आदि का प्रयोग हुआ है वहाँ भी अपने स्वाभाविक रूप में ही। उसके कारण कालिदास का रसवादी दृष्टिकोण ओझल नहीं होने पाता। अर्थालङ्कारों में भी उन्होंने अपनाया तो सभी को है, पर उपमा, उत्प्रेक्षा, दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास, अप्रस्तुतप्रशंसा, अतिशयोक्ति, अपह्नुति, तुल्ययोगिता आदि पर उनकी दृष्टि विशेष रूप से केन्द्रित है। किन्तु जिस अलङ्कार के कारण उनकी कीर्ति-कौमुदी दिग्दिगन्त में व्याप्त हो रही है वह है उपमा अलङ्कार। सहृदयों की निम्नांकित सूक्ति सभी का कण्ठहार बनी हुई है

उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम्।
दण्डिनः पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः।।

उपमा कालिदासस्य

उपमा का इतिवृत्त अति चिरन्तन है। ऋग्वेद से लेकर आज तक के निर्मित काव्य-जगत् में वह अधिष्ठात्री देवी की भाँति मूर्धन्य स्थान पर प्रतिष्ठित है। उसका क्षेत्र इतना विशाल है कि सादृश्य-मूलक रूपक, उत्पेक्षा, अतिशयोक्ति, उपमेयोपमा, सन्देह, अपह्नुति, दीपक, निदर्शना आदि अलङ्कार मूल रूप से उसी से सम्बद्ध हैं। इसीलिए आचार्य अप्पयदीक्षित अपने चित्रमीमांसा नामक ग्रन्थ में उपमा को एक ऐसी नटी बतलाते हैं जो काव्य रूपी रङ्गमंच पर विभिन्न रूपों में अपना नृत्य दिखलाती हुई काव्यरसिकों के चित्त को हठात् आनन्दित करती है—

उपमैका शैलूषी सम्प्राप्ता चित्रभूमिकाभेदान्।
एजयन्ती काव्यरङ्गे नृत्यन्ती तद्विदां चेतः।।

आचार्यों ने उपमा अलंकार के अनेक भेद गिनाये हैं। कालिदास के काव्यों में यत्र-तत्र सभी भेदों के दर्शन होते हैं। कालिदास की उपमाओं में रमणीयता, विविधता, यथार्थता और औचित्यादि के दर्शन होते हैं। यहाँ उपमा सम्बन्धी कुछ वैशिष्ट्य प्रस्तुत किये जाते हैं—

१. यथार्थता तथा भावाभिव्यञ्जकता—कालिदास की उपमायें प्रसङ्गानुकूल होती हैं और उनमें यथार्थता होती है। यथार्थता के कारण उनके (उपमाओं के) माध्यम से

भावों की व्यञ्जना कराकर वे यथार्थ बिम्ब खड़ा कर देते हैं। रघुवंश में वर्णित स्वयंवर में इन्दुमती जयमाल लिये जिस-जिस राजा को छोड़कर आगे बढ़ जाती है उसके मुख पर नैराश्य की कालिमा उसी प्रकार छा जाती है जिस प्रकार रात्रि में राजमार्ग पर आगे बढ़ने वाली दीपशिखा के द्वारा छोड़े गये भवन तिमिराच्छन्न हो जाते हैं। यहाँ इन्दुमती की उपमा दीपशिखा से और भूमिपालों की उपमा राजपथ के भवनों से देकर कालिदास ने राजाओं के अन्तः में छिपे नैराश्य को कितने सुन्दर ढंग से अभिव्यक्त किया है। इसी औपम्यविधान के कारण कालिदास 'दीपशिखा कालिदास' कहे जाते हैं—

संचारिणी दीपशिखेव रात्रौ यं यं व्यतीयाय पतिंवरा सा।
नरेन्द्रमार्गाट्ट इव प्रपेदे विवर्णभावं स स भूमिपालः।। रघुवंश, ६/६७।।

२. मनोवैज्ञानिकता—कालिदास के औपम्य-विधान में उनकी मनोवैज्ञानिक सूझ का परिचय मिलता है। कुमार-सम्भव के पञ्चम सर्ग में जब कटुवादी ब्रह्मचारी से क्रुद्ध होकर पार्वती जाने के लिए उद्यत होती है तो उसी समय प्रकट होकर शङ्कर उन्हें रोक लेते हैं। उस समय उनकी दशा मार्ग में पर्वत के द्वारा रोकी गयी उस क्षुब्ध नदी की भाँति हो जाती है जो न आगे बढ़ पाती है और न रुक ही पाती है—

तं वीक्ष्य वेपथुमती सरसाङ्गयष्टिर्निक्षेपणाय पदमुद्धृतमुद्वहन्ती।
मार्गाचलव्यतिकराकुलितेव सिन्धुः शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्थौ।।

कुमार० ५/८५।

३. उपमान-ग्रहण में व्यापकता—कालिदास ने औपम्य-विधान में उपमानों का चयन इतने व्यापक क्षेत्र से किया है कि उनकी उपमाओं का जगत् विशाल हो गया है। आकाश-पाताल, पशु-पक्षी, वन-उपवन, लोक-शास्त्र सभी क्षेत्रों से उन्होंने आवश्यकतानुसार उपमानों का चयन करके अपनी उपमा को सर्वव्यापी बनाया है। कुछ उदाहरण निम्नांकित हैं—

राजा दिलीप और उनकी पत्नी सुदक्षिणा के बीच लोहितवर्णा नन्दिनी गौ उसी प्रकार सुशोभित हो रही है जिस प्रकार दिन और रात के बीच सन्ध्या—

''तदन्तरे सा विरराज धेनुर्दिनक्षपामध्यगतेव सन्ध्या।।'' रघुवंश द्वि०स०।

इसी प्रकार रघुवंश के द्वितीय सर्ग में सायंकाल जब नन्दिनी घर की ओर लौटती है तो उस समय उसकी शोभा सूर्य की निवृत्त होने वाली प्रभा के समान हो जाती है—

''प्रचक्रमे पल्लवरागताम्रा प्रभा पतङ्गस्य मुनेश्च धेनुः।''

शास्त्रीय उपमानों के द्वारा वस्तु-सौन्दर्य का वर्णन करने में भी कालिदास नितान्त दक्ष हैं—'**श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत**।' यहाँ पर नन्दिनी के पीछे चलने वाले दिलीप की श्रुति का अनुसरण करने वाली स्मृति से दी गयी उपमा आध्यात्मिक है, साथ ही अत्यन्त आह्लादकर।

४. प्राकृतिक उपादानों का साहाय्य—कालिदास ने प्रकृति के उपादानों को लेकर सौन्दर्य का मूर्तिमान् और आकर्षक स्वरूप खड़ा करने में भी सफलता प्राप्त की है। एतदर्थ अभिज्ञानशाकुन्तल के निम्नाङ्कित स्थल द्रष्टव्य हैं—

"अधरः किसलयरागः ... शा० १/२१।", "अनाघ्रातं पुष्पं ...... शा० २/१०", "सरसिजमनुविद्धम् .... शा० १/२०।"

ऋषियों के मध्य शकुन्तला जीर्णपत्तों के मध्य किसलय के समान है! कितनी सुन्दर उपमा है !!

"मध्ये तपोधनानां किसलयमिव पाण्डुपत्राणाम्। ५/१३।

५. सूक्ष्मभावाभिव्यञ्जकता—कालिदास मानव-मन की सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावनाओं को भी अपने प्रातिभ चक्षु से जान लेते हैं और अपने अनुपम औपम्यविधान द्वारा उनका उद्‌घाटन भी बड़े सुन्दर ढंग से करते हैं। अपनी प्रेयसी शकुन्तला के प्रति उद्भूत भावनाओं के साथ कर्तव्यवश उसको छोड़कर जाते हुए राजा दुष्यन्त के हृदय में जो एक अन्तर्द्वन्द्व खड़ा होता है, उसका औपम्य के द्वारा यथार्थ प्रकाशन कितना मनोमोहक है—

गच्छति पुरः शरीरं धावति पश्चादसंस्तुतं चेतः।
चीनांशुकमिव केतोः प्रतिवातं नीयमानस्य।। शा० १/३३।

६. औचित्य—कालिदास की उपमाओं में औचित्य का निर्वाह हुआ है। वे देश, काल, पात्र, समस्त अवस्थाओं के अनुरूप काव्य के प्रत्येक शब्द में अर्थ भर देने में बेजोड़ हैं। शाकुन्तल के चतुर्थ अङ्क में शकुन्तला के गान्धर्व-विवाह का ज्ञान हो जाने पर उनका यह कथन इस बात का प्रमाण है—

"दिष्ट्या धूमाकुलितदृष्टेरपि यजमानस्य पावक एवाहुतिः पतिता"।

यहाँ पर आश्रम-पालिता शकुन्तला धूमाकुलितदृष्टि याज्ञिक की आहुति है और राजा दुष्यन्त यज्ञीय अग्नि। दुष्यन्त सुशिष्य के समान हैं और शकुन्तला उनको सौंपी गयी विद्या के समान। तपोवन जैसे स्थान में महर्षि कण्व जैसे वक्ता की दृष्टि में दुष्यन्त और शकुन्तला क्रमशः यज्ञीय अग्नि, सुशिष्य तथा हविष् एवं विद्या से भिन्न और क्या हो सकते हैं ? इसी प्रकार शार्ङ्गरव की निम्नांकित उक्ति में भी औचित्य का भाव कूट-कूट कर भरा है। दुष्यन्त की दृष्टि में जो शकुन्तला **'अनाघ्रात पुष्प'** थी वही शार्ङ्गरव की दृष्टि में मूर्तिमती सत्क्रिया हो जाती है—

"त्वमर्हतां प्राग्रसरः स्मृतोऽसि नः, शकुन्तला मूर्तिमती च सत्क्रिया।।"
शा० ५/१५।।

७. विराट् तत्त्व—शाकुन्तल के चतुर्थ अङ्क में पितृवियोग से विकल होकर शकुन्तला पिता कण्व से लिपट जाती है और कहती है कि 'पिता से वियुक्त होकर वह कैसे

जीवन धारण करेगी ?" उसको समझाते हुए कण्व कहते हैं—

"तनयमचिरात् प्राचीवार्कं प्रसूय च पावनं
मम विरहजां न त्वं वत्से शुचं गणयिष्यसि। शा० ४/१९।।

यहाँ पर जिस भरत के नाम पर यह विशाल देश भारत कहलायेगा उस पुत्र की उत्पत्ति के लिये 'प्राचीवार्क प्रसूय' इस औपम्य-विधान में कितना विराट् तत्त्व छिपा हुआ है ? इसी प्रकार "अवेहि तनयां ब्रह्मन्नग्निगर्भां शमीमिव" च०अ०—इत्यादि स्थलों में भी कालिदास की अनुभूति की विशालता के दर्शन होते हैं।

शाकुन्तल में उपमा सौन्दर्य के अन्य स्थल--

कालिदास के काव्यों में उपमा के एक से एक बढ़कर आकर्षक चित्र चित्रित हैं। शाकुन्तल में उपमा सम्बन्धी कतिपय चित्रों पर प्रकाश डाला गया है। उसमें कुछ अन्य चित्ताकर्षक स्थल द्रष्टव्य हैं—

शाकुन्तल के द्वितीय अङ्क में सेनापति परिपुष्ट शरीर वाले राजा दुष्यन्त की तुलना बलवान् पहाड़ी हाथी से करता है जो अत्यन्त चारु है—

अपचितमपि गात्रं व्यायतत्वादलक्ष्यं
गिरिचर इव नागः प्राणसारं बिभर्ति।। शा० २/४।।

तृतीय अंङ्क में दुष्यन्त द्वारा वियोग विधुरा, कामपीड़ितक्षीणवदना शकुन्तला की उपमा वायु द्वारा झुलसी वासन्ती लता से की गयी है, जो अत्यन्त मनोहर है—

शोच्या च प्रियदर्शना च मदनक्लिष्टेयमालक्ष्यते
पत्राणामिव शोषणेन मरुता स्पृष्टा लता माधवी।। शा० ३/७।।

शाकुन्तल के चतुर्थ अङ्क में कण्व द्वारा पतिगृह जाने वाली धर्म-पुत्री शकुन्तला की उपमा शर्मिष्ठा से तथा भावी पुत्र की उपमा पूरु से की गयी है, जो अत्यन्त स्पृहणीय है—

ययातेरिव शर्मिष्ठा भर्तुर्बहुमता भव।
सुतं त्वमपि सम्राजं सेव पूरुमवाप्नुहि।। शा० ४/७।।

इसी प्रकार उपमा वैशिष्ट्य के लिये अधोलिखित स्थल भी द्रष्टव्य हैं—

भ्रमर इव विभाते कुन्दमन्तस्तुषारं
न च खलु परिभोक्तुं नैव शक्नोमि हातुम्।। शा० ५/१९।।
उपरागान्ते शशिनः समुपगता रोहिणीयोगम्।। ७/२२।।

जनाकीर्णं मन्ये हुतवहपरीतं गृहमिव ।। ५/१० ।।
अभ्यक्तमिव स्नातः शुचिरशुचिमिव प्रबुद्ध इव सुप्तम् ।
बद्धमिव स्वैरगतिर्जनमिह सुखसाङ्गिनमवेहि ।। ५/११ ।।

इत्यादि ।

कुछ विद्वानों के मत में कालिदास अर्थान्तरन्यास अलङ्कार के प्रयोग में अत्यधिक पटु हैं—

उपमा कालिदासस्य नोत्कृष्टेति मे मतिः ।
अर्थान्तरन्यासविन्यासे कालिदासो विशिष्यते ।।

अतः यहाँ शाकुन्तल में अङ्कित अर्थान्तरन्यास के कुछ मनोरम चित्र प्रस्तुत किये जा रहे हैं—

किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम् ।। १-२० ।।

यहाँ इस सामान्य कथन से विशेष का समर्थन होने से अर्थान्तरन्यास है ।

सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः ।। १/२२ ।।

यहाँ भी सामान्य के द्वारा विशेष का समर्थन होने से अर्थान्तरन्यास हैं ।

कामी स्वतां पश्यति ।। २/२ ।।

यहाँ पर सामान्य से विशेष का समर्थन है ।

लभेत वा प्रार्थयिता न वा श्रियं, श्रिया दुरापः कथमीप्सितो भवेत् ।। ३/११ ।।

इस उत्तरार्धगत सामान्य कथन से पूर्वार्धगत विशेष का समर्थन होने से अर्थान्तरन्यास है ।

यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो वामाः कुलस्याधयः ।। ४/१८ ।।

यहाँ गृहिणीपदम् में साधर्म्य तथा वामाः में वैधर्म्य होने से अर्थान्तरन्यास हैं ।

भवन्ति नम्रास्तरवः फलागमैः........
स्वभाव एवैष परोपकारिणाम् ।। ५/१२ ।।

इस श्लोक के चतुर्थचरणगत सामान्य कथन से शेष तीन चरणगत विशेष का समर्थन होने से अर्थान्तरन्यास है ।

उपपन्ना हि दारेषु प्रभुता सर्वतोमुखी ।।

उत्तरार्ध के सामान्य कथन से पूर्वार्धगत विशेष का समर्थन होने से अर्थान्तरन्यास है ।

पूर्वावधीरितं श्रेयो दुःखं हि परिवर्तते ।। ७/१३ ।। इत्यादि ।

शाकुन्तल में अन्य अलङ्कार

यों तो शाकुन्तल में अनेक अलङ्कारों की योजना की गयी है पर जिन अलङ्कारों का विशेष रूप से प्रयोग हुआ है, उनका संक्षिप्त विवरण निम्नाङ्कित है—

उत्प्रेक्षा—अङ्क १ के ८, १८, २९, ३३ श्लोक। २-२, २-३; ३-१; ४-२, १२, २२। ५-१५, २३, ३१। ६-४, २१।

स्वभावोक्ति—१—३,७,९,१४,१५,२९। २—२,६,। ३—५,१०,२२,। ४—१४। ६—६,१७।

अप्रस्तुतप्रशंसा—१—१७,२२,२५। ३—२,३,६। ५—२,४, १२, १७, २२, २४, २५, २८। ६—१,२,५,२९।

विभावना—१—१८। ३—६। ५—२,१०,३१। ६—७।

समासोक्ति—३—४,१४,१७। ४—२,३,९,१३। ६—११,१३,१९।

काव्यलिङ्ग—१—४,११,२८,२९। २—५,९। ४—१९। ५—२,२,७। ६—५।

अनुप्रास का प्रयोग प्रायः सर्वत्र है। इन अलङ्कारों के अतिरिक्त यमक, श्लेष, रूपक, अतिशयोक्ति, दृष्टान्त, निदर्शना, तुल्योयोगिता, दीपक, विशेषोक्ति, व्यतिरेक, विरोधाभास, प्रतिवस्तूपमा आदि का भी प्रयोग हुआ है।

रस-योजना

कालिदास स्वभावतः रससिद्ध कवि हैं। काव्य का आत्मभूत रसतत्त्व सदा उनकी दृष्टि के सामने विराजमान रहता है। इसीलिये उनकी काव्यकला भी रसवादी है। उनका रसवादी दृष्टिकोण उनकी सभी कृतियों में पदे-पदे परिलक्षित होता है। सामान्यतः रसवादी होते हुए भी गम्भीर रसों की अपेक्षा कोमल रसों के चित्रण में उनकी दृष्टि अधिक रमी है। कोमल रसों में भी उनका झुकाव श‍ृङ्गार रस के प्रति अधिक है। इसीलिये वे प्रधानतया श‍ृङ्गार रस के कवि माने जाते हैं। श‍ृङ्गार के संयोग एवं वियोग दोनों पक्षों को उद्घाटित करने में उनकी काव्यकला सर्वथा दक्ष है। मेघदूत के उत्तर-मेघ तथा रघुवंश के चतुर्दश सर्ग में वियोग पक्ष का सजीव चित्र चित्रित है। इन दोनों स्थलों में उनकी व्यञ्जना-शक्ति ने वियोग को अधिक गम्भीर एवं तीव्र बना दिया है। कुमारसम्भव के अष्टम सर्ग में शिव-पार्वती का सम्भोग-वर्णन भी संयोगपक्ष को समुद्घाटित करने में सर्वथा समर्थ है। संयोग श‍ृङ्गार के आलम्बन-उद्दीपन दोनों विभावों के चित्रण में कालिदास को जितनी सफलता मिली है उतनी शायद किसी अन्य को मिली हो। उनके तीनों नाटकों में भी श‍ृङ्गार रस ही अङ्गी बनकर अपने भव्यरूप में चित्रित है। नीचे शाकुन्तल की रसयोजना पर संक्षिप्त विमर्श किया जा रहा है—

शाकुन्तल में रस

नाट्य-शास्त्रीय विधान के अनुसार शाकुन्तल का प्रधान रस शृङ्गार है। शाकुन्तल में शृङ्गार रस के दोनों पक्षों का पूर्ण परिपाक हुआ है। शाकुन्तल के प्रारम्भिक तीन अङ्कों में संभोग शृङ्गार का ही निदर्शन है। नाटक का प्रारम्भ तथा अन्त दोनों सम्भोग शृङ्गार से होता है।

सम्भोग शृङ्गार—प्रथम अङ्क में अपनी सखियों के साथ वृक्षों का सचन करती हुई शकुन्तला को देखकर दुष्यन्त के हृदय में शकुन्तला के प्रति अनुराग अंकुरित हो जाता है—

'मधुरमासां दर्शनम्' प्रथम अङ्क, **''शुद्धान्तदुर्लभमिदं वपुः...''** शा० १/१७

तदनन्तर वह शकुन्तला के रूप-माधुर्य पर अत्यधिक आकृष्ट होकर—**इदं किलाव्याजमनोहरं**- शा० १/१८; **सरसिजमनुविद्धं....** शा० १/२० आदि के द्वारा उसकी रूप-माधुरी की मन ही मन प्रशंसा करता है और शकुन्तला के वृत्तान्तज्ञान से उसको (शकुन्तला को) क्षत्रिय के विवाह योग्य जानकर वह उसकी प्राप्ति के लिये लालायित हो जाता है और अवसर मिलने पर उससे अपने प्रेम की अभिव्यक्ति 'द्वे प्रतिष्ठे कुलस्य मे...' शा० ३/१७ करता है।

'अपरिक्षतकोमलस्य' ३/२१, **'उपरागान्ते'**—७/२२ आदि स्थल द्रष्टव्य हैं जहाँ सम्भोग शृङ्गार की अच्छी व्यञ्जना हुई है।

उधर शकुन्तला भी दुष्यन्त के आकर्षक व्यक्तित्व तथा मनोहर रूप को देखकर मुग्ध हो जाती है जिससे उसके हृदय में प्रेम का पदार्पण हो जाता है—

'किं नु खल्विमं प्रेक्ष्य तपोवनविरोधिनो.....संवृत्ता'- प्र० अङ्क, **'यथात्मनः प्रभविष्यामि'**- वही, **'वाचं न मिश्रयति'**- वही १/३०।

इस प्रकार नायक-नायिका दोनों के हृदय में प्रेम का राज्य प्रतिष्ठित हो जाता है। तृतीय अङ्क में शकुन्तला के प्रेमपत्र **'तव जाने हृदयं... अङ्गानि'**(३/१३) से पूर्णतः विश्वस्त होकर दुष्यन्त और शकुन्तला का गान्धर्व विवाह हो जाता है। इस प्रकार सम्भोग शृङ्गार की चरम परिणति हो जाती है। इस बीच जो भी रस चित्रित हैं, सभी के द्वारा सम्भोग शृङ्गार की पुष्टि होती है। नाटक के अन्त में एक लम्बे अन्तराल के बाद दुष्यन्त शकुन्तला के मिलने में सम्भोग शृङ्गार पुनः प्रतिष्ठित होता है।

विप्रलम्भ शृङ्गार

विप्रलम्भ शृङ्गार के बिना सम्भोग की पुष्टि नहीं होती—'न विना विप्रलम्भेन सम्भोगः पुष्टिमश्नुते' इस सिद्धान्त के अनुसार कवि ने विप्रलम्भ के चित्रण में सतर्कता अपनायी है। नाटक के पूरे द्वितीय, तृतीय (प्रारम्भ तथा अन्त में) एवं षष्ठ अङ्क में मुख्य

रूप से विप्रलम्भ शृङ्गार ही वर्णित है। विरहावस्था में दुष्यन्त की विरह-पीड़ा को व्यक्त कराने वाले निम्नाङ्कित स्थल द्रष्टव्य हैं, जिसमें वह अपनी प्रेयसी शकुन्तला के रूप तथा काम-चेष्टाओं आदि का वर्णन करता है—

'स्निग्धं वीक्षितमन्यतोऽपि' शा० २/२, 'चित्रे निवेश्य...' शा० २/९, 'अनाघ्रातं पुष्पं' शा० २/१०, 'अभिमुखे मयि संहृतमीक्षितं...' शा० २/११, 'दर्भाङ्कुरेण....' शा० २/१२।

उसकी काम पीड़ा तो इतनी बढ़ जाती है कि उस पर चन्द्रमा की शीतल किरणें अग्नि की वर्षा करती हैं और कामदेव के कोमल पुष्प-बाण भी वज्र की भाँति प्रहार कर रहे हैं—

तव कुसुमशरत्वं शीतरश्मित्वमिन्दो-
र्द्वयमिदमयथार्थं दृश्यते मद्विधेषु।
विसृजति हिमगर्भैरग्निमिन्दुर्मयूखै-
स्त्वमपि कुसुमबाणान् वज्रसारीकरोषि।।शा० ३/३।।

तृतीय अंक के प्रारम्भ में दुष्यन्त के वियोग में शकुन्तला भी अत्यन्त कृश होकर शिला-पट्ट के ऊपर पुष्प-शैय्या पर लेटी हुई दृष्टिगोचर होती है। वह अत्यन्त अस्वस्थ शरीर हो गयी—**'बलवदस्वस्थशरीरा शकुन्तला दृश्यते'**। उसके शरीर में केवल लावण्यमयी छाया रह गयी है।—**'केवलं लावण्यमयी छाया त्वां न मुञ्चति'**। वियोग से व्यथित होकर उसकी दशा झुलसी हुयी वासन्ती लता की भाँति हो गयी है—

'क्षामक्षामकपोल... स्पृष्टा लता माधवी'........– शा० ३/७।।

गान्धर्व विवाह हो जाने के बाद तृतीय अङ्क के अन्त में भी विप्रलम्भ की ही स्थिति है।

षष्ठ अङ्क में शकुन्तला की वियोग-व्यथा की कोई चर्चा नहीं है। राजा की विरहावस्था दयनीय दशा को प्राप्त हो जाती है। यह वसन्तोत्सव को रोक देता है, किसी रमणीय वस्तु में उसकी रुचि नहीं है। करवटें बदल कर रात बिताता है—'रम्यं द्वेष्टि...' शा० ६/५, उसने अलङ्कारादि का परित्याग कर दिया है—'प्रत्यादिष्टविशेषमण्डनविधिः...' शा० ६/६, और अपनी सभा में जो उसने शकुन्तला का अपमान किया था, उसका स्मरण कर उसका हृदय दग्ध हो रहा है—'इतः प्रत्यादेशात्' शा० ९/९ और मुद्रिका आदि को देख कर उसका विरह और तीव्र हो जाता है– 'तव सुचरितमङ्गुलीय....' शा० ६/११।

करुण विप्रलम्भ—

चतुर्थ अङ्क में शकुन्तला की विदाई के अवसर पर एक मर्मस्पर्शी कारुण्य की व्यञ्जना हुई है। जिसके कारण वीतरागी कण्व समेत शकुन्तला की सखियाँ ही विरह व्यथित

होकर नहीं तड़पती अपितु पूरा तपोवन तड़प जाता है। एतदर्थ चतुर्थ अङ्क के ये स्थल द्रष्टव्य हैं—

'यास्यत्यद्य शकुन्तलेति...' शा० ४/६, **'उद्गलितदर्भकवला'** शा० ४/१२, **'यस्य त्वया व्रणविरोपणम्'** शा० ४/१४, **'शममेष्यति...'** शा० ४/२१ आदि। इसी प्रकार पञ्चम अङ्क में दुष्यन्त से तिरस्कृत शकुन्तला अत्यन्त खिन्न होकर जब भगवती वसुन्धरा से शरण माँगती है—**'भगवति वसुन्धरे देहि मे विवरम्'** तो उस समय भी कारुण्य की ही व्यञ्जना होती है। नाटक में शृङ्गार के बाद दूसरा स्थान करुण (करुणविप्रलम्भ-वात्सल्यविप्रलम्भ) का ही हैं।

हास्यरस—

द्वितीय, पञ्चम और षष्ठ अङ्क में विदूषक की चेष्टाओं और उक्तियों द्वारा हास्यरस की व्यञ्जना होती है। द्वितीय अङ्क का आरम्भ ही हास्य से होता है **'विदूषकः-भो कष्टम्'**। हास्य रस के लिये विदूषक की ये उक्तियाँ अवलोकनीय हैं—

'किं मोदकं खादिकायाम्' द्वि० अङ्क, **'यथा कस्यापि पिण्डखर्जूरैः 'न खलु दृष्टमात्रस्य'** द्वि० **'कृतं त्वयोपवनं तपोवनं नाम'** द्वि० **'त्रिशङ्कुरिवान्तरा तिष्ठ...'** द्वि० अङ्क।

पञ्चम अङ्क के प्रारम्भ में भी उसकी यह उक्ति **'गृहीतस्य तया परकीयैर्हस्तैः'** पञ्चम अङ्क में दर्शकों के हृदय में हास्यरस का सञ्चार करती है।

षष्ठ अङ्क में विदूषक का डण्डा लेकर कामबाण को तोड़ने के लिये दौड़ना **'दण्डकाष्ठेन कन्दर्पव्याधिम्'** भूख द्वारा उसको (विदूषक को) खा जाने की बात **'बुभुक्षया...'** षष्ठ अङ्क।

दाढ़ी वालों को चित्र में भर देने की बात भी हास्य की अवतारणा में सहायक होती है।

शाकुन्तल में उक्त रसों के अतिरिक्त अन्य रसों की व्यञ्जना स्वल्प मात्रा में ही हुई है। केवल वीर रस का चित्रण अपेक्षाकृत अधिक हुआ है। वीर रस के लिए ये सन्दर्भ दर्शनीय हैं—द्वि० अङ्क में **'नैतद् चित्रम्...'**, **'का कथा बाणसन्धाने...'** तृ० अं०। इसी प्रकार षष्ठ अङ्क में कञ्चुकी द्वारा राजा की प्रशस्ति तथा मातलि द्वारा दैत्यों और राक्षसों के वध के बाद राजा की वीरता के उल्लेख में भी वीर रस द्योतित होता है।

शाकुन्तल के भयभीत मृग के भागने **'ग्रीवाभङ्गाभिरामं...'** प्र० अं, भयभीत हाथी तथा राक्षसों के आश्रम में प्रवेश करने के वर्णन में **'तीव्राघात...'**, **'सायन्तने सवनकर्मणि'** भयानक रस, दुर्वासा के शाप तथा पञ्चम अङ्क में शार्ङ्गरव आदि के कथन में रौद्ररस तथा सप्तम अङ्क में मारीच के पावन आश्रम के वर्णन में शान्त रस तथा सप्तम अङ्क

में सर्वदमन के वर्णन में '**आलक्ष्यदन्दमुकुलान्...**', '**किं न खलु बालेऽस्मिन्नौरस इव... वात्सलयति**' आदि स्थलों में वात्सल्य रस का सञ्चार हुआ है।

सौन्दर्य एवं प्रेम-चित्रण

मनुष्य स्वभावतः सौन्दर्य का प्रेमी होता है। उसकी सौन्दर्य के प्रति स्वाभाविक प्रवृत्ति के कारण ही नैक ललित कलाओं का जन्म हुआ। कवि अपनी कविता-कामिनी में सौन्दर्य की सृष्टि करने के लिये अलङ्कार आदि उपकरणों का सहारा लेता है। यही कारण है कि संसार के सभी उत्कृष्ट कवियों ने अपनी-अपनी कृतियों में सौन्दर्य का चित्रण करके अपनी सहज सौन्दर्याभिमुखी प्रवृत्ति का परिचय दिया है। जहाँ तक कालिदास का प्रश्न है वे स्वभावतः सौन्दर्य तथा प्रेम के पारखी ही नहीं प्रत्युत सफल चित्रकार हैं। सम्प्रति कालिदास की सौन्दर्य-भावना पर प्रकाश डालना समीचीन है—

सौन्दर्य-चित्रण–

१. कालिदास की दृष्टि में सहज सौन्दर्य बाह्य साधनों की अपेक्षा नहीं करता। उनके अनुसार सुन्दर वस्तुयें सभी अवस्थाओं में मनोरम एवं रमणीय होती हैं—

'**अहो सर्वास्ववस्थासु रमणीयत्वमाकृतिविशेषाणाम्**''।

कालिदास की कल्पना के सहज सौन्दर्य की ही महिमा है कि वह सौन्दर्यापहारक उपकरणों को भी अपना क्रीतदास बना लेता है—

'**सरसिजमनुविद्धं...**' १/२०।

२. कालिदास की दृष्टि में सौन्दर्य का स्वरूप दोष-विमुक्त है। सुन्दर प्राणी से वे कदाचार की अपेक्षा नहीं करते। उनका सौन्दर्य शील और सदाचार का साधन है। इस तथ्य की सिद्धि कुमारसम्भव (५/३६) के ''**यदुच्यते पार्वति पापवृत्तये न रूपमित्यव्यभिचारि तद्वचः**'- इस वर्णन तथा शाकुन्तल के चतुर्थ अङ्क में सर्वाङ्गसुन्दर दुष्यन्त के विषय में '**न तादृशा आकृतिविशेषा गुणविरोधिनो भवन्ति**' इस उक्ति से हो जाता है।

३. कालिदास मानवीय सौन्दर्य को प्रकृति-सौन्दर्य का प्रतिरूप मानते हैं। इसीलिये वे अपनी रचनाओं में मानवीय सौन्दर्य की अभिवृद्धि हेतु प्राकृतिक सौन्दर्य का साहाय्य लेते हैं—

'**अधरः किमलयरागः...**' शा० १/१९ '**अनाघ्रातं पुष्पं**' शा० २/१०।

४. कालिदास स्त्री और पुरुष दोनों के सौन्दर्य का वर्णन करने में कुशल हैं। परन्तु नारी-सौन्दर्य के वर्णन में उनकी दृष्टि विशेष रूप से रमी है। उनकी रचनाओं में नारी-सौन्दर्य के एक से एक बढ़कर भव्य चित्र हृदय को आनन्दित करते हैं। मेघदूत की यक्षिणी ''तन्वी श्यामा ....'' रघुवंश की इन्दुमती, कुमारसम्भव की पार्वती, विक्रमोर्वशीय की उर्वशी,

मालविकाग्निमित्र की मालविका जहाँ एक ओर अपने सौन्दर्य-वैभव से सहृदयों को मनोमुग्ध बनाती हैं वहीं शाकुन्तल की शकुन्तला अपनी सौन्दर्य-दीप्ति से सबको सन्दीप्त कर देती है।

५. कालिदास के अनुसार नारी-सौन्दर्य की चरितार्थता अपने प्रिय का प्रेम-भाजन बनने में ही है—

'प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता'—कुमारसम्भव, ५/१।

उनकी दृष्टि में नारी-सौन्दर्य की वृद्धि उसके शील, लज्जा आदि गुणों से होती है। केवल शारीरिक सौन्दर्य नारी का वास्तविक सौन्दर्य नहीं बन सकता—"निनिन्द रूपं हृदयेन पार्वती।"

६. कालिदास की कल्पना सौन्दर्य में कुछ ऐसे गुण हैं जो रूप को उसी प्रकार संवार देते हैं जैसे—प्रातःकालीन सूर्य की किरणें विकसित होते हुए कमल को तथा तूलिका द्वारा किया गया अंकन रेखाचित्र को—कुमार० १/३२। कवि-कल्पित सौन्दर्य में भूषणों का भूषण, उपमानों का भी उपमान और प्रसाधनों का भी प्रसाधन बन जाने की क्षमता है—**'आभारणस्याभरणं.....'**विक्रमो० २/३।

प्रेम-चित्रण–कालिदास की रचनाओं में सौन्दर्य की भाँति ही प्रेम का चित्रण भी अतीव भव्य, चित्ताकर्षक एवं सजीव हुआ है। प्रणयी तथा प्रणयिनी के मध्य होने वाले प्रेम का जैसा निदर्शन कालिदास ने किया है वैसा विश्व के इतिहास में दुर्लभ है।

१–कालिदास की दृष्टि में पुरुष के प्रति नारी-प्रेम में एक प्रकार की संकोचशीलता एवं परवशता विद्यमान रहती है। वे अपने प्रेम को वचनों द्वारा नहीं अपितु हावभावों द्वारा प्रकाशित करती हैं—

"स्त्रीणामाद्यं प्रणयवचनं विभ्रमो हि प्रियेषु....." मेघदूत तथा **"दर्भाङ्कुरेण चरणः.........."** शा० २/२२।

२–कालिदास की दृष्टि में विषय-वासना से युक्त प्रेम वास्तविक प्रेम नहीं है। क्षणभंगुर रूपाश्रित प्रेम पर उनकी आस्था नहीं है। तभी तो अपनी शारीरिक सम्पत्ति के कारण शङ्कर के प्रेम को न पाने पर पार्वती अपने दैहिक सौन्दर्य की निन्दा करती है— **"निनिन्द रूपं हृदयेन पार्वती'**'– कुमार०।

३–कालिदास तपस्या की अग्निपरीक्षा से निखरे हुए प्रेम को ही वास्तविक प्रेम मानते हैं। जो पार्वती अपने शारीरिक सौन्दर्य से शङ्कर को न रिझा सकी वही पार्वती तपस्या से पावन बनकर उनकी आराध्य देवी बन जाती हैं और शङ्कर उनके क्रीतदास—**'अद्यप्रभृत्यवनताङ्गि तवास्मिदास'** कुमार०– ५/८६।

इसी प्रकार दुष्यन्त और शकुन्तला का बाह्य सौन्दर्य पर आधारित पारस्परिक प्रेम तब तक सफल नहीं होता जब तक वे विरह की अग्नि-परीक्षा में उत्तीर्ण नहीं होते। अन्त में शङ्कर की भाँति दुष्यन्त को भी शकुन्तला से क्षमा माँगनी ही पड़ती है—

"**शकुन्तलायाः पादयोः प्रणिपत्य**''.....'**सुतनु हृदयात्....** ।।७/२४।।

४-कालिदास का प्रेम जन्मजन्मान्तरीय है। वियोग-व्यथा से पीड़ित दुष्यन्त भी इस बात को स्वीकार करता है—

"**भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि**''। ६/२।

उनके अनुसार प्रेम की इतिश्री इसी जन्म में नहीं होती।

५-कालिदास का प्रेम धर्म अथवा कर्म का विरोधी नहीं है। वस्तुतः उनकी प्रेम सम्बन्धी मान्यता गीता के वचनानुसार ही है-'धर्माविरुद्धः कामोऽस्मि।' प्रेम के मार्ग पर आरूढ प्रणयी अथवा प्रणयिनी ज्यों ही अपने कर्तव्य की अवहेलना करता है त्यों ही उसे दण्डित कर इस बात के लिए अवसर दिया जाता है कि वह तपस्यादि के द्वारा कर्तव्यपराङ्मुखता रूपी पाप का प्रायश्चित्त करें। मेघदूत के प्रणयी यक्ष को उद्यान-पालक के कर्तव्य की अवहेलना के कारण तथा शाकुन्तल की नायिका तथा दुष्यन्त की प्रणयिनी शकुन्तला को अतिथि दुर्वासा का उचित सत्कार न करने के कारण दण्डित होना पड़ता है और जब दोनों ही अपने को विरहाग्नि में तपाते हैं तब दोनों को ही अपने-अपने प्रेमियों के दिव्य प्रेम की प्राप्ति होती है।

६-कालिदास के अनुसार अमर्यादित प्रेम प्रेम नहीं है। उनके प्रेम की परिणति दाम्पत्य-प्रेम में होती है, क्योंकि वे प्रणयी-युगल के प्रगाढ़ प्रणय के प्रतीक रूप में सन्तान को आवश्यक मानते हैं। इसकी पुष्टि के लिए कुमारसम्भव के शिव-पार्वती तथा शाकुन्तल के प्रणयी युगल दुष्यन्त-शकुन्तला को लिया जा सकता है। शाकुन्तल के तृतीय अङ्क में जो शकुन्तला दुष्यन्त के लिये अनाघ्रात पुष्प रही वही सप्तम अङ्क में इस देश को 'भारत' नाम देने वाले भरत की जननी बनकर ही दुष्यन्त के दिव्य-प्रेम का भाजन बनती है।

प्रकृति-चित्रण

ध्वनि-सम्प्रदाय के आचार्य आनन्दवर्धन ने कहा है-"**वस्तु च सर्वमेव जगद्गतमवश्यं कस्यचिद् रसस्य भावस्य वा अङ्गत्वं प्रतिपद्यते अन्ततो विभावत्वेन।**''

अर्थात् संसार की जड़ चेतन समस्त वस्तुएँ काव्यगत किसी रस या भावका अङ्ग बन सकती हैं। महाकवि कालिदास ने इस तथ्य को भली-भाँति समझा है। परिणामतः काव्यों में स्थावर चित्रण हुआ है। विधाता की इस सुविशाल सृष्टि में चतुर्दिक् विराजमान प्रकृति का सूक्ष्म एवं वैज्ञानिक पर्यवेक्षण कर उनके द्वारा किया गया प्रकृति-वर्णन संस्कृत-साहित्य की अमूल्य निधि है। उनके प्रकृति-वर्णन में जो सजीवता, भव्यता, रमणीयता एवं

गतिशीलता दृष्टिगोचर होती है वह अन्यत्र दुर्लभ है। उनकी व्यापक एवं सूक्ष्म दृष्टि वन, उपवन, पर्वत, सरिता, स्रोत, पुष्प, वृक्ष, लता, चन्द्र, सूर्य, तारा, आकाश, पशु-पक्षी, ऋतु, प्रकृति के इन सभी अङ्गों में रमी है। ऋतुसंहार नामक सम्पूर्ण खण्ड काव्य में केवल प्रकृति का ही अखण्ड साम्राज्य चित्रित है, जहाँ छः ऋतुयें अपने भव्य रूप में हमारे सामने उपस्थित होती है। 'मेघदूत' का पूर्वमेघ तो मानो प्रकृति रमणी की विलासमय चेष्टाओं की क्रीड़ास्थली ही है। कुमारसम्भव के प्रथम सर्ग का हिमालय-वर्णन न केवल संस्कृत साहित्य का प्रत्युत विश्वसाहित्य का महनीय अङ्ग है। उसके प्रारम्भिक पाँच सर्गों में प्रकृति की दैवी विभूतियो के साक्षात् दर्शन होते हैं। रघुवंश में वर्णित प्रभात, समुद्र, तपोवन आदि जहाँ एक ओर हमें आनन्द-विभोर बनाते हैं, वहीं नवम सर्ग का वसन्त-वर्णन जीवन में एक नया स्पन्दन तथा प्रेम जगा देता है। तेरहवें सर्ग में समुद्र तथा गङ्गा-यमुना के सङ्गम का सजीव तथा विम्बग्राही वर्णन किसे आह्लादित और आप्लावित नहीं कर देता ? उक्त काव्यों के अतिरिक्त उनके नाटकों में भी प्रकृति का सजीव चित्रण उपलब्ध होता है। आगे शाकुन्तल में अङ्कित प्रकृति-चित्रण पर संक्षिप्त प्रकाश डाला जायेगा।

शाकुन्तल में प्रकृति-चित्रण

१. विशालता एवं व्यापकता–कालिदास का अभिज्ञानशाकुन्तल प्राकृतिक छटाओं से ओत-प्रोत एक ऐसी रङ्गशाला है जहाँ प्रकृति-नटी अपनी हृदयावर्जक एवं मनोरम अभिनय-कला द्वारा सहृदयों को मन्त्रमुग्ध कर देती है। शाकुन्तल के प्रारम्भिक मङ्गलाचरण में अपने अभीष्ट देव भगवान् भूतनाथ की दिव्य अष्टमूर्तियों का साक्षात्कार प्रकृति के ही भीतर करके कवि जन-मङ्गल की कामना करता है—

''या सृष्टिः स्रष्टुराद्या वहति विधिहुतं या हविर्या च होत्री,
ये द्वे कालं विधत्तः श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्त विश्वम्।
यामाहुः सर्वबीजप्रकृतिरिति यया प्राणिनः प्राणवन्तः
प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः ।।१।१ ।।

प्रकृति की विशालता एवं दिव्यता के प्रति कवि के हृदय में किस प्रकार के श्रद्धामूलक भाव हैं, इसका पता इस पद्य से सहज ही चल जाता है।

२. प्रकृति वर्णन की विम्बग्रहणशीलता–कालिदास प्रकृतिगत वर्ण्य-विषय का सजीव चित्र अङ्कित करने में अति कुशल हैं। निम्नाङ्कित पद्य में भयाकुल मृग का सच्चा चित्र आँखों के सामने नाचने लगता है जिससे कवि की प्रकृति के यथार्थ बिम्ब-ग्रहण की क्षमता का द्योतन होता है—

ग्रीवाभङ्गाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने दत्तदृष्टिः
पश्चार्धेन प्रविष्टः शरपतनभयाद् भूयसा पूर्वकायम्।

दर्भैरर्धावलीढैः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा
पश्योदग्रप्लुतत्वाद्वियति बहुतरं स्तोकमुर्व्यां प्रयाति ।।१/७ ।।

अधोलिखित पद्य में ग्रीष्म-ऋतु का अति स्वाभाविक चित्रण हुआ है—

सुभगसलिलावगाहाः पाटलसंसर्गसुरभिवनवाताः ।
प्रच्छायसुलभनिद्रा दिवसाः परिणामरमणीयाः ।। शा० १/३ ।।

नीचे कण्व के आश्रम के सजीव एवं चित्ताकर्षक वर्णन के पठन-श्रवण मात्र से ही आश्रम के सच्चे स्वरूप के दर्शन हो जाते हैं—

"नीवाराः शुकगर्भकोटरमुखभ्रष्टास्तरूणामधः
प्रस्निग्धाः क्वचिदिङ्गुदीफलभिदः सूच्यन्त एवोपलाः ।
विश्वासोपगमादभिन्नगतयः शब्दं सहन्ते मृगा–
स्तोयाधारपथाश्च वल्कलशिखानिष्यन्दरेखाङ्किताः ।। शा० १/१४ ।।

३. मानवीय सौन्दर्य-वृद्धि में प्रकृति का साहाय्य—कालिदास वस्तुतः प्रकृति के कोमल स्वरूप के चित्रकार हैं। उनकी आस्था है कि प्रकृति में ही सच्चे सौन्दर्य के दर्शन हो सकते हैं क्योंकि प्रकृति का सारा सौन्दर्य स्वाभाविकता की आधारशिला पर प्रतिष्ठित है। इसीलिये वे मानव-सौन्दर्य की तीव्रता एवं यथार्थता की अभिव्यक्ति के लिये प्रकृति का आश्रय लेते हैं। निम्नाङ्कित पद्य में प्राकृतिक उपादानों के माध्यम से अभिव्यक्ति तथा रमणीयता, मुग्धता एवं उपभोगयोग्यता आदि से मण्डित शकुन्तला का सौन्दर्य किसे नहीं लुभा देता ?

अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररुहै–
रनाविद्धं रत्नं मधु नवमनास्वादितरसम् ।
अखण्डं पुण्यानां फलमिव च तद्रूपमनघं
न जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थास्यति विधिः ।।२/१० ।।

निम्नाङ्कित पद्य में किसलयराग, कोमलविटप (शाखा) एवं कुसुम रूप प्राकृतिक उपमानों से शकुन्तला का यौवन-मण्डित सौन्दर्य निखर सा जाता है—

अधरः किसलयरागः कोमलविटपानुकारिणौ बाहू ।
कुसुममिव लोभनीयं यौवनमङ्गेषु सन्नद्धम् ।।१/२१ ।।

निम्नाङ्कित श्लोक में शकुन्तला के सहज रूपलावण्य का मूर्तिमान् रूप उपस्थित करने के लिए कवि ने शैवाल (सिवार) से आवृत्त कमल तथा कलङ्क से मण्डित चन्द्रमा से सहायता ली है—

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्।। १/२०।।

छठें अङ्क में शकुन्तला के चित्र-निर्माण के अवसर पर राजा द्वारा "कार्या सैकतलीनहंसमिथुना.......' ६/१७ तथा 'कृतं न कर्णार्पितबन्धनम् सखे.......' ६/१८ कही गयी उक्तियाँ भी उक्त तथ्य को प्रमाणित करती हैं। मेघदूत की "तन्वी श्यामा ...." तथा "श्यामास्वङ्ग" आदि वर्णनों में भी उक्त तथ्य के दर्शन होते हैं।

४. अन्तःप्रकृति तथा बाह्य प्रकृति का सामञ्जस्य—शाकुन्तल में मानव की अन्तःप्रकृति तथा बाह्य प्रकृति के बीच एक अपूर्व सामञ्जस्य का चित्रण किया गया है। निम्नाङ्कित श्लोक में चन्द्रमा के अस्त हो जाने पर वल्लभवियोग से व्यथित कुमुदिनी की व्यथा के साथ वियोग-विक्लवा शकुन्तला की अन्तर्व्यथा का सामञ्जस्य कितना मर्मस्पर्शी है ?—

अन्तर्हिते शशिनि सैव कुमुद्वती मे दृष्टिं न नन्दयति संस्मरणीयशोभा।
इष्टप्रवासजनितान्यबलाजनस्य दुःखानि नूनमतिमात्रसुदुःसहानि।। ४/३।।

५. प्रकृति का मानवीकरण—कालिदास के प्रकृति-वर्णन की सबसे बड़ी विशेषता है प्रकृति में चेतनता एवं मानवीय वृत्तियों का आरोप। उन्होंने अपनी लौकिक कल्पना और प्रतिभा द्वारा प्रकृति की जड़ता समाप्त कर उसमें भावप्रवणता, गतिशीलता तथा चेतना का संचार कर दिया है। प्रकृति के प्रति मनुष्य का प्रेम चित्रित करते-करते उनकी भावना मनुष्य के प्रति प्रकृति का प्रेम चित्रित करने लगती है। दार्शनिक दृष्टि से प्रकृति भले ही जड़ तथा आत्मविहीन पदार्थ प्रतीत हो परन्तु महाकवि कालिदास की सूक्ष्म दृष्टि प्रकृति के भीतर सहानुभूति एवं दुःख-सुख की स्थिति में उद्भूत सम्वेदना का सम्यग् अनुभव करती है। इसीलिये उनकी प्रकृति भावनाशील है और मानव जगत् के प्रति उनके हृदय में पूर्ण सहानुभूति है।

शाकुन्तल मे सारी प्रकृति एवं शकुन्तला पूर्णतः घुल मिल गयी है तथा प्रकृति एवं शकुन्तला का पारस्परिक सौहार्द्र इतनी पराकाष्ठा पर पहुँचा है कि महर्षि कण्व शकुन्तला की विदाई के अवसर पर तपोवन के वृक्षों से विदाई की अनुमति लेना आवश्यक समझ कर उन्हें सम्बोधित करते हुए कहते हैं—

पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु या
नादत्ते प्रियमण्डनाऽपि भवतां स्नेहेन या पल्लवम्।

आद्ये वः कुसुमप्रसूतिसमये यस्या भवत्युत्सवः
सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम् ।। शा० ४/९ ।।

यहाँ प्रकृति ने अपने स्वरूप का परित्याग नहीं किया है। वह अपने स्वरूप की रक्षा करती हुई मानव के समान सचेतन एवं सजीव हो गयी है। उसकी मूकता, चेतनाहीनता और निष्प्राणता समाप्त हो गयी है। वह मानव के समान है और सुख-दुःख तथा सम्वेदना का अनुभव करती है। शकुन्तला के प्रति सहानुभूतिवश जहाँ एक ओर वन के वृक्ष विदाई के अवसर पर विविध माङ्गलिक वस्त्रों और अलङ्कारों को प्रदान करते हैं–'क्षौमं.....'४/५। वहीं शकुन्तला के वियोग से व्यथित सारी प्रकृति सारा कामधाम छोड़कर वियोग-व्यथा से तड़प जाती है—

''उद्गलितदर्भकवला मृग्यः परित्यक्तनर्तना मयूराः।
अपसृतपाण्डुपत्रा मुञ्चन्त्यश्रूणीव लताः ।।'' ४/१२ ।।

महर्षि कण्व का आँसू कण्ठ तक ही आकर रुक जाता है। वनलताओं के आँसू भीतर रुक नहीं पाते। इसी प्रकार वनज्योत्स्ना का अपनी शाखा रूपी बाहुओं को फैलाकर अपनी बहन शकुन्तला को भेंट करना–**वनज्योत्स्ने....शाखाबाहुभिः च**। पुत्रवत् पालित मृगशावक का धरना देकर शकुन्तला को रोकना–''**को नु खल्वेष निवसने मे सज्जते**।' च० अ०। कण्व–''**यस्य त्वया**......४/१४।'' शकुन्तला का पशुपक्षियों का पुत्रवत् पालन करना सभी कुछ प्रकृति तथा मानव के अतिशय सान्निध्य को सूचित करता है। इस प्रकार सारी प्रकृति अन्य पात्रों की भाँति एक सजीव पात्र बन गयी है। नाटक का प्रारम्भ ग्रीष्म ऋतु के वर्णन से होता है, बीच की सारी क्रियायें प्रकृति के वितान रूप आश्रम में होती हैं और उसका अवसान भी मारीच के पावन प्रकृति के प्राङ्गण में होता है।

अभिज्ञान शाकुन्तल के प्रमुख पात्र

दुष्यन्त

१. धीरोदात्त नायक—पुरुवंशी दुष्यन्त शाकुन्तल का नायक है। वह एक राजर्षि भूपति है और नायक के लिये अपेक्षित प्रायः सभी गुण उसमें विद्यमान हैं। नायक के चार भेद होते हैं धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित तथा धीरप्रशान्त। उनमें धीरोदात्त नायक महाबलशाली (शोक-क्रोधादि से अभिभूत न होने वाला), अति गम्भीर, क्षमाशील, आत्मश्लाघा न करने वाला, स्थिर-प्रकृति, विनय से अहङ्कार को दबाने वाला तथा दृढ़व्रत (प्रणपालक) होता है—

महासत्त्वोऽतिगम्भीरः क्षमावानविकत्थनः।
स्थिरो निगूढाहङ्कारो धीरोदात्तो दृढव्रतः ।।–दशरूपक, द्वितीय प्रकाश।

राजा दुष्यन्त शास्त्रीय दृष्टि से धीरोदात्त कोटि का नायक हैं क्योंकि वह धीरोदात्त नायक के लिये अपेक्षित सभी गुणों से समन्वित है। शृङ्गारी दृष्टि से यदि देखा जाय तो दुष्यन्त अनुकूल (दक्षिण) नायक है। क्योंकि शकुन्तला के प्रति अगाध प्रेम के होते हुए भी वह अपनी अन्य (हंसपदिका तथा वसुमती) रानियों को रुष्ट नहीं करना चाहता। कलाकोविद होने के नाते कुछ लोगों ने दुष्यन्त को धीरललित की कोटि में रखा है। पर इस प्रकार का मत ठीक नहीं है। दुष्यन्त में धीरललित नायक के लक्षण घटित नहीं होते।

२. आकर्षक व्यक्तित्व एवं सौन्दर्य से युक्त-अतिशय सौन्दर्य से मण्डित नवयुवक दुष्यन्त के व्यक्तित्व में एक सहज आकर्षण एवं प्रभाव है। उसके दर्शन मात्र से ही "यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति" की उक्ति को स्मरण करती हुई दर्शक-मण्डली उसके उदात्त गुणों का अवबोध कर लेती है। नगरवातावरण से सर्वथा दूर निर्विकार तपोवन में पालित-पोषित तापस कन्यायें भी उसके दर्शन मात्र से हठात् प्रभावित एवं आकृष्ट हो जाती हैं। उसको देखकर प्रियंवदा की उत्सुकता सहसा मुखरित हो जाती है—"**अनसूये, का न खल्वेष चतुरगम्भीराकृतिर्मधुरं प्रियमालपन् प्रभावंवानिव लक्ष्यते।**" कण्व-दुहिता शकुन्तला तो दुष्यन्त के प्रथम दर्शन से ही उसके प्रेमपाश में बँध जाती है और बाद में तिरस्कार की अग्नि परीक्षा में विचलित नहीं होती। षष्ठ अङ्क में मेनका की सखी सानुमती जब दुष्यन्त को देखती है तो तिरस्कार से अपमानित होने पर भी उसके (दुष्यन्त के) वियोग में सन्तप्यमाना शकुन्तला के अलौकिक एवं दिव्यप्रेम के औचित्य को स्वीकार करती है—"**स्थाने खलु प्रत्यादेशविमानिताऽपि अस्य कृते शकुन्तला क्लाम्यतीति**"। सानुमती की उक्त प्रशस्ति दुष्यन्त के गरिमामय व्यक्तित्व तथा आकर्षक सौन्दर्य की भव्यता का बोध कराती है।

दुष्यन्त के महनीय व्यक्तित्व एवं अलौकिक सौन्दर्य से आबाल वृद्ध प्रभावित हो जाते हैं, चाहे वह नर हों या नारी। तृतीय अङ्क में कण्व का शिष्य राजा दुष्यन्त के प्रभाव की भूरि-भूरि प्रशंसा करता है क्योंकि उसके आश्रम में प्रविष्ट होते ही उसके आश्रम के सारे कार्य निर्विघ्न सम्पन्न हो रहे हैं—'**अहो, महानुभावः पार्थिवो दुष्यन्तः यत्प्रविष्टमात्र एवाश्रमे तत्रभवति निरुपद्रवाणि नः कर्माणि संप्रवृत्तानि**'। सप्तम अङ्क में तपःपूत काश्यप (मारीच) की निर्विकारहृदया वृद्धा धर्मपत्नी दाक्षायणी भी दुष्यन्त की भव्याकृति एवं प्रभावशाली व्यक्तित्व की प्रशंसा किये बिना नहीं रह पाती—"**सम्भावनीयाऽनुभावाऽस्याकृतिः**"। वृद्ध ब्राह्मण कञ्चुकी तो विरहवेदना से पीड़ित होने की दशा में भी अपने स्वामी दुष्यन्त की रमणीयता एवं नयनाभिरामता को देखकर मन्त्रमुग्ध हो जाता है— "**अहो, सर्वास्ववस्थासु रमणीयात्माकृतिविशेषाणाम्। एवमुत्सुकोऽपि प्रियदर्शनो देवः**"—षष्ठ अंक।

३. महावीर एवं योद्धा—क्षत्रिय राजा के अनुरूप दुष्यन्त पराक्रमी एवं योद्धा है। शाकुन्तल के प्रथम अङ्क में जब वह रथारूढ़ होकर धनुष की प्रत्यञ्चा पर बाण का सन्धान

किये हुए मृग का अनुसरण करता है तो उसके सारथि को ऐसा प्रतीत होता है मानों पिनाक धनुष की प्रत्यञ्चा पर बाण का सन्धान किये हुए भगवान् शङ्कर ही मृग का पीछा कर रहे हैं—**"मृगानुसारिणं साक्षात् पश्यामीव पिनाकिनम्"** ॥१/६ ॥ अनवरत धनुष की प्रत्यञ्चा पर बाण का सन्धान करने तथा अथक श्रम के कारण दुष्यन्त का शरीर अत्यन्त कठोर एवं पुष्ट हो गया है; तभी तो सेनापति को वह पर्वत पर विचरण करने वाले अति बलशाली गजराज की भाँति प्रतीत होते है—**'गिरिचर इव नागः प्राणसारं बिभर्ति'** ॥ २/४ ॥

दुष्यन्त की वीरता एंव अमित शौर्य से राक्षस जगत् भी इतना भयभीत है कि उसे (दुष्यन्त को) राक्षसों के वध के लिये बाण-सन्धान की भी आवश्यकता नहीं पड़ती क्योंकि प्रत्यञ्चा के टङ्कार मात्र से राक्षस सम्बन्धी विघ्न-बाधा दूर हो जाती है—

का कथा बाणसन्धाने ज्याशब्देनैवं दूरतः ।
हुङ्कारेणेव धनुषः स हि विघ्नानपोहति ।।३/१ ।।

उसे अपनी शक्ति एवं अदम्य शौर्य पर इतना विश्वास है कि वह विदूषक के साथ सैनिकों को राजधानी भेज देता है और अकेले ही आश्रम की रक्षा का भार वहन करता है। मानव-लोक ही नहीं देव-लोक को भी दुष्यन्त की वीरता पर पूर्ण विश्वास है। दैत्यों के साथ युद्ध (वैर) होने पर देवता या तो इन्द्र के वज्र पर भरोसा करते हैं या दुष्यन्त के अधिज्य धनुष पर—

आशंसन्ते समितिषु सुरा बद्धवैरा हि दैत्यै-
रस्याधिज्ये धनुषि विजयं पौरुहूते च वज्रे ।।२/१५ ।।

दैत्यों से युद्ध करने के लिये देवराज इन्द्र उसे बुलाते हैं तथा उसके अद्भुत पराक्रम से इतना प्रभावित होते हैं कि उसे अर्धासन देकर उसके गले में मन्दार-माला पहनाते हैं—**"मन्दरमाला हरिणा पिनद्धा"** (सप्तम अङ्क)। दुष्यन्त के शौर्य एवं अतुलित पराक्रम से प्रभावित होकर मरीच को भी दुष्यन्त के लिये निम्नाङ्कित प्रशस्ति-पत्र देना ही पड़ता है—

दाक्षायणि, पुत्रस्य ते रणशिरस्ययमग्रयायी
दुष्यन्त इत्यभिहितो भुवनस्य भर्ता ।
चापेन यस्य विनिवर्तितकर्म जातं
तत्कोटिमत्कुलिशमाभरणं मघोनः ।।७/२६।।

मातलि द्वारा आक्रान्त माढव्य की पुकार सुनकर वह तुरन्त धनुष पर बाण चढ़ा कर दौड़ता है और तिरस्करिणी (अदृश्य होने की विद्या) द्वारा छिपे हुए मातलि को भी अपने बाण का निशाना बनाना चाहता है—

यो हनिष्यति वध्यं त्वां रक्ष्यं रक्षिष्यति द्विजम् ।
हंसो हि क्षीरमादत्ते तन्मिश्रा वर्जयत्यपः ।। ६/२८ ।।

दुष्यन्त का उक्त कथन धनुर्विद्या में उसके नैपुण्यातिशय का द्योतक है।

४. आदर्श राजा—दुष्यन्त एक ऐसा राजा है जिसमें न्यायप्रियता, प्रजावत्सलता एवं कर्तव्यपरायणता कूट-कूट कर भरी है। उसके राज्य में कोई उद्दण्डता एवं कुकर्म करने का साहस नहीं करता। प्रजा के प्रति उसका वात्सल्यपूर्ण भाव है और उसका पालन वह अपनी सन्तान की भाँति करता है—"**प्रजाः प्रजाःस्वा इव तन्त्रयित्वा...**"५/५ ॥

वही पीड़ितों की रक्षा में सदा तत्पर रहता है। उसके शस्त्र का उपयोग निरपराधों को पीड़ित करने के लिये (शक्तिः परेषां परपीडनाय) नहीं होता अपितु निःसहायों की रक्षा में होता है। आश्रम में जब एक तपस्वी आश्रम के मृग को मारने का, "**आर्तत्राणाय वः शस्त्रं न प्रहर्तुमनागसि**" यह कह कर निषेध करता है तब वह तुरन्त धनुष पर से बाण उतार लेता है। उसके राज्य में अन्यायियों एवं कुपथगामियों के लिये कोई स्थान नहीं है। वह सदा उन्हें नियन्त्रित करता रहता है—

नियमयसि विमार्गप्रस्थितानात्तदण्डः ।
प्रशमयसि विवादं कल्पसे रक्षणाय ।।५/८ ।।

वह जनता जनार्दन की सेवा के लिये कभी भी अपने सुख की परवाह नहीं करता—"**स्वसुखनिरभिलाषः खिद्यसे लोकहेतोः**" ॥ ५/७ ॥

वह राजा के पद को भोग का नहीं अपितु योग का साधन मानता है। वह सिंहासनारूढ़ होते हुए भी एक निर्लोभ मुनि की भूमिका निभाता है। वस्तुतः वह एक साथ मुनि और राजा दोनों हैं—

अस्यापि द्यां स्पृशति वशिनाश्चारणद्वन्द्वगीतः
पुण्यः शब्दो मुनिरिति मुहुः केवलं राजपूर्वः ।।२/१४ ।।

वह अपनी प्रजा का शोषण नहीं अपितु पोषण करता है और उनके पोषण हेतु ही उनसे कर ग्रहण करता है। तपस्वियों से कर-ग्रहण की बात चलने पर वह कहता है कि अन्य प्रजा द्वारा दिया गया कर तो विनश्वर है पर ये तपस्वी तो अपनी तपस्या के षष्ठांग भाग को जो कर रूप में देते हैं वह सर्वथा अविनश्वर है—

यदुत्तिष्ठति वर्णेभ्यो नृपाणां क्षयि तद् धनम् ।
तपःषड्भागमक्षय्यं ददत्यारण्यका हि नः ।।२/१३ ।।

दुष्यन्त न्यायप्रिय शासक है और प्रतिदिन न्यायसम्बन्धी कार्यों में संलग्न रहता है। अस्वस्थ या अन्यत्र कार्य में व्यस्त होने पर अपने अमात्य पर न्याय करने का भार सौप

देता है। फिर भी न्याय के प्रति स्वयं दत्तचित्त रहता है। शासक होते हुए भी उसमें लोभ नाममात्र का नहीं है। सन्तानहीन धनमित्र के मरने पर उनकी सम्पत्ति को वह राजकोष में अधिगृहीत कर सकता था पर उसे (सम्पत्ति को) धनमित्र के गर्भस्थ शिशु को देने का आदेश देता है—"**ननु गर्भः पित्र्यं रिक्थमर्हति**"। प्रजाजन के प्रति उसका सहज एवं वात्सल्य-पूर्ण प्रेम उस समय पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है जब वह अपने को सन्तानहीन प्रजाजन को आत्मीयजन घोषित करवाता है—

येन येन वियुज्यन्ते प्रजाः स्निग्धेन बन्धुना।
स स पापादृते तासां दुष्यन्त इति घुष्यताम्।।६/२३।।

इस प्रकार दुष्यन्त एक प्रजापालक, न्यायप्रिय, कुशल शासक, कर्त्तव्यपरायण आदर्श राजा के रूप में हमारे सामने आता है।

५. वात्सल्य प्रेमी—समाजसेवी होते हुए भी दुष्यन्त के हृदय में सन्तान के प्रति अगाध स्नेह एवं वात्सल्य-भाव है। वियोगावस्था में आपन्नसत्त्वा शकुन्तला की स्मृति उसे बेचैन कर देती है—

संरोपितेऽप्यात्मनि धर्मपत्नी त्यक्ता मया नाम कुलप्रतिष्ठा।
कल्पिष्यमाणा महते फलाय वसुन्धरा काल इवोप्तबीजा।।६/४।।

षष्ठ अङ्क में व्यापारी धनमित्र की मृत्यु का समाचार सुनकर सन्तानहीनता की वेदना उसे शोकाकुल बना देती है। सन्तानहीन होने के कारण उसके हृदय में सन्तान सम्बन्धी लालसा सदैव उमड़ती रहती है। सप्तम अङ्क में मारीच के आश्रम में सर्वदमन को देखकर उसकी हृदयगत लालसा उद्दीप्त हो जाती है। परिणामतः उसका कोमल हृदय वात्सल्य प्रेम से ओत-प्रोत हो जाता है—"**नूनमनपत्यता मां वत्सलयति।**" यह जानकर कि सर्वदमन उसी के आत्मा का प्रतिरूप है उसके आनन्द का परावार नहीं रह जाता — "**भगवन्! अत्र खलु मे वंशप्रतिष्ठा**"। महर्षि कश्यप के आश्रम में सुकुमार शिशु के देखने के मात्र से उनकी औरस पुत्र की लालसा स्नेहसिक्त हो जाती है—"किं न खलु बालेऽस्मिन्नौरस इव पुत्रे स्निह्यति मे मनः" ? (सप्तम अङ्क)।

६. विनयशील तथा मधुरभाषी—एक पराक्रमी राजा होते हुए भी वह अति विनम्र है। मृगया-व्यसनी होने पर भी आश्रम के मृगों पर प्रहार न करने के तपस्वी के निवेदन को दृष्टिगत कर धनुष पर से बाण उतार लेता है। वीतरागी तपस्वियों के प्रति उसके हृदय में समादर तथा विनयशीलता दोनों है। आश्रम में विनीत वेष धारण करके प्रवेश करने में ही उसे औचित्य दिखलायी देता है—"**विनीतवेषेण प्रवेष्टव्यानि तपोवनानि नाम**"- प्रथम अङ्क। ऋषियों का साक्षात्कार होने पर उन्हें प्रणाम करता है और उनका कुशल क्षेम पूछता है। पञ्चम अङ्क में शार्ङ्गरव, शारद्वत तथा शकुन्तला के द्वारा कठोर वचनों का प्रयोग करने

पर भी उसका अधीर एवं विचलित न होना उसकी कायरता का नहीं अपितु विनम्रता का परिचायक है। सप्तम अङ्क में वह भगवान् कश्यप के दर्शन करके ही आने की इच्छा प्रकट करता है—"**प्रदक्षिणीकृत्य भवन्तं गन्तुमिच्छामि**"।

दुष्यन्त जन्मतः मधुरभाषी है। उसकी सुधासिक्त वाणी उसे सभी प्राणियों का हृदय-भाजन बना देती है। प्रिय बोलने वाली प्रियंवदा उसके मधुरालाप से अत्यन्त आह्लादित हो जाती है। आश्रम कन्याओं से विदा लेते हुए उसका यह कथन-"**दर्शनेनैव भवतीनां पुरस्कृतोऽस्मि**" उसकी वाणी की मधुरिमा का प्रख्यापन करता है।

७. **कलाकोविद**—ललित कलाओं के प्रति दुष्यन्त का सहज अनुराग ही नहीं अपितु वह उनका (ललित कलाओं का) मर्मज्ञ एवं प्रयोक्ता दोनों है। उसकी सङ्गीत-कला की मर्मज्ञता का बोध तब होता है जब वह (राजा) महारानी हंसपदिका के गीत को सुनकर इन शब्दों में उसकी प्रशंसा करता है—'**अहो रागपरिवाहिणी गीतिः**'- पञ्चम अङ्क। षष्ठ अङ्क में वह शकुन्तला का इतना स्वाभाविक चित्र बनाता है, जिसे देखकर वह स्वयं ही यह भूल जाता है कि यह चित्र है। शकुन्तला के चित्र में उसके प्रिय स्थानों को अङ्कित करने की इच्छा प्रकट करता है—

कार्या सैकतलीनहंसमिथुना स्रोतोवहा मालिनी।
पादास्तामभितो निषण्णहरिणा गौरीगुरोः पावनाः।
शाखालम्बितवल्कलस्य च तरोर्निर्मातुमिच्छाम्यधः,
शृङ्गे कृष्णमृगस्य वामनयनकण्डूयमानां मृगीम्।।६/१७।।

शकुन्तला के वनवास, सौकुमार्य तथा विनय के अनुरूप प्रसाधनों (सजावटों) की चित्र में कमी उसे खटकती हैं—

कृतं न कर्णार्पितबन्धनं सखे
शिरीषमागण्डविलम्बिकेसरम्।
न वा शरच्चन्द्रमरीचिकोमलं
मृणालसूत्रं रचितं स्तनान्तरे।।६/१८।।

८. **मृगयाव्यसनी**—वह स्वभाव से मृगया-प्रेमी है। मृगया-प्रेम ही उसे कण्व के आश्रम तक पहुँचाता है, वहाँ वह शकुन्तला का प्रेमी बन जाता है। बेचारा विदूषक तो उसके मृगया-व्यसन से अत्यन्त खिन्न हो गया है—"**एतस्य मृगयाशीलस्य राज्ञो वयस्यभावेन निर्विण्णोऽस्मि**"— द्वितीय अङ्क।

शकुन्तला

शकुन्तला अभिज्ञानशाकुन्तल की नायिका है। नाट्यशास्त्रीय दृष्टि से वह मुग्धा नायिका की श्रेणी में आती है। कालिदास की सभी नायिकाओं में वह सर्वोच्च स्थान प्राप्त करने की अधिकारिणी है। उसके पिता का नाम विश्वामित्र तथा माता का नाम मेनका है। लोक-लज्जा के वश उसकी माता ने उसे जन्म लेते ही मालिनी नदी के तट पर कण्वाश्रम के पास छोड़ दिया। इस प्रकार उसे अपनी शैशवास्था से ही वात्सल्य-प्रेम से वञ्चित होना पड़ा। हाँ, एक बात अवश्य है, वह यह कि अनिन्द्य सुन्दरी मेनका की पुत्री होने के नाते उसे विरासत में अलौकिक सौन्दर्य-सम्पत्ति अवश्य मिली। दयालु महर्षि कण्व ने आश्रम में उसका लालन-पालन किया। अत: वही उसके धर्म-पिता बने। मालिनी-तट पर पक्षियों से आवृत होने के कारण ही उन्होंने उसका शकुन्तला (शकुन्तैः परिवारिता) यह सार्थक नाम रखा। वह अवस्था में अपनी दो अन्य सखियों अनसूया एवं प्रियंवदा से बड़ी है क्योंकि पिता कण्व सर्वप्रथम उसका विवाह करने हेतु कृतसङ्कल्प हैं। वह सम्पूर्ण नाटक में पाँच अङ्कों (१, ३, ४, ५, ७) में हमारे सामने आती है। जिन दो अङ्कों में (द्वितीय तथा षष्ठ) में वह दृष्टिगोचर नहीं होती उनमें भी सभी घटनाक्रम की केन्द्र बिन्दु वही है। शकुन्तला की चरित्रगत विशेषतायें निम्नलिखित हैं—

१. अनिन्द्य सुन्दरी—तपोवन की वनदेवी की भाँति तापस-कन्या शकुन्तला नैसर्गिक सुषमा की प्रतिमूर्ति है। राजा दुष्यन्त प्रथम दर्शन में ही उसके नैसर्गिक सौन्दर्य पर मन्त्रमुग्ध होता है—'**इदं किलाव्याजमनोहरं वपुः।**' १/१८।

उसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग में लावण्यातिशय प्रस्फुरित हो रहा है। नवकिसलय के समान उसके अधर की लालिमा, कोमल शाखाओं के सामन उसकी भुजायें तथा समस्त अङ्गों में फूल के समान व्याप्त उसका यौवन भला किसके मन को अधीर नहीं बना सकता ? यदि दुष्यन्त उस पर लुभा गया तो आश्चर्य ही क्या ?

अधरः किसलयरागः कोमलविटपानुकारिणौ बाहू।
कुसुममिव लोभनीयं यौवनमङ्गेषु सन्नद्धम्।। १/२१।।

ऐसा प्रतीत होता है कि जगत्त्रय-स्रष्टा ब्रह्मा ने अपनी सौन्दर्य-कल्पना को साकार रूप देने के लिये ही समस्त सौन्दर्य-सामग्री को लेकर अपनी चित्त की तूलिका से ही शकुन्तला रूपी सजीव चित्र का निर्माण किया है। तभी तो वह एक अलौकिक एवं अप्रतिम स्त्री-रत्न के रूप में प्रतिष्ठित हो सकी—"**चित्रे निवेश्य .... वपुश्च तस्याः।।**" २/९।।

शकुन्तला दैवी सौन्दर्य से ओत-प्रोत है। भला मानवीय सृष्टि में उसके (दैवी सौन्दर्य के) दर्शन कैसे हो सकते हैं ? प्रभा से तरल ज्योति क्या पृथिवी से उद्भूत हो सकती है ?—

मानुषीषु कथं वा स्यादस्य रूपस्य सम्भवः।
न प्रभातरलं ज्योतिरुदेति वसुधातलात् ।।१/२५ ।।

शकुन्तला के सौन्दर्य में एक ऐसी नैसर्गिक प्रखरता एवं दीप्ति है कि उसे अपनी सजावट के लिए अन्य किसी भी सौन्दर्योपकरण की आवश्यकता नहीं। उसका रूप आभूषणों का दास नहीं अपितु आभूषण उसके दास हैं, क्योंकि अनाभूषण को भी आभूषण बना देने की क्षमता उसमें विराजमान है। असुन्दर उपकरणों के मध्य भी उसका रूप निखर जाता है। तभी तो दुष्यन्त उसकी रूपसम्पत्ति की महिमा का गुणगान करते हुए कहता है—

''इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम् ।।'' १/१७ ।।

शकुन्तला के रूप में एक अपूर्व निष्कलुषता एवं पावनता है। वह ऐसे पुष्प के समान है जो कभी सूँघा न गया हो, ऐसे किसलय के सदृश है जो नख-क्षत से आहत न हो, ऐसे रत्न की भाँति है जिस पर कोई आघात न लगा हो तथा ऐसे मधु के सदृश है जिसके रस का आस्वाद न किया गया हो। वस्तुतः उसका रूप तो पुण्यों का अखण्डित फल ही है—

अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररुहै-
रनाविद्धं रत्नं मधु नवमनास्वादितरसम्।
अखण्डं पुण्यानां फलमिव च तद्रूपमनघं
न जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थास्यति विधिः ।।२/१० ।।

उसके शारीरिक सौन्दर्य को एक ओर जहाँ उसकी लज्जाशीलता, शालीनता तथा सरलता आदि आध्यात्मिक गुणों ने महनीय बना दिया है, वहीं दूसरी ओर, उसके नवयौवन ने भी उसमें चार चाँद लगा दिये है— **''कुसुममिव सन्नद्धम्''**।

२. एकनिष्ठ प्रेमिका—आश्रम के वातावरण में पालित होने के कारण युवावस्था में विद्यमान होने पर भी शकुन्तला का यौवन के अभिन्न मित्र काम से परिचय अभी तक नहीं हुआ था, परन्तु दुष्यन्त के प्रथम दर्शनमात्र से ही उसके हृदय में भी काम सञ्चार हो जाता है—**'किं नु खल्विमं प्रेक्ष्य तपोवनविरोधिनो विकारस्य गमनीयास्मि संवृत्ता'** प्रथम अङ्क। निस्संदेह शकुन्तला के हृदय में उद्भूत इस प्रकार के काम-विकार से ही उसकी प्रणय-कहानी प्रारम्भ होती है। उसे स्वयं अपने हृदय के इस आकस्मिक तथा अप्रत्याशित प्रेम-विकार पर आश्चर्य होता है; क्योंकि इसके पूर्व उसे इस प्रकार की कोई अनुभूति नहीं हुई थी। उसका काम-विकार सखियों के परिहास एवं दुष्यन्त के सम्पर्क के कारण प्रेम-भावना का रूप धारण कर लेता है। यद्यपि शील सङ्कोच-वश शकुन्तला अपने मनोविकार को प्रकट न होने देने प्रयत्न करती है परन्तु दुष्यन्त अपने प्रति उसकी प्रेमासक्ति को जान जाता है—

कामं न तिष्ठति मदाननसम्मुखीना
भूयिष्ठमन्यविषया न तु दृष्टिरस्याः ।।

उसका प्रेमविकार बढ़ जाता है पर वह अपनी अभिन्न सहचरी दोनों सखियों से भी अपने प्रेम-विकार के बारे में बताने का साहस नहीं जुटा पाती "**बलवान् खलु मेऽभिनिवेश ..... निवेदयितुम्**' – अङ्क ३।

शकुन्तला का प्रेम अपने प्रियतम की अनुकूलता की अपेक्षा करता है। प्रेमी के तिरस्कार-भय से वह प्रणय-निवेदन हेतु स्वयं आगे नहीं बढ़ पाती—"**हला ! चिन्तयाम्यहं ! अवधारणाभीरुकं पुनर्वेपते मे हृदयम् ।**" –तृतीय अङ्क।

दुष्यन्त के प्रति आसक्तचित्ता शकुन्तला उसके वियोग में जब दिन प्रतिदिन क्षीण होने लगती है तब उसकी सखियों द्वारा बार-बार आग्रह करने पर शकुन्तला जिन शब्दों में अपनी मनोव्यथा का कारण बतलाती है उसमें उसके दुष्यन्त विषयक अविचल प्रेम का प्रकाशन होता है—"**तद्यदि वामनुमतं तथा वर्तेथां यथा तस्य राजर्षेरनुकम्पनीया भवामि । अन्यथा सिञ्चतं मे तिलोदकम् ।**'

दुष्यन्त के वियोग-काल में वह चक्रवाकी की भाँति क्षण-प्रतिक्षण दुष्यन्त के चिन्तन में निमग्न रहती है। फलस्वरूप अतिथि-सत्कार न कर पाने के कारण उसे अदूरकोप, कोपावतार दुर्वासा के दारुण कोप का भाजन होना पड़ता है। सखियाँ तो उसके प्रेम की गहराई को अच्छी तरह समझती हैं— '**भर्तृगतया चिन्तयात्मानमपि नैषा विभावयति किं पुनरागन्तुकम्**' –च० अङ्क। पर उससे क्या होता है ? अदूरकोप दुर्वासा तो इसे नहीं समझते।

सपत्नियों की समस्या पिता-पुत्री दोनों के समक्ष विद्यमान है। शकुन्तला की दोनों सखियाँ भी इससे अवगत हैं। शकुन्तला का अतीव चतुरता से यह लक्षित करके प्रियंवदा को कहना—'**हला ! किमन्तःपुरविरहपर्युत्सुकस्य राजर्षेरुपरोधेन**'–अङ्क ३। सपत्नियों के प्रति नारीसुलभ उसकी ईर्ष्या का द्योतक है वहीं दूसरी ओर उसकी प्रेमसम्बन्धी एकाधार इच्छा का परिचायक है।

३. पतिव्रता पत्नी—पञ्चम अङ्क में पति से तिरस्कृत होकर वह पुरोहित के घर रहना पसन्द नहीं करती अपितु अपनी माता मेनका के साथ हेम-कूट पर्वत पर चली जाती है और वहीं पति-परित्यक्ता पतिव्रता सीता की भाँति अपनी विरहमय घड़ियाँ बिताती है—

'वसने परिधूसरे वसाना नियमक्षाममुखी धृतैकवेणिः ।
अतिनिष्करुणस्य शुद्धशीला मम दीर्घविरहव्रतं बिभर्ति ।।

नाटक के सातवें अङ्क में दुष्यन्त तथा शकुन्तला का मिलन होता है। दुष्यन्त शकुन्तला द्वारा अपने को पहचान लिए जाने पर ही सन्तुष्ट एवं आनन्दित हो जाता है—

'**प्रिये .... यदहमिदानीं त्वया प्रत्यभिज्ञातमात्मानं पश्यामि**" (सं० अं०)। वह उसके चरणों में अपराधी की भाँति गिर पड़ता है और अपनी क्रूरता के लिए पश्चात्ताप व्यक्त करता है। उस समय भी शकुन्तला सहिष्णु पतिव्रता नारी की भाँति दुष्यन्त के लिए किसी भी प्रकार के कठोर शब्द का प्रयोग नहीं करती है। केवल अपने भाग्य पर ही दोषारोपण करती हुई उसे उठाती है—

"**उत्तिष्ठत्वार्यपुत्रः । नूनं मे सुचरितप्रतिबन्धकं पुरा कृतं........... सानुक्रोशोऽप्यार्यपुत्रो मयि विरसः संवृत्तः**"।

शकुन्तला के चरणों में दुष्यन्त का प्रणिपात शकुन्तला के एकनिष्ठ पतिप्रेम की विजय है और अपार वियोग रूप दारुण-दुःख के सहने पर भी अपने पति दुष्यन्त के प्रति कटु शब्द न कहना उसके पतिव्रता स्वरूप का परिचायक है।

४. सुशीला एवं लज्जावती—तपोवन के आत्मीय एवं स्नेहमय वातावरण में पालित एवं पोषित होने के कारण शकुन्तला स्वभावतः सुशीला एवं लज्जावती है। यद्यपि तीनों सखियाँ समवयस्का हैं और तीनों का जीवनयापन एक साथ हो जाता है, परन्तु शकुन्तला के शील एवं लज्जा ये दो गुण ऐसे हैं जो उसके व्यक्तित्व को अन्य दो सखियों से पृथक् कर देते हैं। दुष्यन्त के प्रथम दर्शन में ही उसके हृदय में काम-विकार का प्रादुर्भाव हो जाता है। (**किन्नु खलु इमं जनं प्रेक्ष्य**) परन्तु वह लज्जावश उसे प्रकट नहीं करती। प्रथम अङ्क में जब राजा उसके दैवी स्वरूप की प्रशस्ति करता है तो वह लज्जा के कारण सिर झुका लेती है — '**शकुन्तलाऽधोमुखी तिष्ठति**"।

राजा के प्रति उसका उद्दाम प्रेम है पर वह उसका प्रकाशन शील सङ्कोचवश नहीं कर पाती। उसके इस गुण का वर्णन राजा स्वयं करता है—

"**वाचं न मिश्रयति यद्यपि मद्वचोभिः .... मयि भाषमाणे**"। तृतीय अङ्क में राजा के प्रति आसक्ति के कारण उसकी मनःस्थिति उद्विग्न हो जाती है परन्तु अपनी सखियों से भी वास्तविक स्थिति बतलाने में वह सङ्कुचित होती है—"**यतः प्रभृति मम दर्शनपथमागतः**"। यही नहीं जब एकान्त में उसका दुष्यन्त से मिलन होता है तब भी वह सहसा आत्मसमर्पण नहीं करती। उसे अपनी मर्यादा का ध्यान है, इसलिए वह राजा की आतुरता को देखकर शील की रक्षा करने के लिए कहती है और कामपीड़ित होने पर भी वह अपनी परवशता को प्रकट करती है—"**पौरव! रक्ष विनयं मदनसन्तप्ताऽपि न खल्वात्मनः प्रभवामि।**"

नाटक के अन्त में भी (सप्तम अङ्क) जब राजा उससे कहता है—शकुन्तले! पुत्र को संभालो मैं तुमको आगे करके भगवान् मारीच के दर्शन करना चाहता हूँ —

"**शकुन्तलेऽवलम्ब्यताम् पुत्रः । त्वां पुरस्कृत्य भगवन्तं द्रष्टुमिच्छामि**" तब वह उनके साथ गुरुजन के समीप जाने में होने वाली अपनी लज्जा का प्रकाशन इन शब्दों में करती है—"**जिह्रेम्यार्यपुत्रेण सह गुरुसमीपं गन्तुम्**"।

इस प्रकार हम देखते हैं कि दुष्यन्त के साथ प्रथम मिलन से लेकर अन्तिम मिलन तक शकुन्तला में लज्जा, शील, सङ्कोच एवं मर्यादा अक्षुण्ण रूप से बनी रहती है।

५. स्वाभिमानिनी—शकुन्तला के व्यक्तित्व में विनयशीलता के साथ स्वाभिमान का मणिकांचन योग है। उसका स्वाभिमान तब जागता है जब उसके सम्मान, आचरण एवं वंश आदि की गरिमा पर कोई चोट पहुँचाता हैं। ऐसा ही अवसर नाटक के पञ्चम अङ्क में उपस्थित होता है। राज-सभा में गौतमी, शार्ङ्गरव तथा शारद्वत की उपस्थिति में जब राजा '**किमिदमुपन्यस्तम्**' कह कर शकुन्तलाके साथ अपने विवाह के विषय में अपनी अनभिज्ञता सूचित करता है तो उसके हृदय को अपमान का पहला धक्का लगता है। परन्तु वह शार्ङ्गरव और राजा के वाग्युद्ध को तब तक चुपचाप धैर्य के साथ सुनती रहती है जब तक गौतमी उसके घूंघट को हटाकर उसे अपने विवाह को प्रमाणित करने का आदेश नहीं देती। गौतमी के आदेश से वह "आर्यपुत्र!" इस सम्बोधन को कहकर भी रुक जाती है और एक प्रकार से उस सम्बोधन को वापस लेकर वह 'पौरव' इस सम्बोधन से राजा को सम्बोधित कर कठोरता पूर्वक कहती है—"**पौरव! न युक्तं .... प्रत्याख्यातुम्**"।

आगे जब अन्य प्रमाणों से भी राजा सन्तुष्ट नहीं हो पाता और आक्षेप करता ही रहता है तब तक भी वह सहती रहती है पर ज्यों ही वह "**स्त्रीणामशिक्षितपटुत्वमद .....पोषयन्ति**" ॥५-२२॥ कह कर समस्त स्त्री-जाति को अपने दोषारोपण का निशाना बनाता है तब तो उसका स्वाभिमान वाचाल हो जाता है और वह रोषपूर्वक राजा को 'अनार्य' इस सम्बोधन से सम्बोधित करते हुए कती है—"**अनार्य! आत्मनो हृदयानुमानेन .... प्रतिपत्स्यते**"— पञ्चम अङ्क। आर्य-नारी सब कुछ सहन कर सकती है पर वह अपने प्रेम का अपमान तथा चरित्र का लांछन नहीं सह सकती। अन्त में पुरोहित के घर रहने का प्रस्ताव एवं शार्ङ्गरव की डाँट उसके स्वाभिमान को दोहरी ठेस पहुँचाते हैं। परिणाम-स्वरूप वह "**भगवति वसुन्धरे! देहि मे विवरम्**" कहकर माँ वसुन्धरा से शरण देने की याचना करती है।

६. कार्यकुशलता—शकुन्तला शिक्षिता तो है ही साथ ही वह काव्यरचना मे भी दक्ष है। वह अपनी सखियों के कहने पर प्रेम-पत्र के अनुरूप गीत की रचना करती है—-"**तव न जाने हृदयं......**" वह पशु-पक्षियों के लालन-पालन, वनस्पतियों की देख-भाल तथा अतिथि-सत्कार एवं गृह-कार्यों में निपुण है। आश्रम से बाहर जाते समय महर्षि कण्व उसके ऊपर अतिथि-सत्कार का भार छोड़ते हैं—'**इदानीमेव दुहितरं शकुन्तलामतिथिसत्काराय नियुज्य ... सोमतीर्थं गतः**" प्रथम अङ्क।

७. आदर्श पुत्री एवं सखी—पिता कण्व का शकुन्तला के प्रति अत्यन्त प्रगाढ वात्सल्य-भाव है। उनके अनुमति के बिना सम्पन्न शकुन्तला के गान्धर्व विवाह का उनके द्वारा किया गया समर्थन यह सिद्ध करता है कि वे पुत्री-स्नेह से कितने कातर हैं। यह

शकुन्तला जैसी धर्म-पुत्री के ही सामर्थ्य की बात है जो कण्व जैसे वनवासी वीतरागी को भी तनयाविश्लेषजनित दुःख से भावविह्वल बना देती है—"**यास्यत्यद्य शकुन्तलेति**"। अपने पितृवियोग से शकुन्तला अत्यन्त अधीर हो जाती है – "**कथमिदानीं तातस्याङ्कात्.....जीवितं धारयिष्यामि**" और उसे अपने पिता की चिन्ता विह्वल कर रही है।

उसमें एक आदर्श सखी के सभी गुण दिखलायी देते हैं। अनसूया एवं प्रियंवदा दोनों सखियो के साथ वह जिस प्रकार का सख्य भाव निभाती है वह अनुपम है। वह सुख-दुःख सङ्गिनी अपनी दोनों सखियों से अपने मनोगत भाव तक नहीं छिपा पाती। वह अपने साथ ही प्रियंवदा तथा अनसूया को भी पतिगृह ले जाना चाहती है—'**तात इत एवं ... निवर्तिष्येते**'' पर पिता कण्व उनकी कौमार्यावस्था को ध्यान में रखकर मना कर देते हैं—"**वत्से इमे अपि प्रदेये .... गन्तुम्**"।

८. निसर्ग कन्या—शकुन्तला का जन्म तथा लालन-पालन प्रकृति की गोद में होता है। परिणामस्वरूप वह प्रकृति के साथ इस प्रकार घुल-मिल जाती है कि उसके व्यक्तित्व एवं जीवन का आकलन प्रकृति से पृथक् करके नहीं किया जा सकता। नाटक में सर्वप्रथम उसके दर्शन प्रकृति की सेवा करते हुए ही होते हैं, जब वह अपनी प्रिय सखियों के साथ वृक्षों के सेचन में संलग्न है। तपोवन के वनस्पतियों के प्रति उसका सहोदर स्नेह है। वनस्पतियों की सेवा वह "आज्ञा गुरूणां ह्यविचारणीया' की दृष्टि से नहीं करती अपितु उनके प्रति भ्रातृतुल्य प्रेम होने के नाते करती है—'**न केवलं तातनियोग एव। अस्ति मे सोदरस्नेहोऽप्येतेषु**'—प्रथम अङ्क।

तपोवन के वृक्षों-लताओं के प्रति उसका भाई-बहन जैसा स्नेह है। पशु तथा पक्षियों को वह पुत्रवत् मानती है। वृक्षों को बिना सींचे वह जल नहीं पीती, प्रियमण्डना होने पर भी वृक्षों-लताओं से किसलयादि नहीं तोड़ती और उनमें पहले-पहल पुष्पादि के निकलने पर वह उत्सव मनाती है— "**पातुं न प्रथमं.... सर्वैरनुज्ञायताम्**', ४-९॥

मृगों की सेवा शुश्रूषा में वह सदा तत्पर रहती है। उनके मुख में कुशादि से बिंध जाने पर घावों को भरने वाली इंगुदी का तेल लगाती है। उन्हें श्यामाक की मुट्ठियाँ भर-भर कर खिलाती है। उन्हीं में से पुत्रवत् पालित मृग तो उसकी विदाई के समय विरहकातर होकर उसका मार्ग रोक देता है—"**यस्य त्वया व्रणविरोपणमिङ्गुदीनां .....पदवीं मृगस्ते**" ४/१४॥ मातृविहीन उस मृग को वह सान्त्वना देकर लौटाती है। कुटिया के पास सदा विचरण करने वाली गर्भमन्थरा मृगवधू के सुखप्रसव का समाचार भेजने के लिये पिता से कहती है—"**तात एषोटज पर्यन्त ....विसर्जयिष्यथ**"— चतुर्थ अङ्क। वृक्ष-लताओं के सेचन के समय केसर वृक्ष तो उसे पल्लव रूपी अंगुलियों के इङ्गित से अपनी ओर बुलाता सा प्रतीत होता है—"**वातेरित... केसरवृक्षकः**"— प्रथम अङ्क। विदा के समय वह वनज्योत्स्ना से उसकी शाखा-रूपी बाहों से लिपट कर उसी प्रकार गले मिलती है जिस प्रकार कन्यायें अपने पतिग्रह-गमन-बेला में अपनी माँ-बहनों से गले लगती हैं।

प्रकृति की सेवा शकुन्तला का दैनन्दिन का व्रत बन गया है। वृक्ष-लता, पशु-पक्षी सभी उसके अभिन्न अङ्ग हो गये हैं। उसने अपने ममतामय व्यवहार से सबको इतने सान्निध्य में ला दिया है कि सभी एक ही स्नेहमय तादात्म्य के धागे से बँध गये हैं। अत: यह कहना कठिन सा है कि 'प्रकृति शकुन्तला का अभिन्न अङ्ग है अथवा शकुन्तला प्रकृति का'। ऐसी दशा में प्रकृति की लाड़ली पुत्री को यदि आलोचकगण 'निसर्ग कन्या' की उपाधि से विभूषित करते हैं तो कौन सा एहसान करते हैं ? विदा के समय यदि वनस्पति शकुन्तला की सज्जा के लिए कौशेय तथा आभूषण आदि देते हैं यो यह उनका दायित्व है—**'क्षौमं केनचिदिन्दु ....प्रतिद्वन्द्विभि:'** ४/५। पतिगृह जाते समय अपनी बेटी को कौन बाप नहीं सजाना चाहता ? यदि मृगियों ने ग्रास चबाना छोड़ दिया है, मयूरों ने नाचना बन्द कर दिया है और लताओं ने पीले पत्तों के रूप में आँसू बहाना प्रारम्भ कर दिया है—**''उद्गलितदर्भकवला-लता:''**—४/१२॥ तो यह उनकी व्यथा की पुकार है। कौन ऐसा भाई और बहिन है जो अपनी सगी बहन की विदाई में व्यथित नहीं होता ? यह सब कुछ निसर्गकन्या शकुन्तला के निसर्ग के (प्रकृति) के प्रति उसके नैसर्गिक प्रेम का जादू है।

अनसूया और प्रियंवदा

अनसूया और प्रियंवदा दोनों शकुन्तला की प्रिय सखियाँ हैं और एक प्रकार से दोनों शकुन्तला के व्यक्तित्व की प्रतिच्छाया सी प्रतीत होती हैं। उन दोनों को पृथक् कर शकुन्तला के प्रारम्भिक स्वरूप का आकलन कठिन है। सखीद्वय की अवस्था एवं सौन्दर्य लगभग शकुन्तला के समान ही है। उन्हें देखते ही राजा दुष्यन्त के मुख से सहसा यह प्रशस्ति-वाक्य निकल ही पड़ता है—**''अहो मधुरमासां दर्शनम्''**—प्रथम अङ्क। यदि शकुन्तला दुष्यन्त की दृष्टि में आश्रमाकाश की चन्द्रलेखा है तो सखीद्वय तदनुगामी विशाखा नक्षत्र-**'किम चित्रं यदि विशाखे शशाङ्करेखामनुवर्तते''** —तृ० अङ्क। तीनों सखियों का परस्पर सौहार्द-भाव समान वय और रूप के कारण अत्यन्त रमणीय हो गया है—**''अहो समवयोरूपरमणीयं भवतीनां सौहार्दम्''**—प्रथम अङ्क।

प्रथम अङ्क से लेकर चतुर्थ अङ्क के विदाई-प्रसङ्ग तक शकुन्तला के साथ दोनों की अविनाभाव उपस्थिति नाटकीय कथावस्तु के विकास में सहायक होती है। साथ ही शकुन्तला के चरित्रगत वैशिष्ट्य को भी उद्भासित करती है। वस्तुत: ये दोनों स्त्री पात्र महाकवि कालिदास की नाट्य-प्रतिभा की देन है। दोनों के चरित्र में साम्य और वैषम्य दोनों है जिनका उल्लेख इस प्रकार है—

समतायें

१. दोनों शकुन्तला की समवयस्का हैं और सौन्दर्य में लगभग उसके समान ही हैं।

२. दोनों '**पापान्निवारयति योजयते हिताय**' मित्र के इस लक्षण के अनुसार सुख-दुःख दोनों में सदा उसके (शकुन्तला के) साथ रहती हैं और हृदय से शकुन्तला का अहर्निश हित-चिन्तन करती हैं तथा तत्सम्बन्धी गोपनीय बातों का गोपन करती हैं। जब उन्हें दुष्यन्त के प्रति शकुन्तला की प्रेमासक्ति का ज्ञान हो जाता है तब वे प्राण-प्रण से दोनों के मिलन हेतु सचेष्ट होती हैं। दुर्वासा के भीषण शाप को सुनकर दोनों का हृदय विदीर्ण हो जाता है।

३. दोनों का नाम अन्वर्थक है। अनसूया (न असूया अनसूया) यदि आत्मीय-जनों के प्रति ईर्ष्याद्वेषादि से रहित है, तो वहीं प्रियंवदा (प्रियं वदति) सदा प्रिय बोलने वाली है।

४. दोनों में शिष्टता, विनम्रता तथा मधुरभाषित्व है। सम्पर्क में आने पर कोई भी व्यक्ति उनके व्यवहार से अप्रभावित नहीं रह सकता। उनके प्रभाव से प्रभावित होकर राजा स्वयं कहता है—'**भवतीनां सूनृतयैवकृतमातिथ्यम्**' —प्रथम अङ्क। दोनों ही शाप-निवृत्ति के लिए यत्नशील होती हैं। दोनों के लिए शकुन्तला का संयोग जितना मधुर है, वियोग उतना ही दुःखदायी। (चतुर्थ अङ्क)

५. सामान्यतः दोनों को कामशास्त्र का ज्ञान है। शकुन्तला जब काम-ज्वर से ग्रस्त होती है तब कमल-नाल, कमल-पत्र और चन्दनादि के लेप से उसके उपचार में तल्लीन होती हैं (तृतीय अङ्क)। दोनों को लोकव्यवहार, चित्रकला, मनोदशा आदि की जानकारी है।

विषमतायें

१. अनसूया स्वभाव से वाग्विदग्ध, व्यवहार-कुशल एवं प्रौढ़ है। साधारणतः हास्यकर बातों में उसकी अभिरुचि नहीं हैं। उसके व्यवहार में एक प्रकार की प्रौढ़ता दृष्टिगोचर होती है। राजा जब तपोवन में उससे मिलता है तो उसके साथ बातचीत करने में वह स्वल्प भी सङ्कोच नहीं करती। एक प्रकार से परस्पर वार्तालाप का आरम्भ वही करती है—"**आर्य, न खलु किमप्यत्याहितम्। इयं नौ प्रियसखी मधुकरेणाभिभूयमाना कातरीभूता**" प्रथम अङ्क। अतीव शिष्ट ढंग से राजा का परिचय पूछती है—"**कतम आर्येण राजर्षिवंशोऽऽलङ्क्रियते? ..... पदमुपनीतः**"—प्रथम अङ्क। शकुन्तला के जन्म और लालन-पालन के वृत्तान्त की कथा राजा को अनसूया ही सुनाती है। उसका वाक्चातुर्य स्पष्ट है।

इसके विपरीत प्रियंवदा में अत्यधिक विनोदप्रियता एवं चपलता है। अपने विनोदप्रिय आलाप से वह पूरे वातावरण को सजीव एवं मनोरम बनाये रहती है। शकुन्तला जब अनसूया से प्रियंवदा द्वारा वल्कल को अधिक कसने का उलाहना देती है तो वह परिहासमय ढंग से उत्तर देती है—"इसमें मेरा अपराध नहीं है। अतः मुझे उलाहना न देकर पयोधर-विस्तारी अपने यौवन को उलाहना दो-"**अत्र पयोधरविस्तारयितृ आत्मनो यौवनमुपालभस्व**" —प्रथम अङ्क। इसी प्रकार जब शकुन्तला वनज्योत्स्ना तथा आम्रवृक्ष

की ओर स्नेहमयी दृष्ट से देखती है तो प्रियंवदा अपने स्वभावानुरूप उसका मजाक उड़ाती हुई कहती है—**"यथा वनज्योत्स्नाऽनुरूपेण पादपेन सङ्गता, अपि नामैवमहमप्यात्मनोऽनुरूपं वरं लभेयेति ?"**—प्रथम अङ्क।

शकुन्तला जब केसर के वृक्ष को सींचने हेतु उसके समीप पहुँचती है तो प्रियंवदा थोड़ी देर वहीं रुकने का आग्रह करती है—**"हला ! शकुन्तले... प्रतिभाति"**—प्रथम अङ्क। उसके इस प्रकार के आग्रह को सुनकर तथा उसके अभिप्राय को समझकर शकुन्तला अत्यन्त प्रसन्न हो जाती है और सहसा कह बैठती है—**"अतः खलु प्रियंवदाऽसि त्वम्"**—प्रथम अङ्क।

२. अनसूया में प्रियंवदा की अपेक्षा धैर्य तथा गाम्भीर्य अधिक है। दुर्वासा के शाप को सुनकर प्रियंवदा सहसा व्यग्र हो जाती है—**"हा धिक्, हा धिक्। अप्रियमेव संवृत्तम्।"** तब अनसूया धैयपूर्वक उसे दुर्वासा का अनुनय करने को कहती है—**"कोऽन्यो हुतवहाद् दग्धुं प्रभवति....... उपकल्पयामि"** —चतुर्थ अङ्क। प्रियंवदा कहीं चपलतावश इस दारुण शापवृत्तान्त को शकुन्तला से न बता दे वह प्रियंवदा को तदर्थ मना करती है—**"प्रियंवदे द्वयोरेव......प्रकृतिपेलवा प्रिय सखी"** —चतुर्थ अङ्क।

इसी प्रकार चतुर्थ अङ्क के आरम्भ में जब प्रियंवदा के मन में शंका उठती है कि पिता कण्व गान्धर्व विवाह के वृत्तान्त को सुनकर न जाने क्या सोचेंगे—**"तात इदानीं .... प्रतिपत्स्यत इति"**, तो अपनी विवेक-बुद्धि का परिचय देती हुई वह (अनसूया) उत्तर देती है—**"यथाऽहं पश्यामि तथा तस्यानुमतं भवेत् गुणवते कन्यका प्रतिपादनीयेत्ययं तावत् प्रथमः सङ्कल्पः।.... गुरुजनः"**।

३. अनसूया शंकालु है और किसी भी विषय का सम्यक् ऊहापोह करती है। चतुर्थ अंक में वह इसलिए चिन्तित हो रही है कि राजा अपने नगर में पहुँचने के बाद शकुन्तला के साथ किये गये अपने विवाह का स्मरण करेगा या नहीं—**"अद्य स राजर्षि......वृत्तान्तं स्मरति वा न वेति"**—चतुर्थ अङ्क।

इसके विपरीत प्रियंवदा अपेक्षाकृत निःशंक और निश्चिन्त स्वभाव वाली है। वह किसी विषय के पूर्वापर के विचार में अपना समय नष्ट नहीं करना चाहती। उसे अनसूया की आशंका का कोई आधार नहीं दिखता। उसे पूरा विश्वास है कि **"यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति"** के अनुसार सुन्दर आकृति की वाला दुष्यन्त गुणरहित नहीं हो सकता। **"न तादृशा आकृतिविशेषा गुणविरोधिनो भवन्ति"**। वह अपने वचनों का अवश्य पालन करेगा।

४. अनसूया को वर्तमान की अपेक्षा भविष्य की चिन्ता अधिक रहती है और उसमें व्यावहारिक बुद्धि भी अधिक है। वह अपनी सखी शकुन्तला के सुखद भविष्य को देखना चाहती है। तृतीय अङ्क में वह राजा से यह वचन (आश्वासन) लेना चाहती है कि **"वह अपनी अनेक रानियों के बीच उसकी उपेक्षा न करे"**–**"वयस्य, बहुवल्लभा राजानः**

श्रूयन्ते । यथा नौ प्रियसखी बन्धुजनशोचनीया न भवति तथा निर्वाहय''—तृ० अं और राजा द्वारा उसकी प्रियसखी को गौरवपूर्ण स्थान देने का यह आश्वासन –"**परिग्रहबहुत्वेऽपि द्वे प्रतिष्ठे.....चोर्वी सखी च युवयोरियम्**'' —तृ० अं०, मिल जाने पर आश्वस्त हो जाती है। शकुन्तला की विदाई के अवसर पर उसे सजाने के लिए वह पहले से ही आम्र की डाल पर लटकने वाले नारियल के डिब्बे में केसरमालिका को रख देती है।

'**तेन ह्येतस्मिंश्चूतशाखावलम्बिते.....केसरमालिका**'—च० अङ्क ।

इसके विपरीत प्रियंवदा "**वर्तमानेन कालेन वर्तयन्ति मनीषिणः** के अनुसार वर्तमान को अधिक देखती है। प्रथम अङ्क में जब दुष्यन्त का आगमन होता है और वह शकुन्तला के जन्मादि के विषय में अपनी जिज्ञासा प्रकट करता है तो तब सारा वृत्तान्त तो अनसूया बतलाती है परन्तु "**गुरोः पुनरस्या अनुरूपवरप्रदाने संकल्पः**'' कहकर प्रणय-प्रसंग को आगे ले चलने का संचालन प्रियंवदा ही करती है। तृतीय अङ्क में उसके मदनलेख के क्रियाकलाप भी इसी की पुष्टि करते हैं।

५. अनसूया प्रियंवदा की अपेक्षा अपने पिता के अधिक निकट है, क्योंकि तात कण्व विदाई के अवसर पर उसे ही अनेक बार सम्बोधित करते हैं। चतुर्थ अङ्क में जब अनसूया और प्रियंवदा शकुन्तला के लिये रोने लगती है तब वह (कण्व) अनसूया को सम्बोधित कर समझाते हैं— "**अनसूये अलं रुदित्वा .... शकुन्तला**''— च०अं०। इसी प्रकार से आश्रम को अपने वियोग से विह्वल बनाकर शकुन्तला के चले जाने पर जब दोनों सखियाँ अपना दुःख प्रकट करती हैं तब वह (कण्व) अनसूया से ही अपनी कातरता व्यक्त करते हैं और उन्हें आश्रम लौटने को कहते हैं—"**(सनिःश्वासम्) अनसूये! गतवती वां सहचारिणी .... प्रस्थितम्**'' —च०अं०। वह अपने पिता के स्वभाव तथा विचार को निकट से जानती है। इसीलिए चतुर्थ अङ्क में प्रियंवदा के इस भय—"**शकुन्तला के गान्धर्व विवाह का वे अनुमोदन करेंगे या नहीं**' का वह तुरन्त निवारण कर देती है (चतुर्थ अङ्क का प्रारम्भ)

६. अनसूया अपेक्षाकृत प्रणय-सम्बन्धी क्रियाकलाप से अनभिज्ञ है। प्रथम अङ्क में शकुन्तला जब एकाग्रचित्त होकर सहकार वृक्ष से सम्पृक्त वनज्योत्स्ना को देखती है और उनके परस्पर समागम की प्रशंसा करती है तो उसके हृदयगत रहस्य को प्रियंवदा समझती है—"**यथा वनज्योत्स्नाऽनुरूपेण पादपेन सङ्गता.....वरं लभेयेति**''— प्र० अं। परन्तु जब वह अनसूया से शकुन्तला के एकटक सहकार वृक्ष एवं वनज्योत्स्ना को देखने का कारण पूछती है तो वह रहस्य जानने में अपनी असमर्थता व्यक्त करती है—"**न खलु विभावयामि**''। इससे अनूसया की कामविषयक अनभिज्ञता ही सूचित होती है।

इसके विपरीत प्रियंवदा प्रणय-व्यापार के स्वरूप को अच्छी प्रकार जानती है और एक प्रकार से शकुन्तला के प्रणय-व्यापार में सूत्रधार का कार्य वही करती है। तृतीय अङ्क

में जब शकुन्तला अत्यन्त अस्वस्थ हो जाती है तब सबसे पहले प्रियंवदा ही उसके सन्ताप के मूल कारण (दुष्यन्त के प्रति प्रेम) को जान जाती है और अनसूया से उसके बारे में बतलाती है—"(जनान्तिकम्) अनसूये! तस्य राजर्षे......अयमातङ्को भवेत्"—तृ०अं। यही नहीं विरह-व्यथित दुष्यन्त की शारीरिक कृशता के कारण को भी वह समझ जाती है—**"ननु न राजर्षिरस्या.....प्रजागरकृशो लक्ष्यते"**—तृ० अं०।

तृतीय अङ्क में अनसूया द्वारा शकुन्तला के सन्ताप को दूर करने के लिए उपाय के बारे में पूछने पर मदन लेख (लव लेटर) लिखने का प्रस्ताव प्रियंवदा ही रखती है।**"हला! मदनलेखोऽस्य क्रियताम्"** और मदनलेख सम्बन्धी प्रस्ताव का क्रियान्वयन भी वही (प्रियवंदा) कराती हैं। मदनलेख को राजा के पास गुप्त रूप से कैसे पहुँचाया जाय? इस प्रश्न का समाधान भी वही (प्रियंवदा) करती है **'वह स्वयं फूलों में छिपा कर प्रेमपत्र को देवता के प्रसाद के बहाने राजा के पास पहुँचा देगी'—'तं सुमनोगोपितं कृत्वा देवप्रसादस्यापदेशेन तस्य हस्ते प्रापयिष्यामि'**— तृ० अं०। एक तापस-कन्या (प्रियंवदा) की प्रेमपत्रलेखनपटुता तथा उसको प्रेमी तक पहुँचाने के लिये अपनायी जाने वाली उक्त प्रक्रिया दोनों आश्चर्यकर हैं। प्रथम अङ्क में तापस-कन्याओं की नैसर्गिक माधुरी पर मुग्ध होने वाले दुष्यन्त को यदि कहीं प्रियंवदा की काम सम्बन्धी इस कमनीय कला का भी पता चल गया होता तो निःसन्देह वह **'मधुरमासां दर्शनम्'** कह कर न रुक जाता अपितु न जाने क्या-क्या सोचता और कहता।

शार्ङ्गरव तथा शारद्वत

समतायें—कुलपति कण्व के शिष्यों में शार्ङ्गरव तथा शारद्वत प्रमुख हैं। इन दोनों शिष्यों का नाटक में चित्रण स्वल्प मात्रा में ही हुआ है तथापि अनसूया और प्रियंवदा की भाँति उनमें भी व्यक्तिगत विशेषतायें स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती हैं। महाकवि कालिदास ने जिस प्रकार अनसूया और प्रियंवदा के चरित्र में तारतम्य रखा है उसी प्रकार शार्ङ्गरव और शारद्वत के व्यक्तित्व में भी। हमें शिष्यद्वय के दर्शन सर्वप्रथम नाटक के द्वितीय अङ्क में तब होते हैं जब दोनों (शिष्य) राजा दुष्यन्त को आश्रम का समीपवर्ती जान कर उससे यज्ञ की रक्षा हेतु प्रार्थना करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि महर्षि कण्व अपनी अनुपस्थिति में इन शिष्यों के ऊपर कार्य-भार छोड़ देते हैं। महर्षि कण्व शार्ङ्गरव तथा शारद्वत इन दोनों के नाम के आगे आदर सूचक "मिश्र" शब्द का प्रयोग करते हैं—"क्व ते शार्ङ्गरवमिश्राः" चतुर्थ अङ्क। इससे ज्ञात होता है कि वे दोनों परिपक्व आयु वाले तथा विद्या निष्णात हैं। गुरु का उनके ऊपर अटूट विश्वास है तभी तो महर्षि उनकी देखरेख में शकुन्तला को उसके पतिगृह भेजते हैं। राजा दुष्यन्त इन दोनों के गरिमामय व्यक्तित्व को देख कर उन्हें गुरुसमान कहता है—"गुरुशिष्ये गुरुसमे"—षष्ठ अङ्क। शास्त्र-ज्ञान के साथ ही साथ उनमें लौकिक ज्ञान भी विद्यमान है। शकुन्तला के प्रस्थान के समय जब महर्षि कण्व उसे विदा देने के लिए बहुत

दूर तक चले आते हैं तब मार्ग में सरोवर को देखकर शार्ङ्गरव कण्व से आश्रम में लौट जाने को कहता है—"**भगवन्, ओदकान्तं स्निग्धो जनोऽनुगन्तव्य इति श्रूयते। तदिदं सरस्तीरम्। अत्र सन्दिश्य प्रतिगन्तुमर्हति**" —चतुर्थ अङ्क। आश्रम में रहने के कारण दोनों के हृदय में संसार के प्रति अनास्था है। हस्तिनापुर नगर में प्रवेश करते समय एक ओर जहाँ शार्ङ्गरव जनाकीर्ण राजभवन को अग्नि की लपटों में घिरा हुआ समझ्ता है-"**जनाकीर्णं मन्ये हुतवहपरीतं गृहमिव**"—पञ्चम अङ्क, वहीं दूसरी ओर शारद्वत नगर के भोगासक्त लोगों को उसी प्रेकार समझता है जिस प्राकर स्नात व्यक्ति तैलसिक्त को, पवित्र व्यक्ति अपवित्र को, प्रबुद्ध व्यक्ति सोये हुए को और स्वच्छन्दचारी व्यक्ति बन्धन-मुक्त को समझता है—

अभ्यक्तमिव स्नातः शुचिरशुचिमिव प्रबुद्ध इव
र ा ु ट त ा म ा ् ।
बुद्धमिव स्वैरगतिर्जनमिह सुखसङ्गिनमवैमि ।।५/११ ।।

पर उक्त समानताओं के बावजूद दोनों के चरित्र में विषमतायें भी विद्यमान हैं, जिनके कारण दोनों का स्वरूप पृथक् हो जाता है—

विषमतायें—१. शार्ङ्गरव शारद्वत से अपेक्षाकृत अधिक वाक्पाटु एवं लौकिक व्यवहार का ज्ञाता हैं। चतुर्थ अङ्क में शकुन्तला की विदाई के अवसर पर महर्षि कण्व उसे "शार्ङ्गरवमिश्राः" कह कर पुकारते हैं, उसी के माध्यम से दुष्यन्त को सन्देश भी भिजवाते हैं तथा शकुन्तला को पतिगृह पहुँचाने का मुख्य भार भी उसी के ऊपर सौंपते हैं। इससे प्रतीत होता है कि वह अवस्था में शारद्वत से बड़ा है तथा कण्व का अधिक विश्वास-पात्र एवं स्नेह-भाजन है। उसकी वाक्पटुता प्रत्येक अवसर पर मुखरित होती रहती है। कण्व का सन्देश सुनने के बाद "**गृहीतः सन्देशः**" कह कर वह कर्तव्य पालन के प्रति अपनी जागरूकता प्रकट करता है।

इसके विपरीत शारद्वत मितभाषी है, अवसर उपस्थित होने पर वह तभी बोलता है जब उसका बोलना अपेक्षित हो जाता है। वह अपने से बड़ों के सामने बोलने से सङ्कोच करता है।

२. शार्ङ्गरव अत्यन्त निर्भय एवं स्पष्टवादी हैं। वह "**स्पष्टवक्ता न वञ्चकः**" के मर्म को अच्छी प्रकार जानता है। अतः स्पष्ट बोलने में इस बात का भी ध्यान नहीं रखता कि वह गुरुजनों के सामने बोल रहा है अथवा छोटे के। शकुन्तला की विदाई के अवसर पर जब विलम्ब होने लगता है तो शकुन्तला से शीघ्रता करने के लिए कहता है—"**युगान्तरमारूढः सविता त्वरतामत्रभवती**"-चतुर्थ अङ्क। उसे चाटुकारिता पसन्द नहीं है। राजसभा में जब उन दोनों से पुरोहित राजा की प्रशंसा करता है तब वह उसके प्रति अपनी उदासीनता स्पष्ट शब्दों में प्रकट कर देता है—"**भो महाब्राह्मण काममेतदभिनन्दनीयं तथापि वयमत्र मध्यस्थाः**"-पञ्चम अङ्क।

३. शाङ्गरव स्वभावतः क्रोधी, उद्धत तथा कठोर है और वह "**यथा नाम तथा गुणः**" की उक्ति को चरितार्थ करता है, क्योंकि शाङ्गरव का शाब्दिक अर्थ है "धनुष के समान शब्द करने वाला"। राजा दुष्यन्त जब शकुन्तला के साथ अपने वैवाहिक सम्बन्ध को अस्वीकार करता है तब शाङ्गरव राजा को डाँटता है तथा उसे शठ, अधार्मिक और ऐश्वर्योन्मत्त आदि कह कर फटकारता है—

कृताभिमर्शामनुमन्यमानः सुतां त्वया नाम मुनिर्विमान्यः।
मुष्टं प्रतिग्राहयता स्वमर्थं पात्रीकृतो दस्युरिवासि येन।।५/२०।।
आजन्मनः शाठ्यमशिक्षितो यस्तस्याप्रमाणं वचनं जनस्य।
परातिसन्धानमधीयते यैर्विद्येति ते सन्तु किलाप्तवाचः।।५/२५।।

दुष्यन्त के अपमानजनक व्यवहार से जब दुःखी होकर और मुख ढँककर शकुन्तला रोने लगती है तब वह उसे भी फटकार सुनाने से बाज नहीं आता—"**इत्थमात्मकृतमप्रतिहतं चापलं दहति**"—पञ्चम अङ्क।

अतः परीक्ष्य कर्तव्यं विशेषात् सङ्गतं रहः।
अज्ञातहृदयेष्वेवं वैरी भवति सौहृदम्।।५/२४।।

यही नहीं जब राजसभा में शकुन्तला को छोड़कर गौतमी सहित शिष्यद्वय प्रस्थान करने लगते हैं तब शकुन्तला उनके पीछे लौटने लगती है। ऐसे समय वह उसे कठोरता पूर्वक डाँटता है—"**किं पुरोभागे, स्वातन्त्र्यमवलम्बसे**" (अङ्क ५)। यहाँ इतना अवश्य है कि यदि शाङ्गरव डाँटकर शकुन्तला को वहाँ रोक न देता तो शकुन्तला उन सभी के साथ आश्रम को लौट जाती और ऐसी स्थिति में घटनाक्रम ही परिवर्तित हो जाता।

वस्तुतः शार्ङ्गरव के स्वभाव में "**अदूरकोपा हि मुनिजनप्रकृतिः**"। इस उक्ति का भाव भरा है। एक ओर उसे ऋषि होने का अभिमान है तो दूसरी ओर उसके ऊपर ब्रह्मतेज हावी हो जाता है और ऐसे समय में वह यह भी भूल जाता है कि उसे किस कार्य के सम्पादन का दायित्व निभाना है।

इसके विपरीत शारद्वत ऐसे अवसर पर अपनी बात को धैर्य के साथ कहता है। वह वाद-विवाद में नहीं पड़ना चाहता। उसे शार्ङ्गरव का राजा के साथ वाक्युद्ध अच्छा नहीं लगता। वह शार्ङ्गरव को बीच में ही रोक देता है और शकुन्तला को ही उत्तर देने को कहता है—(पञ्चम अङ्क) "**शार्ङ्गरव, विरम त्वमिदानीम्। शकुन्तले वक्तव्यमुक्तस्माभिः। सोऽयमत्रभवानेवमाह। दीयतामस्मै प्रत्ययप्रतिवचनम्।**" और शार्ङ्गरव और राजा के मध्य पुनः वाक् युद्ध छिड़ने पर वह पुनः शार्ङ्गरव को रोककर उससे कहता है कि 'हमने गुरु के सन्देश को राजा तक पहुँचा दिया और हम लोग लौट चलें—"**शार्ङ्गरव, किमुत्तेरण। अनुष्ठितो गुरोः सन्देशः प्रतिनिवर्तामहे वयम्**' (पञ्चम अङ्क)। पुनः राजा से यह कह कर

सबके साथ प्रस्थान करता है कि 'यह (शकुन्तला) आप की प्रेयसी है। इसको आप छोड़ें अथवा ग्रहण करें, क्योंकि पत्नी पर पति की सब प्रकार की प्रभुता मानी गयी है—

तदेषा भवतः कान्ता त्यज वैनां गृहाण वा।
उपपन्ना हि दारेषु प्रभुता सर्वतोमुखी।।५/२६।।

इस प्रकार शार्ङ्गरव एवं शारद्वत की नाटक में "**सह वा प्रवृत्तिः सह वा निवृत्तिः**" होने पर भी दोनों में चरित्रगत वैशिष्ट्य की विभिन्नता स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है।

विदूषक

संस्कृत-नाटकों में विदूषक भी एक महत्त्वपूर्ण पात्र होता है। साहित्य-दर्पणकार आचार्य विश्वनाथ के अनुसार विदूषक-स्वामिभक्त, मनोविनोद में निपुण, कुपित नायिकाओं के मान का भञ्जक एवं सच्चरित्र होता है। उसका नाम कुसुम, वसन्त आदि से सम्बद्ध रहता है और वह अपने अटपटे कार्यों, विकृत अंगों तथा वेषादि के द्वारा हास्य का वातावरण प्रस्तुत करता है। वह नायक का विश्वासपात्र होता है तथा उसके प्रणय सम्बन्धी क्रिया-कलापों में सहायता पहुँचाता है। कालिदास के सभी नाटकों में मुख्य रूप से मनोविनोद का दायित्व विदूषक का ही है। अभिज्ञानशाकुन्तल में विदूषक का नाम माढव्य है। सर्वप्रथम उसके दर्शन द्वितीय अङ्क में होते हैं। वह अपने प्रथम दर्शन में ही नाट्य-दर्शकों (अथवा पाठकों) को अपनी अकर्मण्यता एवं भोजनभट्टता का परिचय देता है—"**एतस्य...रात्रावपि निकामं शयितव्यं नास्ति**"। द्वितीय अङ्क।

भोजनपटु—(माढव्य) विदूषक इतना पेटू एवं भोजनप्रिय है कि उसे प्रायःबुभुक्षा दबोचे रहती है। उसकी आराध्य देवी बुभुक्षा की तो यह विशेषता है कि वह अवसर का भी ध्यान नहीं रखती। षष्ठ अङ्क में शकुन्तला के वियोग में अत्यन्त व्यथित होकर राजा जब अपनी अँगूठी को उपालम्भ देते हैं तो उस गम्भीर अवसर पर भी उसे बुभुक्षा प्रताडित करती है—"**कथं बुभुक्षया खादितव्योऽस्मि**" (षष्ठ अङ्क)। राजा दुष्यन्त जब उससे शकुन्तला के प्रणय-व्यापार में अपनी सहायता करने के लिए कहता है—"**विश्रान्तेन भवता ममाप्येकस्मिन्ननायासे कर्मणि सहायेन भवितव्यम्**" (द्वितीय अङ्क) तब भी वह "**किं मोदकखण्डिकायाम्**" (द्वितीय अङ्क) कहकर अपनी पेट-पूजा-पटुता का ही प्रकाशन करता है।

भीरु एवं अकर्मण्य—वह स्वभाव से अत्यन्त भीरु एवं डरपोक है। शकुन्तला के दर्शन हेतु वह भी समुत्सुक था, पर जब वह राक्षसों का वृत्तान्त सुनता है, तब डर जाता है और उसकी शकुन्तला-दर्शन की निर्बाध इच्छा सबाध हो जाती है—"**प्रथमम् परिबाधमासीत् साम्प्रतं राक्षसवृत्तान्तेन सपरिबाधम्**" (द्वितीय अङ्क)।

राजा के मृगया व्यसन के कारण उसकी कामचोरी को विश्राम का स्वल्प भी अवसर नहीं मिलता। अतः वह किसी न किसी प्रकार का बहाना बनाकर विश्राम की ताक

में पड़ा रहता है। काम से बचने के लिए वह अङ्ग-भङ्ग के द्वारा अपनी विकलता का परिचय देने की बात सोच लेता है—"**अङ्ग-भङ्गविकल इव भूत्वा स्थास्यामि। यद्येवमपि नाम विश्रामं लभेय**" (द्वितीय अङ्क)।

हास्यकारी—विदूषक अपने प्रत्येक क्रिया-कलाप एवं भाव-भङ्गिमा से हास्य के वातावरण की सृष्टि करता है। जब राजा दुष्यन्त के सामने एक ही साथ ऋषियों की यज्ञ-रक्षा तथा माता की आज्ञा से राजधानी जाने के दो कार्य उपस्थित हो जाते हैं और वह एक प्रकार से धर्म-सङ्कट में पड़ जाता है तब वह (विदूषक) कहता है—"**त्रिशङ्कुरिवान्तरा तिष्ठ।**" (द्वितीय अङ्क)। राजा के मुख से जब वह भोली-भाली तापसकन्या के प्रति उसकी (राजा की) प्रणय-कथा को सुनता है तो बड़े हास्यपूर्ण ढंग से कहता है—"**यथा कस्यापि पिण्डखर्जूरैरुद्वेजितस्य तिन्तिण्यामभिलाषो भवेत् तथा स्त्रीरत्नपरिभोगिणो भवत इयमभ्यर्थना**" (द्वितीय अङ्क)। इसी प्रकार राजा के मुख से शकुन्तला के सौन्दर्यातिशय के विषय में जान लेने पर उसका—"**तेन हि लघु परित्रायतामेनां भवान्। मा कस्यापि तपस्विन इङ्गुदीतैलचिक्कणशीर्षस्य हस्ते पतिष्यति**" (द्वितीय अङ्क)। यह कथन भी सहृदय समाज को हास्य की सरिता में सराबोर कर देता है। यह शब्दगत विनोद करने में भी निपुण है। राजा के प्रति उसकी "**कृतं त्वयोपवनं तपोवनमिति पश्यामि**" (द्वितीय अङ्क) यह उक्ति कितनी विनोदपूर्ण है। विदूषक की हास्यभरी टिप्पणियाँ खिन्न व्यक्ति को भी हँसने के लिए बाध्य कर देती हैं।

मन्दबुद्धिता तथा वाचालता—विदूषक यत्र तत्र अपनी मन्दबुद्धिता का भी परिचय देता है। षष्ठ अङ्क में राजा के द्वारा आम्रमञ्जरी को मदन बाण कहने पर वह काष्ठ-दण्ड लेकर मारने को दौड़ता है। उसकी मूर्खता पर खिन्न राजा भी हँस पड़ता है। सानुमती की दृष्टि में भी वह मन्दबुद्धि है—"**अनभिज्ञः खल्वीदृशस्य रूपस्य माघदृष्टिरयं जनः**" (षष्ठ अङ्क)।

द्वितीय अङ्क की समाप्ति पर जब राजा उसे अपने प्रतिनिधि के रूप में अपनी माता के पास भेजता है तब राजा को भय हो जाता है कि कहीं वह उसकी प्रणयकथा को अन्तःपुर की रानियों से न कह दे। इसलिये राजा अपनी प्रणय-कहानी को हँसी में कहीं हुई बात कह कर उसे सत्य न मानने का आग्रह करता है—"**परिहासविजल्पितं सखे न परमार्थेन गृह्यतां वचः**" (द्वितीय अङ्क)। विदूषक बुद्धिहीनता के कारण राजा की बात को सही मान लेता है—"**मृत्पिण्डबुद्धिना तथैव गृहीतम्।**"

वाचाल मित्र—विदूषक को मन्दबुद्धि कहने का यह अभिप्राय कदापि नहीं कि उसकी पात्रता अनुपयोगी है। वह राजा का अभिन्न वाचाल मित्र है। राजा अपनी गोपनीय बातें भी उससे बतलाता है और अवसरानुकूल उससे सहायता लेता है। पञ्चम अङ्क में हंसपदिका को सान्त्वना देने के लिये वह विदूषक को ही भेजता है—

"गच्छ। नागरिकवत्या सञ्ज्ञापयैनाम्"। द्वितीय अङ्क में अपनी माता से पास उसे ही प्रतिनिधि बनाकर भेजता है।

षष्ठ अङ्क में शोक-निमग्न राजा जब शकुन्तला के चित्र से अङ्कित भौंरे को वास्तविक भौंरा समझ लेता है, तब विदूषक ही उसे भ्रमर के चित्रगत होने का स्मरण दिलाता है—**"भोः चित्रं खल्वेतत्।"** इस प्रकार से विदूषक **"पापान्निवारयति योजयते हिताय"** सन्मित्र के इस लक्षण के अनुसार वस्तुतः मित्र की सही भूमिका निभाता है। अपने आत्मीय मित्रों से बतला देने पर असह्य दुःख भी सह्य हो जाते हैं—**"स्निग्धजनसंविभक्तं हि दुःखं सह्यवेदनं भवति"** के अनुसार शकुन्तला की वियोगावस्था में राजा की व्यथा को कम करने का कार्य उसका मित्र विदूषक ही करता है।

वस्तुतः कालिदास का विदूषक हास्यकारी (हास्यकृच्च विदूषकः) ही नहीं है अपितु वह मनोरञ्जन के अतिरिक्त अन्य भूमिकाओं का भी निर्वाह अच्छी प्रकार करता है। वह "संपत्तौ च विपत्तौ च यः तिष्ठति स बान्धवः" के अनुसार राजा का स्नेही बन्धु है, जो सुख दुःख दोनों में छाया की भाँति उपस्थित रहता है। उसका मनोविनोद करता है और उचित परामर्श देता है। कालिदास की अनुपम नाट्यकला तो द्वितीय अङ्क में विदूषक को राजधानी भेजकर दुष्यन्त के शकुन्तला विषयक अनुराग को आगे बढ़ने का अवसर देती है तथा छठे अङ्क में मातलि के द्वारा विदूषक के ऊपर आक्रमण कराकर राजा में प्रेमभाव के स्थान पर वीरभाव का उद्बोध कराती है जिससे वह देवासुर संग्राम में देवराज इन्द्र की सहायता करने को उद्यत होता हैं। उक्त कार्यों से कथा-सूत्र में एक गतिशीलता आ जाती हैं।

महर्षि कण्व

अभिज्ञान-शाकुन्तल में में जिन तीन ऋषियों का चित्रण हुआ है वे हैं कण्व, दुर्वासा तथा मारीच। इन तीनों का अपना पृथक् व्यक्तित्व है। पर उसमें महर्षि कण्व की भूमिका सर्वाधिक महनीय है। यद्यपि महर्षि कण्व की उपस्थिति केवल चतुर्थ अङ्क में ही दृष्टिगोचर होती है पर प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय अङ्क में तापसकुमारों तथा ऋषि-कन्याओं तथा सप्तम अङ्क में मारीच आदि के द्वारा उनके विषय में कही गयी बातों से उनके व्यक्तित्व का आकलन हो जाता है।

१. कुलपति—महर्षि कण्व आश्रम के कुलपति हैं। कुलपति वह होता है जो दस सहस्र मुनियों का अन्नदानादि से पोषण करते हुए अध्यापन करता है—

मुनीनां दशसाहस्रं योऽन्नदानादिपोषणात्।
अध्यापयति विप्रर्षिरसौ कुलपतिः स्मृतः॥

उनके आश्रम (गुरुकुल) में अनेक शिष्य-शिष्यायें विद्याध्ययन में लीन हैं।

२. त्रिकालज्ञ नैष्ठिक ब्रह्मचारी—कश्यप गोत्र में उत्पन्न होने के कारण उनका दूसरा नाम काश्यप है। वे नैष्ठिक ब्रह्मचारी हैं—"**भगवान् काश्यपः शाश्वते ब्रह्मणि स्थितः-इति**"। अपनी अलौकिक तपस्या के प्रभाव से वे भूत, वर्तमान तथा भविष्य तीनों का ज्ञान कर लेते हैं। तपःपूत मारीच भी उनके तपःप्रभाव के प्रशंसक हैं—"**तपःप्रभावात् प्रत्यक्षं सर्वमेव तत्र भवतः।**" शकुन्तला की भावी विपत्ति का आभास उन्हें पहले ही हो गया था। इसीलिये वह उसके शमन हेतु सोमतीर्थ चले जाते हैं—"**दैवं प्रतिकूलं शमयितुं सोमतीर्थं गतः**" (प्रथम अङ्क), वहाँ से लौटने पर शकुन्तला के गान्धर्व विवाह का वृत्तान्त भी उन्हें अशरीरिणी छन्दोमयी वाणी (दुष्यन्तेनाहितं तेजो.....४/४।) द्वारा ज्ञात हो जाता है।

३. आध्यात्मिक प्रभावशाली—आश्रम का वातावरण महर्षि कण्व की तपस्या के प्रभाव से सुतरां प्रभावित हैं। मनुष्यों की तो बात ही क्या, राक्षस भी उनके भय से यज्ञादि कर्मों में विघ्न नहीं पहुँचाते। उनकी अनुपस्थिति में ही वे विघ्न डालने का साहस करते हैं। उनके तपःप्रभाव का आकलन इसी से किया जा सकता है कि शकुन्तला की विदाई के समय तपोवन के वृक्ष भी माङ्गलिक रेशमी वस्त्र तथा आभूषण आदि प्रदान कर अपने को कृतार्थ समझते हैं—"**क्षौमं केनचिदिन्दुपाण्डुतरुणा माङ्गल्यमाविष्कृतं।**" ४/६॥ जब प्रियंवदा इस बात से चिन्तित होती है कि उसकी सखी शकुन्तला के रूप के अनुरूप आश्रम-सुलभ अलङ्कार नहीं हैं, तभी दो ऋषिकुमार अलङ्कार आदि लेकर उपस्थित होते हैं। सभी सखियाँ उन्हें देखकर आश्चर्यचकित हो जाती हैं। गौतमी के कहने पर नारद नामक ऋषिकुमार कहता कि यह सब तात काश्यप के प्रभाव से ही सम्भव हो सका है—"**तातकाश्यपप्रभावात्**" (चतुर्थ अङ्क)। इस प्रकार महर्षि कण्व के व्यक्तित्व में तपस्याजनित अतिमानवीय तत्त्व की उपस्थिति सभी को आश्चर्यचकित कर देती है।

४. लोकाचारज्ञता—कण्व के व्यक्तित्व का दूसरा पक्ष विशेष रूप से विचारणीय एवं अभिनन्दनीय है। उनका सारा जीवन आश्रम में ही व्यतीत होता है पर उन्हें लौकिक व्यवहार एवं आचार का अनुभवपूर्ण ज्ञान है। उनके शास्त्रीय ज्ञान की परिणति क्रिया (व्यवहार) में हुई है। वे स्वयं अपने को लोकाचार का ज्ञाता बलताते हैं—"**वनौकसोऽपि सन्तो लौकिकज्ञा वयम्**" (चतुर्थं अङ्क)। चतुर्थ अङ्क में अपनी धर्मपुत्री शकुन्तला को दिया गया उनका उपदेश परिणय-सूत्र में बँधने वाली कुल-वधुओं के लिये सर्वथा ग्राह्य एवं हितकर है—**शुश्रूषस्व गुरून् कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने.....कुलस्याधयः** ॥४/१८।

शार्ङ्गरव के माध्यम से दुष्यन्त के लिये वह सन्देश देते हैं कि उसमें भी उनके लौकिक ज्ञान की सूझ-बूझ पदे-पदे परिलक्षित होती हैं—**अस्मान् साधु विचिन्त्य....वाच्यं बधूबन्धुभिः** ॥४/१७॥

उनकी अनुपस्थिति में गान्धर्व विवाह के वृत्तान्त से सबसे अधिक भय अनसूया और प्रियंवदा को इसलिये था कि पिता कण्व उस वृत्तान्त को सुनकर न जाने क्या कहेंगे—

"**तात इदानीमिमं वृत्तान्तं श्रुत्वा न जाने किं प्रतिपत्स्यत इति**" चतुर्थोऽङ्कः। पर ज्यों ही उन्हें अशरीरिणी छन्दोमयी वाणी से उक्त वृत्तान्त का ज्ञान हो जाता है त्यों ही वे शकुन्तला के पास जाकर अपना आशीर्वचन देते हैं और विवाह का अनुमोदन कर देते हैं—"तावदेनां लज्जावनतमुखीं परिष्वज्य तातकाश्यपेनैवमभिनन्दितम्। दिष्ट्या धूमाकुलितदृष्टेरपि यजमानस्य पावक एवाहुतिः पतिता॥"—चतुर्थोऽङ्कः। एक अप्सरा मेनका और महर्षि विश्वामित्र के संयोग से उत्पन्न अपनी धर्मपुत्री के लिये वह दुष्यन्त से अधिक योग्य वर क्या पा सकते थे? अतः अपनी पुत्री से उनका यह कथन—"**सुशिष्यपरिदत्ता विद्येवाशोचनीयासि संवृत्ता**"—अङ्क ४; उनके व्यावहारिक ज्ञान में चार चाँद लगा देता है। शकुन्तला द्वारा की गयी भूल को दृष्टिगत कर वह उसके चाहने पर भी युवती अनसूया एवं प्रियंवदा को उसके साथ नहीं भेजते—"**वत्से, इमे अपि प्रदेये। न युक्तमनयोस्तत्र गन्तुम्**"-चतुर्थोऽङ्कः।

५. वात्सल्यपूर्ण आदर्श पिता—कण्व यद्यपि नैष्ठिक ब्रह्मचारी हैं परन्तु वे एक आदर्श पिता की भूमिका का निर्वाह उसी निष्ठा से करते हैं जिस निष्ठा से गृहस्थ पिता। अनसूया, प्रियंवदा एवं शकुन्तला तीनों उन्हें पिता कह कर पुकारती हैं। वे वीतरागी तपस्वी हैं और लौकिक व्यवहारों के बन्धन से उनके तपोऽनुष्ठान में बाधा पड़ती है—"**वत्से, उपरुध्यते तपोऽनुष्ठानम्**"—चतुर्थोऽङ्कः। परन्तु लौकिक स्नेह-बन्धन से वे अपने को मुक्त नहीं कर पाते। शकुन्तला उनकी धर्मपुत्री है पर उसके प्रति उनका पुत्री का सा स्नेह है। वह उनके लिये प्राणों से भी प्रिय है—'**इमं जीवितसर्वस्वेनापि....**' प्रथम अङ्क (सखियों की उक्ति)।

शकुन्तला की विदाई के समय पुत्री-वियोग से व्यथित उनकी मनोव्यथा किसको व्यथित नहीं कर देती?—

"**यास्यत्यद्य शकुन्तलेति.....विश्लेषदुःखैर्नवैः** ॥४/६॥

तपश्चर्या-पीड़ित अपने वियोग-विधुर पिता की करुणामयी दशा को देखकर शकुन्तला से भी नहीं रहा जाता और जब वह उन्हें अपने लिये शोक न करने के लिये कहती है—"**(भूयः पितरमाश्लिष्य) तपश्चरणपीडितं तातशरीरम्। तन्माऽतिमात्रं मम कृत उत्कण्ठस्व**"—चतुर्थं अङ्क। तब तो उनकी वेदना और भी वाचाल हो जाती है और लम्बी साँस लेकर वे कहते हैं कि 'बेटी, तेरे द्वारा पहले पूजा के रूप में डाले गये और अब कुटी के द्वार पर उगे हुए नीवार के उपहार को देखकर मेरा शोक भला कैसे शान्त हो सकेगा?—

शममेष्यति मम शोकः कथं नु वत्से त्वया रचितपूर्वम्।
उटजद्वारविरूढं नीवारबलिं विलोकयतः॥४/२१॥

तनया-वियोग से व्यथित पिता की यह कातरता धीरता को भी अधीर बना देती है। शकुन्तला को विदा देकर लौटते समय अनसूया और प्रियंवदा से "**गतवती वां सहचारिणी**"—(चतुर्थं अङ्क) इस कथन द्वारा वे अपनी आन्तरिक व्यथा को ही प्रकट करते हैं।

महर्षि स्नेहकातर होते हुए एक पिता के कर्तव्य एवं दायित्व को अच्छी प्रकार समझते हैं। "कन्यापितृत्वं खलु नाम कष्टम्" इस उक्ति के अनुसार वे कन्या को परकीय धन मानते हैं और परायी थाती को वास्तविक स्वामी के हाथों में सौंप कर निश्चिन्तता का अनुभव करते हैं—

अर्थो हि कन्या परकीय एव तामद्य सम्प्रेष्य परिग्रहीतुः ।
जातो ममायं विशदः प्रकामं प्रत्यर्पितन्यास इवान्तरात्मा ।।४/२२ ।।

इस प्रकार शाकुन्तल में एक ओर जहाँ वीतरागी महर्षि कण्व का तपःपूत एवं निर्विकार स्वरूप अंकित है, वहीं दूसरी ओर उनका लौकिक-व्यवहार ज्ञान-समन्वित आदर्श एवं स्नेहमय पिता का रूप चित्रित है।

गौतमी

नारी पात्रों में कण्व ऋषि की धर्म-भगिनी होने के नाते गौतमी का महत्त्वपूर्ण स्थान है। कण्व के आश्रम में वह सर्वाधिक वृद्धा तपस्विनी है। तपस्विनी होने पर भी उसमें नारी-सुलभ कोमलता है और उसका स्वभाव निश्छल एवं निष्कपट है।

१. सम्मानित महिला—महर्षि कण्व का गौतमी के प्रति सम्मानभाव है, इसीलिये वह उसे शकुन्तला के साथ हस्तिनापुर भी भेजते हैं। उसमें अवस्था के अनुरूप गाम्भीर्य, सहिष्णुता एवं विवेक है। राजसभा में जब दुष्यन्त शकुन्तला के साथ अपने सम्बन्ध को अस्वीकार कर देता है तब वह निर्विकार भाव से शकुन्तला की निर्दोषता को प्रमाणित करने का प्रयास करती है—"**महाभाग नार्हस्येवं मन्त्रयितुम्**' प० अङ्क। शकुन्तला का घूँघट हटाकर उसे स्वयं अपने सम्बन्ध को प्रमाणित करने का आदेश देती है। अनुभवपूर्ण गुरुजन की भाँति गुरुजनों तथा बन्धु-बान्धवों से पूछे बिना दोनों के प्रेम-सम्बन्ध को वह अनुचित मानती है।

२. वात्सल्यमयी—उसके हृदय में वात्सल्य का भाव ओत-प्रोत है। वह सब कुछ होने पर भी शार्ङ्गरव की भाँति शकुन्तला के प्रति क्रुद्ध नहीं होती। जब क्रुद्ध होकर शार्ङ्गरव और शारद्वत शकुन्तला को छोड़कर चल देते हैं और अपने प्रिय के द्वारा अपमानित होने पर शकुन्तला पीछे-पीछे चलने लगती है तो उस समय वात्सल्यभाव से अभिभूत होकर गौतमी के मुख से निकली यह उक्ति उसके हृदय की वात्सल्यमयी ममता की द्योतक है—"**वत्स शार्ङ्गरव अनुगच्छतीयं खलु नः करुणपरिदेविनी शकुन्तला। प्रत्यादेशपरुषे भर्तरि किं वा मे पुत्रिका करोतु।**' पं० अंक।

३. अभिभाविका—कण्व के आश्रम में गौतमी अभिभावक की महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। ऐसा प्रतीत होता है कि तापस कन्याओं की देखरेख का उत्तरदायित्व उसी का है।

प्रथम अङ्क में जब प्रियंवदा शकुन्तला से अत्यधिक परिहास करती है तो वह तंग आकर गौतमी से शिकायत करने की बात करती है—'**इयमसम्बद्धप्रलापिनी...गौतम्यै निवेदयिष्यामि ।**'

शकुन्तला की अस्वस्थता का समाचार सुनकर वह शकुन्तला के लिए शान्ति-जल लाकर उसके ऊपर छिड़कती है और उसके पास पहुँचकर वात्सल्यभाव से पूछती है—'**जाते लघुसन्तापानि तेऽङ्गानि ।**'

४. व्यवहारकुशला—विदाई के समय जब बार-बार शकुन्तला अपने धर्म-पिता से कुछ न कुछ कहती ही रहती है जिससे यात्रा में विलम्ब होता है तो उक्त अवसर पर गौतमी की यह उक्ति उसके हृदय की परिपक्वता, प्रौढ़ता एवं अनुभवपूर्णता की सूचक है—'**परिहीयते गमनवेला निवर्ततां भवान् ।**'

लोक-रीति के कारण पुत्री-वियोग के समय मातृ-पक्ष को न चाहते हुए भी इस प्रकार हृदय को कड़ा करना पड़ता है।

यों गौतमी के चरित्र के विकास के लिए नाटक में पूर्ण अवसर नहीं है। फिर भी उसकी जो भूमिका है उसके आधार पर वह एक ऐसी तपःपूत आदर्श भारतीय महिला के रूप में हमारे सामने उपस्थित होती है जिसमें हृदय की स्वच्छता, सरलता, निश्छलता एवं विवेकशीलता विद्यमान है।

महर्षि मारीच

१. आश्रयदाता—महर्षि मारीच का दूसरा नाम कश्यप है। महर्षि कश्यप बारह आदित्यों, वामनावतारधारी विष्णु और इन्द्र के पिता हैं। महर्षि कश्यप का अमित प्रभाव है। उनके आश्रम में तिरस्कृत और अनाथों को भी आश्रय मिलता है। पति द्वारा तिरस्कृत होने पर शकुन्तला को पुरोहित के घर से मेनका उन्हीं के आश्रम पर ले जाती हैं। वहीं भरत का जन्म होता है और उसका जात-कर्मादि संस्कार किया जाता है।

२. वीतरागी—तपस्या-निरत वीतरागी महर्षि मारीच को सांसारिक भोगादि के प्रति कोई स्पृहा नहीं है। वे उस दिव्य लोक के निवासी है जहाँ स्वर्ग-सुलभ साधनों के विद्यमान रहते हुए भी ऋषि-गण उसकी उपेक्षा कर तपस्या में तल्लीन रहते हैं, सभी कामनाओं के पूरक कल्पवृक्ष की स्थिति में भी वे (ऋषि जन) वायु-भक्षण करते हैं तथा अप्सराओं के सामीप्य में भी निर्विकार भाव से नियम एवं व्रत का पालन करते हुए जीवन-यापन करते हैं।

३. अमित प्रभावशाली—उनकी तपस्या का इतना अधिक प्रभाव है कि जिस व्यक्ति पर भविष्य में उनकी कृपा होने वाली होती है उसे अभीष्ट फलकी प्राप्ति पहले ही हो जाती है—

उदेति पूर्वं कुसुमं ततः फलं घनोदयः प्राक् तदनन्तरं पयः ।
निमित्तनैमित्तिकयोरयं क्रमस्तव प्रसादान् पुरतस्तु सम्पदः ।।७/३०।।

राक्षसों के विनाश के बाद आने पर राजा दुष्यन्त का मारीच के आश्रम में ही अपने पुत्र भरत और पत्नी शकुन्तला से सुखद मिलन होता है। महर्षि कश्यप तीनों को अपने आशीर्वाद से कृतार्थ करते हैं। इस प्रकार नाटक का सुखद अवसान होता है। यद्यपि इस नाटक में महर्षि मारीच की उपस्थिति स्वल्पकालिक ही है तथापि वह बहुत महत्त्वपूर्ण इसीलिए है कि उसके द्वारा नाटक का उद्देश्य (दुष्यन्त और शकुन्तला का मिलन) पूर्ण हो जाता है।

उक्त पात्रों के अतिरिक्त शाकुन्तल में अन्य अनेक पात्रों की स्थिति है पर उनकी कोई महत्त्वपूर्ण भूमिका न होने के कारण उनका चरित्र-चित्रण उपयोगी नहीं है।

शाकुन्तल में चित्रित तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक एवं राजनैतिक स्थिति

साहित्य समाज का दर्पण होता है। इसका अभिप्राय यही है कि जिस काल में जिस साहित्य का निर्माण होता है उस साहित्य में तत्कालीन समाज आदि की स्थिति भी (कवि के द्वारा) अनायास चित्रित हो जाती है। अतः शाकुन्तल में भी तत्कालीन समाज आदि का चित्रण स्वाभाविक है।

१. सामाजिक स्थिति—(क) **वर्णाश्रम व्यवस्था**—उस समय वर्णाश्रम व्यवस्था अपने अस्तित्व में थी। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र अपने-अपने कर्त्तव्य का पालन करते थे। ब्राह्मण का मुख्य कर्म अध्ययन-अध्यापन एवं यज्ञादि कृत्यों का सम्पादन था। महर्षि कण्व, मारीच आदि ऐसे ही ब्राह्मण महर्षि थे। क्षत्रिय लोग देश की रक्षा और शासन करते थे। प्रजापालन ही उनका मुख्य कर्त्तव्य था। दुष्यन्त ऐसे ही राजाओं में था। वैश्य वर्ग वाणिज्य-कर्म में लीन रहता था। उस समय वैश्यों को 'श्रेष्ठी' कहा जाता था, 'धनमित्र' भी ऐसा ही धनी वैश्य था। शूद्र का कर्म समाज की सेवा करना था। सभी लोग अपने वंशागत कर्म को करने में स्वाभिमान का अनुभव करते थे।

सहजं किल यद् विनिन्दितं न खलु तत्कर्म विवर्जनीयम् ।
पशुमारणकर्मदारुणोऽनुकम्पामृदुरेव श्रोत्रियः ।।६/१।।

(ख) **शिक्षा**—उस समय की शिक्षा-व्यवस्था आश्रमों के गुरुकुलों में होती थी। महर्षि कण्व का आश्रम भी एक गुरुकुल था। कुलपति की देखरेख में ब्रह्मचर्य धारण करते हुए शिष्य-शिष्यागण शिक्षा प्राप्त करते थे। शार्ङ्गरव, शारद्वत, अनसूया तथा प्रियंवदा आदि शिष्य-शिष्यायें कण्व के गुरुकुल में विद्याध्ययन करने में रत थीं। वृक्ष-सेचन आदि भी

उनकी दिनचर्या के अङ्ग थे। उस समय गुरुकुलों में अनध्याय भी होता था। आश्रम, गुरुकुल आदि शिक्षा के केन्द्र थे।

(ग) **विवाह**—उस समय गान्धर्व विवाह भी प्रचलित था। शकुन्तला का दुष्यन्त के साथ गान्धर्व विवाह हुआ था। विवाह के पश्चात् कन्या का पितृगृह में रहना अच्छा नहीं समझा जाता था। **'सतीमपि ज्ञातिकुलैकसंश्रयाम्'** ५/१७ इत्यादि कथनों से इसकी पुष्टि होती है। उस समय राजाओं में बहु विवाह की प्रथा का प्रचलन था—**'बहुवल्लभाः राजानः श्रूयन्ते'**। दुष्यन्त की अनेक पत्नियाँ थी। पति समेत अपने गुरुजनों की सेवा करना नारी का मुख्य कर्त्तव्य था।

महर्षि कण्व पतिगृह के लिए प्रस्थान करने वाली शकुन्तला को उपदेश देते हुए कहते हैं कि वह अपनी सपत्नियों के साथ सखी जैसा व्यवहार करें—**'शुश्रूषस्व गुरून् कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने'** ।४/१८। उस समय स्त्रियाँ पति के अधीन रहती थीं, यह तथ्य भी कण्व के उपदेश **'भर्त्तुर्विप्रकृता...'** इस कथन से आया है।

२. धार्मिक स्थिति—शाकुन्तल में धार्मिक-स्थिति का कोई विशेष चित्रण नहीं हुआ है। फिर भी उसके माध्यम से यह ज्ञात होता है कि उस समय यज्ञादि होते थे। (प्रथम अङ्क)। अनिष्ट-शान्ति आदि के लिये तीर्थ-यात्रायें भी होती थीं। शकुन्तला के प्रतिकूल दैव के शमन के लिये महर्षि कण्व भी सोमतीर्थ की यात्रा करते हैं। **'दैवमस्याः प्रतिकूलं शमयितुं सोमतीर्थं गतः'** प्र० अं०। उस समय शकुनों पर भी लोगों का विश्वास था। दुष्यन्त की भुजा-स्फुरण—**'स्फुरति च बाहु.....'** १/१६, तथा शकुन्तला का नेत्र-स्फुरण—**'अहो किं मे वामेतरं नयनं विस्फुरति'** (षष्ठ अङ्क) इसका प्रमाण है।

३. राजनैतिक स्थिति—उस समय 'राजतन्त्र' था। दुष्यन्त ऐसे ही राज-वंशी सम्राट् थे। प्रजा की रक्षा का भार राजाओं पर ही था।**'प्रजाः प्रजा इव....५/५, 'कः पौरवे ....'** १/२४। 'तपस्वियों से 'कर' नहीं लिया जाता था **'यदुत्तिष्ठिति'** ।२/२३ उस समय रक्षी (पुलिस)की भी व्यवस्था थी जिसका मुख्य कार्य अनुशासन बनाये रखना एवं अपराधियों को दण्डित करना था। रक्षी अपराधी को, अपराध स्वीकार न करने पर, मारते भी थे। वे आजकल की पुलिस की भाँति मदिरापान और उत्कोच ग्रहण (घूसलेना) में भी प्रवीण थे—

'भट्टारक इतोऽर्थं युष्माकं सुमनोमूल्यं भवतु। कादम्बरीसाक्षिकमस्माकं प्रथम सौहृदमिष्यते' (षष्ठ अङ्क)।

पात्र-परिचय

पुरुष-पात्र

सूत्रधार—नाटक का आरम्भ करने वाला प्रधान नट।

दुष्यन्त—नाटक का नायक, हस्तिनापुर का राजा।

सूत—दुष्यन्त का सारथि।

वैखानस—कण्व का शिष्य, तपस्वी।

भद्रसेन—दुष्यन्त का सेनापति।

विदूषक (माधव्य)—दुष्यन्त का अन्तरङ्ग मित्र।

रैवतक (दौवारिक)—द्वारपाल।

करभक—राजा के पास राजमाता का सन्देश पहुँचाने वाला एक दूत सेवक।

काश्यप (कण्व)—आश्रम के कुलपति।

शार्ङ्गरव और शारद्वत—कण्व के शिष्य, तपस्वी।

वैखानस, हारीत, गौतम और शिष्य—कण्व के शिष्य; तपस्वी।

कञ्चुकी (वातायन)—रनिवास की देख-भाल करने वाला एक वृद्ध ब्राह्मण।

वैतालिक—स्तुति-पाठक (चारण, भाट)।

श्याल—नगर-रक्षाधिकारी, राजा का साला।

धीवर—मछली पकड़ने वाला (मछुआ)।

सूचक और जानुक—पुलिस के सिपाही।

मातलि—इन्द्र का सारथि।

बालक (सर्वदमन)—भरत, दुष्यन्त का पुत्र।

मारीच—एक महर्षि, प्रजापति।

गालव—मारीच का शिष्य।

सोमरात—दुष्यन्त का पुरोहित।

स्त्री-पात्र

नटी—सूत्रधार की पत्नी।

शकुन्तला—नाटक की नायिका, दुष्यन्त की धर्मपत्नी, कण्व की धर्मपुत्री।

अनसूया और प्रियंवदा—शकुन्तला की अत्यन्त प्रिय और अन्तरङ्ग सखियाँ।

गौतमी—कण्व के आश्रम में रहने वाली वृद्धा तापसी।

प्रतीहारी (वेत्रवती)—द्वारपालिका।

सानुमती—एक अप्सरा, मेनका की सखी।

परभृतिका और मधुरिका—उद्यान-पालिकाएँ।

चतुरिका—राजा की सेविका।

तापसी—मारीच के आश्रम की एक तपस्विनी।

अदिति (दाक्षायणी)—मारीच की पत्नी।

यवनी—राजा की एक सेविका।

तापसी (सुव्रता)—मारीच के आश्रम की एक तपस्विनी।

अन्य पात्र

(नाटक के इन पात्रों का केवल नामोल्लेख हुआ है।)

मधवा (इन्द्र)—देवताओं के राजा, दुष्यन्त के मित्र।

जयन्त—इन्द्र का पुत्र।

इन्द्राणी—इन्द्र की पत्नी।

कौशिक (विश्वामित्र)—शकुन्तला के जनक (पिता)।

दुर्वासा—एक ऋषि।

मेनका—शकुन्तला की जननी (माता)।

●

शाकुन्तल की टीकायें

कालिदास का 'अभिज्ञानशाकुन्तल' नाटक लोकविश्रुत है। उन की इस कृति ने न केवल भारतीय विद्वानों, अपितु अनेकानेक प्राच्यविद्याविचक्षण पाश्चात्त्य विद्वानों, को भी अपनी ओर आकृष्ट किया है। परिणामस्वरूप अनेक विद्वानों ने उसके विषय में अपनी लेखनी का उपयोग किया है। सम्प्रति शाकुन्तल के अनेक संस्करण प्रकाश में आ चुके हैं। उसकी अनेक टीकायें भी प्रकाशित हो चुकी है। कुछ टीकायें ऐसी भी हैं जो अभी तक अमुद्रित हैं। सम्प्रति शाकुन्तल की कुछ विशिष्ट टीकाओं के विषय में कुछ कहना अभीष्ट है।

१. राघवभट्ट की टीका—यह टीका शाकुन्तल के नागर पाठ पर आधृत है। निर्णय सागर प्रेस से इसके अनेक संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। इस टीका का विशेष महत्त्व इसलिये है कि इसमें मातृगुप्त जैसे प्रख्यात आचार्यों के उद्धरण प्राप्त होते हैं। राघवभट्ट का समय सोलहवीं शताब्दी माना जाता है।

२. शंकर की टीका—शाकुन्तल के बंगीय पाठ पर आधारित शंकर की टीका ओटलिन लाइब्रेरी के विल्सन-संग्रह में उपलब्ध्ण है। बंगीय लिपि में लिखी गयी यह टीका अभी तक अप्रकाशित है। शंकर की ही 'रसचन्द्रिका' नाम की एक टीका मिथिला से प्रकाशित भी हो चुकी है। विल्सन-संग्रह में देवनागरी लिपि में लिखी टीका भी मिलती है।

३. चन्द्रशेखर की टीका—चन्द्रशेखर की एक टीका इण्डिया आफिस के पुस्तकालय में मिलती है।

४. काट्य वेमभूपाल की टीका—काट्यवेमभूपाल की एक टीका भी परिज्ञात है, पर वह अभी तक अप्रकाशित है। यह टीका दाक्षिणात्य पाठ पर आश्रित है और इसकी एक पाण्डुलिपि देवनागरी लिपि में इण्डिया आफिस लाइब्रेरी लंदन के 'केकेन्जी संग्रह' में उपलब्ध है। मोनियर विलियम ने अपने आंग्ल अनुवाद की टिप्पणी में इसके अनेकं उद्धरण उद्धृत किये हैं।

उक्त टीकाओं के अतिरिक्त बालगोविन्द, अभिराम, दक्षिणावर्तनाथ तथा नीलकण्ठ की टीकायें भी मिलती हैं। इन चारों टीकाओं की पाण्डुलिपियाँ गवर्नमेण्ट ओरियण्टल मैन्युस्क्रिप्ट, लाइब्रेरी, मद्रास में उपलब्ध है। नीलकण्ठ की टीका मूल के साथ अभी कुछ दिन पहले भारतीय बुक कारपोरेशन दिल्ली से प्रकाशित हुयी है। अन्य अनेक आधुनिक विद्वानों ने भी शाकुन्तल की टीकायें लिखी हैं।

शाकुन्तल के विभिन्न भाषाओं में अनुवाद—शाकुन्तल का प्रथम अंग्रेजी अनुवाद सर जोंस ने १८७१ में किया था। उसी का जर्मन भाषा में रूपान्तर फोर्सटर ने किया।

यमशेजी का फ्रेंच अनुवाद, वाटलिन का जर्मन अनुवाद, हेमरिच का डैनिश अनुवाद तथा मोनियर विलियम्स का अंग्रेजी अनुवाद भी प्रकाशित हुआ। १९३४ में ए०वी० गजेन्द्रगडकर का अंग्रेजी अनुवाद भी प्रकाश में आया। एम०आर०काले का अंग्रेजी अनुवाद तथा शारदारंजन राय का संस्कृत-टीका के साथ १९०८ में किया गया अंग्रेजी अनुवाद भी उल्लेखनीय है। उक्त अनुवादों के अतिरिक्त हिन्दी समेत भारत की प्राचीन भाषाओं में भी शाकुन्तल के अनेक अनुवाद हुये हैं।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि शाकुन्तल के बंगीय पाठ तथा देवनागरी पाठ पर आधारित अनेक संस्करण भी प्राप्त होते हैं।

●

महाकविकालिदासप्रणीतम्

अभिज्ञानशाकुन्तलम्

प्रथमोऽङ्कः

या सृष्टिः स्रष्टुराद्या वहति विधिहुतं या हविर्या च होत्री,
ये द्वे कालं विधत्तः श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्य विश्वम् ।
यामाहुः सर्वबीजप्रकृतिरिति यया प्राणिनः प्राणवन्तः,
प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः ।।१।।

अन्वय—या स्रष्टुः, आद्या सृष्टिः, या विधिहुतं हविः वहति, या च होत्री, ये द्वे कालं विधत्तः, श्रुतिविषयगुणा या विश्वं व्याप्य स्थिता, यां सर्वबीजप्रकृतिः इति आहुः, यया प्राणिनः प्रणवन्तः, ताभिः प्रत्यक्षाभिः अष्टाभिः तनुभिः प्रपन्नः ईशः वः अवतु ।

शब्दार्थ—या = जो (जलरूपा मूर्ति)। स्रष्टुः = सृष्टिकर्ता (ब्रह्मा) की, आद्या = प्रथम। सृष्टि = रचना (है) या = जो (अग्निरूपा मूर्ति)। विधिहुतम् = विधिपूर्वक हवन की गयी। हविः = हवि को (आहुति को)। वहति = (देवताओं के पास) पहुँचती है। या च = और जो। होत्री = हवनकर्त्री, हवन करने वाली (यजमान रूपा मूर्ति है)। ये = जो। द्वे = दो (सूर्य एवं चन्द्ररूपा मूर्तियाँ)। कालम् = समय का (दिन एवं रात्रि का)। विधत्तः = विधान करती हैं। श्रुतिविषयगुणा = श्रवणेन्द्रिय (कान) का विषय (अर्थात् शब्द) गुणवाली या जो (अकाश रूपा मूर्ति)। विश्वम् = संसार को। व्याप्य = व्याप्त कर। स्थिता = स्थित (है)। याम् = जिसको (पृथ्वी रूपा मूर्ति को)। सर्वबीजप्रकृतिः = समस्त बीजों का कारण। इति = ऐसा। आहुः = कहते हैं। यया = जिस (वायु रूपा मूर्ति) के द्वारा। प्राणिनः = प्राणी। प्रणवन्तः = प्राणों से युक्त (हैं)। ताभिः = उन। प्रत्यक्षाभिः = प्रत्यक्ष। अष्टाभिः = आठ। तनुभिः = मूर्तियों से; (देहों से)। प्रपन्नः = युक्त। ईशः = शिव। वः = आप लोगों की। अवतु = रक्षा करें।

अनुवाद—जो (मूर्ति) सृष्टिकर्ता (ब्रह्मा) की प्रथम रचना (जलरूप मूर्ति) है। जो (अग्निमयी मूर्ति) विधिपूर्वक हवन की गयी (अग्नि में डाली गयी) हविस् को (देवताओं के पास) ले जाती है और जो हवन करने वाली (अर्थात् यजमानरूप मूर्ति) है, जो दो (सूर्य एवं चन्द्र रूपी मूर्तियाँ) समय (दिन और रात) का विधान (निर्माण) करती हैं, श्रवणेन्द्रिय (कान) के विषयभूत (शब्द रूप) गुणवाली जो (आकाशरूप मूर्ति) संसार को व्याप्त कर स्थित है, जिस (पृथिवीरूप मूर्ति) को (विद्वान्) समस्त बीजों का कारण कहते हैं, (और) जिस (वायुरूप मूर्ति) से प्राणी प्राण वाले (जीवित) हैं—उन प्रत्यक्ष आठ मूर्तियों से युक्त (अष्टमूर्ति) शिव आप लोगों की रक्षा करें।

संस्कृत-टीका—या–जलरूपा मूर्तिः (अस्ति), **स्रष्टुः**–विधातुः, **आद्या**–प्रथमा, **सृष्टिः**–रचना, **या**–अग्निरूपा मूर्तिः, **विधिहुतं**–शास्त्रोक्तरीत्या वह्नौ क्षिप्तम् (हवनीकृतम्) **हविः**–हवनीयद्रव्यम्, **वहति** (देवान्) प्रापयति, या च **होत्री** = हवनकर्त्री। (यजमानरूपा मूर्तिः) अस्ति, ये द्वे (सूर्यचन्द्ररूपे) मूर्ती, **कालम्**–होत्रात्मकं समयम्, **विधत्तः**–रचयतः, **श्रुतिविषयगुणा**–श्रुतेः कर्णस्य विषयः–शब्दो गुणो यस्याः सा श्रुतिविषयगुणा (शब्दगुणा) या (आकाशरूपा मूर्तिः) **विश्वम्**–जगत्,

व्याप्य–व्याप्तं कृत्वा, **स्थिता**–विद्यमाना (वर्तते), या (पृथ्वीरूपा मूर्ति), **सर्वबीजप्रकृतिः**– निखिलधान्यादिकारणम्, **इति**–एवम्, **आहुः**–कथयन्ति (पण्डिता इति शेषः), **यया**–वायुरूपया मूर्त्या, **प्राणिनः**–जीवधारिणः, **प्राणवन्तः**–प्राणधारिणः (सन्ति) **ताभिः**–पूर्वोक्ताभिः, **प्रत्यक्षाभिः**– दृष्टिगोचराभिः, **अष्टाभिः**–अष्टसंख्याकाभिः । **तनुभिः**–मूर्तिभिः, **प्रपन्नः**–समन्वितः, **ईशः**–शिवः, **वः**–युष्मान्, **अवतु**–रक्षतु ।

संस्कृतसरलार्थः—महाकविकालिदासोऽभिज्ञानशाकुन्तलाभिधेयस्य स्वनाटकस्य निर्विघ्नसमाप्त्यर्थमाशीर्वचनरूपं मङ्गलमादौ प्रस्तौति- 'भगवतः शङ्करस्याष्टौ मूर्त्तयः सन्ति - विधातुः प्रथमा रचना जलरूपा, या शास्त्रोक्तविधिना हुतं हविर्देवान् प्रापयति साऽग्निरूपा, हवनकर्त्री यजमानरूपा, येऽहोरात्ररूपसमयविभागं कुरुतश्चन्द्ररूपा सूर्यरूपा च, विश्वं व्याप्य स्थिता शब्दगुणाऽऽकाशरूपा, समस्तधान्यादिबीजानां मूलकारणभूता पृथिवीरूपा, यया जीवधारिणः प्राणयुक्ताः सन्ति (सा) वायुरूपा च । एताभिमुर्दृष्टिगोचराभिर्जलाग्निहोतृचन्द्रसूर्यगगनधरा- पवनाख्याभिर्मूर्त्तिभिर्युक्तो महेश्वरो युष्मान् सर्वान् सामाजिकान् रक्षतु - अर्थात् युष्माकं समेषामभीष्ट- सिद्धिः स्यादिति भावः ।

व्याकरण—सृष्टिः—सृज्+क्तिन् । स्रष्टुः—सृज्+तृच्+षष्ठी एक० । आद्या—आदौ भवा इति आदि+यत्+टाप् । विधिहुतम्–विधिना हुतम् (तृ० तत्पुरुष) । विधिः = वि+'धा'+कि । हुतम् = हु+क्त । हविः = हु+इसुन् । होत्री—हु+तृच्+ङीप् । विधत्तः = वि+धा+लट्, प्र०पु०, द्वि० । श्रुतिविषयगुणा—श्रुतेः विषयः गुणः यस्याः सा (तत्पु० बहु०) । श्रुतिः = श्रु+क्तिन् । स्थिता = स्था+क्त+टाप् । व्याप्य—वि+आप्+ल्यप् । सर्वबीजप्रकृतिः—सर्वेषां बीजानां प्रकृतिः (ष०तत्पु०) । इति के द्वारा कर्म के उक्त होने से 'प्रकृतिः' में प्रथमा विभक्ति हुयी है । आहुः—ब्रू (आह)+लट्, प्र०पु०, ब०व० । प्राणवन्तः—प्राण+मतुप्, प्र० ब० । प्रपन्नः—प्र+पद्+क्त । अवतु = अव+लोट् लकार प्र० पु० ए० व० ।

कोषः—'स्रष्टा प्रजापतिर्वेधा विधाता विश्वसृड्विधिः' इत्यमरः । 'अथकलेवरम् । गात्रं वपुः संहननं शरीरं वर्ष्म विग्रहः । कायो देहः क्लीबपुंसोः स्त्रियां मूर्तिस्तनुस्तनः' । 'शम्भुरीशः पशुपतिः शिवः शूली महेश्वरः' इति चामरः । 'ईशः स्वामिनि रुद्रे च स्यादीशा हलदण्डके' इति हैमः ।

अलङ्कार—'प्राणिनः', 'प्राणवन्तः' में पुनरुक्ति न होने पर भी पुनरुक्ति जैसी प्रतीति होने के कारण 'पुनरुक्तवदाभास' अलङ्कार है । उसका लक्षण है—

आपाततो यदर्थस्य पौनरुक्त्येन भासनम् ।
पुनरुक्तवदाभासः स भिन्नाकारशब्दगः ।

अर्थात् जहाँ विभिन्न स्वरूप के शब्दों में समानार्थकता न होने पर भी समानार्थकता जैसी प्रतीति होती है, वहाँ यह अलङ्कार होता है ।

'सृष्टिः स्रष्टुः', 'वहति–हुतम्' 'प्राणिनः प्राणवन्तः' इत्यादि स्थानों में 'छेकानुप्रास' है । छेकानुप्रास का लक्षण है—'छेको व्यञ्जनसङ्घस्य सकृत् साम्यमनेकधा । अर्थात् जहाँ व्यञ्जन–समूह की एक बार आवृत्ति होती है, वहाँ छेकानुप्रास होता है । श्लोक के उक्त पदों में ष् ट् , ह् त्, प् ण् न् आदि व्यञ्जन-समूहों की एक बार आवृत्ति है, अतः **छेकानुप्रास** है ।

श्लोक में **वृत्त्यनुप्रास** की भी स्थिति है । वृत्त्यनुप्रास का लक्षण है— **'एकस्याप्यसकृत्परः'** अर्थात् जहाँ एक व्यञ्जन की या कई व्यञ्जनों की अनेक बार आवृत्ति होती है वहाँ वृत्त्यनुप्रास होता

है। पूरे श्लोक में इस अलङ्कार की सत्ता है।

यह श्लोक अनुप्रास का उत्तम उदाहरण है।

छन्द—इस श्लोक में '**स्रग्धरा**' छन्द है। स्रग्धरा (छन्द) का लक्षण यह है—

'म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम्'।

अर्थात् इस छन्द में प्रत्येक चरण में क्रमशः मगण (ऽऽऽ) रगण (ऽ।ऽ) भगण (ऽ।।) नगण (।।।) और तीन यगण (।ऽऽ) की स्थिति होती है। इसमें प्रतिचरण २१ वर्ण होते हैं और सात-सात वर्णों पर (तीन) यतियाँ होती है।

गुण एवं रीति—यहाँ प्रसाद गुण एवं वैदर्भी रीति है। प्रसाद गुण में सरल-सुबोध पदों (शब्दों) का प्रयोग होता है जिससे काव्यरचना पढ़ते ही सहजतः बोधगम्य हो जाती है। इस गुण की स्थिति सभी रसों एवं रचनाओं में सम्भव है—

श्रुतिमात्रेण शब्दात्तु येनार्थप्रत्ययो भवेत्।
साधारणः समग्राणां स प्रसादो गुणो मतः॥ का०प्र०अ०उ०

यहाँ वैदर्भी रीति है। इसमें माधुर्य-व्यञ्जक वर्णों का प्रयोग होने से रचना ललित होती है। इस रीति में समस्त पदों की स्वल्पता होती है। समस्त पद होते भी हैं तो वे दीर्घाकार न होकर स्वल्पकाय (छोटे-छोटे) होते हैं—

लक्षण— माधुर्यव्यञ्जकैवर्णै रचना ललितात्मिका।
अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा वैदर्भीरीतिरिष्यते॥

सम्पूर्ण नाटक में प्रसाद गुण एवं वैदर्भी रीति की छटा है।

टिप्पणी— (१) मनुस्मृति 'अप एव ससर्जादौ' (९/८) के अनुसार ब्रह्मा ने सर्वप्रथम 'जल' की रचना की थी। अतः वह (जल) विधाता की प्रथम सृष्टि है। तैत्तिरीय एवं शतपथ ब्राह्मण का भी यही मत है—'आपो वा इदमग्रे सलिलमासीत्'। (२) 'अग्निमुखा वै देवाः' के अनुसार देवताओं का मुख अग्नि है। शास्त्रोक्त विधि के अनुसार अग्नि में हवन करने से 'अग्नि' 'हवि' को देवताओं तक पहुँचाती है।

(३) होता (यजमान) यज्ञ करते समय शिव का अंश माना जाता है। हवि देने वाला यजमान शिव का साक्षात् रूप होता है— 'यजमानाह्वया मूर्तिर्विश्वस्य शिवदायिनः'।

(४-५) काल अखण्ड (अविभाज्य) है, पर सूर्य और चन्द्रमा के द्वारा क्रमशः दिन तथा रात्रि के रूप में उसका विभाग होता है। अत एव सूर्य तथा चन्द्रमा काल के कर्त्ता कहे गये हैं।

(६) शब्द श्रुति (कान) का विषय है— श्रोत्रेन्द्रियग्राह्यो गुणः शब्दः— (तर्कसंग्रहः) और शब्द को आकाश का गुण बताया गया है— 'शब्दगुणकमाकाशम्'।

(७) विद्वान् लोग पृथिवी को सम्पूर्ण बीजों का कारण कहते हैं, क्योंकि पृथ्वी से ही सभी प्रकार के बीजों का जन्म होता है। मनुस्मृति में कहा गया है—'इयं हि भूतिर्भूतानां शाश्वतो योनिरुच्यते।''

(८) वायु के द्वारा ही प्राणी जीवित रहते हैं। वायु के बिना जीवित रहना असम्भव है।

(९) यहाँ प्रत्यक्ष का अर्थ केवल नेत्रगोचर न होकर इन्द्रियगोचर है। यद्यपि वायु तथा आकाश का नेत्र से ग्रहण नहीं होता तथापि वायु का ग्रहण त्वचा से तथा आकाश के गुण 'शब्द' का ग्रहण कान से होता है। अतः वायु और आकाश भी इन्द्रियगोचर होने से प्रत्यक्ष हैं।

(१०) शिव के आठ रूप (मूर्ति) माने गये हैं, जैसा कि विष्णुपुराण में भी कहा गया है—

जलं वह्निस्तथा यष्टा सूर्याचन्द्रमसौ तथा।
आकाशं वायुरवनी मूर्तयोऽष्टौ पिनाकिनः॥

कालिदास के इष्ट देव शिव हैं जिनकी स्तुति उन्होंने 'रघुवंश' के मङ्गलाचरण 'जगतःपितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ' और 'विक्रमोर्वशीयम्' के मङ्गलाचरण 'स स्थाणुः स्थिरभक्तियोग- सुलभो निःश्रेयसायास्तु वः' में भी की है।

भविष्यपुराण में शिव की आठ मूर्तियों का वर्णन इस प्रकार है— (१) शर्वाय क्षितिमूर्तये नमः (२) भवाय जलमूर्तये नमः (३) रुद्राय अग्निमूर्तये नमः (४) उग्राय वायुमूर्तये नमः (५) भीमायाकाशमूर्तये नमः (६) पशुपतये यजमानमूर्तये नमः (७) महादेवाय सोममूर्तये नमः (८) ईशानाय सूर्यमूर्तये नमः। मूर्तयोऽष्टौ शिवस्यैताः।

विशेषः—श्लोक का मुख्य वाक्य है—'ताभिः प्रत्यक्षाभिः अष्टाभिः तनुभिः प्रपन्नः ईशः वः अवतु।' यह मुख्य वाक्य चतुर्थ चरण में है। शेष तीन चरणों (प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय) में ईश (शिव) की आठ प्रत्यक्ष मूर्तियों (तनु) का व्याख्यान है।

(नान्द्यन्ते)

[नान्दी (पाठ) की समाप्ति पर]

सूत्रधारः—(नेपथ्याभिमुखमवलोक्य) आर्ये, यदि नेपथ्यविधानमवसितम्, इतस्तावदागम्यताम्।

व्याकरण एवं शब्दार्थ—नेपथ्यस्य-नेपथ्यं वेषः तस्य विधानं रचना = वेशविन्यासः अवसितम् = अव+सद+क्त= सम्पूर्णम्।

सूत्रधार—(नेपथ्य की ओर देखकर) आर्ये, यदि नेपथ्य-कार्य (अभिनेताओं का वेशविन्यास धारण आदि कार्य) पूर्ण हो गया हो, तो इधर आओ।

नटी (प्रविश्य)—आर्यपुत्र, यह (मैं उपस्थित) हूँ।

टिप्पणी—(१) **नान्दी**—नाटक की निर्विघ्न समाप्ति के लिये नाटक के प्रारम्भ में नान्दी रूप मङ्गलाचरण किया जाता है। सा०द० में कहा गया है— 'तथाप्यवश्यं कर्त्तव्या नान्दी विघ्नोपशान्तये' 'नन्दन्ति देवता अत्र इति नान्दी'; नन्द+घञ्+ङीष् पृषोदरादित्वात् वृद्धि 'आ'। अर्थात् यहाँ (इससे) देवता आनन्दित होते है; अतः यह 'नान्दी' कहलाती है। अथवा 'नन्दयति देवादीन् इति नान्दी' अर्थात् देवता आदि को आनन्दित करती है, अतः 'नान्दी' कहलाती है। नन्द+पचाद्यच् , नन्द एव नान्दः 'प्रज्ञादिभ्यः' सूत्र से अण्। नन्द+अण+ङीष्= नान्दी। साहित्यदर्पण में नान्दी का लक्षण इस प्रकार किया गया है—

आशीर्वचनसंयुक्ता स्तुतिर्यस्मात् प्रयुज्यते।
देवद्विजनृपादीनां तस्मान्नान्दीति संज्ञिता॥

इस लक्षण के अनुसार नान्दी में केवल देवों की ही स्तुति नहीं की जाती, अपितु उसमें देव के साथ द्विज (गुरु), नृप आदि की भी स्तुति की जाती है। इसमें माङ्गल्य वस्तु, शङ्ख, चन्द्र, कमल, चक्रवाक, कुमुद आदि का वर्णन होता है।

भरतमुनि के अनुसार नान्दी अष्टपदात्मिका अथवा द्वादशपदात्मिका होती है—

नान्दीं पदैर्दादशभिरष्टाभिर्वाप्यलंकृताम्।

'पद' शब्द से सुबन्त, तिङन्त, श्लोक का चरण, श्लोकान्तर्गत एक-एक वाक्य— आदि अनेक अर्थ गृहीत होते हैं। श्लोक के चार चरणों को पद मानने पर यहाँ चतुष्पदा (चार पद वाली) नान्दी है। यदि श्लोकान्तर्गत प्रयुक्त आठ वाक्यों को पद मान लिया जाय तो यहाँ **अष्टपदात्मिका** (आठ पदों वाली) नान्दी है। आठ पद ये हैं—(१) 'या स्रष्टुराद्या सृष्टिः' (२) 'या विधिहुतं हविर्वहति' (३) 'या च होत्रीं' (४) 'ये द्वे कालं विधत्तः' (५) 'श्रुतिविषयगुणा या विश्वं व्याप्य स्थिता' (६) 'यां सर्वबीजप्रकृतिरित्याहुः' (७) 'यया प्राणिनः प्राणवन्तः' (८) ताभिः प्रत्यक्षाभिः अष्टाभिः तनुभिः प्रपन्न ईशः वः अवतु'।

कुछ लोग यहाँ मङ्गलाचरण के साथ नाटक की कथावस्तु का भी निर्देश होना मानकर इसे 'पत्रावली' नामक नान्दी मानते हैं।

(२) **सूत्रधार**—रङ्गशाला की व्यवस्था करने वाले प्रधान नट को सूत्रधार कहा जाता है। इसके अधिकार में नाट्य के सभी उपकरण होते हैं। वह रङ्गमञ्च का प्रबन्ध करता है। साथ ही अभिनेताओं को निर्देश भी देता है। साहित्यदर्पण में सूत्रधार का लक्षण इस प्रकार किया गया है—

नाट्योपकरणादीनि सूत्रमित्यभिधीयते।
सूत्रं धारयतीत्यर्थे सूत्रधारो निगद्यते॥

अर्थात् नाटक की सामग्री (उपकरण) आदि सूत्र कहलाती है, उस सूत्र (सामग्री आदि) को धारण करने वाला 'सूत्रधार' कहलाता है।

(३) **नेपथ्य**—'नेपथ्यं स्याज्जवनिका रङ्गभूमिः प्रसाधनम्' इत्यमरः, के अनुसार नेपथ्य शब्द के तीन अर्थ होते हैं—(१) पर्दा (जवनिका) (२) वेष धारण करने का स्थान रङ्गभूमि (३) वेषादि धारण करना (प्रसाधन)। यहाँ द्वितीय अर्थ अभिप्रेत है। एक अन्य विधान के अनुसार कुशीलव (नट-नटी, गायक, नर्तक, अभिनेता, अभिनेत्री) के कुटुम्बगृह को नेपथ्य कहा जाता है— 'कुशीलवकुटुम्बस्य गृहं नेपथ्यम्'

(४) **आर्ये**—यह सूत्रधार की पत्नी के लिये सम्बोधन है। भरत मुनि का कथन है कि नाटक में पत्नी को 'आर्या' शब्द से सम्बोधित किया जाता है—'पत्नी चार्येति सम्भाष्या'।

भरत के अनुसार पत्नी द्वारा पति को 'आर्यपुत्र' इस पद से सम्बोधित किया जाना चाहिये— 'सर्वस्त्रीभिः पतिर्वाच्य आर्यपुत्रेति यौवने'

'ऋ' धातु से 'यत्' प्रत्यय के योग में 'आर्य' पद व्युत्पन्न होता है जिसका अर्थ है— सेव्य, पूज्य—अर्यते सेव्यत्वेन गम्यते- इति आर्यः (आर्यस्य पुत्रः–श्वसुर का पुत्र) 'आर्यपुत्र' हुआ। नाटक–लक्षणरत्नकोश में पति के पर्यायवाची के रूप में 'आर्यपुत्र', 'जीवेश', 'नाथ' तथा 'वल्लभ' कहा गया है— 'आर्यपुत्रं च जीवेशं नाथं साप्याह वल्लभम्'।

यह नटी द्वारा अपने पति के लिये सम्बोधन पद है। भरत के अनुसार पत्नी को 'आर्या' कहा जाता है। नाटक में नटी सूत्रधार को आर्य और सूत्रधार नटी को आर्ये कहकर सम्बोधित करता है। साहित्यदर्पण में कहा गया है— 'वाच्यो नटीसूत्रधारावार्यनाम्न परस्परम्'।

विशेष—शौरसेनी प्राकृत में 'आर्यपुत्र' को अज्जउत्त कहते हैं।

सूत्रधार—आर्ये! अभिरूपभूयिष्ठा परिषदियम्। अद्य खलु कालिदासग्रथित-वस्तुनाऽभिज्ञानशाकुन्तलनामधेयेन नवेन नाटकेनोपस्थातव्यमस्माभिः। तत् प्रतिपात्रमाधीयतां यत्नः।

सूत्रधार—आर्ये, यह सभा अधिक विद्वानों से युक्त (भरी) है (अर्थात् इसमें विद्वान् ही अधिक हैं)। आज हमें कालिदास के द्वारा विरचित कथा-वस्तु वाले अभिज्ञानशाकुन्तल नामक नवीन नाटक के साथ उपस्थित होना है। (अर्थात् हमें अभिज्ञानशाकुन्तल नामक नये नाटक का अभिनय करना हैं) अतः (नाटक के) प्रत्येक पात्र के विषय में प्रयत्न किया जाना चाहिये अर्थात् प्रत्येक पात्र के अभिनय पर विशेष ध्यान देना आवश्यक है।

व्याकरण एवं शब्दार्थ—अभिरूपभूयिष्ठा–अभिरूपाः पण्डिताः भूयिष्ठाः बहुतराः यस्यामेतादृशी (विद्वद्बहुलेत्यर्थः) ब०व्री०। अभिलक्ष्यं दर्शनीयं रूपमेषामिति अभिरूपाः (पण्डिताः)। अतिशयेन बह्वी इति–बहु+इष्ठन् (स्त्रियाम्) भूयिष्ठा। यह पद 'परिषद्' का विशेषण है। अर्थ है—अधिक विद्वानों वाली। परिषद्— परितःसीदन्ति जनाः अस्याम् (ब०) परि+सद्+क्विप् (अभिकरणे) = **अभिज्ञान०** — 'अभिज्ञानशाकुन्तल' नामक। **कालिदास- ग्रथितवस्तुना**— कालिदासेन ग्रथितं वस्तु (कथावस्तु) यस्य तेन – कालिदास द्वारा विरचित (नाटक) के द्वारा। **उपस्थातव्यम्**—उप+स्था+तव्यत् = उपस्थित होना है—अभिनय करना है। आधीयताम्—आ+धा+यक्+लोट् (कर्मणि) = किया जाना चाहिये।

कोष—अभिरूपो बुधौ रम्ये—**मेदिनी**। 'समज्या परिषद् गोष्ठी सभा समितिः संसदः। आस्थानी क्लीबमास्थानं स्त्रीनपुंसकयोः सदः'—अमरकोष।

टिप्पणी—(१) सूत्रधार के कथन का अभिप्राय यह है कि विद्वानों की सभा में अभिनीत होने वाले नाटक के अभिनय के विषय में विशेष यत्न किया जाना चाहिये क्योंकि उसकी स्वल्प भी त्रुटि विद्वानों के ध्यान में आ जायेगी।

(२) नाटक का '**अभिज्ञानशाकुन्तलम्**' नाम सार्थक है। विद्वानों ने इसकी व्याख्या कई प्रकार से की है। अभिज्ञान का अर्थ पहचान होता है— अभिज्ञायते अनेनेति अभिज्ञानम् (अभि+ज्ञा+भाव में ल्युट्) पहचान। शकुन्तलाया इदं शाकुन्तलम्—'तस्येदं' सूत्र से शकुन्तला से 'अण्' प्रत्यय। इस प्रकार शाकुन्तल का अर्थ है शकुन्तला सम्बधी (परिणय)।

चूँकि नाटक में मुद्रिका नामक अभिज्ञान (पहचान) से शकुन्तला के परिणय का ज्ञान हुआ है अतः इस नाटक को 'अभिज्ञानशाकुन्तल' कहते हैं। विशेष ज्ञान के लिये द्रष्टव्य भूमिका के 'अभिज्ञान का नामकरण' शीर्षक के अन्तर्गत प्रतिपादित अंश।

(३) **नाटकम्**— नाट्य, दृश्य काव्य अथवा रूपक के दस भेद होते हैं जिनमें 'नाटक' नामक भेद प्रमुख है। साहित्य दर्पण में नाटक का लक्षण निम्नाङ्कित है—

नाटकं ख्यातवृत्तं स्यात् पञ्चसन्धिसमन्वितम्।
पञ्चाधिका दशपरास्तत्राङ्काः परिकीर्तिताः।।
प्रख्यातवंशो राजर्षिर्धीरोदात्तः प्रतापवान्।
एक एव भवेदङ्गी शृङ्गारो वीर एव वा।।

अर्थात् नाटक का कथानक प्रसिद्ध होता है। उसमें पाँच से लेकर दस तक अङ्क होते हैं। प्रख्यातवंशी धीरोदात्तकोटिक उसका नायक होता है तथा वीर अथवा शृङ्गार उसका अङ्गी रस होता है।

अभिज्ञानशाकुन्तल में नाटक का लक्षण घटित होता है। विशेष ज्ञान के लिये भूमिका का 'शाकुन्तल का नाटकत्व' शीर्षक के अन्तर्गत प्रतिपादित अंश एवं परिशिष्ट द्रष्टव्य है।

नटी—सुविहितप्रयोगतयार्यस्य न किमपि परिहास्यते (सुविहिदप्पओअदाए अज्जस्स ण किं पि परिहाइस्सदि।

नटी—आपके सुव्यवस्थित अभिनय के कारण कोई न्यूनता नहीं रहेगी।

सूत्रधारः—आर्ये, कथयामि ते भूतार्थम्।

सूत्रधार—आर्ये, मैं तुमसे यथार्थ (सच) कहता हूँ।

शब्दार्थ—परिहास्यते—परि+हा+लृट् प्र०पु० एक वचन (कर्मवाच्य)। **सुविहितप्रयोगतया** — सुष्ठु विहितः = सुविहितः प्रयोगः येन तस्य भावः तया। **सुविहितः**—सु+वि+धा+क्त। सुविहितप्रयोगतया = सुव्यवस्थित अभिनय के कारण। न परिहास्यते = न्यूनता नहीं रहेगी (परिहास्यते—परि+हा+लृट)। भूतार्थम् = सच।

आपरितोषाद् विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्।
बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चेतः ।।२।।

अन्वय—विदुषाम् आ परितोषात् प्रयोगविज्ञानं साधु न मन्ये। बलवत् शिक्षितानाम् अपि चेतः आत्मनि अप्रत्ययम् (भवति)।

शब्दार्थ—विदुषाम् = विद्वानों के। **आ परितोषात् =** सन्तोष तक (उनके सन्तुष्ट होने तक)। **प्रयोगविज्ञानम्** = अभिनय कौशल (अभिनय कला) को, **साधु** = समीचीन (सफल)। **न मन्ये** = नहीं मानता। **बलवत्** = अत्यधिक। **शिक्षितानाम्** = शिक्षितों का। **अपि** = भी। **चेतः** = चित्त। **आत्मनि** = अपने विषय में (अपने ऊपर)। **अप्रत्ययम् =** विश्वासरहित (होता है)।

अनुवाद—विद्वानों के सन्तोष तक (अर्थात् जब तक विद्वान् सन्तुष्ट न हो जायँ तब तक) मैं अपने अभिनयकौशल को ठीक (सफल) नहीं मानता (क्योंकि) अत्यधिक शिक्षित लोगों का भी चित्त (मन) अपने ऊपर विश्वासरहित होता है अर्थात् वे अपने ज्ञान के विषय में पूर्णतः विश्वस्त नहीं हो पाते।)

संस्कृतव्याख्या—विदुषाम्- पण्डितानाम्, **आ परितोषात्**—सन्तोषपर्यन्तम्, **प्रयोगविज्ञानम्**—अभिनयकौशलम्, **साधु** = समीचीनम् (सफलम्), **न मन्ये** = नस्वीकरोमि, **शिक्षितानाम् अपि**—कृताभ्यासानाम् अपि (निपुणानाम् अपि), **चेतः**—चित्तम्, **आत्मनि**—स्वस्मिन् (स्वविषये) **अप्रत्ययम्**—अविश्वस्तम्, भवतीति शेषः।

संस्कृतसरलार्थः—स्वनाटकस्य प्रयोगविषये सूत्रधारो नटीं ब्रूते- 'प्रस्तूयमानस्या-

स्याभिज्ञानशाकुन्तलनामकस्य नाटकस्याभिनयमवलोक्य यावद् विज्ञाः सामाजिकाः सन्तुष्टिं न यास्यन्ति न तावदहं निजनाटकाभिनयकौशलस्य साफल्यं यास्यामि। नाटकप्रयोगस्य साफल्यविषये सहृदया एव प्रमाणम्। यतो हि स्वल्पशिक्षितानानान्तु कथैव दूर आस्तां सुष्ठुशिक्षितानामपि विज्ञानां चित्तं स्वविषये (स्वज्ञानविषये)- अविश्वस्तं भवति।

व्याकरण—आ परितोषात्– परि+तुष्+घञ्+पञ्चमी विभक्ति। 'आ' यहाँ कर्मप्रवचनीय है तथा मर्यादा को सूचित करता है। 'पञ्चम्याङ्परिभिः' सूत्र के 'आ' के योग में पञ्चमी हुई है। **प्रयोगविज्ञानं**—प्रयोगस्य विज्ञानम् (षष्ठी तत्पु०)। **बलवत्**—क्रियाविशेषण है। कुछ लोग 'बलवत्' को 'चेतः' का विशेषण बताते हैं जो अधिक उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। **अप्रत्ययम्**— अविद्यमानः प्रत्ययः यस्मिन् तत् अप्रत्ययम् (बहु०)।

अलङ्कार—(१) श्लोक में 'अर्थान्तरन्यास' अलङ्कार है। उत्तरार्ध के सामान्य कथन द्वारा पूर्वार्ध के विशेष कथन का समर्थन हुआ है। साहित्यदर्पण में इसका लक्षण यह है—

सामान्यं वा विशेषेण विशेषस्तेन वा यदि।
कार्यं कारणेनेदं कार्येण च समर्थ्यते।
साधर्म्येतरेणार्थान्तरन्यासोऽष्टधा ततः॥

अर्थात् साधर्म्य या वैधर्म्य के आधार पर जहाँ सामान्य का विशेष से, विशेष का सामान्य से, कार्य का कारण से तथा कारण का कार्य से समर्थन किया जाता है, वहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार होता है। यह आठ प्रकार का होता है। (२) इसमें पर्यायोक्त अलङ्कार भी है। उसमें विद्वज्जन ही मेरे 'अभिनय-कौशल' की परीक्षा कर सकते हैं, इस अर्थ की अभिव्यञ्जना होती है। पर्यायोक्त का लक्षण है—**'पर्यायोक्तं यदा भङ्ग्या गम्यमेवाभिधीयते'** अर्थात् जहाँ प्रकारान्तर से किसी अर्थ विशेष की अभिव्यञ्जना होती है, वहाँ 'पर्यायोक्त' अलङ्कार होता है।

छन्द—यहाँ आर्या नाम (मात्रिक) छन्द है। छन्द का लक्षण है— यस्याः पादे प्रथमे द्वादशमात्रा तथा तृतीयेऽपि। अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या।

जिस छन्द के प्रथम एवं तृतीय चरण में १२, द्वितीय में १८ तथा चतुर्थ में १५ मात्रायें होती हैं, वह आर्या जाति छन्द कहलाता है। उक्त पद में यह लक्षण घटित होता है।

टिप्पणी—(१.) सूत्रधार के कथन का अभिप्राय यह है कि यद्यपि वह अभिनय-कला में कुशल है तथा प्रस्तुत नाटक के अभिनय की यथेष्ट तैयारी भी कर चुका है तथापि उसका चित्त सफलता के विषय में संदेहयुक्त है। जब तक विद्वज्जन उसकी अभिनयकला से सन्तुष्ट न हो जायं, तब तक वह अपने अभिनयकला-कौशल को सफल नहीं मानता। क्योंकि अत्यधिक शिक्षित लोगों का भी मन सफलता मिलने तक अपने विषय में अविश्वस्त ही रहता है।

अलङ्कार—श्लोक के उत्तरार्ध के सामान्य कथन के द्वारा पूर्वार्ध के विशेष कथन का समर्थन होने से अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है।

नटी—आर्य, एवमेतत्। अनन्तरकरणीयमार्य आज्ञापयतु। (अज्ज, एवं एदम्। अणन्तरकरणिज्जं अज्जो आणवेदु।)

नटी—आर्य यह ऐसा ही है (अर्थात् आप का कथन ठीक है) अब इसके बाद के करणीय कार्य के विषय में आदेश दीजिये।

सूत्रधारः—**किमन्यदस्याः परिषदः श्रुतिप्रसादनतः। तदिदमेव तावदचिरप्रवृत्तमुपभोगक्षमं ग्रीष्मसमयमधिकृत्य गीयताम्। सम्प्रति हि,**

व्या०श०—**श्रुतिप्रसादनतः**—श्रुतेः कर्णस्य प्रसादनं, **श्रुतिप्रसादनं ततः**—श्रुते 'श्रु' क्तिन् (करणे) **तस्याः प्रसादनतः**—प्र+सद्+णिच्+ल्युट्–अन् = प्रसादनम् पञ्चमी के अर्थ में = कानों को प्रसन्न करने के अतिरिक्त। **अचिरप्रवृत्तम्**— अचिरं प्रवृत्तम्– शीघ्र ही (अभी-अभी) प्रारम्भ हुये। उपभोगक्षमम् = उपभोगस्य क्षमः तम् = भोग के योग्य। **अधिकृत्य=** अधि+कृ+क्त्वा+ल्यप्। आधार बनाकर।

सूत्रधारः—इस सभा के (सदस्यों के) कानों (श्रुति) को प्रसन्न करने के अतिरिक्त और क्या (करना) है ? इसलिये शीघ्र ही आरम्भ हुये (जलस्नानादि के द्वारा) उपभोग के योग्य इस ग्रीष्म ऋतु के विषय में (ही) गाओ। क्योंकि इस समय—

सुभगसलिलावगाहाः पाटलसंसर्गसुरभिवनवाताः।
प्रच्छायसुलभनिद्रा दिवसाः परिणामरमणीयाः ।।३।।

अन्वय—सुभगसलिलावगाहाः पाटलसंसर्गसुरभिवनवाताः प्रच्छायसुलभनिद्राः दिवसाः परिणामरमणीयाः (सन्ति)।

शब्दार्थ—सुभगसलिलावगाहाः= सुखकर (अच्छा) लगता है जल में स्नान करना जिनमें। पाटलसंसर्गसुरभिवनवाताः=पाटलों (गुलाबों) के सम्पर्क से सुगन्धित हो जाता है वन का वायु जिनमें। प्रच्छायसुलभनिद्राः=सघन (घनी) छाया में सरलता से आती है नींद जिनमें। दिवसाः= (ऐसे गर्मी के) दिन। परिणामरमणीयाः=परिणाम अन्त में (अर्थात् सायंकाल में) मनोहर (होते है)। श्लोक में सभी पद– (सुभग, पाटल....प्रच्छाय.....परिणाम..) 'दिवसा' पद के विशेषण है।

अनु०—सुखकर (अच्छा) लगता है जल में स्नान करना जिनमें, गुलाबों (पाटल) के सम्पर्क से सुगन्धित हो जाता है वन का पवन जिनमें, सघन (घनी) छाया में सरलता से आती है नींद जिनमें, ऐसे (गर्मी के) दिन सायं काल में मनोहर (होते हैं)।

संस्कृतव्याख्या—**सुभगसलिलावगाहाः** सुभगः–सुखकरः सलिले जले अवगाहः स्नानं येषु तादृशाः, **पाटलसंसर्गसुरभिवनवाताः** पाटलानां–स्थलपद्मानां संसर्गेण–सम्पर्केण सुरभिः सुगन्धिः वनवातः काननपवनः येषु तादृशाः, **प्रच्छायसुलभनिद्राः** प्रच्छायेषु (प्रकृष्टाः छायाः येषु स्थानेषु ते प्रच्छायाः तेषु) घनच्छायायुक्तस्थलेषु सुलभा सुखेन लभ्या **निद्रा स्वापः** येषु तादृशाः **दिवसाः**–ग्रीष्मसमयवासराः, **परिणामरमणीयाः** परिणामे दिवसावसाने (सायंकाले) रमणीयाः मनोहराः भवन्तीति शेषः।

संस्कृतसरलार्थः—सूत्रधारो नटीम्प्रति ग्रीष्मसमयं वर्णयन् कथयति—'ग्रीष्मकालिकदिनेषु जलेषु स्नानमतीवसुखकरं भवति। पाटलपुष्पसंसर्गमवाप्य वनपवनाः सौरभयुक्ताः सन्तो वान्ति। वृक्षादिच्छायासु निद्रा सुलभा जायते। सायङ्काले दिवसा रमणीया जायन्ते इति भावः।

व्याकरण—सुभगसलिलावगाहाः—सुभगः सलिले अवगाहः येषु ते (तत्पु०, बहु०)। पाटलसंसर्गसुरभिवनवाताः—पाटलानां संसर्गेण सुरभिः वनस्य वातः येषु ते (तत्पु०, बहु०)। प्रच्छायसुलभनिद्राः–प्रच्छायेषु सुलभा निद्रा येषु ते (तत्पु०, बहु०)। परिणामरमणीयाः—परिणामे रमणीयाः (तत्पु०)।

अलङ्कार—इस श्लोक में सुभगेत्यादि पद से ग्रीष्म-दिनों का जलक्रीडायोग्यत्व, पाटलेत्यादि पद से वायु का सुगन्धत्व, प्रच्छायेत्यादि पद से सुलभनिद्रात्व तथा परिणामेत्यादि पद से सूर्यास्तरमणीयत्व द्योतित होता है। अतः सभी पदों के साभिप्राय होने के कारण यहाँ परिकरालङ्कार है। लक्षण है— 'उक्तिविशेषणैः साभिप्रायैः परिकरो मतः।'

ग्रीष्म-समय का स्वाभाविक वर्णन होने के कारण स्वभावोक्ति अलङ्कार है। इसमें श्रुत्यनुप्रास तथा वृत्यनुप्रास भी है।

छन्द—इस पद्य में 'आर्या' छन्द है। आर्या का लक्षण द्रष्टव्य श्लोक २।

टि०—(१) ग्रीष्म ऋतु के दिनों में शीतल जल से स्नान, सुगन्धित-वायु, घनी छाया में नींद और सायंकाल की रमणीयता विशेष आनन्दप्रद होती है। इन सबका वर्णन इस श्लोक में कर दिया गया है। (२) 'परिणाम-रमणीयाः' के द्वारा यह सूचित किया है कि नाटक का अन्त सुखद होगा। (३) यहाँ तक '**भारती वृत्ति**' का प्ररोचना अङ्क समाप्त हुआ।

नटी—तथा (तह)। (इति गायति)—

नटी—(जैसा आप कह रहे हैं) वैसा (ही करती हूँ)। (गाती है)

ईषदीषच्चुम्बितानि भ्रमरैः सुकुमारकेसरशिखानि।
अवतंसयन्ति दयमानाः प्रमदाः शिरीषकुसुमानि।।४।।

(ईसीसिचुम्बिआइं भमरेहिं सुउमारकेसरसिहाइं।
आदंसअन्ति दअमाणा पमदाओ सिरीसकुसुमाइं।।)

अन्वय—प्रमदाः दयमानाः (सत्यः) भ्रमरैः ईषत् ईषत् चुम्बितानि सुकुमारकेसरशिखानि शिरीषकुसुमानि अवतंसयन्ति।

शब्दार्थ—प्रमदाः=स्त्रियाँ, युवतियाँ, सुन्दरियाँ। दयमानाः= दया करती हुई। भ्रमरैः=भ्रमरों (भौंरों) के द्वारा। ईषत् ईषत्=कुछ-कुछ, (थोड़े-थोड़े)। चुम्बितानि=चुम्बन किये गये, (आस्वादित)। सुकुमारकेसरशिखानि=कोमल केसर शिखा से युक्त। शिरीषकुसुमानि= शिरीष (शिरस नामक वृक्ष) के पुष्पों को। अवतंसयन्ति=कानों का आभूषण बना रही है।

अनुवाद—युवतियाँ (सुन्दरियाँ) दयायुक्त होकर भ्रमरों (भौंरों) के द्वारा थोड़े-थोड़े चूमे गये (आस्वादित) कोमल केसर-शिखा से युक्त शिरीष-पुष्पों को (अपने) कानों का आभूषण बना रही हैं।

संस्कृत व्याख्या—प्रमदाः–मदयुक्ता युवत्यः, **दयमानाः**–सदयाः सत्यः, **भ्रमरैः**–मधुपैः, **ईषदीषत्, किञ्चित्**—किञ्चित्, **चुम्बितानि**–आस्वादितानि, **सुकुमारकेसरशिखानि**–सुकुमाराः कोमलाः केसराणाम् किञ्जल्कानाम् शिखाः अग्रभागाः येषां तानि, **शिरीषकुसुमानि** शिरीषवृक्षपुष्पाणि, **अवतंसयन्ति**–कर्णाभूषणं कुर्वन्ति।

संस्कृत सरलार्थः—ग्रीष्मकाले युवत्यः सदयाःसत्यः शिरीषपुष्पाणि कर्णाभूषणीकुर्वन्ति, येषां (शिरीषपुष्पाणां) कोमलकिञ्जिल्कानामग्रभागा मधुपैर्मन्दं मन्दं पीताः सन्ति।

व्याकरण—प्रमादाः–प्रकृष्टो मदो यासाम् ताः (बहु०)। दयमानाः–दय्+शानच् प्र० बहुवचन। सुकुमारकेसरशिखानि–सुकुमाराः केसराणानां शिखाः येषां तानि (कर्मधारय तत्पु०,

बहु०)। शिरीषकुसुमानि–शिरीषाणाम् कुसुमानि (षष्ठी तत्पु०)। अवतंसयन्ति–अवतंस+णिच्+लट्, प्र० पु०, बहु०।

कोष— 'विशेषास्तु अङ्गना भीरुःकामिनी वामलोचना। प्रमदा मानिनी कान्ता ललना च नितम्बिनी। सुन्दरी रमणी रामा — इत्यमरः।

अलङ्कार—शिरीष पुष्प सुकुमार केसर वाले (सुकुमारकेसरशिखानि) हैं, अतः प्रमदायें दयाभाव से ही (दयामनाः) उन्हें अपने कान का आभूषण बना रही हैं। इस प्रकार इस श्लोक में पदार्थहेतुक 'काव्यलिङ्ग अलङ्कार है। इसका लक्षण है—

'हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गं निगद्यते।' साहित्यदर्पण। इस पद्य में श्रुत्यनुप्रास भी है।

छन्द—इस पद्य में 'उद्‌गाथा' नामक छन्द है। जिस पद्य के पूर्वार्ध एवं उत्तरार्ध में ३० मात्रायें होती हैं, उसे 'उद्गाथा' छन्द कहते हैं। लक्षण है—

पूर्वार्द्धे परार्द्धे मात्रास्त्रिंशदिति सुभगसंगणिताः।
सा उद्गाथा उक्ता पिङ्गलकविदृष्टषष्टिमात्राङ्गा।।

टिप्पणी—(१) श्लोक में 'दयमानाः' पद साभिप्राय है। मतवाली (सौन्दर्य आदि के कारण मत्त) होने पर भी युवतियाँ दयापूर्वक शिरीष के फूलों को सावधानी के साथ तोड़कर उन्हें अपना कर्णाभूषण (कनफूल) बना रही है। (२) इस श्लोक में नाटक की कथा संकेतित है। शिरीष-पुष्प के द्वारा शकुन्तला तथा भ्रमर के द्वारा दुष्यन्त लक्षित है। भ्रमरों के द्वारा फूलों के अल्प चुम्बन से दुष्यन्त और शकुन्तला का अस्थायी मिलन और आस्वादन सूचित होता है (३) सूत्रधार और नटी दोनों के ग्रीष्म ऋतु सम्बन्धी वर्णनों में अन्तर है। सूत्रधार के वर्णन में केवल बाह्य तथ्यों का वर्णन है परन्तु नटी के वर्णन में स्त्रीसुलभ कोमलता तथा सरलता है। नटी का गान एक प्रेमिका के गान की प्रतिध्वनि है। (४) उपर्युक्त गीति ग्रीष्मकालीन है क्योंकि शिरीष गर्मी के दिनों में विकसित होते हैं। कालिदास ने शाकुन्तल (१-२७), रघुवंश (१६-४८, ६१) मेघदूत (२-२) आदि में भी शिरीष पुष्प का वर्णन किया है।

सूत्रधार—आर्ये, साधु गीतम्। अहो, रागबद्धचित्तवृत्तिरालिखित इव सर्वतो रङ्गः, तदिदानीं कतमत् प्रकरणमाश्रित्यैनमाराधयामः।

सूत्रधार—आर्ये (तुमने बहुत) अच्छा गाया। अहा, राग (गान–राग) के द्वारा आकृष्ट चित्तवृत्ति (अन्तः करण) वाली नाट्य-शाला (दर्शक लोग) चित्रित सी (चित्रलिखित सी) लग रही है। तो अब किस प्रकरण (नाटक) को लेकर (अर्थात् किस नाटक का अभिनय करके) इस (नाट्यशाला) को सन्तुष्ट (प्रसन्न) किया जाय।

टिप्पणी—(१) **रागबद्धचित्तवृत्तिः**= रागेण बद्धा चित्तवृत्तिः यस्य स (बहुब्रीहि) (गीत के) राग से आकृष्ट हो गयी है चित्तवृत्ति जिसकी। यह पद रङ्गः (नाट्यसभा) का विशेषण है। (२) **रङ्ग**—रञ्ज+घञ्। रज्यतेऽस्मिन्निति रङ्गः अर्थात् वह स्थान जहाँ बैठकर लोग अभिनय आदि देखकर आनन्दित होते हैं। इस प्रकार 'रङ्ग' का अर्थ है 'नाट्यशाला'। पर यहाँ इससे लक्षणा से रङ्गशाला में बैठे हुये प्रेक्षक (दर्शक) अभिप्रेत हैं। प्रकरणवश 'रङ्ग' का एक अन्य अर्थ राजा (दुष्यन्त) लिया जाता है—'रागः (अनुरागः) विद्यते अस्मिन् इति रङ्गः' इस विग्रह के अनुसार 'रङ्ग' का अर्थ राजा होता है। अपनी चित्तवृत्ति के कारण शकुन्तला के अनुराग में आबद्ध होने से

वे उसे (शकुन्तला को) चित्रलिखित सा देख रहे है। इस द्वितीय अर्थ के कारण यहाँ 'भारती' वृत्ति के एक भेद 'वीथी' के द्वितीय भेद 'अवगलित' का निर्देश है। अवगलित (भेद) वहाँ होता है जहाँ एक कार्य के वर्णन से दूसरे कार्य की सिद्धि होती है। **'यत्रैकत्र समावेशात् कार्यमन्यत् प्रसाध्यते'**। (३) **प्रकरणम्**— दस रूपकों में 'प्रकरण' एक भेद है। पर यहाँ प्रकरण शब्द से रूपक भेद 'प्रकरण' अभिप्रेत नहीं है। यह पद 'नाटक' का बोधक है। सूत्रधार को यहाँ 'नाटक' पद का ही प्रयोग करना चाहिये था परन्तु वह नटी के ग्रीष्मकालिक गीत **'ईषदीषच्चुम्बितानि'** से इतना मुग्ध हो गया कि उसने **'नाटक'** के स्थान पर 'प्रकरण' का प्रयोग कर दिया। नटी के स्मरण दिलाने पर वह अपनी भूल को स्वीकार करता है—**'अस्मिन् क्षणे विस्मृतं खलु मया'**।

नटी—नन्वार्यमिश्रैः प्रथममेवाज्ञप्तमभिज्ञानशाकुन्तलं नामापूर्वं नाटकं प्रयोगेऽधिक्रियतामिति। (णं अज्जमिस्सेहिं पढमं एव्व आणत्तं अहिण्णाणसाउन्दलं णाम अपुव्वं णाडअं पओए अधिकरीअदुत्ति।)

नटी—अरे पूज्य, आपके द्वारा पहले ही आदेश दिया गया था कि अभिज्ञानशाकुन्तल नामक अपूर्व (अनुपम) नाटक का अभिनय (प्रयोग) किया जाय।

टिप्पणी—(१) **आर्यमिश्रैः**= आर्याश्च ते मिश्राः तैः (कर्मधारण समास)। इस समस्त पद के अन्तर्गत दो पद 'आर्य' और 'मिश्र' है। भरत के अनुसार आर्य का अर्थ शील, दया, दान, सत्य आदि से युक्त श्रेष्ठ व्यक्ति से है। 'मिश्र' शब्द आदर सूचक है। यह (शब्द) अन्त में लगता है और नित्य बहुवचनान्त होता है—'पूज्ये मिश्रवचनं नित्यं बहुवचनान्तम्'। प्रयोगेऽधिक्रियताम्= अभिनय (प्रयोग) किया जाय अर्थात् अभिनय किया जाय। यहाँ 'प्रयोग' से अभिप्राय अभिनय से है। प्रयोगे=अभिनये। अधिक्रियताम्= प्रयुज्यताम्।

सूत्रधार—आर्ये, सम्यगनुबोधितोऽस्मि। अस्मिन् क्षणे विस्मृतं खलु मया। कुतः-

सूत्रधार—आर्ये, (तुम्हारे द्वारा) ठीक स्मरण कराया गया है (अर्थात् तुमने अच्छी याद दिलायी)। इस समय मैं (यह) भूल (ही) गया था। क्योंकि—

तवास्मि गीतरागेण हारिणा प्रसभं हृतः।
एष राजेव दुष्यन्तः सारंगेणातिरंहसा।।५।।

(इति निष्क्रान्तौ) (दोनों सूत्रधार एवं नटी मञ्च से जाते हैं)

इति प्रस्तावना

अन्वय—अतिरंहसा सारङ्गेण एषः राजा दुष्यन्तः इव तव हारिणा गीतरागेण प्रसभं हृतः अस्मि।

संस्कृत-व्याख्या—अतिरंहसा-अतिवेगवता, **सारङ्गेण**-मृगेण, एषः पुरो दृश्यमानः, **राजा**= नृपः, **दुष्यन्तः इव**, **तव**-भवत्या, **हारिणा**-(साधु हरति चित्तमनेनेति हारी तेन) **मनोहारिणा-गीतरागेण**-गीतस्वरेण, **प्रसभम्**= बलात् (अहम् सूत्रधारः) **हृतः**- आकृष्टः **अस्मि**-भवाभि।

संस्कृत-सरलार्थ—नट्या मधुरं गीतमाकर्ण्स सूत्रधारो ब्रवीति नटीम्–त्वदीयमधुरगीत-स्वरेणाहं तथैवापहतचित्तवृत्तिर्जातोऽस्मि यथा स्वसेनाया दूरं नेत्राऽतिवेगवता कृष्णसारेण (मृगेण) पुरोदृश्यमान एष राजा दुष्यन्तो दूरं प्रापितः।

प्रस्तावना—यहाँ पर प्रस्तावना समाप्त होती है। प्रस्तावना का लक्षण है—

नटी विदूषको वापि पारिपार्श्विक एव वा। सूत्रधारेण सहिताः संलापं यत्र कुर्वते।।
चित्रैर्वाक्यैः स्वकार्योत्थैः प्रस्तुताक्षेपिभिर्मिथः। आमुखं तत्तु विज्ञेयं नाम्ना प्रस्तावनाऽपि सा।।

अर्थात्, जहाँ नटी, विदूषक अथवा पारिपार्श्विक (सूत्रधार का अनुचर) सूत्रधार के साथ अपने कार्य के विषय में विचित्र वाक्यों से इस प्रकार बातचीत करें जिससे प्रस्तुत कथा सूचित हो जाय उसे आमुख कहते हैं। और, उसी का नाम प्रस्तावना भी हैं।

व्याकरण—हारिणा–हृ+णिनि+ तृ०, ए०व०, गीतरागेण–गीतस्य रागेण (ष०त०) हृतः– हृ+क्त प्र० ए०। निष्क्रान्तौ–यहाँ 'पुमान् स्त्रियाः' सूत्र से पुँलिङ्ग में द्विवचन।

कोष—रहः–रंहस्व रसी तु रयः स्यदः। जवः इत्यमरः। **सारङ्गः** पुंसि हरिणचातके च मतङ्गजे। शबले त्रिषु–इति मेदिनी।

अलङ्कार—इस श्लोक में 'राजेव' राजा+इव में श्रौती पूर्णोपमा अलङ्कार है। राजा उपमान, सूत्रधार उपमेय 'इव' वाचक शब्द तथा 'हृत' साधारण धर्म है। श्रौती उपमा का लक्षण है— श्रौती यथेव शब्दाविवार्थो वा वतिर्यदि।

'गीतरागेण' 'हारिणा' आदि पदों के कारण (हेतु) रूपसे उपन्यास होने के कारण पदार्थहेतुक 'काव्यलिङ्ग' अलङ्कार है। काव्यलिङ्ग का लक्षण द्रष्टव्य श्लोक–४

छन्द—इस श्लोक में अनुष्टुप् छन्द है। उसका लक्षण है— श्लोके षष्ठं गुरुं ज्ञेयं सर्वत्र लघु पञ्चकम्। द्विचतुष्पादयोः ह्रस्वं, सप्तमं दीर्घमन्ययोः॥

अर्थात् जिस छन्द के प्रथम एवं तृतीय चरण में पञ्चम अक्षर लघु तथा द्वितीय और चतुर्थ चरण में, पञ्चम लघु षष्ठ गुरु एवं सप्तम लघु हो वहाँ अनुष्टुप् होता है।

(ततः प्रविशति मृगानुसारी सशरचापहस्तो राजा रथेन सूतश्च)

(इसके बाद हरिण का पीछा करते हुये, बाण चढ़ा हुआ धनुष हाथ में लिये हुये राजा और सारथि रथ पर बैठे हुये प्रवेश करते हैं)।

सूतः—(राजानं मृगं चावलोक्य) आयुष्मन्,

सूत—(राजा और हरिण को देखकर) चिरञ्जीविन्,

कृष्णसारे ददच्चक्षुस्त्वयि चाधिज्यकार्मुके।
मृगानुसारिणं साक्षात् पश्यामीव पिनाकिनम्।।६।।

अन्वय—कृष्णसारे अधिज्यकार्मुके त्वयि च चक्षुः ददत् (अहं) मृगानुसारिणं साक्षात् पिनाकिनम् पश्यामि इव।

शब्दार्थ—कृष्णसारे=हरिण के ऊपर। अधिज्यकार्मुके=जिसकी प्रत्यञ्चा (डोरी) चढ़ी हुई है ऐसे धनुष से युक्त। त्वयि = आप (दुष्यन्त) के ऊपर। चक्षुः ददत् = दृष्टि डालता हुआ (दृष्टिपात करता हुआ)। मृगानुसारिणं = हरिण का पीछा करते हुये। साक्षात् = प्रत्यक्ष। पिनाकिनम् = धनुर्धारी शिव। पश्यामि इव = मानो देख रहा हूँ।

अनुवाद—कृष्णसार हरिण और चढ़ी हुई प्रत्यञ्चा वाले धनुष से युक्त आप (दुष्यन्त) के ऊपर दृष्टिपात करता हुआ (मैं) मानों हरिण का पीछा करते हुये साक्षात् धनुर्धारी शिव को देख रहा हूँ।

संस्कृत व्याख्या—कृष्णसारे-मृगविशेषे, **अधिज्यकार्मुके**-अधिज्यं गुणयुक्तं कार्मुकं धनुः यस्य तस्मिन्, **त्वयि च**-दुष्यन्ते च, **चक्षुः ददत्**—दृष्टिपातं कुर्वन्, **मृगानुसारिणं**-मृगरूपधरयज्ञानुसारणिम्, **साक्षात्**—प्रत्यक्षम्, **पिनाकिनं**-पिनाकपाणिं शिवम्, **पश्यामि इव**-अवलोकयामि इव।

संस्कृत-सरलार्थः—राजानं मृगञ्चावलोक्य सूतो वदति राजानम्-(आयुष्मन् !) कृष्णसाराख्ये पुरोदृश्यमाने मृगेऽस्मिन् आरोपितगुणशरासने त्वयि च यदाऽहं दृष्टिपातं करोमि तदेत्थं प्रतीयते यदहं दक्षाध्वरे मृगरूपेण पलायमानं यागवधार्थममुगच्छन्तं स्वयं पिनाकपाणिं भगवन्तं शङ्करमवलोकयामि। समुत्कृष्टस्वशरीरेण भवान् पिनाकपाणिं शङ्करमनुकुरुते तथा ते धनुश्च पिनाक इव भयकरमस्ती भावः।

व्याकरण—कृष्णसारे-कृष्णश्च असौ सारश्च तस्मिन् (कर्म०)। अधिज्यकार्मुके अधिज्यं (अधिगता ज्या यस्मिन् तत्) कार्मुकं यस्य तस्मिन् (बहु०)। ददत्-दा+शतृ+प्र०, एक०। मृगानुसारिणं= मृगम् अनुसरति इति-मृग+अनु+सृ+णिनि द्वि० ए०। पिनाकिनं= पिनाकोऽस्यास्तीति— पिनाक+ इनि+द्वि०, एक०।

अलङ्कार—इस श्लोक में प्रस्तुत राजा (दुष्यन्त) की अप्रस्तुत भगवान् शङ्कर के साथ एकत्व की सम्भावना होने से उत्प्रेक्षा अलङ्कार है। **लक्षण**— 'संभावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य परात्मना'

अर्थात् जहाँ प्रकृत (उपमेय) की पर (उपमान) के रूप में सम्भावना की जाती है वहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार होता है।

छन्द—इस श्लोक में अनुष्टुप् छन्द। लक्षण द्रष्टव्य श्लोक ५ की व्याख्या।

कोष—अमरकोष में मृग के बारह भेदों का उल्लेख है जिनमें कृष्णसार एक भेद है— कृष्णसाररुरुन्यङ्कुरङ्कुशबररौहिणाः । गोकर्णपृषतैणर्श्य रोहितश्चमरो मृगाः ॥२/५/१०॥

अर्थात् (१) कृष्णसार (२) रुरु (३) न्यङ्कु (४) रङ्कु (५) शबर (६) रौहिण (७) गोकर्ण (८) पृषत (९) एण (१०) ऋश्य (११) रोहित (१२) चमर—ये बारह मृग के भेद हैं।

टिप्पणी—(१) कृष्णसार-कृष्ण=काला, सार=चितकबरा। यह मृग का एक भेद है। चितकबरा होने पर भी इसमें कालापन अधिक होता है। (२) पिता यक्ष द्वारा अपने पति शिव के अपमान से दुःखी होकर सती ने अपने शरीर को भस्म कर डाला। इस समाचार से कुद्ध होकर शिव जी ने दक्ष के यज्ञ को नष्ट कर दिया। यज्ञ मृग का रूप धर कर भागा। शिवजी ने अपने 'पिनाक' नामक धनुष को लेकर उसका पीछा किया। (यहाँ इसी कथा की ओर सङ्केत है)। (३) नाटक में 'ततः प्रविशति' से लेकर द्वि० अङ्क में 'इत्युभौ परिक्रम्योपविष्टौ तक मुख सन्धि है।

राजा—सूत, दूरममुना सारङ्गेण वयमाकृष्टाः । अयं पुनरिदानीमपि—

राजा—सारथि, इस मृग के द्वारा हम लोग (बहुत) दूर खींच लाये गये हैं। यह (मृग) तो इस समय भी—

ग्रीवाभङ्गाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने दत्तदृष्टिः
पश्चार्धेन प्रविष्टः शरपतनभयाद् भूयसा पूर्वकायम्।
दर्भैरर्धावलीढैः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा
पश्योदग्रप्लुतत्वाद्वियति बहुतरं स्तोकमुर्व्यां प्रयाति ।।७।।

अन्वय—पश्य, अनुपतति स्यन्दने ग्रीवाभङ्गाभिरामं दत्तदृष्टिः, शरपतनभयात् भूयसा पश्चार्धेन पूर्वकायं प्रविष्टः, श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः अर्धावलीढैः दर्भैः कीर्णवर्त्मा, उदग्रप्लुतत्वात् वियति बहुतरम् उर्व्यां स्तोकं प्रयाति।

शब्दार्थ—पश्य = देखो। अनुपतति = पीछे दौड़ते हुये (पीछा करते हुये)। स्यन्दने = रथ पर। मुहु; = बार-बार। ग्रीवाभङ्गाभिरामम् = गर्दन मोड़कर मनोहरता से। दत्तदृष्टिः = दृष्टिपात करता हुआ (देखता हुआ)। शरपतनभयात् = बाण लगने के भय के कारण। भूयसा = अधिकांश। पश्चार्धेन = पीछे के अर्ध-भाग (पीठ) से। पूर्वकायम् = पूर्व भाग की ओर (अगले भाग में)। प्रविष्टः = प्रविष्ट हुआ (सिमटा हुआ)। श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः = श्रम के कारण खुले हुये मुख से गिरने वाले। अर्धावलीढैः = अर्धचर्वित (आधे चबाये हुये)। दर्भैः = कुशों से। कीर्णवर्त्मा = मार्ग को व्याप्त करता हुआ। उदग्रप्लुतत्वात् = ऊँची छलांग (चौकड़ी) भरने के कारण। वियति = आकाश में। बहुतरम् = अधिक। उर्व्याम् = पृथ्वी पर। स्तोकम् = थोड़ा। प्रयाति = चल रहा है (दौड़ रहा है)।

अनुवाद—देखो, पीछे दौड़ते हुये (हमारे) रथ पर पुनः-पुनः गर्दन मोड़कर मनोहरता से दृष्टि डालता हुआ, बाण लगने के भय के कारण (अपने) अधिकांश पिछले अर्ध भाग से अगले भाग में सिमटा हुआ (अर्थात् शरीर के पिछले भाग को अगले भाग की ओर समेटे हुये), श्रम के कारण खुले हुये मुख से अर्धचर्वित (आधे चबाये हुये) कुशों से मार्ग को व्याप्त करता हुआ, ऊँची छलाँग (चौकड़ी) भरने के कारण जैसे आकाश में अधिक (और) पृथ्वी पर कम ही दौड़ रहा है।

संस्कृत-व्याख्या—पश्य = अवलोकय, **अनुपतति** = पश्चाद्धावति, **स्यन्दने** = रथे, **मुहुः** = पुनः पुनः, **ग्रीवाभङ्गाभिरामं** = ग्रीवायाः कन्धरायाः भङ्गेन परावर्तनेन अभिरामं मनोहरं यथा स्यात्तथा, **दत्तदृष्टिः** = न्यस्तचक्षुः, **शरपतनभयाद्** = शरस्य बाणस्य पतनभयात् (स्वशरीरे) पतनभयात्, **भूयसा** = अधिकेन, **पश्चार्धेन** = शरीरस्योत्तरार्धभागेन, **पूर्वकायं** = शरीरस्य पूर्वभागम्, **प्रविष्टः** = प्रवेशं प्राप्तः, **श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः** = श्रमेण धावनपरिश्रमेण विवृतम् उद्घाटितं यत् मुखम् आननं तस्मात् भ्रंशिभिः पतद्भिः, **अर्धावलीढैः** = अर्धचर्वितैः, **दर्भैः** = कुशैः, **कीर्णवर्त्मा** = व्याप्तमार्गः, **उदग्रप्लुतत्वात्** = उच्चतरकूर्दनात्, **वियति** = आकाशे, **बहुतरम्** = अधिकम्, **उर्व्यां** = भूतले, **स्तोकम्** = अल्पम्, **प्रयाति** = धावति।

संस्कृत-सरलार्थः—तीव्रगत्या धावन्तं कृष्णसारनामकं मृगं वर्णयन् राजा स्वसारथिं कथयति—"सूत ! पश्यायं मृगोऽनुगच्छति मम रथे भूयोभूयः स्वकन्धरावर्तनेन मनोहरं दृष्टिपातं कुरुते। स्वदेहे मम बाणसम्पातभीत्या बहुतरेण शरीरस्य पश्चाद्भागेन पूर्वार्द्धं प्रविष्टः, परिश्रमविवृताननात्पतद्भिरर्द्धचर्वितैः कुशैर्व्याप्तमार्गो गगन उन्नतप्लवनादधिकं भूम्यां पुनर्न्यूनं धावतीति भावः।

व्याकरण—अनुपतति–अनु+पत्+शतृ+ सप्तमी, एक०। ग्रीवाभङ्गाभिरामम्–ग्रीवायाः भङ्गेन अभिरामम् (तत्पु०)। दत्तदृष्टिः–दत्ता दृष्टिः येन स; (बहु०) यह पद 'मृग' का विशेषण है। शरपतनभयात्–शरस्य पतनं शरपतनं तस्मात् भयं तस्मात् (तत्पु०), हेतौ पञ्चमी। भूयसा–बहु+इयस्+तृ०, एक०। पश्चार्धेन–अपरः च असौ अर्धः च पश्चार्धः तेन (कर्म०), 'अपरस्यार्धे पश्चभावो वक्तव्यः' इस वार्तिक से 'अपर' को 'पश्च' आदेश हुआ। पूर्वकायं–पूर्वं कायस्य पूर्वकायः तम् (एकदेशि तत्पु०) प्रविष्टः–प्र+विश्+क्त। श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः–श्रमेण विवृतात् मुखात् भ्रंशिभिः (तत्पु०)। अर्धावलीढैः–अर्धम् अवलीढैः (तत्पु०), अवलीढ–अव+लिह+क्त। कीर्णवर्त्मा–कीर्णं

वर्त्म येन सः (बहु०) यह पद मृग का विशेषण है। उदग्रप्लुतत्वात्- उदग्रं प्लुतं यस्य सः उदग्रप्लुतः तस्य भावः तस्मात्। प्रयाति-प्र+या+लट्, प्र० पु०, एक०।

रस—इस श्लोक में भयानक रस व्यङ्ग्य है। मृगगत भय स्थायी भाव, दुष्यन्ताधिरूढ रथ आलम्बन विभाव, रथ का अनुपतन, शरपतन आदि उद्दीपन विभाव, मृग का ग्रीवाविवृतमुख, भङ्ग (गर्दन को मोड़ना), अर्धचर्वित कुशों का गिरना, शरीरसङ्कोच, विवृतमुख आदि अनुभाव तथा त्रास, शङ्का, आवेग आदि व्याभिचारी भाव हैं। आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश में इस श्लोक को 'भयानक रस' के उदाहरण के रूप मे उद्धृत किया है।

अलङ्कार—(१) इस श्लोक में मुख्य रूप से स्वभावोक्ति अलङ्कार है। क्योंकि उसमें मृग की स्वभावगत चेष्टाओं (क्रियाओं) आदि का वर्णन है। स्वभावोक्ति का लक्षण है—

'स्वभावोक्तिर्दुरूहार्थस्वक्रियारूपवर्णनम्' — सा०द०

(२) इसके अतिरिक्त इसमें 'पश्चार्धेन प्रविष्टः' इस स्थल में गम्योत्प्रेक्षा है। यहाँ यद्यपि 'इव' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है परन्तु अर्थ है-प्रविष्ट हुआ सा। (३) यहाँ 'रसना काव्यलिङ्ग' अलङ्कार की भी स्थिति है। इस अलङ्कार का लक्षण है—

'प्रत्युत्तरोत्तरार्थं यत्पूर्वपूर्वार्थहेतुता।' रसनाकाव्यालिङ्गं यत्।

टिप्पणी—(१) 'पश्य' के द्वारा राजा संकेत करते हैं कि इतना थकने पर भी हरिण पूरे वेग से दौड़ रहा है। (२) इस श्लोक के प्रत्येक चरण में हरिण का एक स्वरूप व्यक्त किया गया है; विशेष रूप से दूसरे चरण में कही गयी शरीर के सिकोड़ने की क्रिया को अत्यन्त मनोरम रूप में चित्रित किया गया है। बाण लगने के भय से हरिण अपने पिछले भाग को आगे की ओर समेटे हुए है। कवि उत्प्रेक्षा करता है कि मृग अपने पश्चार्ध (पीछे के भाग) को पूर्व भाग (आगे के भाग) में मानो प्रविष्ट किये हुए है।(३) भय के कारण अपने पीछे-पीछे दौड़ने वाले रथ को ग्रीवा मोड़कर देखने की क्रिया अत्यन्त स्वाभाविक है। हरिण बहुत ऊँची और लम्बी छलाँग मार-मार कर दौड़ रहा है। इससे प्रतीत होता है मानो वह आकाश में अधिक और भूतल पर कम चल रहा है।

छन्द—इस श्लोक में 'स्रग्धरा' छन्द है। लक्षण द्रष्टव्य श्लोक १।

(सविस्मयम्) **तदेष कथमनुपतत एव मे प्रयत्नप्रेक्षणीयः संवृत्तः।**

(आश्चर्य के साथ) तो क्या कारण है कि पीछे-पीछे दौड़ते हुए ही मुझ को यह (हरिण) कठिनाई से देखे जाने योग्य हो गया है।

व्याकरण—प्रयत्नेन-कृच्छ्रेण, प्रेक्षणीयः (प्र+ईक्ष+अनीपर)- दर्शनीयः। **विप्रकृष्टः**-वि+प्र+कृष्+क्त। **संवृत्तः**-सम्+वृत्+क्त।

सूतः—आयुष्मन्, उद्घातिनी भूमिरिति मया रश्मिसंयमनाद् रथस्य मन्दीकृतो वेगः। तेन मृग एष विप्रकृष्टान्तरः संवृत्तः। सम्प्रति समदेशवर्तिनस्ते न दुरासदो भविष्यति।

व्या० एवं श०—उद्घाताः सन्ति यस्यामिति - (ब०ब्री०) उद्घात+इनि+ङीप्। उद्घात पादस्खलन से ऊँची नीची है। **रश्मिसंयमनात्** = रश्मीनां संयमनात् (ष० तत्पुरुष) =

लगाम खींचने से। **मन्दीकृतः** – अमन्दः मन्दः कृतः मन्दीकृतः– मन्द+च्वि+ईत्व+कृ+क्त। धीमा कर दिया। समदेशवर्ती – समः देशः समदेश; (कर्म) समदेशे साधु वर्तते इति समदेशवर्ती तस्य – समदेश+वृत्+णिनि (कर्तरि) षष्ठी एक०व०। दुरासदः–दुःखेन आसाद्यते इति दुरासदः– दुर्+आ+सद्+खल् – दुर्लभ। भविष्यति–भू+लृट्+ प्र०प्र०, एक० व०।

सारथि—चिरञ्जीविन्, भूमि ऊँची-नीची थी, इसलिए मैंने लगाम को खींच कर रथ का वेग (चाल) धीमा कर दिया था। इससे यह मृग अधिक दूरवर्ती हो गया है। अब समतल भूमि पर स्थित आप के लिए (यह) दुर्लभ नहीं होगा (अर्थात् आप इसे सरलता से प्राप्त कर लेगें।)

राजा—तेन हि मुच्यन्तामभीषवः।

शब्दार्थ—अभीषु के दो अर्थ होते हैं—प्रग्रह (लगाम) तथा रश्मि। यहाँ लगाम अर्थ अभीष्ट है। अभीषुः प्रग्रहे रश्मौ–इत्यमरः।

राजा—तो लगाम ढीली कर दो।

सूतः—यदाज्ञापयत्यायुष्मान्। (रथवेगं निरूप्य) **आयुष्मन्, पश्य पश्य—**

सारथि—जो आप की आज्ञा। (रथ वेग का अभिनय कर) चिरञ्जीविन्, देखिये-देखिये—

मुक्तेषु रश्मिषु निरायतपूर्वकाया
निष्कम्पचामरशिखा निभृतोर्ध्वकर्णाः।
आत्मोद्धतैरपि रजोभिरलङ्घनीया
धावन्त्यमी मृगजवाक्षमयेव रथ्याः॥८॥

अन्वय—रश्मिषु मुक्तेषु (सत्सु) अमी रथ्याः मृगजवाक्षमया इव निरायतपूर्वकायाः निष्कम्पचामरशिखाः निभृतोर्ध्वकर्णाःआत्मोद्धतैः अपि रजोभिः अलङ्घनीया (सन्तः) धावन्ति।

शब्दार्थ—रश्मिषु = लगाम को। मुक्तेषु = ढीली कर देने पर। अमी = ये। रथ्याः = रथ के घोड़े। मृगजवाक्षमया इव = मानो हरिण के वेग को सहन न कर सकने के कारण। निरायतपूर्वकायाः = शरीर के आगे के भाग को फैलाये हुये। निष्कम्पचामरशिखाः = जिनकी कलँगी (चमर) का अग्रभाग (शिखा) निश्चल है, (शिर पर) निश्चल अग्रभाग से युक्त कलंगी धारण करने वाले। निभृतोर्ध्वकर्णाः = जिनके कान उठे हुये (खड़े हुए) हैं, निश्चेष्ट तथा ऊपर उठे हुये कानों वाले। आत्मोद्धतैः अपि = अपने (पैरों के) द्वारा उठायी (उड़ायी) गयी भी। रजोभिः = धूलि से। अलङ्घनीयाः = अलङ्घनीय (अतिक्रमण न किये जाने वाले)। धावन्ति = दौड़ रहे हैं।

अनुवाद—लगाम को ढीली कर दिये जाने पर ये रथ के घोड़े मानों हरिण के वेग को सहन न कर सकने के कारण शरीर के आगे के भाग को फैलाये हुये, (शिर पर विद्यमान) कलँगी (चमर) के निश्चल अग्रभाग (शिखा) से युक्त, निश्चेष्ट तथा ऊपर उठे हुये कानों वाले, अपने (पैरों के) द्वारा उठायी (उड़ायी) गयी धूल से भी अलङ्घनीय (होकर) दौड़े रहे हैं।

संस्कृत-व्याख्या—रश्मिषु – प्रग्रहेषु, **मुक्तेषु** – शिथिलीकृतेषु सत्सु, **अमी** – एते, **रथ्याः** – अश्वाः, **मृगजवाक्षमया इव** – हरिणवेगासहनशीलतया इव, **निरायतपूर्वकायाः** – विस्तारितदेहपूर्वभागाः, **निष्कम्पचामरशिखाः** – निश्चलशिरोभूषणाग्रभागाः, **निभृतोर्ध्वकर्णाः** – निश्चेष्टोर्ध्वीकृतकर्णाः, **आत्मोद्धतैःअपि** – स्वखुरोत्थापितैः अपि, **रजोभिः** – धूलिभिः, **अलङ्घनीयाः** – अनतिक्रमणीयाः सन्तः, **धावन्ति** – वेगेन, गच्छन्ति।

संस्कृत–सरलार्थः—धावतो रथाश्वान् दर्शयन् सूतो राजानं ब्रवीति – (आयुष्मन्! पश्य पश्य) प्रग्रहेषु शिथिलीकृतेष्वेतेऽश्वा हरिणवेगासहिष्णुतयेवातिविस्तृतशरीराग्रभागा निष्कम्पचामरशिखाः स्थिरोर्ध्वकर्णाः स्वखुरद्वारेणोत्थितैर्धूलिभिरप्यनतिक्रमणीयाः सन्तो द्रुततरं धावन्ति।

व्याकरण—मुक्तेषु – मुच्+क्त। रथ्याः – रथं वहतीति रथ्यः, रथ+यत्। मृगजवाक्षमया – मृगस्य जवे अक्षमा तया (तत्पु०)। निरायतपूर्वकायाः – नितराम् आयतः पूर्वकायः येषां ते (बहु०)। निष्कम्पचामरशिखाः – निष्कम्पाः चामराणां शिखाः येषां ते (बहु०)। निभृतोर्ध्वकर्णाः – निभृतौ ऊर्ध्वौ च कर्णौ येषां ते (बहु०)। आत्मोद्धतैः – आत्मना स्वेन उद्धतैः उत्थापितैः (स्वखुरद्वारेण) (तत्पु०)।

अलङ्कार—इस श्लोक में (१) 'मृगजवाक्षमया इव' में हेतूत्प्रेक्षा तथा (२) रथ के घोड़ों का स्वाभाविक वर्णन होने से 'स्वभावोक्ति' अलङ्कार है। स्वभावोक्ति का लक्षण द्रष्टव्य श्लोक ७। वृत्त्यनुप्रास भी है।

छन्द—इस में 'वसन्ततिलका' छन्द है। लक्षण— 'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः।'

जिस छन्द के प्रत्येक चरण में क्रमशः तगण (ऽऽ।), भगण (ऽ।।) दो जगण (।ऽ।) तथा दो गुरु (ऽऽ) वर्णों का विन्यास होता है उसे वसन्ततिलका कहते हैं।

टिप्पणी—इस श्लोक में रथ के घोड़ों के लिये चार विशेषणों का प्रयोग हुआ है। उन विशेषणों से घोड़ों की अत्यन्त तीव्र गति का बोध होता है। अति वेग से दौड़ने के कारण ही (१) उनके शरीर का अगला भाग फैल कर लम्बा हो गया है 'निरायत', (२) उनकी कलँगी (शिरोभूषण) निश्चल सी हो रही है—'निष्कम्पचामर', (३) उनके कान खड़े तथा निष्कम्प हो गये हैं–'निभृतोर्ध्वकर्णाः', (४) उनके पैरोंसे उड़ायी गयी धूल भी उनके शरीर पर नहीं पड़ती 'रजोभिरलङ्घनीयाः'।

राजा—सत्यम्। अतीत्य हरितो हरींश्च वर्तन्ते वाजिनः। तथा हि

व्याकरण तथा शब्दार्थ— '**हरितः**' हरित् का द्वि० बहु०। सूर्य के घोड़ों को '**हरित्**' कहते हैं। इसीलिये सूर्य को '**हरिदश्व**' कहा जाता है। '**हरीन्**' '**हरि**' का द्वि० बहु०, इन्द्र के घोड़े को '**हरि**' कहा जाता है इसीलिये इन्द्र '**हरिहय**' कहलाते हैं।

राजा—सच है। (ये) घोड़े सूर्य और इन्द्र के घोड़ों का भी (वेग में) अतिक्रमण कर रहे हैं (अर्थात् इन घोड़ों ने सूर्य तथा इन्द्र के घोड़ों को भी परास्त कर दिया है।) क्योंकि—

यदालोके सूक्ष्मं व्रजति सहसा तद् विपुलतां
यदर्द्धा विच्छिन्नं भवति कृतसन्धानमिव तत्।
प्रकृत्या यद् वक्रं तदपि समरेखं नयनयो-
र्न मे दूरे किञ्चित् क्षणमपि न पार्श्वे रथजवात्॥९॥

अन्वय—रथजवात् यत् आलोके सूक्ष्मं तत् सहसा विपुलतां व्रजति, यत् अर्द्धा विच्छिन्नं तत् कृतसन्धानम् इव भवति, यत् प्रकृत्या वक्रं तत् अपि नयनयोः समरेखम्, क्षणम् अपि किञ्चित् न मे दूरे न (च) पार्श्वे (अस्ति)।

शब्दार्थ—रथजवात् = रथ के वेग के कारण। यत् = जो (वस्तु)। आलोके = (दूर से) देखने में। सूक्ष्मम् = छोटी। तत् = वह (वस्तु)। सहसा = अकस्मात्। विपुलताम् =

विशालता को। व्रजति = प्राप्त हो जाती है। यत् = जो। अद्धा = वस्तुतः। विच्छिन्नम् = विभक्त (कटी हुई)। तत् = वह। कृतसन्धानम् इव = जुड़ी सी (मिली हुई सी)। भवति = हो जाती है। नयनयोः = आँखों के लिये। समरेखम् = समान रेखा वाली (सीधी हो जाती है)। क्षणम् = क्षण भर के लिये। अपि = भी। किञ्चित् = कोई (वस्तु)। न = नहीं। मे = मुझसे। दूरे = दूर। न = नहीं। पार्श्वे = पास (दिखायी देती है)।

अनु०—रथ के वेग के कारण जो (वस्तु दूर से) देखने में छोटी (दिखायी पड़ती है), वह अकस्मात् विशालता को प्राप्त हो जाती है (अर्थात् बड़ी जो जाती है)। जो (वृक्षादि वस्तु) वस्तुतः विभक्त (कटी हुई पृथक् पृथक् है), वह जुडी हुई सी (मिली हुई सी) (प्रतीत) होती है। जो (वस्तु) स्वभावतः टेढ़ी है, वह भी आँखों के लिये सीधी-सी (हो जाती है।) (सम्प्रति) क्षण भर के लिये भी कोई (वस्तु) न मुझसे दूर है और न पास है।

संस्कृत-व्याख्या—**रथजवात्** – स्यन्दनवेगात्, **यत्** – यद्वस्तु, **आलोके** – (दूरात्) दर्शने, **सूक्ष्मं** – क्षुद्रं दृश्यते, **तत्** – तदेव वस्तु, **सहसा** – तत्क्षणमेव। **विपुलतां** – विशालताम्, **व्रजति** – प्राप्नोति; स्थूलं दृश्यते इत्यर्थः, **यत्** – यद्वस्तु, **अद्धा** – वस्तुतः, **विच्छिन्नम्** – विभक्तम्, **तत्** – तद्वस्तु, **कृतसन्धानमिव** – अपृथग्भूतमिव, **भवति** – जायते; **यत्** – यद्वस्तु, **प्रकृत्या** – स्वभावतः, **वक्रं** – कुटिलम् अस्ति, **तदपि** – तदपि वस्तु, **नयनयोः** – नेत्रयोः, **समरेखं** – सरलम्, प्रतीयते इति शेषः, **क्षणमपि** – स्वल्पकालमपि, **किञ्चित्** – किञ्चिद्वस्तु, **न मे दूरे** – न मत्तो दूरे, **न पार्श्वे** — न समीपे, **विद्यते** – इति शेषः।

संस्कृत-सरलार्थः—रथवेगं वर्णयन् राजा वदति सूतम्–'रथवेगकारणाद् यद्वस्तु दूरात् सूक्ष्मरूपमस्ति तत्सहसा विशालं जायते यद् (वस्तु) वस्तुतो विभक्तं वर्तते, तत् (वस्तु) सम्मिलितमिव दृश्यते। स्वभावतो वक्रमपि वस्तु सरलरेखासमं प्रतीयते। अस्मिन् काले क्षणमपि किञ्चिद्वस्तु न मम दूरेऽस्ति न च समीपे वर्तते। रथस्यातिवेगकारणाद्हेतोर्वस्तूनां समीस्थदूरस्थव्यवस्था न वर्तत इति भावः।

व्याकरण—रथजवात् – रथस्य जवात् (तत्पु०) 'हेतौ' सूत्र से हेतु अर्थ में पञ्चमी। विच्छिन्नम् – वि + छिद् + क्त। कृतसन्धानम् – कृतं सन्धानं यस्य (बहु०)। प्रकृत्या – 'प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्' सूत्र से तृतीया। समरेखम् – समा रेखा यस्य (बहु०)। 'विच्छिन्नम्', 'कृतसन्धानम्' तथा 'समरेखम् ये तीनों पद 'वस्तु' के विशेषण हैं।

अलङ्कार—श्लोक के चारों चरणों में (१) **'स्वभावोक्ति'** अलङ्कार है क्योंकि उनमें तीव्रगति वाहन से यात्रा करने वाले व्यक्ति को जो यथार्थ अनुभूति होती है उसका स्वाभाविक वर्णन है। (२) द्वितीय एवं तृतीय पाद में **उत्प्रेक्षा** अलङ्कार है। द्वितीय पाद में **'इव'** का प्रयोग न होने से **गम्योत्प्रेक्षा** है। चतुर्थ में **यथासंख्य** अलङ्कार है।

छन्द—श्लोक में **शिखरिणी** छन्द है। शिखरिणी छन्द के प्रत्येक चरण में क्रमशः दो यगण (।ऽऽ), एक मगण (ऽऽऽ), नगण (।।।), सगण (।।ऽ) तथा भगण (ऽ।।) एक लघु और एक गुरु वर्ण होता है। इसमें प्रत्येक चरण के छठें एवं ग्यारहवें वर्ण पर यति होती है। छन्द का लक्षण है—'रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनसभलागः शिखरिणी'।

टिप्पणी—तीव्र गति के वाहन से यात्रा करने पर जिन चार तथ्यों की साक्षात् अनुभूति होती है', श्लोक में उन तथ्यों का यथार्थ वर्णन है—(१) दूर से देखने में अतिसूक्ष्म दिखायी देने

वाली वस्तु निकट आने पर बड़ी हो जाती है। (२) दूर से पृथक् पृथक् दृष्टिगोचर होने वाले नदी-वृक्ष आदि समीप आने पर परस्पर जुड़े हुये दिखायी पड़ते है। (३) दूर से टेढ़े (मुड़े) दिखायी देने वाले मार्ग समीप आने पर सीधे दिखायी देते हैं। (४) वाहन के अति वेग के कारण दूरस्थ वस्तु झटिति समीपस्थ और समीपस्थ तुरन्त दूरस्थ हो जाती है।

सूत, पश्यैनं व्यापाद्यमानम्। (इति शरसन्धानं नाटयति)।

व्या० एवं श०— व्यापाद्यमानम् – वि+आ+पद्+णिच्+शानच् – मारे जाते हुये।

सारथि, मारे जाते हुये इस (मृग) को देखो, (अर्थात् देखो, अब मैं इस मृग को मारता हूँ)। (ऐसा कह कर बाण चढ़ाने का अभिनय करते हैं)।

(नेपथ्ये) **भो भो राजन्, आश्रममृगोऽयं न हन्तव्यो न हन्तव्यः।**

(नेपथ्य में) हे राजन् , यह आश्रम का मृग है, इसे मत मारिये; मत मारिये।

सूतः—(आकर्ण्यावलोक्य च) **आयुष्मन्, अस्य खलु ते बाणपथवर्तिनः कृष्णसारस्यान्तरे तपस्विन उपस्थिताः।**

सारथि—(सुनकर और देखकर) हे आयुष्मन्! आप के बाण के मार्ग में (अर्थात् बाण के लक्ष्यभूत) इस मृग के (और आप के) बीच में तपस्वी उपस्थित हो गये हैं।

राजा—(ससंभ्रमम्) **तेन हि प्रगृह्यन्तां वाजिनः।**

व्या० श०— प्रगृह्यन्ताम्–प्र + ग्रह् + यक् (कर्मणि) लोट् प्र०पु० ब०व० = रोके जाँय।

राजा—(घबराहट के साथ) तो घोड़े रोक लिये जाँय।

सूतः—तथा। (इति रथं स्थापयति)।

सारथि—ठीक है। (रथ को रोकता है)।

(ततः प्रविशति सशिष्यो वैखानसः)

(तदन्तर शिष्यों के साथ तपस्वी प्रवेश करता है)।

वैखानसः—(हस्तमुद्यम्य) **राजन्, आश्रममृगोऽयं न हन्तव्यो न हन्तव्यः।**

तपस्वी—(हाथ उठाकर) हे राजन्, यह आश्रम का मृग है, इसे मत मारिये, मत मारिये।

विशेष—वैखानसः– विखनस + अण। वैखानस को तपस्वी कहते हैं— वानप्रस्थश्च तापसः— वैजयन्ती। भरत के विधानानुसार वैखानस (तपस्वी) भी संस्कृत में बोलते हैं—........ तापसश्रोत्रियेषु च, द्विजा ये चैव लिङ्गस्थाः संस्कृतं तेषु योजयेत्। हस्तम् उद्यम्य = हाथ उठकार।

न खलु न खलु बाणः सन्निपात्योऽयमस्मिन्
मृदुनि मृगशरीरे तूलराशाविवाग्निः।
क्व बत हरिणकानां जीवितं चातिलोलं
क्व च निशितनिपाता वज्रसाराः शरास्ते।।१०।।

अन्वय—अस्मिन् मृदुनि मृगशरीरे तूलराशौ अग्निः इव अयं बाणः न खलु न खलु सन्निपात्यः। बत हरिणाकानाम् अतिलोलं जीवितं क्व च ! निशितनिपाताः वज्रसाराः ते शराः च क्व !

शब्दार्थ—अस्मिन् = इस। मृदुनि = कोमल। मृगशरीरे = हरिण के शरीर **पर।** तूलराशौ = रुई के ढेर पर। अग्निः इव = अग्नि के समान। अयं = यह। बाणः = **बाण। न** खलु न खलु सन्निपात्यः = न छोड़िये (न चलाइये) न छोड़िये (न चलाइये)। बत = **हाय!** हरिणकानाम् = बेचारे (क्षुद्र) हरिणों का। निशितनिपाताः = तीक्ष्ण प्रहार करने वाले। **वज्रसाराः** = वज्र के समान कठोर। ते = आपके। शराः = बाण। क्व = कहाँ ?

अनुवाद—इस कोमल मृग के शरीर पर रुई के ढेर पर अग्नि के समान, यह **बाण** न चलाइये (न छोड़िये), न चलाइये (न छोड़िये)। हाय ! बेचारे हरिणों का अत्यन्त चञ्चल जीवन कहाँ ? और तीक्ष्ण प्रहार करने वाले वज्र के समान कठोर आप के बाण कहाँ ?

संस्कृत व्याख्या—अस्मिन् – एतस्मिन्, **मृदुनि** – कोमले, **मृगशरीरे** – हरिणदेहे, **तूलराशौ** – कार्पासपुञ्जे, **अग्निरिव** – वह्निरिव, **अयं बाणः** – एष शरः, तव करस्थः **इति** भावः, **न खलु न खलु सन्निपात्यः** – नैव निक्षेप्यः, **बत** – हन्त, **हरिणकानाम्** – क्षुद्रमृगाणाम्, **अतिलोलम्** – अत्यन्तचञ्चलम्, **जीवितम्** – जीवनम्, **क्व च** – कुत्र च, वर्तते इति शेषः, **निशितनिपाताः** – तीक्ष्णप्रहाराः, **वज्रसारा** – वज्रस्यैव सारः बलं येषां ते, अतिकठिना इत्यर्थः;, **ते** – तव, **शराश्च** – बाणाश्च, **क्व** – कुत्र, वर्तन्ते इति शेषः।

संस्कृत-सरलार्थः—वैखानसो हस्तमुद्यम्य राजानं वारयन् कथयति यदस्मिन सुकुमारे हरिणदेहे कार्पासपुञ्जेऽग्निरिवायं बाणो नैव क्षेपणीयः। यतो हि हरिणशावकानां जीवनमतिचञ्चलं भवति ते च बाणा वज्रनिभाः घोरकठिनाः तीक्ष्णप्रहाराः भवन्ति। द्वयोर्महदन्तरमिति त्वया (राज्ञा) तेषु मृगपोतकेषु दया कर्तव्येति भावः॥

व्याकरण— मृगशरीरे – मृगस्य शरीरे (तत्पु०)। तूलराशौ – तूलस्य राशौ (तत्पु०)। सन्निपात्यः – सम् + नि + पत् + णिच् + यत्। हरिणकानाम् – अनुकम्पनीयाः हरिणाः हरिणकाः, अनुकम्पार्थ में 'क' प्रत्यय। निशितनिपाता – निशिताः तीक्ष्णाः निपाताः येषां ते (बहु०)। वज्रसाराः – वज्रवत् सारो येषां ते (बहु०)।

अलङ्कार—(१) श्लोक के उत्तरार्ध (अन्तिम दो चरणों) के सामान्य कथन से पूर्वार्ध (प्रथम दो चरणों) के विशेष कथन का समर्थन होने से **अर्थान्तरन्यास** अलङ्कार है। लक्षण द्रष्टव्य श्लोक - २। (२) तूलराशौ + इव में उपमा है। 'वज्रसाराः' में लुप्तोपमा है। उपमा का लक्षण है — जहाँ दो भिन्न-भिन्न उपमेय - उपमान का साधर्म्य 'साधर्म्यमुपमाभेदे' (साम्य) वर्णित हो वहाँ 'उपमा' अलङ्कार होता है। यहाँ मृग की तुलना तूल राशि तथा बाण की तुलना अग्नि से की गयी है। (३) यहाँ दो 'क्व' के प्रयोग 'क्व हरिणकानाम्.....' 'क्व निशित निपाता' से अति विरुद्ध कार्यों के संघटन से यहाँ **विषम** अलङ्कार है।

छन्द—इस पद्य में 'मालिनी' छन्द है। लक्षण— **ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलौकेः।**

अर्थात्, जिस छन्द के प्रत्येक चरण में दो नगण (।।।), एक मगण (ऽऽऽ) तथा दो यगण (।ऽऽ) वर्ण हों तथा सातवें एवं आठवें अक्षर पर यति हो, वहाँ मालिनी छन्द होता है।

टिप्पणी—जिस प्रकार रुई के ढेर पर अग्नि छोड़ना उचित नहीं है उसी प्रकार हरिण

पर बाण छोड़ना उचित नहीं। हरिण सुकुमार पशु है जो साधारण प्रहार से भी मर सकता है, अतः उसके जीवन को अत्यधिक चञ्चल बताया गया है। (२) दो बार 'क्व' का प्रयोग कर हरिण और बाण की अत्यधिक भिन्नता को दिखाया गया है। अत्यन्त भिन्न दो वस्तुओं को सम्पर्क में लाना अनुचित होता है। (३) 'वज्रसाराः' शब्द का प्रयोग कर यह सूचित किया गया है कि वज्रतुल्य बाण वाले के लिये हरिण जैसे कमजोर पशु को मारना सर्वथा शोभा नहीं देता है।

तत् साधुकृतसन्धानं प्रतिसंहर सायकम्।
आर्तत्राणाय वः शस्त्रं न प्रहर्तुमनागसि ।।११।।

अन्वय—तत् साधुकृतसन्धानं सायकं प्रतिसंहर। वः शस्त्रम् आर्तत्राणाय, अनागसि प्रहर्तुं न।

शब्दार्थ—तत् = इसलिये। साधुकृतसन्धानम् = अच्छी प्रकार धनुष पर चढ़ाये गये। सायकम् = बाण को। प्रतिसंहर = उतार लीजिये। वः = आप का। शस्त्रम् = शस्त्र (आयुध)। आर्तत्राणाय = पीड़ितों की रक्षा के लिये (है)। अनागसि = निरपराध पर। प्रहर्तुम् = प्रहार करने के लिये, न = नहीं (है)।

अनुवाद—इसलिये (राजन्!) धनुष पर अच्छी प्रकार चढ़ाये गये बाण को उतार लीजिये। आप का शस्त्र पीड़ितों की रक्षा के लिये (है), निरपराध पर प्रहार करने के लिये नहीं (है)।

संस्कृत-व्याख्या—**तत्** – तस्मात्, **साधुकृतसन्धानम्** – सम्यक्धनुष्यारोपितम्, **सायकम्** – बाणम्, **प्रतिसंहर** – अवरोपय, **वः** – युष्माकम्, **शस्त्रम्** – आयुधम्, **आर्तत्राणाय** – पीडितरक्षणाय (अस्ति), **अनागसि** – निरपराधे, **प्रहर्तुम्** – प्रहारं कर्तुम् **न** – नहि (वर्तते)।

संस्कृत-सरलार्थः—वैखानसो हस्तमुत्थाय राजानं वारयन् कथयति यदयमाश्रम- मृगोऽतस्त्वया न हन्तव्यः। सम्यक् तया धनुष्यारोपितोऽयं बाणस्त्वया द्रुतं प्रत्यावर्तनीयो यतो हि युष्मादृशां प्रजारक्षकाणां राज्ञां शस्त्रं पीडितानां रक्षणायास्ति निरपराधे मृगसन्निभे जीवे प्रहर्तुं नास्ति।

व्याकरण—साधुकृतसन्धानम् – साधु कृतं सन्धानं यस्य तम् (बहु०)। आर्तत्राणाय– आर्तानां त्राणाय (तत्पु०)। अनागसि – अविद्यमानम् आगः यस्य तस्मिन् (त०पु०)।

अलङ्कार—इस श्लोक में पूर्वार्द्ध वाक्य के प्रति उत्तरार्ध वाक्य (अन्वय - व्यतिरेक रूप से) कारण रूप से प्रयुक्त है, अतः 'काव्यलिङ्ग' अलङ्कार है। काव्यलिङ्ग का लक्षण द्रष्टव्य श्लोक ४। साथ ही, उत्तरार्द्ध के सामान्य कथन से पूर्वार्द्ध के विशेष कथन का समर्थन हुआ है, अतः अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है। लक्षण द्रष्टव्य श्लोक - २।

छन्द—यहाँ **'अनुष्टुप्'** छन्द है। लक्षण द्रष्टव्य श्लोक ५।

राजा—एष प्रतिसंहृतः। (इति यथोक्तं करोति)।

राजा—यह (बाण धनुष पर से) उतार लिया गया है। (राजा कथनानुसार करते हैं अर्थात् बाण को धनुष से उतार लेते हैं)।

वैखानसः—सदृशमेतत् पुरुवंशप्रदीपस्य भवतः।

तपस्वी—पुरुवंश के दीपक आप के लिये यह उचित ही है।

जन्म यस्य पुरोर्वंशे युक्तरूपमिदं तव।
पुत्रमेवं गुणोपेतं चक्रवर्तिनमाप्नुहि ।।१२।।

अन्वय—यस्य पुरोः वंशे जन्म, तव इदं युक्तरूपम्। एवंगुणोपेतं चक्रवर्तिनं पुत्रम् आप्नुहि।

शब्दार्थ—यस्य = जिसका। पुरोः वंशे = पुरु के वंश में। जन्म = जन्म (हुआ है)। तव = (ऐसे) आप के लिये। इदम् = यह। युक्तरूपम् = अत्यन्त उचित (है)। एवं गुणोपेतम् = इसी प्रकार के गुणों से युक्त। चक्रवर्तिनं पुत्रम् = चक्रवर्ती पुत्र को। आप्नुहि = प्राप्त करें।

अनुवाद—जिसका पुरु के वंश में जन्म (हुआ है), (उस) आपके लिये यह (तपस्वी के कहने से बाण को धनुष से उतारना) अत्यन्त उचित है। (आप) इसी प्रकार के गुणों से युक्त चक्रवर्ती पुत्र को प्राप्त करें।

संस्कृत-व्याख्या—यस्य – भवतः, **पुरोः वंशे** – ययातिपुत्रस्य वंशे, **जन्म** – उत्पत्तिः, **तव** – भवतः दुष्यन्तस्य, **इदम्** – एतत् (अस्मत्कथनमात्रेण बाणप्रतिसंहरणम्), **युक्तरूपम्** – अतिशयेन युक्तम्, **एवंगुणोपेतम्** – स्वानुरूपगुणसंयुतम्, **चक्रवर्तिनं** – सार्वभौमम्, **पुत्रम्** – सुतम् , **आप्नुहि** – प्राप्नुहि।

संस्कृत-सरलार्थः—वैखानसः राजानं दुष्यन्तं प्रसन्नः सन् वदति यद् राजन्! भवत्ता मुनिवचनं पालितमेव तत्तु पुरुवंशोत्पन्नस्य भवतोऽनुकूलमेव। अस्माकमाशीर्वचनमिदं यद्भवानीदृशैरेव गुणैर्युक्तं चक्रवर्तिनं पुत्रं प्राप्नुयादिति।

व्याकरण—एवंगुणोपेतं – एवंगुणैः उपेतम् (तत्पु०)। आप्नुहि – आप् + लोट् + म०पु० एक०। चक्रवर्तिनम् – चक्रे भूचक्रे वर्तितुं शीलमस्येति तम् चक्र+वृत्+णिनि।

अलङ्कार—श्लोक का प्रथम चरण द्वितीय चरण का हेतु है, अतः काव्यलिङ्ग है।

छन्द—यहाँ भी अनुष्टुप् छन्द है। लक्षण द्रष्टव्य श्लोक ५।

टिप्पणी—(१) समस्त भूमण्डल पर शासन करने वाला राजा चक्रवर्ती कहलाता है। (२) पुरु चन्द्रवंश के प्रसिद्ध राजा थे। परवर्ती काल में पुरुवंश को चन्द्रवंश कहा जाने लगा।

इतरौ—(बाहू उद्यम्य) **सर्वथा चक्रवर्तिनम् पुत्रमाप्नुहि।**

अन्य दोनों (तपस्वी)— (अपने-अपने हाथों को उठाकर कहते हैं) अवश्य ही चक्रवर्ती पुत्र को प्राप्त करें।

राजा—(सप्रणामम्) **प्रतिगृहीतम्।**

राजा—(प्रणाम पूर्वक) (आप ब्राह्मणों का वचन मैंने) स्वीकार कर लिया।

वैखानसः—राजन्, समिदाहरणाय प्रस्थिता वयम्। एष खलु कण्वस्य कुलपतेरनुमालिनीतीरमाश्रमो दृश्यते। न चेदन्यकार्यातिपातः प्रविश्य प्रतिगृह्यतामातिथेयः सत्कारः। अपि च—

तपस्वी—हे राजन्, हम लोग समिधा लाने के लिये निकले हुये हैं। यह (सामने) मालिनी नदी के तट पर कुलपति कण्व का आश्रम दिखायी पड़ रहा है। यदि (आपके) अन्य कार्य में विलम्ब (अतिपात) न हो तो (आश्रम में) प्रवेश कर (अर्थात् आश्रम में जाकर) अतिथिजनों के योग्य सत्कार को स्वीकार कीजिये। और भी—

टिप्पणी—दस हजार विद्यार्थियों के पालन-पोषण कर्त्ता तथा शिक्षक को कुलपति कहा जाता है। जो दस सहस्र विद्यार्थियों को अन्नादि के द्वारा उनका पोषण करते हुये उन्हें पढ़ाता है, उसे कुलपति कहा जाता है—

मुनीनां दशसाहस्रं योऽन्नपानादिपोषणात्।
अध्यापयति विप्रर्षिः स वै कुलपतिः स्मृतः॥

रम्यास्तपोधनानां प्रतिहतविघ्नाः क्रियाः समवलोक्य।
ज्ञास्यसि कियद् भुजो मे रक्षति मौर्वीकिणाङ्क इति॥१३॥

अन्वय—तपोधनानां प्रतिहतविघ्नाः रम्याः क्रियाः समवलोक्य मौर्वीकिणाङ्को मे भुजः कियत् रक्षति इति ज्ञास्यसि।

शब्दार्थ—तपोधनानाम् = तपस्वियों की। प्रतिहतविघ्नाः = विनष्ट (यज्ञादि) विघ्नों वाली (निर्विघ्न)। रम्याः = रमणीय। क्रियाः = (यज्ञादि) क्रियाओं को। समवलोक्य = सम्यक् देखकर। मौर्वीकिणाङ्कः = धनुष की डोरी (प्रत्यञ्चा) की रगड़ से उत्पन्न चिह्न के द्वारा अलङ्कृत। मे = मेरी। भुजः = भुजा। कियत् = कितनी। रक्षति = रक्षा करती है। इति ज्ञास्यसि = यह जान लेंगे।

अनुवाद—तपस्वियों की निर्विघ्न (विघ्नों रहित) रमणीय (यज्ञादि) क्रियाओं को सम्यक् देखकर, 'धनुष की डोरी (प्रत्यञ्चा) की रगड़ से उत्पन्न चिह्न के द्वारा अलङ्कृत मेरी भुजा (प्रजा की) कितनी रक्षा करती है', यह (आप) जान लेंगे।

संस्कृत-व्याख्या—तपोधनानाम् – तपस्विनाम्, **प्रतिहतविघ्नाः** – विघ्नरहिताः, **क्रियाः** – यज्ञादिक्रियाः, **समवलोक्य** – सम्यक्दृष्ट्वा, **मौर्वीकिणाङ्कः** – ज्याव्रणभूषितः, **मे** – मम, **भुजः** – बाहुः, **कियत्** – कीदृक्, **रक्षति** – (प्रजाः) पालयति, **इति ज्ञास्यसि** –इति ज्ञानं प्राप्स्यसि।

संस्कृत-सरलार्थः—वैखानसः पुनर्दुष्यन्तं ब्रवीति यत् कण्वाश्रमं गत्वा तत्रत्यानां तपस्विनां यज्ञानुष्ठानादिक्रियां निर्विघ्नां विलोक्य च भवान् स्वयमेव ज्ञास्यति यद् ज्याघातचिह्नभूषितो भवद्बाहुः कियत्परिमाणमाश्रमपरिरक्षणं करोति हि। तापसानां विघ्नविरहिताः क्रिया एव भवत आश्रमरक्षणशक्तिं बोधयिष्यन्तीति भावः।

व्याकरण—तपोधनानां – तपः एव धनं येषाम् तेषाम् (बहु०) प्रतिहतविघ्नाः – प्रतिहताः विघ्नाः यासां ताः (बहु०)। मौर्वीकिणाङ्कः – मौर्व्याः किणः अंकः यस्य सः (बहु०)। ज्ञास्यसि – ज्ञा + लृट् म०प्र०ए०क०।

अलङ्कार—इस श्लोक में 'क्रिया' के 'रम्याः' एवं 'प्रतिहतविघ्ना' ये सार्थक विशेषण हैं। अतः 'परिकर' अलङ्कार है। इसी प्रकार किण और अङ्क में '**पुनरुक्तवदाभास**' है।

छन्द—यहाँ आर्या छन्द है। लक्षण द्रष्टव्य श्लोक २।

राजा—अपि सन्निहितोऽत्र कुलपतिः ?

राजा—क्या कुलपति यहाँ (आश्रम में) विद्यमान हैं ?

वैखानसः—इदानीमेव दुहितरं शकुन्तलामतिथिसत्काराय नियुज्य दैवमस्याः प्रतिकूलं शमयितुं सोमतीर्थं गतः।

तपस्वी—अभी ही (अपनी) पुत्री शकुन्तला को अतिथि-सत्कार के लिये नियुक्त करके इसके (शकुन्तला के) प्रतिकूल भाग्य को शान्त करने के लिये सोमतीर्थ गये हैं।

राजा—भवतु। तामेव द्रक्ष्यामि। सा खलु विदितभक्तिं मां महर्षेः कथयिष्यति।

राजा—अच्छा, उसी (कुलपति की पुत्री) का ही दर्शन करूँगा। वह मेरी (महर्षि कण्व के प्रति) भक्ति को जानकर महर्षि (कण्व) से कहेगी।

वैखानसः—साधयामस्तावत् ।

शब्दार्थ—साधयामः = गच्छामः। (इति सशिष्यो निष्क्रान्तः)।

तपस्वी—अच्छा, हम जाते हैं। (शिष्यों के साथ निकल जाता है।)

राजा—सूत, नोदयाश्वान् पुण्याश्रमदर्शनेन तावदात्मानं पुनीमहे।

शब्दार्थ—नोदय = प्रेरय (हाँको)।

राजा—सारथि, अश्वों को हाँको। पवित्र आश्रम के दर्शन से अपने को पवित्र करें।

सूतः—यदाज्ञापयत्यायुष्मान्। (इति भूयो रथवेगं रूपयति)।

सारथि—आयुष्मन्! जैसी आप की आज्ञा (वह पुनः रथ के वेग का अभिनय करता है)।

राजा—(समन्तादवलोक्य) **सूत, अकथितोऽपि ज्ञायत एवायमाभोगस्तपोवनस्येति।**

शब्दार्थ—आभोगः = आश्रमपरिसरः = आश्रम का परिसर।

राजा— (चारों ओर देखकर) सारथि, बिना कहे भी ज्ञात ही हो रहा है कि यह तपोवन की सीमा (आभोग) है।

सूतः—कथमिव?

सारथि—कैसे?

राजा—किं न पश्यति भवान्। इह हि—

राजा—क्या आप नहीं देखते हैं। क्योंकि यहाँ—

नीवाराः शुकगर्भकोटरमुखभ्रष्टास्तरूणामधः
प्रस्निग्धाः क्वचिदिङ्गुदीफलभिदः सूच्यन्त एवोपलाः।
विश्वासोपगमादभिन्नगतयः शब्दं सहन्ते मृगा-
स्तोयाधारपथाश्च वल्कलशिखानिष्यन्दरेखाङ्किताः॥१४॥

अनुवाद—(क्वचित्) तरूणाम् अधः शुकगर्भकोटरमुखभ्रष्टाः नीवाराः (दृश्यन्ते), क्वचित् इङ्गुदीफलभिदः प्रस्निग्धाः उपलाः एव सूच्यन्ते, (क्वचित्) विश्वासोपगमात् अभिन्नगतयः मृगाः शब्दं सहन्ते, (क्वचित्) च तोयाधारपथाः वल्कलशिखानिष्यन्दरेखाङ्किताः (दृश्यन्ते)।

शब्दार्थ—तरूणाम् = वृक्षों के। अधः = नीचे। शुकगर्भकोटरमुखभ्रष्टाः = तोतों से युक्त कोटरों (पेड़ के खोखलों) के मुख (अग्रभाग) से गिरे हुये। नीवाराः = नीवार। क्वचित् = कहीं पर। इङ्गुदीफलभिदः = इङ्गुदी के फल को तोड़ने वाले। प्रस्निग्धाः = चिकने। उपलाः = पत्थर। एव = ही। सूच्यन्ते = दिखायी दे रहे हैं। विश्वासोपगमात् = विश्वास उत्पन्न हो जाने के

'कारण। अभिन्नगतयः = समान गति वाले (निःशङ्क गति वाले)। मृगाः = हरिण। शब्दम् = (रथ के) शब्द (ध्वनि) को। सहन्ते = सहन कर रहे हैं अर्थात् शब्द सुनकर भीत नहीं हो रहे है। च = और। तोयाधारपथाः = जलाशयों की ओर जाने वाले मार्ग। वल्कलशिखानिष्यन्दरेखाङ्किताः = वल्कलवस्त्रों के अग्रभाग (सिरे, छोर) से टपकने वाले (जल की) रेखा से चिह्नित हैं।

अनुवाद—(कहीं पर) वृक्षों के नीचे तोतों से युक्त कोटरों के द्वार से गिरे हुये नीवार (जङ्गली धान) (दिखायी पड़ रहे हैं)। कहीं पर इङ्गुदी के फलों को तोड़ने वाले चिकने पत्थर दृष्टिगोचर हो रहे हैं। (कहीं पर) विश्वास उत्पन्न हो जाने के कारण निःशङ्क (निर्भय) गति वाले हरिण (रथ की) ध्वनि (घरघराहट) को सहन कर रहे हैं (अर्थात् भय से इधर-उधर नहीं भाग रहे हैं)। और (कहीं पर) जलाशयों (सरोवरों) की ओर जाने वाले मार्ग वल्कलवस्त्रों के छोर से टपकने वाले (जल की) रेखा से चिह्नित (दिखायी दे रहे हैं)।

संस्कृत-व्याख्या—(क्वचित्)। **तरूणाम्** – वृक्षाणाम्, **अधः** – तलप्रदेशे, **शुकगर्भकोटरमुखभ्रष्टाः** – शुकाः कीराः गर्भे – मध्ये येषां तेषां कोटराणां वृक्षविवराणां मुखेभ्यः भ्रष्टाः – पतिताः, **नीवाराः** – तृणधान्यानि, दृश्यन्ते इति शेषः, **क्वचित्** – कुत्रचित्, **इङ्गुदीफलभिदः** – मुनितरुफलभेदकाः, **प्रस्निग्धाः** – प्रकर्षेण चिक्कणाः, **उपलाः एव** – प्रस्तराः एव, **सूच्यन्ते** – दृश्यन्ते; (क्वचित्) **विश्वासोपगमात्** – विश्वासलाभात्, **अभिन्नगतयः** – अविकृतसञ्चाराः, **मृगाः** – हरिणाः, **शब्दं** – रथध्वनिम्, **सहन्ते** – सुखेन शृण्वन्तिः (क्वाचित्) च, **तोयाधारपथाः** – उटजाज्जलाशयगमनमार्गाः, **वल्कलशिखानिष्यन्दरेखाङ्किताः** – वल्कलानां तरुत्वङ्निर्मितमुनिवाससां शिखाभ्यः अग्रभागेभ्यः ये निष्यन्दाः जलधाराः तेषां रेखाभिः अङ्किताः चिह्निताः (दृश्यन्ते)।

संस्कृत-सरलार्थः—राज्ञो दुष्यन्तस्य—'सूत! अकथितोऽपि ज्ञायत एवायमाभोगस्तपोवनस्येति वचनं श्रुत्वा सूतस्य कथमिवेति जिज्ञासां समादधद् राजा वक्ति 'यदत्र वृक्षाणामधः शुककोटराग्रभागपतिता नीवारा दृश्यन्ते। कुत्रचिदिङ्गुदीफलभेदका अतएव विशेषेण चिक्कणास्तैलसिक्ताः पाषाणा दृष्टिगोचरतां यान्ति। कुत्रचिच्च मुनीनां विश्वासलाभादविकृतगतयो मृगा रथध्वनिं धैर्येणाकर्णयन्ति नतु पलायन्ते। कुत्रचिच्चोटजाज्जलाशयगमनमार्गा वल्कलशिखानिःष्यन्दरेखाभिश्चिह्निता विलोक्यन्ते। एभिश्चिह्नैर्ज्ञायते यदयमाश्रमाभोग इति।

व्याकरण—शुकगर्भकोटरमुखभ्रष्टाः–शुकाः गर्भे येषाम् (बहु०) तेषां कोटराणां मुखेभ्यः भ्रष्टाः (तत्पु०)। **विश्वासोपगमात्** – विश्वासस्य उपगमात् (तत्पु०)। अभिन्नगतयः – अभिन्ना गतिः येषां ते (बहु०)। **तोयाधारपथाः** – तोयंस्य आधाराणां पन्थानः (तत्पु०)। **वल्कलशिखानिष्यन्दरेखाङ्किताः** – वल्कनानां शिखाभ्यः ये निष्यन्दाः तेषां रेखाभिः अङ्किता (तत्पु०)।

अलङ्कार—(१) इस श्लोक में आश्रम का अत्यन्त स्वाभाविक वर्णन होने से 'स्वभावोक्ति' अलङ्कार है। लक्षण द्रष्टव्य श्लोक ७। श्लोक के अन्तिम चरण के – 'पथाश्च' में 'च' के प्रयोग से तीन चरणों (प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय) के क्रमशः 'नीवाराः—अधः' प्रस्निग्धा एवोपलाः', 'विश्वासोपगमात् – सहन्ते मृगाः' इन तीन वाक्यों का समुच्चय होने से 'समुच्चय' अलङ्कार है। (३) समुच्चय का लक्षण है— तत्सिद्धिहेतावेकस्मिन् यत्रान्यत् तत्करं भवेत्। समुच्चयोऽसौ। (का० प्र०) अर्थात् जहाँ कार्य की सिद्धि के एक हेतु रहने पर भी अन्य हेतु उसके साधक बन जाय वहाँ 'समुच्चय' अलङ्कार होता है। यहाँ चतुर्थ चरण के तोयाधारपथा – अङ्किताः' के साथ अन्य

तीन हेतु भी 'आश्रम' की सिद्धि में साधक हैं। (४) यहाँ राजा के द्वारा अनेक साधक प्रमाणों के आधार पर आश्रम का अनुमान किया गया है; अतः 'अनुमान' अलङ्कार भी है। अनुमान का लक्षण है— 'अनुमानं तदुक्तं यत् साध्यसाधकयोर्वचः'। का०प्र०।

छन्द—इस पद्य में 'शार्दूलविक्रीडित' छन्द है। शार्दूलविक्रीडित का लक्षण है— सूर्याश्वैर्यदि मः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम् '। अर्थात् जिस छन्द के प्रत्येक चरण में क्रमशः मगण (ऽऽऽ), सगण (।।ऽ), जगण (।ऽ।) सगण (।।ऽ), दो तगण (ऽऽ।) तथा एक गुरु वर्ण हो एवं सातवें और बारहवें अक्षर पर यति हो, उसे शार्दूलविक्रीडित कहते है।

टिप्पणी—(१) वृक्षों की कोटरों में तोतों के बच्चे विद्यमान हैं। तोते बार-बार आकर अपने बच्चों को नीवार (जङ्गली धान) खिलाते हैं। बच्चों को खिलाते समुय कुछ न कुछ नीवार जमीन पर गिर ही पड़ता है। इस प्रकार वृक्षों के नीचे गिरा हुआ नीवार दिखलायी पड़ रहा है। (२) इङ्गुदी काँटेदार एक जङ्गली वृक्ष है। तपस्वी लोग इसके फल (बीज) से तेल निकाल कर अपने उपयोग में लाते हैं। इन फलों को तोड़ने के कारण पत्थर भी अत्यन्त चिकने हो गये हैं। (३) आश्रम के हरिण मुनि लोगों के साथ रहते-रहते निर्भीक हो गये हैं। इसलिये वे रथ की घरघराहट को सनुकर भी भयभीत न होने से इधर-उधर नहीं भाग रहे हैं। (४) तपस्वी लोग वल्कल (पेड़ों की छाल) पहनते हैं। भींगने पर वल्कल को कपड़े की तरह निचोड़ा नहीं जा सकता। जलाशयों में स्नान करने के पश्चात् जब तपस्वी लोग कुटी की ओर लौटते हैं तब उनके वल्कलों से जल की बूँदे टपकती रहती हैं, जिससे मार्ग में पानी की कतारें बन जाया करती हैं। (५) उपर्युक्त बातें से यह प्रतीत होता है कि आश्रम की सीमा प्रारम्भ हो गयी है।

अपि च—(और भी)

कुल्याम्भोभिः पवनचपलैः शाखिनो धौतमूला
भिन्नो रागः किसलयरुचामाज्यधूमोद्गमेन।
एते चार्वागुपवनभुवि च्छिन्नदर्भाङ्कुरायां
नष्टाशङ्का हरिणशिशवो मन्दमन्दं चरन्ति।।१५।।

अन्वय—पवनचपलैः कुल्याम्भोभिः शाखिनः धौतमूलाः, आज्यधूमोद्गमेन किसलयरुचां रागः भिन्नः, एते च नष्टाशङ्काः हरिणशिशवः, छिन्नदर्भाङ्कुरायाम् उपवनभुवि अर्वाक् मन्दमन्दं चरन्ति।

शब्दार्थ—पवनचपलैः = वायु के द्वारा चञ्चल। कुल्याम्भोभिः = सिंचाई की नाली के जलों से। शाखिनः = वृक्ष। धौतमूलाः = धुली हुई हैं जड़ें जिनकी ऐसे धुली जड़ों वाले। आज्यधूमोद्गमेन = (यज्ञीय) घी के धुयें के उठने से। किसलयरुचाम् = कोमल पत्तों की कान्ति की। रागः = लालिमा। भिन्नः = भिन्न (नष्ट) हो गयी है। एते च = और ये। नष्टाशङ्काः = नष्ट हो गयी है आशङ्का (भय) जिनकी ऐसे (निर्भीक)। हरिणशिशवः = हरिणों के बच्चे। छिन्नदर्भाङ्कुरायाम् = काट लिये गये कुशों के अङ्कुर जिसके ऐसी (कटे हुये कुशों के अङ्कुर वाली)। उपवनभुवि = उद्यान-भूमि पर। अर्वाक् = समीप में ही। मन्दमन्दम् = धीरे-धीरे। चरन्ति = विचरण कर रहे हैं (घूम रहे हैं)।

अनुवाद—वायु के द्वारा चञ्चल, सिंचाई की नालियों के जलों से वृक्षों की जड़ें धुली गयी हैं। घृत के धूम (धुएँ) के उठने से किसलयों (कोमल पत्तों) की कान्ति की लालिमा नष्ट हो गयी है और ये निर्भीक हरिणों के बच्चे काटे गये (तोड़े गये) कुशों के अङ्कुर वाली उद्यान भूमि

पर समीप में ही धीरे-धीरे विचरण कर रहे हैं।

संस्कृत व्याख्या—पवनचपलैः = पवनेन वायुना चपलैः तरङ्गितैः, **कुल्याम्भोभिः** कृत्रिमनदीनां जलैः, **शाखिनः** – वृक्षाः, **धौतमूलाः** = क्षालितमूलाः, सन्ति इति शेषः, **आज्यधूमोद्गमेन** – यज्ञप्रयुक्तघृतधूमोत्थानेन, **किसलयरुचाम्** – पल्लवकान्तीनाम्, **रागः** – रक्तिमा, **भिन्नः** – विनष्टः, **एते च** – एते दृश्यमानाः, **नष्टाशङ्काः** – निर्भयाः, **हरिणशिशवः** – मृगशावकाः, **छिन्नदर्भाङ्कुरायाम्** – लूनकुशाग्रभागायाम्, **उपवनभुवि** – उद्यानभूमौ, **अर्वाक्** – समीपे, **मन्दमन्दं** – शनैः शनैः, **चरन्ति** – भ्रमन्ति।

संस्कृत सरलार्थः—पुनश्च राजा सारथिं सम्बोध्य आश्रमपरिसरं वर्णयति पश्य, वायुतरङ्गितैः प्रणालिकाजलैः पादपानां मूलानि क्षालितानि सन्ति; हविर्धूमसम्पर्कात् पल्लवानां कान्तिविकृता दृश्यते; एते निर्भयाः हरिणशिशवः लूनाग्रकुशव्यापिन्यामुपवनभुवि स्वेच्छया शनैः शनैः (इतस्ततः) भ्रमन्ति॥

व्याकरण— पवनचपलैः – पवनेन चपलैः (तत्पु०)। कुल्याम्भोभिः – कुल्यानाम् अम्भोभिः (तत्पु०)। धौतमूलाः – धौतानि मूलानि येषां ते (बहु०)। आज्यधूमोद्गमेन – आज्यस्य धूमस्य उद्गमेन (तत्पु०)। किसलयरुचां – किसलयानां रुचाम् (तत्पु०)। नष्टाशङ्काः – नष्टाः आशङ्काः येषाम् ते (बहु०)। हरिणशिशवः = हरिणानां शिशवः (तत्पु०)। छिन्नदर्भाङ्कुरायाम् – छिन्नाः दर्भाणां अङ्कुराः यस्याम् तस्याम् (बहु०)। उपवनभुवि – उपवनस्य भुवि (तत्पु०)। मन्दं मन्दं – शनैः शनैः भ्रमन्ति।

अलङ्कार—इस श्लोक में भी पूर्ववत् 'काव्यलिङ्ग' 'समुच्चय' 'स्वभावोक्ति' तथा 'अनुमान' अलङ्कार है।

छन्द—इसमें 'मन्दाक्रान्ता' छन्द है। लक्षण है— 'मन्दाक्रान्ताऽम्बुधिरसनगैर्मो भनौ तौ गयुग्मम्।' अर्थात्, जिस छन्द के प्रत्येक चरण में क्रमशः मगण (ऽऽऽ), भगण (ऽ।।), नगण (।।।), दो तगण (ऽऽ।), दो गुरु वर्ण हों और तीन स्थानों पर (चतुर्थ, षष्ठ एवं सप्तम वर्णों पर) 'यति' हो, वह मन्दाक्रान्ता कहलाता है।

टिप्पणी—इस श्लोक में आश्रम का अत्यन्त स्वाभाविक एवं बिम्बग्राही वर्णन है।

सूतः—सर्वमुपपन्नम्।

सारथि—(आपने जो कुछ कहा है वह) सब ठीक है।

राजा—(स्तोकमन्तरं गत्वा) **तपोवननिवासिनामुपरोधो मा भूत्। एतावत्येव रथं स्थापय, यावदवतरामि।**

राजा—(थोड़ी दूर जाकर) तपोवन के निवासियों को (किसी प्रकार का) विघ्न न होने पाये। इसलिये यहाँ ही रथ को रोको, जब तक मैं उतरता हूँ।

सूतः—धृताः प्रग्रहाः। अवतरत्वायुष्मान्।

सारथि—(मैंने) लगाम खींच ली है। श्रीमान् (आयुष्मान्) उतरें।

राजा—(अवतीर्य) **सूत, विनीतवेषेण प्रवेष्टव्यानि तपोवनानि नाम। इदं तावत् गृह्यताम्।** (इति सूतस्याभरणानि धनुश्चोपनीयार्पयति)। **सूत, यावदाश्रमवासिनः प्रत्यवेक्ष्याहमुपावर्ते तावदार्द्रपृष्ठाः क्रियन्तां वाजिनः।**

व्याकरण एवं शब्दार्थ—प्रवेष्टव्यानि – प्र + विश् + तव्यत् प्र०ब० प्रवेश करने योग्य। प्रत्यवेक्ष्य – प्रति+अव्+इक्षि+क्त्वा+ल्यप् = देखकर। उपावर्ते = उप + आ + वृत् उ० प्र० ए० व० = लौटता हूँ। आर्द्रपृष्ठाः – आर्द्राणि पृष्ठानि येषां ते ब०व्री० = जलसिक्त पीठ वाला अर्थात् स्नान किए हुये।

राजा—(उतरकर) सारथि, तपोवनों (आश्रमों) में सादे वेष से ही प्रवेश करना चाहिये। तो यह लो (सारथि को आभूषण और धनुष उतार कर देते है।)। सारथि, जब तक मैं आश्रमवासियों को देखकर लौटता हूँ तब तक घोड़े भींगी पीठ वाले किये जायें (अर्थात् घोड़ों को स्नान करा दो)।

सूतः— तथा (इति निष्क्रान्तः)।

सारथि—वैसा ही (होगा)। (निकल जाता है)।

राजा—(परिक्रम्यावलोक्य च) **इदमाश्रमद्वारम्। यादत् प्रविशामि।** (प्रविश्य, निमित्तं सूचयन्)—

राजा—(घूमकर और देखकर) यह आश्रम का (प्रवेश) द्वार है। अच्छा, प्रवेश करता हूँ (प्रवेश कर शकुन को सूचित करते हुये)—

शान्तमिदमाश्रमपदं स्फुरति च बाहुः कुतः फलमिहास्य।
अथवा भवितव्यानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र।।१६।।

अन्वय—इदम् आश्रमपदं शान्तम् (अस्ति), बाहुः च स्फुरति, इह अस्य फलं कुतः ? अथवा भवितव्यानां द्वाराणि सर्वत्र भवन्ति।

शब्दार्थ—इदम् = यह। आश्रमपदम् = आश्रम का स्थान, शान्तम् = शान्त (है)। बाहुः च = और (मेरी दाहिनी) भुजा। स्फुरति = फड़क रही है। इह = यहाँ पर। अस्य = इस (भुजा के फड़कने) का। फलम् = फल। कुतः = कहाँ ? अथवा = या। भवितव्यानाम् = भावी (होनहार) घटनाओं के। द्वाराणि = द्वार, (मार्ग)। सर्वत्र = सभी स्थानों पर। भवन्ति = हो जाते हैं।

अनुवाद—यह आश्रम का स्थान शान्त है और (मेरी दाहिनी) भुजा फड़क रही है। यहाँ इस (दाहिनी भुजा के फड़कने) का फल कहाँ (प्राप्त हो सकता है) ? अथवा भावी (होनहार) घटनाओं के द्वार (मार्ग) सभी स्थानों पर (सुलभ) हो जाते हैं।

संस्कृत व्याख्या—इदम् -(पुरतो दृश्यमानम्) एतत्, **आश्रमपदम्** - आश्रमस्थानम् ,**शान्तम्** – शमप्रधानम् (शान्तिमयं) **बाहुश्च** – दक्षिणो भुजश्च, **स्फुरति** – स्पन्दते; **इह** – अत्राश्रमस्थाने, **अस्य** – दक्षिणभुजस्फुरणस्य, **फलं** – वरस्त्रीलाभरूपं फलम्, **कुतः** - कथं सम्भवति; **अथवा** – वा, **भवितव्यानाम्** – अवश्यम्भाविनाम् अर्थानाम्, **द्वाराणि** - साधनानि, **सर्वत्र** – सर्वेषु प्रदेशेषु (सर्वकाले च), **भवन्ति** – जायन्ते।

संस्कृत-सरलार्थः—आश्रमद्वारमवाप्य स्वदक्षिणबाहुस्फुरणं संलक्ष्य राजा स्वमनसि चिन्तयति 'आश्रमस्थानमिदं नितान्तं शान्तमत्र मद्बाहुस्फुरणस्य किं फलमिति न जाने इति' क्षणं विचिन्त्य स भूयो ब्रूतेऽलमेतादृशेन विमर्शेन यतो ह्यवश्यभाविनामर्थानां सर्वत्र द्वाराणि भवन्ति। अवश्यम्भाविनामर्थानां सर्वत्र, सर्वकाले चोपाया भवन्तीति भावः।

व्याकरण— स्फुरति – स्फुर + लट् प्र०पु० ए०व० = फड़क रहा है। भवितव्यानाम् – भू + तव्यत् – ष० बहु० होनहार की।

अलङ्कार—(१) अर्थान्तरन्यास—यहाँ उत्तरार्ध के सामान्य कथन से पूर्वार्ध के विशेष का समर्थन होने से 'अर्थान्तरन्यास' अलङ्कार है। लक्षण द्र० श्लोक - २। (२) इस श्लोक में 'अथवा' के द्वारा पूर्वार्धगत बात का निषेध होने से आक्षेप अलङ्कार भी है। आक्षेप का लक्षण है—

वस्तुनो वक्तुमिष्टस्य विशेषप्रतिपत्तये।
निषेधाभास आक्षेपो वक्ष्यमाणो द्विधा॥ सा०द०

छन्द—यहाँ 'आर्या' छन्द है। लक्षण द्रष्टव्य श्लोक - २।

(नेपथ्ये) **इत इतः सख्यौ।** (इदो इदो सहीओ।)

(नेपथ्य में) सखियों, इधर से, इधर से (आओ)।

राजा—(कर्णं दत्वा) **अये, दक्षिणेन वृक्षवाटिकामालाप इव श्रूयते। यावदत्र गच्छामि।** (परिक्रम्यावलोक्य च) अये, **एतास्तपस्विकन्यकाः स्वप्रमाणानुरूपैः सेचनघटैर्बालपादपेभ्यः पयो दातुमित एवाभिवर्तन्ते।** (निपुणं निरूप्य) **अहो, मधुरमासां दर्शनम्।**

व्याकरण एवं शब्दार्थ—तपस्विकन्यकाः-तपस्विनां कन्यकाः ष०त० = तपस्वियों की कन्यायें। **स्वप्रमाणानुरूपैः**-स्वस्य प्रमाणं तस्य अनुरूपाः (ष०त०) तैः = अपने आकार (सामर्थ्य) के अनुसार। **बालपादपेभ्यः** = बालाश्च ते पादपाः तेभ्यः – छोटे वृक्षों को। मधुरम् = प्रियम् – मधुरं रसवत्स्वादु प्रियेषु – इति विश्वः।

राजा–(कान लगाकर) अरे, वृक्षों की वाटिका के दाहिनी ओर से वार्तालाप-सा सुनायी पड़ रहा है। तो यहाँ जाता हूँ। (घूमकर और देखकर) अरे, ये तपस्वियों की कन्यायें अपने आकार (सामर्थ्य) के अनुसार सिंचाई के (छोटे-छोटे) घड़ों से छोटे पेड़ों को पानी देने के लिये इधर ही आ रही हैं। (ध्यान से देखकर) अहो, इनका रूप (अत्यन्त) मनोहर है।

शुद्धान्तदुर्लभमिदं वपुराश्रमवासिनो यदि जनस्य।
दूरीकृताः खलु गुणैरुद्यानलता वनलताभिः॥१७॥

अन्वय—शुद्धान्तदुर्लभम् इदं वपुः यदि आश्रमवासिनः जनस्य (अस्ति तदा) खलु उद्यानलताः वनलताभिः गुणैः दूरीकृताः।

शब्दार्थ–शुद्धान्तदुर्लभम् = अन्तःपुर (रनिवास) में दुर्लभ। इदम् = यह। वपुः = शरीर (लावण्य)। यदि = यदि। आश्रमवासिनः = आश्रम में निवास करने वाले। जनस्य (अस्ति तदा) = व्यक्ति का है तब। खलु = निश्चय ही। उद्यानलताः = उपवन की लतायें। वनलताभिः = वन की लताओं द्वारा। गुणैः = (अपने सौन्दर्यादि) गुणों के द्वारा। दूरीकृताः = तिरस्कृत (कर दी गयीं)।

अनुवाद–अन्तःपुर (रनिवास) में दुर्लभ यह शरीर (लावण्य) यदि आश्रमवासी व्यक्ति का (है, तो) निश्चय ही उपवन की लतायें वन (जङ्गल) की लताओं से (सौन्दर्यादि) गुणों के द्वारा तिरस्कृत कर दी गयी हैं (अर्थात् जङ्गल की लताओं ने अपने गुणों से उपवन की लताओं को परास्त कर दिया है)।

संस्कृत व्याख्या–**शुद्धान्तदुर्लभम्** –शुद्धान्तेषु अन्तःपुरेषु दुर्लभम् दुष्प्राप्यम् ,**इदम्** –ईदृशम् , **वपुः** –शरीरम् , **यदि** –चेत् , **आश्रमवासिनः** –तपोवननिवासिनः, **जनस्य** –व्यक्तेः, **अस्ति** –तदा इति शेषः, **खलु** –निश्चयेन, **उद्यानलताः** –(यत्नवर्धिता) उद्यानवल्लयः, **दूरीकृताः** –तिरस्कृताः ।

संस्कृत-सरलार्थः—कण्वाश्रमे वृक्षसेचनव्यापारसक्तानां तपस्विकन्याकानां मनोरमामाकृतिं समवलोक्य विस्मितो भूत्वा राजा मनसि चिन्तयति—'अन्तःपुरेष्वपि दुष्प्राप्यमेतादृशं कान्तं शरीरञ्चेत्तपस्विकन्यकानां वर्तते तदा नु नूनमेव वनजाताभिरकृत्रिमाभिर्लताभिरुद्यानलताः सौभाग्यादिगुणैस्तिरस्कृताः । तपस्विकन्यानां शरीरलावण्यापेक्ष्याऽन्तःपुररमणीनां देहकान्तिर्हीनैवेति भावः ।

अलङ्कार–(१) इस श्लोक में **अप्रस्तुतप्रशंसा** अलङ्कार है । यहाँ पूर्वार्ध में विशेष के प्रस्तुत होने पर भी उत्तरार्ध के सामान्य कथन के कारण अप्रस्तुतप्रशंसा है । अप्रस्तुतप्रशंसा का लक्षण है –

क्वचिद्विशेषः सामान्यात् सामान्यं वा विशेषतः ।
कार्यान्निमित्तं कार्यं च हेतोरथ समात्समम् ॥
अप्रस्तुतात्प्रस्तुतं चेदं गम्यते पञ्चधा ततः ।
अप्रस्तुतप्रशंसा स्यात् । सा०द० ।

(२) यहाँ पूर्वार्ध एवं उत्तरार्ध के कथन में कोई साक्षात् सम्बन्ध नहीं है किन्तु दोनों की समाप्ति उपमा में होती है । अतः **निर्दशना** है – लक्षण — 'अभवन् वस्तुसम्बन्धः उपमापरिकल्पकः ।'

छन्द—आर्या छन्द है । ल० द्र० श्लो० २ ।

व्याकरण–शुद्धान्तदुर्लभम् – शुद्धः अन्तः (मध्यभागः) यस्य सः शुद्धान्तः (बहु०), शुद्धान्ते दुर्लभम् (तत्पु०)। उद्यानलताः – उद्यानस्य लताः (तत्पु०)। वनलताभिः – वनस्य लताभिः (तत्पु०) ।

टिप्पणी–(१) राजाओं के अन्तःपुर विशेष प्रयत्नों से शुद्ध (निर्दोष) रखे जाते थे । राजा की ओर से प्रयत्न किया जाता था कि अन्तःपुर की स्त्रियाँ आचार-विचार आदि में पवित्र रहें । (२) अन्तःपुर में चुन-चुन कर सुन्दरियाँ एकत्र की जाती थीं । राजा को विश्वास था कि उनके अन्तःपुर जैसी सुन्दर स्त्रियाँ अन्यत्र नहीं मिल सकतीं । उनका यह विश्वास यहाँ खण्डित हो गया । जिस पर उन्हें इतना आश्चर्य है कि वे इसे उसी प्रकार समझ रहे हैं जैसे जङ्गली लता उपवन की लताओं को नीचा दिखा रही हैं । (३) इस श्लोक में रनिवास की रानियों की तुलना उद्यानलताओं से और तापस-कुमारियों की तुलना वनलताओं से की गयी है ।

यावदिमां छायामाश्रित्य प्रतिपालयामि । (इति विलोकयन् स्थितः) ।

तो इस (पेड़ की) छाया का आश्रय लेकर प्रतीक्षा करता हूँ (देखता हुआ खड़ा हो जाता है) ।

(ततः प्रविशति यथोक्तव्यापारा सह सखीभ्यां शकुन्तला)

(तत्पश्चात् पूर्वोक्त कार्य करती हुई दो सखियों के साथ शकुन्तला प्रवेश करती है) ।

शकुन्तला–इत इतः सख्यौ । (इदो इदो सहीओ ।)

शकुन्तला–सखियों, इधर से, इधर से (आओ)।

अनसूया–हला शकुन्तले, त्वत्तोऽपि तातकाश्यपस्याश्रमवृक्षकाः प्रियतरा इति तर्कयामि। येन नवमालिकाकुसुमपेलवाऽपि त्वमेतेषामालवालपूरणे नियुक्ता। (हला सउन्दले, तुवत्तो वि तादकस्सवस्स अस्समरूक्खआ पिअदरेत्ति तक्केमि। जेण णोमिलिआकुसुमपेलवा वि तुमं एदाणं आलवालपूरणे णिउत्ता।)

सं०व्या० एवं शब्दार्थ–नवमालिकाकुसुम०–नवमालिकायाः कुसुमवत् पेलवा-कोमला = नवमालिका के पुष्प के समान कोमल। **आलवालपूरणे**–आलवालानां वृक्षमूलस्थितो- त्खातानाम् पूरणे तोयैः पूरणे।

अनसूया–अरी शकुन्तला, मैं ऐसा सोचती हूँ पिता कण्व (काश्यप) को आश्रम के वृक्ष तुमसे भी अधिक प्रिय हैं। इसीलिये चमेली (नवमालिका) के पुष्प जैसी कोमल (होने पर) भी तुम (उनके द्वारा) इन (वृक्षों) के थाले (आलवाल) भरने (के कार्य) में नियुक्त की गयी हो।

शकुन्तला–न केवलं तातनियोग एव। अस्ति मे सोदरस्नेहोऽप्येतेषु। (ण केवलं तादणिओओ एव्व। अत्थि में सोदरसिणोहो वि एदसु) (इति वृक्षसेचनं रूपयति।)

शब्दार्थ–सोदरस्नेहः = सगे भाई का प्रेम।

शकुन्तला–केवल पिता (कण्व) की आज्ञा ही नहीं है, मेरा भी इन (वृक्षों) पर सगे भाई के समान प्रेम है (वृक्षों के सींचने का अभिनय करती है।)

राजा–कथमियं सा कण्वदुहिता। असाधुदर्शी खलु तत्रभवान् काश्यपः, य इमामाश्रमधर्मे नियुङ्क्ते।

असाधुदर्शी – न साधु असाधु (न०त०) असाधु पश्यति असाधु + दृश् + णिनि (कर्मणि ताच्छील्ये) = अविवेकी।

राजा–क्या यही वह कण्व की पुत्री (शकुन्तला) है ? (जिसके विषय में मैने तपस्वी से सुना था) पूजनीय कण्व निश्चय ही (वस्तुओं का) ठीक मूल्याङ्कन करने वाले नहीं हैं (अर्थात् अविवेकी हैं), जिन्होंने इस (शकुन्तला) को आश्रम के कार्यों में नियुक्त किया है

इदं किलाव्याजमनोहरं वपुस्तपःक्षमं साधयितुं य इच्छति।
ध्रुवं स नीलोत्पलपत्रधारया शमीलतां छेत्तुमृषिर्व्यवस्यति।।१८।।

अन्वय–यः (ऋषिः) अव्याजमनोहरम् इदं वपुः किल तपःक्षमं साधयितुम् इच्छति, सः ध्रुवं नीलोत्पलपत्रधारया शमीलतां छेत्तुं व्यवस्यति।

शब्दार्थ–यः = जो। ऋषिः = ऋषि (कण्व)। अव्याजमनोहरम् = स्वभावसुन्दर (किसी कृत्रिम सौन्दर्यप्रसाधन के बिना सुन्दर)। इदं = इस। वपुः = शरीर को। किल = खेद है कि। तपःक्षमम् = तपस्या के योग्य। साधयितुम् इच्छति = बनाना चाहते हैं। सः = वे। ध्रुवम् = निश्चय ही। नीलोत्पलपत्रधारया = नीले कमल के पत्ते की धार से। शमीलतां = शमी (वृक्ष) की लता को। छेत्तुम् = काटने के लिये। व्यवस्यति = प्रयत्न करते हैं।

अनुवाद–जो ऋषि (कण्व) सहज सुन्दर (किसी कृत्रिम साधन के बिना सुन्दर) (शकुन्तला के) इस शरीर को, तपस्या करने के योग्य बनाना चाहते हैं, वे निश्चय ही नील-कमल के पत्ते की धार (अग्र भाग) से शमी (वृक्ष) की लता को काटने का प्रयत्न कर रहे हैं।

संस्कृत व्याख्या–यः ऋषिः –यः मुनिः कण्वः, **अव्याजमनोहरं** –स्वभावसुन्दरम्, स्वभावत एव सुन्दरं न तु भूषणादिनेत्यर्थः, **इदम्** –एतत् (पुरोदृश्यमानम्), **वपुः** –शकुन्तलायाः शरीरम् , **किल** –खेदे, **तपःक्षमम्** –तपोयोग्यम् , **साधयितुम्** –कर्तुम् , **इच्छति** –वाञ्छति, **सः** –ऋषिः कण्वः, **ध्रुवम्** –निश्चितम् , **नीलोत्पलपत्रधारया** –नीलकमलदलस्याग्रभागेन, **शमीलतां** –शमीशाखां, **छेत्तुं** –कर्तितुम् ,**व्यवस्यति** –प्रयतते ।

संस्कृत-सरलार्थः—महर्षिकण्वद्वाराऽऽश्रमकर्मणि (वृक्षसेचनादिकर्मणि) कोमलाङ्गीं शकुन्तलां नियोजितामवलोक्य दुष्यन्तो मुनिकण्वस्यासाधुदर्शित्वविषये मनसि चिन्तयति— 'यो मुनिर्निसर्गमनोहरं शकुन्तलाशरीरं तपःसाधनयोग्यं विधातुं कामयते, सोऽवश्यमेव नीलकमलाग्रभागेन शमीवृक्षशाखां छेत्तुं यतत इति मन्ये । कमलकोमलायाः शकुन्तलाया आश्रमकर्मणि नियोजनं नोचितमिति भावः ।

व्याकरण–अव्याजमनोहरम् – न व्याजः यस्मिन् तत् अव्याजम् (बहु०), अव्याजेन मनोहरम् (तत्पु०) । साधयितुं – साध्+णिच्+तुमुन् । नीलोत्पलपत्रधारया – नीलं च तत् उत्पलं च नीलोत्पलम् (कर्म०), नीलोत्पलस्य पत्रस्य धारया (तत्पु०) । शमीलतां – शम्याः लताम् (तत्पु०) । व्यवस्यति – वि०+अव+सो+लट्+प्र० पु०, एक० ।

अलङ्कार–(१) यहाँ पूर्वार्ध एवं उत्तरार्ध के कथन में सम्बन्ध न होने पर परिणति उपमा में है । अतः निदर्शना है । लक्षण द्र० श्लोक १७ । (२) ध्रुवम् पद के प्रयोग से **'उत्प्रेक्षा'** अलङ्कार भी है— **लक्षण** – सम्भावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य परात्मना । (३) श्लोक के प्रथम दो चरणों में विरूप कार्यो के संघटन से **विषम** अलङ्कार है । (४) अव्याजमनोहरम् में **विभावना** अलङ्कार है । **लक्षण** – विभावना बिना हेतुं कार्योत्पत्तिर्यदुच्यते । यहाँ सौन्दर्यसाधन रूपी कारण के न रहने पर भी शकुन्तला के शरीर की सुन्दरता है ।

छन्द –वशंस्थ है – लक्षण – वदन्ति वंशस्थबिलं जतौ जरौ । जिस छन्द के प्रत्येक चरण में जगण (।ऽ।), तगण (ऽऽ।), जगण (।ऽ।) एवं रगण (ऽ।ऽ) हो, वह वंशस्थविल है ।

टिप्पणी–इस श्लोक का सारांश यह है कि कोमलाङ्गी शकुन्तला के द्वारा कठोर तपस्या कराना कण्व के अविवेक का परिचायक है ।

भवतु, पादपान्तर्हित एव विश्रब्धं तावदेनां पश्यामि । (इति तथा करोति) ।

अच्छा, वृक्ष की ओट (आड़) में ही रहकर निश्चिन्ततापूर्वक इस (शकुन्तला) को देखता हूँ । (वैसा करता है) ।

शकुन्तला –सखि अनसूये, अतिपिनद्धेन वल्कलेन प्रियंवदया नियन्त्रिताऽस्मि । शिथिलय तावदेतत् । (सहि अण्सूए, अदिपिणद्धेण वक्कलेण पिअंवदए णिअन्तिद ह्मि । सिढिलेहि दाव णं ।)

सं०व्या० एवं शब्दार्थ –अतिपिनद्धेन – अत्यन्त कसकर बाँधने से । पिनद्धेन – अपि + नह + क्त । भागुरि के मत में 'अ' का वैकल्पिक लोप होता है ।

शकुन्तला—सखी अनसूया, प्रियंवदा के द्वारा अत्यन्त कसकर बाँधे गये वल्कल (वृक्ष की छाल की चोली) से जकड़ दी गयी हूँ । जरा इसको ढीला कर दो ।

अनसूया—तथा । (तह ।) (इति शिथिलयति) ।

अनसूया—अच्छा। (ढीला करती है)।

प्रियंवदा –(सहासम्) **अत्र पयोधरविस्तारयितृ आत्मनो यौवनमुपालभस्व। मां किमुपालभसे।** (एत्थ पओहरविस्थरइत्तअं अत्तणो जीव्वणं उवालह। मं किं उवालहसि।)

प्रियंवदा—(परिहास के साथ) यहाँ (इसके लिये) स्तनों का विस्तार करने वाले अपने यौवन को उलाहना दो। मुझे क्यों उलाहना दे रही हो ?

राजा—सम्यगियमाह ।

राजा—इसने ठीक कहा।

इदमुपहितसूक्ष्मग्रन्थिना स्कन्धदेशे
स्तनयुगपरिणहाच्छादिना वल्कलेन।
वपुरभिनवमस्याः पुष्यति स्वां न शोभां
कुसुममिव पिनद्धं पाण्डुपत्रोदरेण।। १९।।

अन्वय—स्कन्धदेशे उपहितसूक्ष्मग्रन्थिना स्तनयुगपरिणहाच्छादिना वल्कलेन अस्याः इदम् अभिनवं वपुः पाण्डुपत्रोदरेण पिनद्धं कुसुमम् इव स्वां शोभां न पुष्यति।

शब्दार्थ—स्कन्धदेशे = कन्धे पर। उपहितसूक्ष्मग्रन्थिना = जिसमें छोटी गाँठ लगायी गयी है ऐसे, लगायी गयी छोटी गाँठ वाले। स्तनयुगपरिणहाच्छादिना = दोनों स्तनों के विस्तार को ढक (आच्छादित कर) लेने वाले। वल्कलेन = वल्कल-वस्त्र से। अस्या: = इस (शकुन्तला) का। इदम् = यह। अभिनव = नवीन (अर्थात् यौवनयुक्त)। वपु: = शरीर। पाण्डुपत्रोदरेण = पीले पत्तों के मध्य भाग से। पिनद्धम् = ढके हुये। कुसुमम् इव = पुष्प के समान। स्वां = अपनी। शोभां = शोभा को। न = नहीं। पुष्यति = पुष्ट (प्रस्फुटित) कर रहा है।

अनुवाद –कन्धे पर लगायी गयी छोटी गाँठ वाले (और) स्तनों के विस्तार को ढंक देने वाले वल्कल-वस्त्र से इस (शकुन्तला) का यह नवीन (अर्थात् यौवनयुक्त) शरीर, पीले पत्तों के मध्य-भाग से ढँके हुए पुष्प के समान अपनी शोभा को पुष्ट (धारण) नहीं कर रहा है।

संस्कृत व्याख्या—स्कन्धदेशे –अंसदेशे, **उपहितसूक्ष्मग्रन्थिना** –दत्ततनुबन्धनेन, **स्तनयुगपरिणाहाच्छादिना** –कुचद्वयस्य यः परिणाहो विस्तारः तम् आच्छादयतीति तथाभूतेन, **वल्कलेन** –वल्कलकञ्चुकेन, **अस्याः** –शकुन्तलायाः, **इदम्** –एतत् , **अभिनवं** –नवीनम्, **वपुः** –शरीरम् , **पाण्डुपत्रोदरेण** –पीतदलमध्यभागेन, **पिनद्धम्** –आच्छादितम् , **कुसुमम् इव** –पुष्पम् इव, **स्वां** –स्वकीयाम्, **शोभां** –कान्तिम्, **न पुष्यति** –न बिभर्ति।

संस्कृत-सरलार्थः—शकुन्तलाया: यौवनमालक्ष्य सख्या प्रियंवदया यत् कथितं तत्समर्थयन् राजा शकुन्तलाया: यौवन्नोद्भूतशरीरसौन्दर्यं वर्णयति – स्तनयोर्विस्ताराच्छादकेन वल्कलेन, यस्य तनुग्रन्थि: स्कन्धयोर्ग्रथिताऽस्ति, शकुन्तलाया: नवयौवनसम्पन्नशरीरस्य शोभा तथैव न पुष्यति, यथा पाण्डुपत्रोदरेण पिनद्धं पुष्पं स्वीयां शोभां न विभर्ति।।

व्याकरण—स्कन्धदेशे – स्कन्धस्य देशे-भागे (तत्पु०)। उपहितसूक्ष्मग्रन्थिना – उपहिता सूक्ष्मा: ग्रन्थि: यस्य तेन (बहु०)। स्तनयुगपरिणाहाच्छादिना – स्तनयुगस्य परिणाह: (तत्पु०), तम् आच्छादयति इति तेन। पाण्डुपत्रोदरेण – पाण्डु च तत् पत्रोदरं च (कर्म०), पाण्डुपत्राणाम् उदरेण (तत्पु०)।

अलङ्कार –'कुसुममिव पिनद्धम्' — यहाँ **उपमा** अलङ्कार है।

छन्द –इसमें **मालिनी** छन्द है। लक्षण द्र० श्लोक १०।

टिप्पणी –(१) शकुन्तला ने पेड़ की छाल की चोली धारण की हुई है। चोली में आगे और पीछे की ओर दो डोरियां हैं, जिन्हें कन्धों पर बाँधा गया है। (२) इस श्लोक में शकुन्तला के शरीर की तुलना पुष्प से तथा वल्कल की तुलना पीले पत्तों के मध्य भाग से की गयी है। इसलिये यहाँ उपमा अलङ्कार है।

अथवा काममननुरूपमस्या वपुषो वल्कलं न पुनरलङ्कारश्रियं न पुष्यति कुतः-

अथवा भले ही (यह) वल्कल-वस्त्र इस (शकुन्तला) के शरीर के योग्य (अनुरूप) नहीं है। (तथापि यह शकुन्तला के इस शरीर पर) आभूषण की शोभा को धारण नहीं कर रहा है, ऐसी बात नहीं (अर्थात् अलङ्कार की शोभा को धारण कर रहा है)। क्योंकि -

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम् ॥ २० ॥

अन्वय –शैवलेन अनुविद्धम् अपि सरसिजं रम्यं (भवति), मलिनम् लक्ष्म अपि हिमांशोः लक्ष्मीं तनोति, वल्कलेन अपि इयं तन्वी अधिकमनोज्ञा (अस्ति)। हि मधुराणाम् आकृतीनां किमिव मण्डनं न (भवति)।

शब्दार्थ –शैवलेन = सेवार (शेवाल) से। अनुविद्धं = घिरा हुआ आच्छादित। अपि = भी। सरसिजम् = कमल। रम्यम् = रमणीय (मनोहर)। मलिनम् = मलिन (काला)। लक्ष्म = कलङ्क (चिह्न)। अपि = भी। हिमांशोः = चन्द्रमा की। लक्ष्मीं = शोभा को। तनोति = बढ़ाता है। वल्कलेन = वल्कल वस्त्र से। अपि = भी। इयं = यह। तन्वी = कृशाङ्गी (सुन्दरी)। अधिकमनोज्ञा = अत्यन्त सुन्दर। (प्रतिभाति = प्रतीत होती है।) हि = क्योंकि। मधुराणाम् = सुन्दर। आकृतीनाम् = आकृतियों के लिये, शरीरों के लिये। किमिव = कौन-सी वस्तु। मण्डनम् = अलङ्कार। न = नहीं (होती है)।

अनुवाद –सेवार (शेवाल) से आच्छादित (घिरा हुआ) भी कमल रमणीय (लगता है)। मलिन (काला) कलङ्क भी चन्द्रमा की शोभा को बढ़ाता है। वल्कल-वस्त्र से भी यह कृशाङ्गी (शकुन्तला) अत्यन्त सुन्दर (लग रही है)। क्योंकि सुन्दर (रम्य) आकृतियों (शरीरों) के लिये कौन-सी वस्तु अलङ्कार नहीं होती है (अर्थात् सभी वस्तुयें शोभावर्धक बन जाती हैं)।

संस्कृत व्याख्या—**शैवलेन**-शैवालेन, **अनुविद्धम् अपि**-सम्पृक्तम् अपि, **सरसिजम्**-कमलम्, **रम्यम्**-मनोहरम्, भवतीति शेषः, **मलिनम्** – कृष्णवर्णम्, **लक्ष्म अपि**-कलङ्कोऽपि, **हिमांशोः**-चन्द्रस्य, **लक्ष्मीं**-शोभां, **तनोति**-विस्तारयति, **वल्कलेन अपि**-तुच्छतरुत्वचापि, **इयम्** – एषा, **तन्वी** – कृशाङ्गी (शकुन्तला), **अधिकमनोज्ञा** – अतिमनोहारिणी दृश्यते इति शेष; **हि** – यतः, **मधुराणाम्** – रम्याणाम्, **आकृतीनां** – वपुषाम्, **किमिव**-किं वस्तु, **मण्डनम्** – भूषणम्, न, भवतीति शेषः।

संस्कृत-सरलार्थः—वल्कलवस्त्रधारिणीं शकुन्तलां वीक्ष्य राजा (दुष्यन्तः) स्वचित्ते विचारयति – 'यथा शैवालेनापि समावृतं कमलं रमणीयमेव भवति, यथा च कृष्णवर्णमपि चिह्नं (कलङ्कः) चन्द्रस्य शोभां विस्तारयति, तथैव कृशाङ्गीयं (पुरोदृश्यमाना) शकुन्तला वल्कलवस्त्रपरिधानेनारपि नितरां मनोहरिणी प्रतिभाति। सत्यमेवेदं यन्मनोहराषां वपुषां निखिलमेव वस्तुजातमलङ्कारूपेण जायते। स्वभावसुन्दरस्य शरीरस्य कृते सर्वं (सुन्दरसमुन्दरं वा) शोभावर्धकमेव भवनीति भावः।

व्याकरण—अनुविद्धम् = अनु+विध्+क्त। **सरसिजम्** – सरसि जातम् – इस अर्थ में सरसि + जन् इस स्थिति में जन् धातु से 'सप्तम्यां जनेर्डः' सूत्र से 'ड' प्रत्यय का लोप सप्तमी का वैकल्पिक अलोप करने पर 'सरसिजम्' और लोप होने पर 'सरोजम्' बनता है। **अधिक मनोज्ञा**– मनो जानाति – मनोज्ञा – मनस्+ज्ञा+क+ टाप्। अधिक शब्द के साथ सुप्सुपा – समास। **हिमांशोः** – हिमा: अंशव यस्य तस्य (ब०ब०)।

कोष—(१) सेवार के तीन नाम हैं—जलनीली, शेवाल तथा शैवल–जलनीली तु शैवालं शैवलः – अमरकोश १/१०/३८। (२) चन्द्रमा के पाँच नाम है—हिमाश्चन्द्रमाश्चन्द्र इन्दुः कुमुदबान्धवः' अमर...। १/१०/३८।

अलङ्कार—(१) इस श्लोक में **'तन्वी'** उपमेय तथा सरसिजम् एवं **'हिमांशोः लक्ष्म'** उपमान हैं। इन दोनों (उपमेय तथा उपमान) का एक ही सामान्य धर्म सौन्दर्य का पृथक् पृथक् वाक्यों द्वारा उल्लेख हुआ है। अतः प्रतिवस्तूपमा अलङ्कार है। लक्षण —**प्रतिवस्तूपमा सा स्याद् वाक्ययोर्गम्यसाम्ययोः। एकोऽपि धर्मः सामान्यो यत्र निर्दिश्यते पृथक्**।। (२) श्लोक के चतुर्थ चरणगत सामान्य अर्थ के द्वारा शकुन्तला के सौन्दर्य रूप विशेष अर्थ का समर्थन किया गया है अतः यहाँ **'अर्थान्तरन्यास'** अलङ्कार भी है।

छन्द—यहाँ **मालिनी** छन्द है। **मालिनी** छन्द के प्रत्येक चरण में दो नगण (।।।), एक मगण (ऽऽऽ), और दो यगण (।ऽऽ) होते है और आठवें तथा सातवें पर यति होती है—**लक्षण**—ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः।

टिप्पणी—(१) जिस प्रकार सेवार कमल का तथा कलङ्क चन्द्रमा का शोभावर्धक होता है उसी प्रकार वल्कल भी शकुन्तला का शोभावर्धक है।(२) किमिव०—यह प्रसिद्ध सूक्ति है। इसका तात्पर्य यह है कि सुन्दर शरीर के लिये प्रत्येक वस्तु अलङ्कार है – चाहे वह वल्कल हो अथवा मृगचर्म ही क्यों न हो। सभी वस्तुयें उस शरीर की शोभा को बढ़ाने वाली होती है। (३) 'तन्वी' इस पद से शकुन्तला के शरीर की सुन्दरता का बोध होता है।

शकुन्तला—(अग्रतोऽवलोक्य) **एष वातेरितपल्लवाङ्गुलीभिस्त्वरयतीव मां केसरवृक्षकः। यावदेनं सम्भावयामि** (एसो वादेरिदपल्लवङ्गुलीहि तुवरेदि विअ मं केसररूक्खओ। जाव णं संभावेमि।) (इति परिक्रामति)

व्याकरण एवं शब्दार्थ—वातेरितपल्लवाङ्गुलीभिः – वातेन–वायुना ईरिताः आन्दोलिताः पल्लवा एव अङ्गुल्यः ताभिः = वायुप्रकम्पितपल्लवरूपी अङ्गुलियों से। त्वर धातु से णिच्+लट्+ प्र०पु०ए०व० = त्वरित + इव = **त्वरयतीव** = मानो जल्दी करा रहा है। **सम्भावयामि** = सम्+भू+ णिच्+ उ०प्र०ए०व० = सत्कार कर लूँ।

शकुन्तला—(आगे की ओर देखकर) यह केसर (मौलश्री) वृक्ष वायु के द्वारा हिलायी जाती हुई पत्ते रूपी अङ्गुलियों से मानों मुझको (अपने पास आने के लिये) शीघ्रता करा रहा है (अर्थात् मुझको शीघ्रता से अपने पास बुला रहा है)। तो मैं (सबसे पहले) इसका (जल-सेचन द्वारा) सत्कार करती हूँ। (घूमती है)।

प्रियंवदा—हला शकुन्तले, अत्रैव तावन्मुहूर्तं तिष्ठ। (हला सउन्दले एत्थ एव्व दाव मुहुत्तअं चिट्ठ।)

प्रियंवदा—सखी शकुन्तला, क्षण भर (थोड़ी देर) यहीं ठहरो।

शकुन्तला—किं निमित्तम् ? (कि णिमित्तं ?)

शकुन्तला—किस लिये ?

प्रियंवदा—यावत् त्वयोपगतया लतासनाथ इवायं केसरवृक्षकः प्रतिभाति। (जाव तुए उवगदाए लदासणाहो विअ अअं केसररूक्खओ पडिभादि।)

व्या० एवं श०—उपगतया – उप + गम् + क्त + टाप्, तृ० एक०वचन।

प्रियंवदा—क्योंकि समीपस्थ तुम्हारे द्वारा (अर्थात् तुम्हारे समीप रहने से) यह मौलश्री (केसर) का वृक्ष लता (रूप स्त्री) से युक्त-सा प्रतीत हो रहा है।

शकुन्तला—अतः खलु प्रियंवदाऽसि त्वम्। (अदो क्खु प्रियंवदा सि तुमं।)

शकुन्तला—इसीलिये तुम प्रियंवदा (प्रिय बोलने वाली कही जाती) हो।

राजा—प्रियमपि तथ्यमाह शकुन्तलां प्रियंवदा। अस्या खलु—

राजा—प्रियंवदा ने शकुन्तला से प्रिय होने पर भी सच बात कही है। निश्चय ही इस (शकुन्तला) का—

अधरः किसलयरागः कोमलविटपानुकारिणौ बाहू।
कुसुममिव लोभनीयं यौवनमङ्गेषु सन्नद्धम् ।। २१ ।।

अन्वय—अधरः किसलयरागः (अस्ति), बाहू कोमलविटपानुकारिणौ (स्तः), अङ्गेषु कुसुमम् इव लोभनीयं यौवनं सन्नद्धम् (अस्ति)।

शब्दार्थ—(शकुन्तला का) अधरः = अधरोष्ठ (नीचे का ओठ)। किसलयरागः = नवपल्लव (नये पत्ते) के समान लाल (है)। बाहू = भुजायें। कोमलविटपानुकारिणौ = कोमल शाखाओं का अनुकरण करने वाली (कोमल शाखाओं के सदृश) है। अङ्गेषु = अङ्गों में। कुसुमम् इव = पुष्प की भाँति। लोभनीयं = लुभावना (मनोहर)। यौवनम् = यौवन। सन्नद्धम् = व्याप्त (है)।

अनुवाद—(शकुन्तला का) अधरोष्ठ (नीचे का ओठ) नवपल्लव (नये पत्ते) के समान लाल (है), भुजाएँ कोमल शाखाओं (डालियों) के सदृश हैं (और इसके) अङ्गों में पुष्प की भाँति लुभावना (मनोहर) यौवन व्याप्त (है)।

संस्कृत व्याख्या—अधरः–अधरोष्ठः, **किसलयरागः**–पल्लवताम्रः, **बाहू**–भुजौ, **कोमलविटपानुकारिणौ**–मृदुलशाखासदृशौ, **अङ्गेषु**–शरीरावयवेषु, **कुसुमम् इव**–पुष्पम् इव, **लोभनीयम्**–चेतोहरम्, **यौवनम्**–तारुण्यम्, **सन्नद्धम्**–अभिव्याप्तम् (प्रकटित- मित्यर्थः) अस्तीति शेषः।

संस्कृत-सरलार्थः—प्रियंवदाया 'यावत् त्वयोपगतया लतासनाथ इवायं केसरवृक्षकः प्रतिभातीति वचनं समर्थयन् राजा स्वचित्ते चिन्तयनि – 'अस्या अधरोष्ठः नवपल्लवराग सदृशोऽस्ति, अस्या बाहू च मृदुलस्कन्धोर्ध्वशाखासन्निभौ स्तः, अस्याः सर्वशरीरावयवेषु मनोहारि पुष्पमिव तारुण्यं सर्वांशतो व्याप्तम्। सर्वाङ्गसुन्दरं शकुन्तलायाः शरीरं यौवनसंवलितं जातमिति भावः।

व्याकरण—किसलयरागः–किसलयस्य रागः किसलयरागः (तत्पु०), किसलयरागः इव रागो यस्य (बहु०), यहाँ विग्रह के अनुसार 'किसलयरागरागः' रूप प्राप्त होता है, किन्तु द्वितीय 'राग' का 'सप्तम्युपमानपूर्वस्योत्तरपदलोपश्च' वार्तिक से लोप हो जाता है। कोमलविटपानुकारिणौ– कोमलौ च तौ विटपौ च (कर्म०), तयोः अनुकारिणौ (तत्पु०)। सन्नद्धम् –सम्+नह+क्त।

कोष—'पल्लवोऽस्त्री किसलयम्' अमरकोष।

अलङ्कार—शकुन्तला की तुलना लता से होने के कारण 'उपमा' अलङ्कार है। अधरः किसलयरागः में लुप्तोपमा है।

छन्द—आर्या छन्द है। ल०द्र० श्लो० २।

विशेष—यहाँ पदोच्चय नामक नाटकीय लक्षण है।

टिप्पणी—प्रस्तुत श्लोक में शकुन्तला की लता से तुलना की गयी है। शकुन्तला का अधरोष्ठ नवपल्लव के तुल्य है, भुजायें पतली शाखाओं (डालियों) के तुल्य हैं तथा उसके अङ्गों में पुष्पों के समान मनोहर यौवन विलसित हो रहा है।

अनसूया—हला शकुन्तले, इयं स्वयंवरवधूः सहकारस्य त्वया कृतनामधेया वनज्योत्स्नेति नवमालिका। एनां विस्मृतासि (हला सउन्दले, इअं सअंवरवहू सहआरस्स तुए किदणामहेआ वणजोसिणित्ति णोमालिआ। णं विसुमारिदा सि)।

अनसूया—सखी शकुन्तला, यह आम्रवृक्ष (सहकार) की स्वयंवर-वधू (अपने आप वरण करने वाली वधू) नवमालिका है जिसका तुम्हारे द्वारा 'वनज्योत्स्ना' (वन की चाँदनी) नाम रखा गया है। (क्या) इसको भूल गयी हो ?

शकुन्तला—तदात्मानमपि विस्मरिष्यामि (लतामुपेत्यावलोक्य च) **हला, रमणीये खलु काले एतस्य लतापादपमिथुनस्य व्यतिकरः संवृत्तः नवकुसुमयौवना वनज्योत्स्ना, बद्धपल्लवतयोपभोगक्षमः सहकारः।**

(तदा अत्ताणं वि विसुमरिस्सं। हला, रमणीए क्खु काले इमस्स लदापाअवमिहुणस्स वइअरो संवुत्तो। णवकुसुमजोव्वणा वणजोसिणी, बद्धपल्लवदाए उवभोअक्खमो सहआरो।) (इति पश्यन्ती तिष्ठति)।

शकुन्तला—तब तो अपने को भी भूल जाऊंगी। (लता के समीप जाकर और देखकर) सखी, अत्यन्त सुन्दर समय में लता और वृक्ष के इस जोड़े का मिलन (व्यतिकर) हुआ है। वनज्योत्स्ना नवीन पुष्परूपी यौवन से संवलित और आम्रवृक्ष पत्तों से युक्त होने के कारण (इसका) उपभोग करने में समर्थ है। (देखती हुई खड़ी हो जाती है)।

प्रियंवदा—अनसूये, जानासि किं शकुन्तला वनज्योत्स्नामतिमात्रं पश्यतीति ? (अणसूए, जाणासि किं सउन्दला वनजोसिणिं अदिमेत्तं पेक्खदि त्ति?

प्रियंवदा—अनसूया, (क्या तुम यह) जानती हो कि शकुन्तला किसलिये वनज्योत्स्ना को बहुत अधिक देख रही है ?

अनसूया—न खलु विभावयामि । कथय । (ण क्खु विभावेमि कहेहि ।)

अनसूया—नहीं जान पा रही हूँ । (तुम्हीं) बताओ ।

प्रियंवदा—यथा वनज्योत्स्नाऽनुरूपेण पादपेन सङ्गता, अपि नामैवमहमप्यात्मनोऽनुरूपं वरं लभे येति ? (जह वणजोसिणी अणुरूवेण पादवेण संगदा, अवि णाम एव्वं अहं वि अत्तणो अणुरूवं वरं लहेअं त्ति ?)

प्रियंवदा—जिस प्रकार वनज्योत्स्ना (अपने) अनुरूप (योग्य) वृक्ष से मिल गयी है (अर्थात् अपने योग्य (वररूप) वृक्ष की जीवनसंगिनी बन गयी है), (उसी प्रकार) क्या मैं भी अपने योग्य (अनुरूप) वर को पाऊँगी ?

शकुन्तला—एष नूनं तवात्मगतो मनोरथः । (एसो णूणं तुह अत्तगदो मणोरहो ।) (इति कलशमावर्जयति) ।

शकुन्तला—यह निश्चय ही तुम्हारी अपनी अभिलाषा है (घड़े को उड़ेलती है) ।

राजा—अपि नाम कुलपतेरियमसवर्णक्षेत्रसम्भवा स्यात् ? अथवा कृतं सन्देहेन ।

व्याकरण एवं शब्दार्थ—कुलपतेः - कण्वस्य । असवर्णक्षेत्रसम्भवा - असवर्णम् असमानं क्षत्रियादि क्षेत्रम् कलत्रम् तत्र सम्भवः जन्म यस्याः सा तथोक्ता = विजातीय (ब्राह्मणेतर पत्नी) से उत्पन्न ।

राजा—क्या यह सम्भव है कि यह (शकुन्तला) कुलपति (कण्व) की असवर्ण (ब्राह्मणेतर) पत्नी (क्षेत्र) से उत्पन्न हुई हो ? अथवा सन्देह करने की आवश्यकता नहीं ।

असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा यदार्यमस्यामभिलाषि मे मनः ।
सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः ।। २२ ।।

अन्वय—(इदम्) असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा (अस्ति), यत् मे आर्यं मनः अस्यां अभिलाषि (अस्ति), हि सन्देहपदेषु वस्तुषु सताम् अन्तःकरणप्रवृत्तयः प्रमाणम् ।

शब्दार्थ—असंशयम् = निःसन्देह, क्षत्रपरिग्रहक्षमा = क्षत्रिय के द्वारा पत्नी के रूप में ग्रहण करने के योग्य (क्षत्रिय द्वारा विवाह करने के योग्य) । यत् = जिससे कि । मे = मेरा । आर्यं = श्रेष्ठ । मनः = मन । अस्यां = इस (शकुन्तला) में । अभिलाषि = अभिलाषा से युक्त है । हि = क्योंकि । सन्देहपदेषु = सन्देहास्पद । वस्तुषु = वस्तुओं में, विषयों में । सताम् = सज्जनों की । अन्तःकरणप्रवृत्तयः = अन्तःकरण की प्रवृत्तियाँ (आत्मा की आवाज) । प्रमाणम् = प्रमाण (निर्णय का कारण होती है) ।

अनुवाद—(यह शकुन्तला) निःसन्देह क्षत्रिय के द्वारा पत्नी के रूप में ग्रहण करने योग्य (विवाह करने के योग्य) है, जिससे कि मेरा श्रेष्ठ मन इस (शकुन्तला) में अभिलाषा से युक्त (है) (अर्थात् इसे चाहता है) । क्योंकि सन्देहास्पद वस्तुओं (विषयों) में सज्जनों के अन्तःकरण की प्रवृत्तियाँ (आत्मा की आवाज) ही प्रमाण (निर्णायक होती हैं) ।

संस्कृत व्याख्या—(इयं शकुन्तला) **असंशयम्** - नूनम् एव, **क्षत्रपरिग्रहक्षमा** -

क्षत्रस्य क्षत्रियस्य परिग्रहक्षमा पत्नीत्वेन ग्रहणयोग्या, **अस्ति इति** शेष; **यत्** यस्मात् ,**मे** मम **आर्यम्** – श्रेष्ठम् , **मनः** – अन्तःकरणम् , **अस्याम्** – शकुन्तलायाम् , **अभिलाषि** – अभिलाषयुक्तम् अस्ति; **हि** – यतः, **सन्देहपदेषु** – संशयास्पदेषु, **वस्तुषु** – विषयेषु, **सताम्** – सज्जनानाम् **अन्तःकरणप्रवृत्तयः** – चित्तवृत्तयः, **प्रमाणम्** – कर्त्तव्याकर्त्तव्यविनिर्णयहेतुः भवन्तीति शेषः ।

संस्कृत-सरलार्थः—'अपि नाम कुलपतेरियमसवर्णक्षेत्रसम्भवा स्यात् । अथवा कृतं सन्देहेन'—इति विचारानन्तरं राजा चिन्तयन् कथयति—'निःसन्देहमियं शकुन्तला क्षत्रियग्रहण-योग्या वर्तते, यस्मात् सत्कुलोत्पन्नस्य मे पावनं चित्तमस्यां (शकुन्तलायां) साभिलाषं जातम् । यतो हि सन्देहास्पदेषु विषयेषु सज्जनानां मन एव प्रमाणं भवति । यतो मदीयं मनः शकुन्तलाम्प्रति धावत्यतो नूनमेवेयं मे ग्राह्याऽस्तीति भावः ।

व्याकरण—असंशयम् अविद्यमानः संशयः यस्मिन् तत् (बहु०) । क्षत्रपरिग्रहक्षमा – क्षत्रस्य क्षत्रेण वा परिग्रहस्य क्षमा (तत्पु०) । अभिलाषि – अभि + लष् + णिनि । सन्देहपदेषु – सन्देहस्य पदेषु (तत्पु०) । अन्तःकरणप्रवृत्तयः – अन्तःकरणस्य प्रवृत्तयः (तत्पु०) । प्रमाणम् – प्र + मा + ल्युट् ।

कोष—क्षत्रं क्षत्रियराजन्यौ – नाममाला । परिग्रहः परिजने पत्न्यां स्वीकारमूलयो – इति विश्वः ।

अलङ्कार—(१) उत्तरार्ध सामान्य के द्वारा पूर्वार्ध के विशेष का समर्थन होने से अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है । द्रष्टव्य श्लो० २ । (२) द्वितीय चरण प्रथम चरण का कारण है, अतः **काव्यलिङ्ग** है । द्र० श्लो० ४ । (३) मेरे परिग्रह के योग्य यह न कहकर 'क्षत्रपरिग्रहक्षमा' यह सामान्य कथन होने से **अप्रस्तुतप्रशंसा** है । (४) यहाँ पुनरुक्तवदाभास भी है ।

छन्द—वंशस्थ छन्द है । लक्षण द्र० श्लो० १८ ।

टिप्पणी—(१) मनुस्मृति के अनुसार अपने वर्ण की कन्या के साथ विवाह सर्वोत्तम है । इसके अतिरिक्त अपने से निम्न वर्ण की कन्या के साथ भी विवाह किया जा सकता है, परन्तु अपने से उत्तम वर्ण की कन्या के साथ नहीं । इसके अनुसार ब्राह्मण सभी वर्णों की कन्या के साथ और क्षत्रिय ब्राह्मणेत्तर कन्या के साथ विवाह कर सकता है ।

(२) यदि किसी कार्य में सन्देह हो तो सज्जनों को कर्तव्य और अकर्तव्य के विषय में अपने हृदय से पूछना चाहिए । हृदय जो कह दे – आत्मा की जो आवाज हो । उसके अनुसार कार्य करना चाहिये । मनु ने भी कहा है – 'वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम् । आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च' ॥ (मनु० २.१६) ।

तथापि तत्त्वत एनामुपलप्स्ये ।

श० एवं व्या०—तत्त्वतः = यर्थार्थतः । उपलप्स्ये = उप + लभ्, लृट् ल०, उ०पु०, ए० व० ।

फिर भी यथार्थ रूप से इस (शकुन्तला) का पता लगाऊंगा ।

शकुन्तला—(ससम्भ्रमम्) **अम्मो, सलिलसेकसम्भ्रमोद्गतो नवमालिकामुज्झित्वा वदनं मे मधुकरोऽभिवर्तते ।** (अम्मो, सलिलसेअसंभमुग्गदो णोमालिअं उज्झिअ वअणं मे महुअरो अहिवट्टइ ।) (इति भ्रमरबाधां रूपयति) ।

शकुन्तला—(घबराहट के साथ) ओह, जल के सींचने से घबड़ाकर (ऊपर) उड़ा हुआ

(यह) भौंरा चमेली (नवमालिका) को छोड़कर मेरे मुख की ओर आ रहा है। (भौंरे से पीड़ा का अभिनय करती है)।

राजा—(सस्पृहं विलोक्य) —

चलापाङ्गां दृष्टिं स्पृशसि बहुशो वेपथुमतीं
रहस्याख्यायीव स्वनसि मृदु कर्णान्तिकचरः।
करौ व्याधुन्वत्याः पिबसि रतिसर्वस्वमधरं
वयं तत्त्वान्वेषान्मधुकर हतास्त्वं खलु कृती।। २३ ।।

अन्वय—मधुकर (त्वं शकुन्तलायाः) चलापाङ्गां वेपथुमतीं दृष्टिं बहुशः स्पृशसि, रहस्याख्यायी इव कर्णान्तिकचरः (सन्) मृदु स्वनसि, करौ व्याधुन्वत्याः (तस्याः) रतिसर्वस्वम् अधरं पिबसि, वयं तत्त्वान्वेषात् हताः, त्वं खलु कृती (असि)।

शब्दार्थ—मधुकर = हे भ्रमर ! (त्वं शकुन्तलायाः)। चलापाङ्गाम् = चञ्चल नेत्र - प्रान्त (अपाङ्ग) वाली। वेपथुमतीम् = काँपती हुई। दृष्टिम् = दृष्टि को (नेत्रों को)। बहुशः = बार-बार। स्पृशसि = छू रहे हो (चूम रहे हो)। रहस्याख्यायी इव = रहस्य की बात (गुप्पृबात) कहने वाले की भाँति। कर्णान्तिकचरः = कानों के समीप विचरण करते हुये। मृदु = मधुर। स्वनसि = गुञ्जन कर रहे हो। करौ = हाथों को। व्याधुन्वत्याः = हिलाती हुई (उसके)। रतिसर्वस्वम् = प्रेम के सर्वस्वभूत (रतिक्रीड़ा के सार)। अधरम् = अधर को। पिबसि = पी रहे हो। वयं = हम। तत्त्वान्वेषात् = तथ्यान्वेषण के कारण (तथ्य की खोज में ही)। हताः = मारे गये। त्वम् = तुम। खलु = निश्चय ही। कृती = कृतार्थ हो।

अनुवाद—(अभिलाषा के साथ देख कर) हे भ्रमर, (तुम शकुन्तला की) चञ्चल नेत्र-प्रान्त (अपाङ्ग) वाली तथा काँपती हुई दृष्टि (नेत्रों को) बार-बार स्पर्श कर रहे हो। रहस्य की बात (गुप्त बात) कहने वाले की भाँति कान के समीप विचरण करते हुये मधुर-मधुर गुञ्जन कर रहे हो। (मना करने के लिये) हाथों को हिलाती हुई (इस शकुन्तला) के प्रेम (रतिक्रीड़ा) के सर्वस्व (भूत) अधर को पी रहे हो। हम (राजा दुष्यन्त) (तो) तथ्य के अन्वेषण (खोज) में (ही) मारे गये, तुम तो निश्चय ही कृतार्थ (सफल) हो गये।

संस्कृत-व्याख्या—मधुकर – हे भ्रमर !(शकुन्तलायाः), **चलापाङ्गाम्** – चञ्चललोचनान्ताम्, **वेपथुमतीम्** – कम्पमानाम्, **दृष्टिम्** – नयनम्, **बहुशः** – वारं-वारम्, **स्पृशसि** – चुम्बसि, **रहस्याख्यायी इव** – गोप्यम् आख्याति इति रहस्याख्यायी स इव, **कर्णान्तिकचरः** – श्रोत्रसमीपगामी सन्, मृदु – कोमलं (मन्दं वा), **स्वनसि** – शब्दं करोषि (गुञ्जसि)। **करौ** – हस्तौ, **व्याधुन्वत्याः** – तव (भ्रमरस्य) वारणाय विशेषेण चालयन्त्याः, **रतिसर्वस्वम्** – प्रेमसर्वस्वभूतम् – सुरतसारम्, **अधरम्** – अधरोष्ठम्, **पिबसि** – चुम्बसि, **वयम्** – अहं दुष्यन्तः, **तत्त्वान्वेषात्** – तथ्यानुसन्धानात् (यथार्थजिज्ञासयैव), **हताः** – वञ्चिताः, त्वम् – भ्रमरः, **खलु** – निश्चयेन, **कृती** – कृतार्थः (असि)।

संस्कृत-सरलार्थः—भ्रमरबाधां प्रदर्शयन्ती शकुन्तलां सस्पृहं विलोक्य दुष्यन्तस्तं भ्रमरं सम्बोधयन् वक्ति— 'हे भ्रमर ! त्वं शकुन्लाया चञ्चलापाङ्गां कम्पमानां दृष्टिं भूरिशः स्पृशसि, अस्याः कर्णाभ्याशं भ्रमन् त्वं रहस्याख्यानव्याजेन मन्दं मन्दं मधुरं गुञ्जसि, बाधावारणाय स्वहस्तावितस्तश्चालयन्त्या अस्याः कामसाररूपमधरोष्ठं समास्वादयसि (चुम्बसि)। अहं दुष्यन्तस्तु

कस्येयं का वेति, परिग्रहयोग्या न वेति तथ्यजिज्ञासयैव भग्ननोरथः परन्तु भ्रमर ! त्वमेव वस्तुतः सफलमनोरथोऽसि ।

व्याकरण—चलापाङ्गां – चलौ अपाङ्गौ यस्याः सा ताम् (बहु०) । कर्णान्तिकचरः – कर्णयोः अन्तिकम् (तत्पु०) तत्र चरति इति कर्णान्तिकचरः । स्वनसि – स्वन् + लट् + म०पु०ए०व० । व्याधुन्वत्याः – वि + आ + धु + शतृ + ङीप् , षष्ठी एक० । रतिसर्वस्वम् – रत्याः सर्वस्वम् । (तत्पु०) । तत्त्वान्वेषात् – तत्त्वस्य अन्वेषात् (तत्पु०), हेत्वर्थ में पञ्चमी ।

अलङ्कार—(१) भ्रमर में नायक का आरोप होने से '**समासोक्ति**' अलङ्कार है –

समासोक्तिः समैर्यत्र कार्यलिङ्गविशेषणैः ।
व्यवहारसमारोपः प्रस्तुतेऽप्रस्तुतस्य वस्तुनः ।। सा०द०

(२) 'रहस्याख्यायीव' में उत्प्रेक्षा है । (३) 'वयं हताः त्वं खलु कृती' में उपमान राजा की अपेक्षा उपमेय भ्रमर की विशेषता वर्णित होने के कारण '**व्यतिरेक**' अलङ्कार है । लक्षण – आधिक्यमुपमेयस्योपमानान्यूनताऽथवा । व्यतिरेकः । सा०द० (४)यहाँ 'त्वं कृती' के प्रथम तीन चरण कारण हैं अतः **काव्यलिङ्ग** है । (५) शकुन्तला के नेत्रों को नीलकमल समझ कर भ्रमर द्वारा उसका स्पर्श किये जाने से '**भ्रान्तिमान्**' अलङ्कार है – लक्षण –साम्यादतस्मिंस्तद्बुद्धिर्भ्रान्तिमान् प्रतिभोत्थितः । सा०द०

छन्द—शिखरिणी है— लक्षण द्र०श्लो० ९ ।

टिप्पणी—(१) इस श्लोक में भ्रमर को कामी तथा शकुन्तला को कामिनी के रूप में चित्रित किया गया है । (२) अधरपान को रति का सर्वस्व कहा गया है । अधर-पान को कामशास्त्र और कवियों में बहुत महत्त्व प्राप्त है ।

शकुन्तला—नैष धृष्टो विरमति । अन्यतो गमिष्यामि । (पदान्तरे स्थित्वा सदृष्टिक्षेपम्) **कथमितोऽप्यागच्छति । हला, परित्रायेथां मामनेन दुर्विनीतेन मधुकरेणाभिभूयमानाम् ।** (ण एसो धिट्ठो विरमदि । अण्णदो गमिस्सं । कहं इदो वि आअच्छदि । हला, परित्ताअह मं इमिणा दुव्विणीदेण महुअरेण अहिहअमाणं) ।

व्याकरण—परित्रायेथाम् – परि+त्रै+म०पु० = रक्षा करो ।

शकुन्तला—यह ढीठ (भ्रमर) नहीं रुक रहा है । दूसरी ओर जाती हूँ । (कुछ पग चलने के पश्चात् रुककर, दृष्टिपात करती हुई) क्या इधर भी आ रहा है । सखी, इस दुष्ट भ्रमर से पीड़ित की जाती हुई मुझको बचाओ ।

उभे—(सस्मितम्) **के आवां परित्रातुम् । दुष्यन्तमाक्रन्द । राजरक्षितव्यानि तपोवनानि नाम ।** (का वअं परित्तादुं । दुस्सन्दं अक्कन्दं । राअरक्खिदव्वाइं तपोवणाइ णाम ।)

दोनों—(मुस्कराकर) हम दोनों (तुम्हें) बचाने वाली कौन हैं । (राजा) दुष्यन्त को पुकारो । (क्योंकि) तपोवन राजा के द्वारा रक्षणीय होते हैं ।

राजा—अवसरोऽयमात्मानं प्रकाशयितुम् । न भेतव्यं न भेतव्यम् (इत्यर्धोक्ते स्वगतम्) **राजभावस्त्वभिज्ञातो भवेत् । भवतु । एवं तावदभिधास्ये ।**

व्याकरण एवं शब्दार्थ—भेतव्यम् – भी + तव्यत् । अभिज्ञातः – अभि + ज्ञा + क्त = परिज्ञात । अभिधास्ये – अभि + धा + लृट् + उ०पु०ए० ।

राजा—यह अपने को प्रकट करने का (उचित) अवसर है। मत डरो, मत डरो (ऐसा आधा कहकर अपने मन में) किन्तु (इससे मेरा) राजत्व (राजा होना) परिज्ञात हो जायेगा। अच्छा, तो इस प्रकार कहूँगा।

शकुन्तला—(पदान्तरे स्थित्वा सदृष्टिक्षेपम्) **कथमितोऽपि मामनुसरति।** (कहं इदो वि मं अणुसरदि।)

शकुन्तला—(कुछ पग चलने के पश्चात् रुककर दृष्टिपात करती हुई) क्या इधर भी (यह) मेरा पीछा कर रहा है।

राजा—(सत्वरमुपसृत्य) -

राजा—(शीघ्र आगे बढ़कर) -

कः पौरवे वसुमतीं शासति शासितरि दुर्विनीतानाम्।
अयमाचरत्यविनयं मुग्धासु तपस्विकन्यासु॥ २४॥

अन्वय—दुर्विनीतानां शासितरि पौरवे वसुमतीं शसति (सति) कः अयं मुग्धासु तपस्विकन्यासु अविनयम् आचरति।

शब्दार्थ—दुर्विनीतानां = दुष्टों के। शासितरि = शासक, दण्ड देने वाले। पौरवे = पुरुवंशी राजा दुष्यन्त के। वसुमतीं = पृथ्वी का, भूमण्डल का। शासति = शासन करने पर। कः = कौन। अयम् = यह। मुग्धासु = भोली-भाली। तपस्विकन्यासु = तपस्वीकन्याओं के प्रति। अविनयम् = अशिष्टता का। आचरति = व्यवहार (आचरण) कर रहा है।

संस्कृत-सरलार्थः—भ्रमरेण बाध्यमानां शकुन्तलां सत्वरमुपसृत्य राजा वदति 'दुष्टानां दण्डादिना शिक्षयतरि पुरुवंशोद्भवे राजनि दुष्यन्ते विशालां पृथिवीं पालयति सति कोऽसौ दुष्टो सरलस्वभावासु मुनिकन्यास्वशिष्टव्यवहारमाचरति ?

अनुवाद—दुष्टों के शासक (दण्ड देने वाले) पुरुवंशी राजा दुष्यन्त के पृथ्वी (भूमण्डल) का शासन करते हुए कौन यह भोली-भाली तपस्विकन्याओं के साथ अशिष्टता का व्यवहार (आचरण) कर रहा है ?

संस्कृत व्याख्या—दुर्विनीतानाम् – दुर्जनानाम् , **शासितरि** – दण्डादिना शासनकर्त्तरि, **पौरवे** – पुरुवंशप्रसूते दुष्यन्ते, **वसुमतीं** – वसुन्धराम् , **शासति** – पालयति सति, **क अयं** – कः असौ, **मुग्धासु** – स्वभावसरलासु, **तपस्विकन्यासु** – तापसकुमारीषु, **अविनयम्** – अशिष्टताम् , **आचरति** – व्यवहरति।

संस्कृत-सरलार्थः—भ्रमरेण बाध्यमानां शकुन्तलां सत्वरमुपसृत्य राजा वदति–'दुष्टानां दण्डादिना शिक्षयतरि पुरुवंशोद्मये राजनि दुष्यन्ते मयि विशालां पृथिवीं पालयति सति कोऽसौ दुष्टौः सरलस्वभावसु मुनिकन्या स्वशिष्टव्यवहारमाचरतीनि ?

व्याकरण—पौरवे – पुरोः गोत्रापत्यं पुमान् पौरवः, पुरु + अण्। शासति – शास् + तृच् + स०, एक०; यहाँ 'यस्य च भावेन भावलक्षणम्' से सप्तमी हुई है। तपस्विकन्यासु – तपस्विनां कन्यासु (तत्पु०)।

अलङ्कार—यहाँ प्रस्तुत दुष्यन्त और शकुन्तला से अप्रस्तुत पौरव एवं तपस्विकन्या के वर्णनं होने से '**अप्रस्तुतप्रशंसा**' अलङ्कार है। लक्षण – द्रष्टव्य श्लो० १७।

छन्द—आर्या है। द्र० श्लो० २।

(सर्वा राजानं दृष्ट्वा किञ्चिदिव सम्भ्रान्ताः)

(सभी ऋषि कन्यायें राजा को देखकर कुछ घबड़ा सी जाती है)।

अनसूया—आर्य, न खलु किमप्यत्याहितम्। इयं नौ प्रियसखी मधु–करेणाभिभूयमाना कातरीभूता। (अज्ज, ण क्खु किं वि अच्चाहिदं इयं णो पिअसही महुअरेण अहिहअमाणा कादरीभूदा।) (इति शकुन्तलां दर्शयति)।

व्याकरण एवं शब्दार्थ—अत्याहितम् – अतीव आधीयते इव मनसि – अति + आ + धा + क्त, 'दधातेर्हि' है, सूत्र से 'धा' को 'हि' आदेश = महाभीतिः। **कातरीभूता** – अकातरा कातरा सम्पद्यमाना भूता इति – कातरा + च्वि + भू + क्त + टाप् = त्रस्त हो गयी। **अभिभूयमाना** – अभि + भू + यक् + शानच् + टाप् = पीड्यमाना।

अनसूया—आर्य, कोई भी बड़ी विपत्ति नहीं है। हमारी यह प्रियसखी (शकुन्तला) भ्रमर के द्वारा पीड़ित (परेशान) होती हुई भयभीत हो गयी थी। (शकुन्तला को दिखाती है)।

राजा—(शकुन्तलाभिमुखो भूत्वा) **अपि तपो वर्धते।**

राजा—(शकुन्तला की ओर मुख करके) क्या (आप का) तप बढ़ रहा है (अर्थात् आप का तप निर्विध्न तो चल रहा है न)!

(शकुन्तला साध्वसादवचना तिष्ठति)

शब्दार्थ—साध्वसात् – लज्जा के कारण। अवचना – चुपचाप।

(शकुन्तला घबराहट के कारण चुपचाप खड़ी रहती है)।

अनसूया—इदानीमतिथिविशेषलाभेन। हला शकुन्तले गच्छोटजम्। फलमिश्रमर्घमुपहर। इदं पादोदकं भविष्यति। (दाणिं अदिहिविसेसलाहेन। हला सउन्दले, गच्छ उड। फलमिस्सं अग्धं उवहर। इदं पादोदअं भविस्सदि।)

अनसूया—सम्प्रति (आप जैसे विशिष्ट) अतिथि के आगमन से (तप बढ़ रहा है)। हे सखी शकुन्तला, कुटी (उटज) में जाओ (और) फलयुक्त अर्घ (पूजन का द्रव्य) ले आओ। यह (घड़े का जल) पैर धोने के लिये (पादोदक) होगा।

टिप्पणी—मुनीनां पर्णशालोटजोऽस्त्रियाम्।

राजा—भवतीनां सूनृतयैव गिरा कृतमातिथ्यम्।

शब्दार्थ—सूनृतया = सत्य और प्रिय। गिरा = वाणी से। आतिथ्यम् = अतिथिसत्कार।

राजा—आप लोगों की प्रिय वाणी से ही (मेरा) अतिथिसत्कार सम्पन्न हो गया।

प्रियंवदा—तेन ह्यस्यां प्रच्छायशीतलायां सप्तपर्णवेदिकायां मुहुर्तमुपविश्य परिश्रमविनोदं करोत्वार्यः। (तेण हि इमस्सिं पच्छाअसीअलाए सत्तवण्णवेदिआए मुहुत्तअं उववसिअ परिस्समविणोदं करेदु अज्जो)।

प्रियंवदा—तब तो (आप) घनी छाया से शीतल, सप्तपर्ण वृक्ष के (नीचे बनी हुई) वेदी (चबूतरे) पर थोड़ी देर बैठकर (अपनी) थकान को दूर कर लें।

राजा—नूनं युमप्यनेन कर्मणा परिश्रान्ताः ।

व्याकरण—परिश्रान्ताः = परि + श्रम + क्त प्र० । = **थकी हुई ।**

राजा—निश्चत ही आप लोग भी इस (वृक्ष-सेचन के) कार्य से थक गयी होंगी।

अनसूया—हला शकुन्तले, उचितं नः पर्युपासपनमतिथीनाम् । अत्रोपविशामः । (हला सउन्दले, उइदं णो पज्जूवासणं अदिहीणं। एत्थ उववसिहम।) (इति सर्वा उपविशन्ति)।

व्याकरण—पर्युपासनम् - परि + उपासनम्, यण् सन्धि।

अनसूया—सखी शकुन्तला, हम लोगों को अतिथि के पास बैठना उचित है। यहाँ (हम लोग) बैठें। (सभी बैठ जाती हैं)।

शकुन्तला—(आत्मगतम्) **किं नु खल्विमं प्रेक्ष्य तपोवनविरोधिनी विकारस्य गमनीयाऽस्मि संवृत्ता ।** (किं णु क्खु इमं पेक्खिअ तपोवणविरोहिणी विआरस्स गमणीअह्मि संवुत्ता ।)

व्याकरण—गमनीया - गम् + अनीयर + टाप् = पात्र।

शकुन्तला—(अपने मन में) क्यों इस (व्यक्ति) को देखकर तपोवन के विरोधी विकार (काम-भावना) का पात्र (लक्ष्य) हो गयी हूँ।

राजा—(सर्वा विलोक्य) **अहो समवयोरूपरमणीयं भवतीनां सौहार्दम्।**

राजा—(सबको देखकर) अहा, आप लोगों की मित्रता समान आयु और रूप के कारण रमणीय है।

प्रियंवदा—(जनान्तिकम्) **अनसूये, को नु खल्वेष चतुरगम्भीराकृतिर्मधुरं प्रियमालपन् प्रभाववानिव लक्ष्यते ।** (अणसूए, को णु क्खु एसो चउरगम्भीराकिदी महुरं पिअंआलवन्तो पहाववप्तो विअ लक्खीअदि ।)

प्रियंवदा—(हाथ की ओट कर) अनसूया, यह सुन्दर और गम्भीर आकृति वाला कौन है, जो मधुर और प्रिय (वाणी) बोलता हुआ प्रभावशाली-सा प्रतीत हो रहा है।

अनसूया—सखि, ममाप्यस्ति कौतूहलम् । पृच्छामि तावदेनम् । (प्रकाशम्) **आर्यस्य मधुरालापजनितो विस्रम्भो मां मन्त्रयते—कतम आर्येण राजर्षिवंशोऽलङ्क्रियते ? कतमो वा विरहपर्युत्सुकजनःकृतो देशः ? किंनिमित्तं सुकुमारतरोऽपि तपोवनगमनपरिश्रमस्यात्मा पदमुपनीतः ।** (सहि, मम वि अस्थि कोदूहलं। पुच्छिस्सं दाव णं। अज्जस्स महुरालावजणिदो वीसम्भो मं मन्तावेदि-कदमो अज्जेण राएसिवंशो अलंकरीअदि ? कदमो वा विरह-पज्जुस्सुअजणो किदो देसो ? किणिमितं वा सुउमारदरो वि तवोवणगमणपरिस्समस्स अत्ता पदं उवणीदो ।)

अनसूया—सखी, मुझे भी यह कौतूहल (जानने की इच्छा) है। अच्छा, इनसे पूछती हूँ। (प्रकट रूप से) आपके मधुर भाषण से उत्पन्न विश्वास मुझे (आप से कुछ पूछने के लिये) प्रेरित कर रहा है। आपके द्वारा कौन-सा राजर्षिवंश अलङ्कृत किया जा रहा है (अर्थात् आप किस राजवंश में उत्पन्न हुये हैं) ? किस देश के लोग आप के वियोग से व्याकुल बनाये गये हैं (अर्थात् आप कहाँ से आये हैं) ? किस कारण से (आप ने) अपने अत्यन्त सुकुमार शरीर को इस तपोवन में आने के परिश्रम का पात्र बनाया है (अर्थात् किस कारण आप इस तपोवन में आए हैं) ?

शकुन्तला—(आत्मगतम्) **हृदय मोत्तोम्य। एषा त्वया चिन्तितान्यनसूया मन्त्रयते।** (हिअअ, मा उत्तम्म। एसा तुए चिन्तिदाइं अणसूआ मन्तेदि।)

शकुन्तला—(अपने मन में) हृदय, अधीर मत होवो। तुम्हारे द्वारा सोचे गये (विषयों) को यह अनसूया पूछ रही है।

राजा—(आत्मगतम्) **कथमिदानीमात्मानं निवेदयामि, कथं वात्मापहारं करोमि। भवतु। एवं तावदेनां वक्ष्ये।** (प्रकाशम्) **भवति, यः पौरवेण राज्ञा धर्माधिकारे नियुक्तः, सोऽहमविघ्नक्रियोपलम्भाय धर्मारण्यमिदमायातः।**

राजा—(अपने मन में) इस समय मैं अपने को किस प्रकार प्रकट करूँ अथवा अपने को किस प्रकार से छिपाऊँ। अच्छा, इससे इस प्रकार कहता हूँ। (प्रकट रूप में) आदरणीये, जो पुरुवंशोत्पन्न राजा दुष्यन्त के द्वारा धर्माधिकारी नियुक्त किया गया है, वह मैं निर्विघ्न (धार्मिक) क्रियाओं को जानने के लिये इस तपोवन में आया हूँ (अर्थात् राजा दुष्यन्त ने मुझे यह जानने के लिये तपोवन में भेजा है कि यहाँ तपस्वियों की धार्मिक क्रियाएँ निर्विघ्न रूप से चल रही हैं)।

अनसूया—**सनाथा इदानीं धर्मचारिणः।** (सणाहा दाणिं धम्मआरिणो।) (शकुन्तला शृङ्गारलज्जां रूपयति)।

अनसूया—धर्म का आचरण करने वाले (तपस्वी लोग) अब सनाथ हो गये। (शकुन्तला शृंगार की लज्जा का अभिनय करती है)।

सख्यौ—(उभयोराकारं विदित्वा, जनान्तिकम्) **हला शकुन्तले; यद्यत्राद्य तातः सन्निहितो भवेत् ...।** (हला सउन्दले, जई एत्थ अज्ज तादो संणिहिदो भवे...।)

दोनों सखियाँ—(दोनों राजा और शकुन्तला के आकार को जानकर हाथ से ओट करके) सखी शकुन्तला, यदि यहाँ आज पिता जी उपस्थित होते.......।

शकुन्तला—**ततः किं भवेत् ?** (तदो किं भवे ?)

शकुन्तला—तो क्या होता ?

सख्यौ—**इमं जीवितसर्वस्वेनाप्यतिथिविशेषं कृतार्थं करिष्यति।** (इमं जीविदसब्बस्सेण वि अदिहिविसेसं किदत्थं करिस्सदि।)

दोनों सखियाँ—अपने जीवन के सर्वस्व (अर्थात् प्राणप्रिय वस्तु) (तुम शकुन्तला) से भी इस विशिष्ट अतिथि को कृतार्थ करते।

शकुन्तला—**युवामपेतम्। किमपि हृदये कृत्वा मन्त्रयेथे। न युवयोर्वचनं श्रोष्यामि।** (तुम्हे अवेध किं वि हिअए करिअ मन्तेध। ण वो ववणं सुणिस्सं।)

शकुन्तला—तुम दोनों हट जाओ। (तुम दोनों) कुछ मन में रखकर (ऐसा) कर रही हो। तुम दोनों की बातें नहीं सुनूँगी।

राजा—**वयमपि तावद् भवत्योः सखीगतं किमपि पृच्छामः।**

राजा—हम भी आप दोनों की सखी के विषय में कुछ पूछना चाहते हैं।

सख्यौ—**आर्य, अनुग्रह इवेयमभ्यर्थना।** (अज्ज, अणुग्गहो विअ इअं अब्भत्थणा।)

दोनों सखियाँ—आर्य, (आप की) प्रार्थना (हम लोगों पर) अनुग्रह के समान है।

राजा—भगवान् काश्यपः शाश्वते ब्रह्मणि स्थित इति प्रकाशः। इयं च वः सखी तदात्मजेति कथमेतत् ?

राजा—कश्यप कुल में उत्पन्न पूज्य (कण्व) शाश्वत ब्रह्मचर्य में अवस्थित हैं (अर्थात् नैष्ठिक ब्रह्मचारी हैं)—यह प्रसिद्ध है। और आप की यह सखी (शकुन्तला) उनकी पुत्री है, यह कैसे ?

अनसूया—श्रृणोत्वार्यः। अस्ति कोऽपि कौशिक इति गोत्रनामधेयो महाप्रभावी राजर्षिः। (सुणादु अज्जो। अत्थि को वि कोसिओ त्ति गोत्तणामहेओ महाप्पहावो राएसी।)

अनसूया—आर्य, सुनें। 'कौशिक' इस गोत्र-नाम वाले कोई अत्यन्त प्रभावशाली राजर्षि हैं।

राजा—अस्ति, श्रूयते।

राजा—हैं, (ऐसा) सुना जाता है।

अनसूया—तमावयोः प्रियसख्याः प्रभवमवगच्छ। उज्झितायाः शरीरसंवर्धनादिभिस्तात-काश्यपोऽस्याः पिता। (तं णो पिअसहीए पहवं अवगच्छ। उज्झिआए सरीरसंवड्ढणादिहिं तादकत्सवो से पिदा।)

अनसूया—उन (कौशिक) को हमारी प्रियसखी (शकुन्तला) का जन्मदाता (पिता) समझें। (माता-पिता से) परित्यक्त इसके शरीर के पालन-पोषण आदि के कारण तात कण्व इसके पिता हैं।

राजा—उज्झितशब्देन जनितं मे कौतूहलम्। आमूलाच्छ्रोतुमिच्छामि।

राजा—'परित्यक्त' शब्द से मुझे जिज्ञासा (जानने की इच्छा) उत्पन्न हो गयी है। (मै इस बात को) प्रारम्भ से सुनना चाहता हूँ।

अनसूया—श्रृणोत्वार्यः। गौतमीतीरे पुरा किल तस्य राजर्षेरुग्रे तपसि वर्तमानस्य किमपि जातशङ्कैर्देवैर्मेनका नामाप्सराः प्रेषिता नियमनिध्नकारिणी। (सुणादु अज्जा। गोदमीतीरे पुरा किल तस्स राएसिणो उग्गे तवसि वट्टमाणस्अ किंवि जादशंकेहिं देवेहिं मेणआ णाम अच्छरा पेसिदा णिअमविग्घकारिणा।)

व्याकरण एवं शब्दार्थ—जातशङ्कैः = जाता शङ्का येषां ते तैः = सशंकित।

अनसूया—आर्य, सुनें। पहले (पूर्वकाल में) गौतमी नदी के तट पर उग्र तपस्या में रत उस राजर्षि से सशंकित (अर्थात् भयभीत) देवताओं ने (उनकी) तपस्या (नियम) में विघ्न करने वाली मेनका नामक अप्सरा को भेजा।

राजा—अस्त्येतदन्यसमाधिभीरुत्वं देवानाम्।

राजा—दूसरों की समाधि से भयभीत होना – यह देवताओं में (पाया जाता) है।

अनसूया—ततो वसन्तावतारसमये तस्या उन्मादयितृ रूपं प्रेक्ष्य --। (तदो वसन्तोदारसमये से उम्मादइत्तअं रूवं पेक्खिअ.....।) इत्यर्धोक्ते लज्जया विरमति।

अनसूया—तत्पश्चात् वसन्तऋतु के आगमन के समय उस (मेनका) के उन्मादक रूप को देखकर ... ...। (आधा कहने पर लज्जा से रुक जाती है)।

राजा—परस्ताज्ज्ञायत एव । सर्वथाप्सरः सम्भवैषा ।

व्याकरण एवं शब्दार्थ—अप्सराः सम्भवः यस्य सा = अप्सरा से उत्पन्न । 'स्त्रियां' बहुस्वप्सरसः स्वर्वेश्या उर्वशी मुख्याः - अमरः ।

राजा—आगे (का वृत्तान्त) ज्ञात ही हो जाता है कि यह (शकुन्तला) सर्वथा अप्सरा से उत्पन्न है (अर्थात् अप्सरा की पुत्री है) ।

अनसूया—अथ किम् !! (अह इं !)

अनसूया— और क्या !

राजा—उपपद्यते ।

राजा—ठीक है, क्योंकि -

मानुषीषु कथं वा स्यादस्य रूपस्य सम्भवः ।
न प्रभातरलं ज्योतिरुदेति वसुधातलात् ।। २५ ।।

अन्वय—मानुषीषु अस्य रूपस्य सम्भवः कथं वा स्यात् । प्रभातरलं ज्योतिः वसुधातलात् न उदेति ।

शब्दार्थ—मानुषीषु = मानव-स्त्रियों में । अस्य रूपस्य = इस रूप (सौन्दर्य) की । सम्भवः = उत्पत्ति । कथं वा स्यात् = कैसे हो सकती है ? प्रभातरलं = कान्ति (प्रभा) से चमकती हुई । ज्योतिः = तेज (बिजली) । वसुधातलात् = भूतल से । न = नहीं । उदेति = उत्पन्न होती है ।

अनुवाद—मानव-स्त्रियों (मनुष्य-लोक की स्त्रियों) में इस सौन्दर्य (रूप) की उत्पत्ति कैसे हो सकती है (अर्थात् नहीं हो सकती) । कान्ति से चमकती हुई बिजली (ज्योति) भूमि (भूतल) से उत्पन्न नहीं होती है ।

संस्कृत व्याख्या—मानुषीषु - मनुष्यलोकस्य नारीषु, **अस्य** - दृश्यमानस्य (शकुन्तलासम्बन्धिनः), **रूपस्य** - सौन्दर्यस्य, **सम्भवः** - उत्पत्तिः, **कथं वा स्यात्** - कथं नु सम्भवति, न सम्भवति इत्यर्थः, **प्रभातरलम्** - कान्तिभास्वरम् , **ज्योतिः** - तेजः, विद्युदित्यर्थः, **वसुधातलात्** - भूतलात् , **न उदेति** - नोदयं लभते (नोत्पद्यते) ।

संस्कृत-सरलार्थः—शकुन्तलोत्पत्तिकथां श्रुत्वा दुष्यन्तः 'सर्वथैवाप्सरः सम्भवैषाः' इति निर्णीय कथयतिनवीषु स्त्रीसु शकुन्तलासदृशस्य दिव्यस्य सौन्दर्यस्य समुत्पत्तिः सर्वथाऽसम्भवा, यथा हि दीप्त्या समुज्ज्वलं ज्योतिः (चन्द्रादिः) भूतलान्न प्रकटीभवति । यथा चन्द्रादिर्भूतलान्नेत्पद्यते तथैवास्याः शकुन्तलायाः समुत्पत्तिमानुषीसु न सम्भावते इति भावः ।

व्याकरण—मानुषीषु - मनोः अपत्यं पुमान् मानुषः, स्त्री मानुषी, मनु + अञ् + ङीप् । प्रभातरलं - प्रभया तरलम् (तत्पु०) । वसुधातलात् - वसुधायाः तलात् (तत्पु०) ।

अलङ्कार—(१) यहाँ शकुन्तला के रूप विशेष का सामान्य के द्वारा वर्णन होने से **अप्रस्तुतप्रशंसा** अलङ्कार है । (२) यहाँ 'उत्पत्ति' क्रिया का 'सम्भवः' '**उदेति**' पदों से पृथक्-पृथक् पदों से वर्णन होने से **प्रतिवस्तूपमा** अलङ्कार है । लक्षण है -

प्रतिवस्तूपमा सा स्याद्वाम्ययोर्गक्यसाम्ययोः ।
एकोऽपि धर्मः सामान्यो यत्र निर्दिश्यते पृथक् । सा०द०

कुछ लोग यहाँ **दृष्टान्त** अलङ्कार मानते है। लक्षण –

दृष्टान्तस्तु सधर्मस्य वस्तुनः प्रतिबिम्बनम् । सा०द०

छन्द—यहाँ **अनुष्टुप्** छन्द है। लक्षण द्र० श्लो० ५।

(शकुन्तलाऽधोमुखी तिष्ठति ।)

(शकुन्तला नीचे मुख करके बैठी रहती है।)

राजा—(आत्मगतम्) **लब्धावकाशो मे मनोरथः । किन्तु सख्याः परिहासोदाहृतां वरप्रार्थनां श्रुत्वा धृतद्वैधभावकातरं मे मनः ।**

राजा—(अपने मन में) मेरे मनोरथ को (पूर्ण होने का) अवसर प्राप्त हो गया। किन्तु सखी के द्वारा हँसी (परिहास) में कहीं गयी पति (वर) की प्रार्थना को सुनकर मेरा मन दुविधा में होने के कारण व्याकुल (कातर) हो रहा है।

प्रियंवदा—(सस्मितं शकुन्तलां विलोक्य नायकाभिमुखी भूत्वा) **पुनरपि वक्तुकाम इवार्यः ।** (पुणो वि वक्तुकामो विअ अज्जो।) (शकुन्तला सखीमङ्गुल्या तर्जयति।)

प्रियंवदा—(मुस्कराहट के साथ शकुन्तला को देखकर नायक की ओर मुँह कर) सम्भवतः आर्य फिर कुछ कहना चाहते हैं (शकुन्तला सखी को अङ्गुली से झिड़कती है)।

राजा—सम्यगुपलक्षितं भवत्या । अस्ति नः सच्चरित्रश्रवणलोभादन्यदपि प्रष्टव्यम् ।

राजा—आपने ठीक समझा। सच्चरित सुनने के लोभ से हमें और भी पूछना है।

प्रियंवदा—अलं विचार्य । अनियन्त्रणानुयोगस्तपस्विजनो नाम । (अलं वि आरिअ। अणिअन्तणाणुओओ तवस्सिअणो णाम।)

प्रियंवदा—(आप) कुछ (भी) विचार करें। तपस्वी लोग अप्रतिबन्ध प्रश्न वाले होते हैं (अर्थात् तपस्वी लोगों से कोई भी प्रश्न निःसङ्कोच पूछा जा सकता है)।

राजा—इति सखीं ते ज्ञातुमिच्छामि ।

राजा—तुम्हारी सखी के विषय में यह जानना चाहता हूँ।

वैखानसं किमनया व्रतमाप्रदानाद्
व्यापाररोधि मदनस्य निषेवितव्यम् ।
अत्यन्तमेव सदृशेक्षणवल्लभाभि-
राहो निवत्स्यति समं हरिणाङ्गनाभिः ।। २६ ।।

अन्वय—किम् अनया मदनस्य व्यापाररोधि वैखानसं व्रतम् आ प्रदानात् निषेवितव्यम् ? आहो सदृशेक्षणवल्लभाभिः हरिणाङ्गनाभिः समम् अत्यन्तम् एव निवत्स्यति।

शब्दार्थ—किम् = क्या। **अनया** = इसके द्वारा। मदनस्य = कामदेव का । **व्यापाररोधि** = क्रियाकलापों (व्यापारों) को रोकने वाला। **वैखानसं व्रतम्** = तपस्वियों का व्रत (ब्रह्मचर्य व्रत)। **आ प्रदानात्** = (किसी अनुरूप वर को) देने तक (विवाह होने तक)। **निषेवितव्यम्** = सेवित (पालन) किया जायेगा। **आहो** = अथवा। **सदृशेक्षणवल्लभाभिः** = समान नेत्र होने के कारण प्रिय। **हरिणाङ्गनाभिः** = हरिणों की स्त्रियों (अङ्गनाओं) के (हरिणियों के)। **समम्** = साथ।

अत्यन्तम् एव = सदा ही (जीवन-पर्यन्त)। **निवत्स्यति** = निवास करेगी।

अनुवाद—क्या इस (शकुन्तला) के द्वारा कामदेव (प्रेम) के क्रियाकलापों को रोकने वाला तपस्वियों का व्रत (ब्रह्मचर्य व्रत) विवाह होने तक (ही) सेवित (पालन) किया जायेगा ? अथवा यह (ब्रह्मचारिणी के रूप में) समान नेत्र होने के कारण प्रिय हरिणियों के साथ ही जीवन-पर्यन्त निवास करेगी ?

संस्कृत व्याख्या—**किम्** – प्रश्ने, **अनया** – शकुन्तलया, **मदनस्य** – कामदेवस्य, **व्यापाररोधि** – प्रसाररोधकम् , **वैखानसम्** – तापसम् , **व्रतम्** – ब्रह्मचर्यव्रतम् , **आप्रदानात्** – वराय प्रदानपर्यन्तम् , **निषेवितव्यम्** – पालयितव्यम् , **आहो** – अथवा, **सदृशेक्षणवल्लभाभिः** – तुल्यनेत्रप्रियाभिः, **हरिणाङ्गनाभिः** – मृगीभिः, **समम्** – साकम् , **अत्यन्तम् एव** – आजीवनम् एव, **निवत्स्यति** – निवासं करिष्यति।

संस्कृत-सरलार्थः—प्रियंवदाया 'अनियन्त्रणानुयोगस्तपस्विजनो नामेति कथनं समाकर्ण्य राजा प्रियंवदां पृच्छति 'किमनया शकुन्तलया कामव्यापारावरोधकं तापसव्रतं (ब्रह्मचर्यं) विवाहकालपर्यन्तमेव समाचरणीयमस्ति, अथवा मदमत्तनयानाभिरामाभिर्हरिणीभिः सहैवाजीवनं वनेऽस्मिन् निवत्स्यतीति ब्रह्मचर्यव्रतं शकुन्तलाया विवाहात्पूर्वकाल यावत्स्थास्यत्यथवा ऽऽजीवनमिति प्रश्नाशयः।

व्याकरण—व्यापाररोधि – व्यापार + रुध् + णिनि। वैखानसं – वैखानसस्य इदम् , वैखानस + अण्। आप्रदानात् – 'पञ्चम्यपाङ्परिभिः' से प्रदान में पञ्चमी। निषेवितव्यम् – नि + सेव् + तव्यत्। सदृशेक्षणवल्लभाभिः – सदृशानि च तानि ईक्षणानि च सदृशेक्षणानि (कर्म०) तैः वल्लभाभिः (तत्पु०)। हरिणाङ्गनाभिः – हरिणानाम् अङ्गनाभिः (तत्पु०), यहाँ समम् के योग में तृतीया विभक्ति हुई है। निवत्स्यति – नि + वस् + लृट् , प्र०पु०, एक०।

अलङ्कार—यहाँ विशेषणों के साभिप्राय होने से **परिकर** अलङ्कार है— उक्तै विशेषणैः साभिप्रायैः परिकरो मतः। सा०द०

छन्द—वसन्ततिलका है — द्र० श्लोक – ८।

टिप्पणी—इस श्लोक के दो अर्थ हो सकते हैं—(१) क्या यह शकुन्तला किसी राजा के साथ विवाह होने तक ब्रह्मचर्य के व्रत का पालन करेगी तथा तपोवन में रहेगी अथवा किसी तपस्वी के साथ विवाह होने के कारण आजीवन इसी तपोवन में हरिणियों के साथ निवास करेगी। (२) यह विवाह होने तक ही ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करेगी अथवा आजीवन ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करती हुई तपोवन में हरिणियों के साथ रहेगी।

प्रियंवदा—आर्य, धर्मचरणेऽपि परवशोऽयं जनः। गुरोः पुनरस्या अनुरूपवरप्रदाने सङ्कल्पः। (अज्ज, धम्मचरणे वि परवसो अयं जणो। गुरूणो उण से अणुरूववरप्पदाणे संकप्पो।)

व्याकरण—अनुरूपवरप्रदाने – अनुरूपाय वराय प्रदाने (तत्पु०)।

प्रियंवदा—आर्य, धर्माचरण में भी यह व्यक्ति (शकुन्तला) पराधीन है। फिर भी पिता कण्व (गुरु) का इसे योग्य वर को देने का (विचार) है।

राजा—(आत्मगतं) **न दुरवापेयं खलु प्रार्थना।**

राजा—(अपने मन में) (निश्चय ही मेरी) यह (शकुन्तला प्रतिरूप) अभिलाषा (प्रार्थना)

भव हृदय साभिलाषं सम्प्रति सन्देहनिर्णयो जातः ।
आशङ्कसे यदग्निं तदिदं स्पर्शक्षमं रत्नम् ।। २७ ।।

अन्वय—हृदय साभिलाषं भव, सम्प्रति सन्देहनिर्णयः जातः, यत् अग्निम् आशङ्कसे, तत् इदं स्पर्शक्षमं रत्नम् (अस्ति)।

शब्दार्थ—हृदय = हे हृदय ! साभिलाषं = अभिलाषा से युक्त। भव = हो जाओ। सम्प्रति = अब। सन्देहनिर्णयः = सन्देह का निर्णय (निवारण)। जातः = हो गया। यत् = जिसको। अग्निम् = अग्नि। आशङ्कसे = समझ रहे थे। तत् = वह। इदम् = यह। स्पर्शक्षमं = स्पर्श के योग्य। रत्नम् = रत्न (है)।

अनुवाद—हे हृदय, अब (शकुन्तला के प्रति) अभिलाषा से युक्त हो जाओ। अब सन्देह का निर्णय हो गया। जिसको तुम अग्नि समझ रहे थे वह यह स्पर्श के योग्य रत्न है।

संस्कृत व्याख्या—हृदय–हे मनः, **साभिलाषं भव**–शकुन्तलाविषये आशान्वितं भव; **सम्प्रति**–इदानीम्, **सन्देहनिर्णयः**–संशयनिश्चयः इयं मद्योग्या अस्ति न वेति सन्देहस्य परिहारः, **जातः**–भूतः, यत् शकुन्तलारूपं वस्तु (त्वम्) **अग्निम्** – अनलम्, तापसकन्यात्वेन अग्नितुल्यं स्पर्शानर्हमित्यर्थः, **आशङ्कसे**–संशयं करोषि, **तत्** शङ्कितम्, **इदं**– शकुन्तलारूपं **वस्तु, स्पर्शक्षमं** — स्पर्शार्हम्, **रत्नम्**–मणिस्वरूपम्, अस्ति इति शेषः। नेयं ब्राह्मणकन्या नापि नैष्ठिकब्रह्मचारिणी किन्तु अप्सरस्सम्भवा क्षत्रियवीर्योत्पन्ना; अतः मत्परिग्रहयोग्या इति भावः।

संस्कृत-सरलार्थः—प्रियंवदायाः 'गुरोः पुनरस्या अनुरूपवरप्रदाने सङ्कल्पः' इति वचनमाकर्ण्य सन्तुष्टो राजा हृदयं सम्बोधयन् ब्रवीति-'त्वमिदानीं शकुन्तलाप्राप्त्याशाचितं भव, यतो हि साम्प्रतं मम सन्देहानां समाधानं जातम्। शकुन्तलारूपं यद् वस्तु त्वमग्नित्वेन मनुषे तदेत स्पर्शयोग्यं कन्यारत्नमस्ति। मम विवाहाय शकुन्तला सर्वथा योग्येति भावः।

अलङ्कार—श्लोक में (१) उत्तरार्धगत वाक्य पूर्वार्धगत वाक्य के प्रति हेतु रूप से अवस्थित होने से 'काव्यलिङ्ग' अलङ्कार है— (२) 'अग्निं रत्नम्' यहाँ समास न होने से व्यस्त रूपक तथा 'अग्नि स्पर्शक्षम रत्न प्रमाणित हुआ' में व्यतिरेक रूपक है।

छन्द—पद्य में आर्या जाति छन्द है।

व्याकरण— सन्देहनिर्णयः – सन्देहस्य निर्णयः (तत्पु०)। स्पर्शक्षमम् – स्पर्शस्य क्षमम् (तत्पुरुष)। साभिलाषम् – अभिलाषेण सहितम्।

टिप्पणी—(१) पहले तो राजा दुष्यन्त को सन्देह था कि यह शकुन्तला मुनि-कन्या (ब्राह्मण-कन्या) है या नहीं। जब राजा को यह ज्ञात हो जाता है कि यह क्षत्रिय-कन्या है तथा कण्व इसे योग्य वर को देना चाहते हैं तो राजा मन में विचार करता है कि हे हृदय, अब तुम शकुन्तला को प्राप्त करने की इच्छा कर सकते हो। जिस शकुन्तलारूप वस्तु को मुनिकन्या समझकर तुम अग्नि समझ रहे थे—उसे छूने तक से डर रहे थे, वह तो स्पर्श के योग्य रत्न है अर्थात् क्षत्रियकन्या होने के कारण अभिलषणीय एवं ग्रहण करने के योग्य है। अग्नि छूने वाले को जला देती है। इसके विपरीत रत्न का स्पर्श सुखद एवं मङ्गलमय होता है। रत्न जीवन में भी शोभा में चार चाँद लगा देता है। शकुन्तला नारीरत्न है।

शकुन्तला—(सरोषमिव) **अनसूये, गमिष्याम्यहम्**। (अणसूए, गमिस्सं अहं।)

शकुन्तला—(रुष्ट-सी होकर) अनसूया, मैं चली जाऊँगी।

अनसूया—किं निमित्तम् ? (किं णिमित्तं।)

अनसूया—किसलिये ?

शकुन्तला—इमामसम्बद्धप्रलापिनीं प्रियंवदामार्यायै गौतम्यै निवेदयिष्यामि। (इमं असंबद्धप्पलाविणिं पिअंवदं अज्जाए गोदमीए णिवेदइस्सं।)

व्याकरण एवं शब्दार्थ—असम्बद्धप्रलापिनीम् –अलर्गल प्रलाप करने वाली। यह पद 'प्रियंवदाम्' का विशेषण है। निवेदयिष्यामि – नि+विद्+णिच्+लृट्+उ०प्र०एक०व०।

शकुन्तला—असम्बद्ध-प्रलाप (अनर्गल प्रलाप) करने वाली इस प्रियंवदा को आर्या गौतमी से कहूँगी (अर्थात् आर्या गौतमी से जाकर प्रियंवदा की शिकायत करूँगी)।

अनसूया—सखि, न युक्तमकृतसत्कारमतिथिविशेषं विसृज्य स्वच्छन्दतो गमनम्। (सहि, ण जुत्तं अकिदसक्कारं अदिहिविसेसं विसज्जिअ सच्छन्ददो गमणं।)

व्याकरण एवं शब्दार्थ—अकृतसत्कारम् – अकृतः सत्कारः भक्ष्यपेयार्पणादिभिः पूजा यस्य स तथोक्तम् – जिसका सत्कार नहीं किया गया है। यह 'अतिथिविशेषम्' का विशेषण है। **विसृज्य** – वि+सृज+क्त्वा+ल्यप् = छोड़कर।

अनसूया—सखि, असत्कृत (जिसका सत्कार नहीं किया गया है ऐसे) विशिष्ट अतिथि को छोड़कर स्वच्छन्दतापूर्वक चला जाना उचित नहीं है।

(शकुन्तला न किञ्चिदुक्त्वा प्रस्थितैव)

(शकुन्तला बिना कुछ कहे ही चल पड़ती है)।

राजा—(ग्रहीतुमिच्छन् निगृह्यात्मानम्। आत्मगतम्) **अहो चेष्टाप्रतिरूपिका कामिजनमनोवृत्तिः। अहं हि**—

व्याकरण एवं शब्दार्थ—चेष्टाप्रतिरूपिका – चेष्टायाः अनुरूपा (अनुकूला) = चेष्टा के अनुरूप। यह पद '**कामिजनमनोवृत्ति**' का विशेषण है।

राजा—(शकुन्तला को पकड़ने की इच्छा करता हुआ (भी) अपने को रोककर। अपने मन में) अहो, कामी-जनों (प्रेमियों) की मनोवृत्ति (उसकी) चेष्टाओं के अनुकूल (हुआ करती है) क्योंकि मैं—

अनुयास्यन् मुनितनयां सहसा विनयेन वारितप्रसरः।
स्थानादनुच्चलन्नपि गत्वेव पुनः प्रतिनिवृत्तः॥ २८॥

अन्वय—मुनितनयाम् अनुयास्यन् सहसा विनयेन वारितप्रसरः, (हि) स्थानात् अनुच्चलन् अपि गत्वा पुनः प्रतिनिवृत्तः इव (अस्मि)।

शब्दार्थ—मुनितनयाम् = मुनि (कण्व) की पुत्री के। अनुयास्यन् = पीछे जाने की इच्छा करता हुआ। सहसा = एकाएक। विनयेन = विनय (शिष्टता) के कारण। वारितप्रसरः = रोक ली गयी है गति जिसकी ऐसा मैं। स्थानात् = (अपने) स्थान से। अनुच्चलन् = उठकर न चला हुआ। अपि = भी। गत्वा = जाकर। पुनः = फिर। प्रतिनिवृत्तः इव = मानो लौट आया हूँ।

अनुवाद—मुनि (कण्व) की पुत्री (शकुन्तला) के पीछे जाने (पीछा करने) की इच्छा करता हुआ सहसा शिष्टतावशात् अवरुद्ध (रोकी हुई) गति वाला (मैं अपने) स्थान से उठकर न चलने पर भी मानो जाकर फिर लौट आया (हूँ)।

संस्कृत व्याख्या—**मुनितनयाम्** – कण्वपुत्रीं शकुन्तलाम् , **अनुयास्यन्** – अनुगमिष्यन्, **सहसा** – अकस्मात् , **विनयेन** – शिष्टतया, **वारितप्रसरः** – अवरुद्धवेगः, **स्थानात्** – स्वासनात् , **अनुच्चलन् अपि** – पदमेकमगच्छन् अपि, **गत्वा** – तामनुसृत्य, **पुनः** – भूयः, **प्रतिनिवृत्तः इव** – प्रत्यागतः इव।

संस्कृत-सरलार्थः—शकुन्तलां ग्रहीतुमुद्यतमात्मानं निगृह्य राजा चिन्तयति 'कण्वदुहितरमनुगमिष्यन् किन्तु विनयेव निरुद्धगतिरहं स्वस्थानादगच्छन्नपि शकुन्तलाभ्याशं गत्वा पुनः प्रत्यागत इव जातः।

व्याकरण—**मुनितनयाम्** – मुनेः तनयाम् (तत्पु०)। **अनुयास्यन्** – अनु+या+लृट्+शतृ। **वारितप्रसरः** – वारितः निरुद्धः प्रसरः गतिः यस्य सः (बहु०)। **अनुच्चलन्** – अन्+उत्+चल्+शतृ। **प्रतिनिवृत्तः** – प्रति+नि+वृ+क्त।

अलङ्कार—श्लोक में 'सहसा विनयेन वारितप्रसरः' **काव्यलिङ्ग**, 'अचलन्नपि गत्वा' में '**विरोधाभास**' एवं 'प्रतिनिवृत्तः इव' में '**क्रियोत्प्रेक्षा**' अलङ्कार है।

छन्द—यह पद्य 'आर्या' छन्द का उदाहरण है।

टिप्पणी—(१) इस श्लोक में कालिदास की मनोवैज्ञानिक विज्ञता का परिचय मिलता है। बाह्य रूप से शारीरिक चेष्टा न करने की स्थिति में भी मनुष्य इच्छा की प्रबलता के कारण भीतर ही भीतर मानसिक चेष्टा संवलित शारीरिक चेष्टा करने की प्रतीति होती है। जाती हुई शकुन्तला को पकड़ने की दृढ़ इच्छा के कारण कुछ न करने पर भी ऐसा लगता है कि वह जैसे शकुन्तला के पीछे जाकर लौट आया है। (२) **विनयेन**—भरत मुनि ने विनय का अर्थ 'जितेन्द्रिय' किया है – इन्द्रियाणां जयं प्राह विनयं भरतो मुनिः। (३) '**मुनितनयाम्**' में मुनि शब्द साभिप्राय है। मुनि की पुत्री होने के कारण शकुन्तला के प्रति अतिशिष्ट व्यवहार अपेक्षित है – यह दुष्यन्त का अभिप्राय है।

प्रियंवदा—(शकुन्तलां निरूध्य) **हला न ते युक्तं गन्तुम्।** (हला, ण दे जुत्तं गन्तुं।)

प्रियंवदा—(शकुन्तला को रोककर) सखी, तुम्हारा जाना ठीक नहीं है।

शकुन्तला—(सभ्रूभङ्गम्) **किं निमित्तम् ?** (किं णिमित्तं ?)

शकुन्तला—(भौहें टेढ़ी करके) किस लिये ?

प्रियंवदा—**वृक्षसेचने द्वे धारयसि मे। एहि तावत्। आत्मानं मोचयित्वा ततो गमिष्यसि।** (रूक्खसेअणे दुबे धारेसि मे। एहि दाव। अत्ताणं मोचिअ तदो गमिस्ससि।) (इति बलादेनां निवर्तयति)।

प्रियंवदा—वृक्ष सींचने (के कार्य) में तुम दो (वृक्षों को सींचने) की मेरी ऋणी हो (अर्थात् मैंने तुम्हारे हिस्से के दो वृक्षों को सींचा था, अब तुम्हें मेरे हिस्से के दो वृक्षों को सींचना है।) तो चलो पहले अपने को (ऋण से) मुक्त कराकर तब जाना। (यह कहकर बलपूर्वक इसको लौटाती है)।

राजा—भद्रे, वृक्षसेचनादेव परिश्रान्तामत्रभवतीं लक्षये तथा ह्यस्याः—

राजा—भद्रे, वृक्षसेचन के कारण ही इन आदरणीया (शकुन्तला) को थकी हुई देख रहा हूँ। क्योंकि इनकी—

स्रस्तांसावतिमात्रलोहिततलौ बाहू घटोत्क्षेपणाद्
अद्यापि स्तनवेपथुं जनयति श्वासः प्रमाणाधिकः।
बद्धं कर्णशिरीषरोधि वदने धर्माम्भसां जालकं
बन्धे स्रंसिनि चैकहस्तयमिताः पर्याकुला मूर्धजाः।। २९।।

अन्वय—घटोत्क्षेपणात् (अस्याः) बाहू स्रस्तांसौ अतिमात्रलोहिततलौ (स्तः) प्रमाणाधिकः श्वासः अद्यापि स्तनवेपथुं जनयति, वदने कर्णशिरीषरोधि धर्माम्भसां जालकं बद्धम्, बन्धे स्रंसिनि पर्याकुलाः मूर्धजाः च एकहस्तयमिताः (सन्ति)।

शब्दार्थ—घटोत्क्षेपणात् = घड़े को उठाने से। अस्याः = इसकी। बाहू = दोनों भूजायें। स्रस्तांसौ = जिनके कन्धे झुक गयें हैं ऐसी (झुके हुये कन्धों वाली)। अतिमात्रलोहिततलौ = जिनकी हथेली अत्यधिक लाल हो गयी है ऐसी (अत्यधिक लाल हथेली वाली)। प्रमाणाधिकः = (निश्चित) मात्रा (प्रमाण) से अधिक, (लम्बी-लम्बी)। श्वासः = निःश्वास वायुः (साँस)। अद्यापि = अब भी। स्तनवेपथुं = स्तनों में कम्पन को। जनयति = उत्पन्न कर रही है। वदने = मुख पर। कर्णशिरीषरोधि = कानों (में आभूषण स्वरूप पहने गये) शिरीष (शिरस) के पुष्प को रोकने वाला (गाल पर चिपका कर स्थिर करने वाला)। घर्माम्भसां = घाम (गर्मी) से (उत्पन्न) होने वाले जल (पसीने) की बूँदों का। जालकम् = समूह। बद्धम् = व्याप्त (अस्ति) है। च = और। बन्धे = केशबन्धन के। स्रंसिनि = ढीला हो जाने पर। एकहस्तयमिताः = एक हाथ से पकड़े गये। मूर्धजाः = बाल। पर्याकुलाः = बिखरे हुये। सन्ति = हैं।

अनुवाद—घड़े को उठाने से (इसकी) (दोनों) भुजायें झुके हुए कन्धों वाली और अत्यधिक लाल हथेली वाली (हो गयी हैं)। निश्चित मात्रा से अधिक चलने वाला श्वास वायु (साँस) अब भी स्तनों में कम्पन उत्पन कर रहा है। मुख पर (कपोलों पर), कर्णाभूषण रूप शिरीष (शिरस) के पुष्पों को रोकने वाले (अर्थात् चिपकाने वाले) पसीने की बूदों का समूह व्याप्त है और केशबन्धन के शिथिल हो जाने पर (खुल जाने पर) एक हाथ से सँभाले गये बाल बिखरे हुये है।

संस्कृत व्याख्या—(वृक्षसेचनाय) **घटोत्क्षेपणात्** – जलपूर्णघटानाम् उत्थापनात् (अस्याः शकुन्तलायाः), **बाहू** – भुजौ, **स्रस्तांसौ** – परिश्रान्ततया अवनतस्कन्धौ, **अतिमात्रलोहिततलौ** – अत्यर्थं रक्तकरतलौ, **प्रमाणाधिकः** – स्वाभाविकादधिकः, **श्वासः** – निःश्वासः, **अद्यापि** – इदानीमपि, **स्तनवेपथुं** – कुचकम्पम्, **जनयति** – उत्पादयति, **वदने** – मुखमण्डले, **कर्णशिरीषरोधि** – कर्णभूषणभूतशिरीषकुसुमसञ्चाररोधकम्, **धर्माम्भसां** – स्वेदवारिकणानाम्, **जालकं** – समूहः, **बद्धम्** – अभिव्याप्तम्, **बन्धे** – केशबन्धने, **स्रंसिनि** – स्खलिते सति, **एकहस्तयमिताः** – एकेन हस्तेन संयतीकृताः, **मूर्धजाः च** – केशा। (अतएव) पर्याकुला विकीर्णाः (सन्ति)।

संस्कृत-सरलार्थः—वृक्षसेचनात् परिश्रान्तां शकुन्तलयां वीक्ष्य राजा कथयति – 'घटोत्क्षेपणाद्धेतोरस्या बाह्वनतस्कन्धावतिलहितकरौ चास्तः। प्रमाणाधिकः श्वासवायुरधुनाऽपि कुचकम्पनं जनयति। मुखमण्डले कर्णाभरणीकृतशिरीषपुष्पसञ्चलननिरोधकः स्वेदजलानां बिन्दुसमूहो गलितो

दृश्यते। घटोत्क्षेपणादेव केशबन्धे स्खलति सति विक्षिप्ता: केशा एकहस्त- बद्धा विकीर्णाश्च लक्ष्यन्ते।

व्याकरण—घटोत्क्षेपणात् – घटानाम् उत्क्षेपणात् (तत्पु०), हेत्वर्थ में पञ्चमी। स्त्रस्तांसौ- स्त्रस्तौ अंसौ ययो: तौ (बहु०)। अतिमात्रलोहिततलौ – अतिमात्रं लोहितं तलं ययो: तौ (बहु०)। प्रमाणाधिक: – प्रमाणात् अधिक: (तत्पु०)। स्तनवेपथुं – स्तनयो: वेपथुम् (तत्पु०)। एकहस्तयमिता: – एकेन हस्तेन यमिता: (तत्पु०)। मूर्धजा: – मूर्धनि जाता: = मूर्धन्+जन्+ड। वेपथु: – वेप्+अथुच्। कर्णशिरीषरोधि – कर्णयो: शिरीषं रोद्धुं शीलमस्य तत्, तच्छील्ये णिनि:। कर्णशिरीष+रुध्+णिनि।

अलङ्कार—(१) शकुन्तला की थकावट को दिखाने के लिये उसके कन्धों का झुका होना, हथेलियों का लाल होना, लम्बी श्वास लेने के कारण स्तनों का काँपना आदि कारणों का कथन होने से **समुच्चय** अलङ्कार है। (२) श्रान्त (थकी हुई) शकुन्तला का स्वाभाविक वर्णन करने के कारण स्वभावोक्ति अलङ्कार है। (३) 'घटोत्क्षेपणात्' इस एक पद का सभी 'स्त्रस्तांस, अतिमात्रलोहिततलौ, श्वास: प्रमाणाधिक:' आदि से सम्बन्ध होने के कारण '**दीपक**' अलङ्कार है।

छन्द—इस पद्य में शार्दूलविक्रीडित छन्द है।

टिप्पणी—(१) सुन्दर स्त्रियों के कन्धे स्वभावत: सामान्य स्त्रियों की अपेक्षा कुछ अधिक झुके हुये होते हैं। किन्तु पानी भरा घड़ा बार-बार ढोने के कारण थकानवश शकुन्तला के कन्धे और अधिक झुक गये हैं। शकुन्तला की स्वभावत: लाल हथेलियाँ बार-बार घड़ा उठाने से अत्यधिक लाल हो गई हैं। स्त्रियों के झुके हुए कन्धे और लाल हथेली सौन्दर्य-सूचक होते हैं। (२) प्राचीन काल में सुन्दरियाँ शिरीष के पुष्प को झुमका बनाकर, कानों में पहना करती थीं। झुमका हिलता रहता है। किन्तु श्रम के कारण शकुन्तला के मुख पर जो पसीना आ गया है, उस पसीने में शिरीष का पुष्प (झुमका) चिपक गया है। अब वह हिल डुल नहीं रहा है। (३) अत्यधिक हिलने डुलने से शकुन्तला के बाल खुलकर इधर-उधर बिखर गये हैं। एक हाथ में घड़ा होने से शकुन्तला दूसरे हाथ से बालों को सँभाले हुये है।

तदहमेनामनृणां करोमि। (इत्यङ्गुलीयकं दातुमिच्छति)।

व्या० एवं श०—अङ्गुलीयम् = अङ्गुलौ भवम् – अङ्गुलि+छ-ईय = अंगूठी।

तो मै इनको ऋणमुक्त करता हूँ। (अँगूठी देना चाहता है)।

(उभे नाममुद्राक्षराण्यनुवाच्य परस्परमवलोकयत:)

व्याकरण—अनुवाच्य – अनु+वच्+णिच्+क्त्वा-ल्यप् = पढ़कर।

(दोनों नामाङ्कित अँगूठी के अक्षरों को पढ़कर, एक दूसरे को देखने लगती हैं)।

राजा—अलमस्मानन्यथा सम्भाव्य। राज्ञ: परिग्रहोऽयम्।

व्या० एवं श०—परिग्रह: – उपहार – परि+ग्रह+घञ्। सम्भाव्य = सम्+भू+णिच्+क्त्वा-ल्यप् = समझ कर।

राजा—हमें और कुछ (अर्थात् दुष्यन्त राजा) न समझें। यह राजा का उपहार (परिग्रह) है।

प्रियंवदा—तेन हि नार्हत्येतदङ्गुलीयकमङ्गुलीवियोगम्। आर्यस्य

वचनेनानृणेदानीमेषा । (किञ्चिद्विहस्य) **हला शकुन्तले, मोचिताऽस्यनुकम्पिनार्येण, अथवा महाराजेन । गच्छेदानीम् ।** (तेण हि णारिहदि एदं अंगुलीअअं अंगुलीविओअं । अज्जस्स वअणेण अणिरिणा दाणिं एसा । हला सउन्दले, मोइदा सि अणुअम्पिणा अज्जेण, अहवा महाराएण । गच्छ दाणिं ।)

प्रियंवदा—तो यह अँगूठी (आप की) उँगली के वियोग के योग्य नहीं है । आपके कहने से (ही) यह (शकुन्तला) अब ऋणमुक्त हो गयी है । (कुछ हँसकर) सखी शकुन्तला, तुम (इन) दयालु आर्य अथवा महाराज के द्वारा मुक्त करा दी गयी हो । अब जाओ (जा सकती हो) ।

शकुन्तला—(आत्मगतम्) **यद्यात्मनः प्रभविष्यामि ।** (प्रकाशम्) **का त्वं विस्रष्टव्यस्य रोद्धव्यस्य वा ?** (जइ अत्तणी पहविस्सं । का तुमं विसज्जिदव्वस्स रुन्धिदव्वस्स वा ?)

विस्रष्टव्यस्य – वि+सृज्+तव्यत् – ष०ए० । रोद्धव्यस्य – रुध्+तव्यत् – ष०ए०व०

शकुन्तला—(अपने मन में) यदि अपने वश में होऊँगी (तब तो जाऊँगी) । (प्रकट रूप में) तुम (मुझे) छोड़ने या रोकने वाली कौन हो ?

राजा—(शकुन्तलां विलोक्य । आत्मगतम्) **किन्नु खलु यथा वयमस्यामेव-मियमप्यस्मान् प्रति स्यात् । अथवा लब्धावकाशा मे प्रार्थना । कुतः—**

राजा—(शकुन्तला को देखकर अपने मन में) क्या जिस प्रकार हम इस पर (साभिलाष, अनुरक्त हैं) उसी प्रकार यह भी हमारे प्रति (अनुरक्त) है अथवा मेरी अभिलाषा को अवसर प्राप्त हो गया है (अर्थात् मेरी इच्छा के पूर्ण होने के लक्षण दिखायी दे रहे हैं) । क्योंकि—

वाचं न मिश्रयति यद्यपि मद्वचोभिः
कर्णं ददात्यभिमुखं मयि भाषमाणे ।
कामं न तिष्ठति मदाननसम्मुखीना
भूयिष्ठमन्यविषया न तु दृष्टिरस्याः ।। ३० ।।

अन्वय—यद्यपि (इयं) मद्वचोभिः वाचं न मिश्रयति, (तथापि) मयि भाषमाणे अभिमुखं कर्णं ददाति, कामं मदाननसम्मुखीना न तिष्ठति, (तथापि) अस्याः दृष्टिः तु भूयिष्ठम् अन्यविषया न (भवति) ।

शब्दार्थ—यद्यपि = यद्यपि । मद्वचोभिः = मेरे वचनों (बातों) से । वाचं = (अपने) वचन । न = नहीं । मिश्रयति = मिलाती है । मयि = मेरे । भाषमाणे = बोलने पर । अभिमुखम् = मेरी ओर । कर्णं = कान । ददाति = देती है (अर्थात् कान लगाये रखती है) । कामं = भले ही, यह सत्य है कि । मदाननसम्मुखीना = मेरे मुख की ओर मुख कर । न = नहीं । तिष्ठति = रहती है (पर यह सत्य है कि) । अस्याः = इस (शकुन्तला) की । दृष्टिः = दृष्टि । भूयिष्ठम् = अधिकतर । अन्यविषया = अन्य विषयों (वस्तुओं) की ओर (दूसरी ओर) । न = नहीं । भवति = रहती है ।

अनुवाद—यद्यपि (यह शकुन्तला) मेरी बातों से अपनी बात नहीं मिलाती है (अर्थात् मेरे साथ बात नहीं करती है); (तथापि) मेरे बोलने पर मेरी ओर कान लगाये रखती है । भले ही (यह) मेरे मुख की ओर मुख कर नहीं रहती है, (तथापि) इसकी दृष्टि प्रायः अन्य विषयों (वस्तुओं) की ओर नहीं (रहती है) अर्थात्, मेरे अतिरिक्त किसी दूसरे की ओर नहीं जाती है ।

संस्कृत-व्याख्या—**यद्यपि** – इयं शकुन्तला, **मद्वचोभिः** – मम उक्तिभिः सह; **वाचं** – वचनं (निजोक्तिम्), **न मिश्रयति** – न सम्मेलयति, साक्षान्मया सह नालपतीत्यर्थः, (तथापि), **मयि** – दुष्यन्ते, **भाषमाणे** – कथयति सति, **अभिमुखं** – मां प्रति, **कर्णं** – श्रोत्रम् , **ददाति** – करोति, **मद ुक्तिं** – सादरं शृणोतीत्यर्थः (यद्यपि), **कामम्** – पर्याप्तं, **मदाननसम्मुखीना** – मन्मुखाभिमुखी, **न तिष्ठति** – न वर्तते, (तथापि) **अस्याः** – शकुन्तलायाः, **दृष्टिः** – नयनम् , **तु भूयिष्ठम्** – अतिशयेन, **अन्यविषया** – मन्मुखातिरिक्तविषयगता, **न** – नहि (वर्तते)।

संस्कृत-सरलार्थः—राजा (दुष्यन्तः) शकुन्तलागतां चेष्टामवलोक्य स्वचेनसि विचारयति – 'यद्यपि नेयं मया सह वार्तालापं कुरुते, तथापि मयि कथयति सति सावधानतया मम वचनं भृणुते। यद्यपीयं मन्मुखाभिखी न भवति तथाप्यस्या दृष्टिर्मन्मुखातिरिक्तवस्तुगता न जायते। ईहग्भिश्चेष्टाभिरस्या अनुमातुं शम्यते यदेषा नथैव मय्युरक्ता तथाऽहमस्यामिति।

व्याकरण—मदाननसम्मुखी – मम आननम् मदाननम् तस्य सम्मुखी (ष०त०)। भूयिष्ठम् – बहु+इष्ठन् बहु को 'भू' आदेश और 'इ' को 'यि' आदेश। अन्यविषया – अन्यःविषयः यस्याः सा (बहु०)।

अलङ्कार—(१) यहाँ शकुन्तला के हृदय में राजा के प्रति अनुराग की उत्पत्ति रूपी कार्य के प्रति कान लगाना (कर्णं ददाति) तथा अन्य विषयों की ओर दृष्टि न लगाना (दृष्टिः भूयिष्ठम् अन्यविषया न) इन दो कारणों का उल्लेख होने से 'समुच्चय' नामक अलङ्कार है। (२) अन्यत्र **छेकानुप्रास** तथा **वृत्त्यनुप्रास** भी है।

छन्द—इस पद्य में 'वसन्ततिलका' छन्द है।

टिप्पणी—इस श्लोक में शकुन्तला की शारीरिक तथा मानसिक अवस्था वर्णित है, उससे उसका दुष्यन्त के प्रति अनुराग सूचित होता है। ये लक्षण उस युवती के हैं जो अनुराग के वशीभूत है। जिसके प्रति आदर या अनुराग नहीं होता, उसकी बातें कान लगाकर नहीं सुनी जाती और उसके सामने रहने पर व्यक्ति ऊब कर दूसरी ओर दृष्टि कर लेता है – दूसरे रुचिकर विषयों को देखने लगता है।

(नेपथ्ये) **भो भोस्तपस्विनः सन्निहितास्तपोवनसत्त्वरक्षायै भवत। प्रत्यासन्नः किल मृगयाविहारी पार्थिवो दुष्यन्तः।**

व्याकरण एवं शब्दार्थ—सन्निहिताः – सम्+नि+धा (हि आदेश)+क्त प्र०बहु व०। समीपवर्ती हो जाइये। प्रत्यासन्नः – समीपस्थ – प्रति+आसद्+क्त प्र०एक व०। मृगयाविहारी – शिकार के लिये विचरण करने वाला – मृगयया विहर्तुं शीलमस्येत्यर्थे – मृगया+वि+हृ+णिनि। भवत – भू+लोट्+म०पु०बहु व०।

(नेपथ्य में) हे हे तपस्वियों, तपोवन के प्राणियों (सत्त्वों) की रक्षा के लिये आप लोग (उन प्राणियों के) समीपवर्ती हो जाइये। शिकार के लिये विचरण करने वाला राजा दुष्यन्त (आश्रम के) पास में आ गया है।

तुरगखुरहतस्तथा हि रेणुर्विटपनिषक्तजलार्द्रवल्कलेषु।
पतति परिणतारुणप्रकाशः शलभसमूह इवाश्रमद्रुमेषु॥ ३१॥

अन्वय—तथा हि तुरगखुरहतः परिणतारुणप्रकाशः रेणुः शलभसमूहः इव विटपनिषक्तजलार्द्रवल्कलेषु आश्रमद्रुमेषु पतति।

शब्दार्थ—तथा हि = क्योंकि। तुरगखुरहत: = घोड़ों के खुरों से उड़ायी गयी। परिणतारुणप्रकाश: = सायंकालीन सूर्य के (अरुण) (प्रकाश) के तुल्य कान्ति वाली। रेणु: = धूलि। शलभसमूह: इव = पतङ्गों के (टिड्डियों के) समूह की भाँति। विटपविसक्तजलार्द्रवल्कलेषु जिनकी शाखाओं (डालियों) पर जल से गीले वल्कलवस्त्र डाले गये (फैलाये गये) हैं ऐसे, शाखाओं पर डाले गये (फैलाये गये) जल से गीले वल्कलवस्त्र वाले। आश्रमद्रुमेषु = आश्रम के वृक्षों पर। पतति = गिर रही है (पड़ रही है)।

अनुवाद—क्योंकि घोड़ों के खुरों से उठायी (उड़ायी) गयी सायंकालीन (अर्थात् अस्त होते हुये) सूर्य की कान्ति के तुल्य (लाल) कान्ति वाली धूल पतङ्गों के समूह (टिड्डियों के दल) की भाँति आश्रम के (उन) वृक्षों पर गिर रही (पड़ रही) है, जिनकी शाखाओं (डालियों) पर मुनियों के जल से गीले वल्कलवस्त्र (सूखने के लिये) डाले गये (फैलाये गये) हैं।

संस्कृत व्याख्या—तथा हि – यतो हि, **तुरगखुरहत:** – अश्वखुरोत्थित:, **परिणतारुणप्रकाश:** – सांयकालीनस्य सूर्यस्य प्रकाश: इव प्रकाश: (दीप्ति:) यस्य स: तथाभूत:, **रेणु:** – धूलि:, **शलभसमूह: इव** – पतङ्गवृन्दम् इव, **विटपनिषक्तजलार्द्रवल्कलेषु** – शाखालम्बितजलसिक्तवल्कलेषु, **आश्रमद्रुमेषु** – तपोवनपादपेषु, **पतति** – पतितो भवति।

संस्कृत-सरलार्थ:—तपस्विभि: कैश्चिन्नेपथ्ये राजरथतुरगोत्त्थापितैर्धूलिकणै राजागमनमनुमाय सूच्यते — तुरगखुरसमुत्थापिता धूलिकणा: सान्ध्यसूर्यप्रकाशा: पतङ्गसमूहा इव तेषु तपोवनवृक्षेषु वायुनोड्डीयमाना: पतन्ति येषां (वृक्षाणां) शाखासु मुनिजनानामार्द्राणि वल्कलानि लम्बितानि सन्ति।

व्याकरण—तुरगखुरहत: – तुरेण वेगेन गच्छन्ति इति तुरगा: – तुर+गम्+ड (कर्तरि), तुरगाणां खुरा: (स०त०) तै: हत: – (तृ०त०)। यह पद 'रेणु' का विशेषण है। **विटप०** – जलेन आर्द्राणि जलार्द्राणि (तृ०त०), तथाभूतानि वल्कलानि (कर्म०) विटपेषु – वृक्षशाखासु निषक्तानि (तृ०त०) विटपनिषक्तानि जलार्द्रवल्कलानि येषु ते (ब०ब्री०) तेषु। परिणता० – परिणत: अरुण: = सायंकालीन: सूर्य: (कर्म०) तस्य प्रकाश इव प्रकाशो यस्य (बहु०), परि+नम्+क्त। यह पद शलभसमूह: इस पद का विशेषण है।

अलङ्कार—परिणतारुणप्रकाश में 'इव' पद का लोप होने से लुप्तोपमालङ्कार है तथा 'शलभसमूह इव' में श्रौती उपमा है। यहाँ रेणु उपमेय, शलभसमूह उपमान, 'इव' वाचकशब्द तथा प्रकाश साधारण धर्म है। कुछ टीकाकार यहाँ काव्यलिङ्ग, अप्रस्तुतप्रशंसा भी मानते है।

छन्द—यहाँ 'पुष्पिताग्रा' नामक छन्द है। लक्षण है –अयुजि नयुगरेफतोयकारो युजि तु नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा॥ अर्थात्, प्रथम और तृतीय चरणों में क्रमश: नगण, नगण, रगण और यगण तथा द्वितीय और चतुर्थ चरणों में नगण जगण, जगण, रगण और एक गुरु वर्ण हो तो, वह पुष्पिताग्रा नामक (अर्धसम) वृत्त (छन्द) होता है।

टिप्पणी—(१) जिस प्रकार टिड्डी-दल का आगमन अपने आप में एक महान् सङ्कट है उसी प्रकार शिकार खेलते हुये राजा और उसकी इतनी विशाल सेना का आश्रम के निकट आ पहुँचना भी महान् सङ्कट है। प्राणियों की रक्षा करने के लिये तपस्वियों को उनके आस-पास स्थित होने को कहा गया है। (२) टिड्डियों का रङ्ग लाल होता है और वे पेड़ों पर इस तरह बैठती हैं जैसे धूल के बादल। इस साम्य को देखकर ही यहाँ उपमा दी गयी है। टिड्डियाँ और धूल दोनों

ही सायंकालीन सूर्य की कान्ति के समान लाल है। धूल का रङ्ग लाल मिट्टी के कारण और टिड्डियों का रङ्ग स्वाभाविक रूप से लाल है।

अपि च— और भी—

तीव्राघातप्रतिहततरुस्कन्धलग्नैकदन्तः
पादाकृष्टव्रततिवलयासङ्गसञ्जातपाशः ।
मूर्तो विघ्नस्तपस इव नो भिन्नसारङ्गयूथो
धर्मारण्यं प्रविशति गजः स्यन्दनालोकभीतः ।। ३२ ।।

अन्वय—स्यन्दनालोकभीतः तीव्राघातप्रतिहततरुस्कन्धलग्नैकदन्तः पादाकृष्टव्रततिवलयासङ्गसञ्जातपाशः भिन्नसारङ्गयूथः गजः नः तपसः मूर्तः विघ्नः इव धर्मारण्यं प्रविशति।

शब्दार्थ—स्यन्दनालोकभीतः = रथ को देखने से भयभीत। तीव्राघातप्रतिहततरुस्कन्धलग्नैकदन्तः = तीव्र-प्रहार से टूटी हुई वृक्ष की शाखा (डाली) में फँसे हुये एक दाँत वाला। पादाकृष्टव्रत-तिवलयासङ्गसञ्जातपाशः = पैरों से खींचे गये लतासमूह के लिपटने से उत्पन्न पाश वाला, पैरों से खींचे गये लतासमूह के लिपटने से जिसके (पैर में) बेड़ी (पाश) सी पड़ गयी है। भिन्नसारङ्गयूथः = हरिणों के झुण्ड को छिन्न-भिन्न (तितर-बितर) कर देने वाला। गजः = हाथी। नः = हमारी। तपसः = तपस्या के। मूर्तः = शरीरधारी। विघ्नः इव = विघ्न की भाँति। धर्मारण्यं = तपोवन में। प्रविशति = प्रवेश कर रहा है।

अनुवाद—रथ को देखने से भयभीत, तीव्र (कठोर) प्रहार से सामने के वृक्ष की शाखा (डाली) में टूटे हुये एक दाँत वाला, पैरों से खींचे गये लतासमूह के लिपटने से (पैरों में) पड़ी हुयी बेड़ी वाला तथा हरिणसमूह को छिन्न-भिन्न (तितर-बितर) कर देनेवाला (यह) हाथी हम लोगों की तपस्या के शरीरधारी विघ्न की भाँति तपोवन में प्रवेश कर रहा है।

संस्कृत व्याख्या—**स्यन्दनालोकभीतः** – स्यन्दनस्य रथस्य आलोकेन दर्शनेन त्रस्तः, **तीव्राघातप्रतिहततरुस्कन्धलग्नैकदन्तः** – तीव्रेण आघातेन प्रहारेण त्रोटितः यः तरुः वृक्षः तस्य स्कन्धे शाखायां लग्नः संसक्तः एकः दन्तः यस्य सः, **पादाकृष्टव्रततिवलयासङ्गसञ्जातपाशः** – पादैः चरणैः आकृष्टम् यद् व्रततिवलयं लताजालं तस्य सम्पर्केण सञ्जातः समुत्पन्नः पाशः बन्धः यस्य सः, **भिन्नसारङ्गयूथः** – भीत्युत्पादनात् भिन्नः पृथक्कृतः हरिणानां समूहः येन सः, **गजः** – हस्ती, **नः** – अस्माकं , **तपसः** – तपस्यायाः, **मूर्तः** – शरीरधारी, **विघ्नः इव** – अन्तरायः इव, **धर्मारण्यं** – तपोवनम् , **प्रविशति** – प्रवेशं करोति।

संस्कृत-सरलार्थः—रथालोकनभीतस्य गजस्य वर्णनं क्रियते तपस्विभिर्वचनैरेभिः- राजरथदर्शनभीतस्तपोनियमस्य मूर्तिमान् विघ्न इव गजस्तपोवनं प्रविशति, यस्यैको दन्तः कठोरप्रहारादभिमुखस्य वृक्षस्य स्कन्धे लग्नः, पादाकृष्टलताजालवेष्टनेन यस्य बन्धनं जातम् येन्च वनमृगसमूहा इतस्ततः पलायिताः।

व्याकरण—स्यन्दनालोकभीतः – स्यन्दनस्य आलोकात् भीतः (तत्पु०)। तीव्राघातप्रतिहतरुस्कन्धलग्नैकदन्तः – तीव्रेण आघातेन प्रतिहतस्य तरोः स्कन्धे लग्नः एकः दन्तः यस्य सः (तत्पु०, बहु०)। पादाकृष्टव्रततिवलयासङ्गसञ्जातपाशः – पादैः आकृष्टस्य व्रततीनां वलयस्य आसङ्गेन सञ्जातः पाशः यस्य सः (तत्पु०, बहु०)। भिन्नसारङ्गयूथः – भिन्नं सारङ्गाणां

यूथं येन सः (तत्पु०, बहु०)। धर्मारण्यं - धर्मस्य (धर्मार्थं वा) अरण्यम् (तत्पु०)। प्रविशति - प्र+विश+लट्+प्र०पु०ए०व०।

रस—इस श्लोक में **भयानक** रस है। गजगत भय स्थायीभाव, गजद्वारा दृश्यमान रथ विभाव (आलम्बन) भागना आदि अनुभाव है।

अलङ्कार—(१) 'मूर्तो विघ्नस्तपस इव' में **उत्प्रेक्षालङ्कार** है। यहाँ गज में तपस्या के मूर्तिमान् विघ्न की उत्प्रेक्षा की गयी है। (२) गज के 'तीव्राघात-दन्तः', 'पादाकृष्ट-जातपाशः', 'भिन्नसारङ्गयूथः', आदि विशेषणों के साभिप्राय होने के कारण '**परिकरालङ्कार**' है।

छन्द—पद्य में **मन्दाक्रान्ता** छन्द है। उसके प्रत्येक चरण में लक्षणानुसार मगण, भगण, नगण, तगण, तगण, तथा दो गुरु वर्ण हैं। लक्षण—'मन्दाक्रान्ताऽम्बुधिरसनगैर्मो भनौ तौ गयुग्मम्।' इसमें चतुर्थ, षष्ठ, सप्तम वर्ण पर यति होती है।

टिप्पणी—(१) तपोवन (आश्रम) का हाथी रथ को देखकर भड़क गया और तेजी से भागने लगा। एक पेड़ की डाल की टक्कर से टूटे दाँत को बिना निकाले ही शाखा सहित भागा जा रहा है। भागते समय उसके पैरों में लतायें फँसी हैं और वह उनको खींचता जाता है। इससे पैरों में लताओं की बेड़ी-सी बन गयी है। (२) तपस्वी डर गये हैं कि इससे तपस्या में विघ्न होगा।

(सर्वाः कर्णं दत्वा किञ्चदिव सम्भ्रान्ताः)

[सभी (मुनिकन्यायें) कान लगाकर (अर्थात् सुनकर) कुछ घबड़ा सी जाती हैं।]

राजा—(आत्मगतम्) **अहो धिक्। पौरा अस्मदन्वेषिणस्तपोवनमुपरुन्धन्ति। भवतु। प्रतिगमिष्यामस्तावत्।**

व्याकरण—उपरुन्धन्ति - उप+रुध+लट्+प्र०पु०बहु वचन। प्रतिगमिष्यामः - प्रति+गम+लृट्+उ०पु ०ब०व०।

राजा—(अपने मन में) ओह, धिक्कार है। नगरवासी मुझे खोजते हुए तपोवन को घेर रहे हैं। अच्छा, तो मै लौट जाता हूँ।

सख्यौ—आर्य, अनेनारण्यकवृत्तान्तेन पर्याकुलाः स्मः। अनुजानीहि न उटजगमनाय। (अज्ज, इमिणा आरण्णअवुत्तन्तेण पज्जाउला म्ह। अणुजाणीहि णो उडअगमणस्स।)

व्याकरण—पर्याकुलः - परितः आकुलाः प्रादिसमास। अनुजानीहि - अनु+ज्ञा+लोट्+म०पु०एक वचन।

दोनों सखियाँ—आर्य, हम लोग इस जङ्गली हाथी (आरण्यक) के वृत्तान्त से घबड़ा गयी हैं। हमें कुटी (उटज) पर जाने की अनुमति दीजिये।

राजा—(ससम्भ्रमम्) **गच्छन्तु भवत्यः। वयमप्याश्रमपीडा यथा न भवति तथा प्रयतिष्यामहे।** (सर्व उत्तिष्ठन्ति)।

व्याकरण—आश्रमपीडा - आश्रमस्य पीडा (ष०त०), प्रयतिष्यामहे - प्र+यत्+लृट्+उ०पु०ब०व०।

राजा—(घबराहट के साथ) आप लोग जाइये। हम भी ऐसा प्रयत्न करेंगे, जिससे आश्रम को कष्ट न हो। (सभी लोग उठ जाते हैं)।

सख्यौ—आर्य, असम्भावितातिथिसत्कारं भूयोऽपि प्रेक्षणनिमित्तं लज्जामह आर्यं विज्ञापयितुम् । (अज्ज, असंभाविदादिहिसक्कारं भूओ वि पेक्खणणिमित्तं लज्जेमो अज्जं विण्णविदुं ।)

व्याकरण एवं शब्दार्थ—असम्भावित: अप्रापित: अतिथिसत्कार: यस्य स: तम् = जिसका अतिथिसत्कार नहीं किया गया है ऐसे व्यक्ति (दुष्यन्त) को। प्रेक्षणनिमित्तम् – दर्शनार्थम् – दर्शन के लिये। विज्ञापयितुम् – निवेदयितुम् ।

दोनों सखियाँ—आर्य, आपका अतिथि-सत्कार नहीं किया जा सका – ऐसे आप से पुन: दर्शन देने के लिये निवेदन करने में हम लोग लज्जित हो रही हैं।

राजा—मा मैवम् । दर्शनैनैव भवतीनां पुरस्कृतोऽस्मि ।

व्याकरण एवं शब्दार्थ—पुरस्कृत: – पुरस्+कृ+क्त: – सत्कृत: ।

राजा—नहीं, ऐसा न (कहिये)। आप लोगों के दर्शन से ही मैं सत्कृत हो गया हूँ।

शकुन्तला—अनसूये, अभिनवकुशसूच्या परिक्षतं मे चरणं कुरबकशाखापरिलग्नं च वल्कलम् । तावत् परिपालयत मां यावदेतन्मोचयामि । (अणसूये, अहिणअकुससूईए परिक्खदं मे चलणं कुरवअसाहापरिलग्गं अ वक्कलं। दाव परिपालेध मं जाव णं मोआवेमि।) (शकुन्तला राजानमवलकयन्ती सव्याजं विलम्ब्य सह सखीभ्यां निष्क्रान्ता)।

व्याकरण एवं शब्दार्थ—अभिनवकुशसूच्या – अभिनवस्य नवजातस्य कुशस्य सूची तया (स०त०) – नये कुशों की नोकों से। **कुरबकशाखापरिलग्नं** – कुरबकस्य शाखायां परिलग्नम् तत्पुरुषसमास – कुरबक की डाल में फँसा हुआ। यह पद 'वल्कलवस्त्रम्' का विशेषण है। परिपालयत – परि+पाल+णिच्+लट् म०पु० बहु वचन – प्रतीक्षा करो। मोचयामि – मुच+णिच्+उ०पु०ए०व० – छुड़ाती हूँ।

शकुन्तला—अनसूया, नये कुशों की नोक से मेरा पैर क्षत (घायल) हो गया है और मेरा वल्कलवस्त्र कुरबक की डाल में फँस गया है। (मैं) जब तक इसको छुड़ाती हूँ तब तक मेरी प्रतीक्षा करो। (शकुन्तला राजा को देखती हुई, बहाने से देर कर सखियों के साथ निकल जाती है)।

राजा—मन्दौत्सुक्योऽस्मि नगरगमनं प्रति । यावदनुयात्रिकान् समेत्य नातिदूरे तपोवनस्य निवेशयेयम् । न खलु शक्नोमि शकुन्तलाव्यापारादात्मानं निवर्तयितुम् । मम हि—

व्याकरण एवं शब्दार्थ—मन्दौत्सुक्य: – मन्दं स्वल्पीकृतम् औसुक्यम् – 'उत्साहो यस्य तादृश:। यह पद दुष्यन्त का विशेषण है। **अनुयात्रिकान्** – अनुयायिन: = अनुयायियों को। **निवेशयेयम्** – नि+विश्+उ०पु०ए०व०।

राजा— नगर में जाने के प्रति मेरी उत्सुकता मन्द पड़ गयी है (अर्थात् नगर की ओर जाने में मेरी उत्सुकता समाप्त हो गयी है)। तो अपने अनुयायियों से मिलकर उन्हें आश्रम से कुछ दूरी पर ठहराता हूँ। मैं अपने को शकुन्तला के प्रेम-व्यापार से रोकने में असमर्थ हूँ। क्योंकि—

गच्छति पुर: शरीरं धावति पश्चादसंस्तुतं चेत: ।
चीनांशुकमिव केतो: प्रतिवातं नीयमानस्य ।। ३३ ।।

(इति निष्क्रान्ता: सर्वे)।

अन्वय—शरीरं पुरः गच्छति, चेतः असंस्तुतं प्रतिवातं नीयमानस्य केतोः चीनांशुकम् इव पश्चात् धावति।

शब्दार्थ—शरीरम् = शरीर। पुरः = आगे की ओर। गच्छति = जा रहा है। चेतः = चित्त (मन)। असंस्तुतम् = अपरिचित (सा)। प्रतिवातं = वायु के प्रतिकूल। नीयमानस्य = ले जाये जाते हुये। केतोः = ध्वजा के। चीनांकुशम् इव = चीनी वस्त्र (रेशमी वस्त्र) की भाँति। पश्चात् = पीछे की ओर। धावति = दौड़ रहा है।

अनुवाद—(मेरा) शरीर (तो) आगे (अपने अनुयायियों) की ओर जा रहा है और (मेरा) मन (मुझसे) अपरिचित (पराया) सा (होकर) वायु के विपरीत ले जाये जाते हुए ध्वजा (ध्वजदण्ड) के चीनी-वस्त्र (रेशमी वस्त्र) की भाँति पीछे (शकुन्तला) की ओर दौड़ रहा है।

(सभी निकल जाते हैं)।

संस्कृत व्याख्या—मम शरीरम् – वपुः, **पुरः** – अग्रतः, अनुयात्रिकान् प्रति इति भावः, **गच्छति** – प्रयाति, किन्तु **चेतः** – हृदयम् , **असंस्तुतम्** – अपरिचितम् सत् , **प्रतिवातं** – वायुसम्मुखम् , **नीयमानस्य** – चाल्यमानस्य, **केतोः** – पताकायाः, **चीनांशुकम् इव** – चीनदेशोद्भवं पट्टवस्त्रम् इव, **पश्चात्** – पश्चात् दिशि, शकुन्तलाभिमुखम् इत्यर्थः, **धावति** – प्रयाति।

संस्कृत-सरलार्थः—शकुन्तलामपहाय सेनाभिमुखं गच्छन् दुष्यन्तः स्वदशाविषये चिन्तयति यन्मदीयमिदं कलेवरं यद्यप्यग्रे गच्छति किन्तु मे हृदयं शरीरेणापरिचितमिव तथैव शकुन्तलाम्प्रति पृष्ठे धावति यथा वायो प्रतिकूलमुह्यमानस्य ध्वजस्य दण्डोऽग्रे याति, परन्तु चीनांशुकं (ध्वजक्षौमवस्त्रम्) पृष्ठ उड्डीयते। शरीरं मेऽग्रे मन्दं मन्दं याति परन्तु चित्तं वेगेन पृष्ठे (शकुन्तलाम्प्रति) धावतीति भावः।

व्याकरण—प्रतिवातम् – प्रतिगतं वातस्य यथास्यात्तथा वातस्य प्रतिकूलम् (अव्ययीभावः) = वायु के प्रतिकूल। **चीनांशुकम्** – चीनस्य अंशुकम् (तत्पु०)। नीयमानस्य – णी+यक्+शानच्+ष०ए०व०। यह 'केतोः' का विशेषण है। **असंस्तुतम्** – सम्+स्तु+क्त = संस्तुतम्; न संस्तुतम् असंस्तुतम्।

अलङ्कार—(१) शरीर और मन का परस्पर सम्बन्ध रहने पर भी **'गच्छति पुरः शरीरम्'** तथा **'चेतः पश्चाद् धावति'** इन दोनों वाक्यों द्वारा शरीर एवं मन में असम्बन्ध दिखाया गया है, अतः यहाँ **अतिशयोक्ति** (सम्बन्धों में असम्बन्ध रूप) है। अतिशयोक्ति का लक्षण विश्वनाथ के अनुसार निम्नाङ्कित है– 'सिद्धत्वेऽध्यवसायस्यातिशयोक्तिर्निगद्यते' —सा०द०, अर्थात् 'उपमेय' का निगरण (अधःकरण) कर उसके साथ उपमान की अभेद प्रतीति को 'अध्यवसाय' कहा जाता है। अतिशयोक्ति का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है – अतिशयिता प्रसिद्धिमतिक्रान्ता उक्तिरिति – अतिशयोक्तिः। यह अतिशयोक्ति ५ प्रकार की होती है—(१) भेद में अभेदवर्णना (२) सम्बन्ध में असम्बन्धवर्णना (३) अभेद में भेदवर्णना (४) असम्बन्ध में सम्बन्धवर्णना (५) कार्यकारणभाव-नियम की विपर्यय वर्णना। यहाँ **सम्बन्ध में असम्बन्ध वर्णना रूप** 'अतिशयोक्ति' है। (२)

'चीनांशुक'०– यहाँ पर '**उपमा**' अलङ्कार है। 'चेतः' उपमेय है 'चीनांशुक' उपमान, 'इव' वाचक शब्द है और 'प्रतिकूल' गमन साधारण धर्म है। (३) 'असंस्तुतं चेतः' में गम्योत्प्रेक्षा है क्योंकि यहाँ 'इव' 'मन्ये' आदि के कथन के बिना चित्त की अस्थिरता की सम्भावना की गयी है।

छन्द—उक्त पद्य '**आर्या**' छन्द में निबद्ध है।

टिप्पणी—(१) इस श्लोक से भी महाकवि कालिदास की मनोवैज्ञानिक विदग्धता का ज्ञान होता है। यद्यपि राजा दुष्यन्त आरण्यक का वृत्तान्त सुनकर अपने अनुयायियों (सैनिकों आदि) की ओर प्रस्थान कर देता है परन्तु उसका मन शकुन्तला में आसक्त होने के कारण पीछे ही दौड़ता है। जैसे कोई 'ध्वजदण्ड' लेकर जब प्रतिकूल हवा में आगे बढ़ता है तो ध्वजदण्ड तो आगे जाता है परन्तु ध्वजा का चीनांशुक (पताका) आगे न जाकर पीछे जाता (उड़ता) है। अर्थात् जिस दिशा से वायु बहता है उस दिशा की ओर ध्वज-दण्ड तो ले जाया जा सकता है, परन्तु ध्वज दण्ड की पताका को आगे ले जाना सम्भव नहीं है। वह तो सामने न जाकर पीछे की ओर ही उड़ती है। उसी प्रकार ध्वज-दण्ड के समान राजा का शरीर तो उनके अधीन होने से सैनिकों-अनुयायियों की ओर जा रहा है परन्तु पताका के समान उनका मन उनके अधीन होने के कारण उनके शरीर के साथ आगे नहीं जा रहा है। इसका सारांश यह है कि राजा दुष्यन्त का चित्त शकुन्तला में आसक्त हो चुका है। अब वह उनके वश में नहीं है। (२) श्लोक में प्रयुक्त कतिपय शब्दों पर भी ध्यान देना आवश्यक है। यद्यपि राजा का मन (चित्त) उसका है पर वह शकुन्तला की प्रेम-सरिता में सर्वांशतः अवगाहन करने के कारण उनके लिये '**असंस्तुत**' (अपरिचित) सा हो गया है। यहाँ 'चेतः' के विशेषण के रूप में प्रयुक्त '**असंस्तुत**' पद उल्लेखनीय है। इसी प्रकार शरीर के साथ '**गच्छति**' एवं चेतः के साथ '**धावति**' इन क्रिया पदों का प्रयोग भी सारगर्भित है। शरीर आगे जा रहा है और चित्त पीछे दौड़ रहा है न कि जा रहा है। यहाँ '**गच्छति**' की अपेक्षा '**धावति**' की व्यञ्जना आपाततः महनीय है। (३) **निष्क्रान्ताः सर्वे** – प्रथम अङ्क के अन्त में सभी पात्र रङ्गमञ्च से बाहर चले जाते हैं। अङ्क के नेपथ्य में तपोवन के रक्षार्थ तपस्वियों का आह्वान इसलिये किया गया है क्योंकि रथों के घोड़ों के पैरों से उड़ायी गयी धूलि तपोवन के वृक्षों पर छा रही है और रथ को देखकर भयभीत हाथी आश्रम में ही प्रवेश कर रहा है। राजा अपने मन में यह अनुमान लगा लेता है कि '**उसे खोजते हुये नागरिक (सैनिक) तपोवन को घेर रहे हैं।** नाट्याचार्यों के विधानानुसार रङ्गमञ्च पर जिन-जिन वस्तुओं (घटनाओं) का प्रत्यक्ष प्रदर्शन निषिद्ध किया गया है उनमें संरोध (अवरोध) भी है। इसी विधान के अनुसार यहाँ अवरोध (घेराव) का प्रत्यक्ष प्रदर्शन नहीं किया गया है, अपितु नेपथ्य से उसकी सूचना दी गयी है और रङ्गमञ्च से सभी पात्रों का निर्गमन दिखाया गया है। दशरूपक के अनुसार रङ्गमञ्च पर निषिद्ध वस्तुओं का विवरण निम्नाङ्कित है— दूराध्वानं वधं युद्धं राज्यदेशादिविप्लवम्। संरोधं भोजनं स्नानं सुरतं चानुलेपनम् ॥ शस्त्रस्य ग्रहणादीनि प्रत्यक्षाणि न निर्दिशेत्। द०रू०।

(४) **इति प्रथमोऽङ्कः** – नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों के विधानानुसार रूपकों का विभाजन अङ्कों में किया जाता है। जैसे 'शाकुन्तल' का विभाजन सात अङ्कों में किया गया है। 'अङ्क' नाट्यशास्त्र का पारिभाषिक शब्द है। अङ्क का लक्षण निम्नाङ्कित है—

यदा तु सरसं वस्तु मूलादेव प्रवर्तते। आदावेव तदङ्कः स्यादामुखाक्षेपसंश्रयः।
प्रत्यक्षनेतृचरितो बिन्दुव्याप्तिपुरस्कृतः। अङ्को नानाप्रकारार्थसंविधानरसाश्रयः॥

।। इति प्रथमोऽङ्कः ।।

॥ प्रथम अङ्क समाप्त

♦

द्वितीयोऽङ्कः

(ततः प्रविशति विषण्णो विदूषकः)

[तदनन्तर खिन्न (उदास) विदूषक प्रवेश करता है]

विदूषकः—(निःश्वस्य) **भो दिष्टम् । एतस्य मृगयाशीलस्य राज्ञोः वयस्यभावेन निर्विण्णोऽस्मि । अयं मृगोऽयं वराहोऽयं शार्दूल इति मध्याह्नेऽपि ग्रीष्मविरलपादपच्छायासु वनराजिष्वाहिण्ड्यते-ऽटवीतोऽटवी । पत्रसङ्करकषायाणि कदुष्णानि गिरिनदीजलानि पीयन्ते । अनियतवेलं शूल्यमांसभूयिष्ठ आहारो भुज्यते । तुरगानुधावनकण्डितसन्धेः रात्रावपि निकामं शयितव्यं नास्ति । ततो महत्येव प्रत्यूषे दास्याः पुत्रैः शकुनिलुब्धकैर्वनग्रहणकोलाहलेन प्रतिबोधितोऽस्मि । इयतेदानीमपि पीडा न निष्क्रामति । ततो गण्डस्योपरि पिण्डकः संवृत्तः । ह्यः किलास्मास्वहीनेषु तत्रभवतो मृगानुसारेणाश्रमपदं प्रविष्टस्य तापसकन्यका शकुन्तला ममाधन्यतया दर्शिता । साम्प्रतं नगरगमनाय मनः कथमपि न करोति । अद्यापि तस्य तामेव चिन्तयतोऽक्ष्णोः प्रभातमासीत् । का गतिः । यावत्तं कृताचारपरिक्रमं पश्यामि ।** (इति परिक्रम्यावलोक्य च) **एष बाणासनहस्ताभिः वनपुष्पमालाधारिणीभिर्यवनीभिः परिवृत इत एवागच्छति प्रियवयस्यः । भवतु । अङ्गभङ्गविकल इव भूत्वा स्थास्यामि । यद्येवमपि नाम विश्रामं लभेय ।**

(भो दिट्ठं । एदस्स मअआसिलस्स रण्णो वअस्सभावेण णिव्विणो म्हि । अअं मओ अअं वराहो अअ सद्दूलो त्ति मज्झण्णे वि गिम्हविरलपाअवच्छाआसु वणराईसु अहिण्डोअदि अडवीदो अडवी। पत्तसंकरकसाआइं कदुण्हाइं गिरिणइजलाइं पीअन्ति। अणिअदवेलं सुल्लमंसभूयिट्ठो आहारो अण्हीअदि । तुरगाणुधावणकण्डिसन्धिणो रत्तिम्मि वि णिकामं सइदव्वं णत्थि । तदो महन्ते एव्व पच्चूसे दासीएपुत्तेहिं सउणिलुद्धएहिं वणग्गहणकोहाहलेण पडिबोधिदो म्हि । एत्तएण दाणिं वि पीडा ण ण्क्किमदि । तदो गण्डस्य उवरि पिण्डको संवुत्तो । हिओ किल अह्मेसुं ओहीणेसु तत्तहोदो मआणुसारेण अस्समपदं पविट्ठस्स तावसकण्णआ सउन्दला मम अधण्णदाए दंसिदा। संपदं णअरगमणस्स मणं कहं वि ण करोदि । अज्ज वि से तं एव्व चिन्तअन्तस्स अच्छीसु पभादं आसि। का गदी। जाव णं किदाचारपरिक्कमं पेक्खमि। एसो बाणासणहत्थी हि वणपुप्फमालाहारी हि जवनीहि परिवुदो इदो एव्व आअच्छदि पिअवअस्सो । होदु । अङ्गभङ्गविअलो पिअ भविअ चिट्ठिस्सं। जइ एव्वं वि णाम विस्समं लहेअं ।) (इति दण्डकाष्ठमवलम्ब स्थितः) ।

व्या० एवं श० —विषण्णः – वि+सद्+क्त = खिन्न (उदास)। यह पद विदूषक का विशेषण है । **निर्विण्णः** – निर्+विद्+क्त, 'निर्विण्णस्योपसंख्यानम्' वार्तिक से 'द्' को न् एवं णत्व = खिन्न, दुःखी । मध्याह्ने – अह्नः मध्यं तस्मिन् = दोपहर में । **ग्रीष्मविरलपादपच्छायासु** – पादपानां छाया पादपच्छायम् ग्रीष्मेण विरलं पादपच्छायं यासु (ब०ब्री०) = विरली वृक्षछाया वाले । यह पद 'वनराजिषु' का विशेषण है । **वनराजिषु** – वनानां राजिषु (ष०त०) = वन श्रेणियों में, वनप्रदेशों में । 'वीथ्यालिरावलिः पंक्तिः श्रेणी लेखास्तु राजयः' – इत्यमरः । **आहिण्ड्यते** – आ+हिण्ड्+त्यक् (कर्मवाच्य) प्र०पु०ए०व० = जाया जाता है (घूमना पड़ता है)। **अटवीतः** – अटन्ति अत्र अटवी अट्+अवि+ङीप् = अटवी+तसिल् = अटवीतः (एक) वन से । 'अटव्याख्यं

विपिनम्, इत्यमरः । **पत्रसंङ्करकषायाणि** – पत्राणां सङ्करेण कषायाणि (तत्पुरुष) = पत्तों के मिश्रण से कषैले । यह पद तथा कदुष्णानि पद 'गिरिनदीजलानि' के विशेषण हैं । **कदुष्णानि** – ईषन् उष्णम् कदुष्णम् तानि – कु+उष्ण इस स्थिति में 'कोः कत्तत्पुरुषे' सूत्र से 'कु' के स्थान पर 'कद्' आदेश होकर **कदुष्ण** बनता है = थोड़ा गरम । **गिरिनदीजलानि** – गिरि सम्भवाः नद्यः गिरिनयः तासां (गिरिनदीनां) जलानि (ष०त०) = पहाड़ी नदियों के जल । **अनियतवेलम्** – अनियता वेला यस्मिन् तत् (ब०व्री०) = अनिश्चित समय में । **शूल्यमांसभूयिष्ठः** – शूले संस्कृतम् शूल्यम् (शूल+वन्) शूल्यं मासं भूयिष्ठं यस्मिन् सः (ब०व्री०) = शूल (लौहशलाका, काँटा) पर भूने हुये मांस की अधिकता वाले । यह पद 'आहार' का विशेषण है । **तुरगानुधावनकण्डितसन्धेः** – तुरगेण यत् अनुधावनं तेन कण्डिताः सन्धयः यस्य तस्य = घोड़ा दौड़ाने से हिली हुई (कण्डित) हड्डियों के जोड़ों (सन्धि) वाले (मेरा) । **प्रकामम्** – यथेष्ट = पर्याप्त । **शयितव्यम्** – शी+भावे+ल्युट् = सोना । **प्रत्यूषे** – प्रत्यूषति पीडयति कामुकान् इति प्रत्यूषः (प्रति+ऊषस्+क) तस्मिन् = अति प्रातःकाल (अति सबेरे) । **दास्याः पुत्रैः** ('पुत्रेऽन्यतरस्याम्' पुत्र से षष्ठी का अलुक्) = दासी के पुत्रों से (नीचों से) । यह एक प्रकार से गाली है । **प्रतिबोधितः** – प्रति+बुध्+णिच्+क्त = जगा दिया गया (हूँ) । **शकुनिलुब्धकैः** – शकुनीनां लुब्धकाः तैः = पक्षियों को मारने वाले अर्थात् बहेलियों से । 'व्याधो मृगवधाजीवो मृगयुर्लुब्धिकोऽपि सः' – इत्यमरः । **वनग्रहणकोलाहलेन** – वनस्य ग्रहणम् वेष्टनम् तस्मिन् यः कोलाहलः (कलकलः) तेन (तत्पु०) = वन को घेरने में होने वाले कोलाहल से । **अवहीनेषु** – अव+हा+क्त सप्तमी ब०व० = पीछे छूटने पर । **अधन्यतया** – दुर्भाग्यतया = दुर्भाग्यवश । **कृताचारपरिक्रमम्** – कृतः सम्पादितः आचारस्य स्नानादिनियमस्य परिक्रमः – कार्यक्रमः येन तम् (ब०व्री०) = दैनिक स्नानादि कार्य सम्पन्न कर लेने वाले, यह पद तम् (दुष्यन्तम्) का विशेषण है । **बाणासनहस्ताभिः** – बाणासनं धनुः – हस्तेषु यासां ताभिः (ब०व्री०) = हाथ में धनुष लिये । बाणासन धनुष को कहते हैं क्योंकि बाण उसी से फेंके जाते है – बाणा अस्यन्ते अनेन बाण+अस्+ल्युट् । **वनपुष्पमालाधारिणीभिः** – वनपुष्पाणां मालाः धारयन्तीति वनपुष्पमालाधारिण्यः ताभिः – वनपुष्पमाला+धृ+णिच्+णिनि = वनपुष्पों की माला धारण करने वाली । ये दोनों पद यवनीभिः के विशेषण हैं । **यवनीभिः** – यवन देशीय परिचारिकाओं से । **परिवृतः** – परि+वृ+क्त = घिरे हुये । **प्रियवयस्यः** – प्रिय मित्र (दुष्यन्त) । **अङ्गभङ्गविकलः** – अङ्गानां भङ्गेन शैथिल्येन विकलः व्यांकुलः = अङ्ग-भङ्ग होने से व्याकुल सा । **लभेय** – लभ् (आ०)+विधि लिङ्+उ०पु०ए०व० = प्राप्त करूँ (कर लूँ) ।

विदूषक—(लम्बी साँस लेकर) हे दुर्भाग्य, मृगया (शिकार खेलने) के व्यसनी इस राजा (दुष्यन्त) की मित्रता (वयस्यभाव) से मैं खिन्न हो गया हूँ । यह मृग (जा रहा है); यह सूअर (जा रहा है); यह शेर (जा रहा है); – इस प्रकार (चिल्लाते हुये) दोपहर में भी गर्मी के कारण विरली वृक्ष-छाया वाले वनप्रदेशों में एक वन से दूसरे वन में घूमना (भटकना) पड़ता है । (गिरकर सड़े हुये पत्तों) के मिश्रण से कड़वा (कसैला) तथा कुछ-कुछ गर्म (कदुष्ण) पहाड़ी नदियों का जल पीना पड़ता है । (एक तो) अनिश्चत समय में (और उसमें भी) ऐसा भोजन करना पड़ता है, जिसमें (तप्त) लौह-शलाका (काँटा) पर भुने हुये मांस की (ही) अधिकता होती है । घोड़ा दौडाने से (हड्डियों के) जोड़ों के हिल जाने से (उत्पन्न पीड़ा के कारण) रात्रि में भी (मुझे) पर्याप्त सोने को नहीं मिलता । फिर भी (आज तो) बहुत सबेरे ही नीच (दासी के पुत्रों) बहेलियों (शिकारियों) द्वारा जङ्गल को घेरने के कोलाहल से जगा दिया गया हूँ । इतना होने पर भी अभी पीड़ा (की परम्परा)

समाप्त नहीं हो पायी है। अब यह और फोड़े पर फोड़ा हो गया है (अर्थात् कष्ट के ऊपर दूसरा कष्ट आ गया है)। (क्योंकि) कल हम लोगों के पीछे छूट जाने पर हरिण का पीछा करते-करते तपोवन में प्रविष्ट हुये पूज्य महाराज को, मेरे दुर्भाग्य से तपस्विकन्या शकुन्तला दृष्टिगोचर हो गयी। इस समय (वे) नगर जाने की किसी प्रकार भी इच्छा (मन) नहीं कर रहे हैं। आज भी (रातभर) उसी (शकुन्तला) के (विषय में) सोचते-सोचते (उनकी) आँखों के सामने (अर्थात् जागते-जागते) सबेरा हो गया। क्या उपाय है (अर्थात् अब मैं क्या करूँ) ? तब तक (स्नानादि) दैनिक कार्यों से निवृत्त हुये उन से (राजा दुष्यन्त से) मिलता हूँ। (घूमकर और देखकर) हाथ में धनुष ली हुई और वनपुष्पों की माला पहनी हुई इन यवनियों (परिचारिकाओं) से घिरे हुये मेरे प्रिय मित्र (राजा दुष्यन्त) इधर ही आ रहे हैं। अच्छा, अङ्ग-भङ्ग से व्याकुल-सा होकर (यहाँ ही) खड़ा होता हूँ। सम्भव है, इसी प्रकार (मुझे कुछ) विश्राम मिल जाये। (लकड़ी के डण्डे का सहारा लेकर खड़ा हो जाता है)।

टिप्पणी—(१) **विदूषक** – नाटकों में यह हास्यप्रिय पात्र होता है। यह अपने हाव-भाव, वेशभूषा तथा क्रियाकलापों आदि से दर्शकों को हँसाता है। साहित्यदर्पण में उसका यह लक्षण दिया गया है—

कुसुमवसन्ताद्याभिधः कर्मवपुर्वेषभूषाद्यैः।
हास्यकरः कलहरतिर्विदूषकः स्यात् स्वकर्मज्ञः। सा०द०।

रसार्णवसुधाकर में 'विकृताङ्गवचोवेषैर्हास्यकारी विदूषकः' तथा दशरूपक में 'एकविधो विटश्चान्यो हास्यकृच्च विदूषकः' कहकर उसके हास्यकरत्व को पुष्ट किया है। विदूषक एक प्रकार से नायक का पार्श्ववर्ती, कामपुरुषार्थ सहायक और नर्मसुहृद् होता है – 'विदूषको नाम नायकपाश्ववर्ती कामपुरुषार्थसहायः नर्मसुहृदुच्यते'।

विदूषक का कार्य हँसाना मात्र ही नहीं है। संस्कृत-नाटकों में उसकी (विदूषक की) भूमिका अति महत्त्वपूर्ण है। वह राजा का निकटवर्ती मित्र और सहायक होता है। वह राजा के साथ प्रेमकलह भी कर लेता है और अपने कर्म एवं अन्य विषयों का ज्ञाता भी होता है। विदूषक 'कुसुम' 'वसन्तक' 'माधव्य' आदि अन्य नामों से भी जाना जाता है। वह नायक (राजा) को 'वयस्य' (मित्र) इस सम्बोधन से सम्बोधित करता है। जहाँ तक जाति का सम्बन्ध है विदूषक ब्राह्मण होता है। वह आकृत्या कुरूप व विकलांग भी हो सकता है। नाट्यशास्त्रीय विधान के अनुसार विदूषक की भाषा प्राकृत होती है—'विदूषकविटादीनां पाठ्यं तु प्राकृतं भवेत्'। (२) **'गण्डस्योपरि पिण्डकः संवृत्तः'** अर्थात् गण्ड (फोड़ा) के ऊपर पिण्डक (गोलाकार फोड़ा) हो गया। 'गण्डक' के अवरोध, ग्रन्थि, चिह्न, फोड़ा आदि अनेक अर्थ होते हैं। यहाँ उसका फोड़ा यह अर्थ अभिप्रेत है। अनेकार्थे (गोला, गूमड़ा आदि) के वाचक पिण्डक का भी अभिप्राय फोड़ा, फुंसी से है। यह एक मुहावरा है जिसको हिन्दी में 'फोड़ें पर फोड़ा, घाव पर घाव,जले पर नमक (क्षते क्षारम्) आदि पदों द्वारा कहा जाता है। विदूषक की दृष्टि में उसके ऊपर (राजा के मृगयाप्रेम, शकुन्तलाप्रेम आदि के कारण) विपत्ति पर विपत्ति आ रही है। (३) **अक्ष्णोः प्रभातमासीत्** – इसका अर्थ है आँखों के सामने प्रभात हो गया अर्थात् निद्रा के अभाव में विदूषक को जागते-जागते ही पूरी रात बितानी पड़ी। इस का प्रयोग भी मुहावरा के रूप में ही हुआ है। (४) **यवनीभिः** – फारस की लड़कियों से । प्राचीन भारतीय राजाओं की सेवा में फारस देश की लड़कियाँ नियुक्त की जाती थीं। कालिदास ने फारस देश की स्त्रियों के लियें 'यवनी' शब्द का प्रयोग किया है। यह शब्द भारत में व्यापक रूप से प्रयुक्त होता है। उससे यूनानी, फारसी आदि सभी का बोध होता है।

(ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टो राजा)

(तत्पश्चात् निर्दिष्ट रूप में राजा प्रवेश करता है)।

राजा—(आत्मगतम्) -

राजा—(अपने मन में) -

कामं प्रिया न सुलभा मनस्तु तद्भावदर्शनाश्वासि।
अकृतार्थेऽपि मनसिजे रतिमुभयप्रार्थना कुरुते।। १।।

अन्वय—कामं प्रिया सुलभा न (अस्ति), तु मनः तद्भावदर्शनाश्वासि, मनसिजे अकृतार्थे अपि उभयप्रार्थना रतिं कुरुते।

शब्दार्थ—कामम् = यद्यपि। प्रिया = प्रिया (शकुन्तला)। सुलभा = सरलता से प्राप्त होने योग्य। न = नहीं (है)। तु = तथापि। मनः = (मेरा) मन। तद्भावदर्शनाश्वासि = उसके (प्रेमयुक्त) भावों (चेष्टाओं) को देखकर आश्वस्त है। मनसिजे = कामदेव (कामभाव) के। अकृतार्थे = सफल न होने पर। अपि = भी। उभयप्रार्थना = दोनों की परस्पर अभिलाषा। रतिम् = प्रेम को। कुरुते = उत्पन्न करती है।

अनुवाद—यद्यपि प्रिया (शकुन्तला) सरलता से प्राप्त होने योग्य नहीं है, तथापि (मेरा) मन उसके (प्रेमयुक्त) भावों (चेष्टाओं) को देखकर आश्वस्त (सन्तुष्ट) है। (क्योंकि) कामदेव (कामभाव) के सफल न होने पर भी दोनों (प्रेमी एवं प्रेमिका) की (परस्पर) अभिलाषा प्रेम (प्रीति) को उत्पन्न करती है।

संस्कृत व्याख्या—**कामम्** - यद्यपि, **प्रिया** - शकुन्तला, **न सुलभा** - न सुलभ्या तु - तथापि, **मनः** - (मम्) चित्तम् , **तदभावदर्शनाश्वासि** - तस्याः शकुन्तलायाः अनुरागव्यञ्जकचेष्टाविलोकनेन आश्वस्तम् (सन्तुष्टम्) अस्ति, **मनसिजे** - कामे, **अकृतार्थेऽपि** - असफलेऽपि, **उभयप्रार्थना** - द्वयोः परस्पराभिलाषः, **रतिं** - प्रीतिम् , **कुरुते** - उत्पादयति।

संस्कृत-सरलार्थः—शकुन्तलासक्तो राजा स्वमनसि चिन्तयति - यद्यपि शकुन्तला सुखेनावाप्तुं न शक्यत इति निश्चितमस्ति, तथापि मे मनः शकुन्तलाया अनुरागव्यञ्जकचेष्टावलाकनेनाश्वस्तमस्ति। असफलेऽपि कामे परस्पराभिलाषः प्रीतिं समुत्पादयति।

व्याकरण—सुलभा - सु+लभ्+खल् (अ) टाप्। तद्भावदर्शनाश्वासि - तस्याः भावस्य दर्शनेन आश्वासीति। उभयप्रार्थना - उभयोः प्रार्थना (तत्पु०)।

अलङ्कार—(१) इस श्लोक के पूर्वार्ध में वर्णित विशेष अर्थ का उत्तरार्ध के सामान्य अर्थ से समर्थन किया गया है। अतः यहाँ **अर्थान्तरन्यास अलङ्कार** है। अर्थान्तरन्यास का लक्षण द्रष्टव्य प्रथम अङ्क का श्लोक (सं० १६)। (२) 'अकृतार्थेऽपि मनसिजे रतिमुभयप्रार्थना कुरुते' अर्थात् काम के अकृतार्थ होने पर भी रति (संभोग) की उत्पत्ति में विरोध होने तथा रति का अर्थ प्रेम लेने पर उसका (विरोध का) परिहार होने से **विरोधाभास** अलङ्कार है।

छन्द—यहाँ **'आर्या'** छन्द है। ल०द्र०प्र०अं० श्लोक २ का विवरण।

टिप्पणी—(१) यहाँ राजा शकुन्तला को असुलभ कहता है, क्योंकि अभी तक शकुन्तला ने शब्दों के द्वारा अपने प्रेम को व्यक्त नहीं किया है। दूसरी बात यह भी है कि पिता कण्व उसके (राजा के) साथ शकुन्तला के विवाह की अनुमति देंगे या नहीं। फिर भी उसके प्रति शकुन्तला द्वारा प्रकट किये गये हाव-भाव से राजा उसके प्रेम के प्रति आश्वस्त है। (२) इस श्लोक में **'विलास'**

नामक प्रतिमुख सन्धि का अङ्ग है। लक्षण-विलास समीहा रतिभोगार्था विलास इति कथ्यते।

(स्मितं कृत्वा) **एवमात्माभिप्रायसम्भावितेष्टजनचित्तवृत्तिः प्रार्थयिता विडम्ब्यते।**

व्या० एवं श०—आत्माभिप्रायेण (स्वाभिप्रायेण) संभाविता - कल्पिता इष्टजनस्य प्रियजनस्य चित्तवृत्तिस्तेन सः = अपने भावों के अनुरूप प्रिय व्यक्ति के मनोभावों की कल्पना करने वाला यह पद प्रार्थयिता (प्रेमी) का विशेषण है।

(मुस्कराकर) इस प्रकार अपने भावों के अनुसार अपने प्रिय व्यक्ति के मनोभावों की कल्पना करने वाला प्रेमी (कामी) उपहास को प्राप्त होता है।

स्निग्धं वीक्षितमन्यतोऽपि नयने यत्प्रेरयन्त्या तया
यातं यच्च नितम्बयोर्गुरुतया मन्दं विलासादिव।
मा गा इत्युपरुद्धया यदपि सा सासूयमुक्ता सखी
सर्वं तत् किल मत्परायणमहो कामी स्वतां पश्यति।। २।।

अन्वय—अन्यतः अपि नयने प्रेरयन्त्या तया यत् स्निग्धं वीक्षितम्, नितम्बयोः गुरुतया विलासात् इव यत् च मन्दं यातम्, मा गाः इति उपरुद्धया सा सखी यत् अपि सासूयम् उक्ता, तत्सर्वं मत्परायणं किल, अहो कामी स्वतां पश्यति।

शब्दार्थ—अन्यन्तः = दूसरी ओर। अपि = भी। नयने = नेत्रों को। प्रेरयन्त्या = प्रेरित करती हुई (डालती हुई)। तया = उसके (शकुन्तला के) द्वारा। यत् = जो। स्निग्धम् = स्नेहपूर्वक। वीक्षितम् = देखा गया, दृष्टि डाली गयी। नितम्बयोः = नितम्बों के। गुरुतया = भारी (स्थूल) होने के कारण। विलासात् इव = मानो लीलापूर्वक। यत् च = और जो। मन्दम् = धीरे-धीरे। यातम् = गयी। मा गाः = मत जाओ। इति = ऐसा (कहकर)। उपरुद्धया = रोकी गयी (उस शकुन्तला) ने। सा सखी = उस सखी (प्रियंवदा) को। यत् = जो। अपि = भी। सासूयम् = क्रोधपूर्वक। उक्ता = कहा। तत् = वह। सर्वम् = सब। मत्परायणम् = मुझसे सम्बद्ध थे। किल = ही (था)। अहो = ओह। कामी = कामासक्त (प्रेमासक्त) व्यक्ति। स्वताम् = अपनेपन को (अपनी बात को)। पश्यति = देखता है।

अनुवाद—दूसरी ओर अपने नेत्रों को प्रेरित करती हुई (अर्थात् दृष्टि डालती हुई) भी उसने (शकुन्तला ने) जो प्रेमपूर्वक (मुझे) देखा, नितम्बों के भारी होने के कारण मानो लीलापूर्वक जो धीरे-धीरे गयी, प्रियंवदा के द्वारा 'मत जाओ' ऐसा (कहकर) रोके जाने पर उसने (शकुन्तला ने) अपनी सखी (प्रियंवदा) को भी जो कुछ क्रोधपूर्वक कही (अर्थात्) अपनी सखी प्रियंवदा को जो क्रोधपूर्वक कहा; वह सब कुछ निश्चय ही मुझे लक्ष्य करके (अर्थात् मेरे लिये ही) (किया गया था)। अहो कामी (प्रेमासक्त) व्यक्ति (सर्वत्र) अपनी ही बात देखता है।

संस्कृत व्याख्या—**अन्यतः** – अन्यत्र, **अपि, नयने** – नेत्रे, **प्रेरयन्त्या** – पातयन्त्या, **तया** – शकुन्तलया, **यत् स्निग्धम्** – साभिलाषम्, **वीक्षितम्** – अवलोकितम्, **नितम्बयोः** – कटिपृष्ठभागयोः, **गुरुतया** – स्थूलतया, **विलासात् इव** – भावव्यञ्जकचेष्टयेव, **यच्च, मन्दं** – शनैः शनैः, **यातम्** – गतम्; **मा गाः** – मा गच्छ, इति इत्थमुक्त्वा, **अवरुद्धया** – निवारितया, **तया** – शकुन्तलया, **सा** – सखी (प्रियंवदा), **यत् अपि, सासूयम्** – क्रोधपूर्वकम्, **सेर्ष्यम् उक्ता** – अभिहिता, **तत् सर्वम्** – तदशेषम्, **मत्परायणं किल** – मामेव लक्ष्यीकृत्य आसीत्; **अहो** – आश्चर्यम्, **कामी** – कामुकः, **स्वताम्** – आत्मविषयताम्, **पश्यति** – सम्भावयति।

संस्कृत-सरलार्थः—शकुन्तलाचेष्टादिकं संस्मृत्य राजा विचारयति निजचित्ते – 'विभिन्नवस्तुष्वितस्ततो दृष्टिं प्रक्षिपन्त्यापि तया (शकुन्तलया) यदहं साभिलाषमवलोकितः, कटिपश्चाद्भागयोर्भारवत्तया विलासपूर्वकं यत्तया मन्दं मन्दं गतम् (गमनं कृतम्), 'मा गच्छेति' कथनेन तद्गमनं निवारयन्ती सखी प्रियंवदा यत्तया क्रोधपूर्वकमुक्ता, एते सर्वे क्रियाव्यापारास्तस्या मदर्थमेवानुरागप्रकटनपरा आसन्। आश्चर्यकरमेव तथ्यमिदं यत्कामपरवशो जनः सर्वत्रात्मीयभावमेव सम्भावयति। कामीजनोऽन्यविषयकमपिभावं स्वविषयकं सम्भावयतीति भावः।

व्याकरण—स्निग्धम् – स्निह+क्त। वीक्षितम् – वि+ईक्ष+क्त। प्रेरयन्त्या – प्र+ईर+णिच्+शतृ तृ०ए०व०। यातम् – या+क्त। मा गाः = माङ् अव्यय, गाः – मत्यर्थक इण् धातु+लुङ् – मध्यम पु० एक व०। माङ् के योग में 'न माङ् योगे' सूत्र से यहाँ अट् का आगम नहीं हुआ है। उपरुद्धया – अव+रुध्+क्त+टाप् तृ०एक वचन। सासूयम् – असूयया सहितम् सहसुपा समास।

अलङ्कार—(१) 'विलासादिव' में **उत्प्रेक्षा** अलङ्कार है। लक्षण द्र०प्र०अं० श्लोक १८। (२) श्लोक के पहले के तीन चरणों में वर्णित विशेष अर्थ (स्निग्धं वीक्षितम्, यातं यच्च इत्यादि) का समर्थन उत्तरार्ध के चतुर्थ चरण गत सामान्य अर्थ (-- कामी स्वतां पश्यति) से किया गया है अतः '**अर्थान्तरन्यास**' अलङ्कार है। (३) श्लोक में शकुन्तला की चेष्टाओं का स्वाभाविक वर्णन होने से '**स्वाभावोक्ति**' अलङ्कार है।

छन्द—श्लोक में **शार्दूलविक्रीडित** छन्द है। लक्षण द्र०प्र०अं० श्लो० १४।

टिप्पणी—(१) कामासक्त व्यक्ति अपने प्रिय की प्रत्येक चेष्टा को अपनी ही दृष्टि से बोलता (समझता) है। उसके द्वारा की गयी प्रत्येक चेष्टा (व्यापार) को अपने लिये ही समझता है; भले ही वे चेष्टायें उसके लिये की गयी हों अथवा न की गयी हों। यहाँ शकुन्तला के प्रति दुष्यन्त की भी यही स्थिति है।

विदूषकः—(तथास्थित एव) **भो वयस्य, न मे हस्तपादं प्रसरति। तद् वाङ्मात्रेण जापयिष्यामि। जयतु जयतु भवान्।** (भो वअस्स, ण मे हत्थपाआ पसरन्ति। ता वाआमेत्तएण जीआवइस्सं। जेदु जेदु भवं।)

व्या० एवं श०—जापयिष्यामि – जि+णिच्+पुक् आगम लृट् उ०पु०ए०व० = जय-जयकार करूँगा।

विदूषक—(उसी प्रकार खड़ा होकर ही) हे मित्र, मेरे हाथ-पैर नहीं फैल (चल) रहे हैं। इसलिए वचन-मात्र से (अर्थात् सीधा खड़ा होकर हाथ उठाये बिना केवल वाणी से ही) (आप की) जय बोलता हूँ। जय हो, आप की जय हो।

राजा—कुतोऽयं गात्रापघातः ?

राजा—यह अङ्ग-भङ्ग कैसे हुआ ?

विदूषकः—कुतः किल स्वयमक्ष्याकुलीकृत्याश्रुकारणं पृच्छसि ? (कुदो किल सअं अच्छी आउलीकरिअ अस्सुकारणं पुच्छेसि ?)

व्याकरण—अक्ष्याकुलीकृत्याश्रुकारणम् – अक्षि+आकुलीकृत्य+अश्रुकारणम् = आँख को व्याकुल करके आँसू का कारण।

विदूषक—क्यों, स्वयं आँख को व्याकुल करके (अर्थात् आँख में उँगली डालकर) आप आँसुओं का कारण पूछ रहे हैं ?

राजा—न खल्ववगच्छामि।

राजा—मैं (तुम्हारी बात) नहीं समझ पा रहा हूँ।

विदूषकः—भो वयस्य, यद् वेतसः कुब्जलीलां विडम्बयति, तत् किमात्मनः प्रभावेण, ननु नदीवेगस्य ? (भो वअस्स, जं वेदसो कुज्जलीलं विडम्बेदि, तं किं अत्तणो पहावेण, णं णइवेअस्स ?)

व्या० एवं श०—कुब्जलीलाम् – कुब्जस्य लीलाम् = कुबड़े की चेष्टा। विडम्बयति = अनुकरण करता है।

विदूषक—हे मित्र, बेंत जो कुबड़े की लीला (अर्थात् टेढ़ा होने की चेष्टा) का अनुकरण करता है, क्या वह अपने प्रभाव से? अथवा नदी के वेग के (प्रभाव से वैसा करता है) ?

राजा—नदीवेगस्तत्र कारणम् ?

राजा—उसमें नदी का वेग कारण है।

विदूषकः—ममापि भवान्। (मम वि भवं।)

विदूषक—मेरे (कुबड़े की भाँति झुक जाने में) भी आप (कारण हैं)।

राजा—कथमिव ?

राजा—कैसे ?

विदूषकः—एवं राजकार्याण्युज्झित्वैतादृश आकुलप्रदेशे वनचरवृत्तिना त्वया भवितव्यम्। यत्सत्यं प्रत्यहं श्वापदसमुत्सारणैः संक्षोभितसन्धिबन्धानां मम गात्राणामनीशोऽस्मि संवृत्तः। तत् प्रसीद मे। एकाहमपि तावद् विश्रम्यताम्। (एव्वं राअकज्जाणि उज्झिअ एआरिसे आउलपदशे वणचरवुत्तिणा तुए होदव्वं। जं सच्चं पच्चह सावदसमुच्छारणेहिं संखोहिअसंधिबन्धाणं मम गत्ताणं अणीसो म्हि संबुत्तो। ता प्रसीद मे। एक्काहं वि दाव विस्समीअदु।)

व्या० एवं श०—उज्झित्वा – उज्झ+क्त्वा = छोड़कर। **वनचरवृत्तिना** – वनचरस्य वृत्तिरिव वृत्तिर्यस्य तथोक्तेन = जङ्गली लोगों की भाँति। **श्वापदसमुत्सारणैः** – शनुः इव पदानि येषां तेषां श्वापदानां समुत्सारणैः (त० पु०) = जङ्गली जानवरों को भगाने से। **संक्षोभितसन्धिबन्धानाम्** – संक्षोभिताः सन्धिबन्धा = येषां तेषाम् = ढीले पड़े अङ्गों के जोड़ वाले (शरीरों का)। यह गात्राणाम् का विशेषण है। **अनीशः** – न ईशः अनीशः = अस्वामी। **विश्रम्यताम्** – वि+श्रम्+यक्+लोट् प्र०पु०ए०व०।

विदूषक—इस प्रकार राज-कार्यो को छोड़कर ऐसे (हिंसक जन्तुओं से) (भरे हुये) दुर्गम (बीहड़) प्रदेश में जङ्गली लोगों (वनचर) की भाँति आप का रहना क्या उचित है ? यह सच है कि (वास्तविकता यह है) प्रतिदिन जङ्गली जानवरों को भगाने (पीछा करने) से ढीले पड़े अङ्गों के जोड़ वाले (अपने) शरीरावयवों का मैं अब स्वामी नहीं रह गया हूँ (अर्थात् मेरे ऊपर कृपा कीजिये)। एक दिन भी तो विश्राम कीजिये।

राजा—(स्वगतम्) **अयं चैवमाह। ममापि काश्यपसुतामनुस्मृत्य मृगयाविक्लवं चेतः। कुतः—**

व्या० एवं श०—मृगयाविक्लवम् – मृगयायां विक्लवम् = मृगया से विरक्त।

राजा—(अपने मन में) यह (विदूषक) इस प्रकार कह रहा है। मेरा मन कण्व-पुत्री (शकुन्तला) की स्मृति में शिकार खेलने (मृगया) से उदासीन (विक्लव) (हो रहा है) क्योंकि—

न नमयितुमधिज्यमस्मि शक्तो धनुरिदमाहितसायकं मृगेषु ।
सहवसतिमुपेत्य यैः प्रियायाः कृत इव मुग्धविलोकितोपदेशः ।। ३ ।।

अन्वय—अधिज्यम् आहितसायकम् इदं धनुः मृगेषु नमयितुं शक्तः न अस्मि, यैः प्रियायाः सहवसतिम् उपेत्य मुग्धविलोकितोपदेशः कृतः इव ।

शब्दार्थ—अधिज्यम् = जिसकी डोरी (प्रत्यञ्चा) चढ़ी हुई है ऐसे, चढ़ी हुई प्रत्यञ्चा वाले । आहितसायकम् = जिस पर बाण रखा (चढ़ा) हुआ है ऐसे, चढ़े हुये बाण वाले । इदम् = इस । धनुः = धनुष को । मृगेषु = हरिणों पर । नमयितुम् = झुकाने में (चलाने में) । (मैं) शक्तः = समर्थ । न = नहीं । अस्मि = हूँ । यैः = जिन्होंने । प्रियायाः = प्रियतमा (शकुन्तला) के । सहवसतिम् = सहवास को, उपेत्य = प्राप्त कर (अर्थात् उसके साथ रहकर) । मुग्धविलोकितोपदेशः = मनोहर दृष्टिपात का उपदेश (भोलेपन से देखने की शिक्षा) । कृतः इव = मानो किया है, मानो दिया है ।

अनुवाद—चढ़ी हुई प्रत्यञ्चा तथा चढ़े हुये बाण वाले इस धनुष को (उन) हरिणों पर चलाने में मैं समर्थ नहीं हूँ , जिन्होंने (मेरी) प्रियतमा (शकुन्तला) के सहवास को प्राप्त कर (अर्थात् शकुन्तला के साथ रहकर) मानो (उस शकुन्तला को) भोलेपन से देखने का उपदेश किया है ।

संस्कृत व्याख्या—अधिज्यम् – अध्यारूढा ज्या मौर्वी यस्मिन् तत् , गुणयुक्तमित्यर्थः, **आहितसायकम्** – लक्ष्यभेदनाय संयोजितः बाणो यस्मिन् तत् , शरयुक्तमित्यर्थः, **इदम्** – एतत् , **धनुः** – चापम् , **मृगेषु** – हरिणेषु, **नमयितुं** – चालयितुम् , **न शक्तोऽस्मि** – न समर्थोऽस्मि; यैः मृगैः, **प्रियायाः** – प्रियतमायाः शकुन्तलायाः, **सहवसतिं** – सहवासम् , **उपेत्य** – प्राप्य, **मुग्धविलोकितोपदेशः** – मनोहरावलोकनशिक्षणम् , **कृतः इवः** – दत्तः इव ।

संस्कृत-सरलार्थः—मृगयाम्प्रति विदूषकस्यारुचिं विज्ञाय राजा विचिन्तयति – 'अहमधिगतमौर्वीकं समारोपितसायकं चापं तेषु हरिणेषु चालयितुं न प्रभवामि, यैर्मृगैः सान्निध्यमवाप्य शकुन्तलाया मनोहरावलोकनशिक्षणं कृतमिव । मनोहरावलोकनस्प शिक्षणं मृगेभ्य एव शकुन्तलयाऽवाप्तमिति मन्य इति निगलितोऽर्थः ।

व्याकरण—नमयितुम् – नम+णिच् – तुमुन् । **अधिज्यम्** – अधिगता ज्या यस्मिन् तत् (बहु०) । **आहितसायकम्** – आहितः सायकः यस्मिन् तत् (बहु०) । **मुग्धविलोकितोपदेशः** – मुग्धानि विलोकितानि तेषाम् उपदेशः । **उपेत्य** – उप+क्त्वा+ल्यप् ।

कोष—'मौर्वी ज्या शिञ्जिनी गुणः' इत्यमरः । 'वसतिः स्यात् स्त्रियां वासे यामिन्यां च निकेतने' – इति मेदिनी ।

अलङ्कार—(१) श्लोक के पूर्वार्द्धगत अर्थ (कार्य) का उत्तरार्द्धगत अर्थ कारण है अतः **काव्यलिङ्ग** अलङ्कार है । (२) कृत इव में **उत्प्रेक्षा** है । ल०द्र०प्र०अं०श्लो० १८ ।

छन्द—श्लोक में **पुष्पिताग्रा** छन्द है । 'अयुजि नयुगरेफतो यकारो युजि च नजौ जरगाश्च **पुष्पिताग्रा**' अर्थात् जिस छन्द के प्रथम एवं तृतीय चरण में क्रमशः दो नगण (।।।), रगण (ऽ।ऽ) तथा यगण (।ऽऽ) एवं द्वितीय और चतुर्थ चरण में नगण (।।।), दो जगण (।ऽ।), रगण (ऽ।ऽ) तथा एक गुरु वर्ण हो उसे पुष्पिताग्रा कहते हैं ।

टिप्पणी—(१) हरिणों ने शकुन्तला को मुग्धभाव (भोलेपन) से देखने का उपदेश दिया है । इस कथन के द्वारा हरिणों के समान शकुन्तला के नेत्रों के सौन्दर्य को बताया गया है अर्थात् शकुन्तला की भोली-भाली दृष्टि की प्रशंसा की गयी है । (२) यहाँ मदनानुस्मृति नामक तीसरी मदनावस्था है ।

विदूषकः—(राज्ञो मुखं विलोक्य) **अत्रभवान् किमपि हृदये कृत्वा मन्त्रयते । अरण्ये मया रुदितमासीत् ।** (अत्तभवं किं वि हिअए करिअ मन्तेदि । अरण्ये मए रूदिअं आसि ।)

विदूषक—(राजा के मुख को देखकर) आदरणीय ! आप कुछ मन में रख कर विचार कर रहे हैं । (लगता है) मेरे द्वारा अरण्यरोदन (ही) किया गया (अर्थात् मैंने व्यर्थ ही आप से विश्राम करने के लिए प्रार्थना की) ।

टिप्पणी—'अरण्ये मया रुदितम्' यह मुहावरा है । इससे रोदन क्रिया की व्यर्थता सूचित होती है ।

राजा—(सस्मितम्) **किमन्यत् । अनतिक्रमणीयं मे सुहृद्वाक्यमिति स्थितोऽस्मि ।**

राजा—(मुस्कराहट के साथ) (मन में) दूसरा क्या (विचार करूँगा) । मेरे लिये (अपने) मित्र का वचन अनुल्लङ्घनीय है (अर्थात् मैं मित्र के वचन का उल्लङ्घन नहीं कर सकता हूँ) । इसीलिये (शिकार खेलने से) विरत हो गया हूँ ।

विदूषकः—**चिरंजीव ।** (चिरं जीअ) (इति गन्तुमिच्छति) ।

विदूषक—आप चिरंजीवी हों । (जाना चाहता है) ।

राजा—**वयस्य, तिष्ठ । सावशेषं मे वचः ।**

व्याकरण एवं शब्दार्थ—अवशेषेण सह सावशेषम् यह पद वचः का विशेषण है = अधूरा ।

राजा—हे मित्र, रुको । (अभी) मेरी बात अधूरी ही है ।

विदूषकः—**आज्ञापयतु भवान्** (आणवेदु भवं ।)

विदूषक—आप आज्ञा दीजिये ।

राजा—**विश्रान्तेन भवता ममाप्येकस्मिन्ननायासे कर्मणि सहायेन भवितव्यम् ।**

व्या० एवं श०—अनायासे – अविद्यमानः आयासः श्रमः यस्मिन् तस्मिन् = सुसाध्य – सुकर ।

राजा—विश्रान्त होने पर (विश्राम के बाद) आप को मेरे भी एक सरल (सुसाध्य) कार्य में सहायक होना है ।

विदूषकः—**किं मोदकखण्डिकायाम् ? तेन ह्ययं सुगृहीतः क्षणः ।** (किं मोदअखंडिआए ? तेण हि अअं सुगहीदो खणो ।)

व्याकरण एवं शब्दार्थ—मोदकानां खण्डिकायाम् = मोदक तोड़ने (खाने) में ।

विदूषक—क्या लड्डू तोड़ने (खाने) में ? तो यह सुअवसर (निमन्त्रण) शिरोधार्य (सहर्ष स्वीकार) है ।

राजा—**यत्र वक्ष्यामि । कः कोऽत्र भोः ?**

राजा—जहाँ (अर्थात् जिस कार्य के विषय में) मैं कहूँगा (उसमें आपको मेरी सहायता करनी है) । अरे, कौन (है), कौन (है) यहाँ ?

(प्रविश्य) **दौवारिकः**—(प्रणम्य) **अज्ञापयतु भर्ता ।** (आणवेदु भट्टा) ।

(प्रवेश करके) **द्वारपाल**—(प्रणाम करके) स्वामी आज्ञा दें ।

राजा—**रैवतक, सेनापतिस्तावदाहूयताम् ।**

राजा—रैवतक, सेनापति को बुलाओ ।

दौवारिकः—तथा । (इति निष्क्रम्य सेनापतिना सह पुनः प्रविश्य) **एष आज्ञावचनोत्कण्ठो भर्तेतो दत्तदृष्टिरेव तिष्ठति । उपसर्पत्वार्यः ।** (तह । एसो अण्णवअणुक्कण्ठो भट्टा इदो दिण्णदिट्ठी एव्व चिट्ठदि । उपसप्पद अज्जो ।)

व्या० एवं श०—आज्ञावचनोत्कण्ठः - आज्ञावचने उत्कण्ठ = आज्ञा देने के लिये उत्कंठित ।

द्वारपाल—(ठीक है, मैं) वैसा (ही करता हूँ) । (निकल कर सेनापति के साथ फिर प्रवेश कर) आज्ञा देने के लिए उत्कण्ठित ये स्वामी इधर ही दत्तदृष्टि (आँख लगाये हुये) बैठे हैं । आप (उनके) समीप चलें ।

सेनापतिः—(राजानमवलोक्य) **दृष्टदोषापि स्वामिनि मृगया केवलं गुण एव संवृत्ता । तथा हि देवः—**

सेनापति—(राजा को देखकर) दोषग्रस्त मृगया (शिकार) भी महाराज के लिये केवल गुण (स्वरूप) ही हो गयी है । क्योंकि महाराज—

टिप्पणी—(१) **दौवारिकः** - द्वारे नियुक्तः इस अर्थ में द्वार शब्द से रुक् 'द्वारादीनां च' सूत्र से 'औ' का आगम होकर दौवारिक शब्द बनता है । इसे ही द्वारपाल भी कहा जाता है । यह राजभवन अथवा राजा के शिविर आदि के द्वार पर अपने स्वामी का आज्ञा पालन करता है । वह द्वार पर आने वालों को राजा की आज्ञा से उन्हें भीतर प्रवेश कराता है । दौवारिक विधानानुसार प्राकृत भाषा बोलता है - 'नीचेषु प्राकृतं भवेत्' । (२) **सेनापतिः** - राजा की सेना के प्रधान को सेनापति कहा जाता है । सेनापति कुलीन, शीलवान्, धनुर्विद्या में विशारद, हाथी-घोड़े की शिक्षा में कुशल तथा मृदुभाषी होता है । वह ज्योतिष, शकुन चिकित्सा आदि में लिप्त, कृतज्ञ, कर्मवीर, सहिष्णु, व्यूहरचनाविचक्षण होता है । वह राजा के द्वारा नियुक्त ब्राह्मण या क्षत्रिय जाति का होता है । लक्षण—

कुलीनः शीलसम्पन्नः धनुर्वेदविशारदः । हस्तिशिक्षाऽश्वशिक्षासु कुशलः श्लक्ष्ण-भाषणः ।। निमित्ते शकुनज्ञाने वेत्ता चैव चिकित्सकः । कृतज्ञः कर्मणां शूरस्तथा क्लेशसहः स्मृतः ।। व्यूहतत्त्वविधानज्ञः फल्गुसारविशेषवित् । राज्ञा सेनापतिः कार्यो ब्राह्मणः क्षत्रियोऽथवा ।।

अनवरतधनुर्ज्यास्फालनक्रूरपूर्वं
रविकिरणसहिष्णु स्वेदलेशैरभिन्नम् ।
अपचितमपि गात्रं व्यायतत्वादलक्ष्यं
गिरिचर इव नागः प्राणसारं बिभर्ति ।।४ ।।

अन्वय—गिरिचरः नागः इव (देवः) अनवरतधनुर्ज्यास्फालनक्रूरपूर्वं रविकिरणसहिष्णु स्वेदलेशैः अभिन्नम् अपचितम् अपि व्यायतत्वात् अलक्ष्यं प्राणसारं गात्रं बिभर्ति ।

शब्दार्थ—गिरिचरः = पर्वत पर विचरण करने वाले (पहाड़ी) । **नागः इव** = हाथी की भाँति । **अनवरतधनुर्ज्यास्फालनक्रूरपूर्वं** = जिसका अगला भाग (पूर्व) निरन्तर धनुष की डोरी (प्रत्यञ्चा) के खींचने (आस्फालन) से कठोर हो गया है ऐसे (गजपक्ष में-निरन्तर प्रियाल वृक्ष की जड़ में रगड़ने से कठोर अग्रभाग वाले) । **रविकिरणसहिष्णु** = जो सूर्य की किरणों को सहन कर लेने वाला है ऐसे (सूर्य के ताप को सहन कर लेने वाले) । **स्वेदलेशैः** = पसीने की बूँदों से । **अभिन्नम्** = रहित । **अपचितम् अपि** = कृश होते हुये भी । **व्यायतत्वात्** = विशालता के कारण । **अलक्ष्यम्** = (कृश) दिखाई न पड़ने वाले । **प्राणसारम्** = अत्यन्त बलशाली । **गात्रम्** = शरीर को । **बिभर्ति** = धारण करते हैं ।

अनुवाद—पर्वत पर विचरण करने वाले हाथी की भाँति (महाराज) निरन्तर धनुष की डोरी (प्रत्यञ्चा) के खींचने से कठोर अग्रभाग वाले (अर्थात् जिसका अगला भाग धनुष की डोरी खींचने से कठोर हो गया है ऐसे), सूर्य के ताप को सहन कर लेने वाले (अर्थात् जो सूर्य की किरणों को सहन कर लेने वाला है ऐसे), पसीने की बूँदों से रहित तथा कृश होते हुये भी विशालता (अर्थात् लम्बा-चौड़ा होने) के कारण (कृश) न दिखायी पड़ने वाले, अत्यन्त बल से युक्त शरीर को धारण करते हैं।

संस्कृत व्याख्या—गिरिचरः – शैले विचिरणशीलः, **नागः इव** – गजः इव, **अनवरतधनुर्ज्यास्फालनक्रूरपूर्वम्** – निरन्तरशरासनमौर्वीसमाकर्षणकठोरपूर्वम् , **रविकिरणसहिष्णु** – सूर्यकिरणसहनशीलम् , **स्वेदलेशैः** – घर्मजलकणैः, **अभिन्नम्** – असंस्पृष्टम् , **अपचितम् अपि** – क्षीणम् अपि, **व्यायतत्वात्** – विशालत्वात् , **अलक्ष्यम्** – क्षीणतयाऽदृश्यम् , **प्राणसारम्** – बलपूर्णम् , **गात्रम्** – शरीरम् , **बिभर्ति** – धारयति।

संस्कृत-सरलार्थः—स्वामिनः कृते मृगया गुणकारिण्येवेति मत्वा सेनापतिस्तद्विषये कथयति – "पर्वतचरो गज इव भवान् यत् निरन्तरधनुःप्रत्यञ्चासमाकर्षणक्रूरं, सूर्यकिरणसहनशीलं, घर्मजलकणासंस्पृष्टं, क्षीणमपि विशालत्वात्प्राणशक्तिसम्पन्नं च शरीरं धारयति, तत्र मृगयैव कारणमिति" कथनाभिप्रायः।

व्याकरण—अनवरतधनुर्ज्यास्फालनक्रूरपूर्वम् – अनवरतं धनुषः ज्यायाः आस्फालनेन क्रूरं पूर्वं यस्य तत् (तत्पु०,बहु०)। रविकिरणसहिष्णु – रवेः किरणानां सहिष्णु (तत्पु०)। प्राणसारम् – प्राणस्य सारम् (तत्पु०) अथवा प्राणः सारः यस्मिन् तत् (बहु०)। गिरिचरः – गिरिषु चरतीति – गिरि+चर+चरेष्टः से ट प्रत्यय। अपचितम् – अप+चि+क्त। व्यायतत्वात् – व्यायत+त्वल् पं०वि०ए०व०।

कोष—'धनुः प्रियाले ना, न स्त्री राशिभेदे शरासने' – इति मेदिनी।'ज्या मौर्वी ज्या वसुन्धरा' इति शाश्वतः। 'गजेऽपि नागमातङ्गौ' इत्यमरः। 'सारो बले स्थिरांशे च' इत्यमरः। 'शरीरं वर्ष्म विग्रहः'। 'गात्रं वपुः संहननम्' इत्यमरः।

अलङ्कार—इस श्लोक में 'अनवरत--' 'रविकिरण...' आदि विशेषणों के साभिप्राय होने से '**परिकर**' अलङ्कार है। लक्षण द्रष्टव्य प्र०अं०श्लो० २६। 'गिरिचर इव नागः' में '**उपमा**' अलङ्कार है। यहाँ दुष्यन्त की उपमा गिरिचर नाग (पर्वतीय हाथी से की गयी है)। लक्षण द्रष्टव्य प्र०अं०। श्लोकगत विशेषण 'अनवरत...' आदि द्व्यर्थक हैं। एक अर्थ पर्वतीय हाथी के पक्ष में और दूसरा दुष्यन्त के पक्ष में घटित है, अतः यहाँ '**श्लेष**' अलङ्कार है। लक्षण—

'श्लिष्टैः पदैरनेकार्थाभिधाने श्लेष इष्यते' अर्थात् श्लिष्ट पदों (एक अर्थ से अधिक अर्थों वाले पदों) द्वारा अनेक अर्थों का कथन होने पर श्लेष अलङ्कार होता है।

छन्द—श्लोक में मालिनी छन्द है। लक्षण द्रष्टव्य प्र०अं०श्लोक १०।

टिप्पणी— (१) अनवरतधनुर्ज्यास्फालनक्रूरपूर्वम् – इस पद में 'धनु' के दो अर्थ – (१) धनुष, (२) प्रियालवृक्ष है। इसी प्रकार 'ज्या' के दो अर्थ – (१) मौर्वी (धनुष की डोरी), (२) वसुन्धरा (वृक्ष का मूल भाग) है। पहला अर्थ राजा के शरीर के पक्ष में घटित होता है – जिसका पूर्व भाग (आगे का भाग अथवा ऊपर का भाग) निरन्तर धनुष की डोरी के खींचने से कठोर हो गया है और दूसरा अर्थ गिरिचर हाथी के पक्ष में घटित होता है – सर्वदा प्रियालवृक्ष के मूल भाग (ज्या = भूमि) में रगड़ने से जिसका अग्रभाग कठोर हो गया है।

(उपेत्य) **जयतु जयतु स्वामी। गृहीतश्वापदमरण्यम्। किमन्यत्रावस्थीयते ?**

(समीप जाकर) जय हो, महाराज की जय हो, जय हो। हिंसक पशुओं (का आवास) जङ्गल घेर लिया गया है। (अभी तक) आप अन्यत्र (वन से दूर) क्यों ठहरे (रुके) हैं ?

राजा—मन्दोत्साहः कृतोऽस्मि मृगयापवादिना माधव्येन।

व्या० एवं श०—मन्दोत्साहः – मन्दः शिथिलः (मृगयां प्रति) उत्साहः यस्य सः = हतोत्साह। मृगयापवादिना – मृगयाम् अपवदति इति मृगयापवादी तेन = मृगयानिन्दक के द्वारा।

राजा—मृगया (शिकार खेलने) की निन्दा करने वाले माधव्य के द्वारा (मृगया के प्रति मेरा) उत्साह मन्द कर दिया गया है।

सेनापतिः—(जनान्तिकम्) **सखे, स्थिरप्रतिबन्धो भव अहं तावत् स्वामिनश्चित्तवृत्तिमनुवर्तिष्ये।** (प्रकाशम्) **प्रलपत्वेष वैधेयः। ननु प्रभुरेव निदर्शनम्।**

व्या० एवं श०—स्थिरप्रतिबन्धः – स्थिरः प्रतिबन्धः यस्य सः = (शिकार खेलने से) रोकने के (अपने आग्रह पर) दृढ़। भव = रहना। अनुवर्तिष्ये – अनु+वृत+लृट्+उ० पु० ए० व० = अनुसरण करूँगा। प्रलपतु+एषः – यण्। वैधेयः = मूर्ख निदर्शनम् = प्रमाण।

सेनापति—(हाथ की ओट में) हे मित्र, दृढ़ आग्रह (प्रतिबन्ध) वाले होओ (अर्थात् अपने आग्रह पर अड़े रहना)। तब तक मैं महाराज की इच्छा (चित्तवृति) का अनुसरण करता हूँ। (प्रकट रूप से) यह मूर्ख (वैधेय) बका करे। (इस विषय में) तो स्वामी ही प्रमाण (निदर्शन) हैं।

मेदश्छेदकृशोदरं लघु भवत्युत्थानयोग्यं वपुः
सत्त्वानामपि लक्ष्यते विकृतिमच्चित्तं भयक्रोधयोः।
उत्कर्षः स च धन्विनां यदिषवः सिध्यन्ति लक्ष्ये चले
मिथ्यैव व्यसनं वदन्ति मृगयामीदृग् विनोदः कुतः॥ ५॥

अन्वय—मेदश्छेदकृशोदरं लघु वपुः उत्थानयोग्यं भवति, सत्त्वानां भयक्रोधयोः विकृतिमत् चित्तम् अपि लक्ष्यते, सः धन्विनाम् उत्कर्षः (अस्ति) यत् च चले लक्ष्ये इषवः सिध्यन्ति, मृगयां मिथ्या एव व्यसनं वदन्ति, ईदृक् विनोदः कुतः।

शब्दार्थ—मेदश्छेदकृशोदरम् = चर्बी के कम होने से पतले उदर वाला। उत्थानयोग्यम् = अध्यवसाय (परिश्रम) के योग्य। भवति = हो जाता है। सत्त्वानां = प्राणियों के। भयक्रोधयोः = भय और क्रोध (की स्थिति) में। विकृतिमत् = विकारयुक्त। चित्तम् = मन। अपि = भी। लक्ष्यते = परिज्ञात हो जाता है। यत् = जो। चले = चञ्चल (चलते-फिरते)। लक्ष्ये = लक्ष्य पर (शिकार पर)। इषवः = बाण। सिध्यन्ति = सफल होते हैं। मृगयाम् = आखेट (शिकार) को। मिथ्या एव = व्यर्थ में ही। व्यसनम् = व्यसन (दुर्गुण)। वदन्ति = कहते हैं। ईदृक् = इस प्रकार का। विनोदः = मनोरञ्जन। कुतः = अन्यत्र कहाँ (है)।

अनुवाद—(शिकार खेलने से) चर्बी कम हो जाने के कारण पतले उदर वाला शरीर चुस्त और अध्यवसाय (परिश्रम) करने के योग्य हो जाता है। प्राणियों (जीवों) के भय और क्रोध की (स्थिति) में (उनके) विकृत (क्षुब्ध) मन का भी ज्ञान हो जाता है। धनुर्धारियों (धनुर्धारी योद्धाओं) के लिये यह गौरव का विषय है कि चलते-फिरते लक्ष्य पर (भी उनके) बाण सफल हो जाते हैं। लोग मृगया (शिकार) को व्यर्थ में ही व्यसन (दुर्गुण) कहते हैं। इस प्रकार का मनोरञ्जन (अन्यत्र) कहाँ (हो सकता है ?)!

संस्कृत व्याख्या—मेदश्छेदकृशोदरम् – मेदसः वसायाः छेदेन अल्पीभावेन कृशं तनु उदरं जठरं यस्य तथाभूतम् , **वपुः** – शरीरम् , **लघु** – अल्पभारम् , **उत्थानयोग्यं** – परिश्रमयोग्यम् , **भवति** – जायते, **सत्त्वानां** – प्राणिनाम् , **भयक्रोधयोः** – भीतिरोषयोः, **विकृतिमत्** – विकारयुक्तम् (विकृतम्), **चित्तम् अपि** – अन्तःकरणम् अपि, **लक्ष्यते** – ज्ञायते, **स च धन्विनाम्** – स च धनुर्धारिणाम् , **उत्कर्षः** – नैपुण्यम् , **यत् चले** – यत् चञ्चले, **लक्ष्ये** – शरव्ये, **इषवः** – शराः, **सिध्यन्ति** – सफलतां व्रजन्ति, **मृगयाम्** –आखेटम् , **मिथ्या** – व्यर्थमेव, **व्यसनम** = दुर्गुणम्, **वदन्ति** = कथयन्ति, **ईदृक्** = एतादृशः, **विनोदः** = मनोरञ्जनम्, **कुतः** – कुत्र, सम्भवतीति शेषः ।

संस्कृत-सरलार्थः—मृगयागुणजातं निर्दिशन् सेनापतिः स्वप्रभुं दुष्यन्तं ब्रूते – "मृगयाविषये भवानेव प्रमाणम् , यतो हि मृगयाशीलस्य (भवादृशस्य) शरीरं वसाऽल्पीभावेन भारविहीनं परिश्रमयोग्यञ्च भवति । मृगयाशील एव जनः प्राणिनां व्याघ्रादीनां भये (भयकाले) क्रोधे (क्रोधसमये) च तद्विक्षुब्धं चित्तं परिज्ञातुं क्षमते । धनुर्धारिणां कृतेऽयं गौरवविषयोऽस्ति यत्ते सचलेऽपि लक्ष्ये साफल्यं यान्ति । विद्यमानेष्वेतेषु गुणेषु मृगयायां यद् धर्मशास्त्रकारादय (मनुप्रभृतयं) आखेटं दोषत्वेन निरूपयन्ति तत्तु न युक्तम् । आखेटमपहायान्यत्रेदृशमनोरञ्जनं कुत्रास्ति ?" मृगयया (आखेटेन) यथा मनोरञ्जनं कर्त्तुं शक्यते, न तथा केनाप्यन्यसाधनेनेति भावः ।

व्याकरण—मेदश्छेदकृशोदरं – मेदसः छेदेन कृशम् उदरं यस्य तत् (बहु०) । उत्थानयोग्यम् – उत्थानस्य उद्यमस्य योग्यम् (तत्पु०) ।

कोष—'धन्वी धनुष्मान् धानुष्को निसङ्गयस्त्री धनुर्धरः' – इत्यमरः ।

अलङ्कार—(१) 'उत्कर्षः स च धन्विनाम्' में 'च' का प्रयोग समुच्चय के अर्थ में होने से **समुच्चय** अलङ्कार है । समुच्चय का लक्षण है – तत्सिद्धिहेतावेकस्मिन् यत्रान्यत्करं भवेत्-समुच्चयोऽसौ । स त्वन्यो युगपत् गुणक्रिया । का०प्र० । (२) श्लोक के प्रथम तीन चरण, 'मिथ्यैव व्यसनं वदन्ति मृगयाम्' अर्थात् 'मृगया व्यसन नहीं है' इस अर्थ के प्रतिपादन में हेतु (कारण) रूप से दुष्यन्त हैं, अतः यहाँ **काव्यलिङ्ग** अलङ्कार है । लक्षण द्रष्टव्य प्र०अं०श्लोक ४ ।

छन्द—श्लोक में **शार्दूलविक्रीडित** छन्द है । लक्षण द्रष्टव्य प्र०अं०श्लोक १४ ।

टिप्पणी—(१) मनु ने **मृगया** (आखेट) को दस प्रकार के कामज व्यसनों में परिगणित किया है— 'मृगयाऽक्षो दिवास्वप्नः परिवादः स्त्रियोन्मदः । तौर्यत्रिकं वृथाट्या च कामजो दशको गुणः ॥' पर इस श्लोक में सेनापति ने **मृगया** के गुणों का वर्णन किया है जो कामन्दक द्वारा प्रतिपादित मृगयागुणों के अनुरूप है— जितश्रमत्वं व्यायाम आममेदकफक्षयः । चलस्थिरेषु लक्ष्येषु बाणसिद्धिमनुत्तमा ॥ कामन्दक में व्यसन का लक्षण इस प्रकार दिया गया है – 'यस्माद् व्यस्यति श्रेयस्तस्माद् व्यसनमुच्यते ।'

(२) श्लोक में मृगया के वर्णित गुण संक्षेप में इस प्रकार हैं – (क) मृगया खेलने वाले की चर्बी कम हो जाती है जिससे उसके पेट की स्थूलता अल्प हो जाती है । परिणामस्वरूप व्यक्ति चुस्त और परिश्रम करने के लिये समर्थ हो जाता है । (ख) जानवरों की चित्रवृत्तियों का सम्यक् ज्ञान हो जाता है । (ग) व्यक्ति लक्ष्यभेद का गौरव प्राप्त करता है । (घ) मृगया से बढ़कर दूसरा मनोरञ्जन नहीं है । (३) मृगयारूपी दोष के गुणरूप में वर्णन होने के कारण यहाँ मृदव भूषण नामक वीथिका अंग है तथा दुष्यन्त के चित्तानुवर्तन के कारण यहाँ 'दाक्षिण्य' नामक नाट्य भूषण है ।

विदूषकः—(सरोषम्) **अपेहि रे उत्साहहेतुक । अत्रभवान् प्रकृतिमापन्नः । त्वं**

तावदटवीतोऽटवीमाहिण्डमानो नरनासिकालोलुपस्य जीर्णऋक्षस्य कस्यापि मुखे पतिष्यसि । (अवेहि रे उच्छाहेतुअ। अत्तभवं पकिदिंआपण्णो। तुमं दाव अडवीदो अडवीं आहिण्डन्तो णरणासिआलोलुवस्स जिण्णरिच्छस्स कस्स वि मुहे पडिस्ससि)।

व्या० एवं श०—अपेहि – अप+एहि = दूर हट। **प्रकृतिभावमापन्नः** – प्रकृतिस्थ (स्वाभाविक अवस्था को प्राप्त)। **आहिण्डमानः** – आ+हिण्ड+शानच् = प्र०ए०व० घूमता हुआ। **जीर्णऋक्षस्य** – जीर्णश्चासौ ऋक्षश्च = बुढ्ढे भालू के। **नरनासिकालोलुपस्य** – नरस्य नासिका नरनासिका तस्याः लोलुपस्य = मनुष्य की नासिका के लोभी (इच्छुक) के। यह पद जीर्णऋक्ष का विशेषण है।

विदूषक—(क्रोधपूर्वक) अरे उत्साह दिलाने वाले, दूर हट। आदरणीय महाराज (अपनी) स्वाभाविक अवस्था को प्राप्त हो गये हैं। तू तो एक जङ्गल से दूसरे जङ्गल में घूमता हुआ मनुष्य की नाक के लालची किसी बूढ़े रीछ के मुँह में गिर पड़ेगा।

राजा—भद्र सेनापते, आश्रमसन्निकृष्टे स्थिताः स्मः। अतस्ते वचो नाभिनन्दामि। अद्य तावत्—

राजा—भद्र सेनापति, (हम लोग) आश्रम के समीप रुके हैं। इस लिये तुम्हारे वचन का अभिनन्दन नहीं करता हूँ (अर्थात् तुम्हारी बात नहीं मानता हूँ।) आज तो—

गाहन्तां महिषा निपानसलिलं शृङ्गैर्मुहुस्ताडितं
छायाबद्धकदम्बकं मृगकुलं रोमन्थमभ्यस्यतु।
विश्रब्धं क्रियतां वराहततिभिर्मुस्ताक्षतिः पल्वले
विश्रामं लभतामिदं च शिथिलज्याबन्धमस्मद्धनुः ।। ६ ।।

अन्वय—महिषाः शृङ्गैः मुहुः ताडितं निपानसलिलं गाहन्ताम्, छायाबद्धकदम्बकं मृगकुलं रोमन्थम् अभ्यस्यतु, वराहततिभिः विश्रब्धं पल्वले मुस्ताक्षतिः क्रियताम्, इदम् अस्मत् धनुः च शिथिलज्याबन्धं विश्रामं लभताम्।

शब्दार्थ—महिषाः = भैंसे। **शृङ्गैः** = (अपनी) सींगों से। **मुहुः** = बार-बार। **ताडितम्** = आलोडित (उछाले गये)। **निपानसलिलम्** = तालाब के जल में। **गाहन्ताम्** = स्नान करें। **छायाबद्धकदम्बकम्** = छाया में झुण्ड (बनाकर) बैठे हुये। **मृगकुलम्** = मृगसमूह। **रोमन्थम्** = जुगाली का। **अभ्यस्यतु** = अभ्यास करें। **वराहततिभिः** = सुअरों की पंक्तियाँ (कतारें)। **विश्रब्धम्** = निःशङ्क भाव से। **पल्वले** = पोखरों में। **मुस्ताक्षतिः क्रियन्ताम्** = नागरमोथा का उत्खनन करें। **इदम्** = यह। **अस्मत्** = हमारा। **धनुः** = धनुष। **च** = भी। **शिथिलज्याबन्धम्** = जिसकी डोरी (प्रत्यञ्चा) के बन्धन शिथिल (ढीले) हो गये हैं ऐसा (शिथिल डोरी (प्रत्यञ्चा) वाला होकर)। **विश्रामम्** = विश्राम को। **लभताम्** = प्राप्त करे।

अनुवाद—भैंसे सींगों से पुनः पुनः उछाले गये तालाब के जल में स्नान करें। छाया में झुण्ड (कदम्बक) बनाकर स्थित मृगसमूह जुगाली का अभ्यास करें। सूअरों की पक्तियाँ (सूकरसमूह) निर्भय होकर पोखरों (जङ्गली गड्ढों) में नागरमोथा को उखाड़े। यह हमारा धनुष भी शिथिल डोरी (प्रत्यञ्चा) वाला होकर विश्राम को प्राप्त करे।

संस्कृत व्याख्या—महिषाः – लुलायाः, **शृङ्गैः** – विषाणैः, **मुहुः** – बारं बारम्, **ताडितम्** – आहतम्, **निपानसलिलम्** – जलाशयस्य जलम्, **गाहन्ताम्** – विलोडयन्तु, **छायाबद्धकदम्बकम** – छायाषु अनातपे बद्धं रचितं कदम्बकं यूथं येन तत्, **मृगकुलम्** –

हरिणवृन्दम् , **रोमन्थम्** – चर्वितचर्वणम् , **अभ्यस्यतु** – भूयो भूयः करोतु, **वराहततिभिः** – शूकरयूथैः, **विश्रब्धम्** – निर्भयम् , **पल्वले** –अल्पसरसि, **मुस्ताक्षतिः** – मुस्तोत्खननम्, **क्रियताम्** – विधीयताम् , **इदम्** – एतत् , **अस्मत् धनुः** – मम शरासनम् , **च** – अपि, **शिथिलज्याबन्धम्** – शिथिलीभूतं मौर्व्याः बन्धनं यस्य तत् तादृशं सत् , **विश्रामम्** – विश्रान्तिम् , **लभताम्** – अधिगच्छतु ।

संस्कृत-सरलार्थः—राजा सेनापतिद्वारा वर्णितं मृगया गुणजातं तिरस्कृत्याधस्तनैर्वचनैः स्व मृगयाव्यापारविरतिं समुद्घोषयति – 'वन्यमहिषाः भूयोभूयः शृङ्गैर्विलोडितं जलाशयजलमालोडयन्तु, छायायामेकत्रीभूय मृगसमूहाश्चर्वितचर्वणं कुर्वन्तु, शूकरयूथैर्निर्भयं क्षुद्रजलाशयेषु मुस्तामूलोत्पाटनं क्रियताम् , प्रशिथिलमौर्वीबन्धनमिदं मम धनुश्च निर्व्यापारवत्तया विश्रान्तिं लभताम्' निर्व्यापारं तिष्ठत्विति भावः ।

व्याकरण—निपानसलिलं – निपानस्य सलिलम् (तत्पु०) । छायाबद्धकदम्बकं – छायासु बद्धं कदम्बकं येन तत् (बहु०) । मृगकुलम् – मृगाणां कुलम् (तत्पु०) । शिथिलज्याबन्धम् – शिथिलः ज्यायाः बन्धः यस्मिन् तत् (बहु०) । गाहन्ताम् – गाह+लोट् प्र०पु०ब०व० । वराहततिभिः – वराहाणां ततिः वराहततिः ताभिः (ष०त०) । विश्रामम् – वि+श्रम+घञ् – 'नोदात्तोपदेशस्य' सूत्र से अव् प्रत्यय होकर 'विश्रम' शब्द ही पाणिनि की दृष्टि से शुद्ध है । 'विश्राम' शब्द को रूढ मानकर शुद्ध माना जा सकता है । महाकवि भवभूति ने 'विश्राम' शब्द का प्रयोग किया है— 'विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा'-- । अथवा 'विश्रम एव विश्रामः' इस प्रकार स्वार्थ में 'अण्' प्रत्यय मानकर 'विश्राम' को शुद्ध माना जा सकता है । रोमन्थम् – रोमस्य मन्थः तम् – चर्वितस्य चर्वणम्' अमरकोष की रामाश्रयी टीका में कहा गया है—'पशूनां चर्वितस्य चर्वणम्' ।

कोष—'लुलायो महिषो वाहद्विषत्कासारसैरिभाः', इत्यमर । स्त्रियां तु संततिर्वृन्दं । निकुरम्बं कदम्बकम् – इत्यमरः । आहावस्तु निपानं स्यादुपकूपजलाशये इत्यमरः । वेशान्तः पल्वलं चाल्पसरः इत्यमरः ।

अलङ्कार—(१) श्लोक में महिष, मृग, वराह आदि पशुओं की स्वाभाविक क्रियाओं का वर्णन होने से '**स्वभावोक्ति**' अलङ्कार है । लक्षण द्रष्टव्य प्र०अं०श्लोक ७ । (२) चतुर्थ चरण में 'च' के प्रयोग से 'गाहन्ताम्', 'अभ्यस्यतु', 'क्रियताम्', – इन कई क्रियाओं का संग्रह होने से '**समुच्चय**' अलङ्कार है ।

छन्द—यहाँ '**शार्दूलविक्रीडित**' छन्द है । लक्षण द्रष्टव्य प्र०अं०श्लोक १४ ।

टिप्पणी—(१) भैंसे तालाब आदि में घुसकर अपनी सींगों से बार-बार जल उछालते हैं, उनका यह स्वभाव है । (२) घास आदि चारा खाकर जब पशु आराम से बैठते हैं तब वे उसे पेट से खींच-खींच कर मुँह में लाते हैं तथा ठीक से चबाते हैं । पशुओं की इस क्रिया को रोमन्थ या जुगाली करना कहते हैं । (३) राजा के शिकार से विरत हो जाने पर निर्भय होकर महिष, मृग, शूकर आदि स्वेच्छापूर्वक आहार-विहार करें, यह राजा के कहने का अभिप्राय है । (४) आचार्य मम्मट ने अपने काव्यप्रकाश में इस श्लोक को '**प्रक्रमभंग**' दोष के उदाहरण के रूप में उद्धृत किया है । प्रथम पद में '**गाहन्ताम्**' तथा द्वितीय चरण में '**अभ्यस्यतु**' इन कर्तृवाच्य की क्रियाओं का प्रयोग है पर तृतीय चरण में 'क्रियताम्' इस कर्मवाच्य क्रिया का प्रयोग किया गया है । अतः क्रम का भङ्ग होने से यहाँ 'प्रक्रमभंग' दोष है ।

सेनापतिः—यत् प्रभविष्णवे रोचते ।

व्याकरण एवं शब्दार्थ—प्रभविष्णवे – प्रभवितुं शीलमस्येति – प्र+भू+इष्णुच् – प्रभविष्णुः तस्मै 'रुच्यर्थानां प्रीयमाणः' से चतुर्थी विभक्ति = महाराज को।

सेनापति—जो महाराज को अच्छा लगे (वही होगा)।

राजा—तेन हि निवर्तय पूर्वगतान् वनग्राहिणः। यथा न मे सैनिकास्त-पोवनमुपरुन्धन्ति तथा निषेद्धव्याः। पश्य—

व्या० एवं श०—निवर्तय – नि+वृत+णिच्, लोट म०पु०ए०व० = लौटा लो। पूर्वगतान् = पहले से गये हुये। वनग्राहिणः = वन को घेरने वाले (सैनिकों को)। उपरुन्धन्ति – उप+रुध्+लट् प्र०पु०ब०व० = घेर लें अथवा बाधा पहुँचायें। निशेद्धव्याः – नि+सिध+तव्यत, प्र०पु०ब०व० = रोक दिये जाँय (मना कर दिये जाँय)।

राजा—पहले (भेजे) गये हुए वन घेरने वालों को लौटा लो। जिस प्रकार मेरे सैनिक तपोवन में विघ्न न करें, वैसा उन्हें रोक दो (अर्थात् सैनिकों को आदेश दे दो कि वे तपोवन में कोई विघ्न न पैदा करें)। देखो—

शमप्रधानेषु तपोधनेषु गूढं हि दाहात्मकमस्ति तेजः।
स्पर्शानुकूला इव सूर्यकान्तास्तदन्यतेजोऽभिभवाद्वमन्ति ।। ७ ।।

अन्वय—शमप्रधानेषु तपोधनेषु दाहात्मकं गूढं तेजः अस्ति, हि स्पर्शानुकूलाः सूर्यकान्ताः इव अन्यतेजोऽभिभवात् तत् वमन्ति।

शब्दार्थ—शमप्रधानेषु = शान्तिप्रधान। तपोधनेषु =तपस्वियों में। दाहात्मकं = भस्म कर देने वाला। गूढम् = गुप्त। तेजः = तेज। अस्ति = रहता है। हि = क्योंकि। स्पर्शानुकूलाः = स्पर्श करने योग्य। सूर्यकान्ताः इव = सूर्यकान्त मणियों के समान। अन्यतेजोऽभिभवात् = दूसरे के तेज से तिरस्कृत होने पर। तत् = उस (तेज) को। वमन्ति = (वे) उगलते हैं (प्रकट करते हैं अर्थात् दूसरे के तेज से तिरस्कृत होने पर उनका तेज अपने आप प्रकट हो जाता है)।

अनुवाद—शान्तिप्रधान तपस्वियों में भस्म कर देने वाला गुप्त (छिपा हुआ) तेज रहता है, क्योंकि स्पर्श करने योग्य सूर्यकान्त मणियों के समान (वे तपस्वी) दूसरे के तेज से तिरस्कृत होने पर (अपने) उस (तेज) को प्रकट करते हैं।

संस्कृत व्याख्या—शमप्रधानेषु – शमः शान्तिरेव प्रधानं येषु तथाभूतेषु, **तपोधनेषु** – तपस्विषु, **दाहात्मकम्** – दहनस्वभावकम्, **गूढं** – प्रच्छन्नम्, **तेजः** –वर्चः, **अस्ति** –वर्तते; हि- यतः, **स्पर्शानुकूलाः** – स्पर्शयोग्या, **सूर्यकान्ताः इव** – सूर्यकान्तमणयः इव, **अन्यतेजोऽभिभवात्** – अन्यस्य अपरस्य तेजसा समाक्रमणात्, **तत्** – तेजः, **वमन्ति** – प्रकटयन्ति उद्गिरन्ति वा।

संस्कृत-सरलार्थः—राजा सेनापतिं वदति – "परमशान्तिसम्पन्नेष्वपि तपस्विषु दहनस्वभावकं प्रच्छन्नं तेजो विरजते। प्रच्छन्नतेजस्कत्वेन यथा सूर्यमणयो सुखस्पर्शा भूत्वाऽपि भानुकिरणस्पर्शेनानलमुद्गिरन्ति तथैव तपस्विनोऽपि राजादितेजोऽभिभूताः स्वीयं दाहात्मकं तेजः प्रकटयन्ति।

व्याकरण—शमप्रधानेषु – शमः प्रधानं येषु तेषु (बहु०)। तपोधनेषु – तपः एव धनं येषां तेषु (बहु०)। स्पर्शानुकूलाः – स्पर्शस्य अनुकूलाः (तत्पु०) अन्यतेजोऽभिभवात् अन्यस्य तेजसा अभिभवात् (तत्पु०)। गूढम् – गूह+क्त। दाहात्मकम् – दाहः आत्मा यस्य तत् = भस्म कर देने वाला।

अलङ्कार—(१) इस श्लोक में 'स्पर्शानुकूला इव सूर्यकान्ता' में श्लेष तथा उपमा (श्लेषोपमा) अलङ्कार है। 'स्पर्शानुकूलाः' यह विशेषण ऋषियों तथा सूर्यकान्त मणि इन दोनों पक्षों में लगता है अतः श्लेष है। श्लेष का लक्षण— शिलष्टैः पदैरनेकार्थाभिधाने श्लेष इष्यते। अर्थात् शिलष्ट पदों (एक से अधिक अर्थ वाले शब्दों) द्वारा अनेक अर्थों का कथन होने पर श्लेष होता है। (२) 'स्पर्शानुकूला इव सूर्यकान्ताः' में '**इव**' का प्रयोग होने से '**उपमा**' है। यहाँ तपोधनों (तपस्वियों) की तुलना सूर्यकान्त मणियों से की गयी है। उपमा का लक्षण द्रष्टव्य प्र०अं०श्लोक ५। (३) जिस प्रकार सुखस्पर्श भी सूर्यकान्तमणियाँ सूर्य की किरणों के सम्पर्क से आग उगलने लगती हैं उसी प्रकार शान्त स्वभाव वाले तपस्वी जन भी राजा आदि के तेज से अपमानित सा होकर अपना दाहात्मक तेज (शक्ति) प्रकट कर देते है, ऐसी व्याख्या करने पर यहाँ '**दृष्टान्त**' अलङ्कार माना जा सकता है (लक्षण द्रष्टव्य प्र०अं०श्लो० २५)। कुछ लोगों के मन में यहाँ **अनुमान** तथा **काव्यलिङ्ग** अलङ्कार भी है।

छन्द—यहाँ इन्द्रवज्रा तथा उपेन्द्रवज्रा के योग से बनने वाला '**उपजाति**' छन्द है। लक्षण—अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ताः।

इत्थं किलान्यास्वपि मिश्रितासु वदन्ति जातिस्विदमेव नाम॥

यहाँ श्लोक के प्रथम चरण में उपेन्द्रवज्रा (जगण, तगण, जगण दो गुरु) तथा शेष तीन चरणों में इन्द्रवज्रा (दो तगण, जगण, दो गुरु है)।

टिप्पणी—(१) सूर्यकान्त एक मणि है। सामान्य अवस्था में वह स्पृश्य है किन्तु यदि उस पर सूर्य की किरणें पड़े तो उसमें से अग्नि निकलने लगती है जिसको स्पर्श करना असम्भव हो जाता है। इसी प्रकार सामान्य स्थिति में शान्त होने पर भी मुनिगण को छेड़ने पर, तिरस्कृत करने पर कुपित हो जाते हैं। इस बिन्दु को दृष्टिगत कर मुनियों को कुपित करना हानिकारक है - यह राजा के कथन का अभिप्राय है।

सेनापतिः—यदाज्ञापयति स्वामी।

सेनापति—महाराज जो आज्ञा देते हैं (कार्य उसी के अनुसार होगा)।

विदूषकः—ध्वंसतां त उत्साहवृत्तान्तः। (धंसदु दे उच्छाहवुत्तन्तो।) (निष्क्रान्तः सेनापतिः)।

व्या० एवं श०—**ध्वंसताम्** - ध्वंस्+लोट्+प्र०पु०ए०व० = नष्ट हो। **उत्साहवृत्तान्तः** - उत्साहस्य वृत्तान्तः = उत्साह की बात।

विदूषक—तुम्हारी (मृगया के प्रति) उत्साह की बातें नष्ट हों। (सेनापति निकल जाता है)।

राजा—(परिजनं विलोक्य) **अपनयन्तु भवत्यो मृगयावेशम्। रैवतक, त्वमपि स्वनियोगमशून्यं कुरु।**

व्या० एवं श०—अपनयन्तु - अप+नी+लोट् प्र०पु०ब०व० = उतार दें। अशून्यम् = सम्पन्न। स्वनियोगम् - स्वस्य नियोगं (कार्यम्) = अपने कार्य को।

राजा—(सेवक-वर्ग को देखकर) आप लोग मृगया (शिकार खेलने) के वेष को उतार दें। रैवतक, तुम भी अपने काम (नियोग) को पूरा (अशून्य) करो।

परिजनः—यद् देव आज्ञापयति। (जं देवो आणवेदि।) (इति निष्क्रान्तः)।

सेवकवर्ग—स्वामी जो आज्ञा देते हैं (स्वामी की जो आज्ञा)। (निकल जाते हैं)।

विदूषकः—कृत भवता निर्मक्षिकम् । साम्प्रतमेतस्मिन् पादपच्छाया-विरचितवितानसनाथे शिलातले निषीदतु भवान् , यावदहमपि सुखासीनो भवामि । (किदं भवदा णिम्मच्छिअं। संपदं एदस्सिं पादवच्छाआविरइदविदाणसणाथे सिलाअले णिसीददु भवं, जाव अहं वि सुहासीणा होमि।)

व्याकरण एवं शब्दार्थ—निर्मक्षिकम् – मक्षिकाणामभाव: निर्मक्षिकम् (अव्ययीभाव समास) = मक्खियों से रहित अर्थात् जनशून्य (एकान्त)। पादपच्छाया .... सनाथे पादपच्छायया वृक्षच्छायया विरचितेन – निर्मितेन वितानेन – उल्लोचेन सनाथे युक्ते = वृक्ष की छाया से निर्मित वितान (चाँदनी) से युक्त। शिलाखण्डे – शिलाया: पाषणस्य खण्डं = प्रस्तर खण्ड पर। सुखासीन: – सुखेन आसीन: स्थित: = सुखपूर्वक आसीन।

विदूषक—आपने (इस स्थान को) मक्षिकाशून्य (एकान्त) बना दिया। अब आप वृक्ष की छाया से निर्मित वितान से युक्त इस शिला-खण्ड पर बैठें, जिससे मैं भी सुखपूर्वक बैठ जाऊँ।

राजा—गच्छाग्रतः ।

राजा—आगे चलो।

विदूषकः—एतु भवान् । (एदु भवं)। (इत्युभौ परिक्रम्योपविष्टौ)।

विदूषक—आप आइये (दोनो घूमकर बैठ जाते हैं)।

राजा—माधव्य, अनवाप्तचक्षुःफलोऽसि । येन त्वया दर्शनीयं न दृष्टम् ।

व्या० एवं श०—अनवाप्तचक्षुःफलः – अनवाप्तं न प्राप्तम् , चक्षुष: नेत्रस्य फलम् येन तथाभूत: ब०ब्री० = नेत्र (होने) के फल से रहित। **दर्शनीयम्** – दृश्-अनीयर् = देखने योग्य। **न दृष्टम्** – दृश्+क्त = नहीं देखा।

राजा—माधव्य, तुमने नेत्रों का फल नहीं पाया, क्योंकि तुमने देखने योग्य वस्तु नहीं देखी।

विदूषकः—ननु भवानग्रतो मे वर्तते । (णं भवं अग्गदो में वट्टदि।)

विदूषक—(नेत्रों का फल) क्यों नहीं (पाया) ? आप तो मेरे सामने (ही) हैं।

राजा—सर्वः कान्तमात्मीयं पश्यति । अहं तु तामाश्रमललामभूतां शकुन्तलामधिकृत्य ब्रवीमि ।

व्या० एवं श०—कान्तम् = मनोहर। **आत्मीयम्** – स्वजनम् = स्वजन को। **आश्रमललामभूताम्** – आश्रमस्य तपोवनस्य ललामभूताम् अलङ्कारभूताम् – आश्रम की अलङ्कारस्वरूप। **अधिकृत्य** – अधि+कृ+क्त्वा – ल्यप् = दृष्टिगत कर, लक्ष्य कर।

राजा—सभी लोग अपने व्यक्ति को सुन्दर समझते हैं। मैं तो आश्रम की अलङ्कारभूत उस शकुन्तला को लक्ष्य करके कह रहा हूँ।

विदूषकः—(स्वगतम्) **भवतु । अस्यावसरं न दास्ये ।** (प्रकाशम्) **भो वयस्य, ते तापसकन्यकाऽभ्यर्थनीया दृश्यते ।** (होदु। से अवसरंण दाइस्सं। भोवअस्स, ते तावसकण्णआ अब्भत्यणीआ दीसदि।)

व्या० एवं श०—दास्ये – दा+लृट्+उ०पु०ए०व० = दूँगा। **अभ्यर्थनीया** – अभि+अर्थ+अनीयर्+टाप् = (विवाह हेतु) प्रार्थना के योग्य (प्रार्थनीय)।

विदूषक—(अपने मन में) अच्छा, (मैं) इनको अवसर नहीं दूँगा। (प्रकट रूप में) हे मित्र, तुम तपस्वी की कन्या के इच्छुक दिखायी दे रहे हो।

राजा—सखे, न परिहार्ये वस्तुनि पौरवाणां मनः प्रवर्तते ।

व्या० एवं श०—परिहार्ये - परि+हृ+णिच्+यत् = त्याज्य ।

राजा—हे मित्र, परित्याज्य वस्तु पर पुरुवंशियों का मन प्रवृत नहीं होता है ।

टिप्पणी—(१) **'ननु भवानग्रतो मे वर्तते'** विदूषक के इस कथन से राजा की सुन्दरता व्यञ्जित होती है । (२) **सर्वः कान्तमात्मीयं पश्यति** - यह सूक्ति है । इसका अभिप्राय है कि सभी लोग आत्मीयजनों को सुन्दर मानते हैं । (३) **'ते तपस्विकन्यकाभ्यर्थनीया दृश्यते'** विदूषक के इस कथन का अभिप्राय यह है कि राजा तपस्विकन्या शकुन्तला से विवाह करना चाहता है । (४) **'न परिहार्ये वस्तुनि... प्रवर्तते'** राजा के इस कथन का अभिप्राय यह है कि पुरुवंशी लोगों का मन त्याज्य वस्तुओं के प्रति समाकृष्ट नहीं होता । चूँकि उसका (दुष्यन्त का) मन तपस्विकन्या शकुन्तला के प्रति आकृष्ट है अतः सिद्ध है कि वह त्याज्य नहीं है अर्थात् विवाह के योग्य है । (५) कुछ विद्वान् राजा के **'माधव्य, अनवाप्तचक्षुःफलोऽसि'** इस कथन से लेकर तृतीय अङ्क की समाप्ति तक **प्रतिमुख** सन्धि मानते है । सा०द० के अनुसार प्रतिमुख सन्धि का लक्षण यह है— बीजप्रकाशनं यत्र दृश्यादृश्यतया भवेत् । तत् स्यात्प्रतिमुखम् ।

सरयुवतिसम्भवं किल मुनेरपत्यं तदुज्झिताधिगतम् ।
अर्कस्योपरि शिथिलं च्युतमिव नवमालिकाकुसुमम् ।। ८ ।।

अन्वय—शिथिलम् अर्कस्य उपरि च्युतं नवमालिकाकुसुमम् इव तत् मुनेः अपत्यं किल सुरयुवतिसम्भवम् उज्झिताधिगतम् ।

शब्दार्थ—शिथिलम् = शिथिल । अर्कस्य = आक (मन्दार) के । उपरि = ऊपर । च्युतम् = गिरे हुये । नवमालिकाकुसुमम् इव = चमेली के पुष्प की भाँति । तत् = वह । मुनेः = मुनि की । अपत्यं = सन्तान । किल = निश्चय ही । सुरयुवतिसम्भवम् = सुरयुवती मेनका अप्सरा की पुत्री । उज्झिताधिगतम् = छोड़ी जाने पर प्राप्त हुई है ।

अनुवाद—शिथिल (होने के कारण) मन्दार (वृक्ष) के ऊपर गिरे हुये चमेली के पुष्प की भाँति वह मुनि की सन्तान (शकुन्तला) निश्चय ही अप्सरा (मेनका) की पुत्री है (और मेनका द्वारा) छोड़ी जाने पर (मुनि कण्व को) प्राप्त हुई है ।

संस्कृत व्याख्या—शिथिलम् - वृन्तात् विश्लथीभूतम् , **अर्कस्य** - मन्दारपादपस्य, **उपरि** - ऊर्ध्वम् , **च्युतम्** - गलितम् , **नवमालिकाकुसुमम् इव** - सप्तलताप्रसूनम् इव, **तत्** - शकुन्तला, **मुनेः** - ऋषेः कण्वस्य, **अपत्यम्** - सन्तानम्, सुरयुवतिसम्भवम् - अप्सरोजातम्, उज्झिताधिगतम् - मेनकया त्यक्तं कण्वेन प्राप्तम् ।

संस्कृत-सरलार्थः—राजा सखे ! न परिहार्ये वस्तुनि पौरवाणां मनः प्रवर्तते, इति विदूषकमुक्त्वा तं पुनः कथयति यत्सा शकुन्तला सुरयुवतिमेनका तनयाऽस्ति, या मेनकया परित्यक्ता सती मुनिना कण्वेन प्राप्य पालिता जाता । एवं सा (शकुन्तला) तस्य मुनेर्धर्मकन्या वर्ततेऽतस्तस्याः परिग्रहे न कोऽपि दोषः । सा तु मुनिना तथैवोपलब्धा यथा स्ववृन्ताच्छिथिलं सत् नवमालिकापुष्पं मन्दारवृक्षे पतितं भवेदिति ।

व्याकरण—नवमालिकाकुसुमम् इव - नवमालिकायाः कुसुमम् (तत्पु०) । सुरयुवतिसम्भवम् - सुराणां युवतिः सम्भवः यस्य तत् (बहु०) । उज्झिताधिगतम् - उज्झितं च तत् अधिगतं च

(कर्म०)। उज्झित – उज्झ+क्त।

अलङ्कार—इस श्लोक में कण्व की तुलना मन्दार वृक्ष से तथा शकुन्तला की तुलना नवमालिका से की गयी है अतः उपमा अलङ्कार है। उपमा का ल०प्र०अं०श्लो०५।

छन्द—यहाँ आर्या छन्द है। ल०द्र०श्लोक २।

टिप्पणी—इस श्लोक में पूर्ववृत्त के वर्णन होने से आख्यान नामक नाट्यालङ्कार है।

विदूषकः—(विहस्य) **यथा कस्यापि पिण्डखर्जूरैरुद्वेजितस्य तिन्तिण्यामभिलाषो भवेत् तथा स्त्रीरत्नपरिभोगिणो भवत इयमभ्यर्थना।** (जह कस्स वि पिण्डखज्जूरेहि उव्वेजिदस्स तिन्तिणीए अहिलासो भवे, तह इत्थिआर अणपरिभोइणो भवदो इअं अब्भत्थणा।)

व्या० एवं श०—विहस्य – वि+हास्+क्त्वा-ल्यप्। **पिण्डखर्जूरैः** – मधुर खजूंर। **उद्वेजितस्य** – उद्+विज्+णिच्+क्त प्र०ए०व० =खिन्न – जिसका मन भर गया हो ऐसे का। **तिन्तिण्याम्** = इमली में। **स्त्रीरत्नपरिभोगिणः** – स्त्रीरत्नानि रमणीवर्याणि तेषां परिभोगिनः भोगशीलस्य = उत्तम स्त्रियों का परिभोग करने वाले (व्यक्ति) की। **अभ्यर्थना** = प्रार्थना – इच्छा।

विदूषक—(हँसकर) जिस प्रकार पिण्ड खजूर (उत्तम कोटि के खजूर खाने) से ऊबे हुए किसी व्यक्ति की इमली (तिन्तिणी) के खाने में इच्छा होती है, उसी प्रकार स्त्री-रत्नों का उपभोग करने वाले आपकी यह इच्छा है।

राजा—न तावदेनां पश्यसि येनैवमवादीः।

राजा—अभी तुमने इस (शकुन्तला) को देखा नहीं है, जिससे ऐसा कह रहे हो।

विदूषकः—तत् खलु रमणीयं यद् भवतोऽपि विस्मयमुत्पादयति। (तं खु रमणिज्जं जं भवदो वि विमहअं उप्पादेदि।)

विदूषक—निश्चय ही वह रमणीय होगी जो आप को भी आश्चर्ययुक्त कर रही है।

राजा—वयस्य, किंबहुना—

राजा—मित्र, अधिक (कहने) से क्या—

चित्रे निवेश्य परिकल्पितसत्त्वयोगा
रूपोच्चयेन मनसा विधिना कृता नु।
स्त्रीरत्नसृष्टिरपरा प्रतिभाति सा मे
धातुर्विभुत्वमनुचिन्त्य वपुश्च तस्याः।। ९।।

अन्वय—धातुः विभुत्वं तस्याः वपुः च अनुचिन्त्य मे सा विधिना चित्रे निवेश्य परिकल्पितसत्त्वयोगा मनसा नु रूपोच्चयेन कृता अपरा स्त्रीरत्नसृष्टिः प्रतिभाति।

शब्दार्थ—धातुः = विधाता की। विभुत्वम् = सृष्टिशक्ति, निर्माणसामर्थ्य। च = और। तस्याः = उस (शकुन्तला) के। वपुः = शरीर को। अनुचिन्त्य = विचार कर। मे = मुझे। सा = वह। विधिना = विधाता के द्वारा। चित्रे = चित्र में। निवेश्य = बनाकर (चित्रित कर)। परिकल्पितसत्त्वयोगा = (उसमें) प्राणों का सञ्चार कर (जीवन डालकर)। मनसा नु = मानो मन के द्वारा। रूपोच्चयेन = सौन्दर्यसमूह से। कृता = निर्मित, रचित, बनायी गयी। अपरा = विलक्षण (अद्वितीय)। स्त्रीरत्नसृष्टिः = स्त्रीरत्न की रचना। प्रतिभाति = प्रतीत होती है।

अनुवाद—विधाता (ब्रह्मा) की सृष्टिशक्ति (निर्माण-सामर्थ्य) और उस (शकुन्तला) के शरीर को विचार करके मुझे वह (शकुन्तला) विधाता के द्वारा चित्र में बनाकर (तब उसमें) प्राणों का सञ्चार कर (जीवन डालकर) मानो मन के द्वारा सौन्दर्य-समूह से निर्मित (बनायी गयी) विलक्षण (अद्वितीय) स्त्रीरत्न की रचना प्रतीत होती है।

संस्कृत व्याख्या—**धातुः** - ब्रह्मणः, **विभुत्वम्** - निर्माणकौशलम् , **तस्याः** - शकुन्तलायाः, **वपुः च** - शरीरञ्च, **अनुचिन्त्य** - चिन्तयित्वा, **मे** - मम, **सा** - शकुन्तला, **विधिना** - ब्रह्मणा, **चित्रे** - चित्रफलके, **निवेश्य** - आलिख्य, **परिकल्पितसत्त्वयोगा** - कृत जीवनसञ्चारा, **मनसा** - अन्तःकरणेन, **नु** - वितर्के, **रूपोच्चयेन** - सौन्दर्यराशिना, **कृता** - निर्मिता, **अपरा** - अद्वितीया, **रत्नसृष्टिः** - रमणीरत्नरचना, **प्रतिभाति** - प्रतीयते।

संस्कृत-सरलार्थः—विदूषकम्प्रति शकुन्तलासौन्दर्यं वर्णयन् राजा ब्रूते - 'यत्सा शकुन्तला वस्तुतः प्रजापतेर्विलक्षणैव स्त्रीरत्नरूपा सृष्टिरास्ति। विधातुर्निर्माणकौशलं तस्याः शकुन्तलाया लावण्यसंवलितं देहञ्च विचार्य सम्यग् एवम्प्रतीयते यत्साविधिना चित्रे समालिख्य दत्तजीवनसञ्चारा मनसैव सौन्दर्यराशिना निर्मिताऽस्ति।

व्याकरण—परिकल्पितसत्त्वयोगा - परिकल्पितः सत्त्वस्य योगः यस्यां सा (बहु०)। रूपोच्चयेन - रूपस्य उच्चयेन (तत्पु०)। स्त्रीरत्नसृष्टिः - स्त्रीणां रत्नस्य सृष्टिः (तत्पु०)।

अलङ्कार—(१) इस श्लोक में '**विधिना कृता नु**' में 'नु' के द्वारा सन्देह की प्रतीति हो रही है अतः यहाँ **सन्देह** अलङ्कार है। **लक्षण**—'सन्देहः प्रकृतेऽन्यस्य प्रति- भोत्थितः' अर्थात् प्रकृत (उपमेय) में अन्य (उपमान) का सन्देह होने पर सन्देह नामक अलङ्कार होता है। (२) कुछ लोग 'नु' शब्द को वितर्कवाची मानकर 'उत्प्रेक्षा' अलङ्कार मानते हैं। (३) 'स्त्रीरत्नसृष्टिरपरा' में शकुन्तला स्त्रीरत्नसृष्टि से भिन्न नहीं है परन्तु उसे 'अपरा' शब्द के कथन से भिन्न बताया गया है अतः अभेद में भेद का वर्णन होने से अतिशयोक्ति (भेद रूप अतिशयोक्ति) है। (४) श्लोक का चतुर्थ प्रथम तीन चरणों के हेतु रूप से उपन्यस्त है अतः **काव्यलिङ्ग** अलङ्कार है।

विशेष—'**उत्प्रेक्षा**' अलङ्कार के लक्षण हेतु प्र०अं० श्लोक १८, '**अतिशयोक्ति**' के लिये प्र०अं० का श्लोक तथा '**काव्यलिङ्ग**' के लक्षण हेतु प्र०अं० श्लोक ४ द्रष्टव्य है।

छन्द—यहाँ **वसन्ततिलका** छन्द है। लक्षण हेतु द्रष्टव्य प्र०अं० श्लोक ८।

टिप्पणी—इस श्लोक में कवि ने शकुन्तला के सौन्दर्यातिशय को दृष्टिगत कर उसे विधाता की अलौकिक सृष्टि बताया है। इस सन्दर्भ में कवि की यह कल्पना ध्येय है कि विधाता ने सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी का चित्र बनाकर उसमें प्राणसञ्चार किया। उसने सृष्टि हाथों से न बना कर मन से सौन्दर्यराशि के द्वारा बनायी। इस प्रकार शकुन्तला विधाता की मानसिक सृष्टि है तभी तो उसका लावण्य इतना देदीप्यमान है। हाथ से बनाने में ऐसी अनुपम सृष्टि नहीं बन सकती थी।

विदूषकः—यद्येवं, प्रत्यादेश इदानीं रूपवतीनाम्। (जइ एव्वं, पच्चादेसो दाणिं रूववदीणं।)

व्या० एवं श०—प्रत्यादेश - प्रति+आदेश+यण् = निराकारकारिणी। रूपवतीनाम् = सुन्दरियों की।

विदूषक—यदि ऐसा है (तो) अब सभी रूपवती स्त्रियों की निराकृति है अर्थात् शकुन्तला से (उसके लावण्य के कारण) सभी सुन्दरियाँ तिरस्कृत हो गयीं।

राजा—इदं च मे मनसि वर्तते—

राजा—और मेरे मन में यह आता है कि—

आनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररुहै —
रनाविद्धं रत्नं मधु नवमनास्वादितरसम् ।
अखण्डं पुण्यानां फलमिव च तद्रूपमनघं
न जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थास्यति विधिः ।। १० ।।

अन्वय—अनघं तत् रूपम् अनाघ्रातं पुष्पम् , कररुहैः अलूनं किसलयम् , अनाविद्धं रत्नम् , अनास्वादितरसं नवं मधु, पुण्यानां च अखण्डं फलम् इव, विधिः इह कं भोक्तारं समुपस्थास्यति न जाने ।

शब्दार्थ—अनघम् = पापरहित (निष्कलङ्क, निर्दोष) । तत् रूपम् = उस (शकुन्तला) का सौन्दर्य (रूप) । अनाघ्रातम् = न सूँघा गया । पुष्पम् = फूल । कररुहैः = नाखूनों से । अलूनम् = अछिन्न (अक्षुण्ण) । किसलयम् = नव (कोमल) पल्लव । अनाविद्धम् = न बिंधा हुआ (अक्षत) । रत्नम् = रत्न । अनास्वादितरसम् = जिसके रस का नहीं आस्वादन किया गया है ऐसा । नवम् = नया । मधु = मधु (शहद) । पुण्यानाम् च = और पुण्यों (अच्छे कार्यों) के । अखण्डम् = अखण्ड (अक्षत सम्पूर्ण) । फलम् इव = फल की भाँति । विधिः = विधाता । इह = यहाँ, इस (शकुन्तला) के लिये । कं = किस । भोक्तारम् = भोक्ता को । समुपस्थास्यति = उपस्थित करेगा, बनायेगा । न जाने = नहीं जानता ।

अनुवाद—उस (शकुन्तला) का निष्कलंक सौन्दर्य (रूप) (किसी के भी द्वारा) न सूँघा गया फूल है, नाखूनों से अछिन्न नवपल्लव है, न बिंधा हुआ (अक्षत) रत्न है, जिसके रस को नहीं चखा गया है ऐसा नया (ताजा) मधु है और पुण्यों के (अक्षत सम्पूर्ण) फल के समान है । विधाता यहाँ किस भोक्ता को उपस्थित करेगा (अर्थात् किसको उसका उपभोक्ता बनायेगा)–मै (यह) नहीं जान पा रहा हूँ ।

संस्कृत व्याख्या—अनघम् – निष्कलङ्कम् , **तत् रूपम्** – शकुन्तलायाः सौन्दर्यम्, **अनाघ्रातम्** – केनापि न घ्रातम् , **पुष्पम्** – कुसुमम् , **कररुहैः** – नखैः, **अलूनम्** – अछिन्नम्, **किसलयम्** – नवपल्लवम् , **अनाविद्धम्** – अतुत्कीर्णम् , **रत्नम्** – मणिः, **अनास्वादितरसम्** – अनास्वादितः अनुपभुक्तः रसो माधुर्यं यस्य तत् , **नवम्** – नूतनम् , **मधु** – क्षौद्रम् , **पुण्यानाम्** – सुकृतानाम् , **अखण्डम्** – सम्पूर्णम् , **फलम् इव** – परिणामः इव, **विधिः** – विधाता, **इह** – अत्र, शकुन्तलारूपस्य भोगविषये इत्यर्थः, **कं भोक्तारम्** – कम् उपभोगकर्तारम्, **समुपस्थास्यति** – आनयिष्यति (समुपस्थापयिष्यति), **न जाने** – न वेद्मि, न तर्कयामि ।

संस्कृत-सरलार्थः—विदूषकस्य 'यद्येवं, प्रत्यादेश इदानीं रूपवतीनाम्' इति कथनं समर्थयन् राजा शकुन्तलाऽलौकिकसौन्दर्यविषय इत्थं वदति यत् शकुन्तलाया निर्दोषं रुपं तथैव विद्यते यथाऽनाघ्रातं कुसुमम् , नखैरच्छिन्नं नवपल्लवम् , अक्षतं रत्नम् , अगृहीतास्वादं नूतनं मधु वर्तते । सुकृतानां सम्पूर्णं फलमिव च तत् (रूपं) ब्रह्मा संसारे कमुपभोगकर्त्तारमुपनेष्यतीति न जाने । विशाले लोकेऽस्मिन् कः सौभाग्यशाली जन एतादृशस्याप्रतिमरूपस्योपभोक्ता भविष्यतित्वज्ञातमेव ।

व्याकरण—अनघम् – नास्ति अघं यस्मिन् तत् (न०बहु०) । **अनाघ्रातम्** – न घ्रातम् अनाघ्रातम् (न०त०) आ+घ्रा+क्त । **अलूनम्** – न लूनम् अलूनम् (न०त०) । **अनाविद्धम्** – न

आविद्धम् अनाविद्धम् आ+व्यध+क्त। **अनास्वादितरसम्** – न आस्वादितो रसो यस्य तत् अनास्वादितरसम् (न०बहु०) आ+स्वाद+णिच् कर्मणि क्त। **अखण्डम्** – नास्ति खण्डो यस्य तत् (न०बहु०)। **समुपस्थास्यति** – सम्+उप+स्था+लृट् प्र०पु०ए०व०। यहाँ 'स्था' धातु अन्तर्भावितण्यर्थ है, अतः यहाँ णिच् का अर्थ लिया जायेगा।

कोष—यस्य व्यसनयोरघम् इति त्रिकाण्डशेषः। 'रसो गन्धरसे स्वादे तिक्तादौ विषयरागयोः। शृङ्गारादौ द्रवे वीर्ये देहधात्वम्बुपारदे- –' इति विश्वः। मधु पुष्परसे क्षौद्रे मद्ये ना तु मधु द्रुमे। वसन्त दैत्यभिच्चैत्रे स्याज्जीवन्त्यां योषितः। – इति मेदिनी।

अलङ्कार—(१) यहाँ शकुन्तला के रूप की उपमा अनाघ्रात पुष्प (अनाघ्रातं पुष्पमिव), अलून किसलय (अलूनं किसलयमिव), अनाविद्धरत्न (अनाविद्धं रत्नमिव), नवमधु (अनास्वादितरसं नवं मधुं इव) तथा पुण्यों के अखण्ड फल (पुण्यानामखण्डं फलमिव) से की गयी है। 'इव' शब्द का सबके साथ संयोग होने के कई उपमाओं के कारण **मालोपमा** नामक अलङ्कार है। मालोपमा का लक्षण है—'मालोपमा यदेकस्योपमानं बहु दृश्यते'। (२) उक्त सभी विशेषणों के साभिप्राय होने से **परिकर** अलङ्कार है। लक्षण द्रष्टव्य प्र०अं० श्लोक २६।

छन्द—इस पद्य में **शिखरिणी** छन्द है। लक्षण द्रष्टव्य प्र०अं श्लोक ९।

टिप्पणी—(१) इस श्लोक में **शोभा** नामक नायिका **अलङ्कार** है। दशरूपक में शोभा का लक्षण है—'रूपयौवनलालित्यभोगाद्यैरङ्गभूषणम्। शोभा प्रोक्ता'। दशरूपककार ने इस श्लोक को उदाहरण के रूप में उद्धृत किया है। (२) यहाँ शकुन्तला के गुणों का कीर्तन होने के कारण '**गुणकीर्तन**' नामक नाटकीय लक्षण है। सा०द० में उसका लक्षण यह दिया गया है—'गुणानां कीर्तनं यत्तु तदेव गुणकीर्तनम्'। (३) **न जाने भोक्तारम्** – सुन्दर स्त्री की प्राप्ति भाग्यवान् को ही होती है – 'अधरमधुवधूनां भाग्यवन्तः पिबन्ति'।

विशेष—इस श्लोक में अनेक औपम्य-विधान के द्वारा शकुन्तला के अतिपावन, हृद्य लावण्यातिशय का द्योतन होता है। अखण्डपुण्यफल (अखण्डं पुण्यानां फलमिव च तद्रूपमनघम्) को छोड़कर अन्य सभी मूर्त प्राकृतिक उपमान-पुष्प, किसलय, रत्न, मधु आदि प्रकृतिकन्या शकुन्तला के प्राकृतिक (नैसर्गिक) सौन्दर्य की अभिव्यञ्जना के लिये प्रयुक्त हैं। इन उपमानों के क्रमशः 'अनाघ्रात', 'अलून', 'अनाविद्ध', 'अनास्वादितरस' – ये विशेषण क्रमशः शकुन्तला-लावण्य की आकर्षकता (मनोहरता), नितान्त कोमलता, पावनता (निकलङ्कता-निर्दोषता), सरसता-परिभोगयोग्यता आदि अप्रतिम विशेषताओं की अभिव्यञ्जना कराते हैं।

विदूषकः—तेन हि लघु परित्रायतामेनां भवान्। मा कस्यापि तपस्विन इङ्गुदीतैलचिक्कणशीर्षस्य हस्ते पतिष्यति। (तेण हि लहु परित्ताअदु णं भवं। मा कस्स वि तवस्सिणो इंगुदीतेल्लचिक्कणसीसस्स हत्थे पडिस्सदि।)

व्या० एवं श०—लघु – शीघ्र। परित्रायताम् – परि+त्रै+लोट्+प्र०पु०ए०व० = बचाइये। इङ्गुदीतैलचिक्कणशीर्षस्य – इंङ्गुदीनां तैलेन चिक्कणं मसृणं शीर्षं मस्तकं यस्य तस्य = इङ्गुली के तेल लगाने से चिकने शिरवाले (तपस्वी) के। हस्ते = हाथ में। 'लघु क्षिप्रमरं द्रुतम्' इत्यमरः।

विदूषक—तब आप इसको शीघ्र बचाइए। (जिससे यह) इङ्गुदी के तेल से चिकने शिर वाले किसी तपस्वी के हाथ में न पड़ जाय। अर्थात् अपात्र के हाथ में जाने के पूर्व उसे अपना लो।

राजा—परवती खलु तत्रभवती । न च सन्निहितोऽत्र गुरुजनः ।

शब्दार्थ—सन्निहितोऽत्र – सन्+नि+धा+क्त = समीपस्थ (विद्यमान)।

राजा—निश्चय ही वह (शकुन्तला) पराधीन है। और उसके पिता (कण्व) यहाँ (आश्रम में) विद्यमान नहीं हैं।

विदूषकः—अथ भवन्तमन्तरेण कीदृशस्तस्या दृष्टिरागः ? (अध भवन्तं अन्तरेण कीदिसो से दिट्ठिराओ ?)

व्या० एवं श०—भवन्तमन्तरेण = आपके विषय में। यहाँ 'अन्तरेण' के निषेधार्थक न होने पर भी 'अन्तरान्तरेण युक्ते से द्वितीया हुयी है।

विदूषक—अच्छा, आप के प्रति उसकी प्रेम-दृष्टि कैसी है ?

राजा—निसर्गादिवाप्रगल्भस्तपस्विकन्याजनः । तथापि तु—

राजा—तपस्विकन्यायें स्वभाव से ही अप्रगल्भ (भोली-भाली) होती हैं। तो भी—

अभिमुखे मयि संहृतमीक्षितं हसितमन्यनिमित्तकृतोदयम् ।
विनयवारितवृत्तिरतस्तया न विवृतो मदनो न च संवृतः ।। ११ ।।

अन्वय—मयि अभिमुखे ईक्षितं संहृतम् अन्यनिमित्तकृतोदयं हसितम् , अतः तया विनयवारितवृत्तिः मदनः न विवृतः न च संवृतः।

शब्दार्थ—मयि = मेरे। अभिमुखे = सामने पड़ने पर (सामने देखने पर)। ईक्षितम् = दृष्टि। संहृतम् = हटा लेती थी (नीचे कर लेती थी)। अन्यनिमित्तकृतोदयम् = दूसरे किसी कारण को लेकर। हसितम् = हँस देती थी। अतः = इसलिये। तया = उसके द्वारा। विनयवारितवृत्तिः = विनय (शील) के द्वारा रोक दिया गया है व्यापार (चेष्टा) जिसका ऐसा, विनय (शील) के द्वारा अवरुद्ध व्यापार (चेष्टा) वाला। मदनः = कामभाव (प्रेमभाव)। न विवृतः = न प्रकट किया गया। न च संवृतः = और न छिपाया गया।

अनुवाद—मेरे सामने पड़ने पर (वह अपनी) दृष्टि हटा लेती थी (अर्थात् वह आँखों को नीचे कर लेती थी), किसी अन्य कारण को लेकर हँस देती थी (हँस पड़ती थी) इसलिये उस के द्वारा विनय (शील) के द्वारा व्यापार (चेष्टा) विहीन (अपने) (प्रेमभाव) को न प्रकट किया गया और न ही छिपाया गया।

संस्कृत व्याख्या—मयि – दुष्यन्ते, **अभिमुखे** – सम्मुखं संस्थिते, **ईक्षितं** – लोचनम् , **संहृतम्** – अन्यतः कृतम् , **अन्यनिमित्तकृतोदयं** – कारणान्तरव्याजेन, **हसितम्** – हास्यं कृतम् , **अतः** – अस्मात् कारणात् , **तया** – शकुन्तलया, **नियवारितवृत्तिः** – लज्जावरुद्धप्रसरः, **मदनं** – कामः (प्रेमभावः), **न विवृतः** – न प्रकाशितः, **न च संवृतः** – न च गोपितः।

संस्कृत-सरलार्थः—राजाऽत्मानम्प्रति शकुन्तलायाश्चेष्टादिकं विदूषकं वर्णयन् कथयति – 'यत् तपस्विकन्यात्वेनाप्रगल्भत्वापन्नेऽपि तया शकुन्तलया मयि सम्मुखमवलोकयति सति स्वीयं लोचनमन्यथाकृतम् कथान्तरव्याजेन हसितम् , अतो शालीनतया लज्जावरुद्धप्रसरः कामभावस्तया न प्रकटीकृतो न वा गोपितः।

व्याकरण—अन्यनिमित्तकृतोदयम् – अन्येन निमित्तेन कृतः उदयः यस्य तत् (बहु०)। विनयवारितवृत्तिः विनयेन वारिता वृत्तिः यस्य सः (बहु०)। संहृतम् – सम्+हृ+क्त। अभिमुखे –

अभिगतं मुखं यस्य तस्मिन् (ब०व्री०)।

अलङ्कार—(१) 'न विवृतो मदनो न च संवृतः' में '**विरोधाभास**' अलङ्कार है क्योंकि प्रकट करना (विवृतः) छिपाना (संवृतः) दो विरुद्ध धर्मों का एकत्र समावेश है। विरोधाभास का लक्षण है—'श्लेषादिभूर्विरोधश्चेद् विरोधाभासता मता। (२) यहाँ श्लोक के पूर्वार्ध में प्रतिपादित दो अर्थों – 'अभिमुखे-- ईक्षितम्' तथा 'हसितमन्यनिमित्तकृतोदयम्' का उसी क्रम में 'न विवृतो मदनो न च संवृतः' उत्तरार्ध में समन्वय किया गया है अतः '**यथासंख्य**', अलङ्कार है।

लक्षण—'आवृत्तवर्णं' सम्पूर्णं वृत्यनुप्रासवद्वचः – चन्द्रा०।

छन्द—श्लोक में '**द्रुतविलम्बित**' छन्द है। लक्षण है—'द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ' अर्थात् जिस पद्य के प्रत्येक चरण में नगण (।।।), भगण (ऽ।।), भगण (ऽ।।) तथा रगण (ऽ।ऽ) होते हैं वहाँ '**द्रुतविलम्बित**' होता है। उक्त पद में यह लक्षण पूर्णतः घटित होता है।

विशेष—यहाँ शकुन्तला का अपनी दृष्टि हटाने से उसकी 'श्रृङ्गारलज्जा' तथा 'हसितमन्य–से उसका उत्तम नायिकात्व एवं अनुराग ध्वनित होता है। इसी में चित्तज विकार 'हेला', गात्रज विकार 'मोट्टायित' का प्रकाशन है।

विदूषकः—न खलु दृष्टमात्रस्य तवाङ्कं समारोहति। (ण क्खु दिट्ठ मेत्तस्स तुह अंकं समारोहदि।)

विदूषक—तो (क्या) देखते हो तुम्हारी गोद में नहीं बैठ जाती ?

राजा—मिथः प्रस्थाने पुनः शालीनतयाऽपि काममविष्कृतो भावस्तत्रभवत्या। तथा हि—

राजा—(सखियों के) साथ प्रस्थान करते समय उस (शकुन्तला) के द्वारा शालीनता से भी (मेरे प्रति) भली-भाँति प्रेम-भाव प्रकट (आविष्कृत) कर दिया गया। क्योंकि—

दर्भाङ्कुरेण चरणः क्षत इत्यकाण्डे
तन्वी स्थिता कतिचिदेव पदानि गत्वा।
आसीद् विवृत्तवदना च विमोचयन्ती
शाखासु वल्कलमसक्तमपि द्रुमाणाम् ।। १२ ।।

अन्वय—(सा) तन्वी कतिचित् एव पदानि गत्वा अकाण्डे दर्भाङ्कुरेण चरणः क्षतः इति स्थिता, द्रुमाणां शाखासु च असक्तम् अपि वल्कलं विमोचयन्ती विवृत्तवदना आसीत्।

शब्दार्थ—तन्वी = कृशाङ्गी (पतले शरीर वाली)। कतिचित् एव = कुछ ही। पदानि = पग। गत्वा = जाकर (चलकर)। अकाण्डे = अवसर न होने पर (अकारण)। दर्भाङ्कुरेण = कुश के अङ्कुर (नोंक) से। चरणः = पैर। क्षतः = घायल हो गया (है)। इति = यह (कहकर)। स्थिता = रुक गयी। च = और। द्रुमाणाम् = वृक्षों की। शाखासु = शाखाओं (डालियों) में। असक्तम् = असंलग्न (न फँसे हुये)। अपि = भी। वल्कलम् = वल्कलवस्त्र को। विमोचयन्ती = छुड़ाती हुई। विवृत्तवदना = (पीछे की ओर) मुख घुमा कर (मेरी ओर मुख कर स्थित)। आसीत् = थी (हो गयी थी)।

अनुवाद—(वह) कृशाङ्गी (पतले शरीर वाली) (शकुन्तला) कुछ ही पग चलकर अकारण (अवसर न होने पर) भी 'कुश के अङ्कुर (नोक) से (मेरा) पैर क्षत (घायल) हो गया है'– यह कहकर खड़ी हो गयी (रुक गयी) और वृक्षों की शाखाओं (टहनियों) में न फँसे हुये भी

वल्कल वस्त्र को छुड़ाती हुई (मेरी ओर) मुँह घुमाकर खड़ी हो गयी।

संस्कृत व्याख्या—तन्वी – कृशाङ्गी सा शकुन्तला, **कतिचित् एव** – कतिपयान्येव, **पदानि** – चरणानि, **गत्वा** – चलित्वा, **अकाण्डे** – अनवसरे, **दर्भाङ्कुरेण** – कुशाग्रसूचिकया, **चरणः** – पादः, **क्षतः** – विद्धः, **इति** – इत्युक्त्वा, **स्थिता** – मामवलोकयितुमवस्थिता; **द्रुमणाम्** – तरूणाम् , **शाखासु** – स्कन्धेषु, **असक्तम् अपि** – अलग्नम् अपि, **वल्कलम्** – वल्कलवसनम् , **विमोचयन्ती** – शाखामुक्तं कुर्वती, **विवृत्तवदना** – परावृत्तानना, **आसीत्** – अभूत् ।

संस्कृत-सरलार्थः—स्वम्प्रति शकुन्तलाऽऽसक्तिं मनसि निधाय राजा कथयति विदूषकं यत् 'सा कृशाङ्गी शकुन्तला निजप्रेमभावं व्याजेन दर्शयन्ती कानिचिदेव पदानि गत्वा सहसैव 'कुशाग्रभागेन मे चरणः क्षतः' इत्युक्त्वा तत्क्षणं रुद्धा (विलम्बितगमना) जाता। अथ च तरुशाखास्वसक्तमपि वल्कलवस्त्रं विमोचयन्ती मां विलोकयितुं पराङ्मुखी चाभवदिति। अनेन विधिना शकुन्तलया मद्विषयकोऽनुरागः प्रकारान्तरेण प्रकाशित एव।

व्याकरण—विवृत्तवदना – विवृत्तं पराङ्मुखं वदनं आननं यस्याः सा (बहु०)। **विमोचयन्ती** – वि+मुच्+शतृ+णिच्+ङीप् ।

कोष—'वक्त्रास्ये वदनं तुण्डम्'– इत्यमरः। 'द्रुमस्तु पादपे पारिजाते किंपुरुषेश्वरः'– इति हैमः। 'काण्डं चावसरे बाणे' इति धरणिः।

अलङ्कार—(१) 'असक्तमपि विमोचयन्ती' में **विरोधाभास** अलङ्कार है। लक्षण द्रष्टव्य द्वि०अं० श्लोक ११। (२) चरणक्षति (दर्भाङ्कुरेण चरणः क्षतः) तथा शाखाओं में असंलग्न भी वल्कल को छुड़ाने (असक्तमपि वल्कलं...विमोचयन्ती) के व्याज से नायिका शकुन्तला का नायक (दुष्यन्त) को देखने के लिये रुक जाना तथा उसके वदनविवर्त्तन को छिपाने के कारण '**व्याजोक्ति**' अलङ्कार है। **लक्षण** – 'व्याजोक्तिश्च्छद्मनोद्भिर्वस्तुरुपनिगूहनम्' (३) कुछ टीकाकार यहाँ 'हेतु' और कुछ मुग्धा नायिका के स्वाभाविक वर्णन होने के कारण यहाँ '**स्वाभावोक्ति**' अलङ्कार मानते है।

छन्द—यहाँ '**वसन्ततिलका**' छन्द है। लक्षण द्रष्टव्य प्र०अं०श्लो० ८।

टिप्पणी—इस श्लोक में दुष्यन्त को देखने के लिये शकुन्तला द्वारा चरण-क्षति आदि के बहाने बनाकर रुकना आदि दुष्यन्त के प्रति उसके अनुराग का प्रख्यापक है। इसमें मुग्धा नायिका स्वरूप शकुन्तला की चेष्टाओं का भी अति चारु वर्णन है।

विदूषकः—तेन हि गृहीतपाथेयो भव। कृतं त्वयोपवनं तपोवनमिति पश्यामि। (तेण हि गहीदपाहेओ होहि। किदं तुए उववणं तवोवणं त्ति पेक्खमि।)

विदूषक—तब तो आप पाथेय (मार्ग का भोजन इत्यादि) ग्रहण कीजिए (और प्रेम पथ के पथिक बन जाइए)। 'आपके द्वारा तपोवन क्रीड़ा-वाटिका कर दिया गया है–यह मैं देख रहा हूँ।'

राजा—सखे, तपस्विभिः कैश्चित् परिज्ञातोऽस्मि। चिन्तय तावत् केनापदेशेन पुनराश्रमपदं गच्छामः ?

व्या०एवं श०—परिज्ञातः – परि+ज्ञ+क्त = जान (पहचान) किया गया। **अपदेशेन** – व्याजेन = बहाने से।

राजा—मित्र, कुछ तपस्वियों के द्वारा मैं पहचान लिया गया हूँ। तो सोचो कि किस बहाने से फिर आश्रम में चला जाय ?

विदूषकः—**कोऽपरोऽपदेशो युष्माकं राज्ञाम् । नीवारषष्ठभाग-मस्माकमुपहरन्त्विति ।** (को अवरो अवदेसो तुम्हाणं राआणं । णीवारच्छट्ठभाअं अम्हाणं उवहरन्तु त्ति ।)

विदूषक—आप (जैसे) राजाओं के लिये दूसरा क्या बहाना चाहिये । (आप जाकर इस प्रकार कहें कि तपस्वी लोग) हमें नीवार (जङ्गली धान) का छठा भाग (कर के रूप में) दें ।

राजा—**मूर्ख, अन्यमेव भागधेयमेते तपस्विनो निर्वपन्ति, यो रत्नराशीनपि विहायाभिनन्द्यते । पश्य**—

व्या० एवं श०—भागधेयम् = कर (टैक्स) (भागधेय: करो बलि: इत्यमर:), निर्वपन्ति = कर के रूप में, अभिनन्द्यते – अभि+नन्द+ण्यत् प्र०पु०ए०व० = सत्कार पूर्वक स्वीकार की जाती है ।

राजा—मूर्ख, ये तपस्वी लोग दूसरी ही वस्तु कर के रूप में देते हैं, जो रत्नों की राशि (ढेर) को छोड़कर भी सहर्ष स्वीकार (अभिनन्दन) की जाती है । देखो—

यदुत्तिष्ठति वर्णेभ्यो नृपाणां क्षयि तद् धनम् ।
तपःषड्भागमक्षय्यं ददत्यारण्यका हि नः ।। १३ ।।

अन्वय—नृपाणां वर्णेभ्य: यत् धनम् उत्तिष्ठति तत् क्षयि, आरण्यका: न: हि अक्षय्यं तप:षड्भागं ददति ।

शब्दार्थ—नृपाणाम् = राजाओं को (का) । वर्णेभ्य: = (चारों) वर्णों से । यत् = जो । धनम् = धन । उत्तिष्ठति = प्राप्त होता है । तत् = वह । क्षयि = नश्वर (है) । आरण्यका: = जङ्गल के निवासी (तपस्वी लोग) । न: = हम लोगों को । हि = निश्चय ही । अक्षय्यम् = अनश्वर । तप: = तपस्या के । षड्भागं = षष्ठांश को (छठे भाग को) । ददति = देते हैं ।

अनुवाद—राजाओं को (ब्राह्मणादि चारों) वर्णों से जो धन (कर के रूप में) प्राप्त होता है, वह नश्वर है (नष्ट हो जाता है) । (किन्तु) तपस्वी लोग हम लोगों को निश्चय ही तपस्या के छठे भाग को देते हैं, जो कभी नष्ट नहीं होता ।

संस्कृत व्याख्या—**नृपाणाम्** – राज्ञाम् , **वर्णेभ्यः** – ब्राह्मणादिभ्य:, **यत् धनम्** – यत् द्रव्यम् , **उत्तिष्ठति** – कररूपेण लभ्यते, **तत्** – धनम् , **क्षयि** – नश्वरम् , **आरण्यकाः** – अरण्यवासिन (तपस्विन:), **नः** –अस्मभ्यम् , **हि** – निश्चये, **अक्षय्यम्** – अनश्वरम् , **तपः षड्भागम्** – तपस्याषष्ठांशम् (स्वस्वसञ्चिततपस: षष्ठांशम्), **ददति** – समर्पयन्ति ।

संस्कृत-सरलार्थः—विदूषकस्य 'नीवारषष्ठभागमस्माकमुपहरन्त्विति' – इति वचनमाकर्ण्य राजा वदति – 'मूर्ख ! राज्ञा अन्यवर्णेभ्यो यद् द्रव्यं कररूपेण प्राप्यते तत्त्वस्थायि भवति, परन्तु तपस्विभि: कररूपेणार्पितं तप: षष्ठात्मकं (धनम्) चिरस्थायि भवतीत्यर्थ: । अतो नीवारषष्ठांशग्रहणं कररूपेणाहितकरमेव ।

व्याकरण—नृपाणाम् – नृन् पाति नृप: (नृ+पा(रक्षणे)+क्त प्रत्यय **'आतोऽनुपसर्गे'** सूत्र से) तेषाम् । क्षयि – क्षय्+इति । आरण्यका: – अरण्ये भवा: इस अर्थ में 'अरण्यान्मनुष्ये' सूत्र से अण् – प्र०ब०व० ।

कोष—'वर्णा:स्युर्ब्राह्मणादय:'– इत्यमर: ।

अलङ्कार—(१) इस श्लोक में कर के रूप में प्राप्त साधारण धन की अपेक्षा मुनिप्रदत्त तप:षड्भाग रूप धन के आधिक्य का वर्णन होने **'व्यतिरेक'** अलङ्कार है । लक्षण द्रष्टव्य

प्र०अं०श्लोक २३।

छन्द—श्लोक **'अनष्टुप्'** छन्द में विरचित है। लक्षण प्र०अं०श्लोक ५।

टिप्पणी—इस श्लोक का अभिप्राय यह है कि मुनिजनों के अतिरिक्त अन्य लोग जो अपनी आमदनी का छठाँ भाग राजा को 'कर' के रूप देते हैं वह धन तो विनश्वर होता है। इसके विपरीत तपस्वियों की रक्षा के बदले राजा को उनकी तपस्या का छठाँ भाग कर के रूप में अप्रत्यक्ष रूप से प्राप्त होता है वह कभी नष्ट नहीं होता। धर्मशास्त्र में कहा गया है कि मुनिजनों के अध्ययन, यजन, दान, अर्चन आदि का छठाँ भाग राजा को प्राप्त होता है—

यदधीयते यदजते यद्ददाति यदर्चति। तस्य षड्भागभाग् राजा सम्यग् भवति रक्षणे।

विशेष—(१) प्राचीन काल में मुनिजनों से भौतिक कर नहीं लिया जाता था। (२) इस श्लोक के पूर्व राजा के **'चिन्तय'** इस कथन से श्लोक तक **'विलास'** नामक प्रतिमुख सन्धि का अङ्ग है। उसका लक्षण है- 'विलासः संगमार्थस्तु व्यापारः परिकीर्तितः'।

(नेपथ्ये) **हन्त, सिद्धार्थौ स्वः।**

व्या०एवं श०— सिद्धार्थौ - सिद्धः अर्थः ययोस्तौ = कृतार्थ। स्वः = अस्+उ०प्र०द्वि०व० = भवावः हो गये (हम दोनों)।

(नेपथ्य में) ओह, हम कृतार्थ हो गये।

राजा—(कर्णं दत्त्वा) **अये, धीरप्रशान्तस्वरैस्तपस्विभिर्भवितव्यम्।**

व्या०एवं श०—अये - सम्भ्रमे = ओह। धीरप्रशान्तस्वरैः - धीरा गम्भीराः प्रशान्ताः स्थिराश्च स्वराः कण्ठध्वनयस्तैरुपलक्षितैः = गम्भीर एवं प्रशान्त स्वर वाले।

राजा—(कान लगाकर) अरे, गम्भीर और शान्त स्वर वाले तपस्वियों को होना चाहिये (अर्थात् गम्भीर और शान्त स्वर से ज्ञात होता है कि ये तपस्वी हैं)।

(प्रविश्य) **दौवारिकः—जयतु जयतु भर्त्ता। एतौ द्वौ ऋषिकुमारौ प्रतीहारभूमिमुपस्थितौ।** (जेदु जेदु भट्टा। एते दुवे इसिकुमारआ पडिहारभूमिं उवट्ठिदा।)

शब्दार्थ—प्रतिहारभूमिम् - प्रतिहारस्य भूमिम् = द्वारप्रदेश।

(प्रवेश करके) **द्वारपाल**—जय हो, महाराज की जय हो। ये दो ऋषिकुमार द्वार पर उपस्थित हैं।

राजा—तेन ह्यविलम्बितं प्रवेशय तौ।

राजा—तो अविलम्ब उनको प्रवेश कराओ। (अर्थात् शीघ्र उन्हें लिवा आओ)।

दौवारिकः—एष प्रवेशयामि। (इति निष्क्रम्य, ऋषिकुमाराभ्यां सह प्रविश्य) **इत इतो भवन्तौ।** (एसो पवेसेमि। इदो इदो भवन्ता।)

द्वारपाल—अभी प्रवेश कराता हूँ। (निकलकर और ऋषिकुमारों के साथ प्रवेश करके) इधर से, इधर से आप लोग (आवें)।

टिप्पणी—प्रतिहारभूमिम् - प्रतिह्रियन्ते राजसकाशं नीयन्ते जना अस्मात् इति प्रतिहारः (प्रति+ह्र+घञ्), तस्य भूमिम् अर्थात् जिसके द्वारा राजा के समीप लोगों को ले जाया जाता है उसे प्रतिहार कहते हैं उसकी भूमि अर्थात् द्वार देश।

(उभौ राजानं विलोकयतः)

(दोनों राजा को देखते हैं)।

प्रथमः—अहो, दीप्तिमतोऽपि विश्वसनीयताऽस्य वपुषः। अथवोपपन्नमेतदस्मिन् ऋषिभ्यो नातिभिन्ने राजनि। कुतः—

प्रथम—अहो, इसके (राजा के) कान्तिमान (तेजस्वी) शरीर की विश्वसनीयता! अर्थात् तेजस्वी होने पर भी इसका शरीर विश्वास उत्पन्न कर रहा है। अथवा ऋषियों के तुल्य इस राजा के विषय में यह उचित है। क्योंकि—

अध्याक्रान्ता वसतिरमुनाऽप्याश्रमे सर्वभोग्ये
रक्षायोगादयमपि तपः प्रत्यहं सञ्चिनोति।
अस्यापि द्यां स्पृशति वशिनश्चारणद्वन्द्वगीतः
पुण्यः शब्दो मुनिरिति मुहुः केवलं राजपूर्वः॥ १४॥

अन्वय—अमुना अपि सर्वभोग्ये आश्रमे वसतिः अध्याक्रान्ता, रक्षायोगात् अयम् अपि प्रत्यहं तपः सञ्चिनोति वशिनः अस्य अपि केवलं राजपूर्वः पुण्यः मुनिः इति शब्दः चारणद्वन्द्वगीतः मुहुः द्यां स्पृशति।

शब्दार्थ—अमुना = इसके द्वारा। अपि = भी। सर्वभोग्ये = सभी के द्वारा उपभोग करने (आश्रय लेने) के योग्य। आश्रमे = आश्रम में। वसतिः = निवास। अध्याक्रान्ता = स्वीकार किया गया है। रक्षायोगात् = रक्षा कार्य करने से। अयम् = यह। अपि = भी। प्रत्यहम् = प्रतिदिन। तपः = तपस्या को। सञ्चिनोति = सञ्चित करता है। वशिनः = इन्द्रियों को वश में रखने वाले (जितेन्द्रिय)। अस्य = इसका। अपि = भी। केवलम् = केवल। राजपूर्वः = 'राज' शब्द पूर्व में है जिसके ऐसा, राजपूर्वक। पुण्यः = पवित्र। मुनिः = मुनि (ऋषि)। इति = यह। शब्दः = शब्द। चारणद्वन्द्वगीत = चारणयुगल के द्वारा गाया जाता हुआ। मुहुः = बार-बार। द्याम् = स्वर्ग को। स्पृशति = स्पर्श करता है।

अनुवाद—इन (राजा) के द्वारा भी सभी के द्वारा आश्रयणीय (गृहस्थ) आश्रम में निवास स्वीकार किया गया है। (प्रजा की) रक्षा करने से यह (राजा) भी प्रतिदिन तपस्या का सञ्चय करता है। जितेन्द्रिय इस (राजा) का भी केवल राजपूर्वक (अर्थात् राज शब्द पूर्व में है जिसके ऐसा) पवित्र ऋषि (राजर्षि) – यह शब्द चारणयुगल के द्वारा गाया जाता हुआ बार-बार स्वर्ग का स्पर्श करता है अर्थात् स्वर्ग में व्याप्त हो जाता है।

संस्कृत व्याख्या—अमुना अपि – अनेन दुष्यन्तेनापि, सर्वभोग्ये **(राजपक्षे)** – सर्वैः आश्रयणीये, **(मुनिपक्षे)** – सर्वैः छात्रैः आश्रयणीये, आश्रमे – राजपक्षे – गृहस्थाश्रमे, **(मुनिपक्षे)** तपोवने (संन्यासाश्रमे), वसतिः स्थितिः (निवासः), अध्याक्रान्ता – अधिकृता, रक्षायोगात् – **(राजपक्षे)** प्रजारक्षणरूपयोगानुष्ठानात् **(मुनिपक्षे)** धर्मरक्षार्थम् अष्टाङ्गयोगानुष्ठानात्, अयमपि – असौ-अपि, प्रत्यहम् – प्रतिदिनम् , तपः सञ्चिनोति – (राजपक्षे) पुण्यसञ्चयं करोति, (मुनिपक्षे) तपस्यां करोति, वशिनः (उभयपक्षे) जितेन्द्रियस्य अस्यापि – राज्ञः केवलं राजपूर्वः – केवलं राजशब्दयुक्तः पुण्य; पवित्रः, मुनिः इति शब्दः (राजपक्षे) राजर्षिशब्दः (मुनिपक्षे) मुनिशब्दः, चारणद्वन्द्वगीतः – चारणद्वयगीतः, मुहुः – भूयोभूयः, द्याम् – स्वर्गम् स्पृशति – प्रविशति

(व्याप्नोति)।

संस्कृत-सरलार्थः—प्रथमो ऋषिकुमारो राज्ञो राजर्षिस्वरूपं वर्णयन् कथयति – 'यथा कश्चिन्मुनिः सर्वजनाश्रयभूते तपोवने निवसति, तथैवायं राजाऽपि सर्वभोगास्पदे गृहस्थाश्रमे तिष्ठति, प्रजारक्षणादयमपि तथैव पुण्यमर्जयति, यथा कोऽपि मुनिः शरीररक्षणार्थमाङ्गिकयोगा- भ्यासात् प्रत्यहं तपः सञ्चयं विधत्ते, यथा च वटुजनादिभिर्गीयमानो 'मुनिरिति' पुण्यः शब्दः स्वर्गं याति तथैव संयमिनो राज्ञो दुष्यन्तस्यापि केवलं राजपूर्वो मुनिरिति पुण्यः शब्दश्चारणयुगलगीयमानः स्वर्गं स्पृशति। अतो राज्ञः स्थितिर्मुनिसमानैव न तु तद् भिन्नाऽस्ति।

व्याकरण—अध्याक्रान्ता – अधि+आ+क्रम+क्त+टाप्। **वसतिः** – वस्+अति। **सर्वभोग्ये** – सर्वैः भोग्ये (भोग+ण्यत्)। **रक्षायोगात्** – रक्षायाः योगः तस्मात् (ष०त०)। **चारणद्वन्द्वगीतः** – चारणानां द्वन्द्वैः गीतः (तत्पु०)। मुनिः ज्ञानार्थक 'मनुधातोः' मनेरुच्च सूत्रेण इन् प्रत्ययः।

कोष—सुरलोको द्यो-दिवौ द्वे स्त्रियां क्लीबे त्रिविष्टपम् – इत्यमरः। वाचं यमो मुनिः इत्यमरः।

अलङ्कार—(१) इस श्लोक में द्व्यर्थक पदों में **श्लेष** अलङ्कार है। लक्षण द्र०श्लोक द्वि०अं० ७। (२) उपमानभूत मुनि (ऋषि) से उपमेयभूत राजा (केवलं राजपूर्वः...) के आधिक्य वर्णन से **व्यतिरेक** अलङ्कार है। लक्षण द्र०प्र०अं० श्लोक २३।

छन्द—मन्दाक्रान्ता छन्द है। लक्षण द्र०द्वि०अं० श्लोक १५।

टिप्पणी—चारणद्वन्द्वगीत – चारण एक प्राचीन जाति है जिसका मुख्य कार्य राजाओं का यशोगान (प्रशस्तिगान) है—लक्षण – 'किंकिणी वाद्यवेदी च वृतो विकट-नर्तकैः। मर्मज्ञः सर्वरागेषु चतुरश्चारणो मतः॥ **गृहस्थाश्रमः** – गृहस्थाश्रम सभी आश्रमों का आश्रय (सहारा) माना जाता है। मनु ने कहा है—'यथा वायुं 'समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः। तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः॥ (१) इस श्लोक के दो अर्थ हैं--एक **राजा** के पक्ष में और दूसरा **मुनि** (ऋषि) के पक्ष में। **प्रथम पंक्ति** का अर्थ **राजा के पक्ष में**--यह सबके द्वारा आश्रय लेने योग्य गृहस्थ आश्रम में निवास करता है। (२) **मुनि के पक्ष में**--सभी विद्यार्थियों के द्वारा आश्रय लेने के योग्य तपोवन में रहता है। **द्वितीय पंक्ति** – राजा के पक्ष में – प्रजा की रक्षा करने से यह राजा प्रतिदिन तपस्या को इकट्ठा करता है। **मुनि के पक्ष में** – धर्म रक्षा के लिये अष्टाङ्ग योग से तप का संग्रह करता है। **तृतीय एवं चतुर्थ पंक्ति** – राजा के पक्ष में – इस जितेन्द्रिय का केवल राजपूर्वक पवित्र ऋषि (राजर्षि), यह शब्द बार-बार स्वर्ग को स्पर्श करता है। **मुनि के पक्ष में** – इस जितेन्द्रिय का पवित्र मुनि शब्द बार-बार स्वर्ग को स्पर्श करता है।

द्वितीयः—गौतम, अयं सः बलभित्सखो दुष्यन्तः ?

व्या० एवं श०—बलभित्सखः – बलं तत्तामासुरं भिनत्ति विदारयति – इति बलभित् – इन्द्रः तस्य सखा (ष०तत्पु०) 'राजाहः सखिभ्यष्टच्' से टच् = इन्द्र के मित्र।

द्वितीय—गौतम, ये वही इन्द्र के मित्र दुष्यन्त हैं ?

प्रथमः—अथ किम्। और क्या।

द्वितीयः—तेन हि। इसी से तो—

नैतच्चित्रं यदयमुदधिश्यामसीमां धरित्री-
मेकः कृत्स्नां नगरपरिघप्रांशुबाहुर्भुनक्ति ।
आशंसन्ते समितिषु सुरा बद्धवैरा हि दैत्यै-
रस्याधिज्ये धनुषि विजयं पौरुहूते च वज्रे ।। १५ ।।

अन्वय—यत् नगरपरिघप्रांशुबाहुः अयम् एकः उदधिश्यामसीमां कृत्स्नां धरित्रीं भुनक्ति एतत् चित्रं न, हि दैत्यैः बद्धवैराः सुराः समितिषु अस्य अधिज्ये धनुषि पौरुहूते वज्रे च विजयम् आशंसन्ते ।

शब्दार्थ—यत् = जो कि । नगरपरिघप्रांशुबाहुः = नगर द्वार की अर्गला के समान विशाल भुजाओं वाला । अयम् = यह । एकः = अकेला । उदधिश्यामसीमाम् = समुद्ररूप श्याम वर्ण की सीमा वाली (नीले समुद्र से परिवेष्टित) । कृत्स्नाम् = सम्पूर्ण । धरित्रीं = पृथ्वी का । भुनक्ति = पालन करता है । एतत् = यह । चित्रम् = आश्चर्यजनक (आश्चर्य की बात) । न = नहीं (है) । हि = क्योंकि । दैत्यैः = राक्षसों के साथ । बद्धवैराः = जिनका वैर (शत्रुता) बँधा हुआ है ऐसे (सदा वैर रखने वाले) । सुराः = देवता । समितिषु = युद्धों में । अस्य = इसके । अधिज्ये = चढ़ी हुई प्रत्यञ्चा (डोरी) वाले । धनुषि = धनुष पर । च = और । पौरुहूते = इन्द्र के । वज्रे = वज्र पर । विजयम् = विजय की (को) । आशंसन्ते = आशा करते हैं ।

अनुवाद—नगर के द्वार की अर्गला के समान विशाल भुजाओं वाला यह (राजा दुष्यन्त) अकेला (ही) समुद्ररूप श्याम वर्ण की सीमावाली सम्पूर्ण पृथ्वी का पालन करता है—यह आश्चर्य की बात नहीं है । क्योंकि राक्षसों के साथ बँधे (ठने) हुये वैर वाले (शत्रुता रखने वाले) देवता युद्धों में इस (राजा दुष्यन्त) के चढ़ी हुई प्रत्यञ्चा वाले धनुष और इन्द्र के वज्र पर विजय की आशा करते (रखते) हैं । अर्थात् युद्ध में इस राजा के धनुष तथा इन्द्र के वज्र की सहायता से ही अपने विजय की अपेक्षा करते हैं ।

संस्कृत व्याख्या—यत् नगरपरिघप्रांशुबाहुः – यत् पुरद्वारार्गलदीर्घभुजदण्डः, **अयम्** – असौ, **एकः** – एकाकी (एव), **उदधिश्यामसीमाम्** – उदधिरेव श्याम नीलिमा सीमा प्रान्तभागः यस्याः, ताम् सागरपर्यन्तामित्यर्थः, **कृत्स्नां** – पूर्णाम् , **धरित्रीम्** – वसुधाम्, **भुनक्ति** – पालयति, **एतत्** – इदम् , **चित्रम्** – आश्चर्यकरम् , **न** – न अस्ति; **हि** – यतः, **दैत्यैः** – दानवैः, **बद्धवैराः** – बद्धं रूढं वैरं शत्रुता येषां ते, **सुराः** – देवाः, **समितिषु** – युद्धेषुं, **अस्य** – दुष्यन्तस्य, **अधिज्ये** – अधिगतगुणे (मौर्वीयुक्ते), **धनुषि** – कार्मुके, **पौरुहते** – ऐन्द्रे, **वज्रे च** – कुलिशे च, **विजयम्** – जयम् , **आशंसन्ते** – आकाङ्क्षन्ति ।

संस्कृत-सरलार्थः—द्वितीयो ऋषिकुमारो नृपदुष्यन्तस्य प्रभातिशयं दृष्टिगतं विधाय वदति 'नगरद्वारपरिघविशालबाहुर्दुष्यन्तः कस्यचिदन्यस्य साहाय्यं विनैवासमुद्रविस्तृतां समस्तां महीं यत्पालयति तत्र नास्ति किमप्याश्चर्यं, यतों हि राक्षसैः साकं कृतवैरा देवा युद्धेषु राज्ञोऽस्य समारोपितगुणे धनुषि, सुरेन्द्रस्य वज्रे च विजयं कामयन्ते । असुरैः सह बद्धवैरा देवाः स्वविजयायेन्द्रवज्रस्य तथाऽस्य राज्ञो धनुषश्च साहाय्यमपेक्षन्ते । देवतानां साहाय्य इन्द्र इवायं राजा समर्थ इति भावः ।

व्याकरण—नगरपरिघप्रांशुबाहुः – नगरस्य (लक्षणया नगरद्वारस्य) परिघ इव प्रांशू बाहू यस्य (तत्पु०,बहु०) । उदधिश्यामसीमाम् – उदधिः श्याम सीमा यस्याः ताम् (बहु०) । बद्धवैराः – बद्धं वैरं येषां ते (बहु०) । भुनक्ति – भुज+लट्+प्र०पु०ए०व० 'भुज' धातु भोजन अर्थ में

आत्मनेपदी तथा पालन अर्थ में परस्मैपदी होती है। आशंसन्ते – आ+शंस+लट् प्र०पु०ए०व० (आत्मनेपद)। पौरुहते – पुरुहतस्य इदम् अण्।

कोष—'उदन्वानुदधिः सिन्धुः सरस्वान् सागरोऽर्णवः' इत्यमरः। 'परिघो योगभेदेऽस्त्रे मुद्गरेऽर्गलघातयोः' – इति विश्वः। 'एकाकी त्वेक एककः' इत्यमरः। 'समितिः सम्पराये स्यात् सभायां सङ्गमेऽपि च' – मेदिनी। 'अमरा निर्जरा देवास्त्रिदशा विबुधाः सुराः' इत्यमरः। 'असुरा दैत्यदैतेयदनुजेन्द्राहिदानवाः' इत्यमरः। 'इन्द्रो मरुत्वान् मघवा विडौजाः पाक-शासनः। वृद्धश्रवाः सुनासीरः पुरुहूतः पुरन्दरः॥ इत्यमरः।

अलङ्कार—(१) श्लोक में प्रस्तुत धनुष और प्रस्तुत वज्र का एक विजय रूप क्रिया के साथ सम्बन्ध होने के कारण **दीपक** अलङ्कार है। दीपक का लक्षण है— सकृतवृत्तिस्तु धर्मस्य प्रकृताप्रवतात्मनाम्। सैव क्रियासु बह्वीषु कारकस्येति दीपकम्। का०प्र०। (२) बाहुबल से शत्रुविजय रूप कारण के स्थान पर समस्त पृथिवीरूप कार्य के वर्णन से पर्यायोक्त अलङ्कार है। लक्षण है— 'पर्यायोक्तं विना वाच्यवाचकत्वेन यद्वचः' का०प्र०। (३) श्लोक का उत्तरार्ध पूर्वार्द्ध के नैतच्चित्रम्... रूप कार्य के कारण रूप से उपन्यस्त है अतः '**काव्यलिङ्ग**' अलङ्कार है। लक्षण द्र०प्र०अं०श्लोक ४। (४) नगरपरिघप्रांशुबाहु में 'इव' के लुप्त होने से 'लुप्तोपमा' अलङ्कार है। लक्षण द्र०प्र०अं०श्लोक ५।

छन्द—यहाँ **मन्दाक्रान्ता** छन्द है।

टिप्पणी—(१) प्राचीन-काल में नगर या किले के प्रवेश-द्वार पर विशाल किवाड़ के पीछे दीवारों में अटकाकर परिघ (अर्गला) लगाया जाता था। इसके लगने से किवाड़ को आसानी से नहीं तोड़ा जा सकता था। (२) देवासुर-युद्धों में देवताओं की दुष्यन्त के खींचे हुये धनुष और इन्द्र के वज्र पर ही भरोसा रहता है। इससे दुष्यन्त के अतिशय पराक्रम और उसके स्वर्ग तक फैले हुए यश का वर्णन किया गया है। दुष्यन्त की वीरता का यश पृथ्वी के अतिरिक्त दिव्य-लोक में भी व्याप्त है।

उभौ—(उपगम्य) **विजयस्व राजन्।**

दोनों—(समीप जाकर) राजन्, आपकी विजय हो।

राजा—(आसनादुत्थाय) **अभिवादये भवन्तौ।**

राजा—(आसन से उठकर) आप दोनों को प्रणाम करता हूँ।

उभौ—स्वस्ति भवते। (इति फलान्युपहरतः)।

व्या० एवं श०—स्वस्ति = कल्याण – यहाँ 'नमः स्वस्तिस्वाहा...' सूत्र से स्वस्ति के योग में 'भवान्' शब्द से चतुर्थी विभक्ति है।

दोनों—आप का कल्याण हो। (फलों को देते हैं)।

राजा—(सप्रणामम् परिगृह्य) **आज्ञापयितुमिच्छामि।**

राजा—(प्रणाम पूर्वक स्वीकार कर) (आप लोगों से) आज्ञा देने की इच्छा करता हूँ (अर्थात् आप लोग आज्ञा दें, क्या कार्य है)।

उभौ—विदितो भवानाश्रमसदामिहस्थः। तेन भवन्तं प्रार्थयन्ते।

व्या० एवं श०—आश्रमसदाम् - आश्रमे सीदन्ति वसन्ति आश्रमसदः तेषाम् = आश्रमवासियों को। **इहस्थः** - इह तिष्ठति इह+स्था+'क' = यहाँ है।

दोनों—आप यहाँ हैं, (यह) आश्रमवासियों को ज्ञात हो गया है। अतः वे आपसे प्रार्थना करते हैं।

राजा—किमाज्ञापयान्ति ?

राजा—वे क्या आज्ञा देते हैं ?

उभौ—तत्रभवतः कण्वस्य महर्षेरसान्निध्याद् रक्षांसि न इष्टिविघ्नमुत्पादयन्ति। तत् कतिपयरात्रं सारथिद्वितीयेन भवता सनाथीक्रियतामाश्रम इति।

व्या० एवं श०—असान्निध्यात् - सन्निधि+ष्यञ् - सान्निध्यम्, न सान्निध्यम् असान्निध्यम् (न०त०) तस्मात् असान्निध्यात् = समीप में न रहने के कारण (दूरस्थ-अनुपस्थित होने के कारण)। **रक्षांसि** - रक्षम् (न०) प्र०ब०व० = राक्षस। **इष्टिविघ्नम्** - इष्टौ यज्ञे विघ्नम् बाधम् = यज्ञ में विघ्न। **सारथिद्वितीयेन** - सारथिः द्वितीयः (सहायः) यस्य तेन = सारथि सहित। **सनाथीक्रियताम्** - असनाथः सनाथः क्रियते - सनाथीक्रियते लोट्+प्र०पु०ए०व०।

दोनों—पूज्य महर्षि कण्व की असमीपस्थता (अनुपस्थिति) के कारण राक्षस हमारे यज्ञ में विघ्न उत्पन्न कर रहे हैं। इसलिए कुछ रात्रि (अर्थात् कुछ दिन) सारथि के साथ (रहकर) आश्रम को सनाथ कीजिये (अर्थात् आश्रम की रक्षा कीजिये)।

राजा—अनुगृहीतोऽस्मि। मैं अनुगृहीत हूँ।

विदूषकः—(अपवार्य) **एषेदानीमनुकूला तेऽभ्यर्थना।** (एषा दाणी अणुऊला ते अब्भत्थणा)।

टिप्पणी—अपवार्य = एक ओर होकर। इस कथन में नाट्यशास्त्रीय पारिभाषिक शब्द '**अपवारित**' के प्रयोग की स्थिति है। जब मञ्च पर कोई पात्र एक ओर होकर गुप्तवार्ता करता है तो उसे '**अपवारित**' कहते है। अपवारित का लक्षण निम्नाङ्कित है—

'तद्भवेदपवारितम्। रहस्यं तु यदन्यस्य परावृत्य प्रकाशते'।

शब्दार्थ—अभ्यर्थना = प्रार्थना।

विदूषक—(एक ओर होकर) यह प्रार्थना अब (तो) आप के अनुकूल (ही) है।

राजा—(स्मितं कृत्वा) **रैवतक, मद्वचनादुच्यतां सारथिः, सबाणासनं रथमुपस्थापयेति।**

व्या० एवं श०—सबाणासनम् - बाणासनेन धनुषा सहितम् = धनुष के साथ-यह पद रथ का विशेषण है।

राजा—(मुस्कराकर) रैवतक, मेरे आदेश से सारथि से कहो 'धनुष' के साथ (मेरा) रथ उपस्थित करो।

दौवारिकः—यद् देव आज्ञापयति। (जं देवो आणवेदि।) (इति निष्क्रान्तः)।

टिप्पणी—(१) **दौवारिक** द्वारपाल को कहते हैं। (२) **'उभौ तत्रभवतः...'** यहाँ **उपन्यास** नामक प्रतिमुख सन्धि है। उपन्यास का लक्षण है—'उपन्यासः प्रसादनम्' - सा०द०।

विशेष—(१) **उभौ - इति फलान्युपहरतः** - देव, राजा, गुरु आदि के पास खाली हाथ नहीं जाना चाहिये, ऐसा विधान है—रिक्तपाणिर्न पश्येत्तु राजानं देवतां गुरुम्।

द्वारपाल—जो महाराज आज्ञा दे रहे हैं (वहीं करूँगा)। (निकल जाता है)।

उभौ—(सहर्षम्)—

दोनों—(प्रसन्नतापूर्वक)—

अनुकारिणि पूर्वेषां युक्तरूपमिदं त्वयि।
आपन्नाभयसत्रेषु दीक्षिताः खलु पौरवाः।। १६।।

अन्वय—पूर्वेषाम् अनुकारिणि त्वयि इदं युक्तरूपम्, खलु पौरवाः आपन्नाभयसत्रेषु दीक्षिताः।

शब्दार्थ—पूर्वेषाम् = पूर्वपुरुषों (पूर्वजों) का। अनुकारिणि = अनुवर्तन (अनुकरण) करने वाले। त्वयि = तुम्हारे (आप के) विषय में। इदम् = यह। युक्तरूपम् = अत्यन्त उचित है। खलु = निश्चय ही। पौरवाः = पुरुवंशी राजा। आपन्नाभयसत्रेषु = विपन्नों के लिये अभयदान रूपी यज्ञ में। दीक्षिताः = दीक्षित हैं (कृतसङ्कल्प है)।

अनुवाद—पूर्वजों का अनुकरण करने वाले आप के लिये यह मुनिजनों की आज्ञा पालन करना अत्यन्त उचित है। निश्चय ही पुरुवंशी राजा विपत्तिग्रस्त व्यक्तियों के लिये अभयदान-रूपी यज्ञ में (निर्भय बनाने में) दीक्षित (हैं)।

संस्कृत व्याख्या—**पूर्वेषाम्** – (पूर्वजानाम्) पूर्वपुरुषाणाम्, **अनुकारिणि** – अनुवर्तिनि, **त्वयि** – राज्ञि, **इदम्** – एतत्, **युक्तरूपम्** – अनुरूपम्, **खलु** – निश्चयेन, **पौरवाः** – पुरुवंशोद्भवाः, **आपन्नाभयसत्रेषु** – विपन्नाभयदानप्रणयज्ञेषु (विपन्नरक्षणेषु), **दीक्षिताः** – धृतव्रताः (कृतसङ्कल्पाः)।

संस्कृत-सरलार्थः—राक्षसेभ्य आश्रमस्य रक्षार्थं दौवारिकयोर्द्वयोरनुनयं श्रुत्वा यदैव राजा 'रैवतक, मद्वचनादुच्यतां सारथिः, सबाणासनं रथमुपस्थापयेति' कथयति तदैव द्वौ प्रशंसन्तौ राजानं कथयतः – 'प्रजारक्षणादिक्षेत्रे स्वपूर्वजानामनुगामिनि भवति (राजानि) प्रजारक्षणाभयदानकार्यं सर्वांशतः समीचीनं, यतो हि पुरुवंशीया राजानो विपत्तिग्रस्ताभयदानयज्ञेषु कृतव्रताः सन्तीति।

व्याकरण—**अनुकारिणि** – अनुकर्त्तुं शीलमस्येति – अनु+कृ+णिनि (ताच्छील्ये) – अनुकारी तस्मिन्। **युक्तरूपम्** – अतिशयेन युक्तम् इति युक्तरूपम् – युक्त शब्द से 'प्रशंसायां रूपप्' सूत्र से रूपप् प्रत्यय = अत्यन्त उचित। **आपन्नाभयसत्रेषु** – आपन्नानाम् अभयमेव सत्रम् इति आपन्नाभयसत्रम् तेषु; आपन्न – आ+पद्+क्त। **दीक्षिताः** – दीक्षा संजाता एषामिति दीक्षिताः – दीक्षा+इतच्। **पौरवाः** – पुरु+अण् = पुरुवंशोत्पन्न।

कोष—'आपन्न आपत्प्राप्तः स्यात्' – इत्यमरः।

अलङ्कार—(१) श्लोक का उत्तरार्ध पूर्वार्द्ध के कारण रूप से उपन्यस्त है अतः '**काव्यलिङ्ग**' अलङ्कार है। लक्षण द्र०प्र०अं०श्लोक ४। (२) उत्तरार्द्धगत कारण से पूर्वार्द्धगत कार्य का समर्थन किया गया हौ अतः **अर्थान्तरन्यास** अलङ्कार भी है। लक्षण द्र०प्र०अं०श्लोक २। (३) '**आपन्नाभवसत्रेषु**' में रूपक अलङ्कार भी विद्यमान है। **लक्षण**—'तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः'। यहाँ अभय (प्रदान) पर सत्र का आरोप किया गया है।

छन्द—छन्द अनुष्टुप् है। लक्षण द्र०प्र०अं०श्लोक ५।

टिप्पणी—'**आपन्नाभयसत्रेषु...**' '**दीक्षिताः खलु पौरवाः**' इस कथन के द्वारा पुरुवंशी अन्य राजाओं के साथ राजा (दुष्यन्त) की भी प्रशस्ति है। पुरुवंशी राजा विपन्न व्यक्तियों के अभयदान रूपी यज्ञ में दीक्षित हैं अर्थात् विपन्नों की सहायता करना उनका कुलव्रत है। वे सदा

विपत्तिग्रस्तों की सहायता हेतु कृतसङ्कल्प रहते हैं।

राजा—(सप्रणामम्) **गच्छतां पुरो भवन्तौ। अहमप्यनुपदमागत एव।**

राजा—(प्रणामपूर्वक) आप दोनों आगे-आगे चलें। मैं पीछे-पीछे आ ही रहा हूँ।

उभौ—विजयस्व। (इति निष्क्रान्तौ)।

दोनों—आप की विजय हो। (दोनों निकल जाते हैं)।

राजा—माधव्य, अप्यस्ति शकुन्तलादर्शने कुतूहलम् ?

राजा—माधव्य, क्या (तुझमें) शकुन्तला को देखने का (कौतूहल) है ?

विदूषकः—प्रथमं सपरिवाहमासीत्। इदानीं राक्षसवृत्तान्तेन बिन्दुरपि नावशेषितः। (पढमं सपरिवाहं आसि। दाणिं रक्खसवुत्तन्तेण बिन्दुवि णावसेसिदो।)

व्या० एवं श०—सपरिवाहम् – परितः वहनम् इति – परि+वह+घञ् – परिवाहः तेन सह (यथा स्यात्तथा) = बाढ़। जलाशय आदि का जल अधिक होकर बाहर बहने लगता है तब उसे 'परिवाह' या 'परीवाह' कहते हैं। **अवशेषितः** = अवशिष्ट (बची हुई)। विदूषक के कथन का अभिप्राय यह है कि पहले तो शकुन्तलादर्शन की उत्सुकता की बाढ़ सी थी परन्तु अब उसका एक बूँद भी नहीं बचा है अर्थात् राक्षसों के भय से वह उत्सुकता सर्वांशतः समाप्त हो गयी है।

विदूषक—पहले (शकुन्तला को देखने की उत्सुकता की) बाढ़ सी आयी हुई थी। किन्तु अब राक्षसों के समाचार से बूँद भर (अर्थात् थोड़ी) भी अवशिष्ट नहीं है।

राजा—मा भैषीः। ननु मत्समीपे वर्तिष्यसे।

व्याकरण एवं शब्दार्थ—वर्तिष्यते – वृत्+लृट्+म०पु०ए०व०।

राजा—डरो मत। तुम मेरे समीप में रहोगे।

विदूषकः—एष राक्षसाद् रक्षितोऽस्मि। (एष रक्खसादो रक्खिदोम्हि।)

विदूषक—तब तो मैं राक्षसों से सुरक्षित हो गया हूँ।

(प्रविश्य) **दौवारिकः—सज्जो रथो भर्तुविजयप्रस्थानमपेक्षते। एष पुनर्नगराद् देवीनामाज्ञप्तिहरः करभक आगतः।** (सज्जो रधो भट्टिणो विजअप्पत्थाणं अवेक्खदि। एस उण णअरादो देवीणं आणत्तिहरओ करभओ आअदो।)

व्या० एवं श०—आज्ञप्तिहरः – आज्ञप्तिं हरति, आज्ञप्ति+हृ+अच् = सन्देशवाहक।

(प्रवेश कर) **द्वारपाल**—तैयार रथ महाराज के विजय-प्रस्थान की अपेक्षा (प्रतीक्षा) कर रहा है। परन्तु नगर से महारानी का सन्देशवाहक यह करभक आया हुआ है।

राजा—(सादरम्) **किमम्बाभिः प्रेषितः ?**

राजा—(आदरपूर्वक) क्या माता जी के द्वारा भेजा गया है ?

दौवारिकः—अथ किम् ! (अह इं !)

द्वारपाल—और क्या !

राजा—ननु प्रवेश्यताम्।

व्या० एवं श०—प्रवेश्यताम् – प्र+विश्+णिच्+यक् – लोट् प्र०पु०ए०व०।

राजा—तो (उसे) प्रवेश कराओ।

दौवारिकः—तथा (इति निष्क्रम्य करभकेण सह प्रविश्य) **एष भर्ता उपसर्प ।** (तह । एसो भट्टा । उपसप्प ।)

व्याकरण एवं शब्दार्थ—उपसर्प – उप+सृप –लो०म०पु०ए०व० = जाओ ।

द्वारपाल—(जैसा आप कह रहे हैं) वैसा (करता हूँ) । (निकलकर पुनः करभक के साथ प्रवेश कर) ये महाराज हैं । (उनके) पास जाओ ।

करभकः—जयतु जयतु भर्ता । देव्याज्ञापयति । आगामिनि चतुर्थदिवसे प्रवृत्तपारणो मे उपवासो भविष्यति । तत्र दीर्घायुषाऽवश्यं सम्भवनीयेति । (जेदु जेदु भट्टा । देवी आणवेदी । आआमिणि चउत्थदिअहे पउत्तपारणो मे उववासो भविस्सदि । तिहं दीहाउणा अवस्सं संभाविदव्वा त्ति ।)

व्या० एवं श०—देव्याज्ञापयति – देवी+आज्ञापयति-यण् । **आज्ञापयति** – आ+ज्ञा+णिच्+लट्+ प्र०पु०ए०व० = आज्ञा देती हैं । **प्रवृत्तपारणः** – प्रवृत्तपारणा यस्य सः (ब०ब्री०) यह उपवास का विशेषण है – जिसके पारणा (उपवास की समाप्ति पर किया जाने वाला भोजन) का अवसर आ गया है ऐसा उपवास । **उपवासः** – उप+वस+घञ् = निराहार रहना (व्रत) । **दीर्घायुषा** – दीर्घ आयुः यस्य तेन = चिनञ्जीवी के द्वारा ।

करभक—जय हो, महाराज की जय हो । (पूज्य) महारानी आदेश दे रही हैं कि आगामी चौथे दिन मेरे उपवास की पारणा (उपवास की समाप्ति पर किया जाने वाला भोजन) होगी । उस अवसर पर चिरञ्जीवी (आप) के द्वारा (अपनी उपस्थिति से मुझे) अवश्य सम्मानित किया जाना चाहिये (अर्थात् उस अवसर पर आप अवश्य आकर मुझे सम्मानित करें) ।

राजा—इतस्तपस्विकार्यम् । इतो गुरुजनाज्ञा । द्वयमप्यनतिक्रमणीयम् । किमत्र प्रतिविधेयम् ?

व्याकरण एवं शब्दार्थ—अनतिक्रमणीयम् – न अतिक्रमणीयम् अनतिक्रमणीयम् (न०त०) – अति+क्रम+अनीयर = अनुल्लङ्घनीय । **प्रतिविधेयम्** – प्रति+वि+धा+यत् = करना चाहिये ।

राजा—इधर तपस्वियों का कार्य है और उधर गुरुजनों की आज्ञा । दोनों ही अनुल्लङ्घनीय हैं । यहाँ (ऐसी स्थिति में) क्या (उपाय) करना चाहिये ?

विदूषकः—त्रिशङ्कुरिवान्तरा तिष्ठ । (तिसङ्कू विअ अन्तरा चिट्ठ ।)

शब्दार्थ—अन्तरा (अव्यय) = मध्य में ।

टिप्पणी—त्रिशङ्कुः – त्रिशङ्कु की व्युत्पत्ति है – त्रयः शङ्कवः (अपराधाः) यस्य त्रिशङ्कुः (ब०ब्री०) = तीन अपराध वाले । प्राचीन कथाओं के अनुसार यह एक प्रतापी सूर्यवंशी राजा था । इसके पिता का नाम हरिश्चन्द्र था । इसने सशरीर स्वर्ग जाने के लिये अपने गुरु वशिष्ठ से प्रार्थना की, जिसे गुरु ने अस्वीकृत कर दिया । तत्पश्चात् जब वह अपनी इच्छा को पूर्ण करने के लिये वशिष्ठ के पुत्रों के पास पहुँचा, तब पुत्रों ने उसे गुरुद्रोही मान कर चाण्डाल होने का शाप दे दिया । तदनन्तर वह वशिष्ठ के द्रोही विश्वामित्र के पास गया । विश्वामित्र ने उसे सशरीर स्वर्ग भेज दिया । इन्द्रादि देवताओं ने उसे स्वर्ग में प्रवेश नहीं करने दिया और उसे नीचे गिरा दिया । विश्वामित्र ने अपने तपोबल से उसे नीचे पृथ्वी पर गिरने नहीं दिया । तबसे वह वहीं लटक रहा है । आज भी वह तारे के रूप में आकाश में पड़ा है ।

विदूषक—त्रिशङ्कु की भाँति मध्य में लटके रहिये ।

राजा—सत्यमाकुलीभूतोऽस्मि ।

राजा—सचमुच मैं व्याकुल हो गया हूँ ।

कृत्ययोर्भिन्नदेशत्वाद् द्वैधीभवति मे मनः।
पुरः प्रतिहतं शैले स्रोतः स्रोतोवहो यथा।। १७ ।।

अन्वय—कृत्ययोः भिन्नदेशत्वात् मे मनः पुरः शैले प्रतिहतं स्रोतोवहः यथा द्वैधीभवति।

शब्दार्थ—कृत्ययोः = दोनों कार्यों के। भिन्नदेशत्वात् = भिन्न-भिन्न (अलग-अलग) स्थानों में होने के कारण। मे = मेरा। मनः = मन। पुरः = सामने। शैले = पर्वत पर। प्रतिहतम् = टकराये हुये। स्रोतोवहः = नदी के। स्रोतः = प्रवाह। यथा = जैसा। द्वैधीभवति = दुविधा में पड़ गया है।

अनुवाद—दोनों कार्यों (यज्ञरक्षा और माता के उपवास-पारण में सम्मिलित होने) के भिन्न-भिन्न (अलग-अलग) स्थानों में होने के कारण मेरा मन सामने (स्थित) पर्वत में टकराने वाले नदी-प्रवाह की भाँति दुविधा में पड़ गया है (दो तरफ बँट गया है)।

संस्कृत व्याख्या—कृत्ययोः – आश्रमपालनमातृसम्भावनरूपयोः कार्ययोः, **भिन्नदेशत्वात्** – परस्परंभिन्नस्थानत्वात् , **मे** – मम, **मनः** – अन्तःकरणम् , **पुरः** – अग्रतः, **शैले** – पर्वते,**प्रतिहतम्** – प्रतिरुद्धम् , **स्रोतोवहः** – सरितः, **स्रोतः यथा** – प्रवाहः इव, **द्वैधीभवति** – द्विधा विभक्तं (संशयाकुलं) भवति।

संस्कृत-सरलार्थः—तपोवने मुनिरक्षाकार्यन्तथा नगरे मातृकार्यं, द्वयमेव करणीयमिति मनसि निधाय राजा ब्रवीति – मातृकार्यस्य सम्पादनं नगरे मुनिकार्यस्य च तपोवन इति प्रस्तुतयोर्द्वयोः कार्ययोर्भिन्नदेशत्वादेकदैव सम्पादनमसम्भवमिति मे मनस्तथैव व्याकुलं यथा समक्षं समुपास्थितेन पर्वतेन प्रतिरुद्धो नदीप्रभावो द्विघा विभज्यते।

व्याकरण—कृत्ययोः – कृ+क्यप् – कृत्यं तयोः। **भिन्नदेशत्वात्** – भिन्नः देशः ययोः (ब०ब्री०) तयोः भावः **भिन्नदेशत्वम्** (भिन्नदेश+त्व) तस्मात् = भिन्नदेशत्वात्। **स्रोतोवहः** – स्रोतः वहति – स्रोतस्+वह+क्विप् = स्रोतोवहः तस्या। **स्रोतः** – 'स्रु' गतौ धातु से 'स्रुरिश्यां तुट् च' से असुन् तथा तुट् का आगम।

कोष—'स्रोतोऽम्बुवेग इन्द्रिये।' महीध्रे शिखरि क्ष्माभृदहार्यधः पर्वताः। अद्रिगोत्रगिरिग्रावा चलशैलशिलोच्चयाः:' । इत्यमरः।

अलङ्कार—(१) यहाँ 'स्रोतः स्रोतोवहो यथा' में श्रौती उपमा है। श्रौती उपमा वहाँ होती है जहाँ औपम्यवाचक शब्द यथा, इव वा या इव के अर्थ में विहित 'वति' प्रत्यय का प्रयोग होता है। इस स्थल में 'स्रोतः' उपमान 'मन' उपमेय, उपमा वाचक शब्द 'यथा' तथा 'द्वैधीभवति' साधारण धर्म है। लक्षण – द्र०प्र०अं०श्लोक ५। (२) मन निरवयव होता है पर यहाँ उसके द्वैधीभाव का वर्णन (द्वैधीभवति मे मनः) किया गया है अतः सम्बन्ध न होने पर भी सम्बन्ध का कथन किये जाने के कारण सम्बन्धरूपा अतिशयोक्ति है। लक्षण – द्रष्टव्य प्र०अं०श्लोक । (३) 'स्रोतः स्रोतोवह' में लाटानुप्रास है। लक्षण – लाटानुप्रासभूर्भिन्नाभिप्राया पुनरुक्ता' चन्द्रा०।

छन्द—अनुष्टुप् – लक्षण द्रष्टव्य प्र०अं०श्लो० ५।

टिप्पणी—राजा के सामने एक ओर उसे तपस्वियों के यज्ञ की रक्षा करनी है तथा दूसरी ओर राजधानी में जाकर माँ के उपवास-पारण में सम्मिलित होना है। ऐसी स्थिति में राजा का व्याकुल होना स्वाभाविक ही है।

(विचिन्त्य) **सखे, त्वमम्बया पुत्र इति प्रतिगृहीतः। अतो भवानितः प्रतिनिवृत्य**

तपस्विकार्यव्यग्रमानसं मामावेद्य तत्रभवतीनां पुत्रकृत्यमनुष्ठातुमर्हति ।

व्या०एवं श०—प्रतिनिवृत्य - प्रति+नि+वृत्+क्त्वा ल्यप् = लौटकर। तपस्विकार्यव्यग्रमानसम् - तपस्विनां कार्येषु व्यग्रमानसम् = तपस्वियों के कार्य में व्यग्रमनवाला।

(सोचकर) मित्र, (मेरी) माता के द्वारा तुम (भी) पुत्र की भाँति स्वीकार किये गये हो (अर्थात् मेरी माता तुम्हें पुत्र की तरह मानती हैं)। इसलिये आप (तुम) यहाँ से लौटकर मुझको तपस्वियों के कार्य में व्यस्त मन वाला बताकर पूज्य माता के पुत्र-कार्य को सम्पन्न कर देना।

विदूषकः—न खलु मां रक्षोभीरुकं गणयसि । (ण क्खु, म रक्खोभीरुअं गणेसि ।)

व्या०एवं श०—रक्षोभीरुकम् - रक्षोभ्यः भीरुः (प०त०) रक्षो भीरुः कुत्सितः रक्षोभीरुः रक्षोभीरुकः तम् - कुत्सित अर्थ में कन् प्रत्यय = राक्षसों से भयभीत।

विदूषक—मुझको राक्षसों से भयभीत तो नहीं गिन रहे (समझ रहे) हो (जिससे मुझे राजधानी भेज रहे हो)।

राजा—(सस्मितम्) **कथमेतद् भवति सम्भाव्यते ?**

राजा—(मुस्कराकर) आप के विषय में यह कैसे सम्भव हो सकता है ?

विदूषकः—यथा राजानुजेन गन्तव्यं तथा गच्छामि । (जह राआणुएण गन्तव्वं तह गच्छामि ।)

विदूषक—(तब तो) जिस प्रकार राजा के अनुज को जाना चाहिये उसी प्रकार जाऊँगा।

राजा—ननु तपोवनोपरोधः परिहरणीय इति सर्वाननुयात्रिकांस्त्वयैव सह प्रस्थापयामि ।

व्या०एवं श०—तपोवनोपरोधः - तपोवनस्य उपरोधः (ष०त०) = तपोवन की बाधा। **परिहरणीय** - परि+हृ+अनीयर = बचानी चाहिये। **अनुयात्रिकान्** - अनुयात्रया पश्चादागमनेन संवृत्ता इति अनुयात्रिकाः - अनुयात्रा+ठक+इक्-तान् = अनुचरों को। **प्रस्थापयामि** - प्र+स्था+णिच्+पुक् लट् प्र०पु०ए०व० = प्रस्थान कराता हूँ (भेजता हूँ)।

राजा—निश्चय ही तपोवन की बाधा बचानी चाहिये (अर्थात् तपोवन में विघ्न नहीं होना चाहिए), इसलिए सभी अनुयायियों को तुम्हारे साथ ही भेजता हूँ।

विदूषकः—(सगर्वम्) **तेन ही युवराजोऽस्मीदानीं संवृत्तः ।** (तेण ही जुवराओ म्हि दाणिं संवुत्तो ।)

विदूषक—(गर्व के साथ) तब तो अब मैं युवराज (राजकुमार) हो गया हूँ।

राजा—(स्वगतम्) **चपलोऽयं वटुः । कदाचिदस्मत्प्रार्थनामन्तःपुरेभ्यः कथयेत्। भवतु । एनमेवं वक्ष्ये ।** (विदूषकं हस्ते गृहीत्वा। प्रकाशम्) **वयस्य, ऋषिगौरवादाश्रमं गच्छामि । न खलु सत्यमेव तापसकन्यकायां ममाभिलाषः । पश्य--**

व्या०एवं श०—प्रार्थनाम् = शकुन्तला विषयक इच्छा को। **अन्तः पुरेभ्यः** = अन्तःपुर की स्त्रियों को।

राजा—(अपने मन में) यह ब्राह्मण-बालक चञ्चल है। कहीं (शकुन्तला विषयक) हमारी इच्छा (प्रार्थना) को अन्तःपुर की रानियों से (न) कह दे ! अच्छा, इससे इस प्रकार कहता हूँ। (विदूषक को हाथ से पकड़ कर प्रकट रूप से) मित्र, ऋषियों के महत्त्व (गौरव) के कारण आश्रम को जा रहा हूँ। वस्तुतः तापसकन्या (शकुन्तला) में मेरी इच्छा (आसक्ति) नहीं है। देखो—

क्व वयं क्व परोक्षमन्मथो मृगशावैः सममेधितो जनः ।
परिहासविजल्पितं सखे परमार्थेन न गृह्यतां वचः ।। १८ ।।

अन्वय—सखे, वयं क्व, मृगशावैः समम् एधितः परोक्षमन्मथः जनः क्व, परिहासविजल्पितं वचः परमार्थेन न गृह्यताम् ।

शब्दार्थ—सखे = मित्र । वयं = हम लोग । क्व = कहाँ । मृगशावैः समम् = मृगशावकों (हरिणों के बच्चों) के साथ । एधितः = वृद्धि को प्राप्त (पला हुआ) । परोक्षमन्मथः = काम-वासना से परे (कामवासना से अनभिज्ञ) । जनः = व्यक्ति । क्व = कहाँ । परिहासविजल्पितम् = हँसी में कही गयी । वचः = बात को । परमार्थेन = सही रूप में । न गृह्यताम् = न ग्रहण कर लेना (न समझ लेना) ।

अनुवाद—मित्र, (भोग-विलास में आसक्त) हम लोग कहाँ ! और हरिण के बच्चों के साथ बढ़ा हुआ (पला हुआ), काम-वासना से अपरिचित (शकुन्तलारूपी) व्यक्ति कहाँ !! (अतः) हँसी (उपहास) में कही गयी (मेरी) बात को सही रूप में न ग्रहण कर लेना (अर्थात् मेरी बात यथार्थ न समझ लेना) ।

संस्कृत व्याख्या—**सखे** – मित्र! **वयं** – नागरिकाः, **क्व** – कुत्र, **मृगशावैः समम्** – हरिणशिशुभिः सह, **एधितः** – वर्धितः, **परोक्षमन्मथः** – कामकलानभिज्ञः, **जनः** – व्यक्तिः (शकुन्तलारूपः), **क्व** – कुत्र, **परिहासविजल्पितम्** – परिहासेन कथितं, **वचः** – वचनम् , **परमार्थेन** – यथार्थरूपेण, **न गृह्यताम्** – नावधार्यताम् ।

संस्कृत-सरलार्थः—मूर्खो विदूषकः शकुन्तलाप्रणयकथामन्यत्र (राज्ञोऽन्तःपुरे) न कथयेदिति चित्ते कृत्वा राजा तं ब्रवीति – 'हे मित्र ! क्व मद्विधाः कामादिकलाभिज्ञा जनाः ? क्व च मृगशावकैः साकं वर्धिता कामभावनाभिज्ञा शकुन्तला ? अतस्तस्यां मत्प्रेमभावस्य कृते स्थानमेव नास्ति । वस्तुतो मत्कृतं सर्वं शकुन्तलानुरागवर्णनं काल्पनिकमेव, तत्तूपहाससंलाप एव, त्वया तद् यथार्थरूपेण नावधार्यतामिति भावः ।

व्याकरण—मृगशावैः – मृगस्य शावैः (तत्पु०) । परोक्षमन्मथः – परोक्षः मन्मथः यस्य सः (बहु०) । परिहासविजल्पितं – परिहासेन विजल्पितम् (तत्पु०) । गृह्यताम् – ग्रह+यक्+लोट् प्र०पु०एकवचन ।

टिप्पणी—मृगशावैः समम् – यहाँ समम् के योग में 'सहयुक्तेऽप्रधाने' सूत्र से तृतीया विभक्ति हुई है ।

कोष—'मन्मथः कामचिन्तायां कपित्थे कुसुमायुधे' इति विश्वः । 'व्यवहार उक्तिर्लपितं भाषितं वचनं वचः' – इत्यमरः ।

अलङ्कार—(१) इस श्लोक में 'क्व वयम्' (दुष्यन्त आदि) तथा 'क्व परोक्षमन्मथ' (शकुन्तला आदि) इस कथन से दो विरुद्धधर्मों वाले दुष्यन्त तथा शकुन्तलारूप दो पदार्थों का एकत्र वर्णन होने '**विषम**' अलङ्कार है । विषम अलङ्कार का लक्षण है— गुणौ क्रिये वा चेत्स्यातां विरुद्धे हेतुकार्ययोः ।। यद्वारब्धस्य वैफल्यमनर्थस्य च सम्भवः । विरूपयोः संघटना या च तद्विषमं मतम् । (२) पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध के हेतु (कारण) रूप से वर्णित है अतः '**काव्यलिङ्ग**' अलङ्कार है । लक्षण द्रष्टव्य प्र०अं०श्लोक ४ ।

छन्द—इस पद्य में '**सुन्दरी**' छन्द है। लक्षण—अयुजोर्यदि सौ जगौ। युजोः सभराल्गौ सुन्दरी मता – अर्थात् जिसके विषम चरणों में (प्रथम तथा तृतीय) दो सगण (।।ऽ), जगण (।ऽ।) तथा एक गुरु वर्ण एवं सम चरणों (द्वितीय तथा चतुर्थ) में सगण (।।ऽ), भगण (ऽ।।), रगण (ऽ।ऽ), एक लघु तथा एक गुरु वर्ण हो वहाँ **सुन्दरी** छन्द होता है।

विदूषकः—अथ किम् ! (अह इं !)

विदूषक—और क्या !

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

टिप्पणी—सर्वे निष्क्रान्ताः – नाटक के अङ्क के अन्त में सभी पात्र रङ्गमञ्च से निकल जाते हैं।

(सभी निकल जाते हैं)

।। इति द्वितीयोऽङ्कः ।।

।। द्वितीय अंक समाप्त ।।

◆

तृतीयोऽङ्कः

(ततः प्रतिशति कुशानादाय यजमानशिष्यः)

(तत्पश्चात् कुशों को लेकर यजमान (कण्व) का शिष्य प्रवेश करता है)।

शिष्यः—अहो, महानुभावः पार्थिवो दुष्यन्तः । यत्प्रविष्टमात्र एवाश्रमं तत्रभवति निरुपद्रवाणि नः कर्माणि संवृत्तानि ।

व्याकरण एवं शब्दार्थ—यजमानशिष्यः – यजते इति यजमानः यज्+शानच् तस्य शिष्यः शास्+क्यप् = यजमान (कण्व) के शिष्य। निरुपद्रवाणि – निर्गताः उपद्रवाः येभ्यः तानि (ब०ब्री०) = उपद्रवरहित (निर्विघ्न)।

शिष्य—ओह, राजा दुष्यन्त अत्यन्त प्रभावशाली हैं। उन महानुभाव के आश्रम में प्रवेश करते ही हमारे (धार्मिक यज्ञादि) कार्य निर्विघ्न होने लगे हैं —

का कथा बाणसन्धाने ज्याशब्देनैव दूरतः ।
हुङ्कारेणेव धनुषः स हि विघ्नानपोहति ।। १ ।।

अन्वय—बाणसन्धाने का कथा, हि सः दूरतः ज्याशब्देन एव धनुषः हुङ्कारेण इव विघ्नान् अपोहति।

शब्दार्थ—बाणसन्धाने = बाण चढ़ाने पर (की)। का कथा = (तो) बात ही क्या है। हि = क्योंकि। सः = वह। दूरतः = दूर से। ज्याशब्देन = प्रत्यञ्चा के शब्द (ध्वनि – आवाज) के द्वारा। एव = ही। धनुषः हुङ्कारेण इव = मानो धनुष की हुङ्कार से। विघ्नान् = विघ्नों को। अपोहति = दूर कर देते हैं।

अनुवाद—बाण चढ़ाने पर तो क्या कहना (अर्थात् बाण चढ़ाने की तो बात ही क्या है), क्योंकि वह (राजा दुष्यन्त) दूर से प्रत्यञ्चा के शब्द के द्वारा ही मानो धनुष की हुङ्कार से विघ्नों (बाधाओं) को दूर कर देते हैं।

संस्कृत व्याख्या—बाणसन्धाने – धनुषि बाणारोपणे, **का कथा** – का वार्ता, **हि** – यतः, **सः** – राजा, **दूरतः** – दूरात् , **ज्याशब्देनैव** – प्रत्यञ्चायाः शब्देनैव, **धनुषः हुङ्कारेणैव** – कोदण्डस्य हुँशब्देनेव, **विघ्नान्** – अन्तरायान् , **अपोहति** – दूरीकरोति।

संस्कृत-सरलार्थः—कण्वशिष्यो राज्ञो दुष्यन्तस्य प्रभावातिशयं प्रख्यापयन् वदति— 'राज्ञा धनुषि बाणारोपणस्य वार्तैव दूर आस्ताम् । यतो हि स राजा (दुष्यन्तो) मौर्वीशब्देनैव कोदण्डहुङ्कारेणेव तपोवनस्य समस्तविघ्नान् दूरीकरोति। विघ्नापाकरणे धनुषि शरायोजनस्यावश्यकतैव न भवति। मौर्वीध्वनिनैवाखिलानि बाधकतत्त्वानि विनाशं यान्तीति भावः।'

व्याकरण—कथा – कथ्+अङ्+टाप् । बाणसन्धाने – बाणस्य सन्धानम् तस्मिन्। ज्याशब्देन – ज्यायाः शब्देन (तत्पु०)। विघ्नान् – वि+हन्+क (घञर्थे कः)। अपोहति – वि+अप+ऊह+लट् प्र०पु०ए०व०।

कोष—'बाणो बलिसुते शरे' – इत्यमरः। 'मौर्वी ज्याशिञ्जिनी गुणः' 'राज्ञि राट् पार्थिवक्ष्माभृन्नृपभूपमहीक्षिता' – इत्यमरः।

अलङ्कार—(१) ' का कथा...' यहाँ पर अप्राकरणिक अर्थ से प्राकरणिक अर्थ की प्रतीति होने के कारण '**अर्थापत्ति**' अलङ्कार है। लक्षण – 'दण्डापूपिकयान्यार्थागमोऽर्थापत्तिरिष्यते'। (२) हुङ्कारेणेव (हुङ्कारेण+इव) में **उत्प्रेक्षा** (समासोक्तिगर्भा) अलङ्कार है। लक्षण द्र०प्र०अंक श्लोक १८। जड़ धनुष पर चेतनता का आरोप होने से समासोक्ति है। ल०द्र०श्लो० २३। कुछ विद्वान् 'हुङ्कारेणेव' में 'एकदेशविवर्तिनी' **उपमा** मानते है।

छन्द—'**अनुष्टुप्**' छन्द है। लक्षण द्र०प्र०अं०श्लोक ५।

टिप्पणी—शिष्य के इस कथन से राजा दुष्यन्त के प्रभावातिशय का ध्वनन हो रहा है।

यावदिमान् वेदिसंस्तरणार्थं दर्भानृत्विग्भ्य उपहरामि (परिक्रम्यावलोक्य च आकाशे) **प्रियंवदे, कस्येदमुशीरानुलेपनं मृणालवन्ति च नलिनीपत्राणि नीयन्ते ?** (श्रुतिमभिनीय) **किं ब्रवीषि। आतपलङ्घनाद् बलवदस्वस्था शकुन्तला, तस्याः शरीरनिर्वापणायेति। तर्हि यत्नादुपयर्चताम्। सा खलु भगवतः कण्वस्य कुलपतेरुच्छ्वसितम्। अहमपि तावद् वैतानिकं शान्त्युदकमस्यै गौतमीहस्ते विसर्जयिष्यामि।** (इति निष्क्रान्तः)।

व्या० एवं श०—वेदिसंस्तरणार्थम् (वेद्यां संस्तरणार्थम्) = वेदी (यज्ञ के लिये परिष्कृत भूमि) पर बिछाने के लिये। उशीरानुलेपनम् (उशीराणाम् अनुलेपनम्) = उशीर (खस) का लेप। आतपलङ्घनाद् (आतपेन सूर्येण ग्रीष्मेण वा लङ्घनात् अभिभवात्) = गर्मी से अभिभूत होने के कारण – लू लगने से। शरीरनिर्वापणायेति (शरीरस्य निर्वापणाय) = शरीर को शान्ति देने के लिये – शरीर के ताप को मिटाने के लिये। उपयर्चताम् (उप+चर+यक् (कर्मणि) लोट् प्र०पु०ए०व०) = उपचार (दवा) करना। उच्छ्वसितम् = प्राण (प्राणसदृश-अत्यन्त प्रिय)। वैतानिकम् (वितानस्य (यज्ञस्य) इदम् इस अर्थ में ठञ् प्रत्यय) = यज्ञसम्बन्धी अर्थात् यज्ञ में मन्त्रों द्वारा आभिमन्त्रित पवित्र जल। यह पद 'शान्त्युदकम्' इस पद का विशेषण है। विसर्जयिष्यामि – वि+सृज्+णिच्+लृट् उ०पु०ए०व० = भिजवाऊँगा।

तब तक (इस) वेदी पर बिछाने के लिये इन कुशों को ऋत्विजों (पुरोहितों) को देता हूँ (घूमकर और आकाश की ओर देखकर) प्रियंवदा, उशीर (खस) का यह लेप और कमल-नाल सहित कमल के ये पत्ते किसके लिये ले जाये जा रहे हैं ? (सुनने का अभिनय कर) क्या कह रही हो ? आतप (लू) लगने से शकुन्तला अत्यधिक अस्वस्थ हो गयी है, उसके शरीर को शान्ति प्रदान करने (निर्वाप) के लिये (यह सामग्री ले जा रही हूँ)। तो यत्नपूर्वक (सावधानी से) उपचार करना। वह भगवान् कुलपति कण्व की प्राण है। तब तक मैं भी उसके लिये यज्ञीय (वैतानिक) शान्ति-जल गौतमी के हाथ भिजवा रहा हूँ। (निकल जाता है)।

।। इति विष्कम्भकः ।।

॥ विष्कम्भक समाप्त ॥

टिप्पणी—(१) **आकाशे** – यह नाट्यशास्त्रीय पारिभाषिक शब्द है। इसे '**आकाशभाषित**' भी कहा जाता है। दशरूपक –'किं ब्रवीष्येवमित्यादि विना पात्रं ब्रवीति यत्। श्रुत्वेवानुक्तमप्येकस्तत्स्यादाकाशभाषितम्' (१।६७) अर्थात् जब नाटक का कोई पात्र दूसरे पात्र की

अनुपस्थिति में भी अकेले ही कुछ कहता है और दूसरे के द्वारा बिना कुछ उत्तर दिये ही मानो सुनकर 'क्या कहते हो ?' ऐसा कहता है, तब वह '**आकाशभाषित**' कहलाता है। (२) **विष्कम्भक** – रूपक (नाटक) की सूच्य कथावस्तु की सूचना देने के लिये नाट्यशास्त्रादि ग्रन्थों में पाँच प्रकार के अर्थोपक्षेकों का उल्लेख किया गया है जिनमें विष्कम्भक भी है। विष्कम्भक की व्युत्पत्ति है – विष्कम्भ्नाति = नियोजयति पूर्वापरं कथाभागं यः सः (विष्कम्भः) विष्कम्भकः अर्थात् पूर्वापर कथाभाग को जोड़ने वाला 'विष्कम्भक' कहलाता है। इस व्युत्पत्ति से यह स्पष्ट है कि 'विष्कम्भक' कथावस्तु की पूर्वापर वस्तु जोड़ने के लिये आवश्यक है। दशरूपक में विष्कम्भक का लक्षण निम्नाङ्कित है—

वृत्तवर्तिष्यमाणानां कथांशानां निदर्शकः।
संक्षिप्तार्थस्तु विष्कम्भ आदावङ्कस्य दर्शितः॥
मध्येन मध्यमाभ्यां वा पात्राम्यां संप्रयोजितः।
शुद्धःस्यात् स तु सङ्कीर्णो नीचमध्यमकल्पितः॥

इस लक्षण के अनुसार 'विष्कम्भक' भूतकाल में घटित और भविष्यकाल में घटित होने वाली घटनाओं का सूचक है। वह संक्षिप्त होता है तथा अङ्क के आदि में प्रयुक्त होता है। वह दो प्रकार का होता है—(१) शुद्ध, (२) मिश्र। जिस 'विष्कम्भक' में मध्यम कोटि के एक या दो पात्र होते है उसे शुद्ध 'विष्कम्भक' तथा जिसमें मध्यम तथा निम्नकोटि के पात्रों का मिश्रण होता है उसे 'सङ्कीर्ण विष्कम्भक' कहा जाता है। कुछ आचार्यो के मत से संस्कृत भाषा का प्रयोग होने पर शुद्ध 'विष्कम्भक' है। कण्वशिष्य मध्यमकोटि का संस्कृतभाषी पात्र है। इसमें दुष्यन्त के द्वारा तपस्वियों की निर्विघ्न यज्ञसम्पन्नता – इस भूतकालिक और शकुन्तला के धूप से सन्तप्त होने के कारण उसके होने वाले उपचाररूप भावी घटना की सूचना है।

यहाँ ध्येय है कि नाट्यशास्त्रीय विधानुसार वध, युद्ध आदि का रङ्गमञ्च पर प्रदर्शन निषिद्ध है। ऐसी वस्तुओं (घटनाओं) की सूचना विष्कम्भक आदि के द्वारा दी जाती है।

(ततःप्रविशति कामयमानावस्थो राजा)

(तत्पश्चात् कामपीडित अवस्था वाला राजा)

व्या०एवं श०—कामयमानस्य अवस्था यस्य सः = कामपीड़ित अवस्था वाला।

राजा—(निःश्वस्य)—

राजा—(लम्बी साँस लेकर)—

जाने तपसो वीर्यं सा बाला परवतीति मे विदितम्।
अलमस्मि ततो हृदयं तथापि नेदं निवर्तयितुम् ॥ २ ॥

अन्वय—(अहं) तपसः वीर्यं जाने, सा बाला परवती इति मे विदितम् , तथापि इदं हृदयं ततः निवर्तयितुम् अलं न अस्मि।

शब्दार्थ—(मैं) तपसः = तपस्या के। वीर्यं = सामर्थ्य (शक्ति) को। जाने = जानता हूँ। सा = वह। बाला = कन्या। परवती = पराधीन (है)। इति = यह (भी)। मे = मुझको। विदितम् = ज्ञात है। तथापि = तो भी। हृदयम् = (अपने) हृदय को। ततः = उससे। निवर्तयितुम् = लौटाने (हटाने) में। अलम् = समर्थ। न = नहीं। अस्मि = हूँ।

अनुवाद—मैं तपस्या के सामर्थ्य (शक्ति) को जानता हूँ। वह कन्या (शकुन्तला) पराधीन (है)– यह (भी) मुझको ज्ञात है। तो भी (अपने) हृदय (मन) को उससे लौटाने में (हटाने) में समर्थ नहीं हूँ।

संस्कृत व्याख्या—(अहं) **तपसः** – तपस्यायाः, **वीर्यं** – सामर्थ्यम् , **जाने** – जानामि, **सा बाला** – कन्या (शकुन्तला), **परवती** – पराधीना इति, **मे** – मया, **विदितम्** – ज्ञातम् ; **तथापि इदम्** – एतत् , **हृदयम्** – चेतः, **ततः** – तस्याः (शकुन्तलायाः), **निवर्तयितुम्** – दूरीकर्तुम् , **अलम्** – समर्थः, **न अस्मि** – न भवामि।

संस्कृत-सरलार्थः—अयम्भावः—'अहं दुष्यन्तः कण्वसन्निभानां तपस्विनां तपः शक्तिं तत्कन्यायाः शकुन्तलायाः पराधीनताञ्च सम्यक् जानामि। परन्तु शकुन्तलासक्तं निजचित्तं ततो दूरीकर्त्तुं कथमपि न प्रभवामीति भावः'।

व्याकरण—परवती – पर+मतुप् स्त्रीलिङ्ग ए०व०। विदितम् – विद्+क्त नपुं०ए०व०। अलम् – 'अल' भूषणादौ धातु से बाहुलकात् अम् प्रत्यय। निवर्तयितुम् – नि+वृत्+णिच्+तुमुन्।

कोष—'अलं भूषणपर्याप्तिशक्तिवारणवाचकम्' इत्यमरः। यहाँ अलम् का अर्थ सामर्थ्य या शक्ति है। 'अलम्' के भूषण, पर्याप्ति, शक्ति, वारण, निषेध आदि अनेक अर्थ होते हैं।

अलङ्कार—श्लोक में 'अप्रस्तुतप्रशंसा' अलङ्कार है। यहाँ तपस्याशक्तिज्ञान (जाने तपसो वीर्यम्) रूपी अप्रस्तुत के कथन से 'शकुन्तला का हरण न कर सकने' रूपी प्रस्तुत अर्थ का कथन होने से वह अलङ्कार है। लक्षण द्र० १। १७ श्लो०।

छन्द—आर्या है। द्रष्टव्य लक्षण प्र०अं०श्लोक २, ३।

टिप्पणी—(१) दुष्यन्त के इस कथन का भाव यह है कि शकुन्तला की प्राप्ति उस के लिये असम्भव है। वह तपस्या की शक्ति को अच्छी प्रकार से जानता है। शकुन्तला के बलात् अपहरण से तपस्वी कण्व के शाप से उसके विनाश का भय है, अतः वह ऐसा नहीं कर सकता। शकुन्तला चूँकि अपने पिता कण्व के अधीन है, अतः वह स्वेच्छया उसके पास आ नहीं सकती। ऐसा होने पर भी वह शकुन्तला के प्रति आसक्त अपने हृदय को नियन्त्रित नहीं कर पा रहा है; यह उसकी विडम्बना है। (२) यहाँ दुष्यन्त को शकुन्तला की प्राप्ति का कोई उपाय न दीखने के कारण **तापन** नामक प्रतिमुख सन्धि का अङ्ग है। लक्षण—उपायासन्दर्शनं यत्तु तत्तापनं नाम तद्भवेत्।

(मदनबाधां निरूप्य) **भगवन् कुसुमायुध, त्वया चन्द्रमसा च विश्वसनीया- भ्यामतिसंधीयते कामिजनसार्थः। कुतः**—

व्या०एवं श०—कुसुमायुध – कुसुमानि पुष्पाणि एव आयुधम् यस्यासौ तत्सम्बुद्धौ हे कुसुमायुध = पुष्प-बाण – कामदेव। विश्वसनीयाभ्याम् = विश्वास के योग्य दोनों (कामदेव एवं चन्द्रमा) के द्वारा। अतिसंधीयते – अति+सम्+धा+लट् (कर्मणि) प्र०पु०ए०व० = ठगा जा रहा है। कामिज़नसार्थः – कामिजनानां सार्थः समूहः = कामीजनों का समूह।

(कामपीड़ा का अभिनय करके) भगवन् कामदेव अत्यन्त विश्वसनीय तुम्हारे और चन्द्रमा के द्वारा कामिजनों का समूह ठगा जाता है। क्योंकि—

तव कुसुमशरत्वं शीतरश्मित्वमिन्दो–
र्द्वयमिदमयथार्थं दृश्यते मद्विधेषु।
विसृजति हिमगर्भैरग्निमिन्दुर्मयूखै–
स्त्वमपि कुसुमबाणान् वज्रसारीकरोषि॥ ३॥

अन्वय—तव कुसुमशरत्वम् इन्दोः शीतरश्मित्वम् इदं द्वयं मद्विधेषु अयथार्थं दृश्यते, इन्दुः हिमगर्भैः मयूखैः अग्निं विसृजति, त्वम् अपि कुसुमबाणान् वज्रसारीकरोषि।

शब्दार्थ—तव = तुम्हारा। कुसुमशरत्वम् = पुष्प-बाण वाला होना। इन्दोः = चन्द्रमा का। शीतरश्मित्वम् = शीतल किरण वाला (शीतांशु) होना। इदम् = यह। द्वयम् = दोनों (बातें)। मद्विधेषु = मुझ जैसे (कामपीडितों) के विषय में। अयथार्थ = असत्य (विपरीत)। दृश्यते = दिखायी देती हैं। इन्दुः = चन्द्रमा। हिमगर्भैः = शीतलता हिम है गर्भ में जिनके ऐसी अर्थात् शीतल। मयूखैः = किरणों से। अग्निम् = अग्नि को। विसृजति = छोड़ रहा है (उगल रहा है)। त्वम् = तुम। अपि = भी। कुसुमबाणान् = पुष्प के बाणों को। वज्रसारीकरोषि = वज्र की भाँति कठोर बना रहे हो।

अनुवाद—तुम्हारा पुष्प-बाण से युक्त होना और चन्द्रमा का शीतल किरण वाला होना- ये दोनों (बातें) मेरे जैसे (कामपीड़ितों) के विषय में असत्य (विपरीत) दिखायी देती हैं। (क्योंकि) चन्द्रमा (अपनी) शीतल किरणों से अग्नि की वर्षा कर रहा है (अग्नि उगल रहा है) और तुम भी (अपने) पुष्प के बाणों को वज्र की भाँति कठोर बना रहे हो।

संस्कृत व्याख्या—**तव** – मन्मथस्य, **कुसुमशरत्वम्** – पुष्पबाणत्वम् , **इन्दोः** – चन्द्रमसः, **शीतरश्मित्वं** – शीतांशुत्वम् , **इदम्** – एतत् , **द्वयम्** – उभयम् , **मद्विधेषु** – मादृशेषु, विरहिजनेषु, **अयथार्थम्** – असत्यम् , **दृश्यते** – प्रतीयते; **इन्दुः** – चन्द्रमा, **हिमगर्भैः** – तुषारपूर्णैः, **मयूखैः** – किरणैः, **अग्निम्** – अनलम् , **विसृजति** – वर्षति उद्गिरति, **त्वम् अपि** – त्वं कामोऽपि, **कुसुमबाणान्** – पुष्पशरान् , **वज्रसारीकरोषि** – कुलिशकठोरान् करोषि।

संस्कृत-सरलार्थः—वियोगविक्लवो राजा दुष्यन्तः कामदेवं सम्बोधयन् वक्ति—'भगवन् कामदेव ! तव पुष्पबाणत्वं शशिनः शीतरश्मित्वमेतदुभयमपि साम्प्रतमसत्यं प्रतीयते मद्विधेषु वियोगिजनेषु। चन्द्रमास्तुषारसंवलितैः किरणैरनलं वर्षति त्वं कामोऽपि स्वपुष्पबाणान् तीक्ष्णान् च कुरुषे'।

व्याकरण—कुसुमशरत्वम् – कुसुमानि एव शराः यस्य (बहु०) तस्य भावः। शीतरश्मित्वम् – शीताः रश्मयः यस्य (बहु०) तस्य भावः। हिमगर्भैः – हिमं गर्भे येषां तैः (बहु०)। अर्थस्य अभिधेयस्य अनुरूपं यथार्थं, न यथार्थं अयथार्थम्–अननुरूपम्। वज्रसारीकरोषि – वज्रस्य सारः इव सारः येषां ते वज्रसाराः (बहु०), अवज्रसारान् वज्रसारान् करोषि वज्रसारी करोषि। यहाँ पर अभूततद्भाव अर्थ में 'च्वि' प्रत्यय हुआ है।

कोष—'अग्निर्वैश्वानरोवह्निर्वीतिहोत्रो धनञ्जयः' – इत्यमरः।

अलङ्कार—(१) पूर्वार्द्ध भाग के प्रति उत्तरार्द्ध भाग कारण रूप से उपन्यस्त है अतः वाक्यार्थ हेतु **'काव्यलिङ्ग'** अलङ्कार है। लक्षण द्र० १।४ श्लो०। (२) 'हिमगर्भैः अग्निं विसृजति' में हिमपूर्व शीतल किरणों से अग्नि के वर्षण का परस्पर विरोध है। अतः **'विरोधाभास'** अलङ्कार है। लक्षण द्र० २।११ श्लो०। (३) कुसुमबाणान् – में पुष्पों पर प्रकृतोपयोगी बाणों (बाणान्) का आरोप विरहदुःख का कारण होने से यहाँ पर **'परिणाम'** अलङ्कार है। लक्षण—'आरोप्यमाणस्य प्रकृतोपयोगित्वे परिणामः।' (४) सम्पूर्ण छन्द में यथासंख्य अलङ्कार है। (५) यहाँ मयि (विशेष) के स्थान पर 'मद्विधेषु' इस समान्य कथन से विशेष की प्रतीति करायी गयी है अतः **'अप्रस्तुतप्रशंसा'** अलङ्कार है। लक्षण द्र० १।१७ श्लो०। (६) शीतल किरणों से अग्नि की वृष्टि (विसृजति...मयूखैः)

तथा पुष्प के बाणों से वज्र के समान प्रहार (...वज्रसारीकरोषि) – इन दोनों स्थानों पर **'विषम'** अलङ्कार है। लक्षण द्र० १।१८ श्लो०। (७) कुछ लोग यहाँ **अपह्नुति** अलङ्कार मानते हैं।

छन्द—इस पद्य में **मालिनी** छन्द है। लक्षण द्र० १।१० श्लो०।

विशेष—श्लोक के पूर्वार्द्ध में कुसुशर के बाद **'इन्दु'** है उत्तरार्द्ध में इस के बदल जाने से 'प्रक्रमभङ्ग' दोष है। इसी प्रकार 'इन्दु' का दो बार प्रयोग होने से कथितपदता दोष भी है।

टिप्पणी—(१) कामदेव को कुसुमायुध कहा जाता है, क्योंकि पाँच पुष्प ही कामदेव के बाण माने जाते है (बाणाः पञ्च मनोभवस्य नियताः)। वे पाँच बाण हैं— अरविन्दमशोकं च चूतं च नवमल्लिका। नीलोत्पलं च पञ्चैते पञ्चबाणस्य सायकाः ॥ (२) चन्द्रमा को शीतल-किरण (शीतरश्मि) कहा जाता है। परन्तु विरही जनों के विरह-काल में दोनों की विपरीत स्थिति हो जाती है। वियोग में तो चन्द्र भी 'चण्डकर' बन जाता है – चन्द्रश्चण्डकरायते।

(सखेदं परिक्रम्य) **क्व न खलु संस्थिते कर्मणि सदस्यैरनुज्ञातः खिन्नमात्मानं विनोदयामि।** (निःश्वस्य) **किं नु खलु मे प्रियादर्शनादृते शरणमन्यत्।** (सूर्यमवलोक्य) **इमामुग्रातपवेलां प्रायेण लतावलयवत्सु मालिनीतीरेषु ससखीजना शकुन्तला गमयति। तत्रैव तावद् गच्छामि।** (परिक्रम्य संस्पर्शं रूपयित्वा) **अहो, प्रवातसुभगोऽयमुद्देशः।**

व्या० एवं श०—संस्थिते – सम्+स्था+क्त सप्तमी ए०व० = सम्यक् रूप से स्थित हो जाने पर अर्थात् समाप्त (सम्पन्न) हो जाने पर। यह पद कर्मणि का विशेषण है। कर्म से अभिप्राय है यज्ञ कर्म से। अतः संस्थिते कर्मणि का अर्थ है – यज्ञकर्म के सम्पन्न (समाप्त) हो जाने पर। सदस्यैः – सदसि साधुः सदस्यः तैः सदस्यैः। सदस् शब्द से 'तत्र साधुः' सूत्र से यत् (य) प्रत्यय। विधिदर्शियों से अर्थात् ऋषियों से। अमरकोष में विधिदर्शी को सदस्य कहा गया है – 'सदस्या विधिदर्शिनः' – इत्यमरः। प्रियदर्शनात् ऋते – ऋते के योग में प्रियदर्शन शब्द से पञ्चमी विभक्ति। उग्रातपवेलाम् = कठोर (तेज) धूप वाली वेला (समय) को। गमयति – गम्+णिच् प्र०पु०ए०व०। प्रवातसुभगः – प्रवातेन सुभगः = सुखद वायु के कारण सुन्दर। उद्देश = प्रदेश – स्थान।

(खेद के साथ घूमकर) यज्ञ-कार्य के समाप्त (सम्पन्न) हो जाने पर (यज्ञ-सभा के) सदस्यों (ऋषियों) द्वारा आज्ञा प्राप्त कर मै अपने खिन्न मन को कहाँ बहलाऊँ। (लम्बी साँस लेकर) प्रिया (शकुन्तला) के दर्शन के अतिरिक्त मेरे लिये दूसरा क्या सहारा है। तब तक मैं उसी को ढूढ़ता हूँ। (सूर्य को देखकर) इस तेज धूप वाली वेला (समय) को शकुन्तला प्रायः अपनी सखियों के साथ लता-कुञ्जों वाले मालिनी नदी के तट पर बिताती होगी। तो वहाँ ही जाता (चलता) हूँ। (चारों ओर घूमकर और स्पर्श का अभिनय कर) ओह, यह स्थान सुखद वायु (प्रवात) के कारण अत्यन्त सुहावना है।

टिप्पणी—ततः प्रविशति... से लेकर 'शरणमन्यत्' तक 'उद्वेग' नामक कामदशा है।

शक्यमरविन्दसुरभिः कणवाही मालिनीतरङ्गाणाम्।
अङ्गैरनङ्गतप्तैरविरलमालिङ्गितुं पवनः ॥ ४ ॥

अन्वय—अरविन्दसुरभिः मालिनीतरङ्गाणां कणवाही पवनः अनङ्गतप्तैः अङ्गैः अविरलम् आलिङ्गितुं शक्यम्।

शब्दार्थ—अरविन्दसुरभिः = कमलों की सुगन्ध से युक्त। मालिनीतरङ्गाणाम् = मालिनी

(नदी) की तरङ्गों (लहरों) के। कणवाही = (जल के) कणों को वहन (धारण) करने वाला। पवन: = वायु । अनङ्गतप्तै: = काम-सन्तप्त। अङ्गै: = अङ्गों से। अविरलम् = निरन्तर। आलिङ्गितुम् = आलिङ्गन करने के। शक्य: = योग्य है।

अनुवाद—कमलों की सुगन्ध से युक्त और मालिनी (नदी) की तरङ्गों (लहरों) के (जल के) कणों को वहन (धारण) करने वाली वायु काम-सन्तप्त अङ्गों से निरन्तर आलिङ्गन करने के योग्य है।

संस्कृत व्याख्या—अरविन्दसुरभिः – सरसिजसुगन्धि:, **मालिनीतरङ्गाणाम्** – मालिनीकल्लोलानाम्, **कणवाही** – जलबिन्दुधारक:, **पवनः** – वायु:, **अनङ्गतप्तैः** – कामपीडितै:, **अङ्गैः** – अवयवै:, **अविरलम्** – निरन्तरम्, **आलिङ्गितुम्** – सेवितुम्, **शक्यम्** – योग्यम्।

संस्कृत-सरलार्थः—वनोद्देशस्य सुखदं वायुं प्रशंसति राजा वचोभिरेभि:- मालिनीकल्लोलानां जलकणधारकोऽयं पवनो मया नूनं भृशं कामपीडितै: स्वशरीरावयवैर्निरन्तरं सेवनीय:'।

व्याकरण—अरविन्दसुरभि: – अरविन्दै: सुरभि: (तत्पु०)। मालिनीतरङ्गाणाम् – मालिन्या: तरङ्गाणाम् (तत्पु०)। अनङ्गतप्तै: – अनङ्गेन तप्तै: (तत्पु०)। कणवाही – कणं वहतीति तच्छील: कण्+वह+णिनि। आलिङ्गितुम् – आ+लिङ्ग+तुमुन्।

कोष—'नभस्वद्वातपवनपवमानप्रभञ्जना' इत्यमर:।

अलङ्कार—इस श्लोक में वायु के राजा के सहायक होने के कारण 'समाहित' अलङ्कार है। उसका लक्षण है—'कार्यारम्भे सहायाप्ति:'।

छन्द—इस श्लोक में 'आर्या' छन्द है। लक्षण द्र०प्र०अं०श्लोक २।

टिप्पणी—(१) इस श्लोक में वियोगी दुष्यन्त की व्यग्रता एवं कामवासना का वर्णन है। (२) वायु कमलसुगन्ध के सम्पर्क से सुगन्धित तथा मालिनी नदी के शीतलजलकणों के वहन करने के कारण शीतल है। (३) इस श्लोक में 'शक्यम्' शब्द का नपुसंक लिङ्ग में प्रयोग कर्म की विवक्षा में हुआ है। अन्यथा 'पवन: आलिङ्गितुं शक्य:' होना चाहिये। इस सन्दर्भ में 'शक्यमञ्जलिभि: पातुं वाता: केतकगन्धिन:' रामायण का यह कथन ध्येय है। (४) तत: प्रविशति से लेकर यहाँ तक **'उद्वेग'** अवस्था है।

(परिक्रम्यावलोक्य च) **अस्मिन् वेतसपरिक्षिप्ते लतामण्डपे सन्निहितया शकुन्तलया भवितव्यम्। तथा हि—**

शब्दार्थ—सन्निहतया = उपस्थित, वेतसपरिक्षिप्ते = बेंत से घिरे।

(घूमकर और देखकर) बेंत से घिरे हुए इस लता-मण्डप में शकुन्तला को होना चाहिये। क्योंकि—

अभ्युन्नता पुरस्तादवगाढा जघनगौरवात् पश्चात्।
द्वारेऽस्य पाण्डुसिकते पदपङ्क्तिर्दृश्यतेऽभिनवा।। ५।

अन्वय—पाण्डुसिकते अस्य द्वारे पुरस्तात् अभ्युन्नता जघनगौरवात् पश्[चात्] अवगाढा अभिनवा पदपङ्क्ति: दृश्यते।

शब्दार्थ—पाण्डुसिकते = पीले बालू (रेत) वाले। अस्य = इसके। द्व[ारे] = द्वार पर। पुरस्तात् = आगे की ओर। अभ्युन्नता = उठी हुई। जघनगौरवात् = नितम्बों के भार के कारण। पश्चात् = पीछे की ओर। अवगाढा = गहरी (धँसी हुई)। अभिनवा = नयी। पदपङ्क्ति: =

पदचिह्नों की पङ्क्ति। दृश्यते = दिखायी दे रही है।

अनुवाद—पीले बालू (रेत) वाले इस (लतापमण्डप) के द्वार पर आगे की ओर उठी हुई (उभरी हुई) और नितम्बों के भार के कारण पीछे की ओर गहरी (धँसी हुई) नयी (अभी-अभी बनी हुई) पदचिह्नों की पंक्ति दिखायी दे रही है।

संस्कृत व्याख्या—पाण्डुसिकते - धवलवर्णबालुकणयुक्ते, **अस्य** - लतामण्डपस्य, **द्वारे** - प्रवेशमार्गे, **पुरस्तात्** - अग्रभागे, **अभ्युन्नता** - समुन्नता, **जघनगौरवात्** - नितम्बस्य गुरुत्वात् **पश्चात्** पृष्ठभागे **अवगाढा** - गम्भीरा, **अभिनवा** - नूतना (सद्यः पतिता) **पदपंक्तिः** -चरणचिह्नश्रेणी, **दृश्यते** - विलोक्यते।

संस्कृत-सरलार्थः—धवलबालुकणयुक्ते लतामण्डपस्यास्य प्रवेशद्वारेऽस्मिन् पुरोभागे समुन्नता नितम्बगुरुत्वात् पृष्ठभागे गम्भीरा च सद्यः कृता शकुन्तलापदविक्षेपाणां श्रेणी (पदचिह्नं) समवलोक्यते।

व्याकरण—पाण्डुसिकते - पाण्डवः धवलाः सिकताः बालुकणा यस्मिन् तस्मिन् (बहु०)। जघनगौरवात् - जघनस्य गौरवात् (तत्पु०)। पदपंक्तिः - पदानां पंक्तिः (तत्पु०)। दृश्यते - दृश् (कर्मवाच्य) यक् - प्र०पु०ए०व०। अवगाढा - अव+गाह+क्त+टाप्। अभ्युन्नता - अभि+उत्+नम्+क्त+टाप् - स्त्रीलिङ्ग ए०व०।

कोष—जघनं स्यात् स्त्रियाः श्रोणिपुरोभागे करावपि - इति मेदिनी।

अलङ्कार—(१) यहाँ शकुन्तला के लतामण्डप में प्रवेश को सीधे न बता कर 'पदपंक्तिरभिनवा दृश्यते' इस कथन के द्वारा बताया गया है अतः **पर्यायोक्त** अलङ्कार है। भोज ने यहाँ **प्रत्यक्ष** अलङ्कार माना है। (२) पदपंक्तिः देखने रूप साधन से शकुन्तला के साध्य रूप प्रवेश का अनुमान होने से **'अनुमान'** अलङ्कार है। (३) यहाँ 'स्वभावोक्ति' अलङ्कार भी है। लक्षण द्र०प्र०अं०श्लो० ७। भोज ने **'उपमान'** अलङ्कार माना है।

छन्द—आर्या छन्द है। लक्षण द्रष्टव्य प्र०अं०श्लोक २।

टिप्पणी—(१) नितम्ब की विशालता नारी-सौन्दर्य का द्योतक होता है। यहाँ उसके कारण शकुन्तला के शरीर सौन्दर्य की स्पष्टतः प्रतीति होती है। (२) 'यावदेनामन्विष्यामि' - से लेकर यहाँ तक 'परिसर्प' नामक प्रतिमुख सन्धि का अङ्ग है।

यावद् विटपान्तरेणावलोकयामि। (परिक्रम्य, तथा कृत्वा, सहर्षम्) **अये, लब्धं नेत्रनिर्वाणम्। एषा मे मनोरथप्रियतमा सकुसुमास्तरणं शिलापट्टमधिशयाना सखीभ्यामन्वास्यते। भवतु। श्रोष्याम्यासां विश्रम्भकथितानि।** (इति विलोकयन् स्थितः)।

व्या० एवं श०—विटपस्य शाखायाः अन्तरेण = शाखाओं के बीच से (ओट से)। नेत्रनिर्वाणम् - नेत्रयोः निर्वाणम् - आनन्दम् = नेत्र का आनन्द। 'निर्वाणं निर्वृतौ मोक्षे' इस त्रिकाण्ड के वचनानुसार निर्वाण के दो अर्थ आनन्द और मोक्ष होते हैं। यहाँ मोक्ष अर्थ अभिप्रेत है। मनोरथप्रिया = मानसिक (मन से चाही हुई) प्रियतमा। कुसुमास्तरणम् - कुसुमान्येव आस्तरणम् यस्य = फूलों के बिछौने से युक्त। शिलापट्टम् - शिलायाः पट्टम् = शिलाखण्ड पर। अधिशेते = सोयी (लेटी) हुई है। 'शिलापट्टम्' पद में 'अधिशीङ्स्थासां कर्म' सूत्र से आधार में द्वितीया हुई है। विश्रम्भकथितानि = विश्वास (गुप्त) वचनों को।

तबतक शाखाओं के बीच से देखता हूँ। (घूमकर, वैसा ही करके (अर्थात् शाखाओं के बीच से देखकर प्रसन्नतापूर्वक) अहो, मेरे नेत्रों को परमानन्द प्राप्त हो गया। यह मेरी अभिलषित (मनचाही) प्रियतमा फूलों के बिछौने से युक्त शिलापट्ट पर लेटी हुई है और दो सखियों द्वारा (उसकी) सेवा की जा रही है। अच्छा, इनके विश्वस्त (गोपनीय) वार्तालाप को सुनता हूँ। (देखता हुआ खड़ा रहता है)।

(ततः प्रविशति यथोक्तव्यापारा सह सखीभ्यां शकुन्तला)

(तत्पश्चात् पूर्वोक्त स्थिति में शकुन्तला दोनों सखियों के साथ प्रवेश करती है)।

सख्यौ—(उपवीज्य सस्नेहम्) **हला शकुन्तले, अपि सुखयति ते नलिनीपत्रवातः?** (हला सउन्दले, अवि सुहअदि दे णलिणीपत्तवादो ?)

दोनों सखियाँ—(पंखे से हवा झल कर स्नेहपूर्वक) सखी शकुन्तला, क्या कमलिनीपत्र (से बने पंखे) की हवा तुम्हें सुख दे रही है ?

शकुन्तला—किं वीजयतो मां सख्यौ ? (किं वीअअन्ति मं सहीओ ?)

शकुन्तला—सखियों, क्या (तुम दोनों) मुझे हवा (पंखा) झल रही हो ?

(सख्यौ विषादं नाटयित्वा परस्परमवलोकयतः)

(दोनों सखियाँ चिन्ता का अभिनय कर एक दूसरे की ओर देखने लगती हैं)।

राजा—बलवदस्वस्थशरीरा शकुन्तला दृश्यते। (सवितर्कम्) **तत्किमयमातपदोषः स्यात् , उत यथा मे मनसि वर्तते।** (साभिलाषं निर्वर्ण्य) **अथवा कृतं सन्देहेन।**

व्या० एवं श०—बलवदस्वस्थशरीरा - बलवत् अधिकम् अस्वस्थं शरीरं यस्याः सा = अत्यधिक अस्वस्थ शरीर वाली। कृतम् - व्यर्थम्। 'कृतम्' पद के 'कृतं युगेऽलमर्थे च' इस मेदिनी कोष के कथनानुसार दो अर्थ होते हैं - युग तथा अलम् (व्यर्थ)।

टिप्पणी—ततः प्रविशति यथोक्तव्यापारा... यहाँ पर '**बर्णसंहार**' नामक प्रतिमुख सन्धि का अङ्ग है।

राजा—शकुन्तला अत्यन्त अस्वस्थ शरीर वाली दिखायी दे रही है। (विचारपूर्वक) तो क्या यह लू (आतप) का प्रभाव (दोष) है अथवा जैसा मेरे मन में है। (इच्छापूर्वक देखकर) अथवा (इस विषय) में सन्देह करना व्यर्थ है—

स्तनन्यस्तोशीरं प्रशिथिलमृणालैकवलयं
प्रियायाः साबाधं किमपि कमनीयं वपुरिदम्।
समस्तापः कामं मनसिजनिदाघप्रसरयो-
र्न तु ग्रीष्मस्यैवं सुभगमपराद्धं युवतिषु।। ६।।

अन्वय—प्रियायाः स्तनन्यस्तोशीरं प्रशिथिलमृणालैकवलयं साबाधम् इदं वपुः किमपि कमनीयम् , युवतिषु मनसिजनिदाघप्रसरयोः तापः कामं समः, तु ग्रीष्मस्य अपराद्धम् एवं सुभगं न।

शब्दार्थ—प्रियायाः = प्रिया (शकुन्तला) का। स्तनन्यस्तोशीरम् = स्तनों पर लगाया गया है खस का लेप जिस पर ऐसा। प्रशिथिलमृणालैकवलयम् = कमलनाल का एक कङ्गन ढीला हो गया है जिस पर ऐसा (ढीले कमलनाल के एक कङ्गन वाला)। साबाधम् = बाधायुक्त (पीड़ित)। इदम् = यह। वपुः = शरीर। किमपि = क्या ही। कमनीयम् = सुन्दर। युवतिषु =

युवतियों पर। मनसिजनिदाघप्रसरयोः = कामदेव तथा निदाघ (लू) के सञ्चार का। तापः = सन्ताप। कामम् = यद्यपि। समः = समान (है)। तु = किन्तु। ग्रीष्म = गर्मी का (लू का)। अपराद्धम् = अपराध (सन्ताप)। एवम् = ऐसा। सुभगम् = मनोहर। न = नहीं (होता)।

अनुवाद—प्रिया (शकुन्तला) का, स्तनों पर लगे हुये खस के लेप वाला तथा ढीले कमलनाल के एक कङ्गन वाला पीड़ित (अस्वस्थ) यह शरीर क्या ही मनोहर (है!) (सचमुच) युवतियों पर कामदेव और लू के सञ्चार का सन्ताप भले ही समान (हो), किन्तु लू का सन्ताप ऐसा सौन्दर्यवर्धक (मनोहर) नहीं (होता)।

संस्कृत व्याख्या—प्रियायाः – प्रियतमायाः शकुन्तलायाः, स्तनन्यस्तोशीरं – स्तनयोः कुचयोः न्यस्तं तापोपशमनाय दत्तम् उशीरं नलदानुलेपो यत्र तादृशम्, प्रशिथिलिमृणालैकवलयं – प्रशिथिलं शरीरकार्श्यात् श्लथीभूतं मृणालं पद्मखण्डमेव एकम् अनन्यं वलयं कङ्कणम् यत्र तादृशम्, साबाधम् – व्यथितम्, इदम् – एतत्, वपुः – शरीरम्, किमपि – सातिशयम्; कमनीयं – मनोहरम् अस्ति; युवतिषु – तरुणीषु, मनसिजनिदाघप्रसरयोः – कामतापसञ्चारयोः, तापः – सन्तापः, कामं – मतमेतत्, समः – तुल्यः, तु – किन्तु, ग्रीष्मस्य – निदाघस्य, अपराद्धम् – अपराधः (सन्तापः), एवम् – ईदृशम्, सुभगं – कमनीयम्, न – नहि भवति।

संस्कृत-सरलार्थः—दुष्यन्तकथनस्यायम्भावः— स्तनविन्यस्तवीरणानुलेपनमति-श्लथकमलनालैकवलयं व्यथितञ्चेदं शरीरं शकुन्तलायाः (प्रियायाः) नितान्तं पीडितं विद्यते, परन्तु तदीदृशसन्तापे सत्यतिशयशोभावहं दृश्यते। कामग्रीष्मवेगयोः सन्तापो यद्यपि समानः किन्त्वारूढयौवनासु निदाघापराधो न भवत्येवं मनोहारीति। तेन कामकृत एवायं सन्ताप इति भावः।

विशेष—पुरो दृश्यमानं शकुन्तलायाः कुचविन्यस्तोशीरं प्रशिथिलकमलनालैकवलयं पीडितम् इदं शरीरं नितरां मनोहरं दृश्यते। तरुणीषु कामातपयोः सन्तापः यद्यपि समानः अस्ति, परन्तु निःसंशयं ग्रीष्मजनितः सन्ताप एवं सौन्दर्यवर्धको न भवति। तेन कामजिनतः एव सन्तापः अस्याः इति भावः।

व्याकरण—स्तनन्यस्तोशीरं – स्तनयोः न्यस्तम् उशीरं यस्मिन् तत् (बहु०)। प्रशिथिलमृणालैकवलयम् – प्रशिथिलं मृणालस्य एकं वलयं यस्मिन् तत् (बहु०)। मनसिजनिदाघप्रसरयोः – मनसिजः निदाघश्च (द्वन्द्व) तयोः प्रसरः तयोः (तत्पु०)।

कोष—'कामः स्मरेच्छयोः पुमान्'। 'रेतस्यापि निकामे च काम्येऽपि स्यान्नपुंसकम्॥' इति मेदिनी।

अलङ्कार—(१) शकुन्तला के शरीर के अस्वस्थ (साबाधम्) होने पर भी उसके सौन्दर्य रूप कार्य का वर्णन है अतः स्वास्थ्यरूपी कारण के अभाव में भी सौन्दर्य रूप कार्य का वर्णन होने से **'विभावना'** अलङ्कार है। ल०द्र० १।१८। (२) 'साबाधम्' रूप कारण के होने पर भी विरूपता रूप कार्य का वर्णन न होने से **'विशेषोक्ति'** अलङ्कार है। विशेषोक्ति का लक्षण है—'सति हेतौ फलाभावो विशेषोक्तिः' अर्थात् हेतु (कारण) के रहने पर भी जब कार्य (फल) नहीं होता तब **'विशेषोक्ति'** अलङ्कार होता है। (३) लू लगने और काम के प्रभाव में यद्यपि समानता है। किन्तु लू लगने पर सौन्दर्य नष्ट हो जाता है और काम के प्रभाव में सुन्दरता बनी रहती है। यहाँ लू के प्रभाव से काम के प्रभाव विशेष को बताने के कारण 'व्यतिरेक' अलङ्कार है। लक्षण द्र० १।२३ श्लोक।

छन्द—इस पद्य में '**शिखरिणी**' छन्द है। लक्षण द्र० १।९ श्लोक।

टिप्पणी—यहाँ कामपीडित एवं क्षीणशरीरा शकुन्तला के कृश सौन्दर्य की मनोहरता उसके नैसर्गिक रूपलावण्य का द्योतक है।

प्रियंवदा—(जनान्तिकम्) **अनसूये, तस्य राजर्षेः प्रथमदर्शनादारभ्य पर्युत्सुकेव शकुन्तला। किं नु खल्वस्यास्तन्निमित्तोऽयमातङ्को भवेत्?** (अणसूए, तस्स राएसिणो पढमदंसणादो आरहिअ पज्जुस्सुआ विअ सउन्दला। किं णु खु से तण्णिमित्तो अअं आतंको भवे।)

व्या० एवं श०—पर्युत्सुका – परि+उत्+सू+ क्विप्+कन्+टाप् = उत्कण्ठित (व्याकुल–खिन्न)। आतङ्क – आ+तङ्क+घञ् = रोग (सन्ताप) 'आतङ्को रोगसन्तापशङ्कासु मुरजध्वनौ' – इति मेदिनी।

टिप्पणी—'**जनान्तिकम्**'– यह एक नाट्यशास्त्रीय परिभाषिक शब्द है। नाट्यधर्म की दृष्टि से कथावस्तु के तीन भेद होते है – (१) सर्वश्राव्य (सबके सुनने योग्य), (२) नियतश्राव्य (कुछ निश्चित लोगों के सुनने योग्य), (३) अश्राव्य (किसी के न सुनने योग्य)। सर्वश्राव्य को 'प्रकाश' तथा अश्राव्य को 'स्वगत' कहा जाता है। नियतश्राव्य भी दो प्रकार का होता है – (१) जनान्त (जनान्तिक), (२) अपवारित। जनान्तिक का लक्षण दशरूपक में इस प्रकार किया गया है— त्रिपताकाकरेणान्यानपवार्यान्तरा कथाम्। अन्योन्यामन्त्रणं यत्स्याज्जनान्ते तज्जनान्तिकम्॥ अर्थात् – वार्तालाप के सन्दर्भ में त्रिपताका (हाथ की मुद्रा) के द्वारा अन्य लोगों को बचाकर, बहुत लोगों के बीच में, जब दो पात्र आपस में बातचीत करते हैं तो उसे 'जनान्तिक' कहते हैं। इसमें हाथ की अंगुलियों को ऊपर कर तथा अनामिका को नीचे कर (अन्य लोगों से आड़कर) एक पात्र दूसरे पात्र से मन्त्रणा करता है।

प्रियंवदा—(हाथ की ओट में) अनसूया, उस राजर्षि के प्रथम दर्शन (के समय) से ही शकुन्तला उत्कण्ठित-सी रहती है। क्या इस (शकुन्तला) का यह रोग (सन्ताप) उस (राजर्षि) के ही कारण है?

अनसूया—सखि, ममापीदृश्याशङ्का हृदयस्य। भवतु। प्रक्ष्यामि तावदेनाम् (प्रकाशम्) **सखि, प्रष्टव्यासि किमपि। बलवान् खलु ते सन्तापः।** (सहि, ममवि ईदिसी आसंका हिअअस्स। होदु। पुच्छिस्सं दाव णं। सहि, पुच्छितव्वासि किम्पि। बलवं खु दे संदावो।)

व्या० एवं श०—प्रष्टव्या – प्रच्छ+तव्यत्+टाप् = पूछने के योग्य। बलवान् – बल+मतुप् = तीव्र–उग्र।

अनसूया—सखी, मेरे मन की भी ऐसी ही आशङ्का है। अच्छा तो इस (शकुन्तला) से ही पूछती हूँ। (प्रकट रूप में) सखी, तुमसे कुछ पूछना है। (क्योंकि) तुम्हारा सन्ताप बहुत प्रबल है।

शकुन्तला—(पूर्वार्धेन शयनादुत्थाय) **हला, किं वक्तुकामासि?** (हला, किं वत्तुकामासि।)

शब्दार्थ—वक्तुकामा = कहने की इच्छुक।

शकुन्तला—(ऊपर के आधे भाग के साथ बिस्तर से उठकर) सखी, क्या कहना चाहती हो?

अनसूया—हला शकुन्तले, अनभ्यन्तरे खल्वावां मदनगतस्य वृत्तान्तस्य। किन्तु यादृशीतिहासनिबन्धेषु कामयमानानामवस्था श्रूयते तादृशीं तव पश्यामि। कथय किंनिमित्तं ते सन्तापः? विकारं खलु परमार्थतोऽज्ञात्वाऽनारम्भः प्रतीकारस्य। (हला सउन्दले, अणब्भन्तरा

क्खु अम्हे मदणगदस्स वुत्तन्तस्स। किंदु जादिसी इतिहासणिबन्धेसु कामअमाणाणां अवस्था सुणीअदि तादिसीं दे पेक्खिामि। कहेहि किंणिमित्तं दे संदावो ? विआरं क्खु परमत्थदो अजाणिअ अणारम्भो पडिआरस्स।)

व्याकरण, शब्दार्थ टिप्पण्यश्च—अनभ्यन्तरे - अभिगतः अन्तरम् अभ्यन्तरः न अभ्यन्तरः अनभ्यन्तरः = अनभिज्ञ (अपरिचित)। मदनगतस्य वृत्तान्तस्य = काम सम्बन्धी वृत्तान्त (बात) से। इतिहासनिबन्धेषु - इतिहासस्य निबन्धेषु (तत्पु०) = इतिहास की कथाओं में। विकारम् - वि+कृ+घञ् रोग को। परमार्थतः = ठीक से। प्रतीकारः — प्रति+कृ+घञ्, उपसर्गस्य सूत्र से दीर्घ = निराकरण (चिकित्सा)। अनारम्भ - न आरम्भः अनारम्भः = आरम्भ नहीं (होता)।

अनसूया—सखी शकुन्तला, हम दोनों काम-सम्बन्धी (प्रेम-व्यापार सम्बन्धी) वृत्तान्तों (बातों) से अनभिज्ञ हैं। किन्तु इतिहास की कथाओं में काम-पीड़ितों की जैसी अवस्था सुनी जाती है, मैं वैसी (ही) (अवस्था) तुम्हारी देख रही हूँ। बताओ, किस कारण से तुम्हारा सन्ताप है ? क्योंकि रोग (विकार) को ठीक से जाने बिना उसकी चिकित्सा आरम्भ नहीं की जाती।

राजा—अनसूयामप्यनुगतो मदीयस्तर्कः नहि स्वाभिप्रायेण मे दर्शनम्।

व्य० एवं श०—अनुगतः = अनु+गम+क्त = प्राप्त। तर्कः = तर्क + अच् = कल्पना, अन्दाज।

राजा—अनसूया का भी मेरे जैसा विचार (जिज्ञासा)। (अर्थात् जो विचार मेरे मन में है वैसा ही अनसूया का भी है)। मेरा विचार (दर्शन) अपने अभिप्राय से नहीं था।

शकुन्तला—(आत्मगतम्) **बलवान् खलु मेऽभिनिवेशः। इदानीमपि सहसैतयोर्न शक्नोमि निवेदयितुम्।** (वलवं क्खु मे अहिणिवेसो। दाणिं वि सहसा एदाणं ण सक्कणोमि ण्विेदिदुं।)

व्या० एवं श०—अभिनिवेशः - अभि+नि+विश्+घञ् = आग्रह–आसक्ति।

शकुन्तला—(अपने मन में) (राजा के प्रति) मेरी आसक्ति अति प्रबल है (किन्तु) अब भी (फिर भी) इन दोनों (अनसूया और प्रियंवदा) से बताने में असमर्थ हूँ।

प्रियंवदा—सखि शकुन्तले, सुष्ठु एषा भणति। किमात्मन आतङ्कमुपेक्षसे। अनुदिवसं खलु परिहीयसेऽङ्गैः केवलं लावण्यमयी छाया त्वां न मुञ्चति। (सहि सउन्दले, सुट्ठु एसा भणादि। किं अत्तणो आतंकं उवेक्खसि। अणुदिअहं क्खु परिहीअसि अंगेहि। केवलं लावण्णमई छाया तुमं ण मुंचदि।)

व्या० एवं श०—आतङ्कम् = रोग को। लावण्यमयी = सौन्दर्यमयी। छाया = कान्ति।

प्रियंवदा—सखी शकुन्तला, यह (अनसूया) ठीक कहती है। अपने रोग की उपेक्षा क्यों कर रही हो ? प्रतिदिन तुम अङ्गों से क्षीण (दुर्बल) होती जा रही हो (अर्थात् तुम्हारे अङ्ग दिनानुदिन क्षीण हो रहे हैं)। केवल सौन्दर्य से युक्त कान्ति (छाया) तुमको नहीं छोड़ रही है।

राजा—अवितथमाह प्रियंवदा। तथाहि—

व्या० एवं श०—अवितथम् - विगतं तथा सत्यं यस्मात् तत् वितथम् - मिथ्या; न वितथम् अवितथम् (नं०तत्पु०) = सत्य।

राजा—प्रियंवदा ने सत्य (ठीक) कहा। क्योंकि—

क्षामक्षामकपोलमाननमुरः काठिन्यमुक्तस्तनं

मध्यः क्लान्ततरः प्रकामविनतावंसौ छविः पाण्डुरा ।
शोच्या च प्रियदर्शना च मदनक्लिष्टेयमालक्ष्यते
पत्राणामिव शोषणेन मरुता स्पृष्टा लता माधवी ।। ७ ।।

अन्वय—(अस्याः) आननं क्षामक्षामकपोलम् , उरः काठिन्यमुक्तस्तनम् , मध्यः क्लान्ततरः, अंसौ प्रकामविनतौ, छविः पाण्डुरा (सञ्जाता)। मदनक्लिष्टा इयं पत्राणां शोषणेन मरुता स्पृष्टा माधवी लता इव शोच्या च प्रियदर्शना च आलक्ष्यते।

शब्दार्थ—(इस शकुन्तला का) आननम् = मुख। क्षामक्षामकपोलम् = जिसके कपोल अत्यन्त क्षीण हो गये हैं ऐसा (अत्यन्त दुर्बल कपोलों वाला)। उरः = वक्षःस्थल। काठिन्यमुक्तस्तनम् = जिसके स्तन कठोरता को छोड़ दिये हैं ऐसा (कठोरता से रहित (ढीले) स्तनों वाला)। मध्यः = कटिभाग (कमर)। क्लान्ततरः = अधिक दुर्बल। अंसौ = दोनों कन्धे। प्रकामविनतौ = अत्यधिक झुक गये (हैं) (तथा)। छविः = कान्ति। पाण्डुरा = पीली (हो गयी है अतः सम्प्रति)। मदनक्लिष्टा = काम-पीड़ित। इयम् = यह (शकुन्तला)। पत्राणाम् = पत्तों की। शोषणेन = सुखा देने वाली। मरुता = वायु के द्वारा। स्पृष्टाम् = छुई गयी (झुलसायी गयी)। माधवी लता इव = वासन्ती लता की भाँति। शोच्या = शोचनीय। च = और। प्रियदर्शना = देखने में प्रिय (सुन्दर) लगने वाली। आलक्ष्यते = दिखायी दे रही है।

अनुवाद—(इस शकुन्तला का) मुखमण्डल अत्यन्त क्षीण कपोलों वाला हो गया है (अर्थात् दोनों कपोल धँस गये हैं), वक्षःस्थल कठोरता से रहित (ढीले) स्तनों वाला हो गया है (अर्थात् वक्षःस्थल के दोनों स्तन ढीले पड़ गये है), कटिभाग अत्यन्त क्षीण (पतला) हो गया है, दोनों कन्धे अत्यधिक झुक गये है (तथा) (शरीर की) कान्ति पीली पड़ गयी है। (सम्प्रति) काम-पीड़ित यह (शकुन्तला) पत्तों को सुखा देने वाली वायु के द्वारा छुयी गयी (झुलसी हुई) वासन्तीलता की भाँति शोचनीय तथा देखने में प्रिय (सुन्दर) लग रही है। (अर्थात् शारीरिक दृष्टि से शोचनीय होते हुये भी देखने में सुन्दर प्रतीत हो रही है)।

संस्कृत व्याख्या—(अस्याः शकुन्तलायाः) **आननम्** – मुखम् , **क्षामक्षामकपोलम्** – अतिक्षीणकपोलम् , **उरः** – वक्षःस्थलम् , **काठिन्यमुक्तस्तनम्** – अकठोरपयोधरम् , **मध्यः** – कटिप्रदेशः, **क्लान्ततरः** – नितरां दुर्बलः, **अंसौ** – स्कन्धौ, **प्रकामविनतौ** – अत्यन्तमवनतौ, **छबिः** – (शरीरस्य) कान्तिः, **पाण्डुरा** – पाण्डुवर्णा (पीता), **मदनक्लिष्टा** – कामपीडिता, **इयम्** – एषा (शकुन्तला), **पत्राणां** – पर्णानाम् , **शोषणेन** – शोषणकारिणा, **मरुता** – वायुना, **स्पृष्टा** – आमृष्टा, **माधवी लता इव** – वासन्ती लता इव, **शोच्या च** – शोचनीया च, **प्रियदर्शना च** – मनोहरदर्शना च, **आलक्ष्यते** – परिदृश्यते।

संस्कृत-सरलार्थः—प्रियंवदाकथनं समर्थयन् राजा ब्रूते—'कामवेदनावशादस्याः कपोलावतिक्षीणौ जातौ, कुचद्वयं काठिन्यविरहितं भूतम् , क्षीणोऽपि कटिभागो नितरां क्षीणतां गतः, सहजतो नतावप्यस्या स्कन्धौ नितान्तं विनतौ सञ्जातौ, शरीरकान्तिः पीतवर्णाऽभूदतो दशायामस्याः कामसन्तप्तेयं (शकुन्तला) शोचनीया सत्यपि तथैव प्रियदर्शना परिलक्ष्यते यथा पत्रशोषकेण वायुना समाक्रान्ता माधवी लता'।

व्याकरण—क्षामक्षामकपोलम् – क्षामक्षामौ अतिशयनक्षीणतरौ कपोलौ यस्मिन् तत् (बहु०)। मदनक्लिष्टा – मदनेन क्लिष्टा (तृतीया तत्पु०) क्लिश्+क्त+टाप्। प्रियदर्शना – प्रियं मनोज्ञं दर्शनं यस्याः सा (बहु०)। शोषणेन – शोष्यते अनेन इति शोषणः तेन करणाधिकरणयोश्च,

इस सूत्र से ल्युट् । यह पद 'मरुता' पद का विशेषण है । आलक्ष्यते – आ+लक्ष्+कर्मवाच्य यक् प्र०पु०ए०व० । शोच्या – शुच्+ण्यत्+टाप् प्र०पु०ए०व० । स्पृष्टा – स्पृश्+क्त+टाप् प्र०पु०ए०व० ।

कोष—'गण्डौ कपोलौ' इत्यमरः । 'वल्ली तु व्रततिर्लता' इत्यमरः ।

अलङ्कार—(१) शोच्या च प्रियदर्शना (शकुन्तला शोचनीया तथा प्रियदर्शना) (देखने में सुन्दर) है – यहाँ विरोध है पर शोचनीय का अर्थ दयनीय होने से उसका परिहार हो जाता है, अतः '**विरोधाभास**' अलङ्कार है । लक्षण द्र० १।१२ श्लोक । (२) यहाँ शकुन्तला के शोच्य होने का कारण उसका काम-पीड़ित (मदनक्लिष्टा) होना है अतः '**काव्यलिङ्ग**' अलङ्कार है । लक्षण द्र० १।४ श्लोक । (३) यहाँ शकुन्तला की तुलना माधवी लता से की गयी है अतः '**उपमा**' अलङ्कार है । लक्षण द्र० १।५ श्लोक ।

छन्द—इस पद्य में **शार्दूलविक्रीडित** छन्द है । लक्षण द्र० १।१४ श्लोक ।

टिप्पणी—इस श्लोक में कामपीड़ित शकुन्तला का वर्णन है । अत्यन्त क्षीण होने पर भी शकुन्तला प्रियदर्शना है इससे उसके कृशसौन्दर्य का श्लाघ्य वर्णन है ।

शकुन्तला—सखि, कस्य वान्यस्य कथयिष्यामि । किन्त्वायासयित्रीदानीं वां भविष्यामि । (सहि, कस्स वा अण्णस्स कहइस्सं । किन्दु आआसइत्तिआ दाणिं वो भविस्सं ।)

व्याकरण एवं शब्दार्थ—आयासयित्री – इदानीम् – आयासयित्री – आ+यस्+णिच् तृच्+ङीप् – दीर्घ सन्धि, कष्ट देने वाली ।

शकुन्तला—सखी, भला और किससे (अपनी दशा) बताऊँगी ? किन्तु अब (बताकर) मैं तुम दोनों को कष्ट देने वाली (ही) होऊँगी ।

उभे—अत एव खलु निर्बन्धः । स्निग्धजनसंविभक्तं हि दुःख सह्यवेदनं भवति । (अदो एव्व क्खु णिब्बन्धो । सिणिद्धजणसंविभक्तं हि दुक्खं सज्झवेदणं होदि ।)

व्या० एवं श०—निर्बन्धः – निर्+बन्ध्+घञ् = आग्रह । स्निग्धजनसंविभक्तम् – स्निग्धेषु स्नेहयुक्तेषु जनेषु संविभक्तम् कृतविभागम् (कथितमिति भावः) स्निह+क्त – स्निग्धः । संविभक्तम् – सम्+वि+भज्+क्त । सह्यवेदनम् – सह्यं सोढुं शक्या वेदना पीडा यस्य (यह पद 'दुःखम्' का विशेषण है) ।

टिप्पणी—दुःखी व्यक्ति अपने दुःख को जब अपने प्रियजनों से बता देता है तो उसका दुःख सह्य अर्थात् कम हो जाता है । दुःख को जान कर प्रियजन उसे सान्त्वना आदि देते हैं और दुःख को दूर करने का प्रयास करते हैं ।

दोनों—इसीलिये तो आग्रह (किया जा रहा) है । क्योंकि स्नेही लोगों से बाँटे गये (बताये गये) दुःख की पीड़ा सह्य हो जाती है ।

राजा—

पृष्टा जनेन समदुःखसुखेन बाला
नेयं न वक्ष्यति मनोगतमाधिहेतुम् ।
दृष्टो विवृत्य बहुशोऽप्यनया सतृष्ण –
मत्रान्तरे श्रवणकातरतां गतोऽस्मि ।। ८ ।।

अन्वय—समदुःखसुखेन जनेन पृष्टा इयं बाला मनोगतम् आधिहेतुं न वक्ष्यति (इति) न, अनया बहुशः विवृत्य सतृष्णं दृष्टः अपि (अहं) अत्रान्तरे श्रवणकातरतां गतः अस्मि ।

शब्दार्थ—समदुःखसुखेन = दुःख और सुख में समान रहने वाले (साथ देने वाले)। जनेन = व्यक्ति (सखिगण) के द्वारा। पृष्टा = पूछी गयी। इयम् = यह। बाला = शकुन्तला। मनोगतम् = मानसिक। आधिहेतुम् = पीड़ा (दुःख) के कारण को। न = नहीं। वक्ष्यति = कहेगी (ऐसा)। न = नहीं। अनया = इसके द्वारा। बहुशः = अनेक बार। विवृत्य = मुड़कर। सतृष्णम् = अभिलाषा के साथ। दृष्टः = देखा गया। अपि = भी (मैं)। अत्रान्तरे = इस समय। श्रवणकातरताम् = (उत्तर) सुनने की अधीरता को (अर्थात् इसका उत्तर सुनने के लिये अधीर हो गया हूँ)। गतः अस्मि = प्राप्त हो गया हूँ।

अनुवाद—दुःख और सुख में समान रहने वाले (अर्थात् दुःख और सुख की साथी) व्यक्तियों (सखियों) के द्वारा पूछी गयी यह किशोरी (शकुन्तला) मानसिक (अपने मन के) दुःख के कारण को नहीं बतायेगी (ऐसी बात) नहीं है (अर्थात् अवश्य बताएगी)। इस (शकुन्तला) के द्वारा अनेक बार (बार-बार) मुड़कर अभिलाषा के साथ देखा गया भी मैं इस समय (इसका उत्तर) सुनने के लिये अधीरता को प्राप्त हो गया हूँ (अर्थात् यह क्या उत्तर देती है–यह सुनने के लिये मैं अधीर हो गया हूँ)।

संस्कृत व्याख्या—**समदुःखसुखेन** – समं तुल्यं दुःखसुखं यस्य तेन, **जनेन** – सखीजनेन, **पृष्टा** – जिज्ञासिता, **इयं बाला** – एषा शकुन्तला, **मनोगतं** – मनसि विद्यमानम्, **आधिहेतुं** – क्लेशकारणम् , **न वक्ष्यति** – नहि कथयिष्यति, **इति न** – अपितु अवश्यमेव कथयिष्यति इति भावः, **अनया** = शकुन्तलया, **बहुशः** – अनेकवारम् , **विवृत्य** – परावृत्य, **सतृष्णं** – साभिलाषम् , **दृष्टः** – अहम् , **अपि** – अपि, **अत्रान्तरे** – अस्मिन् समये, **श्रवणकातरतां** – श्रवणाधीरताम् , **गतः अस्मि** – यातः अस्मि।

संस्कृत-सरलार्थः—शकुन्तलासख्योर्वचनं मनसि निधाय राजा विचारयति—'तुल्यवेदनेन सखीजनेनानुरुद्धेयं मुग्धा (शकुन्तला) स्वमनसि निहितं क्लेशकारणमवश्यमेव वदिष्यति, नात्र संशयः। यद्यपि प्रथमदर्शनकाल एवानयाऽनेकवारं परावृत्याहं साभिलाषं दृष्टोऽपि सम्प्रति प्रतिवचनमस्याः श्रोतुमातुरो जातोऽस्मि'।

व्याकरण—समदुःखसुखेन – दुःखञ्च सुखञ्च तयोः समाहारः दुःखसुखम् (द्वन्द्व), समं दुःखसुखं यस्य तेन (बहु०)। आधिहेतुम् – आ+धा+कि = आधिः, आधेः हेतुम् (तत्पु०)। विवृत्य – वि+वृ+क्त्वा-ल्यप्। श्रवणकातरताम् – श्रवणे कातरः श्रवणकातरः तस्य भावः तत्ता ताम्।

कोष—'पुंस्याधिर्मानसी व्यथा' – इत्यमरः।

अलङ्कार—इस श्लोक में सखियों का शकुन्तला के दुःख-सुख का साथी होना (समदुःखसुखेन) उसके उत्तर की प्राप्ति का कारण (नेयं न वक्ष्यति...) है, अतः **'काव्यलिङ्ग'** अलङ्कार है।

छन्द—इस पद्य में **'वसन्ततिलका'** छन्द है। लक्षण द्र० १।८ श्लोक।

टिप्पणी—(१) 'नेयं न वक्ष्यति' यहाँ दो 'न' का प्रयोग होने से निषेध का अभाव हो गया है। दोनों 'न' मिलकर स्वीकृति सूचक बन गये हैं। इसीलिये इस वाक्य का अर्थ होता है– **'अवश्य कहेगी'**। (२) इस श्लोक में शकुन्तला द्वारा ललकभरी दृष्टि से देखे जाने पर भी राजा इस बात से आशङ्कित है कि शकुन्तला कहीं उत्तर में अपनी व्यथा का कारण मेरे अतिरिक्त किसी अन्य को न बता दे। इसीलिये वह शकुन्तला का उत्तर सुनने के लिये व्यग्र हो रहा है। (३) कुछ

विद्वान् यहाँ से लेकर तृतीय अङ्क की समाप्ति तक '**गर्भ सन्धि**' मानते हैं। कुछ आचार्य अङ्क की समाप्ति तक '**प्रतिमुख सन्धि**' मानते हैं। (४) दुष्यन्त और शकुन्तला की परस्पर उपाय-अपाय की शङ्काओं के कारण '**प्राप्त्याशा**' नामक तृतीय कार्यावस्था है।

शकुन्तला—सखि, यतः प्रभृति मम दर्शनपथमागतः स तपोवनरक्षिता राजर्षिः..। (सहि, जदो पहुदि मम दंसणपहं आअदो तवोवणरक्खिदा राऐसा..।) (इत्यर्धोक्ते लज्जां नाटयति)।

व्या० एवं श०—दर्शनपथम् - दर्शनस्य पन्थाः तम् (तत्पुरुष) यहाँ 'ऋक्पूरब्धू' सूत्र से समासान्त 'अ' प्रत्यय = दृष्टिपथ पर।

शकुन्तला—सखी, जब से तपोवन की रक्षा करने वाले वे राजर्षि मेरी दृष्टि में आये हैं.. (इस प्रकार आधा कहने पर लज्जा का अभिनय करती है)।

उभे—कथयतु प्रियसखी। (कहेदु पिअसही।)

दोनों—प्रिय सखी कहो।

शकुन्तला—तत आरभ्य तद्गतेनाभिलाषेणैतदवस्थाऽस्मि संवृत्ता। (तदो आरहिअ तग्गदेण अहिलासेण एतदवत्थम्हि संवुत्ता।)

शकुन्तला—तब से लेकर (तभी से) उनसे सम्बद्ध अभिलाषा (अनुराग) के कारण मैं इस अवस्था को प्राप्त हो गयी हूँ।

राजा—(सहर्षम्) **श्रुतं श्रोतव्यम्।**

राजा—(प्रसन्नतापूर्वक) (जो) सुनने योग्य (था) (वह) सुन लिया।

स्मर एव तापहेतुर्निर्वापयिता स एव मे जातः।
दिवस इवाभ्रश्यामस्तपात्यये जीवलोकस्य।। ९।।

अन्वय—तपात्यये जीवलोकस्य अभ्रश्यामः दिवसः इव स्मरःएव मे तापहेतुः सः एव निर्वापयिता जातः।

शब्दार्थ—तपात्यये = ग्रीष्म ऋतु की समाप्ति पर। जीवलोकस्य = प्राणिलोक के लिये (प्राणियों के लिये)। अभ्रश्यामः = बादलों से श्याम (काले)। दिवसः इव = दिन की भाँति। स्मरः = कामदेव। एव = ही। मे = मेरे। तापहेतुः = सन्ताप का कारण (था)। सः = वह। एव = ही। निर्वापयिता = शान्ति प्रदान करने वाला। जातः = हो गया है।

अनुवाद—ग्रीष्म ऋतु की समाप्ति पर प्राणियों के लिये बादलों से (आच्छन्न) दिन की भाँति, कामदेव ही मेरे सन्ताप का कारण (था) और वही (कामदेव) (अब मुझे) शान्ति प्रदान करने वाला हो गया है।

संस्कृत व्याख्या—तपात्यये - तपस्य, ग्रीष्मस्य अत्यये अवसाने (ग्रीष्मसमाप्तौ), **जीवलोकस्य** - प्राणिलोकस्य, **अभ्रश्यामः** - अभ्रैः मेघैः श्यामः कृष्णवर्णः, **दिवसः इव** - वासरः इव, **स्मरः एव** - कामः एव, **मे** - मम, **तापहेतुः** - सन्तापकारणम् (आसीत्), **सः एव** - कामः एव, **निर्वापयिता** - (तापस्य) शान्तिप्रदः, **जातः** - भूतः।

संस्कृत-सरलार्थः—यथा वर्षर्तौ वर्षणात् प्राक् मेघकृष्णो दिवसः सन्तापकरो जायते, परं वर्षणानन्तरं स एव शान्तिप्रदः सुखप्रदश्च भवति, तथैवायं कामः प्राक् मे सन्तापहेतुरासीदिदानीन्तु शान्तिदायको जातोऽस्तीति सारांशः।

व्याकरण—तपात्यये - तपस्य अत्यये (तत्पु०)। जीवलोकस्य - जीवानां लोकस्य

(तत्पु०)। अभ्रश्यामः – अभ्रैः श्यामः (तत्पु०)। तापहेतुः – तापस्य हेतुः (तत्पु०)। निर्वापयिता – निर्+वा+णिच्+तृच्।

कोष—'मदनो मन्मथो मारः प्रद्युम्नो मीनकेतनः। कन्दर्पो दर्पकोऽनङ्गः कामः पञ्चशरः स्मरः' ॥ – इत्यमरः। अभ्रं मेघो वारिवाहः स्तनयित्नुर्बलाहकः ॥ – इत्यमरः। 'लोकस्तु भुवने जने' – इत्यमरः।

अलङ्कार—इस श्लोक में कामदेव को ताप का हेतु (तापहेतुः) एवं ताप को दूर करने वाला निर्वापयिता कहा गया है अतः विरोध है पर उस विरोध का परिहार उसके (कामदेव के) दो भिन्न स्थितियों में स्थित होने से हो जाता है अतः '**विरोधाभास**' अलङ्कार है। (२) 'दिवस इव अभ्रश्यामः' इस स्थल में '**उपमा**' अलङ्कार है क्योंकि कामदेव की तुलना कालेदिवस (अभ्रश्यामः) से की गयी है। दोनों अलङ्कारों का लक्षण द्रष्टव्य क्रमशः २।११ श्लोक एवं १।५ श्लोक। (३) कुछ लोग यहाँ नायिकागत काम से दुष्यन्तगत कामपीडा की शान्ति की प्रतीति होने से यहाँ '**व्याघात**' नामक अलङ्कार मानते हैं। लक्षण – 'यथासाधितस्य तथैवान्यथाकरणं व्याघातः'।

छन्द—इस पद्य में '**आर्या**' छन्द है। लक्षण द्र० १।२ श्लोक।

टिप्पणी—इस श्लोक में कामदेव को राजा के सन्ताप और उसकी शान्ति (आनन्द) दोनों का कारण बताया गया है। शकुन्तला का उत्तर सुनने के पहले जो काम (अनुराग) राजा को संशय के कारण सन्ताप दे रहा था वही अब उसके प्रति शकुन्तला का अनुराग ज्ञात हो जाने पर आनन्दप्रद हो गया है। कामदेव की तुलना ग्रीष्म के समाप्त होने पर अर्थात् वर्षाऋतु के प्रारम्भ होने पर मेघाच्छन्न उस काले दिवस से की गयी है जो वर्षा के पूर्व उष्मता (ऊमस) के कारण सबको सन्तप्त कर देता है, पर वही वर्षा हो जाने पर सबके सन्ताप को दूर कर देने के कारण आनन्दप्रद हो जाता है।

विशेष—इसी प्रकार का भाव कालिदास के रघुवंश सर्ग १० के श्लोक ८३ में है – 'मनो जहुः निदाघान्ते श्यामाभ्रा दिवसा इव' तथा विक्रमोर्वशीय के अङ्क ४ के श्लोक १४ में व्यक्त हुआ है – 'नववारिधरोदयादहोभिः भवितव्यं च निरातपर्द्धिरम्यैः'।

शकुन्तला—तद्यदि वामनुमतं, तथा वर्तेथां यथा तस्य राजर्षेरनुकम्पनीया भवामि। अन्यथाऽवश्यं सिञ्चतं मे तिलोदकम्। (तं जइ वो अणुमदं, तह वट्टह जह तस्स राएसिणो अणुकम्पणिज्ज होमि। अण्णहा अवस्सं सिंचह मे तिलोदअं।)

व्या० एवं श०—वाम् - युवयोः = तुम दोनों की। अनुमतम् - अनु+मन्+क्त = सहमति (अभीष्ट)। वर्तेथाम् – वृत्+लोट्+म०पु०द्वि०व० = प्रयत्न करो। अनुकम्पनीया – अनु+कम्प्+अनीयर+टाप् = अनुकम्पनीय (कृपापात्र)। सिञ्चतम् – सिञ्च+लोट्+म०पु०द्वि०व० = सींचना (देना)। तिलोदकम् सिञ्चतम् का अर्थ है तिलाञ्जलि देना। किसी के मरने पर तिलमिश्रित जल दिया जाता है। शकुन्तला के कथन का अभिप्राय यह है कि यदि उसकी सखियों ने दुष्यन्त का कृपापात्र नहीं बनाया तो वह मर जायेगी और उन दोनों को तिलाञ्जलि देना पड़ेगा।

शकुन्तला—यदि तुम दोनों की अनुमति हो तो वैसा प्रयत्न करो जिस प्रकार मैं उस राजर्षि (दुष्यन्त) की कृपापात्र बन जाऊँ। नहीं तो अवश्य ही (मैं मर जाऊँगी और तुम लोगों को) मुझे तिल-मिश्रित जल (तिलाञ्जलि) देना होगा।

राजा—संशयच्छेदि वचनम्।

व्या० एवं श०—संशयच्छेदि – संशयं सन्देहं छिनत्ति संशयच्छेदि = सन्देह को दूर करने वाला।

राजा—(इसका यह) वचन सन्देह को दूर करने वाला है।

प्रियंवदा—(जनान्तिकम्) **अनसूये, दूरगतमन्मथाऽक्षमेयं कालहरणस्य। यस्मिन् बद्धभावैषा, स ललामभूतः पौरवाणाम्। तत् युक्तमस्या अभिलाषोऽभिनन्दितुम्।** (अणसूए, दूरगअमम्हा अक्खमा इअं कालहरणस्स। जस्सिं बद्धभावा एसा स ललामभूदो पोरवाणं। ता जुत्तं से अहिलासो अहिणन्दिदुं।)

व्याकरण एवं शब्दार्थ—दूरगतमन्मथा - दूरम् गतः प्राप्तः मन्मथः यस्याः सा = दूर जा चुका है कामभाव जिसका अर्थात् जिसका कामभाव बहुत बढ़ गया है ऐसी कामपीड़ित वह (शकुन्तला)। अक्षमा - न क्षमा अक्षमा (न०त०) = असमर्थ। कालहरणस्य - कालस्य समयस्य हरणस्य यापनस्य = समय बिताने में। बद्धभावा - बद्धः भावः यस्याः सा = आसक्त (बहुव्रीहि है)। ललामभूतः = प्रधान (शिरोमणि)। अभिनन्दितुम् - अभि+नन्द्+तुमुन् = अनुमोदन के लिये। युक्तम् = उचित (समीचीन) है।

प्रियंवदा—(हाथ की ओट में) जिसका काम-भाव बहुत बढ़ गया है ऐसी यह (शकुन्तला) विलम्ब को सहन करने में असमर्थ है। जिस पर यह आसक्त है, वह पुरुवंशियों का प्रधान (शिरोमणि) है। इसलिये इसकी अभिलाषा का अनुमोदन करना (ही) उचित है। (अर्थात् इसकी अभिलाषा सर्वथा अभिनन्दनीय है)।

अनसूया—तथा यथा भणसि। (तह जह भणासि।)

व्या० एवं श०—भणसि - भण म०पु०ए०व० = कह रही हो।

अनसूया—जैसा (तुम) कह रहीं हो, वैसा (ही किया जायेगा)।

प्रियंवदा—(प्रकाशम्) **सखि, दिष्ट्याऽनुरूपस्तेऽभिनिवेशः। सागरमुज्झित्वा कुत्र वा महानद्यवतरति। क इदानीं सहकारमन्तरेणातिमुक्तलतां पल्लवितां सहते।** (सहि, दिट्ठिआ अणुरूवो दे अहिणिवेसो। साअरं अज्झिअ कहिं वा महाणई ओदरइ। को दाणि सहआरं अन्तरेण अदिमुत्तलदं पल्लविदं सहेदि।)

व्या० एवं श०—दिष्ट्या = भाग्य से। अभिनिवेशः - अभि+नि+विश्+घञ् = आग्रह (प्रेमासक्ति)। अनुरूपः = अनुकूल। उज्झित्वा - उज्झ्+क्त्वा = छोड़कर। अवतरति - अव+तॄ+लट् प्र०पु०ए०व० = उतरती (मिलती) है। सहकारमन्तरेण - (अन्तरेण के योग में द्वितीया) = सहकार (आम्रवृक्ष) के बिना अर्थात् आम्रवृक्ष के अतिरिक्त। अतिमुक्तलताम् = माधवी लता को। पल्लविताम् = पल्लवित।

प्रियंवदा—(प्रकट रूप में) सखी, सौभाग्य से तुम्हारी प्रेमासक्ति (तुम्हारे) अनुकूल ही है (जो कि तुम राजा को चाहती हो)। अथवा महानदी समुद्र को छोड़कर और कहाँ गिरती (मिलती) है। सम्प्रति आम्र-वृक्ष के बिना और कौन (वृक्ष) पल्लवों से युक्त माधवी लता को सहारा दे सकता है।

राजा—किमत्र चित्रं यदि विशाखे शशाङ्कलेखामनुवर्तेते।

व्या० एवं श०—विशाखे = दो विशाखा नक्षत्र। शशाङ्कलेखाम् - शशाङ्कस्य चन्द्रस्य लेखाम् = चन्द्रलेखा का। यहाँ दो विशाखा नक्षत्र से अनसूया एवं प्रियंवदा की तथा शशाङ्कलेखा से शकुन्तला का सङ्केत है।

राजा—इसमें क्या आश्चर्य है, यदि विशाखा (नामक) तारिकायें (नक्षत्र) चन्द्रकला का अनुसरण (अनुमोदन) करती है।

अनसूया—कः पुनरुपायो भवेद् येनाविलम्बितं निभृतं च सख्या मनोरथं सम्पादयावः। (को उण उवाओ भवे जेण अविलम्बिअं णिहुअं अ सहीए मणोरहं संपादेम्ह।)

अनसूया—फिर कौन उपाय हो सकता है, जिससे (हम लोग) शीघ्र गुप्त रूप से सखी (शकुन्तला) के मनोरथ को पूरा कर सकते है।

प्रियंवदा—निभृतमिति चिन्तनीयं भवेत्। शीघ्रमिति सुकरम्। (णिहुअ त्ति चिन्तणिज्जं भवे। सिग्घं त्ति सुअरं।)

शब्दार्थ—निभृतम् = गुप्त रूप से। सुकरम् = सरल।

प्रियंवदा—'गुप्त रूप से' (कार्य कैसे होगा) – यह सोचना है। शीघ्र (कार्य करना) – यह (तो) सरल है।

अनसूया—कथमिव ? (कहं विअ ?)

अनसूया—कैसे ?

प्रियंवदा—ननु स राजर्षिरस्यां स्निग्धदृष्ट्या सूचिताभिलाष एतान् दिवसान् प्राजगरकृशो लक्ष्यते। (णं सो राएसी इमस्सिं सिणिद्धदिट्ठीए सूइदाहिलासो इमइं दिअहाइं पजाअरकिसो लक्खीअदि।)

प्रियंवदा—निश्चय ही वे राजर्षि इस (शकुन्तला) के प्रति स्नेहयुक्त दृष्टि से अपनी अभिलाषा प्रकट कर चुके हैं और इन दिनों (रात्रि में) जागरण के कारण दुर्बल दिखायी दे रहे हैं।

राजा—सत्यमित्थंभूत एवास्मि। तथाहि—

राजा—सचमुच ऐसा ही हो गया हूँ। क्योंकि—

इदमशिशिरैरन्तस्तापाद् विवर्णमणीकृतं
निशि निशि भुजन्यस्तापाङ्गप्रसारिभिरश्रुभिः।
अनभिलुलितज्याघाताङ्कं मुहुर्मणिबन्धनात्
कनकवलयं स्रस्तं स्रस्तं मया प्रतिसार्यते॥ १०॥

अन्वय—निशि निशि भुजन्यस्तापाङ्गप्रसारिभिः अन्तस्तापात् अशिशिरैः अश्रुभिः विवर्णमणीकृतम् अनभिलुलितज्याघाताङ्कं मणिबन्धनात् स्रस्तं स्रस्तम् इदं कनकवलयं मया मुहुः प्रतिसार्यते।

शब्दार्थ—निशि निशि = प्रत्येक रात्रि में (रात-रात भर)। भुजन्यस्तापाङ्गप्रसारिभिः = भुजा पर (न्यस्त) रखे गये नेत्र के प्रान्त-भाग (कोने) से बहने वाला। अन्तस्तापात् = आन्तरिक सन्ताप (मनस्ताप) के कारण। अशिशिरैः = उष्ण। अश्रुभिः = आँसुओं से। विवर्णमणीकृतम् = जिसकी मणियाँ मलिन (धूमिल) हो गयी हैं ऐसा। अनभिलुलितज्याघाताङ्कम् = जिसके द्वारा प्रत्यञ्चा (धनुष की डोरी) के आघात (रगड़) के चिह्न को स्पर्श न करते हुये। मणिबन्धनात् = कलाई से। स्रस्तम् = बार-बार खिसका हुआ। इदम् = यह। कनकवलयम् = सुवर्ण का कङ्गन। मया = मेरे द्वारा। मुहुः = बार-बार। प्रतिसार्यते = (ऊपर) सरकाया जाता है।

अनुवाद—(बाँई) भुजा पर रखे गये नेत्र के प्रान्त-भाग (कोने) से बहने वाले और आन्तरिक सन्ताप (मनस्ताप) के कारण उष्ण (गर्म) आँसुओं से धूमिल मणियों वाला और प्रत्यञ्चा

(धनुष की डोरी) के आघात (रगड़) के चिह्न को स्पर्श न करता हुआ कलाई से बार-बार सरका हुआ यह स्वर्ण कङ्कन मेरे द्वारा पुनः-पुनः (ऊपर) सरकाया जाता है।

संस्कृत व्याख्या—निशि निशि – (तद्दर्शनात्प्रभृति) प्रतिरात्रम् सर्वासु रात्रिषु, **भुजन्यस्तापाङ्गप्रसारिभिः** – भुजे बाहौ न्यस्तः विन्यस्तः यः अपाङ्गः नेत्रप्रान्तभागः तस्मात् प्रसारिभिः निर्गच्छद्भिः, **अन्तस्तापात्** – कामजनितमनस्तापात् अशिशिरैः उष्णैः, **अश्रुभिः** – नेत्रजलैः, **विवर्णमणीकृतं** – निष्प्रभमणीकृतम् तत् , **अनभिलुलितज्याघाताङ्कम्** – अनभिलुलितः अस्पृष्टः ज्यायाः मौर्व्याः आघातेन घर्षणेन अङ्कः चिह्नं येन तत् , **मणिबन्धनात्** – करमूलात् (प्रकोष्ठात्) स्रस्तं स्रस्तं पुनः पुनः स्खलितम्, **इदम्** – एतत् , **कनकवलयं** – स्वर्णकङ्कणम्, मया दुष्यन्तेन; **मुहुः** – पुनः पुनः, **प्रतिसार्यते** – उपरि यथास्थानं स्थाप्यते।

संस्कृत-सरलार्थः—प्रियंवदायाः 'ननु स राजर्षिः प्रजागरकृशो लक्ष्यते' इति वचनमाश्रित्य स्वदौर्बल्यं वर्णयतो राज्ञो वचनस्यायं संक्षेपः—'प्रतिनिशं मया (दुष्यन्तेन) अस्पृष्टज्याघाताङ्क मणिबन्धनात् पौनःपुन्येन स्खलितं स्वर्णवलयं वारं वारं स्वस्थानं प्राप्यते, यस्य मणयोः वामभुजन्यस्तप्रान्तनिर्गमनशीलैरान्तरिक-कामसन्तापोष्णैरश्रुभिः कान्तिहीना जाताः।

व्याकरण—भुजन्यस्तापाङ्गप्रसारिभिः – भुजे न्यस्तः यः अपाङ्गः तस्मात् प्रसारिभिः (कर्म०, तत्पु०)। अन्तस्तापात् – अन्तर्गतः तापः अन्तस्तापः तस्मात्। विवर्णमणीकृतम् – विवर्णाः मणयः यस्मिन् तत् (बहु०), अविवर्णमणि विवर्णमणिकृतम् विवर्णमणीकृतम् – विवर्णमणि+च्वि+कृ+क्त। अनभिलुलितज्याघाताङ्कम् – अनभिलुलितः ज्यायाः आघातस्य अङ्कः येन तत् (तत्पु०, बहु०)। मणिबन्धनात् – मणिः बध्यतेऽस्मिन्निति मणिबन्धनं तस्मात्। कनकवलयम् – कनकस्य वलयम् (तत्पु०)।

कोष—'स्वर्णं सुवर्णं कनकं हेमहाटकम्। तपनीयं शातकुम्भं शाङ्ग्यं मर्म कर्बुरम्'– इत्यमरः।

अलङ्कार—(१) इस श्लोक में विरही राजा की कृशता के कारण उसके कङ्कण के ढीले होने, नीचे खिसकने आदि का स्वाभाविक वर्णन होने के कारण '**स्वभावोक्ति**' अलङ्कार है।

छन्द—इस पद्य में '**हरिणी**' छन्द है। हरिणी का लक्षण है – '**नसमरसला गः षड्गवेदैर्वैहरिणी मता**' अर्थात् जिस छन्द के प्रत्येक चरण में क्रमशः नगण, सगण, मगण, रगण, सगण, लघु तथा गुरु वर्ण होते हैं उसे हरिणी कहते हैं। इसमें छठे, चौथे तथा सातवें वर्णों के पश्चात् यति होती है।

टिप्पणी—इस श्लोक में राजा की शारीरिक क्षीणता (विशेषतः हाथ की क्षीणता) का वर्णन है। राजा इतना दुर्बल हो गया है कि उसका कङ्कन, भुजा पर बने प्रत्यञ्चा की रगड़ के चिह्न को, स्पर्श किये बिना ही खिसक जाता है। यदि राजा की भुजा अतिक्षीण न होती तो निश्चय ही उसपर कङ्कण की रगड़ होती।

प्रियंवदा—(विचिन्त्य) **हला, मदनलेखोऽस्य क्रियताम्। तं सुमनोगोपितं कृत्वा देवप्रसादस्यापदेशेन तस्य हस्तं प्रापयिष्यामि।** (हला, मअणलेओ से करीअदु। तं सुमणोगोविदं करिअ देवप्पसादस्सदवदेसेण से हत्थअं पावइस्सं।)

व्या० एवं श०—मदनलेखः – मदनस्य लेखः = कामपत्र (प्रेमपत्र)। सुमनोगोपितं –

सुमनोभिः कुसुमैः गोपितम् (त०) = फूलों में छिपाकर। देवप्रसादस्य अपदेशेन (स०त०) = देवप्रसाद के बहाने से। प्रापयिष्यामि – प्र+आप्+णिच्+लृट्+उ०पु०ए०व० = प्राप्त करा दूँगी– पहुँचा दूँगी।

विशेष—मदनलेखः – स्त्रियों की भावाभिव्यक्ति के चार उपाय कहे गये हैं। वे हैं— (१) प्रेमपत्र (मदनलेख) भेजना, (२) प्रिय को प्रेमपूर्वक देखना, (३) मीठी (मधुर) बातें, (४) दूती भेजना। नाट्यशास्त्र में कहा गया है— लेखप्रस्थापनैः स्निग्धैर्वीक्षितैर्मृदुभाषितैः। दूतीसंप्रेषणैर्नार्या भावाभिव्यक्तिरिष्यते ।।

प्रेमपत्र के माध्यम से लिखने वाला व्यक्ति अपनी प्रेमभावना का उल्लेख करता है।

प्रियंवदा—(सोचकर) सखी, इस (राजा दुष्यन्त) के लिये (शकुन्तला के द्वारा) मदनलेख (प्रेम-पत्र) लिखवाओ। उस (प्रेम-पत्र) को फूलों में छिपाकर देवता के प्रसाद के बहाने से मैं उस (राजा दुष्यन्त) के हाथ में पहुँचा दूँगी।

अनसूया—रोचते मे सुकुमारः प्रयोगः। किं वा शकुन्तला भणति ? (रोअइ मे सुउमारो पओओ। किं वा सउन्दला भणादि ?)

शब्दार्थ—सुकुमारः = कोमल (सुगम)। प्रयोगः = उपाय।

अनसूया—यह सुकुमार (सुगम) प्रयोग (उपाय) मुझे पसन्द है। किन्तु शकुन्तला क्या कहती है (अर्थात् उसका क्या विचार है) ?

शकुन्तला—किं नियोगो वां विकल्प्यते। (किं णिओओ वो विकप्पीअदि।)

व्या० एवं श०—नियोगः = आज्ञा। विकल्प्यते – वि+कल्प्+कर्मवाच्य यक् प्र०पु०ए०व० = टाली जा सकती है ?

शकुन्तला—क्या तुम दोनों की आज्ञा टाली जा सकती है (अर्थात् नहीं टाली जा सकती है)।

प्रियंवदा—तेन ह्यात्मन उपन्यासपूर्वं चिन्तय तावत् किमपि ललितपदबन्धनम्। (तेण हि अत्तणों उवण्णासुपुव्वं चिन्तेहि दाव किम्पि ललिअपदबन्धणं।)

व्याकरण एवं शब्दार्थ—उपन्यासपूर्वम् = उल्लेख पूर्वक। ललितपदबन्धनम् – ललितपदानां बन्धनम् = ललित पदों की रचना।

प्रियंवदा—तो अपना उल्लेख करते हुए कोई ललित-पदों वाली रचना (बन्धन) सोचो।

शकुन्तला—हला, चिन्तयाम्यहम्। अवधीरणाभीरुकं पुनर्वेपते मे हृदयम्। (हला, चिन्तमि अहं। अवहीरणाभीरुअं पुणो वेवह मे हिअअ।)

व्या० एवं श०—अवधीरणाभीरुकम् – अवधीरणया अवज्ञया भीरुकं भीतम् = अपमान से भीत। यह पद 'हृदयम्' का विशेषण है।

शकुन्तला—सखी, मै सोचती हूँ। (किन्तु) तिरस्कार से भीत मेरा हृदय काँप रहा है।

राजा—(सहर्षम्)

राजा—(प्रसन्नतापूर्वक)

अयं स ते तिष्ठति सङ्गमोत्सुको
विशङ्कसे भीरु यतोऽवधीरणाम् ।

लभेत वा प्रार्थयिता न वा श्रियं
श्रिया दुरापः कथमीप्सितो भवेत् ।। ११ ।।

अन्वय—भीरु, यतः अवधीरणां विशङ्कसे, सः अयं ते सङ्गमोत्सुकः तिष्ठति प्रार्थयिता श्रियं लभेत वा न वा, श्रिया ईप्सितः कथं दुरापः भवेत् ।

शब्दार्थ—भीरु = हे भयशीले, हे डरपोक । यतः = जिससे । अवधीरणाम् = तिरस्कार की (को) । विशङ्कसे = आशङ्का करती हो । सः = वही । अयम् = यह (दुष्यन्त)। ते = तुम्हारे । सङ्गमोत्सुकः = सङ्गम (मिलन) के लिये उत्कण्ठित (उत्सुक) । तिष्ठति = खड़ा है । प्रार्थयिता = (लक्ष्मी की) प्रार्थना करने वाला (लक्ष्मी को चाहने वाला) । श्रियम् = लक्ष्मी को । लभेत = प्राप्त करे । वा न वा = अथवा न (करे) । श्रिया = (भला) लक्ष्मी के द्वारा । ईप्सितः = चाहा गया (व्यक्ति) । कथम् = कैसे । दुरापः = दुर्लभ । भवेत् = हो सकता है ?

अनुवाद—हे भयशीले (भयालु) जिससे तुम तिरस्कार (अनादर) की आशङ्का करती हो, वही यह (दुष्यन्त) तुम्हारे मिलन के लिये उत्कण्ठित खड़ा है । प्रार्थना करने वाला (लक्ष्मी को चाहने वाला) व्यक्ति लक्ष्मी को प्राप्त करे अथवा न (करे), किन्तु लक्ष्मी के द्वारा चाहा गया व्यक्ति (लक्ष्मी के लिये) भला कैसे दुर्लभ हो सकता है ?

संस्कृत व्याख्या—**भीरु** – हे भयशीले ! यतः – यस्मात् दुष्यन्तात् , अवधीरणाम् – अवहेलनाम् , विशङ्कसे – वितर्कयसे, सः अयं – दुष्यन्तः, ते – तव, सङ्गमोत्सुकः – सङ्गमाय व्याकुलः सन् , तिष्ठति – स्थितो वर्तते, प्रार्थयिता – प्रार्थी, श्रियं – लक्ष्मीम् , लभेत वा – प्राप्नुयात् वा, न वा – न प्राप्नुयात् वा, श्रिया – लक्ष्म्या, ईप्सितः – आप्तुमिष्टः (जनः), कथं – केन प्रकारेण, दुरापः – दुर्लभः, भवेत् – स्यात् अर्थात् स तु तत्कृते सर्वथा सुलभः एव ।

संस्कृत-सरलार्थः—शकुन्तलायाः 'अवधरणाभीरुकं पुनर्वेपते मे हृदयमिति-वचनमाकलय्य राजा स्वमनसि वदति—'अपि भयशीले । यस्माज्जनात् (दुष्यन्तात्) त्वं प्रणयावहेलनामाशङ्कसे स एवायं दुष्यन्तस्त्वयि रतिप्रार्थनार्थमुत्सुकः सन् त्वदाज्ञां प्रतीक्षमाणोऽत्र तिष्ठति । प्रार्थी लक्ष्मीमाप्नुयान्नवाऽऽप्नुयात् परन्तु लक्ष्म्या प्राप्तुमिष्टो जनः कथमपि दुर्लभो न स्यादिति ।

व्याकरण—सङ्गमोत्सुकः – सङ्गमे उत्सुकः (तत्पु०) । दुरापः – दुर्+आप+खल्। ईप्सितः – आप्+सन्+क्त ।

अलङ्कार—इस श्लोक में उत्तरार्धगत सामान्य से पूर्वार्धगत विशेष का समर्थन होने से '**अर्थान्तरन्यास**' अलङ्कार है । लक्षण द्र० १।२ श्लोक ।

छन्द—इस पद्य में **वंशस्थ** छन्द है । लक्षण द्र० १।१८ श्लोक ।

टिप्पणी—उक्त श्लोक में दुष्यन्त के कथन का भाव यह है कि लक्ष्मी को प्राप्त करने की इच्छा रखने वाले व्यक्ति के लिये उसकी (लक्ष्मी की) प्राप्ति सर्वथा सम्भव नहीं है । वह उसे प्राप्त भी हो सकती हे और नहीं भी हो सकती है । परन्तु इसके विपरीत लक्ष्मी के द्वारा चाहा गया व्यक्ति तो प्रत्येक दशा में उसके लिये सुलभ ही होता है । उसकी दुर्लभता का प्रश्न ही नहीं उठता । अतः लक्ष्मीरूपिणी शकुन्तला भले ही दुष्यन्त के लिये सुलभ या दुर्लभ दोनों हो, परन्तु शकुन्तला के द्वारा चाहने पर तो दुष्यन्त जैसा प्रार्थी उसके सत्कार के लिये सर्वथा प्रस्तुत ही है ।

सख्यौ—अयि आत्मगुणावमानिनि, क इदानीं शरीरनिर्वापयित्रीं शारदीं ज्योत्स्नां पटान्तेन वारयति । (अयि अत्तगुणावमाणिणि, को दाणिं सरीरणिव्वावइत्तिअं सारदिअं जोसिणिं

पडन्तेण वारेदि ।)

व्या० एवं श०—आत्मगुणावमानिनि – आत्मनःस्वस्य गुणान् शीलसौन्दर्यादी- न् अवमन्यते तिरस्करोति तत्सम्बोधने = अपने गुणों का स्वयं अपमान करने वाली। शरीरनिर्वापयित्रीम् – शरीस्य निर्वापयित्रीम् (त०पु०) = शरीर को शान्ति प्रदान करने वाली। शारदीम् – शरद्+अण्+ङीप् = शरत्कालीन। ज्योत्स्नाम् = चन्द्रिका (चाँदनी) को। 'चन्द्रिका कौमुदी ज्योत्स्ना' इत्यमरः। पटान्तेन = पटस्य अन्तः तेन = वस्त्र के छोर से। वारयति = रोकता (ढँकता) है।

दोनों सखियाँ—अरी अपने गुणों की अवमानना (तिरस्कार) करने वाली, (अपने) शरीर को शान्ति देने वाली शरत्कालीन चाँदनी को अब कौन (अपने) वस्त्र के छोर (अञ्चल) से रोकता है ? (अर्थात् कोई नहीं रोकता)।

शकुन्तला—(सस्मितम्) **नियोजितेदानीमस्मि**। (णिओइआ दाणिंम्हि।) (इत्युपविष्टा चिन्तयति)।

शकुन्तला—(मुस्कराकर) तो मैं अब (प्रेम-पत्र लिखने के कार्य में) लगती हूँ। (बैठकर सोचती है)।

राजा—स्थाने खलु विस्मृतनिमेषेण चक्षुषा प्रियामवलोकयामि। यतः—

व्या० एवं श०—विस्मृतनिमेषेण – विस्मृतः निमेषः येन तेन = अपलक।

राजा—सुअवसर (स्थाने) पर अपलक नयनों से (अपनी) प्रियतमा (शकुन्तला) को देख रहा हूँ। क्योंकि—

उन्नमितैकभ्रूलतमाननमस्याः पदानि रचयन्त्याः।
कण्टकितेन प्रथयति मय्यनुरागं कपोलेन।। १२।।

अन्वय—(मदनलेखस्य) पदानि रचयन्त्याः अस्याः उन्नमितैकभ्रूलतम् आननं कण्टकितेन कपोलेन मयि अनुरागं प्रथयति।

शब्दार्थ—(मदनलेखस्य – प्रेमपत्र के) पदानि = पदों को। रचयन्त्याः = रचती हुई। अस्याः = इसका। उन्नमितैकभ्रूलतम् = जिसकी एक भौंह (भ्रूलता) ऊपर उठायी गयी है ऐसा (उठायी गयी एक भौंह से युक्त)। आननम् = मुख। कण्टकितेन = रोमाञ्चित। कपोलेन = कपोल से। मयि = मेरे प्रति। अनुरागम् = अनुराग को। प्रथयति = प्रकट कर रहा है।

अनुवाद—(प्रेम-पत्र के) पदों की रचना करती हुई इस (शकुन्तला) का उठायी गयी एक भौंह से युक्त मुख रोमाञ्चित कपोल से मेरे प्रति अनुराग को प्रकट कर रहा है।

संस्कृत व्याख्या—पदानि मदनलेखयोग्यानि सुप्तिङन्तरूपाणि (छन्दःपादानि वा), **रचयन्त्याः** – निबध्नयन्त्याः, **अस्याः** – शकुन्तलायाः, **उन्नमितैकभ्रूलतम्** – उदञ्चितैकभ्रूकुटिम् , **आननं** – मुखम् , **कण्टकितेन** – रोमाञ्चितेन, **कपोलेन** – गण्डस्थलेन, **मयि** – दुष्यन्ते, **अनुरागं** – प्रीतिम् , **प्रथयति** – प्रकाशयति।

संस्कृत-सरलार्थः—प्रणयपत्रगतपदानि रचयन्त्याः शकुन्तलाया मुखाकृतिमालक्ष्य राजा कथयति—'कवितापदानि निबध्नन्त्या अस्या मुखं, यस्मिन्नेकभ्रूलतोन्नमिता विद्यते रोमाञ्चितेन कपोलेन मयि (दुष्यन्ते) तत्प्रीतिं प्रकटयति'।

व्याकरण—उन्नमितैकभ्रूलतम् – उन्नमिता एका भ्रूलता यस्मिन् तत् (बहु०)। कण्टकितेन रोमाञ्चितेन – कण्टक+इलच्।

कोष—'वक्त्रास्ये वदनं तुण्डमाननं लपनं मुखमित्यमरः'।

अलङ्कार—रोमाञ्चित कपोलों से शकुन्तला के राजा से सम्बन्धित अनुराग का अनुमान होने से '**अनुमान**' अलङ्कार है।

छन्द—इस श्लोक में '**आर्या**' छन्द है।

टिप्पणी—(१) अनुराग रति की छठी अवस्था है। छह अवस्थायें है – प्रेमा, मानः, प्रणयः, स्नेहो, रागोऽनुरागः। सुधाकरः। (२) आचार्य विश्वनाथ के अनुसार यहाँ **गर्भ सन्धि** के '**क्रम**' नामक सन्ध्यङ्ग का वर्णन है। (३) इस श्लोक में दुष्यन्त के प्रति शकुन्तला के अनुराग का अति सुन्दर वर्णन है। साथ ही प्रेमपत्र के लिखते समय उसकी आङ्गिक चेष्टाओं का भी आकर्षक वर्णन है।

शकुन्तला—हला, चिन्तितं मया गीतवस्तु। असन्निहितानि पुनर्लेखनसाधनानि। (हला, चिन्तिदं मए गीदवत्थु। असण्णिहिदाणि उण लेहणसाहणाणि।)

शब्दार्थ—असन्निहितानि = अविद्यमान।

शकुन्तला—सखी, मेरे द्वारा पद्य (गीत) की वस्तु (भाव) सोच ली गयी है। किन्तु लिखने का साधन (यहाँ) विद्यमान नहीं है।

प्रियंवदा—एतस्मिन् शुकोदरसुकुमारे नलिनीपत्रे नखैर्निक्षिप्तवर्णं कुरु। (इमस्सिं सुओदरसुउमारे णलिणीपत्ते णहेहिं णिक्खित्तवण्णं करेहि।)

व्या० एवं श०—शुकोदरसुकुमारे – शुकस्य उदरमिव सुकुमारे। यह पद नलिनीपत्रे का विशेषण है = तोते के उदरभाग की भाँति कोमल। नलिनीपत्रे – नलिन्याः कमलिन्याः पत्रे = कमलिनी के पत्ते पर। निक्षिप्तवर्णम् कुरु = वर्णों को अङ्कित कर दो।

प्रियंवदा—तोते के उदरभाग की भाँति सुकोमल इस कमलिनी के पत्ते पर नखों के द्वारा वर्णों (अक्षरों) को अङ्कित कर दो।

शकुन्तला—(यथोक्तं रूपयित्वा) **हला, शृणुतमिदानीं सङ्गतार्थं न वेति।** (हला, सुणुद दाणिं सगदत्थं ण वेति।)

व्या० एवं श०—सङ्गतार्थम् – सङ्गतः अर्थः यस्य तत् = उचित अर्थवाला।

शकुन्तला—(पूर्वोक्त के अनुसार लिखने का अभिनय कर) सखियों, अब सुनों, (यह पद्य) उचित अर्थ वाला है, अथवा नहीं।

उभे—अवहिते स्वः। (अवहिदे म्ह।)

दोनों—हम दोनों (सुनने के लिये) सावधान हैं।

शकुन्तला—(वाचयति)—

शकुन्तला—बाँचती है (पढ़ती है)—

तव न जाने हृदयं मम पुनः कामो दिवाऽपि रात्रावपि।
निर्घृण तपति बलीयस्त्वयि वृत्तमनोरथाया अङ्गानि॥ १३॥

(तुज्झ ण आणे हिअअं मम उण कामो दिवावि रत्तिम्पि।
णिग्घिण तवइ बलीअं तुइ तुत्तमणोरहाइं अंगाइं॥)

अन्वय—निर्घृण, तव हृदयं न जाने, (किन्तु) त्वयि वृत्तमनोरथायाः मम पुनः अङ्गानि कामः दिवा अपि रात्रौ अपि बलीयः तपति।

शब्दार्थ—निर्घृण = हे निर्दय ! तव = तुम्हारे । हृदयम् = हृदय को । न = नहीं । जाने = जानती हूँ । त्वयि = तुम्हारे प्रति । वृत्तमनोरथाया: = जिसकी अभिलाषा उत्पन्न हो गयी है ऐसी, उत्पन्न अभिलाषा वाली । मम = मेरे । अङ्गानि = अङ्गों को । काम: = कामदेव । दिवा अपि रात्रौ अपि = दिन में भी और रात में भी, अर्थात् दिन-रात । बलीय: = अत्यधिक । तपति = तपा रहा है (पीड़ित कर रहा है) ।

अनुवाद—हे निर्दय, तुम्हारे हृदय को मैं नहीं जानती हूँ, (किन्तु) तुम्हारे प्रति उत्पन्न अभिलाषा से युक्त मेरे अङ्गों को कामदेव दिन-रात अत्यधिक तपा रहा है (पीड़ित कर रहा है) ।

संस्कृत व्याख्या—**निर्घृण** – हे निर्दय, तव – दुष्यन्तस्य, **हृदयं** – मानसम्, **न जाने** – न जानामि; किन्तु **त्वयि** – दुष्यन्ते, **वृत्तमनोरथाया:** – जाताभिलाषाया:, **मम** – शकुन्तलाया:, **पुन:** – तु, **अङ्गानि** – अवयवान् , **काम:** – मदन:, **दिवा अपि** – अहनि अपि, **रात्रौ अपि** – रजन्याम् अपि, **बलीय:** – अत्यन्तम्, **तपति** – व्यथयति ।

संस्कृत-सरलार्थ:—शकुन्तलालिखितप्रणयपत्रस्यायं संक्षेप:—'हे निर्दय ! तव हृदयदशान्तु नाहं जाने, मयि तदनुरक्तं न वाऽनुरक्तं, किन्तु त्वदनुरक्ताया: कामोऽधुना ममाङ्गानि रात्रिन्दिवं नितान्तं सन्तापयतीति तु निर्विवादमेव' ।

व्याकरण—निर्घृण – निर्गता दूरीभूता घृणा कृपा दया यस्मात् स तत्सम्बुद्धौ हे निर्घृण । वृत्तमनोरथाया:–वृत्त: मनोरथ: यस्या: तस्या: (बहु०) ।

कोष—'घृणा जुगुप्साकृपयो:' – इति विश्व: । 'हृदयं मानसोरसो:' – इति विश्व: ।

रस—यहाँ विप्रलम्भ श‍ृङ्गार है ।

अलङ्कार—(१) 'तव न जाने हृदयम्' – इत्यादि कथन से दुष्यन्त के प्रति शकुन्तला की हृदयगत उत्कट अभिलाषा (प्रेमभाव-कामभाव) का तथा दुष्यन्त के आलिङ्गनार्थ आह्वान होने का अनुमान होने से '**अनुमान**' अलङ्कार है । (२) 'तव न जाने हृदयम्' एवं 'निर्घृण'! इत्यादि पदों से यह भाव (अर्थ) व्यक्त हो रहा है कि दुष्यन्त के हृदय में उत्कण्ठा एवं सदयता का अभाव है अत: '**अर्थापत्ति**' अलङ्कार है । लक्षण द्र० २।१ श्लोक । (३) 'काम' पद का कामदेव एवं अभिलाषा दोनों अर्थ होने के कारण '**श्लेष**' अलङ्कार है । २।७ श्लोक ।

छन्द—श्लोक में 'उद्गाथा' (गीति) नामक छन्द है । लक्षण द्र० १/४ ।

टिप्पणी—(१) शकुन्तला के 'असंनिहितानि पुनर्लेखनसाधनानि' इस कथन से यह सूचित होता है कि कालिदास के समय तक लिखने के साधन लेखनी, कागज आदि का विकास नहीं हो पाया था । नख से लेखनी का और कमलिनी के पत्र आदि से कागज का काम लिया जाता था । मदनलेख प्राय: नाखूनों से लिखे जाने के पीछे श‍ृङ्गारभावना ही मुख्य है । 'मदनलेख' को 'अनङ्गलेख' भी कहा गया है – ' दयितैरनङ्गलेखा:' । (२) शकुन्तला के पत्र से यह भी ज्ञात होता है कि उसका कामभाव (प्रेमभाव) पराकाष्ठा को प्राप्त है, अत: दुष्यन्त को विलम्ब नहीं करना चाहिये । (३) 'निर्घृण' इस पद से दुष्यन्त के प्रति शकुन्तला का कठोर उपालम्भ द्योतित हो रहा है । (४) यहाँ 'लेख' नामक सन्ध्यङ्ग है ।

राजा—(सहसोपसृत्य)—

राजा—(सहसा समीप जाकर)—

तपति तनुगात्रि मदनस्त्वामनिशं मां पुनर्दहत्येव ।

ग्लपयति यथा शशाङ्कं न तथा हि कुमुद्वतीं दिवसः ।। १४ ।।

अन्वय—तनुगात्रि, मदनः अनिशं त्वां तपति; मां पुनः दहति एव, दिवसः यथा शशाङ्कं ग्लपयति तथा कुमुद्वतीं न हि ।

शब्दार्थ—तनुगात्रि = हे तन्वङ्गी । मदनः = कामदेव । अनिशम् = निरन्तर, रात-दिन । त्वां = तुमको । तपति = केवल तपा ही रहा है । मां = मुझको । पुनः = तो । दहति एव = भस्म ही कर डाल रहा है । दिवसः = दिन । यथा = जिस प्रकार । शशाङ्कम् = चन्द्रमा को । ग्लपयति = क्षीण करता है (निष्प्रभ बना देता है) । तथा = उस प्रकार । कुमुद्वतीम् = कुमुदिनी को । न हि = निश्चय ही क्षीण नहीं बनाता ।

अनुवाद—हे तन्वङ्गी, कामदेव निरन्तर (रात-दिन) तुम्हें तपा (ही) रहा है, (किन्तु) मुझे तो भस्म ही कर डाल रहा है । दिन जिस प्रकार चन्द्रमा को क्षीण (प्रभा-हीन) बना देता है, उस प्रकार कुमुदिनी को निश्चय ही (प्रभा-हीन) नहीं बनाता ।

संस्कृत व्याख्या—हे तनुगात्रि – हे कृशाङ्गि, **मदनः** – कामदेवः, **अनिशं** – निरन्तरम् , **त्वां** – शकुन्तलाम् , **तपति** – सन्तापयति; **माम्** – दुष्यन्तम् , **पुनः दहति** – भस्मसात् कुरुते एव, **दिवसः** – दिनम् , **यथा** – येन प्रकारेण, **शशाङ्कं** – चन्द्रम् , **ग्लपयति** – ग्लानिं नयति, **तथा** – तेन प्रकारेण, **कुमुद्वतीम्** – कुमुदिनीम् , **हि** – निश्चये, **न** – नहि ग्लानिं नयति ।

संस्कृत-सरलार्थः—शकुन्तलया पठ्यमानं प्रणयपत्रं श्रुत्वा राजा सहसा तत्समीपं गत्वा स्वदशां प्रकाशयन् वदति—'हे कृशाङ्गि ! कामस्त्वान्तु केवलमहर्निशं तपत्येव, मान्तु स भस्मसात्करोत्येव । सत्यमिदं यत्कामो न त्वां तथा पीडयति यथा मां (दुष्यन्तं) दहति । सर्वविदितमिदं तथ्यं यद्दिवसो यथा चन्द्रं क्षीणशोभं विधत्ते न तथा कुमुदिनीं ग्लानिं नयति । त्वदपेक्षया मदीया कामपीडा समधिकतरेति व्यङ्ग्यमवधेयम्' ।

व्याकरण—तनुगात्रि – तनूनि गात्राणि यस्याः (बहु०), तत्सम्बुद्धौ । ग्लपयति – ग्लै+णिच्+लट्, प्र०पु०एक । 'कालाध्वनोः' से द्वितीया हुई है ।

कोष—'चित्तं तु चेतो हृदयं स्वान्तं हृन्मानसं मनः' इत्यमरः ।

अलङ्कार—(१) प्रस्तुत श्लोक में 'ग्लपयति यथा शशाङ्कम्' में बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव होने से '**दृष्टान्त**' अलङ्कार है । लक्षण द्र० १।२५ श्लोक । (२) पुल्लिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग के साम्य से शशाङ्क और कुमुद्वती में नायक-नायिका की प्रतीति होने से '**समासोक्ति**' अलङ्कार है । लक्षण १।२३ (३) शकुन्तला के कृशगात्र एवं स्त्री होने से मदन उसे तपा रहा है, अतः '**काव्यलिङ्ग**' अलङ्कार है । लक्षण द्र० १।४ (४) मदन का अर्थ 'सुख देने वाला' होता है फिर भी वह तपा रहा है – अतः विरोध है परन्तु मदन का अर्थ 'कामदेव' होने पर उसका परिहार हो जाता है – अतः यहाँ '**विरोधाभास**' अलङ्कार है । लक्षण द्र० २।११ (५) 'तनु' तथा 'गात्र' दोनों के शरीर का वाचक होने से '**पुनरुक्तवदाभास**' अलङ्कार है । लक्षण द्र० ३।२२ ।

छन्द—यहाँ **आर्या** छन्द है ।

टिप्पणी—(१) 'तपति' तथा 'दहति' – इन दोनों क्रियाओं के अर्थ में पर्याप्त अन्तर है । कामदेव तो शकुन्तला को तपा ही रहा है, किन्तु दुष्यन्त को तो जला ही डाल रहा है । तात्पर्य यह है कि कामदेव शकुन्तला की अपेक्षा दुष्यन्त को अधिक पीड़ित कर रहा है । (२) कुमुदिनी और चन्द्रमा में अत्यधिक प्रेम होता है । चन्द्रमा के उदित होने पर ही कुमुदिनी खिलती है । राजा

का कथन है कि चन्द्रमा के अभाव में दिन कुमुदिनी को तो केवल मलिन ही करता है, किन्तु चन्द्रमा के तो अस्तित्व को ही समाप्त कर देता है। यहाँ - शकुन्तला को कुमुदिनी की तथा दुष्यन्त को चन्द्रमा की समकक्षता में रखा गया है।

सख्यौ—(विलोक्य सहर्षमुत्थाय) **स्वागतमविलम्बिनो मनोरथस्य।** (साअदं अविलम्बिणो मणोरहस्स।)

दोनों सखियाँ—(देखकर और प्रसन्नतापूर्वक उठकर) विलम्ब न करने वाले मनोरथ (स्वरूप आप) का स्वागत है।

(शकुन्तलाऽभ्युत्थातुमिच्छति)

(शकुन्तला उठकर खड़ी होना चाहती है।)

राजा—अलमलमायासेन।

राजा—कष्ट करने की आवश्यकता नहीं है।

सन्दष्टकुसुमशयनान्याशुक्लान्तबिसभङ्गसुरभीणि ।
गुरुपरितापानि न ते गात्राण्युपचारमर्हन्ति ।। १५ ।।

अन्वय—सन्दष्टकुसुमशयनानि आशुक्लान्तबिसभङ्गसुरभीणि गुरुपरितापानि ते गात्राणि उपचारं न अर्हन्ति।

शब्दार्थ—सन्दष्टकुसुमशयनानि = संलग्न हो गयी है (चिपक गयी है) फूलों की शय्या जिनसे ऐसे (अर्थात् पुष्पशय्या को परिमर्दित करने वाले–मसलने वाले)। आशुक्लान्तबिसभङ्गसुरभीणि = शीघ्र मुरझाये हुये कमल-नाल के टुकड़ों से सुगन्धित। गुरुपरितापानि = अधिक सन्ताप है जिनमें ऐसे (अत्यधिक सन्तप्त)। ते = तुम्हारे। गात्राणि = अङ्ग। उपचारम् = औपचारिकता (शिष्टाचार निभाने) के। न अर्हन्ति = योग्य नहीं हैं।

अनुवाद—फूलों की शय्या को चिपकाये हुये (अर्थात् फूलों की शय्या को परिमर्दित करने वाले), शीघ्र मुरझाये हुये कमल-नाल के टुकड़ों से सुगन्धित और अत्यधिक सन्तप्त तुम्हारे अङ्ग औपचारिकता (शिष्टाचार) के योग्य नहीं हैं।

संस्कृत व्याख्या—सन्दष्टकुसुमशयनानि - सन्दष्टं संश्लिष्टं (परिमर्दितं) कुसुमशयनं पुष्पशय्या यैः तथाविधानि, **आशुक्लान्तबिसभङ्गसुरभीणि** - आशु शीघ्रं क्लान्तः ग्लानः बिसभङ्गः कमलनालच्छेदः तैः सुरभीणि सुगन्धयुक्तानि, **गुरुपरितापानि** - तीव्रसन्तप्तानि, **ते** - तव, **गात्राणि** - अङ्गानि, **उपचारं** - शिष्टाचारप्रदर्शनम् , **न अर्हन्ति** - न कर्तुं योग्यानि।

संस्कृत-सरलार्थः—स्वसत्कारायोत्थातुमिच्छन्तीं शकुन्तलां दुष्यन्तो निवारयन् कथयति— '(हे कृशाङ्गि!) ते शरीराङ्गानि, सम्प्रति तीव्रतप्तानि, परिमर्दितकुसुमशयनानि, शीघ्रम्लानकमलनालविच्छेदसुगन्धीनि च सन्त्यतस्तानि मम स्वागतायायासं कर्त्तुं न योग्यानि सन्ति। अतो मम स्वागतार्थं न काचिदौपचारिकता त्वया विधेयेति भावः'।

व्याकरण—सन्दष्टकुसुमशयनानि - सन्दष्टं कुसुमानां शयनं यैः तानि (बहु०)। आशुक्लान्तबिसभङ्गसुरभीणि - आशु क्लान्तैः बिसभङ्गैः सुरभीणि (तत्पु०)। गुरुपरितापानि - गुरुः परितापः येषु तानि (बह०)। सन्दष्टम् - सम्+दश+क्त। उपचारम् - उप+चर+घञ् द्वि०ए०व०। शयनम् - शय्यते अस्मिन् इति शयनम् - शी+अधिकरणे ल्युट्।

कोष—'गुरुस्त्रिलिङ्ग्यां महति दुर्जरालघुनोरपि। पुमान्निषेकादिकरे पित्रादौ सुरमन्त्रिणि'॥ इति मेदिनी।

अलङ्कार—(१) इस श्लोक में पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध के प्रति कारण है अत: '**काव्यलिङ्ग**' अलङ्कार है। लक्षण द्र० १।४ श्लोक। (२) 'गात्राणि' इस विशेष्य के 'सन्दष्टकुसुमशयनानि', 'आशु...सुरभीणि' तथा 'गुरुतापानि' इन तीन विशेषणों के साभिप्राय होने से '**परिकर**' अलङ्कार है। लक्षण द्र० १।२६ श्लोक।

छन्द—यहाँ **आर्या** छन्द है। लक्षण द्र० १।२ श्लोक।

टिप्पणी—(१) 'सन्दष्टकुसुम...' में 'सन्दष्ट' पद के अर्थ के विषय में विद्वानों में मतभेद है। वस्तुत: सन्दष्ट का अर्थ है संलग्न (चिपका हुआ)। यहाँ लक्षणा से पीड़ित (परिमर्दित) अर्थ लेना ठीक है। पुष्पशय्या सन्तप्त अङ्गों से लगी हुई थी और सन्तापवश शकुन्तला के इधर-उधर करवटें बदलने के कारण (शय्या के पुष्प) मसलकर मुरझा गये थे। (२) '**आशुक्लान्त...**' शीघ्र ही मुरझाये हुये कमलनाल के टूट जाने से निकलने वाली सुगन्ध से शकुन्तला के अङ्ग सुगन्धित हो गये थे। (३) **उपचार** – मान्य आगन्तुक के आने पर उसके प्रति किया गया स्वागत सत्कार 'उपचार' कहलाता है।

अनसूया—इतः शिलातलैकदेशमलङ्करोतु वयस्यः। (इदो सिलातलेकदेसं अलंकरेदु वअस्सो।)

अनसूया—प्रियमित्र (आप) इधर शिला-तल के एक भाग को सुशोभित करें (अर्थात् शिला-तल पर एक ओर आप बैठ जाँय)।

(राजोपविशति। शकुन्तला सलज्जा तिष्ठति)

(राजा बैठता है। शकुन्तला लज्जापूर्वक बैठी रहती है)।

प्रियंवदा—द्वयोरपि युवयोरन्योन्यानुरागः प्रत्यक्षः। सखीस्नेहः पुनर्मां पुनरुक्तवादिनीं करोति। (दुवे पि वो अण्णोण्णाणुराओ पच्चक्खो। सहीसिणेहो उण मं पुणरुत्तवादिणिं करेदि।)

व्या० एवं श०—पुनरुक्तवादिनीम् – पुनरुक्तं यथा स्यात्तथा वदितुं शीलं यस्याः ताम् – उक्त (बात) को पुन: कहने वाली। पुनरुक्त+वद्+णिनि स्त्री० ङीप्।

प्रियंवदा—आप दोनों का परस्पर अनुराग (प्रेम) प्रत्यक्ष (प्रकट) ही है। किन्तु सखी के प्रति मेरा स्नेह मुझे प्रकट बात को फिर कहने के लिये प्रेरित कर रहा है।

राजा—भद्रे, नैतत् परिहार्यम्। विवक्षितं ह्यनुक्तमनुतापं जनयति।

व्या० एवं श०—परिहार्यम् – परि+हृ+ण्यत् = त्याज्य, रोकने योग्य। विवक्षितम् – ब्रू (वच्)+सन्+क्त = कहने के लिये इष्ट। अनुक्तम् = न कहा गया। अनुतापम् = पश्चात्ताप को।

राजा—भद्रे, इसे रोकना नहीं चाहिये। (अर्थात् जो कहना है, उसे अवश्य कहिये)। क्योंकि (विवक्षित कहने के लिये इच्छित) बात न कही जाने पर पश्चात्ताप उत्पन्न करती है।

प्रियंवदा—आपन्नस्य विषयनिवासिनो जनस्यार्तिहरेण राज्ञा भवितव्यमित्येष वो धर्मः। (आवण्णस्स विसअणिवासिणो जणस्स अत्तिहरेण रण्णा होदव्वं त्ति एसो वो धम्मो।)

व्या० एवं श०—आपन्नस्य – आ+पद्+क्त ष०वि० = आपद्ग्रस्त का। विषयनिवासिनः – विषये – प्रदेशे (राज्ये) निवासिनः = अपने राज्य में रहने वाले का। आर्तिहरेण – कष्टों को दूर करने वाला। धर्मः = कर्त्तव्य।

प्रियंवदा—राजा को (अपने) राज्य में निवास करने वाले आपत्ति-ग्रस्त व्यक्ति के कष्टों को दूर करने वाला होना चाहिये। यह आप का कर्त्तव्य है।

राजा—नास्मात् परम्।

राजा—इससे बड़ा और कोई (राजा का कर्त्तव्य) नहीं है।

प्रियंवदा—तेन हीयमावयोः प्रियसखी त्वामुद्दिश्येदमवस्थान्तरं भगवता मदनेनारोपिता। तदर्हस्यभ्युपपत्त्या जीवितमस्या अवलम्बितुम्। (तेण हि इअं णो पिअसही तुमं उद्दिसिअ इमं अवत्थन्तरं भअवता अणेण आरोविदा। ता अरुहसि अब्भुववत्तीए जीविदं से अवलम्बिदुं।)

व्या० एवं श०—अवस्थान्तरम् - परिवर्तित अवस्था = दयनीय दशा को। आरोपिता = प्राप्त करायी गयी (है)। अभ्युपपत्त्या - अभि+उप+पद्+क्तिन् तृ०ए० = अनुग्रह से (कृपापूर्वक)। अभ्युपत्तिरनुग्रहः - इति शाश्वतः। जीवितम् = जीवन को। अवलम्बितुम् - अव+लम्ब+तुमुन्।

प्रियंवदा—तो हम लोगों की यह प्रियसखी (शकुन्तला) आप को उद्देश्य कर (आप के कारण) कामदेव के द्वारा इस अवस्था को प्राप्त करायी (पहुँचायी) गयी है। तो आप अनुग्रह पूर्वक इस (शकुन्तला) के जीवन की रक्षा करने के योग्य हैं (अर्थात् आप अनुग्रह पूर्वक इसके जीवन की रक्षा करें)।

राजा—भद्रे, साधारणोऽयं प्रणयः। सर्वथाऽनुगृहीतोऽस्मि।

व्या० एवं श०—साधारणः =समान। प्रणयः = याचना / प्रार्थना। 'प्रणयः प्रेमयाच्ञयोः' - इत्यमरः। अभिप्राय यह है कि राजा को शकुन्तला की और शकुन्तला को राजा के जीवन की रक्षा करनी चाहिये।

राजा—भद्रे, यह याचना (प्रार्थना) (दोनों ओर से) समान (साधारण) है अर्थात् दोनों को एक दूसरे की रक्षा करनी चाहिये। मैं सर्वथा (आप लोगों का) अनुगृहीत हूँ।

शकुन्तला—(प्रियंवदामवलोक्य) **हला, किमन्तःपुरविरहपर्युत्सुकस्य राजर्षेरुपरोधेन।** (हला, किं अन्तेउरविरहपज्जुस्सुअस्स राएसिणो उवरोहेण।)

व्या० एवं श०—अन्तः पुराणाम् अन्तःपुरकामिनीनां विरहेण पर्युत्सुकेन उत्कण्ठितेन = अन्तःपुर की रमणियों के वियोग से उत्कण्ठित।

शकुन्तला—(प्रियंवदा को देखकर) सखी, अन्तःपुर की स्त्रियों के वियोग से उत्कण्ठित राजर्षि को रोकने से क्या (लाभ है) (अर्थात् उन्हें क्यों रोकती हो)?

राजा—

इदमनन्यपरायणमन्यथा हृदयसन्निहिते हृदयं मम।
यदि समर्थयसे मदिरेक्षणे मदनबाणहतोऽस्मि हतः पुनः ॥ १६ ॥

अन्वय—मदिरेक्षणे, हृदयसन्निहिते, अनन्यपरायणम् इदं मम हृदयं यदि अन्यथा समर्थयसे, (तर्हि) मदनबाणहतः पुनः हतः अस्मि।

शब्दार्थ—मदिरेक्षणे = हे मादक (मतवाले) नेत्रों वाली! हृदयसन्निहिते = (मेरे) हृदय में विराजमान! अनन्यपरायाणम् = अनन्य आश्रय वाले, दूसरे पर अनासक्त अर्थात् केवल तुम्हारे पर ही आसक्त। इदम् = इस। मम = मेरे। हृदयम् = हृदय को। यदि = यदि। अन्यथा = दूसरी प्रकार। समर्थयसे = समझती हो (तो)। मदनबाणहतः = कामदेव के बाणों से हत (मारा गया)। पुनः = फिर। हतः = मारा गया। अस्मि = हूँ।

अनुवाद—हे मादक (मतवाले) नेत्रों वाली (मेरे) हृदय में विराजमान (प्रिय शकुन्तले), केवल तुम्हारे में ही आसक्त इस मेरे हृदय को यदि तुम अन्यथा (अर्थात् दूसरे में आसक्त) समझती हो (तो) कामदेव के बाणों से हत (मारा हुआ) मैं फिर (तुम्हारे द्वारा) मार दिया गया (हूँ)।

संस्कृत व्याख्या—मदिरेक्षणे—मादकलोचने ! **हृदयसन्निहिते** – हे हृदयसुप्रतिष्ठिते! **अनन्यपरायणम्** – अन्यत्रानासक्तम् त्वदेकप्रवणम् , **इदम्** – एतत् , **मम** – दुष्यन्तस्य, **हृदयम्** –अन्तःकरणम्, **यदि** – चेत्, **अन्यथा** – विपरीतम्, अन्यरमणीसक्तम् , **समर्थयसे** – कल्पयसि, सम्भावयसि, **मदनबाणहतः** – कामशरबिद्धः, (अहम्) **पुनः** – भूयः, **हतः** अस्मि – मारितः अस्मि।

संस्कृत-सरलार्थः—प्रियंवदाम्प्रति शकुन्तलयोक्तं—'हला ! किमन्तःपुर- विरहपर्युत्सुकस्य राजर्षेरुपरोधेनेति वाक्यमाकर्ण्य राजा ब्रवीति—हे मम चित्तस्थिते ! मादकनयने ! शकुन्तले ! मामकीनं हृदयं त्वदेकप्रणयासक्तमस्ति तथापि त्वं चेदन्यथा (अन्यासक्तं) कल्पयसि, तर्हि कामशराहतोऽपि पुनः हतोऽस्मि। मद्विषयेऽन्यथा न विचारणीयमिति भावः'।

व्याकरण—मदिरेक्षणे – मदिरे ईक्षणे यस्याः सा (बहु०), तत्सम्बुद्धौ। हृदयसन्निहिते – हृदये सन्निहिता (तत्पु०) (सम्+नि+धा+क्त) तत्सम्बुद्धौ। अनन्यपरायणम् – त्वत्तो न अन्यत् परायणं यस्य तत् (बहु०) – (परा+अय्+ल्युट्)। मदनबाणहतः – मदनस्य बाणेन हतः (तत्पु०) (हन्+क्त)।

अलङ्कार—(१) यहाँ अनन्यपरायणम् का हृदयसन्निहिते कारण है इसलिये '**काव्यलिङ्ग**' अलङ्कार है। लक्षण द्र० १।४ श्लोक। (२) 'हृदयसन्निहित' आदि विशेषण साभिप्राय है अतः '**परिकर**' अलङ्कार है। लक्षण द्र० १।२६ श्लोक। (३) हृदय–हृदय, हतः हतः में **लाटानुप्रास** है। लक्षण – 'शब्दस्तु लाटानुप्रासो भेदे तात्पर्यमात्रतः' शब्दार्थ के अभेद होने पर अभिप्राय मात्र से अभेद होने पर लाटानुप्रास होता है। हत और हत में अभिप्राय भेद से भेद है।

छन्द—यहाँ '**द्रुतविलम्बित**' छन्द है। लक्षण द्र० १।११ श्लोक।

टिप्पणी—(१) **मदिरा** के चार अर्थ हो सकते हैं १– सुरा (यहाँ उसका लाक्षणिक अर्थ मादक अपेक्षित है), २– सुन्दर (पारिभाषिक अर्थ), ३–मदिरा (उन्मत्त करने वाली) (माद्यति आभ्यामिति मदिरा), ४– मत्तखञ्जन (मत्तखञ्जन के समान चञ्चल नेत्रों वाली)। (२) यहाँ **साम** नामक प्रतिमुख सन्धि का अङ्ग है।

अनसूया—वयस्य, बहुवल्लभा राजानः श्रूयन्ते। यथा नौ प्रियसखी बन्धुजनशोचनीया न भवति तथा निर्वाहय। (वअस्स, बहुवल्लहा राआणो सुणीअन्ति। जह णो पिअसही बन्धुअणसोअणिज्जा ण होइ तह णिव्वाहेहि।)

व्या० एवं श०—बहुवल्लभा – बह्व्यः अनेकाः वल्लभाः प्रेयस्यः येषां ते = बहुत पत्नियों वाले। नौ – आवयोः (हम दोनों की)। बन्धुजनशोचनीया – बन्धुजनैः (पित्रादिभिः) शोचनीया = बन्धुजनों (पिता आदि सगे सम्बन्धियों) के लिये शोक का कारण। निर्वाहय – निर्+वह्+णिच्+लोट् म०पु०ए०व० = व्यवहार (निर्वाह) कीजिये। इससे यह घोषित होता है कि उस समय बहुपत्नी प्रथा भी प्रचलित थी।

अनसूया—मित्र, राजा लोग बहुत पत्नियों वाले सुने जाते हैं (अर्थात् राजाओं की बहुत सी पत्नियाँ होती हैं)। इसलिये वैसा व्यवहार कीजियेगा, जिससे हम लोगों की प्रियसखी

(शकुन्तला) बन्धुजनों (सगे सम्बन्धियों) के लिये शोचनीय (चिन्ता का कारण) न हो।

राजा—भद्रे, किं बहुना।

राजा—भद्रे, अधिक कहने से क्या (लाभ) ?

परिग्रहबहुत्वेऽपि द्वे प्रतिष्ठे कुलस्य मे।
समुद्ररसना चोर्वी सखी च युवयोरियम् ।। १७ ।।

अन्वय—परिग्रहबहुत्वे अपि मे कुलस्य द्वे प्रतिष्ठे, समुद्ररसना उर्वी च युवयोः इयं सखी च।

शब्दार्थ—परिग्रहबहुत्वे = बहुत (अनेक) पत्नियों के होने पर। अपि = भी। मे = मेरे। कुलस्य = कुल की। द्वे = दो। प्रतिष्ठे = प्रतिष्ठा (गौरव – मुख्य आधार)। समुद्ररसना = समुद्र ही है मेखला (रसना) जिसकी ऐसी, (समुद्र से घिरी)। उर्वी = पृथ्वी। च = और। युवयोः = तुम दोनों की। इयम् = यह। सखी = सहेली।

अनुवाद—अनेक पत्नियों के होने पर भी मेरे कुल (वंश) की दो प्रतिष्ठा (के आधार) हैं – सागररूपी मेखला वाली (समुद्र से घिरी हुई) पृथ्वी और आप दोनों की यह सखी (शकुन्तला)।

संस्कृत व्याख्या—परिग्रहबहुत्वे अपि – परिग्रहाणां पत्नीनां बहुत्वे बाहुल्ये अपि, **मे-मम कुलस्य** – वंशस्य, **द्वे प्रतिष्ठे** – द्वे गौरवहेतू (आधारभूते), समुद्ररसना – सागरमेखला, **उर्वी च** – पृथिवी च, **युवयोः** – भवत्योः, **इयम्** – एषा, **सखी च** – वयस्या शकुन्तला च।

संस्कृत-सरलार्थः—प्रिय सखी यथा बन्धुजनशोचनीया न भवति, तथा निर्वाहयेति वचनैः प्रस्तुतानुरोधमनसूयायाः श्रुत्वा दुष्यन्तो वदति—'मदीयभवने पत्नीनां बहुत्वेऽपि मे कुलस्य द्वे एव गौरवहेतू स्तः सागरमेखला पृथिवी युवयोरेषा प्रियसखी (शकुन्तला) च।' अतो युवाभ्यां शकुन्तलाविषये न काचिच्चिन्ता विधेयेति भावः।

व्याकरण—परिग्रहबहुत्वे – परिग्रहाणां बहुत्वे (तत्पु०) परि परितः सर्वथा गृह्यते इति परिग्रह – परि+गृह्+अप्। समुद्ररसना – समुद्रः सागरः रसना मेखला यस्याः सा (बहु०)। प्रतिष्ठे – प्रतिष्ठत्यस्यामिति प्र+स्था+अङ्+टाप् द्वि०व०।

कोष—'परिग्रहः परिजने पत्न्यां स्वीकारमूलयोः' इति विश्वः। 'प्रतिष्ठा गौरवे स्थितौ' – इति हैमः।

अलङ्कार—(१) यहाँ सखी (शकुन्तला) तथा पृथ्वी इन दोनों प्रस्तुतों का एक धर्म प्रतिष्ठा से सम्बन्ध होने के कारण **'तुल्ययोगिता'** अलङ्कार है। लक्षण—

पदार्थानां प्रस्तुतानामन्येषां वा यदा भवेत्।
एक धर्माभिसम्बन्धः स्यात्तदा तुल्ययोगिता॥ सा०द०।

अर्थात् प्रस्तुत या अप्रस्तुत पदार्थों का एक ही समान धर्म से सम्बन्ध होने पर **'तुल्ययोगिता'** अलङ्कार होता है। कुछ लोग शकुन्तला को प्रस्तुत और पृथ्वी को अप्रस्तुत मानकर **'दीपक'** मानते हैं। (२) 'द्वे प्रतिष्ठे कुलस्य मे' द्वारा शकुन्तला तथा पृथ्वी दोनों को प्रतिष्ठा कहने से भेद में अभेद रूप **'अतिशयोक्ति'** है। अतिशयोक्ति का लक्षण है—सिद्धत्वेऽध्यवसायस्यातिशयोक्तिर्निगद्यते। विश्वनाथ ने पाँच भेद माना है—१- भेद में अभेद वर्णन, २- सम्बन्ध में असम्बन्ध वर्णन, ३- अभेद में भेद वर्णन, ४- असम्बन्ध में सम्बन्ध

वर्णन, ५– कार्यकारण-भाव-नियम का विपर्यय-वर्णन। यहाँ शकुन्तला और पृथ्वी में भेद है पर दोनों में अभेद का वर्णन है। (३) 'समुद्ररसना' में श्लेष है। क्योंकि उस पद से शकुन्तला एवं पृथ्वी – इन दो अर्थों का बोध होता है। लक्षण द्र० २।७ श्लोक। (४) पृथ्वी में स्त्री का आरोप होने से '**समासोक्ति**' अलङ्कार है। लक्षण द्र० १।२३ श्लोक।

छन्द—उक्त पद्य में '**पथ्यावक्त्र**' छन्द है। लक्षण है—'युजोश्चतुर्थतो जेन पथ्यावक्त्रं प्रकीर्तितम्' अर्थात् अष्टवर्णात्मक अनुष्टुप् छन्द में चतुर्थ वर्ण के अनन्तर यगण होने से तथा द्वितीय और चतुर्थ पद में मगण एवं एक गुरु होने से '**वक्त्र**' नामक छन्द होता है और जब समपादों के चतुर्थ वर्ण के अनन्तर जगण होता है तब वह पथ्यावक्त्र कहलाता है। यह विषम छन्द है।

टिप्पणी—(१) राजा के कथन से यह द्योतित होता है कि उसके लिये पृथ्वी एवं शकुन्तला दोनों पालनीय, रक्षणीय एवं माननीय हैं। (२) शकुन्तला के उत्कर्ष-कथन के कारण उदाहरण नामक गर्भसन्धि का अङ्ग है तथा राजा के कथन में चातुर्य होने से '**दाक्षिण्य**' नामक नाट्य लक्षण है।

विशेष—'समुद्ररसना' समुद्र को पृथ्वी की मेखला कहा जाता है। समुद्रमेखला पृथ्वी का वर्णन अन्यत्र भी हुआ है – (१) स रत्नाकरमेखलामुर्वीम् रघु० १५।१ (२) रत्नानुविद्धार्णवमेखलाया: रघु० ६।६३। 'समुद्ररसना' का ही अन्यत्र पाठ होने से 'समुद्रवसना' पाठ उपयुक्त नहीं है।

उभे—निर्वृते स्वः। (णिव्वुदे म्ह।)

व्या० एवं श०—निर्वृते – निर्वृता का द्वि०व० = आनन्दित (निश्चिन्त)। स्वः – अस् उ०पु०द्वि०व०।

दोनों—हम दोनों आनन्दित (निश्चिन्त) हो गयीं।

प्रियंवदा—(सदृष्टिक्षेपम्) **अनसूये, यथैष इतो दत्तदृष्टिरुत्सुको मृगपोतको मातरमन्विष्यति। एहि, संयोजयाव एनम्।** (अणसूए जह एसो इदो दिण्णदिट्ठो उत्सुओ मिअपोदओ मादरं अण्णेसदि। एहि, संजोएम णं।) (इत्युभे प्रस्थिते)।

व्या० एवं श०—दत्तदृष्टि: – दत्ता दृष्टि: येन = दृष्टि डाले हुये। मृगस्य पोतकः – हरिण का बच्चा (मृगशावक)।

प्रियंवदा—(दूसरी ओर देखकर) अनसूया, इधर की ओर दृष्टि डालता हुआ (देखता हुआ) यह हरिण का बच्चा जैसे (अपनी) माँ को खोज रहा है। आओ, इसको (इसकी माँ से) मिला दें। (दोनों जाने लगती हैं)।

शकुन्तला—हला, अशरणाऽस्मि। अन्यतरा युवयोरागच्छतु। (हला, असरणा म्हि। अंण्णदरा वो आअच्छदु।)

व्या० एवं श०—अशरणा – नास्ति शरणं यस्या: सा = असहाय। अन्यतरा = दोनों में से एक।

शकुन्तला—सखी, मैं असहाय (अकेली) (रह गयी) हूँ। तुम दोनों में से कोई एक (यहाँ) आओ।

उभे—पृथिव्या यः शरणं स तव समीपे वर्तते। (पुहवीए जो सरणं सो तुह समीवे वट्टइ।)

दोनों—जो पृथ्वी का आश्रय (सहारा-रक्षक) है, वह तुम्हारे पास है (इसलिये दूसरे

रक्षक की क्या आवश्यकता है)। (दोनों निकल जाती हैं)।

शकुन्तला—कथं गते एव ? (कहं गदाओ एव्व।)

शकुन्तला—क्या चली ही गयीं ?

राजा—अलमावेगेन। नन्वयमाराधयिता जनस्तव समीपे वर्तते।

व्या० एवं श०—अलम् आवेगेन = घबड़ाइये नहीं। अलम् के योग में तृतीया।

राजा—घबड़ाने की आवश्यकता नहीं। यह (तुम्हारा) सेवक व्यक्ति तो तुम्हारे पास ही है।

> **किं शीतलैः क्लमविनोदिभिरार्द्रवातान्**
> **सञ्चारयामि नलिनीदलतालवृन्तैः।**
> **अङ्के निधाय करभोरु यथासुखं ते**
> **संवाहयामि चरणावुत पद्मताम्रौ।। १८।।**

अन्वय—किं शीतलैः क्लमविनोदिभिः नलिनीदलतालवृन्तैः आर्द्रवातान् सञ्चारयामि, उत करभोरु, ते पद्मताम्रौ चरणौ अङ्के निधाय यथासुखं संवाहयामि।

शब्दार्थ—किम् = क्या। शीतलैः = शीतल। क्लमविनोदिभिः = श्रान्ति (थकान) को दूर करने वाले। नलिनीदलतालवृन्तैः = कमलिनी के पत्तों के (बने) पङ्खों से। आर्द्रवातान् = भींगी-भींगी हवा (ठण्डी हवा) को। सञ्चारयामि = सञ्चार करूँ (डुलाऊँ)। उत = अथवा। करभोरु = हे हाथी के बच्चे की सूँड़ (करभ) के समान जाँघों वाली। ते = तुम्हारे। पद्मताम्रौ = कमल के समान लाल। चरणौ = पैरों को। अङ्के = गोद में। निधाय = रखकर। यथासुखम् = सुखपूर्वक, जिस प्रकार सुख मिले उस प्रकार (अर्थात् तुम्हे)। संवाहयामि = दबाऊँ।

अनुवाद—क्या शीतल और थकान को दूर करने वाले कमलिनी के पत्तों के बने पङ्खों से ठण्डी हवा डुलाऊँ ? अथवा हे हाथी के बच्चे के सूँड़ के समान जाँघों वाली (शकुन्तला), तुम्हारे कमल के समान लाल पैरों को (अपनी) गोद में रखकर सुखपूर्वक उन्हें दबाऊँ।

संस्कृत व्याख्या—किं - प्रश्ने, **शीतलैः** - शीतलस्पर्शैः, **क्लमविनोदिभिः** - सन्तापहारकैः (खेदापसारकैः), **नलिनीदलतालवृन्तैः** - कमलिनीपत्रव्यजनैः, **आर्द्रवातान्** - जलसिक्तपवनान् (शीतलवायून्), **सञ्चारयामि** - सञ्चालयामि, **उत** - अथवा, **करभोरु** - हे करभोरु, **ते** - तव, **पद्मताम्रौ** - कमलसदृशरक्तवर्णौ, **चरणौ** - पादौ, **अङ्के** - क्रोडे, **निधाय** - निवेश्य, **यथासुखं** - येन प्रकारेण ते सुखं स्यात् तेनैव प्रकारेण, **संवाहयामि** - मर्दयामि।

संस्कृत-सरलार्थः—सख्योर्गमनानन्तरमेकाकिनीं शकुन्तलां राज ब्रूते—'करभोरु। कथय, किं शीतलस्पर्शैः कमलपत्रव्यजनैर्जलसिक्तपवनान् (शीतलवायून्) वीजयामि, अथवा कमलसदृशरक्तवर्णौ ते पादौ स्वक्रोडे निधाय यथासुखं संमर्दयामि। संवाहनेन खेदमपनयामीति भावः'।

व्याकरण—क्लमविनोदिभिः - क्लमं विनोदयितुं शीलं येषां तैः। क्लम्+वि+नुद्+णिच्+णिनि। नलिनीदलतालवृन्तैः - नलिन्याः दलमेव तालवृन्तम् तैः (तत्पु०, कर्म०)। संचारयामि - सम्+चर+णिच्+उ०पु०ए०व०॥ करभोरु ! - कभौ इव अरू यस्यास्तत् सम्बोधने।

कोष—'व्यजनं तालवृन्तं स्यात्' - इत्यमरः। करभो मणिबन्धादिकनिष्ठान्तोष्ट्रतत्सुते' - मेदिनी।

अलङ्कार—(१) कमलिनी दल में तालवृन्त का आरोप प्रस्तुत प्रसङ्ग में पंखा झलने के

लिये उपयोगी है अतः '**परिणाम**' अलङ्कार है। लक्षण द्र० ३।३ श्लोक। (२) 'करभोरु' तथा 'पद्मताम्रौ' में उपमावाचक 'इव' शब्द का प्रयोग न होने से '**वाचकलुप्तोपमा**' है। (३) उक्त पद विशेषणभूत पदों (करभोरु तथा पद्मताम्रौ) के साभिप्राय होने से '**परिकर**' अलङ्कार है। लक्षण द्र० १।२६ श्लोक। (४) पंखा झलने (पूर्वार्द्ध) तथा पैर दबाने (उत्तरार्द्ध) इन दो अर्थों का विकल्प के रूप में प्रस्तुत होने से '**विकल्प**' अलङ्कार है।

छन्द—श्लोक में '**वसन्ततिलका**' छन्द है। लक्षण द्र० १।८ श्लोक।

टिप्पणी—(१) करभ शब्द के दो अर्थ हैं—(क) कलाई से लेकर हाथ की (कनिष्ठा) तक का भाग तथा हाथी के बच्चे की सूँड़। दोनों के साथ जाँघ का औपम्यविधान है। इस प्रकार 'करभोरु' का दो अर्थ होगा—(१) वह सुन्दरी, जिसकी जंघायें करभ (हाथ के अग्रभाग की पीठ) के सदृश हैं। (२) वह सुन्दरी, जिसकी जंघाएँ हाथी के बच्चे की सूँड़ के सदृश हैं।

विशेष—(१) राजा द्वारा शकुन्तला को प्रसन्न करने के कारण **उपन्यास** नामक प्रतिमुख सन्धि का अङ्ग है। (उपन्यासः प्रसादनम्)। (२) अभीष्ट अर्थ के लिये अनेक बातें कहने के कारण **माला** नामक नाटकीय लक्षण है। आचार्य विश्वनाथ ने इस श्लोक को 'माला' के उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया है।

शकुन्तला—न माननीयेष्वात्मानमपराधयिष्ये। (ण माणणीएसुअत्ताणं अवराहइस्सं।) (इत्युत्थाय गन्तुमिच्छति)।

व्याकरण एवं शब्दार्थ—अपराधयिष्ये – अप्+राध्+णिच्+लृट् उ०पु०ए०व०।

शकुन्तला—मैं आदरणीय लोगों के प्रति अपने को अपराधिनी नहीं बनाऊँगी। (उठकर जाना चाहती है)।

टिप्पणी—यहाँ माननीय से अभिप्राय राजा का है। कुछ लोग कण्व आदि से लेते हैं।

राजा—सुन्दरि, अनिर्वाणो दिवसः। इयं च ते शरीरावस्था।

व्याकरण एवं शब्दार्थ—अनिर्वाणः – अपरिणत (न ढला हुआ)। निर्+वा+क्त – निर्वाणः न निर्वाणः अनिर्वाणः।

राजा—सुन्दरी, दिन (अभी) ढला नहीं (अनिर्वाण) है। और तुम्हारे शरीर की यह दशा है।

उत्सृज्य कुसुमशयनं नलिनीदलकल्पितस्तनावरणम्।
कथमातपे गमिष्यसि परिबाधापेलवैरङ्गैः॥ १९॥

(इति बलादेनां निवर्तयति)।

अन्वय—नलिनीदलकल्पितस्तनावरणं कुसुमशयनम् उत्सृज्य परिबाधापेलवैः अङ्गैः आतपे कथं गमिष्यसि ?

शब्दार्थ—नलिनीदलकल्पितस्तनावरणम् = कमलिनी के पत्तों से स्तनों का आवरण बनाया गया है जिसपर ऐसा, (कमलिनी के पत्तों से बनायी गयी स्तनों के आवरण वाली)। कुसुमशयनम् = पुष्प-शय्या को। उत्सृज्य = छोड़कर। परिबाधापेलवैः = पीड़ा के कारण कोमल। अङ्गैः = अङ्गों से। आतपे = धूप में। कथम् = कैसे। गमिष्यसि = जाओगी।

अनुवाद—कमलिनी के पत्तों से बनाये गये स्तनों के आवरण वाली पुष्प-शय्या को छोड़कर पीड़ा के कारण कोमल अङ्गों से धूप में कैसे जाओगी ? (बलपूर्वक इसको लौटाता है)।

संस्कृत व्याख्या—नलिनीदलकल्पितस्तनावरणं – नलिनीदलैः कमलिनीपत्रैः कल्पितं रचितं स्तनावरणं कुचावरणं यस्मिन् तत् तादृशं, **कुसुमशयनं** – पुष्पमयी शय्याम्, **उत्सृज्य** – परित्यज्य, **परिबाधापेलवैः** – परिबाधया परिपीडया पेलवैः सुकुमारैः, **अङ्गैः** – शरीरावयवैः, **आतपे** – घर्मे, **कथं** – केन प्रकारेण, **गमिष्यसि** – यास्यसि ?

संस्कृत-सरलार्थः—गन्तुमुद्यतां शकुन्तलां वारयन् राजा वक्ति—'कमलिनीपत्रविरचितां कुचावरणायोपयुक्तां पुष्पशय्यामपहाय पीडया कोमलैः शरीरावयवैः कथमातपे गमिष्यसि ? सम्प्रति घर्मे तव गमनं न समीचीनमिति भावः ।

व्याकरण—नलिनीदलकल्पितस्तनावरणम् – नलिन्याः दलैः कल्पितं स्तनयोः आवरणं यस्मिन् तत् (तत्पु०, बहु०)। कुसुमशयनम् – कुसुमानां शयनम् (तत्पु०)। परिबाधापेलवैः – परिबाधया पेलवैः (तत्पु०)। उत्सृज्य – उत्+सृज्+ल्यप्। शयनम् – शी+ल्युट्।

कोष—(१) 'प्रसूनं कुसुमं समम्' – इत्यमरः। 'प्रकाशो द्योत आतपः' – इत्यमरः।

अलङ्कार—यहाँ 'परिपेलवैः अङ्गैः' यह कथन 'कथमातपे गमिष्यसि' का कारण होने से **'काव्यलिङ्ग'** अलङ्कार है। लक्षण द्र० १।४ श्लोक। (२) 'परिबाधापेलवैः अङ्गैः' यहाँ विशेषण साभिप्राय है अतः **'परिकर'** अलङ्कार है। लक्षण द्र० १।२६ श्लोक।

छन्द—**'आर्या'** छन्द है। लक्षण द्र० १।२ श्लोक।

टिप्पणी—(१) यहाँ हेतुपूर्वक वर्णन से 'उपन्यास' नामक प्रतिमुख सन्धि का अङ्ग है। लक्षण – 'उपपत्तिकृतोऽर्थ उपन्यासस्तु स्मृतः' ना०शा०। (२) हेतु के साथ अभीष्ट के कथन से 'हेतु' नामक नाटकीय लक्षण है। लक्षण – 'हेतुर्वाक्यं समासोक्तमिष्टकृद् हेतुदर्शनात्'। सा०द०। (३) कुछ लोग 'परिबाधापेलवैः' में पेलव शब्द में अश्लीलता दोष मानकर उसके स्थान पर 'परिबाधाकोमलैः' यह पाठ उचित मानते हैं। पर कालिदास ने इस शब्द का बहुत प्रयोग किया है। उससे लगता है कि उस समय इसका अश्लील अर्थ नहीं हो पाया था।

शकुन्तला—पौरव, रक्ष विनयम्। मदनसन्तप्ताऽपि न खल्वात्मनः प्रभवामि।
(पोरव, रक्ख विणअं। मअणसंतत्तावि ण हु अत्तणो पहवामि।)

व्याकरण एवं शब्दार्थ—विनयम् = शील, मर्यादा, शिष्टाचार। आत्मनः प्रभवामि = अपनी स्वामिनी अर्थात् स्वतन्त्र।

शकुन्तला—हे पुरुवंशी राजन्, मर्यादा की रक्षा कीजिये। काम से पीड़ित होते हुए भी मैं अपनी स्वामिनी नहीं हूँ। (अर्थात् स्वतन्त्र नहीं हूँ)।

राजा—भीरु, अलं गुरुजनभयेन। दृष्ट्वा ते विदितधर्मा तत्रभवान्नात्र दोषं ग्रहीष्यति कुलपतिः। अपि च—

व्याकरण एवं शब्दार्थ—अलं गुरुजनभयेन – अलम् = (निषेधार्थक) के योग में। विदितधर्मा – विदितः धर्मः यस्य सः (ब०ब्री०) 'धर्मादनिच्' सूत्र से समासान्त में 'अनिच्' प्रत्यय—धर्मवेत्ता। इसका रूप आत्मन् की तरह चलेगा।

राजा—अरी डरपोक, गुरुजनों से भयभीत न हो। तुम्हें देखकर धर्म को जानने वाले पूज्य कुलपति (कण्व) इस विषय में (विवाह के विषय में) बुरा (दोष) नहीं मानेंगे। और भी—

गान्धर्वेण विवाहेन बह्व्यो राजर्षिकन्यकाः।

श्रूयन्ते परिणीतास्ताः पितृभिश्चाभिनन्दिताः ।। २० ।।

अन्वय—बह्व्यः राजर्षिकन्यकाः गान्धर्वेण विवाहेन परिणीताः, ताः पितृभिः अभिनन्दिताः च श्रूयन्ते।

शब्दार्थ—बह्व्यः = बहुत सी। राजर्षिकन्यकाः = राजर्षियों की कन्यायें। गान्धर्वेण = गान्धर्व। विवाहेन = विवाह के द्वारा। परिणीताः = विवाहित हुई हैं। च = और। ताः = वे। पितृभिः = पिता आदि द्वारा। अभिनन्दिताः = अनुमोदित की गयी हैं। श्रूयन्ते = सुनी जाती हैं।

अनुवाद—बहुत सी राजर्षियों की कन्यायें गान्धर्व विवाह के द्वारा विवाहित हुई हैं और वे पिता आदि के द्वारा अनुमोदित भी की गयी हैं—(ऐसा) सुना जाता हैं।

संस्कृत व्याख्या—**बह्व्यः** – अनेकाः, **राजर्षिकन्यकाः** – राजर्षिकुमार्यः, **गान्धर्व-विवाहेन** – पारस्परिकप्रेममूलकेन (रहसि परस्परानुमोदनकृतेन) विवाहविधिना, **परिणीताः** – विवाहिताः, **ताः** – (परिणीताः कन्यकाः), **पितृभिः** – जनकैः (गुरुवर्मैः), **अभिनन्दिताश्च** – अनुमोदिताश्च, **श्रूयन्ते** – इति आकर्ण्यन्ते।

संस्कृत-सरलार्थः—भयशीलां शकुन्तलां परिसान्त्वयन् राजा वदति—पुराणादि-कथाभिरिदं सुष्ठु ज्ञायते यदनेका राजर्षिकन्यका गान्धर्वविवाहविधिना विवाहिताः, पितृभिर- नुमोदिताश्च क्षत्रियस्य कृते तु गान्धर्वविवाहः श्रेष्ठत्वेनोच्यतेऽतः क्षत्रियकुलोत्पन्नयोरावयोर्गान्धर्वविवाहे महर्षिकण्वो न दोषं द्रक्ष्यति। तस्यानुमोदनन्तु निश्चितमेवेति भावः।

व्याकरण—राजर्षिकन्यकाः – राजर्षीणां कन्यकाः (तत्पु०)। परिणीताः – परि+नी+क्त+टाप् प्र०ब०व०। अभिनन्दिताः – अभि+नन्द्+क्त प्र०ब०व०। विवाहेन – विशिष्टं वहनमिति वि+वह्+घञ् विवाहः तेन। कन्यकाः – कन्या एव कन्यकाःस्वार्थे कन्।

अलङ्कार—यहाँ अप्रस्तुत सामान्य से प्रस्तुत विशेष की व्यञ्जना होने से '**अप्रस्तुतप्रशंसा**' अलङ्कार है। लक्षण द्र० १।१७ श्लोक।

छन्द—'**पथ्यावक्त्र**' छन्द है। लक्षण द्र० ३।१७ श्लोक।

टिप्पणी—(१) गान्धर्वविवाह (गान्धर्वेण विवाहेन) – वर्णाश्रम धर्म में १६ संस्कारों का विधान है। जिनमें विवाह एक मुख्य संस्कार है। विवाह आठ प्रकार का होता है – (१) ब्राह्म, (२) दैव, (३) आर्ष, (४) प्राजापत्य, (५) आसुर, (६) गान्धर्व, (७) राक्षस, (८) पैशाच। कहा भी गया है— "ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथाऽसुरः। गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमो मतः ॥" जहाँ तक गान्धर्व विवाह का प्रश्न है वह एक प्रकार से प्रेम-विवाह (लव मैरेज) है। मनु ने इस का लक्षण दिया है – 'इच्छयान्योन्यसंयोगः कन्यायाश्च वरस्य च। गान्धर्वः स तु विज्ञेयो मैथुन्यः कामसम्भवः ॥' अर्थात् काम के वशीभूत युवक-युवतियाँ परस्पर इच्छा से सम्बन्ध के लिये सहमत हो जाते हैं तो उसे गान्धर्व विवाह कहते हैं। इस विवाह के पूर्व पिता आदि की अनुमति अपेक्षित नहीं होती। विवाह के बाद (पिता आदि) उसका अनुमोदन कर देते हैं। गान्धर्व विवाह क्षत्रियों के लिये श्रेष्ठ माना जाता है— 'क्षत्रियस्य तु गान्धर्वो विवाहः श्रेष्ठ उच्यते।' मनु०। (२) प्रचीन भारत में ऐसे विवाह हुये है जिनका बाद में पिता आदि ने समर्थन कर दिया जैसे – (१) राजा नीलध्वज की कन्या स्वाहा का अग्नि से। (२) प्रभावती का प्रद्युम्न से। (३) उषा का अनिरुद्ध से। दुष्यन्त-शकुन्तला का गान्धर्व विवाह भी इसी कोटि का है जिसका समर्थन बाद में कण्व ने कर दिया था।

शकुन्तला—मुञ्च तावन्माम् । भूयोऽपि सखीजनमनुमानयिष्ये । (मुञ्च दाव मं। भूओ वि सहीजणं अणुमाणइस्सं।)

व्या० एवं श०—अनुमानयिष्ये – अनु+मन्+णिच्+लृट्+उ०पु०ए०व० = अनुमति लूँगी।

शकुन्तला—मुझे अभी छोड़िये। फिर मैं (अपनी) सखियों से अनुमति लूँगी।

राजा—भवतु । मोक्ष्यामि ।

राजा—अच्छा, छोड़ दूँगा।

शकुन्तला—कदा ? (कदा ?)

शकुन्तला—कब ?

अपरिक्षतकोमलस्य यावत् कुसुमस्येव नवस्य षट्पदेन ।
अधरस्य पिपासता मया ते सदयं सुन्दरि गृह्यते रसोऽस्य ।। २१ ।।

अन्वय—सुन्दरि, यावत् षट्पदेन नवस्य कुसुमस्य इव पिपासता मया अपरिक्षतकोमलस्य अस्य ते अधरस्य रसः सदयं गृह्यते।

शब्दार्थ—सुन्दरि = हे सुन्दरी। यावत् = जब। षट्पदेन = भ्रमर (भौंरे) के द्वारा। नवस्य = नवीन। कुसुमस्य (रसस्य) इव = पुष्प (के रस) की भाँति। पिपासता = प्यासे। मया = मेरे द्वारा। अपरिक्षतकोमलस्य = अक्षत एवं कोमल। अस्य = इस। ते = तुम्हारे। अधरस्य = अधर का। रसः = रस। सदयम् = दयापूर्वक। गृह्यते = ग्रहण कर लिया जायेगा (पी लिया जायेगा)।

अनुवाद—हे सुन्दरी, जब भ्रमर (भौंरे) के द्वारा नीवन पुष्प (के रस) की भाँति, प्यासे मेरे द्वारा अक्षत (न चूमे गये) और कोमल तुम्हारे इस अधर का रस दयापूर्वक (धीरे-धीरे) ग्रहण कर लिया (पी लिया) जायेगा (तब छोड़ूँगा)।

संस्कृत व्याख्या—सुन्दरि – हे कान्ते ! **यावत्** – यावत्कालपर्यन्तम् , **षट्पदेन** – भ्रमरेण, **नवस्य** – नवीनस्य, **कुसुमस्य** (रसस्य) इव – पुष्पस्य (रसस्य) इव, **पिपासता** – पातुमिच्छता पानार्थमाकुलेन, **मया** – दुष्यन्तेन, **अपरिक्षतकोमलस्य** – अस्पृष्टसुकुमारस्य (केनाप्यनास्वादितपूर्वस्य), **अस्य** – एतस्य, **ते** – तव, **अधरस्य** – ओष्ठस्य, **रसः** – स्वादः, **सदयम्** – दयापूर्वकम् , **गृह्यते** – आदीयते।

संस्कृत-सरलार्थः—एकान्ते शकुन्तलाऽधरपानोत्सुको दुष्यन्तो वदति शकुन्तलाम्—'हे सुन्दरि ! यावत्कालपर्यन्तं मधुपेन नवपुष्पस्य रसस्येव पातुमिच्छता मया (दुष्यन्तेन) केनाप्यनास्वादितपूर्वस्य तेऽधरस्य स्वादो दयापूर्वकमादीयते। तवाधरपानान्तरमेव त्वां मोक्ष्यामीति संक्षेपः'।

व्याकरण—पिपासता – पा+सन्+शतृ, तृ०,एक०। अपरिक्षतकोमलस्य – अपरिक्षतः चासौ कोमलश्च अपरिक्षतकोमलः तस्य (कर्म०)।

कोष—'मधुव्रतो मधुकरो मधुलिण्मधुपायिनः। द्विरेफः पुष्पलिड्भृङ्गषट्पदभ्रमरालयः' ॥

रस—यहाँ 'सम्भोग शृङ्गार' रस है।

अलङ्कार—'कुसुमस्येव नवस्य षट्पदेन' में '**उपमा**' अलङ्कार है। लक्षण द्र० १।५ श्लोक। छेक एवं वृत्यनुप्रास की भी स्थिति है।

छन्द—यहाँ '**मालाभारिणी**' छन्द है। लक्षण है – 'विषमे ससजा गुरू चेत् सभरा येन

तु मालभारणीयम्' अर्थात् जिसके विषम पदों में सगण, सगण, जगण तथा दो गुरु तथा सम पादों में सगण, भगण, रगण और यगण हो वह **मालाभारिणी** छन्द है।

टिप्पणी—(१) इस श्लोक में शास्त्रानुकूल मनोहर वाक्य होने से **उपदिष्ट** नामक नाटकीय लक्षण है। (२) इस में दुष्यन्त की कामुकता प्रकाशित होती है, साथ ही उनकी मुग्धा कन्या की अनुवृत्ति-शकुन्तला भी व्यञ्जित होती है। (३) रतिकाल में अधरपान अमृतपान को भी तिरस्कृत कर देता है। कहा भी गया है – 'अस्या रदच्छदरसो न्यक्करोतितरां सुधाम्' ॥

(इति मुखमस्याः समुन्नमयितुमिच्छति। शकुन्तला परिहरति नाट्येन)

(इसका मुँह उठाना चाहता है। शकुन्तला अभिनयपूर्वक रोकती है)।

(नेपथ्ये) **चक्रवाकवधुके, आमन्त्रयस्व सहचरम्। उपस्थिता रजनी।** (चक्कवाकवहुए, आमन्तेहि सहअरं। उवट्ठिआ रअणी।)

व्या० एवं श०—चक्रवाकस्य वधूः। इति चक्रवाकवधू+कन् स्त्रियाम् – चक्रवाकवधुका तत्सम्बुद्धौ चक्रवाकवधुके। आमन्त्रयस्व – आ+मन्त्र+णिच्+लोट् म०पु०ए०व० = विदा लो।

(नेपथ्य में) हे चकवी (चक्रवाक-वधू), अपने साथी (चकवे) को विदा करो। रात आ गयी (हो गयी) है।

टिप्पणी—इसके द्वारा सखियाँ शकुन्तला रूपी चकवी को दुष्यन्त रूपी चकवे से शीघ्र अलग होने का निर्देश देती हैं)। (१) ऐसी कवि-प्रसिद्धि है कि रात के आजाने पर चकवा एवं चकवी अलग हो जाती हैं। ऐसा कहा जाता है कि सीता के वियोग में विलाप करने वाले राम का उपहास करने के कारण राम ने रात में उसे अपनी वधू से विलग रहने का शाप दे दिया था; तब से दोनों (रात) में विलग रहते हैं। (२) चक्रवाकवधू से अभिप्राय शकुन्तला से है। इसे यह संकेत दिया गया है कि रात्रिरूपी गौतमी आ गयी है, अतः वह अपने सहचर से विदा ले। (३) यहाँ भावी घटना की सूचना होने के कारण **पताकास्थानक** है। लक्षण –

यत्रार्थे चिन्तितेऽन्यस्मिन् तल्लिङ्गोऽन्यत्प्रयुज्यते।
आगन्तुकेन भावेन पताकास्थानकन्तु तत् ॥

शकुन्तला—(ससम्भ्रमम्) **पौरव, असंशयं मम शरीरवृत्तान्तोपलम्भायार्या गौतमीत एवागच्छति। तद् विटपान्तरितो भव।** (पोरव, असंसअं मम सीरवुत्तन्तोवलम्भस्स अज्जा गोदमी इदो एव्व आअच्छदि। ता विडवन्तरितो होहि।)

व्या० एवं श०—शरीरवृत्तान्तोपलम्भाय – शरीरवृत्तान्तस्य उपलम्भाय ज्ञानाय = शरीर का समाचार जानने के लिये। विटपान्तरितः – विटपैः लताशाखाभिः अन्तरितः आच्छादितः = शाखाओं से आच्छादित (अर्थात् शाखाओं की ओट में)। भव = हो जाइये।

शकुन्तला—(घबराहट के साथ) हे पुरुवंशी राजन् , निःसन्देह मेरे शरीर का समाचार जानने के लिये आर्या गौतमी इधर ही आ रही हैं। इसलिये शाखाओं (डालियों) की ओट (आड़) में छिप जाइये।

राजा—तथा। (इत्यात्मानमावृत्य तिष्ठति)।

व्या० एवं श०—आवृत्य – आ+वृत्+ल्यप् = छिपाकर।

राजा—(जैसा आप कहतीं हैं) । वैसा (ही करता हूँ) । (अपने को छिपाकर खड़ा हो जाता है) ।

(ततः प्रविशति पात्रहस्ता गौमती सख्यौ च)

(तत्पश्चात् पात्र लिये हुये गौतमी और दोनों सखियाँ प्रवेश करती हैं ।)

सख्यौ—इत इत आर्या गौमती । (इदो इदो अज्जा गोदमी ।)

दोनों सखियाँ—आर्या गौतमी, इधर से, इधर से (आइये) ।

गौतमी—(शकुन्तलामुपेत्य) **जाते, अपि लघुसन्तापानि तेऽङ्गानि** । (जादे, अवि लहुसंदावाइं दे अङ्गाइं ।)

व्या० एवं श०—लघुसन्तापानि – लघुः अल्पः सन्तापः पीडा येषां तानि = कम सन्ताप वाले । यह 'अङ्गानि' पद का विशेषण है ।

गौतमी—(शकुन्तला के समीप जाकर) पुत्री, तुम्हारे अङ्गों का सन्ताप कुछ कम हुआ ?

शकुन्तला—आर्ये, अस्ति मे विशेषः । (अज्जे, अत्थि मे विसेसो ।)

शकुन्तला—आर्या मुझे कुछ अन्तर (लाभ) है ।

विशेष—अन्तरम् – कुछ कम है ।

गौतमी—अनेन दर्भोदकेन निराबाधमेव ते शरीरं भविष्यति । (शिरसि शकुन्तलामभ्युक्ष्य) **वत्से, परिणतो दिवसः । एहि, उटजमेव गच्छामः** । (इमिणा दब्भोदएण णिराबाधं एव्व दे सरीरं भविस्सदि । वच्छे, परिणदो दिअहो । एहि, उडजं एव गच्छदम्ह ।) (इति प्रस्थिताः) ।

व्या० एवं श०—दर्भोदकेन – कुशसिञ्चितसलिलेन-कुशसहित जल से । यहाँ यज्ञीय जल से अभिप्राय है । निराबाधम् – बाधारहित अर्थात् स्वस्थ । उटजमेव = कुटी पर ही ।

गौतमी—इस कुश-युक्त जल से तुम्हारा शरीर पूर्ण स्वस्थ (सन्तापरहित) हो जायेगा । (शकुन्तला के सिर पर जल छिड़ककर) बेटी, दिन ढ़ल गया है । आओ, कुटी पर ही चलें । (सभी चल देती हैं) ।

शकुन्तला—(आत्मगतम्) **हृदय, प्रथममेव सुखोपनते मनोरथ कातरभावं न मुञ्चसि । सानुशयविघटितस्य कथं ते साम्प्रतं सन्तापः** । (पदान्तरे स्थित्वा । प्रकाशम्) **लतावलय सन्तापहारक, आमन्त्रये त्वां भूयोऽपि परिभोगाय** । (हिअअ, पढमं एव्व सुहोवणदे सणोरहे कादरभावं ण मुञ्चसि । साणुसविहडिअस्स कहं दे संपदं संदावो । लदावलअ संदावहारअ, आमन्तेमि तुमं भूलो वि परिभेअस्स ।) (इति दुःखेन निष्क्रान्ता शकुन्तला सहेतराभिः) ।

व्या० एवं श०—सुखोपनते – सुखेन अनायासेन उपनते प्राप्ते = अना- यास प्राप्त । यह पद 'मनोरथ' का विशेषण है । कातरभावम् – भीरुतां सङ्कुचितस्यभावम् च = भय अथवा सङ्कोच भाव को । सानुशयविघटितस्य – अनुशयेन पश्चात्तापेन सह विघटितस्य मनोरथेन विभाजितस्य = पश्चात्ताप के साथ वियुक्त तुम्हारा । लतावलय ! लतानां व्रततीनां वलयः कपुञ्जम् तत्सम्बुद्धौ = हे लाताकुञ्ज (लतागृह!) । परिभोगाय – सम्भोगाय सुखाय वा = सुख के लिये । सन्तापहारकः = सन्ताप को दूर करने वाले । यह पद लतावलय (लतागृह) का विशेषण है । आमन्त्रये – आ+मन्त्र+उ०पु०ए०व० = आमन्त्रित कर रही हूँ । सहेतराभिः इतराभिः सह – सह के योग में तृतीया = दूसरों के साथ ।

शकुन्तला—(अपने मन में) हे हृदय, पहले तो (दुष्यन्त रूप) मनोरथ के अनायास प्राप्त होने पर (तुमने अपना) सङ्कोच (कातरभाव) नहीं छोड़ा। अब पश्चात्ताप के साथ वियुक्त होते हुये (बिछुड़ते हुये) (तुमको) क्यों सन्ताप (हो रहा है) ? कुछ पग चलने के बाद रुक कर (प्रकट रूप में) हे सन्ताप को दूर करने वाले लताकुञ्ज, तुमको फिर सेवन (उपभोग) के लिये निमन्त्रित कर रही हूँ। (शकुन्तला दुःखपूर्वक दूसरों के साथ चली जाती है)।

राजा—(पूर्वस्थानमुपेत्य, सनिःश्वासम्) **अहो, विघ्नवत्यः प्रार्थितार्थसिद्धयः। मया हि**—

व्या० एवं श०—विघ्नवत्यः = विघ्नों से युक्त। प्रार्थितार्थसिद्धयः - प्रार्थितानाम् अभिलषितानाम् अर्थानांसिद्धयः निष्पत्तयः = अभीष्ट वस्तुओं की प्राप्ति।

राजा—(पहले वाले स्थान पर जाकर, लम्बी साँस लेकर) अहो, अभीष्ट (अभिलषित) वस्तुओं की प्राप्ति विघ्नों (बाधाओं) से युक्त होती है। क्योंकि मेरे द्वारा—

मुहुरङ्गुलिसंवृताधरोष्ठं प्रतिषेधाक्षरविक्लवाभिरामम् ।
मुखमंसविवर्ति पक्ष्मलाक्ष्याः कथमप्युन्नमितं न चुम्बितं तु ।। २२ ।।

अन्वय—पक्ष्मलाक्ष्याः मुहुः अङ्गुलिसंवृताधरोष्ठं प्रतिषेधाक्षरविक्लवाभिरामम् अंसविवर्ति मुखं कथमपि उन्नमितं तु चुम्बितं न।

शब्दार्थ—पक्ष्मलाक्ष्यः = प्रशस्त बालों (घनी बरौनियों) वाले नेत्र हैं जिसके ऐसे का (सुन्दर नेत्रों वाली का)। मुहुः = बार-बार, पुनः-पुनः। अङ्गुलिसंवृताधरोष्ठम् = अङ्गुली के द्वारा ढक लिया गया है निचला ओठ (अधरोष्ठ) जिसका ऐसा, अङ्गुली से ढके हुये निचले ओठ (अधरोष्ठ) वाला। प्रतिषेधाक्षरविक्लवाभिरामम् = निषेध (मना करने) के अक्षरों के अस्पष्ट उच्चारण (विक्लव) के कारण मनोहर। अंसविवर्ति = कन्धे की ओर मोड़ा गया। मुखम् = मुख। कथमपि = किसी प्रकार। उन्नमितम् = ऊपर (तो) उठाया गया। तु = किन्तु। चुम्बितम् न = चूमा नहीं गया।

अनुवाद—सुन्दर नेत्रों वाली (शकुन्तला) का बार-बार अङ्गुली (तर्जनी) से ढके हुये अधरोष्ठ वाला, (चुम्बनादि के) निषेध (मना करने) के अक्षरों के अस्पष्ट उच्चारण करने के कारण मनोहर और (उसके द्वारा) कन्धों की ओर मोड़ा गया मुख (मेरे द्वारा) किसी प्रकार (अर्थात् बड़ी कठिनाई से) ऊपर उठाया गया किन्तु चूमा नहीं जा सका (अर्थात् मैंने उसके मुख को ऊपर तो उठा लिया, किन्तु चुम्बन नहीं कर पाया।

संस्कृत व्याख्या—**पक्ष्मलाक्ष्याः** - पक्ष्मले प्रशस्तलोमयुक्ते अक्षिणी नयने यस्याः तस्याः शकुन्तलायाः, **मुहुः** - वारं वारम् , **अङ्गुलिसंवृताधरोष्ठं** - अङ्गुलिभिः संवृतः आच्छादितः अधरोष्ठः निम्नौष्ठः यस्मिन् तत् , **प्रतिषेधाक्षरविक्लवाभिरामं** - प्रतिषेधाक्षराणां, **मा** - मा अलमलमिति चुम्बननिषेधकानां वर्णानां विक्लवेन अस्फुटोच्चारणेन अभिरामं मनोहरम् , **अंसविवर्ति** - स्कन्धपरावर्तनशीलम् , **मुखं** - वदनम् , **कथमपि** - केनापि प्रकारेण, कठिनतया इत्यर्थः, **उन्नमितं** - चुम्बनायोर्ध्वीकृतम् , **तु** - किन्तु, **चुम्बितं न** - चुम्बनं न कृतम्।

संस्कृत-सरलार्थः—पूर्वमेलनस्थानमवलोक्य राजा चिन्तयन् ब्रूते—'मया कमलनयनाया मुखं परिचुम्बितुं महता कठिन्येनोन्नमितं परन्तु चुम्बने सामर्थ्यं न गतो, हि तदा तदाननं सहजलज्जया तदङ्गुलिभिराच्छादिताधरोष्ठमासीत् , अलमलमिति चुम्बननिषेधाक्षराणा-मस्फुरोच्चारणेनातिमनोहरं तथा चुम्बनवारणाय स्कन्धपरावर्तनशीलमप्यासीदिति'।

व्याकरण—अङ्गुलिसंवृताधरोष्ठम् – अङ्गुल्या संवृतः अधरोष्ठः यस्मिन् तत् (ब०व्री०) = यह मुखम् का विशेषण है। प्रतिषेधाक्षरविक्लवाभिरामम् – प्रतिषेधस्य अक्षराणां विक्लवेन अभिरामम् (तृ०व०)। अंसविवर्ति अंसे स्कन्धे विवर्तितुं शीलं यस्य तत्। उन्नमितम् – उन्+नम+क्त। चुम्बितम् – चुम्ब+क्त+विभक्ति कार्य।

अलङ्कार—(१) अङ्गुलिसंवृताधरोष्ठम् – अधर तथा ओष्ठ में '**पुनरुक्तवदाभास**' अलङ्कार है क्योंकि दोनों का एक ही अर्थ प्रतीत होता है। पुनरुक्तवदाभास का लक्षण है – पुनरुक्तवदाभासो भिन्नाकारशब्दगा एकार्थतेव। का०प्र०॥ अर्थात् विभिन्न स्वरूप के शब्दों में रहने वाली (समानार्थक न होने पर भी) समानार्थकता की जो प्रतीति होती है वह 'पुनरुक्तवदाभास' अलङ्कार है। (२) यहाँ पर 'कथमप्युन्नमितम्' किसी प्रकार उठा तो लिया – कथमपि के तीन विशेषण 'अङ्गुलिसंवृताधरोष्ठम्' 'प्रतिषेधाक्षरविक्लवाभिरामम्' तथा 'अंसविवर्ति' हेतुत्वेन कहे गये हैं अतः '**काव्यलिङ्ग**' अलङ्कार है। लक्षण द्र० १।४ श्लोक। (३) सम्पूर्ण श्लोक में स्वभावोक्ति अलङ्कार है। लक्षण द्र० १।७ श्लोक।

छन्द—'**मालभारिणी**' छन्द है। लक्षण द्र० ३।२१ श्लोक।

टिप्पणी—यहाँ **पश्चात्ताप** नामक नाटकालङ्कार है।

क्व नु खलु सम्प्रति गच्छामि ? अथवा इहैव प्रियापरिभुक्तमुक्ते लतावलये मुहूर्तं स्थास्यामि। (सर्वतोऽवलोक्य)—

तो इस समय कहाँ जाऊँ ? अथवा यहाँ ही प्रियतमा (शकुन्तला) के द्वारा उपभुक्त और (अब) परित्यक्त (शकुन्तला से विहीन) लतामण्डप में थोड़ी देर रुकूँगा। (चारों ओर देखकर)—

तस्याः पुष्पमयी शरीरलुलिता शय्या शिलायामियं
क्लान्तो मन्मथलेख एष नलिनीपत्रे नखैरर्पितः।
हस्ताद् भ्रष्टमिदं बिसाभरणमित्यासज्यमानेक्षणो
निर्गन्तुं सहसा न वेतसगृहाच्छक्नोमि शून्यादपि॥ २३॥

अन्वय—शिलायां तस्याः शरीरलुलिता इयं पुष्पमयी शय्या, नलिनीपत्रे नखैः अर्पितः एषः क्लान्तः मन्मथलेखः, (तस्याः) हस्तात् भ्रष्टम् इदं बिसाभरणम् , इति आसज्यमानेक्षणः शून्यात् अपि वेतसगृहात् सहसा निर्गन्तुं न शक्नोमि।

शब्दार्थ—शिलायाम् = शिला पर। तस्याः = उसके। शरीरलुलिता = शरीर से मर्दित (शरीर से मसली गयी)। इयम् = यह। पुष्पमयी = पुष्प-निर्मित। शय्या = शय्या। नलिनीपत्रे = कमलिनी के पत्ते पर। नखैः = नाखूनों के द्वारा। अर्पितः = लिखा गया, अङ्कित किया गया। एषः = यह। क्लान्तः = मुरझाया हुआ। मन्मथलेखः = काम-पत्र (प्रेम-पत्र)। हस्तात् = हाथ से। भ्रष्टम् = गिरा हुआ। इदम् = यह। बिसाभरणम् = कमल-नाल से निर्मित आभूषण (कङ्कण = कङ्गन)। इति = इस प्रकार। आसज्यमानेक्षणः = आसक्त दृष्टि वाला। शून्यात् अपि = शून्य (सूने) भी। वेतसगृहात् = बेंत के लता-मण्डप से। सहसा = एकाएक। निर्गन्तुम् = निकलने में (बाहर जाने में)। न शक्नोमि = समर्थ नहीं हूँ।

अनुवाद—शिला पर उस (प्रियतमा शकुन्तला) के शरीर से मर्दित (मसली) गयी यह पुष्प-निर्मित शय्या (है)। कमलिनी के पत्ते पर नाखूनों के द्वारा लिखित (अङ्कित) यह (उसका) मुरझाया हुआ काम-पत्र (प्रेम-पत्र) (है)। (उसके) हाथ से गिरा हुआ यह कमल-नाल

का निर्मित आभूषण (कङ्गण) है। इस प्रकार (इन वस्तुओं में) संलग्न (आसक्त) दृष्टि वाला मैं (प्रियतमा शकुन्तला से) सूने भी इस बेंत-गृह (बेंत लतागृह) से एकाएक निकलने (बाहर जाने) में असमर्थ हूँ।

संस्कृत व्याख्या—**शिलायां** – प्रस्तरखण्डे, **तस्याः** – शकुन्तलायाः, **शरीरलुलिता** – शरीरेण सन्तप्तदेहेन लुलिता मर्दिता, **इयम्** – एषा, **पुष्पमयी शय्या** – पुष्परचिता शय्या, **नलिनीपत्रे** – कमलिनीपत्रे, **नखैः** – कररुहैः, **अर्पितः** – लिखितः, **एषः** – अयम् , **क्लान्तः** – म्लानः, **मन्मथलेखः** – कामपत्रम् , **हस्तात्** – करात् , **भ्रष्टं** – पतितम् , **इदम्** – एतत् , **बिसाभरणं** – मृणालवलयम् , **इति** – एतेषु पदार्थेषु, **आसज्यमानेक्षणः** संलग्ननेत्रः (अहम्), **शून्यात् अपि** – प्रियतमाविरहितात् अपि, **वेतसगृहात्** – वेतसलतामण्डपात्, **सहसा** – अकस्मात् , **निर्गन्तुं** – बहिर्यातुम् , **न शक्नोमि** – न समर्थोऽस्मि।

संस्कृत-सरलार्थः—शकुन्तलाविहीनं लतागृहं गत्वा तद्भुक्तानि वस्तूनि समवलोक्य राजा चिन्तयति—'अस्मिन् शिलाखण्डे शकुन्तलासन्तप्तदेहेन परिमर्दिता पुष्पविरचितैषा शय्या परिदृश्यते, कमलिनीपत्रे नखलिखितं प्रणयपत्रमिदमवलोक्यते तथा विरहकार्श्यवशात्तद्हस्तात्पति पुरोदृश्यमानं मृणालवलयमस्ति। प्रियोपभुक्तेषु वस्तुस्वेषु संलग्ननयनोऽहं प्रियतमाविरहितादपि वेतसलतामण्डपात् अकस्माद् बहिर्गन्तु न प्रभवामीति।

व्याकरण—शरीरलुलिता – शरीरेण लुलिता (तत्पु०)। पुष्पमयी – पुष्प+मयट्+ङीप्। नलिनीपत्रे – नलिन्याः पत्रे (तत्पु०)। मन्मथलेखः – मन्मथस्य लेखः (तत्पु०)। आसज्यमानेक्षणः – आसज्यमाने ईक्षणे यस्य सः (बहु०)।

अलङ्कार—(१) लतागृह से दुष्यन्त के न जाने का कारण '**आसज्यमानेक्षणः**' है अतः यहाँ पदार्थहेतुक '**काव्यलिङ्ग**' अलङ्कार है। लक्षण द्र० १।४ । (२) शकुन्तला के अभाव में लतागृह शून्य है अतः शून्य रूप कारण के होने पर भी दुष्यन्त का निर्गमन रूप कार्य के न होने से '**विशेषोक्ति** है। लक्षण – **विशेषोक्तिरखण्डेषु कारणेषु फलावचः –का०प्र०** अर्थात् सम्पूर्ण कारणों के रहने पर भी फल (कार्य) का न रहना विशेषोक्ति है। (३) इस लतागृह में शकुन्तला का उपस्थिति रूप कारण नहीं है फिर भी राजा का वहाँ उपस्थितिरूप कार्य हो रहा है। अतः कारण के न रहने पर भी कार्य का वर्णन होने से '**विभावना**' अलङ्कार है। लक्षण द्र० १।१८ श्लोक।

छन्द—'**शार्दूलविक्रीडित**' छन्द है। लक्षण द्र० १।१४ श्लोक।

टिप्पणी—(१) यहाँ '**पश्चात्ताप**' नामक नाटकीय अलङ्कार है। (२) चतुर्थ चरण में प्रेमाधिक्य को प्रदर्शित करने वाली विशेष बात कहने से **पुष्प** नामक प्रतिमुख सन्धि का अङ्ग है। लक्षण – 'पुष्पं विशेषवचनं मतम्'। (३) प्रेम के क्षेत्र में प्रेमी-प्रेमिका द्वारा उपभुक्त (प्रयुक्त) वस्तुयें भी एक दूसरे को आनन्द देती हैं और उनके लगाव का कारण बनती हैं। यहाँ दुष्यन्त की प्रेमिका शकुन्तला की अनुपस्थिति में भी उसकी शय्या आदि दुष्यन्त के विशेष लगाव की कारण हैं।

(आकाशे) **राजन्** , (आकाश में) हे राजन् ,

सायन्तने सवनकर्मणि सम्प्रवृत्ते
वेदिं हुताशनवतीं परितः प्रयस्ताः।
छायाश्चरन्ति बहुधा भयमादधानाः।

सन्ध्यापयोदकपिशाः पिशिताशनानाम् ।। २४ ।।

अन्वय—सायन्तने सवनकर्मणि सम्प्रवृत्ते हुताशनवतीं वेदिं परितः प्रयस्ताः सन्ध्यापयोदकपिशाः भयम् आदधानाः पिशिताशनानां छायाः बहुधाः चरन्ति।

शब्दार्थ—सायन्तने = सायंकालिक। सवनकर्मणि = यज्ञ-कर्म के। सम्प्रवृत्ते = प्रारम्भ होने पर। हुताशनवतीं = अग्नि से युक्त। वेदिं = यज्ञ-वेदी के। परितः = चारों ओर। प्रयस्ताः = व्याप्त (फैली हुई)। सन्ध्यापयोदकपिशाः = सायंकालिक बादलों के समान कपिश (लाल-काली)। भयम् = भय को। आदधानाः = धारण (उत्पन्न) करने वाली। पिशिताशनानाम् = कच्चे मांस का आहार करने वाले (राक्षसों) की। छायाः = छाया। बहुधाः = बहुत (अनेक) प्रकार से (विविध रूपों में)। चरन्ति = विचरण कर रही हैं (इधर-उधर चक्कर लगा रही हैं)।

अनुवाद—सायंकालीन यज्ञ-कर्म के प्रारम्भ होने पर अग्नि से युक्त यज्ञ-वेदी के चारों ओर व्याप्त (फैली हुई), सायंकालिक बादलों के समान लाल-काली और भय को उत्पन्न करने वाली, कच्चे मांस का आहार करने वाले राक्षसों की छाया अनेक प्रकार से (विविध रूपों में) विचरण कर रही हैं।

संस्कृत व्याख्या—सायन्तने – सायंकालिके, सवनकर्मणि – यज्ञकर्मणि, अग्निहोत्रे इत्यर्थः, सम्प्रवृत्ते – सम्यक् प्रारब्धे सति, हुताशनवतीम् – अग्नियुक्ताम् , वेदिं – यज्ञवेदिम्, परितः – वेद्याः समन्तात्, प्रयस्ताः – व्याप्ताः, सन्ध्यापयोदकपिशाः – सायंकालिकमेघवत् कृष्णरक्ताः, भयं – भीतिम् , आदधानाः – कुर्वाणाः, पिशिताशनानां – राक्षसानाम् , छायाः – प्रतिबिम्बानि, बहुधा-अनेकधाः, चरन्ति – इतस्ततः भ्रमन्ति।

संस्कृत-सरलार्थः—सायङ्कालिके यज्ञकर्मणि प्रारब्धे सति पावकमयीं यज्ञवेदिं परितो विक्षिप्ता भयोत्पादिकाः सन्ध्याकालिकमेघवत् कृष्णरक्ता राक्षसानां छाया अनेकवारमितस्ततः परिभ्रमन्तीति भावः।

व्याकरण—सायन्तने – सायं भवं सायन्तनम् तस्मिन् सायन्तने सायम्+ट्यु (अन)+तुट् विभक्तिकार्य। सम्प्रवृत्ते – सम्+प्र+वृत्+क्त सप्तमीविभक्ति। सवनकर्मणि – सवनस्य (यज्ञस्य) कर्मणि (तत्पु०)। सम्प्रवृत्ते – सम्+प्र+वृत+क्त। हुताशनवतीम् – अश्नातीति अशनः हुतस्य अशनः हुताशनः – हुताशन+मतुप्+ङीप्। वेदिं परितः परितः के योग में 'अभितः परितः' वार्तिक से द्वितीया। प्रयस्ताः – प्र+यस्+क्त प्र०पु०ब०व०। सन्ध्यापयोदकपिशाः – सन्ध्यापयोदा इव कपिशाः (उपमित समास)। आदधानाः – आ+धा+शानच् स्त्रीलिङ्ग प्र०ब०व०।

कोष—'सवनं यजनं स्नाने' – इति विश्वः 'छाया स्यादातपाभावे सच्छोभापङ्क्तिषु स्मृता' – इति विश्वः।

रस—यहाँ राक्षसों की भयङ्कर छाया के वर्णन से 'भयानक रस' है।

अलङ्कार—(१) यहाँ 'भयमादधानाः' का कारण राक्षसों की छाया है अतः **'काव्यलिङ्ग'** अलङ्कार है। लक्षण द्र० १।४ श्लोक। (२) 'सन्ध्यापयोदकपिशाः' सन्ध्यापयोदा इव कपिशा में समासगा वाचक लुप्ता **'उपमा'** अलङ्कार है। उपमेयभूत सन्ध्या, उपमानभूत पयोद (मेघ) और साधारण धर्म कपिशवर्णता युक्त है पर उपमावाचक (वत् – इव) आदि लुप्त है। (३) श्लोक में भय (भयमादधानाः) का कारण चारों ओर फैली हुई राक्षसों की छाया (वेदीं हुताशनवतीं परितः प्रयस्ताः छायाः) है, अतः **'काव्यलिङ्ग'** अलङ्कार है। लक्षण द्र० १।४। (४) यहाँ छेक, वृत्ति –

श्रुति अनुप्रास की भी स्थिति है।

छन्द—श्लोक '**वसन्ततिलका**' छन्द है। लक्षण द्र० १।८ श्लोक।

राजा—अयमहमागच्छामि । (इति निष्क्रान्तः)।

राजा—यह मैं (अभी) आता हूँ। (निकल जाता है)।

टिप्पणी—(१) **आकाशे** – इसे नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों में '**आकाशभाषित**' कहते हैं। लक्षण द्र०प्र० अंक, विष्कम्भक के बाद टिप्पणी। आकाशभाषित के द्वारा महत्त्वपूर्ण सूचनायें दी जाती हैं। इसके द्वारा महर्षि कण्व की अनुपस्थिति में राक्षसों द्वारा यज्ञकर्म में विघ्न के उपस्थित होने को दृष्टिगत कर राजा दुष्यन्त से यज्ञ की रक्षा का आह्वान किया गया है। (२) 'अयमहमागच्छामि' राजा के इस कथन से राजा की धीरोदात्तता और वीरता प्रकाशित हो रही है। (३) यहाँ '**त्रोटक**' नामक गर्भ सन्धि का अङ्ग है। लक्षण – 'त्रोटकं पुनः संरब्धवाक्' ।

।। इति तृतीयोऽङ्कः ।।

।। तृतीय अङ्क समाप्त ।।

◆

चतुर्थोऽङ्कः

(ततः प्रविशतः कुसुमावचयं नाटयन्त्यौ सख्यौ)

(तत्पश्चात् फूल चुनने का अभिनय करती हुयी दोनों सखियाँ प्रवेश करती हैं)।

व्या० एवं श०—कुसुमावचयम् – कुसुमानामवचयम् (अव+चि+अच्) = फूलों का चुनना। व्याकरण की दृष्टि से 'अवचय' यह पद अशुद्ध है। यहाँ 'हस्तादाने चेरस्तेये' सूत्र से 'चि' धातु से 'घञ्' होकर 'अवचाय' बनता है। कालिदास ने 'मालविकाग्निमित्र' में भी 'कुसुमावचयव्यग्रहस्ता' यह प्रयोग किया है। **नाटयन्त्यौ** – अभिनयन्त्यौ = अभिनय करती हुयी।

विशेष—चतुर्थ अङ्क की विशेषता आदि के लिये द्रष्टव्य भूमिका पृ० ३७-४२।

अनसूया—हला प्रियंवदे, यद्यपि गान्धर्वेण विधिना निर्वृत्तकल्याणा शकुन्तलाऽनुरूपभर्तृगामिनी संवृत्तेति निर्वृतं मे हृदयम् तथाप्येतावच्चिन्तनीयम्। (हला पिअंवदे, जइ वि गन्धव्वेण विहिणा णिव्वुत्तकल्लाणा सउन्दला अणुरूवभत्तुगामिणी संवुत्तेति णिव्वुदं मे हिअअं। तह वि एतिअं चिन्तणिज्जं।)

व्या० एवं श०—'गान्धर्वेण विवाहेन' – द्रष्टव्य – तृ०अं० के श्लो० २० की टिप्पणी। निर्वृत्तकल्याणा –निर्वृत्तं (निर+वृत्+क्त) निष्पन्नं कल्याणं मङ्गलं (मनोरथ-सिद्धिः) यस्याः सा (ब०व्री०) = सम्पन्न हो गया है विवाहरूप मङ्गल (मनोरथ-सिद्धि) जिसका ऐसी। यह पद 'शकुन्तला' इस पद का विशेषण है। अनुरूपभर्तृगामिनी – अनुरूपं योग्यं पतिं गच्छति (या) सा (अनुरूप+भर्तृ+गम+णिनि+ङीप्) अपने अनुरूप (योग्य) पति को पाने वाली। संवृत्ता – सम्+वृत्+क्त+टाप् = हो गयी है। निर्वृतम् – निर्+वृ+क्त = आनन्दित (प्रसन्न) (है)।

अनसूया—सखी प्रियंवदा, गान्धर्व (विवाह) विधि से सम्पन्न (विवाह रूप) कल्याण (मङ्गल कार्य) वाली शकुन्तला यद्यपि अपने योग्य पति से सङ्गत हो गयी है (अर्थात् अपने योग्य पति को पा गयी है)। इसलिये मेरा हृदय आनन्दित (प्रसन्न) है, तथापि इतनी सी बात विचारणीय है।

प्रियंवदा—कथमिव ? (कहं विअ ?)

प्रियंवदा—कौन-सी ?

अनसूया—अद्य स राजर्षिरिष्टिं परिसमाप्यर्षिभिर्विसर्जित आत्मनो नगरं प्रविश्यान्तःपुरसमागत इतोगतं वृत्तान्तं स्मरति वा न वेति।

(अज्ज सो राएसी इट्ठिं परिसमाविअ इसीहिं विसज्जिओ अत्तणो णअरं पविसिअ अन्तेउरसमागदो इदोगदं वुत्तन्तं सुमिरदि वा ण वेति।)

व्या० एवं श०—राजर्षिरिष्टिम् = राजर्षिः+इष्टिम् (यज्+क्तिन्) = यज्ञ को। परिसमाप्य – परि+सम्+आप्+त्तवा+ल्यप् = समाप्त (सम्पन्न) कर। विसर्जितः – वि+सृज्+क्त – (राजधानी गमनाय) अनुज्ञातः = (राजधानी जाने के लिये ऋषियों द्वारा) छोड़ा गया (बिदा किया गया)। प्रविश्य – प्र+विश्+त्तवा – ल्यप् = प्रवेश कर। इतो गतम् = यहाँ घटित (यहाँ के विवाहादि)। वृत्तान्तम् = बात को।

अनसूया—आज वह राजर्षि (दुष्यन्त) यज्ञ को समाप्त करने के बाद ऋषियों द्वारा विदा किये जाने पर (जब) अपने नगर में प्रवेश करेगा तब अन्तःपुर की स्त्रियों से मिलने के बाद यहाँ के वृतान्त (विवाह आदि की बात) को याद करेगा या नहीं ?

प्रियंवदा—विस्रब्धा भव। न तादृशा आकृतिविशेषा गुणविरोधिनो भवन्ति। तात इदानीमिमं वृत्तान्तं श्रुत्वा न जाने किं प्रतिपत्स्यत इति। (वीसद्धा होहि। ण तढिसा आकिदिविसेसा गुणविरोहिणो होन्ति। तादो दाणि इमं वुत्तन्तं सुणिअ अ आणे किं पडिवज्जिस्सदि त्ति।)

व्याकरण एवं शब्दार्थ—विस्रब्धा - वि+स्रम्भ्+क्त+टाप् = विश्वस्ता (निःशङ्का)। आकृतिविशेषाः - आकृतीनां विशेषाः (तत्पु०) = सुन्दर आकृति वाले। गुणविरोधिनः = गुणविरोधी (निर्गुण-गुणहीन)। प्रतिपत्स्यते - प्रति+पद्+लृट् प्र०पु०ए०व० = करेंगे (सोचेंगे)।

टिप्पणी—(१) 'यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति' बृहत्संहिता के इस वचन के अनुसार सुन्दर व्यक्ति गुणहीन नहीं होता। (२) 'अग्नि पुराण' में भी कहा गया है—'यत्राकारस्ततो गुणाः'। (३) इसी प्रकार मृच्छकटिक में भी कहा गया है—'न ह्याकृतिः सुसदृशं विजहाति वृत्तम्'।

प्रियंवदा—विश्वस्त (निश्चिन्त) रहो। उस प्रकार की विशिष्ट (सुन्दर) आकृतियाँ गुणों से रहित नहीं होती हैं। पिता (कण्व) इस समाचार को सुनकर न जाने क्या करेंगे ? (अर्थात् शकुन्तला के गान्धर्व विवाह का अनुमोदन करेंगे, अथवा नहीं - यह बात विचाारणीय है।)

विशेष—राघवभट्ट के अनुसार यहाँ चतुर्थ अङ्क के प्रारम्भ से लेकर पञ्चम अङ्क के श्लोक १८ के बाद 'इति यथोक्तं करोति' तक **गर्भसन्धि** है। विश्वनाथ के अनुसार यहाँ से लेकर सप्तम अङ्क में शकुन्तला के पहचानने तक **'विमर्शसन्धि'** है। उनके मतानुसार तृतीय अङ्क के **'स्निग्धजनसंविभक्तम्'** इस वाक्य से लेकर तृतीय अङ्क की समाप्ति तक **'गर्भसन्धि'** है।

अनसूया—यथाऽहं पश्यामि, तथा तस्यानुमतं भवेत्। (जह अहं देक्खामि, तह तस्स अणुमदं भवे।)

अनसूया—जैसा मैं समझती हूँ, वैसा (यह) उनको अनुमत (स्वीकृत) होगा (अर्थात् वे इस विवाह का अनुमोदन कर देगें)।

प्रियंवदा—कथमिव ? (कहं विअ ?)

प्रियंवदा—कैसे ?

अनसूया—गुणवते कन्यका प्रतिपादनीयेत्ययं तावत् प्रथमः सङ्कल्पः। तं यदि दैवमेव सम्पादयति नन्वप्रयासेन कृतार्थो गुरुजनः। (गुणवदे कण्णआ पडिवादणिज्जे त्ति अअं दाव पढमो संकप्पो। तं जइ देव्वं एव्व संपादेदि णं अप्पआसेण किदत्थो गुरूअणो।)

व्याकरण एवं शब्दार्थ—गुणवते - गुणाः सन्ति अस्य - गुण+मतुप् च०ए०व० = गुणवान् को। प्रतिपादनीया - प्रति+पद्+णिच्+अनीयर+टाप् = देनी चाहिये।

अनसूया—गुणवान् व्यक्ति को कन्या देनी चाहिये - यह (माता-पिता का) पहला सङ्कल्प (दृढ़ विचार) होता है। उसको यदि भाग्य ही सम्पन्न (पूरा) कर देता है, तब तो गुरुजन (माता-पिता) बिना प्रयास के ही कृतकृत्य हो गये।

प्रियंवदा—(पुष्पभाजनं विलोक्य) **सखि, अवचितानि बलिकर्मपर्याप्तानि कुसुमानि।** (सहि, अवइदाइं बलिकम्मपज्जत्ताइं कुसुमाइं)।

प्रियंवदा—(पुष्पों के पात्र (टोकरी) को देखकर) सखी, पूजा-कार्य (बलिकर्म) के लिये पर्याप्त पुष्प चुन लिये गये।

अनसूया—ननु सख्याः शकुन्तलायाः सौभाग्यदेवताऽर्चनीया। (णं सहिए सउन्दलाए सोहग्गदेवआ अच्चणीआ।)

व्या० एवं श०—सौभाग्यदेवता = विवाह-देवता। अर्चनीया – अर्च+अनीयर+टाप् = पूजनीय है।

अनसूया—किन्तु सखी शकुन्तला के सौभाग्य (विवाह) देवता की पूजा करनी है।

प्रियंवदा—युज्यते। (जुज्जदि।) (इति तदेव कर्माभिनयतः)।

प्रियंवदा—ठीक है। (फिर उसी कार्य (अर्थात् पुष्प चुनने) का अभिनय करती हैं)।

(नेपथ्ये) **अयमहं भोः।**

(नेपथ्य में) यह मैं (आया) हूँ।

अनसूया—(कर्णं दत्त्वा) **सखि, अतिथीनामिव निवेदितम्।** (सहि; अदिधीणं विअ णिवेदिदं।)

अनसूया—सखी, (किसी) अतिथि का वचन (कथन) है (अर्थात् ऐसा लग रहा है कि कोई अतिथि पुकार रहा है)।

प्रियंवदा—ननूटजसन्निहिता शकुन्तला। (णं उडजसण्णिहिदा सउन्दला।)

व्याकरण एवं शब्दार्थ—उटजसन्निहिता – उटजे सन्निहिता उपस्थिता। सन्निहिता – सम्+नि+धा+क्त+टाप् = (कुटीरे) कुटिया में उपस्थित।

प्रियंवदा—शकुन्तला तो कुटी पर उपस्थित है ही।

अनसूया—अद्य पुनर्हृदयेनासन्निहिता। अलमेतावद्भिः कुसुमैः। (अज्ज उण हिअएण असण्णिहिदा। अलं एत्तिएहिं कुसुमेहिं।) (इति प्रस्थिते)।

अनसूया—किन्तु आज (वह) हृदय से अनुपस्थित है (अर्थात् आज उसका मन कहीं अन्यत्र लगा है)। इतने ही पुष्प (पूजा के लिये) पर्याप्त हैं। (दोनों चल देती हैं)।

(नेपथ्ये) **आः, अतिथिपरिभाविनि,**

व्याकरण एवं शब्दार्थ—अतिथिपरिभाविनि – अतिथिं परिभावयति तिरस्करोतीति – अतिथिपरिभाविनी तत्सम्बुद्धौ – अतिथिपरिभाविनि ! = अतिथि का तिरस्कार करने वाली।

(नेपथ्य में) अरे, अतिथि का तिरस्कार करने वाली,

विचिन्तयन्ती यमनन्यमानसा तपोधनं वेत्सि न मामुपस्थितम्।
स्मरिष्यति, त्वां न स बोधितोऽपि सन् कथां प्रमत्तः प्रथमं कृतामिव।। १।।

अन्वय—अनन्यमानसा यं विचिन्तयन्ती उपस्थितं तपोधनं मां न वेत्सि, सः प्रमत्तः प्रथमं कृतां कथाम् इव बोधितः सन् अपि त्वां न स्मरिष्यति।

शब्दार्थ—अनन्यमानसा = केवल एक ही ओर लगे हुये मन वाली (एकाग्र मन वाली)। यम् = जिसको। विचिन्तयन्ती = सोचती हुई। उपस्थितम् = उपस्थित (आये हुए)। तपोधनम् = तप रूपी धन वाले (तपस्वी)। माम् = मुझको। न = नहीं। वेत्सि = जान पा रही हो (देख पा रही हो)। सः = वह। प्रमत्तः = उन्मत्त। प्रथमम् = पहले। कृताम् = की गयी (कही गयी)। कथाम् इव = बात

की भाँति। बोधितः सन् = याद दिलाये जाने पर। अपि = भी। त्वाम् = तुमको। न = नहीं। स्मरिष्यति = स्मरण (याद) करेगा।

अनुवाद—एकाग्रचित्तवाली (किसी व्यक्ति विशेष पर आसक्त चित्तवाली) जिसका चिन्तन करती हुई (यहाँ) उपस्थित मुझ तपस्वी को नहीं जान (देख) पा रही हो, वह (तेरे द्वारा) स्मरण दिलाये जाने पर भी तुमको (उसी प्रकार) स्मरण नहीं करेगा (जिस प्रकार) उन्मत्त (व्यक्ति) पहले की गयी (कही गयी) बात को (स्मरण नहीं करता है)।

संस्कृत व्याख्या—अनन्यमानसा – एकाग्रचित्ता (सती) यं जनम् , **विचिन्तयन्ती** – ध्यायन्ती, **उपस्थितम्** – (अत्र) आगतम् , **तपोधनं** – तपोनिधिम् , **मां** दुर्वाससम् , **न** – नहि, **वेत्सि** – जानासि, **सः** – जनः, **प्रमत्तः** – उन्मत्तः, **प्रथमं** – पूर्वम् , **कृताम्** – अभिहिताम् , **कथाम् इव** – वार्ताम् इव, **बोधितः सन् अपि** – स्मारितः सन् अपि, **त्वां** – शकुन्तलाम् , **न** – नहि, **स्मरिष्यति** – अभिज्ञास्यति।

संस्कृत-सरलार्थः—अनन्यमानसा यं जनं (दुष्यन्तं) ध्यायन्ती समक्षमागतं तपस्विनं मां (दुर्वाससम्) न हि जानीसे, सः (दुष्यन्तः) पूर्वसम्पादितं विवाहादिवृत्तान्तं स्मारितोऽपि तथैव न स्मरिष्यति यथा कश्चिन्मत्तो (बोधितोऽपि सन्) पूर्ववृत्तान्तं न स्मरति)।

व्याकरण—अनन्यमानसा – न अन्यत् अवलम्बनम् यस्य तत् अनन्यम् अनन्यं मानसं यस्याः सा (ब०ब्री०)। विचिन्तयन्ती – वि+चिन्त्+णिच् (स्वार्थे) शतृ+ङीप्। तपोधनम् – तप एव धनं यस्य सः (ब०ब्री०) तम्। प्रमत्तः – प्र+मद्+क्त। स्मरिष्यति = स्मृ+लृट् + प्र०पु०ए०व०। बोधितः – बुध+णिच्+क्त।

कोष—'आस्तु कोपपीडयोः' इत्यमरः।

रस-भाव—यहाँ दुर्वासा के क्रोध का भाव व्यञ्जित है।

अलङ्कार—(१) यहाँ पूर्वार्द्ध विस्मरण रूपी कार्य का कारण है अतः **'काव्यलिङ्ग'** अलङ्कार है। द्र०ल० १/४ श्लो०। (२) 'माम्' का 'तपोधनम्' यह विशेषण साभिप्राय है अतः **'परिकर'** अलङ्कार है। द्र०ल० १/२६ श्लो०। (३) यहाँ 'कथां प्रमत्तः प्रथमं कृतामिव' में श्रौती **'पूर्णोपमा'** अलङ्कार है। दुष्यन्त का उपमान प्रमत्त, शकुन्तला का उपमान कथा है तथा 'इव' वाचक शब्द है। ल०द्र० १/५ श्लो०। (४) 'कथां प्रमत्तः प्रथमं कृतामिव' में श्लिष्ट अर्थ होने से **'श्लेष'** है। ल०द्र० २/७ श्लो०।

छन्द—श्लोक में **'वंशस्थ'** छन्द है। ल०द्र० १/१८ श्लो०।

टिप्पणी—(१) 'अतिथि देवो भव' इस वैदिक निर्देश के अनुपालन में महर्षि कण्व द्वारा अतिथिसत्कार के लिये नियोजित शकुन्तला की अतिथि दुर्वासा के प्रति अनवधानता एक अपराध है। यही कर्त्तव्य के प्रति अनवधानता रूप अपराध ही उनके क्रोधमूलक शाप का कारण है। दुष्यन्त के प्रति शकुन्तला की आसक्ति उनके शाप का कारण नहीं है। (२) मूल कथा में शाप की चर्चा नहीं है। यह कालिदास की सोद्देश्य परिकल्पना है। विशेष जानकारी के लिये द्रष्टव्य भूमिका पृ० २७-२९। शाप की परिकल्पना से दुष्यन्त के चरित्र का परिष्कार किया गया है। (३) इसी शाप की परिकल्पना से पञ्चम अङ्क में दुष्यन्त के दरबार में शाप-प्रभावित दुष्यन्त के द्वारा शकुन्तला का न पहचाना जाना सङ्गत होता है और आगे की कथा साधार बनती है। शापाभाव में पञ्चम अङ्क में ही दुष्यन्त-शकुन्तला-मिलन हो जाता और आगे की कथा के लिये कोई अवसर न

रह जाता। (४) 'कथां प्रमत्तः प्रथमं कृतामिव' का औपम्यविधान अत्यन्त सटीक एवं सार्थक है। जैसे प्रमत्त (शराबी व्यक्ति) याद दिलाये जाने पर भी पहले की गयी – कही गयी – बात को स्मरण दिलाने पर भी नही समझ पाता, उसी प्रकार शकुन्तला का चिन्तनीय (अभीष्ट) व्यक्ति भी उसके घटित घटना का स्मरण नही कर पायेगा।

प्रियंवदा—हा धिक्, हा धिक् । अप्रियमेव संवृत्तम् । कस्मिन्नपि पूजार्हेऽपराद्धा शून्यहृदया शकुन्तला । (पुरोऽवलोक्य) **न खलु यस्मिन् कस्मिन्नपि । एष दुर्वासाः सुलभकोपो महर्षिः । तथा शप्त्वा वेगबलोत्फुल्लया दुर्वारया गत्या प्रतिनिवृत्तः ।** (हद्धी, हद्धी। अप्पिअं एव्वं संवुत्तं। कस्सिं पि पूआरुहे अवरद्धा सुण्णहिअआ सउन्दला। ण हु जस्सिं कस्सिं पि। एसो दुव्वासो सुलहकोवो महेसी। तह सविअ वेअबलुप्फुल्लाए दुव्वाराए गईए पडिणिवुत्ती।)

व्या० एवं श०—अप्रियम् = अशुभ-अनर्थ। पूजार्हे – पूजामर्हति – इति पूजार्हः (पूजा+अर्ह+अच्) तस्मिन् पूजार्हे = पूजनीय व्यक्ति के प्रति। अपराद्धा – अप्+राध्+क्त+टाप् = अपराधिनी-अपराधयुक्त। शून्यहृदया – शून्यं हृदयं यस्याः सा = शून्य हृदय वाली-अन्यमनस्क। अवलोक्य – अव्+लोक्+क्त्वा –ल्यप् = देखकर। सुलभ कोपः – सुलभः कोपः यस्य सः (ब०ब्री०) = सुलभ कोप वाले-अति क्रोधी। शप्त्वा – शप्+क्त्वा = शाप देकर। वेगबलोत्फुल्लया – वेगस्य बलं तेन उत्फुल्ला तया (तृ०त०) = वेग के बल से युक्त अर्थात् अति तीव्र। दुर्वारया = अनिवारणीय। ये दोनों पद 'गत्या' पद के विशेषण हैं। प्रतिनिवृत्तः – प्रति+नि+वृत्+क्त = लौट गये। संवृत्तम् – सम्+वृत्+क्त = हो गया।

प्रियंवदा—हाय धिक्कार है, हाय धिक्कार है। अनर्थ (अप्रिय) ही हो गया। किसी पूज्नीय व्यक्ति के प्रति (दुष्यन्त के चिन्तन में आसक्त होने के कारण) शून्य हृदयवाली शकुन्तला ने अपराध कर दिया है। (सामने देखकर) जिस किसी (साधारण व्यक्ति) के प्रति ही (अपराध नहीं किया)। ये सहजतः क्रुद्ध हो जाने वाले महर्षि दुर्वासा हैं। इस प्रकार (शकुन्तला को) शाप देकर वेग के बल से युक्त (अर्थात् अत्यन्त तीव्र) और दुर्निवार्य गति से लौटे जा रहे हैं।

अनसूया—कोऽन्यो हुतवहाद् दग्धुं प्रभवति । गच्छ । पादयोः प्रणम्य निवर्तयैनं यावदहमर्घोदकमुपकल्पयामि । (को अण्णो हुदवहादो दहिदुंपहवदि। गच्छ। पादेसु पणमिअ णिवत्तेहि णं जाव अहं अग्घोदअं उवकप्पेमि।)

व्या० एवं श०—हुतवहात् – हुतम् हव्यम् (घृतादिकं द्रव्यम्) तस्य वहः तस्मात् = अग्नि के अतिरिक्त। दग्धुम् – दह्+तुमुन् = जलाने के लिये। प्रभवति = समर्थ है। प्रणम्य – प्र+नम्+क्त्वा–ल्यप् = प्रणाम कर। निवर्तय – नि+वृत्+णिच्+लोट् प्र०पु०ए०व० = लौटाओ। एनम् = उनको (दुर्वासा को)। निवर्तय एनम् – निवर्तयैनम् = वृद्धिसन्धि। अर्घोदकम् – अर्घश्च उदकं च तयोः समाहारः = अर्घ एवं जल को। उपकल्पयामि – उप+कल्प+णिच्+उ०पु०ए०व० = तैयार करती हूँ।

अनसूया—अग्नि के अतिरिक्त और कौन जलाने में समर्थ हो सकता है। जाओ, (उनके) चरणों में प्रणाम कर (पैरों पर गिरकर) इन्हें लौटा लाओ, जब तक मैं अर्घ और जल (पूजा का सामान) तैयार करती हूँ।

टिप्पणी—अर्घोदकम् – अर्घश्च उदकं च तयोः समाहारः – इसका अर्थ होता है – अर्घ और जल। इसमें आठ वस्तुयें होती हैं। वे हैं—जल, क्षीर (दूध), कुशाग्र, दधि, सर्पि (घी),

तण्डुल (चावल), यव तथा सिद्धार्थक। भारतीय संस्कृति में अतिथि के सत्कार की यह एक विधि है। पूज्य अतिथि को अर्घोदक देकर उसका सम्मान किया जाता था। देव पूजा के समय भी अर्घोदक दिया जाता है। कहीं-कहीं 'अर्घ' के स्थान पर 'अर्घ्य' यह पाठ है। अर्घ से यत् (अर्घ+यत्) लगाकर अर्घ्य बनता है।

प्रियंवदा—तथा (तह।) (इति निष्क्रान्ता)।

प्रियंवदा—(जैसा तुम कहती हो) वैसा (करती हूँ)। (यह कहकर निकल जाती है)।

अनसूया—(पदान्तरे स्खलितं निरूप्य) **अहो, आवेगस्खलितया गत्या प्रभ्रष्टं ममाग्रहस्तात् पुष्पभाजनम्।** (अम्मो, आवेअक्खलिदाए गईए पब्भट्ठं मे अग्गहत्थादो पुप्फभाअणं।) (इति पुष्पोच्चयं रूपयति)।

अनसूया—(कुछ पग चलने के बाद गिरने का अभिनय कर) ओह, आवेग (घबराहट) से लड़खड़ाती हुई चाल के कारण मेरे हाथ से फूल का पात्र (डलिया) गिर गया। (फूलों के उठाने का अभिनय करती है)।

(प्रविश्य) **प्रियंवदा—सखि, प्रकृतिवक्रः स कस्यानुनयं प्रतिगृह्णति। किमपि पुनः सानुक्रोशः कृतः।** (सहि, पकिदिवक्को सो कस्स अणुणअं पडिगेण्हदि। किं वि उण साणुक्कोसो किदो।)

व्या० एवं श०—प्रकृतिवक्रः - प्रकृत्या वक्रः (तृ०त०) = स्वभाव से टेढ़े। प्रतिगृह्णाति - प्रति+ग्रह+लट्+प्र०पु०ए०व० = स्वीकार करते हैं। सानुक्रोशः - अनुक्रोशेन दयया सहितः = दयायुक्त।

(प्रवेश करके) **प्रियंवदा**—सखी, स्वभाव से टेढ़े वे (महर्षि दुर्वासा) किसकी प्रार्थना को स्वीकार करते (मानते) हैं ? फिर भी (मैने उन्हें) कुछ दयायुक्त कर लिया।

अनसूया—(सस्मितम्) **तस्मिन् बह्वेतदपि। कथय।** (तस्सिं बहु एदं पि। कहेहि।)

व्या० एवं श०—बह्वेतदपि - बहु+एतदपि-यण् दीजिये।

अनसूया—(मुस्कराते हुए) उस (दुर्वासा) के विषय में इतना भी बहुत है। बताओ (क्या हुआ) ?

प्रियंवदा—यदा निवर्तितुं नेच्छति तदा विज्ञापितो मया। भगवन् प्रथम इति प्रेक्ष्याविज्ञाततपःप्रभावस्य दुहितृजनस्य भगवतैकोऽपराधो मर्षयितव्य इति। (जदा णिवत्तिदुं ण इच्छदि तदा विण्णविदो मए। भवअं, पढ़म त्ति पेक्खिअ अविण्णादतवप्पहावस्स दुहिदुजणस्स भअवदा एक्को अवराहो मरिसिदब्बो त्ति।)

व्या० एवं श०—विज्ञापितः - वि+ज्ञा+णिच्+क्त = प्रार्थना की। अविज्ञाततपःप्रभावस्य - न विज्ञातः तपः प्रभावः येन सः तस्य (ब०ब्री०) = तप के प्रभाव को न जाननें वाली। दुहितृजनस्य = पुत्री (शकुन्तला) का। मर्षयितव्यः - मृश्+णिच्+तव्य = क्षमा कर देना चाहिये।

प्रियंवदा—जब लौटने की इच्छा नही किये (अर्थात् लौटने को तैयार नहीं हुये) तब मैने उनसे प्रार्थना की - 'भगवन् तप के प्रभाव को न जानने वाली पुत्रीजन (शकुन्तला) का यह पहला अपराध है - (यह समझकर) आप के द्वारा उसका यह एक अपराध क्षन्तव्य है (ये क्षमा कर दीजिये)।

अनसूया—ततस्ततः ? (तदो तदो ?)

अनसूया—तब, तब (क्या हुआ) ?

प्रियंवदा—ततो न मे वचनमन्यथाभवितुमर्हति, किन्त्वभिज्ञानाभरणदर्शनेन शापो निवर्तिष्यत इति मन्त्रयमाण एवान्तर्हितः । (तदो ण मे वअणं अण्णहाभविदुं अरिहदि, किंदु अहिण्णाणाभरणदंसणेण सावो णिवत्तिस्सदि त्ति मन्तअन्तो एव्व अन्तरिहिदो ।)

व्या० एवं श०—अभिज्ञानाभरणदर्शनेन – अभिज्ञानरूपं यदाभरणं तस्य दर्शनेन = अभिज्ञान (पहचान) रूप आभूषण के देखने से । निवर्तिष्यते – नि+वृत्+लृट् प्र०पु०ए०व० = निवृत्त (समाप्त) हो जायेगा । मन्त्रयमाण – मन्त्र्+णिच्+लट्+शानच् प्र०पु०ए०व० = कहते हुये । अन्तर्हितः – अन्तर्+धा+क्त = अन्तर्हित (अदृश्य) हो गये ।

प्रियंवदा—तब 'मेरा वचन असत्य (अन्यथा) नहीं हो सकता, किन्तु पहचान (अभिज्ञान) के आभूषण को दिखाने से शाप समाप्त हो जायेगा'—यह कहते हुए ही (वे) अदृश्य (अन्तर्हित) हो गये ।

अनसूया—शक्यमिदानीमाश्वसितुम् । अस्ति तेन राजर्षिणा सम्प्रस्थितेन स्वनामधेयाङ्कितमङ्गुलीयकं स्मरणीयमिति स्वयं पिनद्धम् । तस्मिन् स्वाधीनोपाया शकुन्तला भविष्यति । (सक्कं दाणिं अस्ससिदुं अत्थि तेण राएसिणा संपत्थिदेण सणामहेअंकिअं अंगुलीअअं सुमरणीयं त्ति सअं पिणद्धं । तस्सिं साहीणोवाआ सउन्दला भविस्सदि ।)

व्या० एवं श०—शक्यम् – शक्+यत् = शक्य है । आश्वसितुम् – आ+श्वस्+तुमुन् = आश्वासन प्राप्त करना (धैर्य धारण करना) । सम्प्रस्थितेन – सम्+प्र+स्था+क्त-तृ०ए०व० = प्रस्थान करते हुये । स्वनामधेयाङ्कितम् – स्वस्य नामधेयेन अङ्कितम् = अपने नाम से अङ्कित । स्मरणीयम् – स्मृ+अनीयर् = स्मरण के योग्य – अर्थात् स्मृति चिह्न के रूप में । पिनद्धम् – अपि+नह+क्त (अपि के 'अ' का भागुरि के मतानुसार लोप) = पहनाया (था) । स्वाधीनोपाया – स्वाधीनः उपायः यस्याः सा = स्वतन्त्र उपायवाली (अर्थात् पहचान के लिये यह अंगूठी शकुन्तला के लिये उसके अधीन उपाय है) ।

अनसूया—अब (हम लोग) धैर्य-धारण के लिये समर्थ हैं (अर्थात् अब हम लोग धैर्य रख सकती हैं) । (अपनी राजधानी को) जाते हुये उस राजर्षि ने अपने नाम से अङ्कित अङ्गूठी स्मृति-चिन्ह के रूप में (शकुन्तला की अङ्गुली में) स्वयं पहनायी थी । शकुन्तला उस (अङ्गूठी) से स्वतन्त्र उपाय वाली होगी (अर्थात् उस अङ्गूठी से शकुन्तला शाप-मुक्त देने से पहचान ली जायेगी) ।

प्रियंवदा—सखि, एहि । देवकार्यं तावद् निर्वर्तयावः । (सहि, एहि । देवकज्जं द व णिव्वत्तेम्ह ।) (इति परिक्रामतः) ।

व्या० एवं श०—देवकार्यम् – दैवस्य कार्यम् – (ष०त०) देव कार्य को । निर्वर्तयावः – नि+वृत्+णिच्+उ०पु०पु०द्वि०व० = सम्पन्न (समाप्त) कर लें ।

प्रियंवदा—सखी आओ । तब तक देवकार्य (देव-पूजन) सम्पन्न कर लें । (दोनों घूमती हैं) ।

प्रियंवदा—(विलोक्य) **अनसूये, पश्य तावत् । वामहस्तोपहितवदनाऽऽ लिखितेव प्रियसखी । भर्तृगतया चिन्तयात्मानमपि नैषा विभावयति । किं पुनरागन्तुकम् ।** (अणसूए, पेक्ख दाव । वामहत्थोवहिदवअणा आलिहिदा विअ पिअसही भत्तुगदाए चिन्ताए अताणं पि ण एसा विभावेदि । किं उण आअन्तुअं) ।

व्या० एवं श०—वामहस्तोपहितवदना – वामहस्ते उपहितं वदनं यस्याः सा = जिसने बायें हाथ पर अपना मुख रख रखा है। यह प्रिय सखी (शकुन्तला) का विशेषण है। आलिखितेव – आलिखिता – इव (गुण सन्धि)। आ+लिख्+क्त+टाप् = चित्रित की भाँति। भर्तृगतया = पति से सम्बद्ध। विभावयति – वि+भू+णिच्+लट्+प्र०पु०ए०व० = समझ पा रही है।

प्रियंवदा—(देखकर) अनसूया, देखो तो। बायें हाथ पर मुँह रक्खी हुई प्रिय सखी (शकुन्तला) चित्रित-सी (बैठी हुई) है। पति सम्बन्धी चिन्ता से उसे अपनी भी सुध नहीं है (अर्थात् अपने को भी भूल गयी है)। फिर अतिथि की (बात ही) क्या ?

अनसूया—प्रियंवदे, द्वयोरेव नौ मुख एष वृत्तान्तस्तिष्ठतु। रक्षितव्या खलु प्रकृतिपेलवा प्रियसखी। (पिअंवदे दुवेणं एव्व णो मुहे एसो वुत्तन्तो चिट्ठदु। रक्खिदव्वा क्खु पकिदिपेलवा पिअसही।)

व्या० एवं श०—नौ – आवयोः द्वयोरेव – हम दोनों में ही। मुखे – मुख में। नौ – आवयोः के स्थान पर (अस्मद्) शब्द का अन्वादेश। वृत्तान्तस्तिष्ठतु – यह वृत्तान्त रहे। तिष्ठतु – स्था+लोट्+प्र०पु०ए०व० = इस वाक्य का अभिप्राय यह है यह शाप का वृत्तान्त हम दोनों तक ही सीमित रहे। इसे शकुन्तला न जानने पावे। रक्षितव्या – रक्ष्+तव्यत्+टाप् = रक्षणीय है। प्रकृतिपेलवा – प्रकृत्या (स्वभावतः) पेलवा – कोमला = स्वभाव से कोमल।

अनसूया—प्रियंवदा, यह समाचार हम दोनों के मुख तक ही (सीमित) रहे। निश्चय ही स्वभाव से कोमल प्रियसखी (शकुन्तला) की रक्षा करनी चाहिये।

प्रियंवदा—को नामोष्णोदकेन नवमालिकां सिञ्चति। (को णाम उण्होदएणणोमालिअं सिंचेदि।) (इत्युभे निष्क्रान्ते)।

व्या० एवं श०—को नामोष्णोदकेन – कः+नाम्+उष्णोदकेन – उष्णं च तदुदकम् तेन = गर्म जल से।

प्रियंवदा—भला कौन नवमालिका (चमेली) को गर्म जल से सींचता है – **सींचेगा** (अर्थात् कोई नहीं)। (दोनों निकल जाती हैं)।

टिप्पणी—न मे वचनमन्यथा भवितुमर्हति – इसका भाव यह है कि दुर्वासा ने जो शाप दे दिया, वह अन्यथा (असत्य) नहीं हो सकता। लौकिक पुरुषों की वाणी अर्थ का अनुगमन करती है अर्थात् अर्थ के अनुरूप उनकी वाणी होती है परन्तु इसके विपरीत अलौकिक महापुरुषों-ऋषियों-मुनियों की वाणी का अर्थ अनुधावन करते हैं अर्थात् वे जैसा कह देते हैं अर्थ वैसा ही हो जाता है। अतः दुर्वासा जैसे सिद्ध ऋषि का शाप असत्य नहीं हो सकता। इस सन्दर्भ में भवभूति की यह उक्ति ध्यातव्य है—'लौकिकानां हि साधूनामर्थं वागनुवर्तते। ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति॥ उ०रा०च०। (२) **स्वनामधेयाङ्कितमङ्गुलीयकम्** – दुष्यन्त ने हस्तिनापुर प्रस्थान के पूर्व अपने नाम से अङ्कित अङ्गूठी शकुन्तला की अङ्गुलि में पहनायी थी और दुर्वासा के 'अभिज्ञानाभरणदर्शनेन शापो निवर्तिष्यते' – इस वचनानुसार अङ्गूठी रूपी पहचान से उनका शाप मिटा था। पञ्चम अङ्क में तो उस अङ्गूठी को शकुन्तला न दिखा सकी थी परन्तु छठे अङ्क में धीवरों के द्वारा प्राप्त उस अङ्गूठी से राजा शाप-मुक्त होकर शकुन्तला के गान्धर्व-विवाह का स्मरण करने में समर्थ हुये थे। (३) **आत्मानमपि न विभावयति** – दुर्वासा के आगमन के समय शकुन्तला अपने पति दुष्यन्त की चिन्ता में इतनी मग्न थी कि वह अपनी सुध-बुध भी खो बैठी

थी। ऐसी दशा में वह दुर्वासा को कैसे जान सकती थी ? इस दृष्टि से वस्तुतः वह निरपराध थी। (४) **को नाम उष्णोदकेन नवमालिकां सिञ्चति** – नवमालिका (चमेली) का पौधा बहुत कोमल होता है। अतः वह जरा सी धूप में कुम्हला जाता है। यहाँ शकुन्तला की तुलना (कोमलता में) नवमालिका से की गयी है। जिस प्रकार नवमालिका को गर्म जल से कोई नहीं सींचता, उसी प्रकार हम प्रकृत्या कोमला शकुन्तला को गर्म जल के समान दुर्वासा के शाप का समाचार बताकर कैसी उसे पीड़ित कर सकती हैं ? यह प्रियंवदा के कहने का अभिप्राय है। यह वाक्य सूक्ति के रूप में मान्य है।

।। विष्कम्भकः ।।

।। विष्कम्भक समाप्त ।।

विष्कम्भक—इसके स्वरूप (लक्षण) आदि के विषय में तृतीय अङ्क का प्रारम्भ का भाग (प्रथम श्लोक के समीपस्थ) द्रष्टव्य है यहाँ दुर्वासा संस्कृत में तथा अनसूया एवं प्रियंवदा प्राकृत में बोलती हैं। सभी पात्र मध्यम श्रेणी के हैं।

(ततः प्रविशति सुप्तोत्थितः शिष्यः)

(तत्पश्चात् सोकर उठा हुआ शिष्य प्रवेश करता है)।

शिष्यः—वेलोपलक्षणार्थमादिष्टोऽस्मि तत्रभवता प्रवासादुपावृत्तेन काश्यपेन। प्रकाशं निर्गतस्तावदवलोकयामि कियदवशिष्टं रजन्या इति। (परिक्रम्यावलोक्य च) **हन्त प्रभातम्। तथाहि—**

व्या० एवं श०—सुप्तोत्थितः – सुप्तं स्वापः तस्मादुत्थितः = सोकर उठा हुआ। अथवा आदौ सुप्तः पश्चादुत्थितः इति 'पूर्वकालैक...' – सूत्र से कर्मधारय समास। वेलोपलक्षणार्थम् – वेलायाः उपलक्षणार्थम् = बेला (समय) देखने (जानने) के लिये। आदिष्टः आ+दिश्+क्त = आदेश दिया गया है। उपावृत्तेन – उप+आ+वृत्+क्त–तृ०ए०व० = लौटे हुये। यह पद 'काश्यपेन' का विशेषण है। काश्यपेन – कण्व के द्वारा।

शिष्य—प्रवास से लौटे हुए आदरणीय कण्व के द्वारा समय को जानने के लिये मुझे आदेश दिया गया है। तो प्रकाश में निकलकर देखता हूँ कि रात का कितना (भाग) शेष है। (चारों ओर घूमकर और देखकर) प्रातःकाल हो गया है। क्योंकि—

> **यात्येकतोऽस्तशिखरं पतिरोषधीना-**
> **माविष्कृतोऽरुणपुरःसर एकतोऽर्कः।**
> **तेजोद्वयस्य युगपद्व्यसनोदयाभ्यां**
> **लोको नियम्यत इवात्मदशान्तरेषु ।। २ ।।**

अन्वय—एकतः ओषधीनां पतिः अस्तशिखरं याति, एकतः अरुणपुरःसरः अर्कः आविष्कृतः, लोकः तेजोद्वयस्य युगपत् व्यसनोदयाभ्याम् आत्मदशान्तरेषु नियम्यते इव।

शब्दार्थ—एकतः = एक ओर। ओषधीनां पतिः = ओषधियों (वनस्पतियों) का स्वामी (चन्द्रमा)। अस्तशिखरम् = अस्ताचल के शिखर की ओर। याति = जा रहा है। एकतः = एक ओर। अरुणपुरःसरः = अरुण (नामक सारथि) आगे चलने वाला है जिसके ऐसा अरुण (नामक

अपने सारथि) को आगे किये हुये। अर्कः = सूर्य। आविष्कृतः = प्रकट (उदित) हो गया है। लोकः = संसार। तेजोद्वयस्य = दो (चन्द्र और सूर्य) तेजों के। युगपत् = एक साथ। व्यसनोदयाभ्याम् = अस्त एवं उदित होने से। आत्मदशान्तरेषु = अपनी विभिन्न (परिवर्तनीय) अवस्थाओं (दशाओं) के विषय में। नियम्यते इव = मानो नियमित किया जा रहा है (मानो उन्हें अपरिहार्य उत्थान-पतन के विषय में बताया जा रहा है)।

अनुवाद—एक ओर वनस्पतियों का स्वामी (चन्द्रमा) अस्ताचल के शिखर की ओर जा रहा है (अर्थात् अस्त हो रहा है)। (और) एक ओर (दूसरी ओर) अरुण (नामक अपने सारथि) को आगे किये हुये सूर्य प्रकट (उदित) हो रहा है। (इस प्रकार यह) संसार दो तेजों (चन्द्रमा और सूर्य) के एक साथ अस्त एवं उदित होने से अपनी अवस्थाओं (दशाओं) के परिवर्तित होने के विषय में मानों नियन्त्रित (नियमित) किया जा रहा है (अर्थात् संसार को अपरिहार्य उत्थानपतन के विषय में बताया जा रहा है)।

संस्कृत व्याख्या—एकतः – एकस्यां दिशि, पश्चिमदिग्भागे इत्यर्थः, **ओषधीनां पतिः** – ओषधीशः चन्द्रः, **अस्तशिखरम्** – अस्ताचलस्य शृङ्गं, **याति** – गच्छति, **एकतः** – एकस्यां दिशि, पूर्वदिग्भागे इत्यर्थः, **अरुणपुरःसरः** – अरुणः गरुडाग्रजः पुरःसरः अग्रगामी यस्यः सः, **अर्कः** – सूर्यः, **आविष्कृतः** – आत्मानं प्रकाशयितुमारभते, प्रादुर्भूतः इत्यर्थः, **लोकः** – संसारः, **तेजोद्वयस्य** – चन्द्रसूर्ययोः, **युगपत्** – समकालम् , **व्यसनोदयाभ्याम्** – अस्तोदयगमनाभ्याम्। विपत्सम्पद्भ्यां, **आत्मदशान्तरेषु** – सुखदुःखात्मकावस्थाविशेषेषु, **नियम्यते इव** – शिक्ष्यते इव। स्वस्वविपत्तिसम्पत्तिदशानां परिवर्तने केनापि दुःखहर्षौ न कार्यौ – इतिभावः।

संस्कृत-सरलार्थः—आसन्ने प्रभाते पश्चिमदिग्भागे चन्द्रोऽस्ताचलं याति पूर्वदिग्भागे च सूर्यः प्रादुर्भवति। इत्थं समकालमेव चन्द्रस्य पतनरूपविपत्त्या तथा सूर्यस्योदयरूपसम्पत्त्या च लोकस्य कृते शिक्षेयं प्रदीयते यत् सर्वषामेवेत्थं क्षयोदयौ स्तः। न कोऽपि चिरस्थायीति। अतः सम्पत्तौ हर्षो, विपत्तौ च शोको न कार्यो।

व्याकरण—एकतः – एक+तसिल् (सप्तम्यर्थे), ओषधिः ओषः पाकः दीप्तिर्वा धीयते अस्यामिति – ओष+धा+किम तासां पतिः ष०त०। अस्तशिखरम् – अस्तस्य शिखरम् (ष०त०)। आविष्कृतः – आविष्+कृ+क्त। अरुणपुरःसरः – अरुणः पुरः सरः यस्य (ब्र०व्री०), पुरःसरः – पुरः सरतीति पुरःसरः पुरष्+सृ+ट। अर्कः अर्च्यते इति अर्कः – 'अर्क' स्तवने अथवा 'अर्च' पूजायाम् धातु से घञ्। युगपद्व्यसनोदयाभ्याम् – व्यसनं (वि+अस्+ल्युट् भावे) च उदयश्च इति व्यसनोदयौ (द्वन्द्व) युगपत यौ व्यसनोदयौ ताभ्याम्। आत्मदशारन्तेषु – आत्मनः दशानाम् अन्तराणि (तत्पु०) तेषु। नियम्यते – नि+यम्+यक् – कर्मवाच्य प्र०पु०ए०व० आत्मनेपद।

कोष—'अस्तस्तु चरमक्ष्माभृतः' इत्यमरः। 'विधुः सुधांशुः शुभ्रांशुरोषधीशो निशां पतिः' – इत्यमरः। 'सूर्यसुतोऽरुणोऽनुरूःकाश्यपिर्गरुडाग्रजः' इत्यमरः। 'व्यसनं विपदि भ्रंशे' – इत्यमरः। 'उदयः सम्पदुत्पत्त्योः पूर्वशैले समुन्नतौ' – इत्यमरः। 'लोकस्तु भुवने जने' – इत्यमरः। 'अर्कोऽर्कपर्णे स्फटिके रवौ ताम्रे दिवस्पतौ' – इति मेदिनी। 'दशावस्थादीषत्यों' – इति मेदिनी।

अलङ्कार—(१) चन्द्र एवं सूर्य में दो सज्जन व्यक्तियों का आरोप होने से **समासोक्ति** अलङ्कार है। ल०द्र० १/२३ श्लोक। (२) प्रभातवर्णन में चन्द्र और सूर्य – इन दोनों के प्रस्तुत होने के कारण **तुल्ययोगिता** अलङ्कार है। ल०द्र० ३/१७ श्लो०। चन्द्र एवं सूर्य का क्रमशः

व्यसन (विपत्ति) उदय (सम्पत्ति) – 'व्यसनोदयाभ्याम्' (प्रथमचरण में चन्द्र व्यसन तथा द्वितीयचरण में सूर्य का उदय वर्णित है) से सम्बन्ध होने से **यथासंख्य** अलङ्कार है। (३) 'नियम्यते इव' में **उत्प्रेक्षा** अलङ्कार है। ल०द्र० १/१८ श्लो०। यहाँ 'इव' उत्प्रेक्षा बोधक है। चन्द्रमा एवं सूर्य के क्रमशः व्यसन (विपत्ति) एवं उदय (सम्पत्ति) से संसार में लोगों की अपरिहार्य विपत्ति-सम्पत्ति की शिक्षा की सम्भावना की गयी है।

छन्द—श्लोक में **'वसंततिलका'** छन्द है। ल०द्र० १/८ श्लोक।

टिप्पणी—(१) **अरुणपुरःसरः** – सूर्य के सारथि 'अरुण' के अन्य नाम हैं—सूर्य-सूत, काश्यपि, गरुडाग्रज तथा अनूरु। सूर्य के सारथि होने से 'सूर्यसूत', कश्यप के पुत्र होने से 'काश्यपि' गरुड के बड़े भाई होने से 'गरुडाग्रज' और जंघाविहीन होने से 'अनूरु' कहे जाते हैं। पौराणिक कथा के अनुसार अरुण के पिता कश्यप तथा माता विनता हैं। इनके बड़े भाई का नाम गरुड है, जिन्हें 'वैंनतेय' नाम से भी जाना जाता है। प्रसव के लिए निर्धारित समय से पहले माता द्वारा अण्डा फोड़ कर निकाल दिये जाने के कारण ये जंघाविहीन हैं, इसीलिये इन्हें 'अनूरु' (नास्ति अरू यस्य अनूरुः) कहा जाता है। सूर्य अपने सारथि अरुण को आगेकर उदित होते हैं। फलतः अरुणोदय पहले होता है तदन्तर सूर्योदय। (२) वेद में भी **चन्द्र** (सोम) को ओषधियों का पति कहा जाता है—सोम ओषधीनां पतिः। 'ओषधीश' चन्द्र का एक नाम है। **ओषधि** शब्द वनस्पतिमात्र के लिये प्रयुक्त होता है। चन्द्र की किरणों से वनस्पतियों (ओषधियों) का विकास होता है। (३) **लोको नियम्यत इव** – प्रातः काल में एक ही साथ चन्द्रमा अस्ताचल को जाता है और सूर्य उदयाचल पर आरूढ़ होता है अर्थात् चन्द्रमा का पतन तथा सूर्य का उत्थान होता है। जो चन्द्रमा रात में अपने विकास को प्राप्त था, वही अब प्रातः काल में प्रभाविहीन होकर विपत्तिग्रस्त हो रहा है। इसके विपरीत रात में जो सूर्य निष्प्रभ होकर विपन्न हो गया था, अब प्रातः काल में वही उदयाचल पर आरूढ़ होकर उत्थान (अभ्युदय) को प्राप्त हो रहा है। चन्द्रमा एवं सूर्य के क्रमशः पतन तथा उत्थान से संसार में लोगों को मानो यह शिक्षा मिल रही है कि सभी प्राणियों का उत्थान और पतन (सम्पत्ति और विपत्ति) अवश्यम्भावी है। समय बलवान् होता है वह उन्नत को अवनत और अवनत को उन्नत बनाता रहता है। अतः सम्पत्ति में हर्ष एवं विपत्ति में शोक नही करना चाहिये। इस सन्दर्भ में मेघदूत की 'कस्यात्यन्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा' यह उक्ति तथा माघ का 'समय एव करोति बलाबलं प्रणिगदन्त इतीव शरीरिणाम्' यह कथन ध्येय है। (४) यहाँ अपने पक्ष की पुष्टि के लिये दृष्टान्त देने से **'दृष्टान्त'** नामक नाटकीय लक्षण है। 'दृष्टान्त' का लक्षण है – 'दृष्टान्तो यातु पक्षार्थसाधनाय निदर्शनम्'। यहाँ शापवृत्तान्त से (प्रसन्न) दुष्यन्त की अवनत दशा भी सूच्य है।

अपि च—

और भी—

अन्तर्हिते शशिनि सैव कुमुद्वती मे
दृष्टिं न नन्दयति संस्मरणीयशोभा।
इष्टप्रवासजनितान्यबलाजनस्य
दुःखानि नूनमतिमात्रसुदुःसहानि ।। ३ ।।

अन्वय—शशिनि अन्तर्हिते सा एव कुमुद्वती संस्मरणीयशोभा (सती) मे दृष्टिं न

नन्दयति, नूनम् अबलाजनस्य इष्टप्रवासजनितानि दुःखानि अतिमात्रसुदुःसहानि।

शब्दार्थ—शशिनि = चन्द्रमा के। अन्तर्हिते = अस्त हो जाने पर। सा एव = वही। कुमुद्वती = कुमुदिनी। संस्मरणीयशोभा = जिसकी शोभा (अब केवल) स्मरणीय (स्मरण का विषय) रह गयी है ऐसी (स्मरणीय (नष्ट) शोभा वाली)। मे = मेरी। दृष्टिं = दृष्टि को (नेत्रों को)। न = नहीं। नन्दयति = आनन्दित कर रही है। नूनम् = निश्चय ही। अबलाजनस्य = स्त्री-समुदाय का। इष्टप्रवासजनितानि = प्रियतम के प्रवास (परदेश-गमन) से उत्पन्न। दुःखानि = दुःख। अतिमात्रसुदुःसहानि = अत्यधिक कठिनाई से सहने योग्य (अत्यन्त असह्य)। भवन्ति = होते हैं।

अनुवाद—चन्द्रमा के अस्त हो जाने पर (छिप जाने पर) स्मरणीय (नष्ट) शोभा वाली (अर्थात् शोभाविहीन) होने से वही कुमुदिनी सम्प्रति मेरी दृष्टि को आनन्दित नहीं कर रही है। निश्चय ही स्त्री-समाज के लिये अपने इष्ट व्यक्ति के प्रवास से उत्पन्न दुःख अत्यन्त असह्य होते हैं।

संस्कृत व्याख्या—**शशिनि**- चन्द्रे, **अन्तर्हिते** - अस्तं गते सति, **सा एव** - सा एव (मनोहारिणी कुमुदिनी) सम्प्रति, **संस्मरणीयशोभा** - संस्मरणीया सम्यक् स्मरणार्हा शोभा सौन्दर्यं यस्याः सा, विनष्टशोभा (शोभाविहीना) सती, **मे** - मम (कण्वशिष्यस्य), **दृष्टिं** - नेत्रम् , **न** - नहि, **नन्दयति** - हर्षयति; **नूनं** - निश्चितम् , **अबलाजनस्य** - प्रमदालोकस्य, **इष्टप्रवासजनितानि** - इष्टस्य वल्लभस्य प्रवासेन देशान्तरगमनेन जनितानि उत्पन्नानि, **दुःखानि** - कष्टानि, **अतिमात्रसुदुःसहानि** - अत्यधिकम् असह्यानि, भवन्ति इति शेषः।

संस्कृत-सरलार्थः—प्रभाते चन्द्रेऽस्तं गते सति म्लानिमापन्नां कुमुदिनीमवलोक्य कथयतः कण्वशिष्यस्याम - भिप्रायोऽस्ति यद् रात्रौ प्रभातकालात्पूर्वं चन्द्रे प्रकाशमाने या कुमुदिनी विकसितकुसुमा नयानानन्दायिनी आसीत्, सा इदानीं तस्मिन् (चन्द्रे) अस्तंगते क्षीणशोभा सती मम नेत्रं न समाह्लदयति। निःसन्दिग्धमिदं तथ्यं यत् कामिनीलोकस्य प्रियजनप्रवासोत्पन्नानि कष्टानि नितान्तमसह्यानि जायन्ते। स्वाप्रियवियोगेऽबलानां दुःखं स्वभाविकमेव।

व्याकरण—अन्तर्हिते - अन्तर्+धा+क्त स०ए०व०। 'धा' के स्थान में 'हि' आदेश हुआ है। शशिनि - शशः कलङ्कः अस्यास्तीति शशी (शश+इन्) तस्मिन्। कुमुद्वती - कुमुद+मतुप् (म् को व्) +ङीप्। संस्मरणीयशोभा - संस्मरणीया शोभा यस्याः सा (ब०ब्री०)। इष्टप्रवासजनितानि - इष्टस्य प्रवासः (प्र+वस्+घञ्) - इष्टप्रवासः तेन जनितानि (त०स०)। अतिमात्रसुदुःसहानि - अतिमात्रं सुदुःसहानि (प्रा०स०), सु+दुस्+सह+खल् न०प्र०व०।

कोष—'शोभा कान्तिः द्युतिश्छविः' - इत्यमरः।

अलङ्कार—(१) यहाँ चन्द्र और कुमुद्वती पर लिङ्ग के आधार पर क्रमशः दुष्यन्त (नायक) एवं शकुन्तला (नायिका) के व्यवहार का आरोप होने से **'समासोक्ति'** अलङ्कार है। ल०द्र० १/२३ श्लो०। (२) कुमुदिनी का शोभाविहीन होना **'संस्मरणीयशोभा'** नेत्र को अच्छा न लगने - 'दृष्टिं न नन्दयति' का कारण है अतः **काव्यलिङ्ग** है। ल०द्र० १/४ श्लो०। (३) पूर्वार्धगत विशेष का उत्तरार्धगत सामान्य से समर्थन होने के कारण **अर्थान्तरन्यास** है। ल०द्र० १/२ श्लो०। (४) श्लोक में छेक, वृत्ति, श्रुति अनुप्रास की भी स्थिति है।

छन्द—श्लोक में **वसन्ततिलका** छन्द है। ल०द्र० १/८ श्लोक।

टिप्पणी—(१) यहाँ 'शकुन्तला को शीघ्र दुष्यन्त के पास भेजना चाहिये' इस गूढ़ अर्थ

के व्यङ्ग्य होने से प्रस्थानसूचक तृतीय **पताकास्थानक** है। उसका लक्षण है—अर्थोपक्षेपणं यत्र न गूढं सविनयं भवेत्। श्लिष्टा प्रत्युत्तरोपेतं तृतीयं तन्मतम्। मातृगुप्ताचार्य। यहाँ समासोक्ति द्वारा प्रयुक्त **पताकास्थानक** है। (२) **अन्तर्हिते सैव कुमुद्वती** – कुमुदिनी चन्द्रोदय होने पर खिलती है और उसके अस्त होने पर मुरझा जाती है। वह अपनी विकासावस्था में ही दर्शकों के नत्रों को आनन्दित करती है। मुरझाने पर वह नेत्रों को आनन्द नहीं देती। नायक रूप चन्द्र एवं नायिका रूप कुमुदिनी के वर्णन से यह तथ्य प्रकाश में लाया गया है कि प्रमदायें अपने प्रियतम की संयोगावस्था में आनन्दित होती हैं और वियोगावस्था में अत्यन्त दुःखी हो जाती हैं। यहाँ चन्द्र से दुष्यन्त और कुमुदिनी से, शकुन्तला की ओर सङ्केत है। चन्द्र के वियोग में कुमुदिनी की भाँति दुष्यन्त के वियोग में शकुन्तला अत्यन्त दुःखी है, इस तथ्य का उद्घाटन किया गया है। निश्चय ही इस वर्णन से शकुन्तला की व्यञ्जित व्यथा के प्रति सबकी सहानुभूति प्राप्त होती है। यह भी अर्थ विचार्य है कि नायक चन्द्र यद्यपि सकलङ्क है फिर भी कुमुदिनी उसके लिये म्लान हो रही है। इसी प्रकार नायक दुष्यन्त भी सकलङ्क है, किन्तु शकुन्तला उसके लिये विकल है।

(प्रविश्यापटीक्षेपेण)

(बिना पर्दा उठाये हाथ से पर्दा हटाने के साथ प्रवेश करके)

व्या० एवं श०—पट्याः क्षेपः पटीक्षेपः न पटीक्षेपः = पर्दा उठाये बिना, केवल एक ओर पर्दा को झटका देकर। प्रविश्य – प्र+विश्+क्त्वा – ल्यप् = प्रवेश कर। सहसा किसी बात की सूचना देने के लिये पात्र पर्दे को झटका देकर सहसा रङ्गमञ्च पर आता है। राघवभट्ट ने अपटी का अर्थ पर्दा माना है और अर्थ किया है पर्दा हटाये बिना। कोष में अपटी का अर्थ पर्दा होता है— 'अपटी काण्डपटीकाप्रतिसीरा जवनिका तिरस्कारिणी' इति हलायुधः।

अनसूया—यद्यपि नाम विषयपराङ्मुखस्य जनस्यैतन्न विदितं तथापि तेन राज्ञा शकुन्तलायामनार्यमाचरितम्। (जइ वि णाम विसअपरम्मुहस्स जणस्स एदं ण विदिअं तह वि तेण रण्णा सउन्दलाए अणज्जं आअरिदं।)

व्या० एवं श०—विषयपराङ्मुखस्य – विषयाः भोक्तव्याः स्रक्चन्दनवनितादयः अर्थाः तेभ्यः पराङ्मुखस्य = (सांसारिक) विषयों (योग्य अर्थों) से विमुख। अनार्यम् – न आर्यम् अनार्यम् (न०त०) = अश्रेष्ठ-(अशिष्ट, गर्हित)। आचरितम् – आ+चर्+क्त = (व्यवहार) किया गया।

अनसूया—यद्यपि (सांसारिक) विषयों से विमुख (हम जैसे) लोगों को यह (सब) ज्ञात नहीं है, तथापि (मेरी समझ से) उस राजा (दुष्यन्त) के द्वारा शकुन्तला के साथ (निश्चय ही) अशिष्ट (अभद्र) व्यवहार किया गया है।

शिष्य—यावदुपस्थितां होमवेलां गुरवे निवेदयामि। (इति निष्क्रान्तः)।

व्या० एवं श०—उपस्थिताम् – उप+स्था+क्त+टाप्+द्वि०प्र०व० = आयी। होमवेलाम् – होमस्य वेलाम् (स०त०) = हवन की बेला (समय) को। निवेदयामि – नि+विद्+णिच्+उ०पु०ए०व० = निवेदन करता हूँ।

शिष्य—तो (चलकर) गुरुजी से कहता हूँ कि हवन का समय हो गया है। (यह कह कर निकल जाता है)।

अनसूया—प्रतिबुद्धाऽपि किं करिष्यामि ? न मे उचितेष्वपि निजकराणीयेषु हस्तपादं

प्रसरति। काम इदानीं सकामो भवतु, येनासत्यसन्धे जने शुद्धहृदया सखी पदं कारिता। अथवा दुर्वाससः शाप एष विकारयति। अन्यथा कथं स राजर्षिस्तादृशानि मन्त्रयित्वैतावतः कालस्य लेखमात्रमपि न विसृजति। तदितोऽभिज्ञानमङ्गुलीयकं तस्य विसृजावः। दुःखशीले तपस्विजने कोऽभ्यर्थ्यताम्? ननु सखीगामी दोष इति व्यवसिताऽपि न पारयामि प्रवासप्रतिनिवृत्तस्य तातकाश्यपस्य दुष्यन्तपरिणीतामापन्नसत्त्वां शकुन्तलां निवेदयितुम्। इत्थंगतेऽस्माभिः किं करणीयम्। (पडिबुद्धा वि किं करिस्सं ? ण मे उइदेसु वि णिअकणिज्जेषु हत्थापाआ पसरन्ति। कामो दाणिं सकामो होदु, जेण असच्चसन्धे जणे सुद्धहिअआ सही पदं कारिदा। अहवा दुव्वाससो सावो एसो विआरेदि। अण्णहा कहं सो राएसी तारिसाणि मन्तिअ एत्तिअस्स कालस्स लेहमेत्तं पि ण विसज्जेदि। ता इदो अहिण्णाणं अङ्गुलीअअं तस्स विसज्जेम। दुक्खसीले तवस्सिजणे को अब्भत्थीअद ? णं सहीगामी दोसो त्ति ब्ववसिदा वि ण पारेमि पवासपडिणिउत्तस्स तादकस्सवस्स दुसन्तपरिणीदं आवण्णसतं सउन्दलं णिवेदिदुं। इत्थंगदे अम्हेहिं किं करणिज्जं।)

व्या० एवं श०—प्रतिबुद्धा – प्रति+बुध्+क्त+टाप् = जागी हुई। हस्तपादम् – हस्तौ च पादौ च इति हस्तपादम् – समाहारद्वन्द्व, एकपदभाव, कीबत्व = हाथ पैर। असत्यसन्धे – असत्या सन्धा प्रतिज्ञा यस्य सः (बहु०) तस्मिन् –'सन्धा प्रतिज्ञा मर्यादा'–इत्यमरः = असत्य प्रतिज्ञा वाले। यह पद जने (दुष्यन्ते) का विशेषण है। कारिता – कृ+णिच्+क्त+टाप् = करायी गयी। विकारयति – वि+कृ+णिच् प्र०पु०ए०व० = विकार (अनर्थ-गड़बड़) करा रहा है। मन्त्रयित्वा – मन्त्र+णिच्+क्त्वा = कहकर। अभिज्ञानम् – अभिज्ञायते अनेन इति अभिज्ञानम् – अभि+ज्ञा+ल्युट् (करणे) = पहचान। व्यवसिता – वि+अव्+सो+क्त+टाप् = निश्चित-उद्यत। प्रवासप्रतिनिवृत्तस्य – प्रवासात् प्रतिनिवृत्तस्य (प०त०) = प्रवास से लौटे हुये। दुष्यन्तपरिणीताम् – दुष्यन्तेन परिणीताम् – परिणीता – परि+नी+क्त+टाप् – द्वि०ए०व० = दुष्यन्त के साथ विवाहित। आपन्नसत्त्वाम् – आपन्नं प्राप्तं सत्त्वं यया यस्याःवा (बहु०) ताम् अथवा सत्त्वं गर्भमापन्ना इति आपन्नसत्त्वानाम्। आपन्नाम् – आ+पद्+क्त+टाप् द्वि०ए०व०।

अनसूया—जागी हुई भी (जाग कर भी) मैं क्या करूँगी ? (प्रातःकाल) के उचित (अभ्यस्त) करणीय कार्यों में भी मेरे हाथ-पैर नहीं फैल (चल) रहे हैं। कामदेव की इच्छा अब पूरी हो जिसने झूठी प्रतिज्ञा करने वाले व्यक्ति (दुष्यन्त) के प्रति शुद्ध हृदयवाली भोली-भाली सखी (शकुन्तला) को समर्पित (प्रेमासक्त) करा दिया। अथवा दुर्वासा का शाप (ही) यह अनर्थ (गड़बड़) करा रहा है। नहीं तो कैसे वे राजर्षि उस प्रकार की (प्रेमभरी) बातें कर इतने दिनों तक एक पत्र भी नहीं भेजते। अतः यहाँ से हम पहचान की अङ्गूठी उनके पास भेजती हैं। (अब समस्या यह है कि अङ्गूठी ले जाने के लिये) कष्ट सहने वाले (निरन्तर तपस्याजनित कष्ट झेलने वाले) तपस्वी लोगों में किससे प्रार्थना की जाय ? 'निश्चित ही सब दोष (अपराध) सखी (शकुन्तला) पर ही आयेगा। (कहने के लिये) उद्यत होकर भी (व्यवसिसताऽपि) मैं प्रवास से लौटे हुये पिता कण्व से, दुष्यन्त के साथ (गान्धर्व विधि से) शकुन्तला के विवाहित और गर्भिणी होने की बात नहीं कह सकती। (अर्थात् पिता कण्व को यह नहीं बता सकती कि शकुन्तला का दुष्यन्त के साथ गान्धर्व-विधि से विवाह हो गया है और वह गर्भिणी है)। ऐसी दशा में हमें क्या करना चाहिये ?

विशेष—(१) 'आपन्नसत्त्वा स्याद् गुर्विण्यन्तर्वत्नी च गर्भिणी' इत्यमरः। गर्भवती के

चार नाम हैं—आपन्नसत्त्वा, गुर्विणी, अन्तर्वत्नी, गर्भिणी। (२) **दुःखशीले तपस्विजने कोऽभ्यर्थ्यताम्** – सदा तपस्या में निरत रहने के कारण तपस्वी जन दुःख झेलने वाले और संयमी हैं। (उनमे से) इस प्रकार का सन्देश ले जाने के लिये किससे कहा जाय-यह समझ में नहीं आता। अर्थात् किसी भी तपस्वी के द्वारा सन्देश भेजना ठीक नहीं है। (३) **सखीगामी दोष इति** – निवेदन करने पर सारा दोष सखी शकुन्तला का ही माना जायेगा। इसका भाव यह है कि पिता कण्व से कहने पर शकुन्तला का दोष मानकर कुछ भी हो सकता है। (४) **व्यवसिताऽपि** – वि+अव+सो+क्त+टाप् – (कहने के लिये) उद्यत होकर भी पिता से कहने का साहस नहीं है।

(प्रविश्य) **प्रियंवदा**—(सहर्षम्) **सखि, त्वरस्व त्वरस्व शकुन्तलायाः प्रस्थानकौतुकं निर्वर्तयितुम्।** (सहि, तुवर तुवर सउन्दलाए प्रत्थानकोदअं णिव्वतिदुं।)

व्या० एवं श०—त्वरस्व – त्वर्+लो०म०पु०ए०व० = जल्दी करो। प्रस्थानकौतुकम् – प्रस्थाने यत् कौतुकम् = प्रस्थान सम्बन्धी माङ्गलिक कार्य।

(प्रवेश कर) **प्रियंवदा**—(प्रसन्नतापूर्वक) सखी, शकुन्तला के प्रस्थान (विदाई) के माङ्गलिक-कार्यो को पूरा करने के लिये शीघ्रता करो, शीघ्रता करो।

टिप्पणी—प्रस्थानकौतुकम् – प्रस्थान के समय जो माङ्गलिक कार्य किये जाते हैं उन्हें 'कौतुक' कहते हैं । कहा भी गया है—'मङ्गलार्थं सुधा गैरिकलेपादि यत् क्रियते तत् कौतुकमुच्यते' अर्थात् प्रस्थान के समय चूना, गेरू आदि का जो लेप आदि होता है उसे 'कौतुक' कहते हैं। कौतुक का अर्थ कंगन, माङ्गलिक धागा आदि भी होता है। कोष में इसके अनेक अर्थ होते हैं— 'कौतुकं नर्मणीच्छायामुत्सवे मुदि। पारम्पर्यागतमङ्गलोद्वाहसूत्रयोः' इति हैमः। इस प्रकार के मङ्गल पारम्परिक होते हैं। प्रियंवदा का अभिप्राय पारम्परिक मङ्गल से ही है।

अनसूया—सखि, कथमेतत् ? (सहि, कहं एदं ?)

अनसूया—सखी, यह कैसै ?

प्रियंवदा—शृणु। इदानीं सुखशयितप्रच्छिका शकुन्तलासकाशं गताऽस्मि। (सुणाहि। दाणिं सुहसइदपुच्छिआ सउन्दलासआसं गदम्हि।)

व्या० एवं श०—सुखेन शयितं सुखशयितम् सुप्सुपा समास तत् पृच्छतीति – सुखशयितप्रच्छिका – सुखशयित+प्रच्छ्+ण्वुल् (अक्) टाप् = सुखपूर्वक शयन हुआ या नहीं, यह पूछना। शकुन्तलासकाशम् – शकुन्तलायाः सकाशम् = शकुन्तला के पास।

प्रियंवदा—सुनो। अभी 'सुखपूर्वक सोयी कि नहीं' – यह पूछने की इच्छा से मैं शकुन्तला के पास गयी थी।

अनसूया—ततस्ततः। (तदो तदो।)

अनसूया—तब, तब (क्या हुआ) ?

प्रियंवदा—तावदेनां लज्जावनतमुखीं परिष्वज्य तातकाश्यपेनैवमभिनन्दितम्। दिष्ट्या धूमाकुलितदृष्टेरपि यजमानस्य पावक एवाहुतिः पतिता। वत्से, सुशिष्यपरिदत्ता विद्येवाशोचनीयासि संवृत्ता। अद्यैव ऋषिरक्षितां त्वां भर्तुः सकाशं विसर्जयामीति। (दाव एणं लज्जावणदमुहिं परिस्सजिअ तादकस्सवेण एव्वं अहिणन्दिदं। दिट्ठिआ धूमाउलिददिट्ठिणो वि जअमाणस्स पावए एव्व आहुदी पडिदा। वच्छे, सुसिस्सपरिदिण्णा विज्जा विअ असोअणिज्जासि संवुत्ता। अज्ज एव्व

इसिरक्खिदं तुमं भत्तुणो असासं विसज्जेमि त्ति।)

व्या० एवं श०—लज्जावनतमुखीम् – लज्जया अवनतमुखीम् = लज्जा वश नीचे मुख किये हुई । परिष्वज्य – परि+स्वज्+क्त्वा–ल्यप् = आलिङ्गन कर (गले लगाकर)। अभिनन्दितम् – अभि+नन्द्+क्त = अभिनन्दन किया। दिष्ट्या = सौभाग्य से। धूमाकुलितदृष्टेः – धूमेन आकुलिता दृष्टिः यस्य तस्य (ब०व्री०) = धूम से व्याकुल दृष्टि वाले। सुशिष्यपरिदत्ता – सुशिष्याय परिदत्ता (च०त०) = सुशिष्य को दी गयी (यह पद 'विद्या' पद का विशेषण है)। ऋषिरक्षिताम् – ऋषिभिः रक्षिताम् (तृ०त०) = ऋषियों से रक्षित। भर्तुःसकाशम् = पति के पास। विसर्जयामि – वि+सृज्+णिच्+उ०पु०ए०व० = भेज रहा हूँ। यहाँ 'विसर्जयिष्यामि' लृट् के स्थान पर 'विसर्जयामि' लट् का प्रयोग है।

प्रियंवदा—तब लज्जा से झुके हुये मुख वाली इस (शकुन्तला) को गले लगाकर पिता कण्व के द्वारा इस प्रकार अभिनन्दन किया गया—'सौभाग्य से धुयें से व्याकुल दृष्टि वाले भी यजमान की आहुति अग्नि में ही गिरी (पड़ी) है। बेटी, सुशिष्य को दी गयी विद्या की भाँति (तुम) अशोचनीय हो गयी हो (अर्थात् तुम्हारे विषय में मुझे अब कोई चिन्ता नहीं है)। आज ही ऋषियों से सुरक्षित तुमको पति (दुष्यन्त) के पास भेज रहा हूँ।

टिप्पणी—(१) **धूमाकुलित** – कण्व के कहने का अभिप्राय यह है कि यज्ञ में आहुति देने वाले यजमान की दृष्टि के, यज्ञीय धूम्र से व्याकुल होने पर भी, जैसे उसकी आहुति अग्नि में ही पड़ जाय तो यह उसका सौभाग्य ही कहा जायगा। ठीक यही बात शकुन्तला के विषय में भी लागू है क्योंकि उसने पिता कण्व की अनुपस्थिति में उनकी अनुमति लिये बिना दुष्यन्त से गान्धर्व विवाह रूप अनुचित काम कर डाला, पर यह उसका सौभाग्य ही है कि उसे दुष्यन्त जैसा सुयोग्य एवं कुलीन वर मिल गया। (२) **सुशिष्यपरिदत्तेव विद्या** – सुशिष्य को दी गयी विद्या ही गुरु के यश को बढ़ाती है और उसे निश्चिन्त बनाती है, इसके विपरीत कुशिष्य को दी गयी विद्या गुरु के यश को क्षीण करती है तथा उसके शोक का कारण बनती है। कहा भी गया है—'कुशिष्यमध्यापयतः कुतो यशः'। मनुस्मृति में कहा गया है कि विद्या ब्राह्मण के पास जाकर स्वयं निवेदन करती है कि "मै तुम्हारी निधि हूँ अतः मेरी रक्षा करो। तुम मुझे असूयक को कदापि न देना, इस प्रकार मै बलवती बनूँगी"—'विद्या ब्राह्मणमेत्याह शेवधिस्तेऽस्मि रक्ष माम्। असूयकाय मां मा दास्तथा स्यां वीर्यक्तमा' ठीक इसी प्रकार अपनी कन्या के लिये योग्य वर की खोज की चिन्ता उसके पिता को रहती है। सुयोग्य पति को पाने वाली कन्या ही पिता के लिये अशोचनीय होती है – अशोच्या हि पितुः कन्या सद्भर्तृप्रतिपादिता ।। आज पिता कण्व अपनी कन्या के लिये दुष्यन्त जैसे सुयोग्य वर को पाकर सर्वथा निश्चिन्त (शोकरहित) हो गये। उनके उक्त कथन (सुशिष्य परिदत्तेव विद्या अशोचनीयासि मे संवृत्ता) का यही अभिप्राय है कि जिस प्रकार सुशिष्य को दी गयी विद्या गुरु के लिये अशोचनीय बन जाती है, उसी प्रकार सुवर को प्राप्त करने वाली पुत्री शकुन्तला अपने पिता कण्व के लिए अशोचनीय बन गयी। (३) यहाँ पर **'उपमा'** अलङ्कार है। शकुन्तला उपमेय, विद्या उपमान, इव वाचक शब्द तथा सुशिष्य – सुवर की प्राप्ति – साधारण धर्म है।

अनसूया—अथ केन सूचितस्तातकाश्यपस्य वृत्तान्तः। (अह केण सूइदो तादकस्सवस्स वुत्तन्तो।)

अनसूया—तो किसके द्वारा पिता कण्व को (यह) समाचार बताया गया ?

प्रियंवदा—अग्निशरणं प्रविष्टस्य शरीरं बिना छन्दोमथ्या वाण्या। (अग्गिसरणं पविट्ठस्स सरीरं विणा छन्दोमईए वाणिआए।)

व्या० एवं श०—अग्निशरणम् - अग्ने: शरणम् (ष०त०) = यज्ञशाला।

प्रियंवदा—यज्ञशाला (अग्निशरण) मे गये हुये (उनको) शरीर-रहित छन्दोमयी वाणी (आकाशवाणी) के द्वारा (यह समाचार) (बताया गया है)।

अनसूया—(सविस्मयम्) **कथमिव ?** (कहं विअ ?)

अनसूया—(आश्चर्य के साथ) किस प्रकार ?

प्रियंवदा—(संस्कृतमाश्रित्य)

प्रियंवदा—(संस्कृत का आश्रय लेकर अर्थात् संस्कृत भाषा में)

दुष्यन्तेनाहितं तेजो दधानां भूतये भुवः।
अवेहि तनयां ब्रह्मन्नग्निगर्भां शमीमिव।। ४।।

अन्वय—ब्रह्मन्, दुष्यन्तेन आहितं तेज: भुव: भूतये दधानां तनयाम् अग्निगर्भां शमीम् इव अवेहि।

शब्दार्थ—ब्रह्मन् = हे ब्राह्मण (विप्र)! दुष्यन्तेन = दुष्यन्त के द्वारा। आहितम् = आधान किये गये (स्थापित)। तेज: = तेज (वीर्य) को (सन्तान को)। भुव: = पृथ्वी के। भूतये = कल्याण के लिये। दधानाम् = धारण करने वाली। तनयाम् = पुत्री को। अग्निगर्भाम् = अग्नि है गर्भ में (भीतर) जिसके ऐसी (अपने अन्दर अग्नि को धारण करने वाली)। शमीम् इव = शमीलता की भाँति। अवेहि = समझो।

अनुवाद—हे ब्राह्मण, दुष्यन्त के द्वारा स्थापित तेज (वीर्य, सन्तान) को, पृथ्वी के कल्याण के लिये धारण करने वाली पुत्री (शकुन्तला) को, अपने अन्दर अग्नि को धारण करने वाली शमीलता की भाँति समझो (जानो)।

संस्कृत व्याख्या—ब्रह्मन् - हे विप्रवर ! **दुष्यन्तेन** - राज्ञा, **आहितम्** - निषिक्तम्, **तेजः** - वीर्यम्, **भुवः** - पृथिव्या:, **भूतये** - अभ्युदयाय, **दधानां** - धारयन्तीम्, **तनयां** - पुत्रीं शकुन्तलाम्, **अग्निगर्भा** - वह्निगर्भाम्, **शमीम् इव** - शमीलताम् इव, **अवेहि** - जानीहि।

संस्कृत-सरलार्थः—यथा शमीलता स्वगर्भे अग्निं धारयति तथैव ते पुत्री शकुन्तला भुवनमण्डलस्य कल्याणाय दुष्यन्तेन निषिक्तं तेज: (सन्तानरूपं) स्वगर्भे धारयति अर्थात् ते पुत्री भाविनं भुवनभर्त्तारं तनयं धत्ते - इति जानीहीति निगलितोऽर्थ:।

व्याकरण—आहितम् - आ+धा+क्त (धा को हि) = स्थापिता। अग्निगर्भाम् - अग्नि: गर्भे यस्या: ताम् (बहु०)। दधानाम् - धा+शनच्+टाप् - द्वि०ए०व० = धारण करने वाली।

कोष—'ब्रह्मा विप्र: प्रजापति:' इत्यमर:। 'तेज: प्रभावे दीप्तौ च बले शुक्रेऽपि' इत्यमर:।

अलङ्कार—इस श्लोक में 'अग्निगर्भां शमीमिव' में श्रौती 'पूर्णोपमा' अलङ्कार है। शकुन्तला उपमेय, शमीलता उपमान, तेजोधारण - तेज (सन्तान-अग्नि) साधारण धर्म तथा 'इव' वाचक शब्द हैं। ल०द्र० १/५ श्लो०।

छन्द—यहाँ **अनुष्टुप** छन्द है। ल०द्र० १/५ श्लो०।

टिप्पणी—(१) **अग्निगर्भां शमीमिव** – महाभारत के अनुशासन पर्व के अध्याय ३५ के अनुसार देवताओं की प्रार्थना पर अग्नि ने शिव के वीर्य को धारण किया। उसके उग्र ताप के न सह सकने के कारण पहले वह पीपल में प्रविष्ट हुआ और फिर शमीवृक्ष में। देवताओं ने अग्नि को खोज कर उसे शमी में स्थायी रूप से स्थापित कर दिया। इस प्रकार अग्नि स्थायी रूप से शमी के भीतर रहता है। यही कारण है कि थोड़े घर्षण से भी शमी से अग्नि प्रकट हो जाता है। महाभारत शल्यपर्व की कथा के अनुसार भृगु के शाप से भयभीत अग्नि ने शमी में प्रवेश कर लिया। शमी के अग्निगर्भ में होने की बात रघुवंश में भी कही गयी है—'शमीमिवाभ्यन्तरलीनपावकम्'। (२) इस श्लोक में **भूतये भुवः** पद से यह सिद्ध होता है कि शकुन्तला के गर्भ से उत्पन्न पुत्र महान् सम्राट के रूप में भूमण्डल का कल्याण करेगा। (३) इस श्लोक में **मार्ग** नामक गर्भ सन्धि का अङ्ग है क्योंकि यहाँ यथार्थ बात का प्रकाशन है। उसका लक्षण है—तत्त्वार्थकथनं मार्गः सा०द० ६/९६।

अनसूया—(प्रियंवदामाश्लिष्य) **सखि, प्रियं मे किन्त्वद्यैव शकुन्तला नीयत इत्युत्कण्ठासाधारणं परितोषमनुभवामि।** (सहि, पिअं मे। किदु अज्ज एव्व सउन्दला णीअदि त्ति उक्कण्ठासाहारणं परितोसं अणुहोमि।)

व्या० एवं श०—नीयते – 'नी' कर्म वाच्य प्र०पु०ए०व० = ले जायी (भेजी) जा रही है। उत्कण्ठासाधारणम् – उत्कण्ठया दुःखेन साधारणं समानम् = दुःख – मिश्रित। आश्लिष्य – आ+श्लिष्+क्त्वा – ल्यप् = आलिङ्गन कर (गले लगाकर)।

अनसूया—(प्रियंवदा का आलिङ्गन कर) सखी, मुझको प्रसन्नता है, किन्तु आज ही शकुन्तला (पतिगृह) ले जायी जा रही है, इसलिये (दुःखमिश्रित) सन्तोष का अनुभव कर रही हूँ।

प्रियंवदा—सखि, आवां तावदुत्कण्ठां विनोदयिष्यावः। सा तपस्विनी निर्वृता भवतु। (सहि वअं दाव उक्कण्ठं विणोदइस्सामो। सा सवस्सिणी णिव्वुदा होदु।)

व्याकरण एवं शब्दार्थ—विनोदयिष्यावः – वि+नुद्+णिच्+लृट् उ०पु०द्वि०व० = दूर कर लेंगी। (दुःख)। निर्वृता = सुखी।

प्रियंवदा—सखी, हम दोनों तो अपनी उत्कण्ठा को दूर कर लेगें। (किन्तु) वह बेचारी (तपस्विनी) तो सुखी हो।

अनसूया—तेन ह्येतस्मिंश्चूतशाखावलम्बिते नारिकेलसमुद्गक एतन्निमित्तमेव कालान्तरक्षमा निक्षिप्ता मया केसरमालिका। तदिमां हस्तसन्निहितां कुरु। यावदहमपि तस्यै गोरोचनां तीर्थमृत्तिकां दूर्वाकिसलयानीति मङ्गलसमालम्भनानि विरचयामि। (तेण हि एदस्सिं चूदसाहावलम्बिदे णरिएरसमुग्गए एतण्णिमित्तं एव्व कालान्तरक्खमा णिक्खित्ता मए केसरमालिआ। ता इमं हत्थसण्णिहिदं करेहि। जावअहंपि स गोरोअणं तित्थमित्तिअ दुव्वाकिसलआणित्ति मंगलसमालंभणणि विरएमि।)

व्या० एवं श०—चूतशाखावलम्बिते – चूतस्य शाखायाम् अवलम्बिते (त०स०) = आम की डाली पर लटकते हुये। नारिकेलसमुद्गके – नारिकेलस्य समुद्गके = नारियल के डिब्बे में। समुद्गकः – सम्+उद्+गम्+ड – समुद्गः स्वार्थे कन् समुद्गकः तस्मिन्। एतन्निमित्तमेव = इसी उपयोग के लिये ही अर्थात् शकुन्तला के पतिगृह जाने के समय उसकी सजावट के लिये ही। कालान्तरक्षमा – कालान्तरे क्षमा = दीर्घकाल तक रुकने वाली (ताजा बनी रहने वाली)। केसरमालिका – वकुल – कुसुममाला = मौलश्री की माला। निक्षिप्ता – नि+क्षिप्+क्त+टाप् =

रखी गयी। हस्तसंनिहिताम् कुरु – हस्तगत करो। मङ्गलसमालम्भनानि मङ्गलार्थं समालम्भनानि – अङ्गरागाणि = माङ्गलिक अलङ्करण आदि वस्तुयें।

अनसूया—तो इस आम की शाखा (डाली) में लटकते हुये नारियल के डिब्बे (समुद्‌गक) में मेरे द्वारा इस अवसर के लिये ही देर तक रुकने (ताजी रहने) वाली मौलश्री रखी गयी है। तो तुम इसको हस्तगत कर लो (हाथ में ले लो)। तब तक मैं भी उसके लिये गोरोचन, तीर्थों की मिट्टी और दूब के अङ्कुर आदि माङ्गलिक वस्तुओं को तैयार करती हूँ।

टिप्पणी—चूतशाखेति – आम वृक्ष के तीन नाम हैं—आम्र, चूत तथा रसाल 'आम्रश्चूतो रसालोऽसौ' – इत्यमरः। **कालान्तरक्षमा** – इससे यह प्रतीत होता है कि उस समय आज के रेफ्रिजरेटर की भाँति कोई डिब्बा या पेटिका होती थी जिसमें रखे जाने पर वस्तुयें काफी दिनों तक ताजा बनी रहती थीं। 'नारिकेलसमुद्‌गक' नामक डिब्बा ऐसा ही था। मङ्गलसमालम्भनानि- समालम्भन के तीन अर्थ होते है।–आलेप, तिलक, अलङ्करण। कहा भी गया है—'समालम्भनमालेपे तिलकेऽङ्कृतावपि।' इति यादवप्रकाशः। **गोरोचनाम्** – गोरोचना, दुग्ध, आज्य, अमृत, पायस आदि पदार्थ माङ्गलिक वस्तुओं में परिगणित हैं। गोरोचना गाय के मूत्र से तैयार होता है जिसे माङ्गलिक अवसरों पर तिलक के लिये सुगन्धित द्रव्य के रूप में प्रयोग में लाया जाता है।

प्रियंवदा—तथा क्रियताम् (तह करीअदु)।

प्रियंवदा—(जैसा तुम कहती हो) वैसा ही करो।

(अनसूया निष्क्रान्ता। प्रियंवदा नाट्येन सुमनसो गृहणाति)

(अनसूया निकल जाती है। प्रियंवदा अभिनय के साथ पुष्पों को लेती है।)

(नेपथ्ये) **गौतमि, आदिश्यन्तां शार्ङ्गरवमिश्राः शकुन्तलानयनाय।**

व्याकरण एवं शब्दार्थ—आदिश्यन्ताम् – आ+दिश् कर्मवाच्य लोट् प्र०पु०ब०व० = आदिष्ट किये जायं अर्थात् उन्हें आदेश दिया जाय। शार्ङ्गरवमिश्राः – शार्ङ्गस्य श्रृङ्गरचितस्य चापस्य रवः शब्दः इव रवः कण्ठध्वनिः यस्य शार्ङ्गरवः एतन्नामा कण्वशिष्यः तथाभिधेयाः मिश्रा गौरवान्विताः मुनयः = शार्ङ्गरव नामक गौरवास्पद मुनि।

(नेपथ्य में) गौतमी, शकुन्तला को (पतिगृह हस्तिनापुर) ले जाने के लिये शार्ङ्गरव आदि को आदेश दे दो।

प्रियंवदा—(कर्णं दत्त्वा) **अनसूये, त्वरस्व त्वरस्व। एते खलु हस्तिनापुरगामिन ऋषयः शब्दाय्यन्ते।** (अणसूए, तुवर तुवर। एदे क्खु हत्थिणाउरगामिणो इसीओ सद्दावीअन्ति।)

व्या० एवं श०—त्वरस्व – त्वर्+लोट्+म०पु०ए०व० = शीघ्रता करो! शब्दाय्यन्ते – शब्दं करोति शब्दायते – 'शब्द वैर..' सूत्र से 'क्यङ् फिर णिजन्त से कर्म वाच्य में यक् – शब्दाय+णिच्+लट् प्र०पु०ब०व० = पुकारे (बुलाये) जा रहे हैं।

प्रियंवदा—(कान लगाकर) अनसूया, शीघ्रता करो, शीघ्रता करो। हस्तिनापुर को जाने वाले ऋषि बुलाये जा रहे हैं।

(प्रविश्य समालम्भनहस्ता)

व्या० एवं श०—समालम्भनहस्ता – समालम्भनं हस्ते यस्या सा = माङ्गलिक सामग्री हाथ मे लिये हुये।

(माङ्गलिक वस्तुओं को हाथ में लिये हुए प्रवेश कर)

अनसूया—सखि, एहि । गच्छावः । (सहि, एहि । गच्छम्ह ।) (इति प्रक्रिामतः) ।

अनसूया—सखी, आओ चलें, (दोनों चारों ओर घूमती हैं) ।

प्रियंवदा—(विलोक्य) **एषा सूर्योदय एव शिखामज्जिता प्रतीष्टनीवारहस्ताभिः स्वस्तिवाचनिकाभिस्तापसीभिरभिनन्द्यमाना शकुन्तला तिष्ठति । उपसर्पाव एनाम् ।** एसा सुज्जोदए एव सिहामज्जिदा पडिच्छिदणीवारहत्थाहिं सोत्थिवअणिकाहिं तावसीहिं अहिणन्दीअमाणा सउन्दला चिट्ठइ । उपसप्पम्ह णं ।) (इत्युपसर्पतः) ।

व्या० एवं श०—शिखामज्जिता = सिर धोकर नहायी हुई (पूर्ण स्नान की हुई) । प्रतीष्टनीवारहस्ताभिः – प्रतीष्टाः गृहीताः नीवाराः हस्तेषु याभिः ताभिः = नीवार को हाथ में लिये हुई । स्वस्तिवाचनिकाभिः – स्वस्तिवाचनं प्रयोजनं यासां ताभिः (ब०) प्रयोजन अर्थ में 'स्वस्तिवाचन' शब्द से 'अनुप्रवचनादिभ्यश्च' सूत्र से 'छ' प्रत्यय और 'पुण्याहवाचनादिभ्यः' वार्तिक से उसका लुक् (लोप), स्वार्थ में – कन् (क) प्रत्यय = स्वस्तिवाचन का पाठ करने वाली । अभिनन्द्यमाना – अभि+नन्द्+यक् (कर्मवाच्य)+शानच् प्र०ब०व० = अभिनन्दित होती हुई ।

प्रियंवदा—(देखकर) सूर्योदय होते ही शिर धोकर स्नान की हुई (पूर्णरूपेण स्नान की हुई) यह शकुन्तला, नीवार को हाथ में लेकर स्वस्तिवाचन का पाठ करने वाली तपस्विनियों द्वारा अभिनन्दित होती हुई बैठी है । हम दोनों इसके पास चलें । दोनों (प्रियंवदा तथा अनसूया) उसके पास जाती हैं) ।

(ततः प्रविशति यथोद्दिष्टव्यापारा आसनस्था शकुन्तला)

व्या० एवं श०—यथोद्दिष्टव्यापारा – यथोद्दिष्टः पूर्व निर्दिष्टः व्यापारः कार्यं यस्याः सा = पूर्वोक्त कार्य करती हुई ।

(तत्पश्चात् पूर्वोक्त कार्य करती हुई और आसन पर बैठी हुई शकुन्तला प्रवेश करती है) ।

तापसानामन्यतमा—(शकुन्तलां प्रति) **जाते, भर्तुर्बहुमानसूचकं महादेविशब्दं लभस्व ।** (जादे, भत्तुणो बहुमाणसूअअं महादेवीसद्दं लहेहि) ।

तपस्विनियों में से एक—(शकुन्तला के प्रति) बेटी, पति के अत्यन्त सम्मानसूचक 'महादेवी' शब्द (सम्बोधन) को प्राप्त करो ।

द्वितीया—वत्से, वीरप्रसविनी भव । (वच्छे, वीरप्पसविणी होहि ।)

व्या० एवं श०—वीरं प्रसूते – वीर+प्रं+सू+इनि – ताच्छील्य अर्थ में 'जिद्क्षिवि-श्री०' सूत्र से इनि प्रत्यय – ङीप् = वीर पुत्र को जन्म देने वाली ।

दूसरी—बेटी, वीरपुत्र को जन्म देने वाली हो ।

तृतीया—वत्से, भर्तुर्बहुमता भव । (वत्से भत्तुणो बहुमदा होहि ।)

तीसरी—बेटी, पति द्वारा बहुत सम्मान वाली हो ।

(इत्याशिषो दत्त्वा गौतमीवर्जं निष्क्रान्ताः)

शब्दार्थ—गौतमीवर्जम् = गौतमी को छोड़कर ।

(आशीर्वाद देकर गौतमी को छोड़कर सभी चली जाती हैं) ।

सख्यौ—(उपसृत्य) **सखि, सुखमज्जनं ते भवतु ।** (सहि, सुहमज्जणं दे होदु ।)

दोनों सखियाँ—(समीप जाकर) सखी, तुम्हारा स्नान सुखकर (मङ्गलमय) हो (अर्थात् तुम सुखी रहो)।

शकुन्तला—स्वागतं मे सख्योः । इतो निषीदतम् । (साअदं मे सहीणं। इदो णिसीदह ।)

व्या० एवं श०—निषीदतम् - नि+सद्+लोट्+म०पु०द्वि०व० = बैठो।

शकुन्तला—मेरी सखियों (तुम दोनों) का स्वागत है। इधर बैठो।

उभे—(मङ्गलपात्राण्यादाय। उपविश्य) **हला, सज्जा भव । यावत्ते मङ्गलसमालम्भनं विरचयावः ।** (हला, सज्जा होहि। जाव दे मङ्गलसमालम्भणं विरएम ।)

व्या० एवं श०—मङ्गलम् = माङ्गलिक। समालम्भनम् - अलङ्करण = प्रसाधन। सज्जा = सावधान, तैयार। विरचयाव: - वि+रच्+णिच्+लट्+उ०पु०द्वि०व० = (अलङ्करण) बनाती हैं।

दोनों—(माङ्गलिक पात्र को लेकर और बैठकर) सखी, तैयार हो जाओ। हम दोनों (तुम्हारा) माङ्गलिक अलङ्करण (प्रसाधन, सजावट) करेंगी।

शकुन्तला—इदमपि बहु मन्तव्यम् । दुलर्भमिदानीं मे सखीमण्डनं भविष्यति । (इदं पि बहु मन्तव्वं। दुल्लहं दाणि मे सहीमण्डणं भविस्सदि ।) (इति वाष्पं विसृजति)।

शकुन्तला—यह (तुम्हारे द्वारा किये जाने वाले अलङ्करण) बहुत समझने योग्य (आदरणीय) हैं। (क्योंकि) अब (पति के घर) मेरे लिये सखियों द्वारा अलङ्कृत होना दुर्लभ हो जायेगा। (आँसू गिराती है)।

उभे—सखि, उचितं न ते मङ्गलकाले रोदितुम् । (सहि, उइणं ण दे मङ्गलकाले रोइदुं ।) (इत्यश्रूणि प्रमृज्य नाट्येन प्रसाधयतः ।)

दोनों—सखी, माङ्गलिक बेला में तुम्हारा (इस प्रकार) रोना उचित नहीं हैं। (आँसुओं को पोछकर अभिनय के साथ अलङ्कृत करती हैं)।

प्रियंवदा—आभरणोचितं रूपमाश्रमसुलभैः प्रसाधनैर्विप्रकार्यते । (आहरणोइदं रूवं अस्समसुलहेहिं पसाहणेहिं विप्पआरीअदि ।)

व्या० एवं श०—आश्रमसुलभैः - आश्रमे सुलभैः (स०त०) = आश्रम में उपलब्ध। प्रसाधनैः = अलङ्कारों से। विप्रकार्यते - वि+प्र+कृ+णिच् लट् प्र०पु०ए०व० = विकृत किया जा रहा है।

प्रियंवदा—आभूषण के योग्य (शकुन्तला का यह) रूप (सौन्दर्य) आश्रम में सुलभ (उपलब्ध) (पुष्प आदि) अलङ्कारों द्वारा विकृत किया (बिगाड़ा) जा रहा है।

(प्रविश्योपायहस्तावृषिकुमारकौ)

(हाथ में उपहार लिये दो ऋषिकुमार प्रवेश कर)।

उभौ—इदमलङ्करणम् । अलङ्क्रियतामत्रभवती ।

दोनों—यह अलंकार (आभूषण) हैं। (इनसे) आदरणीया (शकुन्तला) अलङ्कृत की जाँय (अर्थात् आप लोग इन आभूषणों से शकुन्तला को सजाइये)।

(सर्वा विलोक्य विस्मिताः)

(सभी देखकर चकित हो जाती हैं)।

गौतमी—वत्स नारद, कुत एतत्। (वच्छ णारअ, कुदो एदं।)

गौतमी—बेटा नारद, यह कहाँ से (मिला)।

प्रथमः—तातकाश्यपप्रभावात्।

पहला—पिता कण्व के प्रभाव से।

गौतमी—किं मानसी सिद्धि। (किं माणसी सिद्धिः।)

गौतमी—क्या (यह उनकी) मानसी सिद्धि (मानस-सङ्कल्प का फल) है।

द्वितीयः—न खलु। श्रूयताम्। तत्रभवता वयमाज्ञप्ताः शकुन्तलाहेतोर्वनस्पतिभ्यः कुसुमान्याहरतेति। तत इदानीम्—

व्या० एवं श०—आज्ञप्ताः – आ+ज्ञप्+क्त प्र०पु०ब०व० = (हम लोगों को) आज्ञा दी गयी। आहरत – आ+हृ+लोट्+म०पु०ब०व० = लाओ।

दूसरा—कदापि नहीं, सुनिये। पूज्य (कण्व) द्वारा हम लोगों को आज्ञा दी गयी कि शकुन्तला के लिये वनस्पतियों (पेड़-पौधों) से पुष्प को लाओ। तत्पश्चात् अब—

टिप्पणी—मानसी सिद्धिः – मानसी सिद्धि में जो कुछ मन में सोचा जाता है उसी के अनुसार अर्थ आदि की प्राप्ति हो जाती है। ऐसी सिद्धियाँ ऋषियों-मुनियों को प्राप्त थीं। ऐसी ही सिद्धि महर्षि कण्व को भी थी। ऐसी सिद्धि को योग सिद्धि भी कहते हैं। याज्ञवलक्य ने योग-सिद्धि के द्वारा प्राप्त होने वाली वस्तुओं को गिनाया है—'अन्तर्धानं स्मृतिः क्रान्तदृष्टिः श्रौतज्ञता तथा। निजं शरीरमुत्सृज्य परकायप्रवेशनम्। अर्थानां छन्दतः सृष्टिर्भोग सिद्धिर्हि लक्षणम्॥ **नैषध** महाकाव्य में भी कहा गया है कि योगियों को तपस्या से सब वस्तुओं (कार्यों) आदि की सिद्धि हो जाती है। 'योगिनां तु तपसाऽखिला सिद्धिः।'

क्षौमं केनचिदिन्दुपाण्डु तरुणा माङ्गल्यमाविष्कृतं
निष्ठ्यूतश्चरणोपरागसुभगो लाक्षारसः केनचित्।
अन्येभ्यो वनदेवताकरतलैरापर्वभागोत्थितै-
र्दत्तान्याभरणानि नः किसलयोद्भेदप्रतिद्वन्द्विभिः॥ ५॥

अन्वय—केनिचित् तरुणा नः इन्दुपाण्डु माङ्गल्यं क्षौमम् आविष्कृतम्, केनचित् चरणोपरागसुभगः लाक्षारसः निष्ठ्यूतः, अन्येभ्यः आपर्वभागोत्थितैः किसलयोद्भेदप्रतिद्वन्द्विभिः वनदेवताकरतलैः आभरणानि दत्तानि।

शब्दार्थ—केनचित् = किसी। तरुणा = वृक्ष के द्वारा। नः = हम लोगों को। इन्दुपाण्डु = चन्द्रमा के समान शुभ्र (धवल)। माङ्गल्यम् = माङ्गलिक। क्षौमम् = रेशमी वस्त्र। आविष्कृतम् = निकाला गया (दिया गया)। केनचित् = किसी (वृक्ष) के द्वारा। चरणोपरागसुभगः = पैरों के रँगने (उपराग) के योग्य। लाक्षारसः = लाक्षा (लाख) का रस (महावर)। निष्ठ्यूतः = टपकाया गया (दिया गया)। अन्येभ्यः = दूसरे (बृक्षों) से। आपर्वभागोत्थितैः = कलाई (पर्वभाग) तक उठे हुये (निकाले हुये)। किसलयोद्भेदप्रतिद्वन्द्विभिः = निकलते हुये नवपल्लवों की प्रतिस्पर्धा करने वाले (नये-नये निकलने वाले पल्लवों के सदृश)। वनदेवताकरतलैः = वनदेवता के

करतलों से । आभरणानि = आभूषण । दत्तानि = दिये गये ।

अनुवाद—किसी वृक्ष के द्वारा हम लोगों को चन्द्रमा के समान शुभ्र (धवल) माङ्गलिक रेशमी वस्त्र प्रकट कर दिया गया। किसी (वृक्ष) के द्वारा पैरों को रँगने योग्य लाक्षारस (महावर) चुवाया (दिया) गया । अन्य (वृक्षों) के द्वारा कलाई (पर्वभाग) तक उठे हुये और निकलते हुये नवपल्लवों के समान वनदेवता के करतलों (हथेलियों) से आभूषण दिये गये ।

संस्कृत व्याख्या—केनचित् तरुणा – वृक्षेण, **नः** – अस्मभ्यम् , **इन्दुपाण्डु** – चन्द्रवत् शुभ्रवर्णम् , **माङ्गल्यं** – मङ्गलकर्मयोग्यम् , **क्षौमं** – दुकूलम् , **आविष्कृतं** – स्वदेहान्निःसार्य समर्पितम् ; **केनचित्** – वृक्षेण, **चरणोपरागसुभगः** – चरणयोः पादयोः उपरागः रञ्जनं तत्र सुभगः उचितः, **लाक्षारसः** – अलक्तकद्रवः, **निष्ठ्यूतः** – बहिष्कृत्य प्रदत्तः, **अन्येभ्यः** – देवताधिष्ठितेभ्यो वृक्षान्तरेभ्यः, **आपर्वभागोत्थितैः** – मणिबन्धपर्यन्तानिस्सृतैः, **किसलयोद्भेदप्रतिद्वन्द्विभिः** – किसलयानां नवपल्लवानाम् उद्भेदाः विकासाः तेषां प्रतिद्वन्द्विभिः प्रतिस्पर्धिभिः, **वनदेवताकरतलैः** – वनदेवतापाणितलैः, **आभरणानि** – अलङ्करणानि, **दत्तानि** – समर्पितानि ।

संस्कृत-सलार्थः—गौतम्याः 'किं मानसी घसिद्धिः' – इति प्रश्नस्योत्तरं ददन् कण्वशिष्यावेदनि–केनचिद वृक्षेण शकुन्तलायाः कृते माङ्गलिकं दुकूलं, केनचिच्चरणरागोचितो लाक्षारसः, केनचिद् वृक्षेण वन देवता करतलैः सुन्दराणि चालङ्करणानि प्रदत्तानि ।'

व्याकरण—क्षौमम् – क्षुमाया विकारः क्षौमम् – क्षुमा+अण् । इन्दुपाण्डु – इन्दुवत् पाण्डु – इन्दुपाण्डु (उप०स०) । मङ्गल साधु – मङ्गल्यम् मङ्गलसेयत् , मङ्गल्यमेव माङ्गल्यम्+अण् आविष्कृतम् – आविस्+कृ+क्त । चरणोपरागसुभगः – चरणयोः उपरागे सुभगः (तत्पु०)। आपर्वभागोत्थितैः – पर्वभागं यावत् आपर्वभागम् (अव्ययी०), आपर्वभागम् उत्थितैः (सुप्सुपा समास)। किसलयोद्भेदप्रतिद्वन्द्विभिः – किसलयानाम् उद्भेदाः तेषां प्रतिद्वन्द्विभिः (तत्पु०)। वनदेवताकरतलैः – वनदेवतानां करतलैः (तत्पु०) ।

कोष—'वानस्पत्यः फलैः पुष्पात् तैरपुष्पाद् वनस्पतिः । (अमरकोष) ।

अलङ्कार—'इन्दुपाण्डुधवलम् इन्दुः इव पाण्डु – धवलम् (इन्दु की भाँति पाण्डु) में समासगा वाचक **लुप्तोपमा** है क्योंकि उपमेय क्षौम उपमान इन्दु और साधारण धर्म पाण्डुत्व युक्त है। उपमा वाचक 'इव' पद लुप्त है। इसी प्रकार किसलयोद्भेदप्रतिद्वन्द्विभिः में भी समासगा **वाचकलुप्तोपमा** है । ल०द्र० १/५ श्लो० ।

छन्द—'शार्दूलविक्रीडित' छन्द है । ल०द्र० १/१४ श्लो० ।

टिप्पणी—(१) क्षौमम् – कालिदास के समय में भी माङ्गलिक अवसरों पर रेशमी वस्त्र पहनने की प्रथा थी । (२) वृक्षों-वनस्पतियों द्वारा शकुन्तला के लिये वस्त्र आभूषण, महावर आदि प्रदान किये जाने से कई तथ्य प्रकाश में आते हैं । **पहला** यह कि उस समय भी कन्या की बिदायी के अवसर पर उसे वस्त्राभूषण आदि उपहार में दिये जाते थे । **दूसरा** यह कि उस समय माङ्गलिक अवसरों पर स्त्रियाँ वस्त्र, आभूषण, महावर आदि से अपने को सजाती थीं । **तीसरा** यह कि मानव और प्रकृति के मध्य **आत्मीयता से पूर्ण** भावनात्मक सम्बन्ध का बोध होता है । उस समय प्रकृति मानव के अति सान्निध्य में थी । **चौथा** यह कि वन-देवियों द्वारा प्रदत्त आभूषण शकुन्तला के स्थिर सौभाग्य के सूचक हैं । **पाँचवाँ** यह कि वृक्ष आदि जड़जगत् पर भी कण्व की तपस्या का प्रभाव

है। (३) यहाँ **निरुक्ति** नामक नाटकीय लक्षण है। निरुक्ति का लक्षण है—'पूर्वसिद्धार्थकथनं निरुक्तिरिति कीर्त्यते'। (४) **अन्येभ्यः उत्थितैः** इस स्थल में **प्रक्रमभङ्गदोष** है। 'केनचित्' इस तृतीयान्त पद के क्रम में अन्येभ्य: के स्थान पर तृतीया बहुवचनान्त पद (अन्यैः) का प्रयोग अपेक्षित था। (५) श्लोक के पूर्वार्द्ध में वनस्पतियों की सेवा तथा उत्तरार्द्ध में वनदेवताओं की अनुकम्पा का वर्णन है।

प्रियंवदा—(शकुन्तलां विलोक्य) **हला, अनयाऽभ्युपपत्त्या सूचिता ते भर्तुर्गेहेऽनुभवितव्या राजलक्ष्मीः।** (हला, इमाए अब्भुववत्तीए सूइआ दे भत्तुणो गेहे अणुहोदव्वा राअलच्छि।)

व्या० एवं श०—अभ्युपपत्त्या - अभि+उप्+पद्+क्तिन् तृ०ए०व० = अनुकम्पा (अनुग्रह) से। अनुभवितव्या - अनु+भू+तव्यत् +टाप् = अनुभव की जायगी अर्थात् (राजलक्ष्मी का) भोग करोगी।

प्रियंवदा—(शकुन्तला को देखकर) सखी, (वनस्पतियों की) इस अनुकम्पा (अनुग्रह) से सूचित होता है कि तुम्हारे द्वारा पति के घर में राजलक्ष्मी अनुभव की जायेगी (अर्थात् तुम पति के घर में राजलक्ष्मी का भोग करोगी)।

(शकुन्तला व्रीडां रूपयति)

(शकुन्तला लज्जा का अभिनय करती है)।

प्रथमः—गौतम, एह्येहि। अभिषेकोत्तीर्णाय काश्यपाय वनस्पतिसेवां निवेदयावः।

व्याकरण एवं शब्दार्थ—अभिषेकोत्तीर्णाय - अभिषेकाद् उत्तीर्णाय (प०त०) - अभि+सिच्+घञ् उत्तीर्ण - उद्+वृ+क्त = स्नान कर बाहर निकले हुये। निवेदयावः - नि+विद्+णिच्+लट्+उ०पु०द्वि०व० = निवेदन कर दें - बता दें।

पहला—गौतम, आओ-आओ। स्नान कर लौटे हुये कण्व को वनस्पतियों की (इस) सेवा को बता दें।

द्वितीयः—तथा। (इति निष्क्रान्तौ)।

दूसरा—ठीक है। (दोनों निकल जाते हैं)।

सख्यौ—अये, अनुपयुक्तभूषणोऽयं जनः। चित्रकर्मपरिचयेनाङ्गेषु त आभरणविनियोगं कुर्वः। (अए, अणुवजुत्तभूसणो अअं जणो। चित्तकम्मपरिअएण अंगेसु दे आहारणविणिओअं करेम्ह।)

व्याकरण एवं शब्दार्थ—अनुपयुक्तभूषण: - न उपयुक्तानि अनुपयुक्तानि अनुपयुक्तानि भूषणानि येन स: = जिसने भूषणों का उपयोग नहीं किया है ऐसा (भूषण का अनुपयोक्ता अर्थात् उपयोग न करने वाला)। आभरणविनियोगम् - आभरणस्य विनियोगम् ष०त०- विनियोग - वि+नि+युज्+घञ् = आभूषण का उपयोग (आभूषण न पहनना - पहनाना)। चित्रकर्मपरिचयेन - चित्रस्य कर्म तस्मिन् तस्य वा परिचय:तेन (तृ०त०) = चित्रकला से प्राप्त परिचय ज्ञान के द्वारा।

दोनों सखियाँ—अरे, यह जन (शकुन्तला हमीं लोगों की भाँति) आभूषण का अनुपयोक्ता (उपयोग न करने वाला) है। (फिर भी) चित्रकला से प्राप्त परिचय (ज्ञान) के आधार पर हम तुम्हारे अङ्गों में आभूषण पहना देती हैं।

शकुन्तला—जाने वां नैपुणम् । (जाणे वो णेउणं ।)

व्याकरण एवं शब्दार्थ—नैपुणम् – निपुणस्य भावः – निपुण+अण् = दक्षता, कुशलता को । वाम् = तुम दोनों की । 'युस्मद्' शब्द का षष्ठी। द्वि०ब० अन्वादेश – 'वाम्' है ।

शकुन्तला—मैं तुम दोनों की (आभूषण पहनाने की) दक्षता को जानती हूँ ।

(उभे नाट्येनालङ्कुरुतः । ततः प्रविशति स्नानोत्तीर्वः काश्यपः)

टिप्पणी—(१) **वनस्पतिसेवां निवेदयावः** – वृक्षों आदि के द्वारा आभूषण आदि को ब्रह्मचारी कृपा न मानकर सेवा मानते हैं। उससे कण्व का प्रभावातिशय द्योतित होता है। (२) चित्रकर्मपरिचयेन – इसके दो अर्थ हो सकते हैं १. स्वयं चित्रकला में परिचित होने के कारण २. दूसरों के द्वारा बनाये गये चित्रों में पहनाये गये आभूषणों के आधार पर। (३) उस समय चित्रकला का ज्ञान कराया जाता था। शकुन्तला की सखियाँ भी चित्रकला की जानकारी रखती हैं।

(दोनों अभिनय के साथ आभूषण पहनाती हैं। तत्पश्चात् स्नान कर लौटे हुये कण्व प्रवेश करते हैं।)

काश्यपः— कण्व—

यास्यत्यद्य शकुन्तलेति हृदयं संस्पृष्टमुत्कण्ठया
कण्ठः स्तम्भितवाष्पवृत्तिकलुषश्चिन्ताजडं दर्शनम् ।
वैक्लव्यं मम तावदीदृशमिदं स्नेहादरण्यौकसः
पीड्यन्ते गृहिणः कथं नु तनयाविश्लेषदुःखैर्नवैः ।। ६ ।।

(इति परिक्रामति) ।

अन्वय—अद्य शकुन्तला यास्यति इति हृदयम् उत्कण्ठया संस्पृष्टम् , कण्ठः स्तम्भितवाष्पवृत्तिकलुषः, दर्शनं चिन्ताजडम् , अरण्यौकसः मम तावत् स्नेहात् ईदृशम् इदं वैक्लव्यम् , गृहिणः नवैः तनयाविश्लेषदुःखैः कथं नु पीड्यन्ते ।

शब्दार्थ—अद्य = आज । शकुन्तला = शकुन्तला । यास्यति = (चली) जायेगी । इति = इसलिये । हृदयम् = हृदय । उत्कण्ठया = उत्कण्ठा से (चिन्ता से) । संस्पृष्टम् = संस्पृष्ट हो गया है (भर गया है) । कण्ठः = कण्ठ । स्तम्भितवाष्पवृत्तिकलुषः = रोके गये अश्रु-प्रवाह से कलुष (पूरित, रुँधा हुआ) है । दर्शनम् = (मेरी) दृष्टि । चिन्ताजडम् = चिन्ता के कारण जड़ (निश्चेष्ट) । अरण्यौकसः = जङ्गल ही है घर जिसका ऐसे (वनवासी) । मम = मेरी । तावत् = भी । स्नेहात् = स्नेह (प्रेम) के कारण । ईदृशम् = ऐसी । इदम् = यह । वैक्लव्यम् = विकलता (व्याकुलता) । गृहिणः = गृहस्थ । नवैः = नये । तनयाविश्लेषदुखैः = पुत्री के वियोग के दुःख से । कथं नु = क्यों न । पीड्यन्ते = पीड़ित होते होंगे (अर्थात् गृहस्थ तो पुत्री वियोग से और अधिक दुःखी होते होंगे) ।

अनुवाद—आज शकुन्तला (पति के घर) चली जायेगी, इसलिये (मेरा) हृदय उत्कण्ठा (तीव्र वेदना) से भर गया है । अवरुद्ध अश्रु-प्रवाह से कण्ठ रुँध गया है (अर्थात् बहते हुये आँसुओं को रोकने से रुँध गया है)। (मेरी) दृष्टि चिन्ता के कारण जड़ (निश्चेष्ट) (हो गयी है)। (पुत्री शकुन्तला के प्रति) स्नेह के कारण मेरे जैसे वनवासी की ऐसी व्याकुलता (है तब) गृहस्थ लोग नये (पहली बार होने वाले) पुत्री के वियोग जनित दुःख से क्यों न पीड़ित होते होंगे ? (चारों ओर घूमते हैं) ।

संस्कृत व्याख्या—**अद्य** – अस्मिन्नहनि, **शकुन्तला** – मम पुत्री, **यास्यति** – पति गृहं गमिष्यति, **इति** – हेतोः, **हृदयं** – मम मनः, **उत्कण्ठया** – चिन्तया (दुःखेन), **संस्पृष्टं** – समाक्रान्तं (वर्तते), **कण्ठः** – गलः, **स्तम्भितवाष्पवृत्तिकलुषः** – स्तम्भिता अवरूद्धा या वाष्पवृत्तिः अश्रुप्रसरः तया कलुषः विकृतः (नातोऽगत्ति), **दर्शनं** – लोचनम् , **चिन्ताजडं** – चिन्तया शकुन्तलावियोग ध्यानेन जडं विषयग्रहणाक्षमम् (अस्ति), **अरण्यौकसः** – वनवासिनः, **मम** – तावत् कण्वस्य अपि, **स्नेहात्** – पुत्रीप्रेमभवात्, **ईदृशम्** – एतादृशम् , **इदम्** – एतत्, **वैक्लव्यं** – विह्वलता जातेतिशेषः, **गृहिणः** – गृहस्थाः, **नवैः** – नूतनैः, प्रथमोत्पन्नैरित्यर्थः, **तनयाविश्लेषदुःखैः** – तनयायाः कन्यायाः विश्लेषदुःखैः वियोगकष्टैः, **कथं नु पीड्यन्ते** – कथं न व्याकुलीक्रियन्ते- नितरां पीड्यन्ते इत्यर्थः ।

संस्कृत-सरलार्थः—'स्वपुत्र्याः शकुन्तलाया भाविवियोगस्मरणमात्रेणैव शोकविह्वलः कण्वो वदति यत् अद्य मम तनया शकुन्तला पतिगृहं गमिष्यतीतिस्मरणेनैव मम चित्तं चिन्ताकुलं विद्यते अवरुद्धा श्रुवेगेन कण्ठो विकृतो जातोऽस्ति, मादृशो वनवासिनश्चेत् पुत्रीवियोग एतादृशी विह्वलता तदा गृहस्थानां तनयाविश्लेषे कीदृशी भवेदिति वक्तुं न पार्यत' इति ।

व्याकरण—यास्यति – या+लृट्+प्र०पु०ए०व० । उत्कण्ठया – उत्+कण्ठ+अ +टाप्+तृ०ए०व० । संस्पृष्टम् – सम्+स्पृश्+क्त । स्तम्भितवाष्पवृत्तिकलुषः – स्तम्भिता वाष्पवृत्तिः (कर्म०) तया कलुषः (तत्पु०) । चिन्ताजडम् – चिन्तया जडम् (तत्पु०) । दर्शनम् – दृश्+ल्युट् । अरण्यौकसः – अरण्यम् ओकः यस्य तस्य (बहु०) । स्नेहात् – हेतु अर्थ में पञ्चमी । तनयाविश्लेषदुःखैः – तनयायाः विश्लेषस्य दुःखैः (तत्पु०) । विश्लेष–वि+शिलष्+घञ् ।

कोष—'उत्कण्ठोत्कलिके समे' इत्यमरः । 'कण्ठः शब्देऽन्तिके गले' इत्यमरः ।

रस—इस श्लोक में कण्व का वात्सल्य अत्यन्त आहत है । जिस शकुन्तला को शैशवस्था में लाकर, उन्होंने अपने सान्निध्य एवं संरक्षण में पाला-पोषा था, आज वह पहली बार पतिगृह को जा रही है अतः उनकी करुणा फूट पड़ी है करुण (वात्सल्य) के परिपाक की दृष्टि से यह श्लोक अत्युत्तम है ।

अलङ्कार—(१) यहाँ 'पीड्यन्ते गृहिणः... नवैः' ये गृहस्थों के पुत्रीवियोगजनित दुःख को अधिक बताने से **व्यतिरेक** अलङ्कार है । ल०द्र० १/२३ श्लो० । (२) 'वैक्लव्य' रूप कार्य के प्रति 'उत्कण्ठा' रूप एक कारण के होने पर भी कण्ठकलुषत्वरूप कारणान्तर का उल्लेख होने से **समुच्चय** अलङ्कार है । ल०द्र० २/५ श्लो० । (३) 'यास्यत्यद्य शकुन्तलेति' में 'इति' शब्द के प्रयोग से कण्व की व्यथा के हेतु-कथन से **हेतु** अलङ्कार है । (४) यहाँ कण्व की विकलता का कारण 'उत्कण्ठा' को बताया गया है अतः **काव्यलिङ्ग** अलङ्कार है । ल०द्र० १/४ श्लो० । (५) यहाँ **श्रुत्यनुप्रास** और **वृत्त्यनुप्रास** की भी स्थिति है ।

छन्द—श्लोक में **शार्दूलविक्रीडित** छन्द है । ल०द्र० १/१४ श्लो० ।

टिप्पणी—(१) काव्यों में नाटक को तथा नाटको में 'अभिज्ञानशाकुन्तल' को श्रेष्ठ माना जाता है । शाकुन्तल में भी चतुर्थ अङ्क के जिन चार श्लोकों को उत्तम माना जाता है- **'तत्र श्लोकचतुष्टयम्'**, – उनमें यह **(यास्यत्य)** श्लोक भी हैं । इस श्लोक में वीतरागी होने पर भी मुनि कण्व के पुत्री-वियोग जमित व्यथा का अति चारु वर्णन है । धर्मपुत्री (पालिता पुत्री) शकुन्तला के प्रति उनका निरतिशय स्नेह भाव है इसीलिये वे उसके भावी वियोग की व्यथा से व्यथित हैं ।

(२) श्लोक के चतुर्थ चरण में **तनयाविश्लेषदुःखैःर्नवैः** 'तनयाविश्लेषदुःख' के लिये 'नवैः' इस विशेषण का प्रयोग सारगर्मित है। संसार में कन्या का नया (प्रथम) वियोग उसके माता-पिता के लिये असह्य वेदना का कारण होता है। शकुन्तला के धर्मपिता कण्व विरागी होने पर भा जब अपनी पुत्री के प्रथम वियोग से इतने विरहकातर हैं तब गृहस्थ माता-पिता का क्या कहना है ? विशेष के लिये भूमिका का पृ० ४०-४१ द्रष्टव्य है।

सख्यौ—हला शकुन्तले, अवसितमण्डनाऽसि। परिधत्स्व साम्प्रतं क्षौमयुगलम्। (हला सउन्दले, अवसिदामण्डणासि। परिधेहि संपदं खोमजुअलं।)

व्याकरण एवं शब्दार्थ—अवसितमण्डना – अवसितं समाप्तं मण्डनं भूषणं यस्याः सा = समाप्त हो गया है मण्डन (श्रृङ्गार-सजावट) जिसका (ऐसी तुम), अर्थात् (तुम सुसज्जित (सुमण्डित) हो गयी हो)। परिधत्स्व – परि+धा (आत्मने पद) लोट्+मध्यम पुरुष ए०व० = पहन लो। क्षौमयुगलम् – दो रेशमी वस्त्रों को।

दोनों सखियाँ—सखी शकुन्तला, (तुम) प्रसाधन से परिपूर्ण हो गयी हो (अर्थात् तुम्हारा श्रृङ्गार (सजावट) पूरा हो गया है)। अब (इन) दो रेशमी-वस्त्रों को पहन लो।

टिप्पणी—कर्म में एक वस्त्र के पहनने का निषेध है – 'नैकवासोधरस्तथा'। अतः शकुन्तला के पतिगृहगमन रूप वैध (विधिसम्मत) कर्म में उसे दो वस्त्र धारण कराये गये हैं।

(शकुन्तलोत्थाय परिधत्ते)

(शकुन्तला उठकर पहनती है)।

गौतमी—जाते, एष ते आनन्दपरिवाहिणा चक्षुषा परिष्वजमान इव गुरुरुपस्थितः। आचारं तावत् प्रतिपद्यस्व। (जादे, एसो दे आणन्दपरिवाहिणा चक्खुणा परिस्सजन्तो विअ गुरूउवट्ठिदो। आआरं दाव पडिवज्जस्स।)

व्याकरण एवं शब्दार्थ—आनन्दपरिवाहिणा – आ+नन्द्+घञ् – आनन्दः तं साधु परिवाहयति – इति आनन्दपरिवाही – आनन्द+परि+वह+णिच्+णिनि तेन = आनन्द को बहाने वाले। यह पद चक्षुषा का विशेषण है। कहीं-कहीं 'आनन्दाश्रुपरिवाहिणा' यह पाठ है उसका अर्थ होगा आनन्दाश्रु बहाने वाले नेत्र से। परिष्वजमानः – परि+स्वज्ज+शानच् = मानो (तुम्हें) गले लगाते हुये। आचारम् – आ+चर्+घञ् – द्वि०ए०व० = (प्रणामादि) शिष्टाचार को। प्रतिपद्यस्व – प्रति+पद्+लोट्+म०पु०ए०व० = सम्पन्न करो।

गौतमी—बेटी, आनन्द को प्रवाहित करने वाली दृष्टि से मानो (तुम्हें) गले लगाते हुये ये तुम्हारे पिता (गुरु) कण्व उपस्थित हैं। अतः शिष्टाचार का पालन करो।

शकुन्तला—(सव्रीडम्) **तात, वन्दे।** (ताद, वन्दामि)।

शकुन्तला—(लज्जा के साथ) पिताजी, मैं प्रणाम कर रही हूँ।

टिप्पणी—यहाँ आचार से अभिप्राय प्रणाम से है। गौतमी शकुन्तला से पिता कण्व को प्रणाम करने का निर्देश दे रही हैं। बड़े के मिलने या उसके आने पर उठकर (विनत होकर) प्रणाम करना शिष्टाचार के अन्तर्गत आता है। मनुस्मृति में कहा गया है कि अपने बड़ों का अभिवादन तथा नित्य उनकी सेवा करने वाले की आयु, विद्या, यश एवं बल बढ़ता है—

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम् ॥

काश्यपः—वत्से,

कण्व—बेटी,

ययातेरिव शर्मिष्ठा भर्तुर्बहुमता भव।
सुतं त्वमपि सम्राजं सेव पूरुमवाप्नुहि ।। ७ ।।

अन्वय—शर्मिष्ठा ययातेः इव भर्तुः बहुमता भव, सा पूरुम् इव त्वम् अपि सम्राजं सुतम् अवाप्नुहि।

शब्दार्थ—शर्मिष्ठा = शर्मिष्ठा। ययातेः इव = ययाति की भाँति। भर्तुः = पति की। बहुमता = माननीया, अति प्रिय (रानी)। भव = बनो। सा = उसने। पूरुम् इव = पूरु को जैसे (प्राप्त किया था)। त्वम् अपि = तुम भी। सम्राजम् = (उसी प्रकार) सम्राट्। सुतम् = पुत्र को। अवाप्नुहि = प्राप्त करो।

अनुवाद—शर्मिष्ठा (जिस प्रकार) ययाति की अत्यन्त प्रिय थी उसी प्रकार तुम भी (अपने) पति की अत्यन्त प्रिय होओ (बनो) और (शर्मिष्ठा) ने पूरु (नामक पुत्र) को (जैसे प्राप्त किया था) तुम भी (उसी प्रकार) सम्राट् पुत्र को प्राप्त करो।

संस्कृत व्याख्या—शर्मिष्ठा – वृषपर्वदुहिता, **ययातेः इव** – प्रसिद्धस्य राज्ञः इव, **भर्तुः** – पत्युः बहुमता भव – प्रियतमा भव, **सा** – शर्मिष्ठा, **पूरुम् इव** – पूरुनामानं पुत्रम् इव, **त्वम् अपि** – त्वं शकुन्तला अपि, **सम्राजं** – चक्रवर्तिनम् , **सुतं** – पुत्रम् , **अवाप्नुहि** – प्राप्नुहि।

संस्कृत-सरलार्थः—कण्वाशीर्वचनस्यायमभिप्रायः- यथा शर्मिष्ठा स्वपत्युर्ययातेरतिप्रियाऽऽसीत्, तथैव त्वं स्वभर्तुर्दुष्यन्तस्य प्रियतमा भव। यथा च सा (शर्मिष्ठा) सम्राजं पुत्रं पूरुं जनयामास, तथैव त्वमपि (त्वं शकुन्तलाऽपि) चक्रवर्तिनंतनयमाप्नुहि।

व्याकरण—बहुमता – बहु अधिकं यथा स्यात् तथा मता – बहु+मन्+क्त+टाप् = माननीया। सम्राजम् – सम्+राज्+क्विप् द्वि०ए०व० = सम्राट को। अवाप्नुहि – अव्+आप्+लो० द्वि०पु०ए०व० = प्राप्त करो। 'क्तस्य च वर्तमाने' सूत्र से 'भर्तृ' शब्द में षष्ठी (भर्तुः) हुई है।

अलङ्कार—इस श्लोक में पूर्णोपमा अलङ्कार है। उपमेय शकुन्तला है, उपमान शर्मिष्ठा है, पुत्रप्राप्ति, पतिप्रेम प्राप्ति आदि साधारण धर्म हैं एवं 'इव' वाचक शब्द हैं। उपमा का ल०द्र० १/५।

छन्द—श्लोक में **'अनुष्टुप्'** छन्द है। ल०द्र० १/५ श्लो०।

टिप्पणी—(१) प्राचीन कथा के अनुसार दानवराज वृषपर्वा की पुत्री शर्मिष्ठा और वृषपर्वा के गुरु शुक्राचार्य की पुत्री देवयानी थी। एक बार भ्रेमवश देवयानी ने शर्मिष्ठा की साड़ी पहन ली थी जिससे कुपित होकर शर्मिष्ठा ने उसे अपमानित किया। अपमान से शुक्राचार्य क्रुद्ध हो गये । जिन्हें मनाने के लिये वृषपर्वा ने अपनी पुत्री शर्मिष्ठा को देवयानी की सेविका के रूप में दे दिया। देवयानी का विवाह जब चन्द्रवंशी ययाति के साथ हुआ तो सेविका के रूप में शर्मिष्ठा भी उसके साथ भेजी गयी। शर्मिष्ठा के सौन्दर्य पर मुग्ध होकर ययाति ने उसके साथ गान्धर्व

विवाह कर लिया। फलस्वरूप वह (शर्मिष्ठा) ययाति की विशेष प्रिय पात्र बन गयी। शर्मिष्ठा से 'पूरु' नामक पुत्र हुआ। देवयानी के पिता शुक्राचार्य ने ययाति के व्यवहार से कुपित होकर उन्हें वृद्ध होने का शाप दे दिया। पिता ययाति की इच्छा के अनुरूप उनके पाँच पुत्रों में से किसी ने अपने पिता की वृद्धता को नहीं लिया परन्तु पितृभक्त 'पूरु' ने पिता की वृद्धता अपने ऊपर ले ली। पितृभक्ति के फलस्वरूप ही वह पुरुवंश का संस्थापक सम्राट् हुआ। (२) कण्व के इस आशीर्वादमूलक श्लोक की महत्ता इस बात में है कि उसमें औपम्य विधान अतिशय चारु एवं सार्थक है—(क) शर्मिष्ठा का ययाति के साथ गान्धर्व विवाह हुआ था उसी प्रकार शकुन्तला का भी दुष्यन्त के साथ गान्धर्व विवाह हुआ। (ख) शकुन्तला जिस प्रकार 'दुष्यन्त' की अनेक रानियों के मध्य राजा को अधिक प्रिय थी, उसी प्रकार ययाति की दो रानियों में शर्मिष्ठा उन्हें अधिक प्रिय थी। (ग) शर्मिष्ठा ने सम्राट पुत्र 'पूरु' को जन्म दिया था, उसी प्रकार शकुन्तला ने 'भरत' नामक सम्राट् (पुत्र) को जन्म दिया। (३) **सम्राजम्** – मनुस्मृति में सम्राट् का यह लक्षण दिया गया है—

येनेष्टं राजसूयेन मण्डलस्येश्वरश्च यः। शास्ति यश्चाज्ञया राज्ञः स सम्राट् (अथ राज कम्) अर्थात् जिसने राजसूय यज्ञ किया हो, जो मण्डल का स्वामी हो और जो राजाओं को जीतकर उनके ऊपर शासन करता है, वह सम्राट् कहा जाता है। अमरकोष की रामाश्रयी टीका के अनुसार तीन लोग सम्राट पद के अधिकारी हैं—१. राजसूय यज्ञ करने वाला – 'राजसूययज्ञकर्त्ता सम्राट्', २. द्वादश राजमण्डल का स्वामी – 'द्वादश राजमण्डलस्येश्वरोऽपि सम्राट्', ३. सब राजाओं का शासक – 'सर्वनृपतीनां शासकोऽपि सम्राट्'। (४) इस श्लोक में इष्ट की उपलब्धि होने के कारण **'क्रम'** नामक गर्भ सन्धि का अङ्ग है लक्षण – 'तत्त्वोपलब्धिरिष्टस्य क्रम इत्यभिधीयते'। (५) 'सम्राट् पुत्र' का आशीर्वाद दिये जाने से **'आशीः'** नामक नाटकीय अलङ्कार है। लक्षण – आशीरिष्टजनाशंसा।'

गौतमी—भगवन्, वरः खल्वेषः। नाशीः। (भअवं, वरो क्खु एसो। ण आसिसा)।

गौतमी—भगवान्, निश्चय ही यह वरदान है, (केवल) आशीर्वाद ही नहीं।

टिप्पणी—'वरः खल्वेषः। नाशीः'। 'ययातेरिव...' कण्व के इस कथन के विषय में गौतमी शकुन्तला से कहती है कि पिता का वचन 'वर' है न कि 'आशीः'। वर एवं 'आशीः' में अन्तर होता है। व्याकरणतन्त्र में आशीः का विवेचन इस प्रकार है—'अप्राप्त प्रार्थनमाशीः परस्येष्टार्थ शंसनं वा' अर्थात् अप्राप्त (अभीष्ट) की प्रार्थना अथवा दूसरे के अभीष्ट का कथन आशीः कहलाता है। इस प्रकार आशीः के सर्वांशतः सत्य होने की स्थिति नहीं होती परन्तु 'वर' की सत्यता अपरिहार्य होती है। ऋषि, मुनि, देवता आदि महान् लोगों के द्वारा दिया हुआ वर कभी असत्य नहीं होता क्योंकि अर्थ उनकी वाणी का अनुगमन करते हैं। वे जो वाणी (शब्द) बोल देंगे उसी के अनुरूप अर्थ उपस्थित हो जाते हैं—भवभूति ने उत्तररामचरित में कहा भी है—

लौकिकानां हि साधूनार्थं वागनुवर्तते।
ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति॥

अर्थात् लौकिक पुरुषों की वाणी (शब्द) अर्थ का अनुगमन करती है इसके विपरीत आद्य ऋषियों आदि की वाणी का अर्थ अनुगमन करते हैं। गौतमी के कहने का यह अभिप्राय है कि शकुन्तला महर्षि कण्व की वाणी को आशीर्वाद न समझ कर 'वर' समझे क्योंकि वह निश्चित ही सर्वतः सत्य होगा।

काश्यप—वत्से, इतः सद्यो हुतानग्नीन् प्रदक्षिणीकुरुष्व । (सर्वे । परिक्रामन्ति) ।

व्याकरण एवं शब्दार्थ—सद्यो हुतान् अग्नीन् - सद्यः = अभी । हुतान् = हवन की गयी । अग्नीन् = अग्नियों को ।

कण्व—बेटी, अभी हवन की गयी अग्नि की इधर से प्रदक्षिणा करो । (सभी प्रदक्षिणा करते हैं) ।

काश्यपः—(ऋक्छन्दसाऽऽशास्ते) **वत्से,**

कण्व—(ऋग्वेद के छन्द में निर्मित श्लोक से आशीर्वाद देते हैं) बेटी,

अमी वेदिं परितः क्लृप्तधृष्ण्याः समिद्वन्तः प्रान्तसंस्तीर्णदर्भाः ।
अपघ्नन्तो दुरितं हव्यगन्धैर्वैतानास्त्वां वह्नयः पावयन्तु ।। ८ ।।

अन्वय—वेदिं परितः क्लृप्तधिष्ण्याः समिद्वन्तः प्रान्तसंस्तीर्णदर्भाः वैतानाः अमी वह्नयः हव्यगन्धैः दुरितम् अपघ्नन्तः त्वां पावयन्तु ।

शब्दार्थ—वेदिं = वेदी के । परितः = चारों ओर । क्लृप्तधिष्ण्याः = जिनके लिये स्थान बनाया गया है (स्थापित की गयी) । समद्विन्तः = समिधाओं (लकड़ियों) से युक्त । प्रान्तसंस्तीर्णदर्भाः = जिनके किनारे (आस-पास) कुश बिछाये गये हैं । वैतानाः = यज्ञीय । अमी = ये । वह्नयः = अग्नियाँ । हव्यगन्धैः = हवन की गयी वस्तुओं (हवि) की सुगन्ध से । दुरितम् = पाप को । अपघ्नन्तः = दूर करती हुई । त्वाम् = तुमको । पावयन्तु = पवित्र करें ।

अनुवाद—वेदी के चारों ओर स्थापित की गयी समिधाओं (लकड़ियों) से युक्त (प्रज्वलित) और किनारे-किनारे बिछे हुये कुशों से युक्त यज्ञ की अग्नियाँ हवन की गयी वस्तुओं (हवि) की सुगन्ध से पाप को दूर करती हुईं तुम (शकुन्तला) को पवित्र करें ।

संस्कृत व्याख्या—वेदिं परितः - वेद्याः समन्तात् , **क्लृप्तधिष्ण्याः** - क्लृप्तं निर्मितं धृष्ण्यं स्नानं येषां तादृशाः, **समिद्वन्तः** - समिद् युक्तः, **प्रान्तसंस्तीर्णदर्भाः** - प्रान्तेषु उपान्तेषु पार्श्वभागेषु संस्तीर्णाः आकीर्णाः दर्भाः कुशाः येषां ते, **वैतानाः** - यज्ञीयाः, **अमी** - एते, **वह्नयः** - अग्नयः, **हव्यगन्धैः** - हवनीय द्रव्याणां गन्धैः, **दुरितं** - पापम् , **अपघ्नन्तः** - विनाशयन्तः, **त्वां** - शकुन्तलाम्, **पावयन्तु** - पवित्रतां (प्रापयन्तु) ।

संस्कृत-सरलार्थः—कण्वः - स्वपतिगृहं गच्छन्तीं स्वपुत्रीं शकुन्तलां यज्ञाग्निप्रदक्षिणीकरणे नियुज्य तस्याः - शुभाशंसनं कुर्वाणो ब्रूते 'वेदिं परितः स्थापिताः समिद्वन्तः पार्श्वभागविकीर्णकुशा यज्ञाग्नयस्त्वां हुतद्रव्यगन्धैः पापं नाशयन्तः पावयन्तु ।'

व्याकरण—वेदिं परितः - परितः के योग में द्वितीया । क्लृप्तधृष्ण्याः - क्लृप्तानि धृष्ण्यानि येषां ते (बहु०) । समिद्वन्तः - समिध्+मतुप् । प्रान्तसंस्तीर्णदर्भाः - प्रान्तेषु संस्तीर्णाः (सम्+तृ+क्त) दर्भाः येषां ते (बहु०) । अपघ्नन्तः - अप+हन्+शतृ प्र०ब०व० । बैतानाः वितानस्य यज्ञस्य इमे - वितान अण् प्र०बहु० । पावयन्तु - पू+णिच्+लोट् - प्र०पु०ब०व० ।

कोष—'धिष्ण्यं स्थाने गृहे भेऽग्नौ' - इत्यमरः ।

अलङ्कार—श्लोक में 'वह्नयः' के 'समिद्वन्तः' 'प्रान्तसंस्तीर्णदर्भाः' विशेषणों के साभिप्राय होने से **'परिकर'** अलङ्कार है । ल०द्र० १/२६ श्लो० ।

छन्द—यह श्लोक 'त्रिष्टुप्' नामक वैदिक छन्द में विरचित है । इसके प्रत्येक चरण में ११ वर्ण होते हैं और चतुर्थ एवं पञ्चम वर्ण पर यति होती है । कुछ विद्वान यहाँ 'वातोर्मि' तथा

'शालिनी' के मिश्रण से 'उपजाति' छन्द मानते हैं।

टिप्पणी—वह्नयः – अग्नि तीन प्रकार की होती है—(१) 'गार्हपत्य', (२) 'आहवनीय', (३) 'दाक्षिणात्य'। वेदी के पश्चिम भाग में स्थापित अग्नि 'गार्हपत्य' है, पूर्व भाग में स्थापित 'आहवनीय' है और (वेदी के) दक्षिण भाग में स्थापित दाक्षिणात्य है।

प्रतिष्ठस्वेदानीम्। (सदृष्टिक्षेपम्) **क्व ते शार्ङ्गरवमिश्राः।**

व्याकरण एवं शब्दार्थ—प्रतिष्ठस्व – प्रति+स्था+लोट् म०पु०ए०व० = प्रस्थान करो। 'स्था' धातु परस्मैपद है पर 'प्र' उपसर्ग के योग में 'समवप्रविभ्यः स्थः' सूत्र से आत्मनेपद हुआ है। सदृष्टिक्षेपम् – दृष्टेः क्षेपः दृष्टिक्षेपः तेन सह सदृष्टिक्षेपम् (अव्ययीभाव समास) = दृष्टिक्षेपपूर्वक अर्थात् दृष्टि घुमाकर।

अब प्रस्थान करो। (इधर-उधर दृष्टि डालकर) वे शार्ङ्गरव आदि कहाँ हैं ?

(प्रविश्य) **शिष्यः—भगवन्, इमे स्मः।**

(प्रवेश करके) **शिष्य**—भगवन्, ये हम लोग हैं।

व्याकरण एवं शब्दार्थ—स्मः=अस्+उ०पु०ब०व० = हैं।

काश्यपः—भगिन्यास्ते मार्गमादेशय।

कण्व—अपनी बहन शकुन्तला को मार्ग दिखाओ (बताओ)।

व्याकरण एवं शब्दार्थ—आदेशय – आ+दिश्+णिच् म०पु०ए०व० = दिखाओ (बताओ)।

शार्ङ्गरव—इत इतो भवती। (सर्वे परिक्रामन्ति)।

शार्ङ्गरव—आप इधर से, इधर से (आइये)। (सभी घूमते हैं)।

टिप्पणी—परपत्नी तथा असम्बद्ध स्त्री को 'भवती' 'सुभगे' तथा 'भगिनी' शब्द कह कर पुकारना चाहिये—परपत्नी तु या स्त्री स्यादसम्बन्द्धा तु योनितः। तां बूयात् भवतीत्येव सुभगे भगिनीति च॥

काश्यपः—भो भोः, सन्निहितास्तपोवनतरवः!

व्याकरण एवं शब्दार्थ—सन्निहिताः – सम्+धा+क्त (धा को हि) प्र०ब०व० = यह पद तपोवनतरवः का विशेषण है। तपोवनतरवः – तपोवनस्य तरवः तपोवनतरवः तत्सम्बुद्धौ तपोवनतरवः = तपोवन के वृक्षों।

कण्व—

हे, हे समीपस्थ तपोवन के वृक्षों,

पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु या
नादत्ते प्रियमण्डनाऽपि भवतां स्नेहेन या पल्लवम्।
आद्ये वः कुसुमप्रसूतिसमये यस्या भवत्युत्सवः
सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम् ॥ ९ ॥

अन्वय—युष्मासु अपीतेषु या प्रथमं जलं पातुं न व्यवस्यति, प्रियमण्डना अपि या भवतां स्नेहेन पल्लवं न आदत्ते, वः आद्ये कुसुमप्रसूतिसमये यस्याः उत्सवः भवति, सा इयं शकुन्तला पतिगृहं याति, सर्वैः अनुज्ञायताम्।

शब्दार्थ—युष्मासु = तुम (आप) लोगों के। अपीतेषु = बिना जल पिलाये। या = जो। प्रथमम् = पहले। जलम् = जल। पातुम् = पीने के लिये। न व्यवस्यति = (प्रयत्न) नहीं करती थी (प्रवृत्त नहीं होती थी)। प्रियमण्डना = प्रिय हैं अलङ्कार (मण्डन) जिसको ऐसी (आभूषण-प्रिया)। अपि = भी। या = जो। भवताम् = आप लोगों के। स्नेहेन = स्नेह (प्रेम) के कारण। पल्लवम् = नये पत्तों को। न = नहीं। आदत्ते = लेती थी (तोड़ती थी)। वः = तुम (आप) लोगों के। आद्ये = प्रथम। कुसुमप्रसूतिसमये = पुष्प निकलने के समय। यस्याः = जिसका। उत्सवः = उत्सव। भवति = होता था। सा = वह। इयम् = यह। शकुन्तला = शकुन्तला। पतिगृहम् = पति के घर (ससुराल)। याति = जा रही है। सर्वैः = सभी लोगों के द्वारा। अनुज्ञायताम् = अनुमति (स्वीकृति) दी जानी चाहिये (अर्थात् आप सभी लोग जाने की अनुमति दें)।

अनुवाद—तुम (आप) लोगों को जल पिलाये बिना जो पहले जल पीने के लिये प्रयास नहीं करती थी (अर्थात् आप लोगों को बिना सींचे जो जल नहीं पीती थी), आभूषण की प्रेमी होने पर भी जो आप लोगों के स्नेह के कारण (आप लोगों के) नये पत्तों को नहीं लेती (तोड़ती) थी, तुम (आप) लोगों के पहली बार पुष्प निकलने के समय जिसका उत्सव होता था (जो आनन्दित होती थी) वही यह शकुन्तला (अपने) पति के घर (ससुराल) जा रही है। (आप) सभी लोग (उसे) अनुमति (स्वीकृति) प्रदान करें।

संस्कृत व्याख्या—युष्मासु – भवत्सु तपोवनतरुषु, **अपीतेषु** – असिक्तेषु, **या** – शकुन्तला, **प्रथमं** – पूर्वम् , **जलं** – सलिलम् , **पातुं** – ग्रहीतुम् , **न व्यवस्यति** – न प्रवर्त्तते स्म, **प्रियमण्डना अपि** – आभूषणप्रियाऽपि, **या** – शकुन्तला, **भवतां** – तपोवनतरूणाम्, **स्नेहेन** – अनुरागेण, **पल्लवं** – किसलयम् , **न आदत्ते** – न गृह्णाति स्म, **वः** – युष्माकम् (भवताम्), **आद्ये** – प्रथमे, **कुसुमप्रसूतिसमये** – पुष्पोद्गमकाले, **यस्याः** – शकुन्तलायाः उत्सवः आनन्दः भवति जायते स्म सा इयं शकुन्तला-एतादृशी, **एषा शकुन्तला, पतिगृहं** – भतृभवनं, **याति** – गच्छति, **सर्वैः** – सकलैः युष्माभिः (भवद्भिः), **अनुज्ञायताम्** – अनुमन्यताम् पतिगृहगमनायेति शेषः।

संस्कृत-सरलार्थः—शकुन्तलाप्रस्थान-काले तपोवनवृक्षान् आमन्त्रयन् कण्वो वदति – या शकुन्तला युष्मासु (भवत्सु) अकृतजलसेकेषु पूर्वं जलं पातुं न यतते, स्म आभूषणप्रिया सत्यपि या भवतां स्नेहवशात् भवत्किसलयं न गृह्णाति स्म, भवतां प्रथमपुष्पोद्भवकाले यस्या आनन्दातिरेको जायते स्म, एतादृशी शकुन्तला (सम्प्रति) पतिभवनं गच्छति – अतो भवद्भिःसर्वैः पतिगृहगमनायानुमतिर्दीयताम्।

व्याकरण—अपीतेषु – पीतं पानम् अस्ति येषां ते पीताः मत्वर्थ में 'अर्श आदिभ्योऽच्' से अच्। न पीताः अपीताः तेषु = जिन्होंने जल नहीं पिया है। यह पद 'युस्मासु' का विशेषण है। 'या' धातु सकर्मक है अतः कर्तृवाच्य में 'क्त' प्रत्यय न होने से अपेक्षित अर्थ नही हो सकता। अतः इस प्रकार की व्युत्पत्ति की जाती है। (२) दूसरे प्रकार से यह अर्थ हो सकता है – 'पीत' शब्द का पीत जल के लिये गौण प्रयोग मानकर यह अर्थ होगा – जिन्होंने जल नहीं पिया है। महाभाष्य में भी कहा गया है। 'अकारो मत्वर्थीयः। विभक्तमेषामस्तीति पीतमेषामस्तीति पीता अथवा उत्तरपदलोपो द्रष्टव्यः विभक्तधना विभक्त, पीतोदकाः पीताः कैवरमते गम्यमानस्या प्रयोग एव लोपोऽभिमतः। व्यवस्यति – वि+अव्+लट् प्र०पु०ए०व०। कुसुमप्रसूतिसमये कुसुमानां प्रसूतेः (प्र+सू+क्तिन् ष०त०)

समये (तत्पुरुष)। अनुज्ञायताम् – अनु+ज्ञा+यक्+लोट् प्र०पु०ए०व०। प्रियमण्डना – प्रियं मण्डनं यस्याः सा (ब०बी०)।

अलङ्कार—(१) अचेतन वृक्षों पर चेतन-व्यवहार (भ्रातृभावमूलक व्यवहार) का अरोप होने से **'समासोक्ति'** अलङ्कार है। ल०द्र० १/२३। (२) वृक्षों के किसलयों को न तोड़ने में – नादत्ते – स्नेहेन या पल्लवम् में वृक्षों के प्रति शकुन्तला का स्नेह कारण है अतः **'काव्यलिङ्ग'** अलङ्कार है। ल०द्र० १/४। (३) वृक्षों के प्रति शकुन्तला के स्नेहाधिक्य का प्रतिपादन करने के लिये प्रथम तीन चरणों में तीन कारणों का उल्लेख होने से **'समुच्चय'** अलङ्कार है। ल०द्र० १/४। (४) श्लोक में छेकानुप्रास, वृत्यनुप्रास की भी स्थिति है।

छन्द—श्लोक में **'शार्दूलविक्रीडित'** छन्द है। ल०द्र० १/१४ श्लो०।

टिप्पणी—(१) यह श्लोक शाकुन्तल के चतुर्थ अङ्क के चार उत्तम श्लोकों में परिगणित है। (२) इसमें अचेतन प्रकृति में चेतन जैसे व्यवहार की प्रतीति होने से दोनों के प्रगाढ (घनिष्ठ) सम्बन्ध का बोध होता है। कण्व द्वारा वृक्षों से शकुन्तला के पतिगृह-गमन के लिये अनुमति मांगना यह सिद्ध करता है कि उनके आश्रम में अचेतन वृक्ष भी चेतन की भाँति मान्य थे। (३) शकुन्तला का वृक्षों को सींचे बिना जलपान न करना, उसके आभूषण प्रिय होने पर भी वृक्षों से किसलयों को न तोड़ना और उनके प्रथम पुष्पोद्भव के अवसर पर उसके द्वारा उत्सव का मनाया जाना शकुन्तला के अतिशय प्रकृति प्रेम को प्रकट करता है। (४) प्रकृति-प्रेम के कारण शकुन्तला न केवल कण्व की ही पुत्री है अपितु वह आश्रम के वृक्षों आदि की भी (पुत्री-बहन) बन गयी है अतः उनसे अनुमति लेना आवश्यक है। (५) **प्रथमम्** – शकुन्तला प्रतिदिन (प्रातःकाल के समय) पहले वृक्षों को जल देती थी अर्थात् उन्हें सींचती थी तदनतर स्वयं जलपान में प्रवृत्त होती थी। प्रथमं का अभिप्राय यही है। वह दिन में पहली बार तभी जलपान करती थी जब वृक्षों को सींच लेती थी। उसका यह अभिप्राय नहीं है कि प्रत्येक बार स्वयं जल पीने से पूर्व वृक्षों को सींचती थी।

(कोकिलरवं सूचयित्वा)

(कोकिल के शब्द को (सुनने की सूचना देकर) अभिनयकर)

अनुमतगमना शकुन्तला तरुभिरियं वनवासबन्धुभिः।
परभृतविरुतं कलं यथा प्रतिवचनीकृतमेभिरीदृशम् ।।१०।।

अन्वय—इयं शकुन्तला वनवासबन्धुभिः तरुभिः अनुमतगमना, यथा कलं परभृतविरुतम् एभिः ईदृशं प्रतिवचनीकृतम्।

शब्दार्थ—इयम् = यह। शकुन्तला - शकुन्तला। वनवासबन्धुभिः = वनवास के साथी। तरुभिः = वृक्षों के द्वारा। अनुमतगमना = जिसको जाने के लिये अनुमति मिल गयी है ऐसी (जाने के लिये अनुमत हो गयी है)। यथा = जैसे कि (क्योंकि)। कलम् = मनोहर। परभृतविरुतम् = कोयल के शब्द (कूक) को। एभिः = इनके द्वारा। ईदृशम् = इस प्रकार। प्रतिवचनीकृतम् = प्रत्युत्तर बनाया गया है।

अनुवाद—इस शकुन्तला को वनवास के बन्धु (साथी) वृक्षों द्वारा (पतिगृह) जाने के लिये अनुमति मिल गयी है। क्योंकि मनोहर कोयल के शब्द (कूक) को इन (वृक्षों) के द्वारा इस

प्रकार प्रत्युत्तर बनाया गया है (अर्थात् इन वृक्षों ने कोयल की कूक द्वारा शकुन्तला को पतिगृह जाने के लिये प्रकारान्तर से अनुमति दे दी है)।

संस्कृत व्याख्या—इयम् – एषा; **शकुन्तला, वनवासबन्धुभिः** – तपोवनसहवासिभिः, **तरुभिः** – वृक्षैः, **अनुमतगमना** – अनुमतं स्वीकृतं गमनं पतिगृहं प्रति गमनं यस्याः सा; **यथा** – यतो हि, **कलं** – मधुरास्फुटम् , **परभृतविरुतम्** – कोकिलकूजितम् , **एभिः** – तरुभिः, **ईदृशम्** – एवं प्रकारेण, **प्रतिवचनीकृतं** – स्वोत्तरेण प्रकटितम् ।

संस्कृत-सरलार्थः—एषा शकुन्तला तपोवनसहवासिभिस्तरुभिः स्वीकृतप्रस्थाना, ततो हि मधुरं पिककूजितमेभिस्तरुभिरेवं प्रकारेण प्रत्युत्तरतां नीतम् ।

व्याकरण—वनवासबन्धुभिः – वनवासस्य बन्धुभिः (तत्पु०)। अनुमतगमना – अनुमतं गमनं यस्याः सा (बहु०)। परभृतविरुतम् – परभृतस्य विरुतम् (तत्पु०)। प्रतिवचनीकृतम् – प्रति+वचन+च्वि+कृ+क्त ।

कोष—'वनप्रियः परभृतः कोकिलः पिकः' इत्यमरः ।

अलङ्कार—(१) वनवासबन्धुभिः तरुभिः, में **रूपक** अलङ्कार है। यहाँ बन्धु एवं तरु में अभेदारोप है। लक्षण द्र० २/१६ । (२) कोयल की ध्वनि में वृक्षों के प्रत्युत्तरत्व का आरोप है जो प्रकृत (शकुन्तला-गमन) में उपयोगी है अतः **परिणाम** अलङ्कार है। लक्षण द्र० ३/३ श्लो० ।

छन्द—श्लोक में **अपरवक्त्र** छन्द है। उसका लक्षण है – ५/१ श्लो० ।

टिप्पणी—(१) **परभृत** – कोकिल को 'परभृत' इसलिये कहते हैं कि वह पर (अन्य) अर्थात् कौओं के द्वारा भृत अर्थात् पालित होता है। परैः (परेण वा) भृतः । कोयल वर्णसाम्य के कारण अपने छोटे बच्चों को कौओं के घोसलें में डाल देती है और कौअे अपना बच्चा समझ कर उसका पालन-पोषण करते हैं। बड़े होने पर बच्चे उड़ जाते हैं। आगे पञ्चम अङ्क में भी (श्लोक २२ में) अन्यैर्द्विजैः परभृताः खलु पोषयन्ति' तथा मृच्छकटिक में 'परभृत इव नीडे रक्षितो वायसीभिः' कहा गया है। (२) उत्तररामचरित में वृक्षों, मृगों आदि को बन्धु कहा गया है – ' यत्र द्रुमा अपि मृगा अपि बान्धवो मे' । (३) यात्रा में बायें पक्षी की ध्वनि, आगे पल्लवित वृक्ष और अनुकल बहने वाला पवन शुभ माना जाता है – वामे मधुर वाक् पक्षी वृक्षः पल्लवितोऽग्रतः । अनुकूलो वहन् वायुः प्रयाणे शुभशंसिनः ॥

(आकाशे)

(आकाश में)

रम्यान्तरः कमलिनीहरितैः सरोभि–
श्छायाद्रुमैर्नियमितार्कमयूखतापः ।
भूयात् कुशेशयरजोमृदुरेणुरस्याः
शान्तानुकूलपवनश्च शिवश्च पन्थाः ।। ११ ।।

अन्वय—अस्याः पन्थाः कमलिनीहरितैः सरोभिः रम्यान्तरः, छायाद्रुमैः नियमितार्कमयूखतापः, कुशेशयरजोमृदुरेणुः, शान्तानुकूलपवनः च शिवः च भूयात् ।

शब्दार्थ—अस्याः = इसका (शकुन्तला का)। पन्थाः = मार्ग। कमलिनीहरितैः = कमनिनियों से हरे-भरे। सरोभिः = तालाबों से। रम्यान्तरः = रमणीय है मध्यभाग (अन्तर)

जिसका ऐसा (रमणीय मध्यभाग वाला)। छायाद्रुमैः = छाया (वाले) वृक्षों से। नियमितार्कमयूखतापः = नियन्त्रण (रोक दिया गया है) सूर्य की किरणों का ताप जिसमें ऐसा, सूर्य की किरणों के नियन्त्रित (कम) ताप वाला। कुशेशयरजोमृदुरेणुः = कमलों के पराग से कोमल हो गयी है धूलि जिसकी ऐसा (कमलों के पराग से कोमल धूलि वाला)। शान्तानुकूलपवनः = शान्त और अनुकूल वायु वाला। च = और। शिवः = कलयाणकारी। भूयात् = हो।

अनुवाद—इस (शकुन्तला) का मार्ग कमलिनियों से हरे-भरे तालाबों के द्वारा रमणीय (मनोहर) मध्यभाग वाला (हो)। छाया वाले वृक्षों से नियन्त्रित सूर्य की किरणों के ताप वाला हो। कमलों के पराग से कोमल धूलि युक्त शान्त और अनुकूल वायु वाला एवं कल्याण कारी हो।

संस्कृत व्याख्या—अस्याः – पतिगृहगमनाय तत्परायाः शकुन्तलायाः, **पन्थाः** – भर्गृगृहप्रस्थानमार्गः, **कमलिनीहरितैः** – कमलिनीभिः पद्मलताभिः, **हरितैः** – हरितायमानैः (श्यामैः), **सरोभिः** – सरोवरैः, **रम्यान्तरः** – रम्यं मनोहरम् अन्तरं मध्यदेशो यस्य सः, **छायाद्रुमैः** – छायाप्रधाना द्रुमाः छाया द्रुमाः तैः छायाद्रुमैः छायावद्वक्षैः, **नियमितार्कमयूखतापः** – नियमितः निवारितः अर्कस्य सूर्यस्य मयूखानां किरणानां तापः ऊष्मा यस्मिन् सः, **कुशेशयरजोमृदुरेणुः** – कुशेशयानां कमलानां रजोभिः परागैः मृदवः कोमलाः रेणवः धूलयः यस्मिन् सः, **शान्तानुकूलपवनः च** – शान्तः मन्दः अनुकूलः गमनानुसारी पवनः वायुः यस्मिन् सः च, **शिवः च** – मङ्गलकरः च, भूयात् – भवतु।

संस्कृत-सरलार्थः—अस्मिन् श्लोके वनदेवताभिः शकुन्तलामार्गः तत्कृते सुखकरो मङ्गलकरश्च स्यादिति काम्यते। तस्याः मार्गः कमलिनीश्यामलैः सरोभिर्मनोहरमध्यभागः, छायाप्रधानतरुभिर्निग्रन्त्रित-सूर्यकिरणतापः कमलपरागकोमलधूलिकणयुक्तः, मन्दानुकूलवायुसंयुतो माङ्गल्यकरश्च भूयादिति संक्षिप्तोऽर्थः।

व्याकरण—कमलिनीहरितैः – कमलिनीभिः हरितैः (तत्पु०)। रम्यान्तरः – रम्यम् अन्तरं यस्य सः (बहु०) रम्यं रम्+यत्, रम्यतेऽत्र। छायाद्रुमैः – छायाप्रधानाः द्रुमाः छायाद्रुमाः तैः (शाकपार्थिवादिवत् तत्पु०)। नियमितार्कमयूखतापः – नियमितः अर्कस्य मयूखानां तापः यस्मिन् सः (बहु०)। कुशेशयरजोमृदुरेणुः – कुशेशयानां रजोभिः मृदवः रेणवः यस्मिन् सः (बहु०) कुशे जले शेरते इति कुशेशयानि कुशे+शी+अच् – 'शयवासवासिष्वकालात्' सूत्र से सप्तमी का अलुक्। शान्तानुकूलपवनः – शान्तः अनुकूलः पवनः यस्मिन् सः (बहु०)।

कोष—'वा पुंषि पद्मं नलिनमरविन्दं महोत्पलम्। सहस्रपत्रं कमलं शतपत्रं कुशेशयम्' इत्यमरः।

अलङ्कार—(१) यहाँ 'कमलिनीहरितैः' में 'तद्गुण' अलङ्कार है क्योंकि सरोवरों ने अपने स्वाभाविक रङ्ग को छोड़कर कमलिनियों के रङ्ग को ग्रहण कर लिया है। तद्गुण का लक्षण है— 'तद्गुणः स्वगुणत्यागादत्युत्कृष्टगुणग्रहः (सा०द०)। (२) यहाँ मार्ग और वायु दोनों मङ्गलकारी और शिव से सम्बन्धित हैं अतः **तुल्ययोगिता** अलङ्कार है। ल०द्र० ३/१७। (३) कुशेशयरजोमृदुरेणुरस्याः – (कुशेशयानां रजंसीव मृदवे रेणवो यस्य सः) में समासगा वाचक-लुप्तोपमा अलङ्कार है। ल०दु० १/५। (४) श्लोकगत रम्यान्तरः आदि विशेषणों के साभिप्राय होने से **परिकर** अलङ्कार है। ल०द्र० १/२६। (५) 'कमलिनीहरितैः' आदि कारणों के कथन से **'काव्यलिङ्ग'** अलङ्कार है। ल०द्र० १/४। (६) वायु और मार्ग दोनों परस्पर उपकारी हैं अतः

अन्योन्य अलङ्कार है। लक्षण – 'क्रियया तु परस्परं वस्तुनोर्जननेऽन्योन्यम्' का०प्र०।

छन्द—पद्य में **'वसन्ततिलका'** छन्द है। ल०द्र० १/८।

टिप्पणी—(१) **आकाशे** – यह तृतीय अङ्क के विष्कम्भक में 'आकाशे' से भिन्न है। यह देवताओं की आकाशवाणी है। यह नेपथ्य से कहा जाता है। प्रस्थान के समय आकाश- वाणी का होना शुभ माना जाता है। भरत के नाट्यशास्त्र में इसका लक्षण इस प्रकार दिया है— 'दूरस्थाऽऽभाषणं यतत्स्यादशरीरनिवेदनम्। परोक्षान्तरितं वाक्यं तदाकाशे निगद्यते' ना०शा०। (२) **शान्तानुकूलपवनश्च** – तीन प्रकार का वायु गुणयुक्त और अच्छा माना जाता है—१. शीतल, २. मन्द, ३. सुगन्ध। यहाँ वायु तीनों गुणों से युक्त है। वह छाया-वृक्षों से शीतल, शान्तानुकूल होने से मन्द एवं कमलों के सुगन्ध से युक्त है।

(सर्वे सविस्मयमाकर्णयन्ति)

(सभी लोग आश्चर्यपूर्वक सुनते हैं)।

गौतमी—जाते, ज्ञातिजनस्निग्धाभिरनुज्ञातगमनाऽसि तपोवनदेवताभिः। प्रणम भगवतीः। (जादे, ण्णादिजणसणिद्धाहिं अणुण्णादगमणासि तवोवणदेवदाहिं। पणम भअवदीणं।)

व्याकरण एवं शब्दार्थ—ज्ञातिजनस्निग्धाभिः – ज्ञातिजनवत् स्निग्धाभिः (त०) = बन्धुजनों की भाँति प्रेम करने वाली। अनुमतगमना – अनुमतं गमनं यस्याः सा (ब०ब्री०) = जिसका (पतिगृह) गमन अनुमत (स्वीकृत) हो गया है ऐसी।

गौतमी—बेटी, बन्धुजनों के समान प्रेम करने वाले तपोवन के देवताओं द्वारा तुम्हें (पतिगृह) जाने के लिये अनुमति (स्वीकृति) मिल गयी है। अतः देवताओं को प्रणाम करो।

शकुन्तला—(सप्रणामं परिक्रम्य। जनान्तिकम्) **हला प्रियंवदे, आर्यपुत्रदर्शनोत्सुकाया अप्याश्रमपदं परित्यजन्त्या दुःखेन मे चरणौ पुरतः प्रवर्तते।** (हला प्रिअंवदे, अज्जउत्तदंसणुस्सुआए वि अस्समपदं परिच्चअन्तीए दुक्खेण में चलणा पुरदो पवट्टन्ति।)

व्याकरण एवं शब्दार्थ—आर्यपुत्रदर्शनोत्सुकायाः – आर्यपुत्रस्य दर्शनम् आर्यपुत्रदर्शनम् (ष०त०), आर्यपुत्रदर्शने उत्सुकायाः (सह सुपा०) = आर्यपुत्र के दर्शन के लिये उत्सुक। परित्यजन्त्याः – परि+त्यज्+शशत् स्त्री ष०ए०ब० = छोड़ती हुयी।

शुन्तला—(प्रणाम करती हुई चारों ओर घूमकर। हाथ की ओट में) सखी प्रियंवदा, आर्यपुत्र (दुष्यन्त) के दर्शन के लिये उत्कण्ठित होने पर भी आश्रम-भूमि को छोड़ते हुए मेरे पैर दुःख के साथ (कठिनाई से) आगे की ओर बढ़ रहे हैं।

टिप्पणी—जनान्तिक का लक्षण द्र०।

प्रियंवदा—न केवलं तपोवनविरहकातरा सख्येव। त्वयोपस्थितवियोगस्य तपोवनस्यापि तावत् समवस्था दृश्यते। (ण केवलं तपोवणविरहकादरा सही एव्व। तुए उवट्ठिदविओअस्स तवोवणस्स वि दाव समवत्था दीसइ।)

व्याकरण एवं शब्दार्थ—तपोवनविरहकातरा – तपावनेन विरहः तेन कातरा – तृ०त० = तपोवन के वियोग से दुःखी। उपस्थितवियोगस्य – उपस्थितः वियोगः यस्य तस्य = सामने उपस्थित वियोग से युक्त।

प्रियंवदा—केवल सखी (तुम शकुन्तला) ही तपोवन के वियोग से व्याकुल (दुःखी) नहीं हो। तुम्हारे वियोग (विदाई) के समय उपस्थित होने के कारण तपोवन की भी (तुम्हारे) समान अवस्था दिखायी पड़ रही है—

उद्गलितदर्भकवला मृग्यः परित्यक्तनर्तना मयूराः।
अपसृतपाण्डुपत्रा मुञ्चन्त्यश्रूणीव लताः॥ १२॥

(उग्गलिअदब्भकवला मिआ परिच्चत्तणच्चणा मोरा।
ओसरिअपण्डुपत्ता मुअन्ति अस्सू विअ लदाओ॥)

अन्वय—मृग्यः उद्गलितदर्भकवलाः, मयूराः परित्यक्तनर्तनाः, लताः अपसृतपाण्डुपत्राः, अश्रूणि मुञ्चन्ति इव।

शब्दार्थ—मृग्यः = हरिणियाँ। उद्गलितदर्भकवलाः = जिन्होंने कुश के ग्रास (कवल) को उगल दिया है ऐसी (कुश के ग्रास को उगल देने वाली)। मयूराः = मयूर (मोर)। परित्यक्तनर्तनाः = जिन्होंने नृत्य (नाचना) छोड़ दिया है ऐसे। लताः = लतायें। अपसृतपाण्डुपत्राः = जिन्होंने पीले पत्तों को गिराया है। अश्रूणि = आँसुओं को। मुञ्चन्ति इव = मानों छोड़ (बहा) रही हैं।

अनुवाद—(तुम्हारे वियोग से दुःखी) हरिणियों ने कुश के ग्रास (कवल) को उगल दिया है, मयूरों (मोरों) ने नाचना छोड़ दिया है और लतायें पीले पत्तों को गिराकर (डालकर) मानों आँसुओं को बहा रही हैं।

संस्कृत-व्याख्या—**मृग्यः** – हरिण्यः, **उद्गलितदर्भकवलाः** – त्यक्तकुशग्रासाः, **मयूराः परित्यक्तनर्तनाः** – वर्जितनृत्यव्यापाराः, **लताः** – वल्लयः, **अपसृतपाण्डुपत्राः** – पतितपरिणतपत्राः, **अश्रूणि** – नेत्रजलानि, **मुञ्चन्ति इव** – त्यजन्ति इव।

संस्कृत-सरलार्थः—प्रियंवदा स्वप्रियसखीं शकुन्तलां तपोवनविरहकातरताया दशां वर्णयन्ती कथयति यत् सखि! इदानीं तव वियोगकाले मृग्यः कुशग्रासान् त्यजन्ति, मयूरा न नृत्यन्ति, लताः पाण्डुपत्राणि मुञ्चन्ति। मन्ये ताः पाण्डुपत्रत्यागव्याजेन स्वदुःखाश्रूणि एव त्यजन्ति।

व्याकरण—उद्गलितदर्भकवलाः – उद्गलितः दर्भाणां कवलः याभिः ताः (बहु०)। परित्यक्तनृत्याः – परित्यक्तं नृत्यं यैः ते (बहु०)। अपसृतपाण्डुपत्राः – अपसृतानि पाण्डूनि पत्राणि याभ्यः ताः (बहु०)।

रस-भाव—इस श्लोक में शकुन्तला के वियोगजनित कष्ट से पशु-पक्षियों की अतिशय व्यथा की अभिव्यक्ति से करुण रस की व्यञ्जना है।

कोष—'ग्रासस्तु कवलः पुमान्' इत्यमरः।

अलङ्कार—(१) इस पद्य में शकुन्तला के वियोग से उत्पन्न तपोवन की विह्वलतारूप कार्य का प्रतिपादन के लिये मृगियों द्वारा कुशों के ग्रास को उगल देने, मोरों द्वारा नाचना छोड़ देने तथा लताओं द्वारा अश्रुरूपी पीले पत्ते गिराने – इन तीन कारणों का कथन करने से **'समुच्चय'** अलङ्कार है। ल०द्र० २/१० श्लो०। (२) मुञ्चन्त्यश्रणीव – में लताओं के पीले पत्तों के गिरने में आँसुओं के गिरने की सम्भावना की गयी है अतः **क्रियोत्प्रेक्षा** अलङ्कार है। ल०द्र० १/१८ श्लो०। (३) मृगियों, मयूरों तथा लताओं पर बन्धुजनों के व्यवहार का आरोप होने से **समासोक्ति** अलङ्कार है। ल०द्र० १/२३।

छन्द—श्लोक में **आर्या** छन्द है। ल०द्र० १/२ श्लो०।

टिप्पणी—(१) इस श्लोक से शकुन्तला का पशु-पक्षियों एवं वनस्पतियों से अतिशय लगाव व्यञ्जित हो रहा है। शकुन्तला के वियोगजनित पीड़ा से मृगों द्वारा कुशों का ग्रास उगलना, मयूरों का नृत्य छोड़ देना तथा लताओं का आँसू बहाना उनका शकुन्तला के प्रति अन्यन्त अनुराग को प्रकट कर रहा है। इस श्लोक का कारुण्य भाव अपनी पराकाष्ठा को प्राप्त हो गया है। (इसी प्रकार का वर्णन कालिदास के रघुवंश में भी आया है—

नृत्यं मयूराः कुसुमानि वृक्षा दर्भानुपात्तान् विजहुर्हरिण्यः।
तस्याः प्रपन्ने समदुःखभावमत्यन्तमासीद् रुदितं वनेऽपि॥ १४/६९

शकुन्तला—(स्मृत्वा) **तात, लताभगिनीं वनज्योत्स्नां तावदामन्त्रयिष्ये।** (ताद, लताबहिणिअं वणजोसिणिं दाव आमन्तइस्सं।)

व्याकरण एवं शब्दार्थ—आ+मन्त्र+णिच्+लृट्+उ०पु०ए०व० = विदा लूँगी।

शकुन्तला—(याद करके) हे पिता जी, तो मैं अपनी लता-बहन वनज्योत्स्ना से विदाई ले लूं।

काश्यप—अवैमि ते तस्यां सोदर्यास्नेहम्। इयं तावद् दक्षिणेन।

व्याकरण एवं शब्दार्थ—अवैमि – अव+इण्+उ०पु०ए०व० = जानता हूँ। सोदर्यास्नेहम् – समाने उदरे शयिता इति समान+उदर+य प्रत्यय, समान को 'स' आदेश करने पर सोदर्य+टाप् = सोदर्या तथा स के अभाव में समानोदर्या रूप बनता है। सोदर्यायाः स्नेहम् = सगी बहन जैसा प्रेम को।

कण्व—मै जानता हूँ कि तुम्हारा उस पर सगी बहन-सा प्रेम है। तो यह (वनज्योत्स्ना) दाहिनी ओर है।

शकुन्तला—(उपेत्य लतामालिङ्ग्य) **वनज्योत्स्ने, चूतसङ्गताऽपि मां प्रत्यालिङ्गेतोगताभिः शाखाबाहुभिः। अद्यप्रभृति दूरपरिवर्तिनी ते खलु भविष्यामि।** (वणजोसिणि, चूदसंगता वि मं पच्चालिंग इदोगदाहिं। साहाबाहाहिं अज्जप्पहुदि दूरपरिवत्तिणी दे क्खु भविस्सं।)

व्या० एवं श०—चूतसङ्गता – चूतेन सङ्गता (तृ०त०) = आम्र से लिपटी हुई। प्रत्यालिङ्ग – प्रति+आलिङ्ग (यण्)। आ+लिङ्ग+लोट् म०पु०ए०व० = आलिङ्गन करो। इतोगताभिः = इधर फैली हुई। दूरपरिवर्तिनी – दूरे परिवर्तिनी – परि+वृत्+णिनि+ङीप् = दूर हो जाऊँगी।

शकुन्तला—(पास जाकर लता को गले से लगाकर) वनज्योत्स्ना, (अपने पति) आम से लिपटी हुई भी इधर फैली हुई शाखारूपी भुजाओं से मेरा आलिङ्गन कर लो (अर्थात् मुझसे गले मिल लो)। आज से मैं तुमसे दूर हो जाऊँगी।

कोष—'समानोदर्यसोदर्यसंगभर्यसहजाः समा' इत्यमरः।

काश्यपः—कण्व—

सङ्कल्पितं प्रथममेव मया तवार्थे
भर्तारमात्मसदृशं सुकृतैर्गता त्वम्।
चूतेन संश्रितवती नवमालिकेय-
मस्यामहं त्वयि च सम्प्रति वीतचिन्तः॥ १३॥

अन्वय—मया तवार्थे प्रथमम् एव सङ्कल्पितम् आत्मसदृशं भर्तारं त्वं सुकृतैः गता, इयं नवमालिका चूतेन संश्रितवती, सम्प्रति अहम् अस्यां त्वयि च वीतचिन्तः। (जातोऽस्मीति शेषः)।

शब्दार्थ—मया = मेरे द्वारा। तवार्थे = तुम्हारे लिये। प्रथमम् = पहले। एव = ही। सङ्कल्पितम् = सङ्कल्प (विचार) किया गया था। आत्मसदृशम् = अपने अनुरूप। भर्तारम् = पति को। त्वम् = तुम। सुकृतैः = पुण्यों से। गता = पा गयी। इयम् = यह। नवमालिका = नवमालिका (चमेली)। चूतेन = आम्र-वृक्ष से। संश्रितवती = मिल गयी हैं। सम्प्रति = अब। अहम् = मैं। अस्याम् = इसके विषय में। त्वयि च = और तुम्हारे विषय में। वीतचिन्तः = समाप्त हो गई है चिन्ता जिसकी ऐसा अर्थात् निश्चिन्त हो गया।

अनुवाद—मैने तुम्हारे लिये पहले से ही (जिसका) सङ्कल्प किया था। अपने अनुरूप (उस) पति को तुम (अपने) पुण्यों (भाग्य) से पा गयी हो। यह नवमालिका (भी) आम्र वृक्ष से मिल गयी है। अब मैं इसके और तुम्हारे विषय में चिन्ता से मुक्त (निश्चिन्त) हो गया हूँ।

संस्कृत-व्याख्या—मया – कण्वेन, **तवार्थे** – त्वदर्थे, **प्रथमम् एव** – पूर्वम् एव, **सङ्कल्पितं** – चिन्तितम्, **आत्मसदृशं** – स्वयोग्यम्, **भर्तारं** – स्वामिनम्, **त्वं** – शकुन्तला, **सुकृतैः** – पुण्यैः, **गता** – प्राप्ता, **इयम्** – एषा, **नवमालिका** – माधवीलता, **चूतेन** – आम्रेण, **संश्रितवती** – सम्मिलिता, **सम्प्रति** – इदानीम्, **अहं** – कण्वः, **अस्यां** – नवमालिकायाम्, **त्वयि च** – शुन्तलायां च, **वीतचिन्तः** – चिन्तामुक्तोऽस्मि।

संस्कृत-सरलार्थः—मया कण्वेन त्वां योग्य वराय दातुं पूर्वमेवाभिप्सितम्। भाग्यवशात्त्वं स्वानुरुपं पतिम् (दुष्यन्तम्) अवाप्तवती। इयं पुरतो दृश्यमाना नवमालिकाऽम्रस्य संयोगं गतवती। सम्प्रत्यहं त्वयि शकुन्तलायामस्यां नवमलिकायां च विशेषण निश्चिन्तो जातोऽस्मि।

व्याकरण—तवार्थे – तव+अर्थे – तवार्थे – यहाँ 'लिये' इस अर्थ में 'अर्थे' अव्यय है = तुम्हारे लिये। आत्मसदृशम् – आत्मनः सदृशम् (त०स०)। संश्रितवती – सम्+श्रि+क्त (भावे) – संश्रित+मतुप्+ङीप् – संश्रितम् अस्याः अस्तीति। वीतचिन्तः – वीता चिन्ता यस्य सः (ब०ब्री०)।

कोष—'आम्रश्चूतो रसालः' इत्यमरः।

अलङ्कार—(१) इस श्लोक में चूत (आम्रवृक्ष) एवं नवमालिका पर क्रमशः नायक-नायिका के व्यवहार का आरोप है अतः **'समासोक्ति'** अलङ्कार है। ल०द्र० १/२३ श्लो०। (२) यहाँ शकुन्तला एवं नवमालिका दोनों प्राकरणिक (प्रस्तुत) हैं और दोनों में सङ्गमन रूप एक धर्म का सम्बन्ध होने से **'तुल्ययोगिता'** अलङ्कार है। ल०द्र ३/१७ श्लो०। (३) शकुन्तला का अपने अनुरूप दुष्यन्त से तथा नवमालिका का अपने योग्य 'आम्र' से समागम का वर्णन होने से **'समालङ्कार'** है। **सम** का लक्षण है—'समं स्यादनुरूपेण श्लाघा योग्यस्य वस्तुनः।' (४) दोनों का अपने पतियों से मिलना कण्व की निश्चिन्तता का कारण है अतः **काव्यलिङ्ग** है।

छन्द—श्लोक में **'वसन्ततिलका'** छन्द है। ल०द्र० १/८ श्लो०।

टिप्पणी—महर्षि कण्व का पहले से ही यह सङ्कल्प (विचार) था कि उनकी पुत्री के लिये कोई योग्य वर मिले। सौभाग्यवश उनकी पुत्री के लिये योग्य वर दुष्यन्त मिल गये। इस प्रकार अव वे निश्चिन्त (वीतचिन्त) हो गये।

इतः पन्थानं प्रतिपद्यस्व।

व्या० एवं श०—प्रतिपद्यस्व – प्रति+पद्+लोट्+म०पु०ए०व० = प्राप्त करो – आ जाओ।

इधर से मार्ग पर आ जाओ।

शकुन्तला—(सख्यौ प्रति) **हला, एषा द्वयोर्युवयोर्हस्ते निक्षेपः।**

शकुन्तला—(दोनों सखियों से) सखियों, यह (लता) तुम दोनों के हाथ में (मेरी) धरोहर (निक्षेप) है।

सख्यौ—अयं जनः कस्य हस्ते समर्पितः। (अअं जणो कस्य हत्थे समप्पिदो।) (इति वाष्पं विहरतः)।

दोनों सखियाँ—यह जन किसके हाथ में सौंपा जा रहा है (अर्थात् हम दोनों को किसके हाथ में सौंप रही हो)। (दोनों आँसू बहाती हैं)।

काश्यपः—अनसूये, अलं रुदित्वा। ननु भवतीभ्यामेव स्थिरीकर्त्तव्या शकुन्तला। (सर्वे परिक्रामन्ति)।

व्या० एवं श०—अलं रुदित्वा – यहाँ निषेधार्थक 'अलम्' के योग में 'अलं खल्वोः प्रतिषेधयोः प्राचां क्त्वा' से क्त्वा प्रत्यय = मत रोओ। स्थिरीकर्त्तव्या – स्थिर्+च्वि+कृ+तव्यत्+टाप् = धैर्य बंधाना चाहिये।

कण्व—अनसूया, रोओ मत। आप दोनों द्वारा शकुन्तला को धैर्य बँधाना चाहिये। (सभी लोग चारो ओर घूमते हैं)।

शकुन्तला—तात, एषोटजपर्यन्तचारिणी गर्भमन्थरा मृगवधूर्यदाऽनघप्रसवा भवति, तदा मह्यं कमपि प्रियनिवेदयितृकं विसर्जयिष्यथ। (ताद, एषा उड अपज्जन्तचारिणी गब्भमन्थरा मअवहू जदा अणघप्पसवा होई तदा मे कंपि पिअणिवेदइत्तअं विसज्जइस्सह।)

व्या० एवं श०—उटजपर्यन्तचारिणी – उटजस्य पर्यन्ते चरतीति सा – चर् णिनि+ङीप् = कुटी के समीप विचरण करने वाली। गर्भमन्थरा – गर्भेण (गर्भस्य भारेण) मन्थरा तृ०त० = गर्भ के भार से शिथिल। अनघप्रसवा – अविद्यमानम् अघं यस्मिन् स अनघः (नञ् ब०ब्री०), अनघः प्रसवः यस्याः सा (ब०ब्री०) = निर्विघ्न (सकुशल) प्रसव वाली। प्रियनिवेदयितृकम् – प्रियं साधु निवेदयति इति – प्रिय+नि+विद्+णिच्+तृन्+क – द्वि०पु०ए०व० = प्रिय समाचार की सूचना देने वाले को। विसर्जयिष्यथ – वि+सृज्+णिच्+थ म०पु०ब०व० = भेजियेगा।

शकुन्तला—हे पिता जी, कुटी के समीप विचरण करने वाली (और) गर्भ के कारण मन्द गति वाली यह हरिणी (मृगवधू) जब निर्विघ्न (सकुशल) बच्चा पैदा करेगी तब (इस) प्रिय समाचार की सूचना देने वाले किसी व्यक्ति को मेरे पास भेजियेगा।

काश्यपः—नेदं विस्मरिष्यामः।

कण्व—इस (बात) को नहीं भूलूँगा।

शकुन्तला—(गतिभङ्गं रूपयित्वा) **को न खल्वेष निवसने मे सज्जते?** (को णु क्खु एसो णिवसणे मे सज्जइ?) (इति परावर्तते)।

व्या० एवं श०—निवसने = वस्त्र में। सज्जते – सस्ज+लट्+प्र०पु०ए०व० आत्मनेपद = लिपट रहा है।

शकुन्तला—(चलने में रुकावट का अभिनय कर) यह कौन मेरे वस्त्र में लिपट रहा है? (पीछे मुड़ती है)।

काश्यपः—वत्से,

कण्व—बेटी,

यस्य त्वया व्रणविरोपणमिङ्गुदीनां
तैलं न्यषिच्यत मुखे कुशसूचिविद्धे।
श्यामाकमुष्टिपरिवर्धितको जहाति
सोऽयं न पुत्रकृतकः पदवीं मृगस्ते।। १४ ।।

अन्वय—यस्य कुशसूचिविद्धे मुखे त्वया व्रणविरोपणम् इङ्गुदीनां तैलं न्यषिच्यत, सः अयं श्यामाकमुष्टिपरिवर्धितकः पुत्रकृतकः मृगः ते पदवीं न जहाति।

शब्दार्थ—यस्य = जिसके। कुशसूचिविद्धे = कुशों के अग्रभाग (नोक) से बिंधे हुये। मुखे = मुख में। त्वया = तुम्हारे द्वारा। व्रणविरोपणम् = घावों को भरने वाला। इङ्गुदीनाम् = इङ्गुदी (हिङ्गोट) का। तैलम् = तेल। न्यषिच्यत = लगाया गया था। सः = वह। अयम् = यह। श्यामाकमुष्टिपरिवर्धितक; = साँवा की मुट्ठियों (ग्रासों) से वर्धित (बड़ा किया गया)। पुत्रकृतकः = पुत्र की भाँति माना गया। मृगः = हरिण। ते = तुम्हारे। पदवीं = मार्ग को। न = नहीं। जहाति = छोड़ रहा है।

अनुवाद—जिसके कुशों के अग्रभाग (नोंक) से बिंधे हुये मुख में तुम्हारे द्वारा घावों को भरने वाला इङ्गुदी (हिङ्गोट) का तेल लगाया गया था, वही यह साँवा की मुट्ठियों (ग्रासों) को खिलाकर बड़ा किया गया (पाला गया) और (तुम्हारे द्वारा) पुत्र की भाँति माना गया हरिण तुम्हारे मार्ग को नहीं छोड़ रहा है।

संस्कृत व्याख्या—**यस्य** - मृगस्य, **कुशसूचिविद्धे** - कुशानां दर्भाणां सूचिभिः अग्रभागैः विद्धे क्षते, **मुखे** - आनने, **त्वया** - शकुन्तलया, **व्रणविरोपणं** - क्षतनाशकम् ; **इङ्गुदीनां** - तापसतरूणाम् , **तैलं** - स्नेहः, **न्यषिच्यत** - निषिक्तम् , **सः अयम्** - एषः, **श्यामाकमुष्टिपरिवर्धितकः** - श्यामाकानां तृणधान्यमुष्टिपरिपोषितः, **पुत्रकृतकः** - पुत्रवत् स्वीकृतः, **मृगः** - हरिणः, **ते** - तव, **पदवीं** - मार्गं, **न जहाति** - न परित्यजति।

संस्कृत-सरलार्थः—कुशाग्रक्षते यस्य मुखे त्वयां (शकुन्तया) व्रणविरोपणायेङ्गुदीतैलं निषिक्तं स एव त्वया श्यामाकमुष्टिं पोषितोऽयं मृगशावकस्ते मार्गं न त्यजतीतिभावः।

व्याकरण—कुशसूचिविद्धे - कुशानां सूचिभिः विद्धे (तत्पु०), विद्ध - व्यध+क्त-स०। व्रणविरोपणम् व्रणानां विरोपणम् (त०) - विरोपण - वि+रुह+णिच्+ल्युट् (करणे) रुहः पोऽन्यतरस्याम्-' सूत्र से ह के स्थान में प। न्यषिच्यत - नि+सिच् (कर्मवाच्य) लङ्। यहाँ पर 'प्राक्सितादड् व्यवायेऽपि' सुत्र से सिच् के 'स्' को 'ष' आदेश। श्यामाकमुष्टिपरिवर्धितकः - श्यामकानां मुष्टिमिः परिवर्धितः श्यामाकमुष्टिपरिवर्धितः उससे अनुकम्पा में 'कन्' प्रत्यय। पुत्रकृतकः - इसकी व्युत्पत्ति दो प्रकार से होती है—(१) कृतकः पुत्रः पुत्रकृतकः 'मयुरव्यंसकादयश्च' से समास होने के कारण 'कृतक' का बाद में प्रयोग हुआ है। (२) पुत्रः कृतः, पुत्रकृतः, सुप्सुपा से समास और स्वार्थ में 'कन्' (क) प्रत्यय। जहाति - 'हा' लट् प्र०पु०ए०व०।

कोष—'कृतकः स्यात् पुमान् कृष्णखर्परि चाप्यसम्भवे पुत्रभेदे कृत्रिमे च त्रिषु' शब्दाब्धिः।

अलङ्कार—यहाँ मृग के स्वभाव का वर्णन होने से **'स्वभावोक्ति'** अलङ्कार है।

छन्द—पद्य में **'वसन्ततिलका'** छन्द है। ल०द्र० १/८ श्लो०।

टिप्पणी—(१) इङ्गुदीवृक्ष के फल से मुनि लोग तेल निकालते थे। घाव को भरने के लिये भी उसका उपयोग होता था। शकुन्तला ने मृगशावक के मुख के घाव पर उसे ही लगाकर ठीक किया था। (२) श्यामाक – यह जंगलों का एक धान्यविशेष है, जिसका खाद्य के रूप में मुनि लोग उपयोग करते थे। शकुन्तला ने उसी के अन्न को मुट्ठी में भर-भर कर मृगशावक को खिलाकर उसे बड़ा किया था। (३) शकुन्तला के द्वारा पालित-पोषित वही मृगशावक अतिशय परिचित होने के कारण शकुन्तला के गमन-काल में उसके वस्त्र को पकड़कर उसे जाने से रोक रहा है।

शकुन्तला—वत्स, किं सहवासपरित्यागिनीं मामनुसरसि। अचिरप्रसूतया जनन्या विना वर्धित एव। इदानीमपि मया विरहितं त्वां तातश्चिन्तयिष्यति। निवर्तस्व तावत्। (वच्छ, किं सहवासपरिच्चाई मं अणुसरसि। अचिरप्पसुदाए जणणीए विणा वड्ढिदो एव्व। दाणिं पि मए विरहिदं तुमं तादो चिन्तइस्सदि। णिवत्तेहि दाव।) (इति रुदती प्रस्थिता)।

व्या० एवं श०—सहवासपरित्यागिनीम् – सहवासं परित्यजतीति – सह-वास+परि+त्यज्+घिनुण् (इन्) (सम्पृचानु० सूत्र से घिनुण्) ताम्। सह वासः – सहवासः सुप्सुपा समासः = सहवास छोड़ने वाली। अचिरप्रसूतया – अचिरं प्रसूता तया (कर्मधारय) = जन्म देने के बाद तुरन्त मरी हुई। चिन्तयिष्यति – चिन्त+णिच्+लृट्+प्र०पु०ए०व० = तुम्हारी चिन्ता (पालन-पोषण) करेंगे।

शकुन्तला—पुत्र ! साथ छोड़कर जाने वाली मेरे पीछे क्यों आ रहे हो। जन्म देकर तत्काल (मरी हुई) माता के बिना (भी) तुम पाले ही गये हो। अब भी मुझसे वियुक्त (छोड़े गये) तुमको पिता जी पालेंगे। (रोती हुई प्रस्थान करती है)।

काश्यपः— कण्व—

उत्पक्ष्मणोर्नयनयोरुपरुद्धवृत्तिं
वाष्पं कुरु स्थिरतया विरतानुबन्धम्।
अस्मिन्नलक्षितनतोन्नतभूमिभागे
मार्गे पदानि खलु ते विषमीभवन्ति।।१५।।

अन्वय—उत्पक्ष्मणोः नयनयोः उपरुद्धवृत्तिं वाष्पं स्थिरतया विरतानुबन्धं कुरु अलक्षितनतोन्नतभूमिभागे अस्मिन् मार्गे ते पदानि खलु विषमीभवन्ति।

शब्दार्थ—उत्पक्ष्मणो = जिनकी बरौनियाँ ऊपर को उठी हैं ऐसे (ऊपर की ओर उठी हुई बरौनियों वाले)। नयनयोः = नत्रों के। उपरुद्धवृत्तिम् = व्यापार को (दर्शनशक्ति) को रोकने वाले। वाष्पम् = आँसू को। स्थिरतया = धैर्यपूर्वक। विरतानुबन्धम् = रुक गया है प्रवाह जिसका ऐसा (रुके हुये प्रवाह वाला)। कुरु = करो। अलक्षितनतोन्नतभूमिभागे = जिसके ऊँचे-नीचे भूमि भाग नहीं दिखायी पड़ रहे हैं ऐसे, अदृष्ट ऊँचे-नीचे भूमिभाग वाले। अस्मिन् = इस। मार्गे = मार्ग में। ते = तुम्हारे। पदानि = पैर। खलु = निश्चय ही। विषमीभवन्ति = ऊँचे-नीचे हो रहे हैं (लड़खड़ा रहे हैं)।

अनुवाद—ऊपर की ओर उठी हुई बरौनियों वाले नेत्रों के व्यापार (दर्शनशक्ति) को रोकने वाले आँसुओं के प्रवाह को धैर्यपूर्वक रोको। (क्योंकि) अदृश्य (दिखाई न पड़ने वाले) भूमिभाग वाले इस मार्ग में तुम्हारे पैर निश्चय ही लड़खड़ा रहे हैं।

संस्कृत व्याख्या—उत्पक्ष्मणोः – उद्गतानि पक्ष्माणि रोमाणि ययोः तयोः, **नयनयोः** –

नेत्रयो:, **उपरुद्धवृत्तिम्** – उपरुद्धा प्रतिबद्धा वृत्ति: दर्शनशक्ति: येन तम् (प्रतिहतदर्शनशक्तिं), **वाष्पम्** – अश्रु, **स्थिरतया** – धैर्यावलम्बनेन, **विरतानुबन्धं** – संरुद्धप्रसरम् , **कुरु** – विधेहि, **अलक्षितनतोन्नतभूमिभागे** – अदृष्टसमविषमदेशे, **अस्मिन्** – एतस्मिन् , **मार्गे** – पथि, **ते** – तव, **पदानि** – चरणविन्यासा:, **खलु निश्चयेनविषमीभवन्ति** – नतोन्नता भवन्ति (स्खलन्ति)।

संस्कृत-सरलार्थ:—स्वपुत्रीं शकुन्तलां वदति कण्व: – पुत्रि! नयनयोर्दर्शन-शक्तिरोधकान्यश्रूणि रोधय। अदृष्टसमविषमप्रदेशेऽस्मिन् मार्गे ते चरणविन्यासा नतोन्नता भवन्ति।

व्याकरण—उत्पक्ष्मणो: उद्गतानि पक्ष्माणि ययो: तयो: (बहु०)। उपरुद्धवृत्तिम् – उपरुद्धा वृत्ति: येन तम् (बहु०)। विरतानुबन्धम् – विरत: अनुबन्ध: यस्य तम् (बहु०)। अलक्षितनतोन्नतभूमिभागे – अलक्षित: नत: उन्नत: भूम्या: भाग: यस्मिन् तस्मिन् (बहु०)। विषमीभवन्ति – विषम+च्वि+भू+लट् प्र०पु०ब०व०।

अलङ्कार—(१) पूर्वार्ध में वर्णित वाक्य के प्रति उत्तरार्ध में वर्णित वाक्य कारण (हेतु) है अत: यहाँ वाक्यार्थहेतुक **'काव्यलिङ्ग'** अलङ्कार है। ल०द्र० १/४ श्लो०। (२) इसी प्रकार 'पदानि विषमीभवन्ति' का हेतु 'नतोन्नतभूमिभागे' है अत: पदार्थहेतुक काव्यलिङ्ग भी है।

छन्द—**'वसन्ततिलका'** छन्द है। ल०द्र० १/८ श्लो०।

टिप्पणी—गमनकाल में शकुन्तला की आँखों में आँसू आ गये हैं। कण्व ऐसे आँसुओं को रोकने का आदेश इसलिये दे रहे हैं कि आँसुओं के कारण आँखों की दर्शनशक्ति रुक जाने से ऊँचे-नीचे मार्ग का ज्ञान न होने की दशा में शकुन्तला के पैर लड़खड़ा रहे हैं जो न गर्भिणी शकुन्तला की शारीरिक स्थिति के लिये ठीक है और न ही यात्रा में शुभ हैं।

शार्ङ्गरव:—भगवन्, ओदकान्तं स्निग्धो जनोऽनुगन्तव्य इति श्रूयते। तदिदं सरस्तीरम्। अत्र सन्दिश्य प्रतिगन्तुमर्हति।

व्या० एवं श०—ओदकान्तम् – उदकस्य अन्त: उदकान्त आ उद्कान्तात् ओद्कान्तम् 'आङ्मर्याभिविध्यो:' सूत्र से अव्ययीभाव समास है = जल के किनारे तक। जल के किनारे तक अर्थात् तालाब या नदी के मिलने तक। अनुगन्तव्य: – अनु+गम्+तव्यत् = अनुगमन करना चाहिये अर्थात् छोड़ने जाना चाहिये। संदिश्य – सम्+दिश्+क्त्वा+ल्यप् = सन्देश देकर।

शार्ङ्गरव—भगवन् , (यात्रा के समय) प्रिय व्यक्ति का जलाशय तक अनुगमन करना चाहिये—ऐसा सुना जाता है। तो यह सरोवर का तट है। यहाँ (दुष्यन्त से कहने के लिये हम लोगों को अपना) सन्देश देकर आप लौट जायँ।

टिप्पणी—'ओदकान्तं स्निग्धो जनोऽनुगन्तव्य:'। भारतीय संस्कृति में अपने सगे (निकटवर्ती) सम्बन्धी को आवास के बाहर नदी या तालाब तक उसके साथ जाकर उसे विदा करने का विधान है। 'ओदकान्त प्रियं प्रोथमनुव्रजेत्'। याज्ञवल्क्य के अनुसार अतिथि को सीमा तक छोड़ने के लिये जाना चाहिये – 'अतिथिं श्रोत्रियं तृप्तृंमासीमान्तमनुव्रजेत्' (१/१३)।

काश्यप:—तेन हीमां क्षीरवृक्षच्छायामाश्रयाम:। (सर्वे परिक्रम्य स्थिता:)।

व्या० एवं श०—क्षीरवृक्षच्छायाम् क्षीरप्रधानो वृक्ष: क्षीरवृक्ष: तस्य छायाम् (ष०त०) = क्षीरवृक्ष की छाया को। आश्रयाम: – आ+श्रि+उ०पु०ब०व० = आश्रय लें (रुकें)।

कण्व—तो हम लोग इस दूध वाले (बरगद या पीपल) वृक्ष की छाया का आश्रय लें (छाया में रुकें)। (सभी लोग घूमकर रुक जाते हैं)।

टिप्पणी—जिन वृक्षों से काटने पर क्षीर (दूध) बहता है उन्हें क्षीरवृक्ष कहते हैं। राज-

निघण्टु के अनुसार क्षीरवृक्ष पाँच हैं—'न्यग्रोधोदुम्बरोऽश्वत्थः पारिल्पवपादपाः। पञ्चैते क्षीरिणो वृक्षास्तेषां त्वक् पञ्चलक्षणम्। क्षीरी वृक्षों में न्यग्रोध, वट, गूलर, पीपल, पारिजात, आदि परिगणित हैं।

काश्यपः—(आत्मगतम्) **किं नु खलु तत्रभवतो दुष्यन्तस्य युक्तरूपमस्माभिः सन्देष्टव्यम्**। (इति चिन्तयति)।

व्या० एवं श०—युक्तरूपम् – अतिशयेनयुक्तमिति युक्तरूपम् – युक्त+रूपम् (प्रशंसायाम्)।

कण्व—(अपने मन में) हमें माननीय दुष्यन्त के लिये अधिक उचित क्या सन्देश भेजना चाहिये। (सोचते हैं)।

शकुन्तला—(जनान्तिकम्) **हला, पश्य। नलिनीपत्रान्तरितमपि सहचरमपश्यन्त्यातुरा चक्रवाक्यारटति, दुष्करमहं करोमीति**। (हला, पेक्ख। णलिणीपत्तन्तरिदं वि सहअरं अदेक्खन्ती आदुरा चक्कवाई आरडदि, दुक्करं अहं करेमि त्ति।)

व्याकरण एवं शब्दार्थ—नलिनीपत्रान्तरितम् – नलिनीपत्रस्य अन्तरितम् – नलिनी पत्ते की ओट में छिपे। अपश्यन्त्यातुरा – अपश्यन्ती+आतुरा – यण् – अपश्यन्ती – दृश्+शतृ+ङीप् – पश्यन्ती न पश्यन्ती = अपश्यन्ती = न देखती हुई। आतुरा = व्यग्र-व्याकुला। चक्रवाक्यारटति – चक्रवाकी+आरटति – यण सन्धि = चकवी चिल्ला रही है।

शकुन्तला—(हाथ की ओट में) सखी, देखो। कमलिनी के पत्ते की ओट में छिपे हुये भी (अपने) साथी (चकवे) को न देखने से व्याकुल यह चकवी चिल्ला रही है। (इससे मुझे लग रहा है कि) मैं दुष्कर-कार्य कर रही हूँ (क्योंकि अपने प्रियतम से इतनी दूर होने पर भी मुझे कुछ नहीं हो रहा है)।

अनसूया—सखी, मैवं मन्त्रयस्व।

व्या० एवं श०—मैवम् – मा+एवम् यण् = ऐसा न। **मन्त्रयस्व** – मन्त्र+लोट् म०पु०ए०व० = कहो।

अनसूया—सखी, ऐसा मत कहो।

एषापि प्रियेण बिना गमयति रजनीं विषाददीर्घतराम्।
गुर्वपि विरहदुःखमाशाबन्धः साहयति॥ १६॥

(ऐसा वि पिएण विणा गमेइ रअणिं विसाअदीहअरं।
गरुअं पि विरहदुक्खं आसाबन्धो सहावेदि॥)

अन्वय—एषा अपि प्रियेण बिना विषाददीर्घतरां रजनीं गमयति, आशाबन्धः गुरु अपि विरहदुःखं साहयति।

शब्दार्थ—एषा = यह। अपि = भी। प्रियेण = प्रिय के। बिना = बिना। विषाददीर्घतराम् = दुःख के कारण लम्बी। रजनीम् = रात को। गमयति = बिताती है। आशाबन्धः = आशा का बन्धन। गूरु = महान्, कठोर। अपि = भी। विरहदुःखम् = वियोग के दुःख को। साहयति = सहन करा देता है।

अनुवाद—यह (चकवी) भी (अपने) प्रिय (चकवे) के बिना दुःख के कारण (अत्यधिक) लम्बी (प्रतीत होने वाली) रात को बिताती है। आशा का बन्धन महान् (बड़े से बड़े) वियोग के दुःख को सहन करा देता है।

संस्कृत व्याख्या—एषा अपि – इयं चक्रवाकी अपि, **प्रियेण बिना** – स्वकान्तेन चक्रवाकेन बिना, **विषाददीर्घतरां** – विषादेन वियोगदु:खेन दीर्घतरां विशालाम् , **रजनीं** – रात्रिम्, **गमयति** – यापयति; **आशाबन्धः** – आशाबन्धनम् , **गुरू अपि** – महदपि (असह्यम् अपि), **विरहदुःखं** – वियोगकष्टम् , **साहयति** – सहनयोग्यं करोति।

संस्कृत-सरलार्थः—रात्रौ पुरोदृश्यमानेयं बलाका चक्रवाकी स्वप्रियतमेन बिनाऽपि वियोगकष्टेन लम्बायमानां रजनीं कथमपि यापयति तत्राशाबन्धनमेव कारणमस्ति अन्यथा तदभावे रात्रियापनमपि दुष्करं स्यादिति भावः।

व्याकरण—प्रियेण बिना – बिना के योग में तृतीया। विषाददीर्घतराम् – विषादेन दीर्घतराम् तृ०त०समास। रजनीम् – रञ्जन्ति – अनुरक्ता भवन्ति रागिणोऽस्यामिति – रञ्ज्+अनि+ङीप् – 'क्षिपेः किञ्च' से 'अनि' प्रत्यय एवं किद्वदभाव से न का लोप रजनी ताम् रजनीम्। साहयति – सह्+ णिच्+लट्+प्र०पु०ए०व०। यहाँ रजनीं गमयति में 'गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थ...' सूत्र से द्वितीया हुई है।

कोष—'विभावरी तमस्विन्यौ रजनीं यामिनी तमी' – इत्यमरः।

अलङ्कार—यहाँ पूर्वार्ध में वर्णित विशेष का उत्तरार्ध में वर्णित सामान्य के द्वारा समर्थन होने से **अर्थान्तरन्यास** अलङ्कार है। ल०द्र० १/२ श्लो०।

छन्द—यहाँ **आर्या** छन्द है। ल०द्र० १/२ श्लो०।

टिप्पणी—(१) **विषाददीर्घतराम्** – सुख में रात आसानी से कट जाती है परन्तु दुःख में वह बढ़ जाती है अतः उसको बिताना कठिन हो जाता है। चक्रवात के वियोग में चक्रवाकी के लिये विशाल रात्रि को बिताना कठिन हो जाता है। यहाँ विरहिणी चक्रवाकी की भाँति शकुन्तला भी अपने प्रिय से वियुक्त है अतः उसे भी अति दुःख का सामना करना पड़ रहा है। (२) **आशाबन्धः** – आशा एक ऐसा बन्धन है जिसके सहारे व्यक्ति बड़े-बड़े वियोग दुःख को झेल जाता है। वह भावी मिलन की आशा में ही अपना दुःख सह लेता है। यह बात चक्रवाकी और शकुन्तला दोनों पर लागू है। चक्रवाकी चक्रवाक के तथा शकुन्तला, दुष्यन्त के मिलन की आशा में ही अपने दुःख की घड़ियाँ बिता रही हैं। (३) यह सूक्ति अति प्रसिद्ध है। इसी प्रकार की सूक्तियाँ अन्यत्र भी हैं—

(क) आशाबन्धः कुसुमसदृशं प्रायशो ह्यङ्गनानां सद्यःपाति प्रणयिहृदयं विप्रयोगे रुणद्धि॥ मेघदूत १/९। (ख) शक्यं खल्वाशा बन्धनेनात्मानं धारयितुम् – विक्रमोर्वशीयम् अङ्क ३। (ग) मनोरथेन नीव्यमि मन्दभाग्या – स्वप्नवासवदत्तम् अङ्क ३। (घ) आशया हि किमिव न क्रियते – कादम्बरी।

काश्यपः—शार्ङ्गरव, इति त्वया मद्वचनात् स राजा शकुन्तलां पुरस्कृत्य वक्तव्यः।

व्या० एवं श०—मद्वचनात् – ल्यब् लोपे पञ्चमी = मेरी ओर से। पुरस्कृत्य – पुरस्+कृ+क्त्वा+ल्यप् = आने पर। वक्तव्यः – वच्+तव्यत् = कहा जाना चाहिये।

कण्व—शार्ङ्गरव, तुम मेरी ओर से शकुन्तला को आगे कर राजा से इस प्रकार कहना।

शार्ङ्गरवः—आज्ञापयतु भवान्।

शार्ङ्गरव—आप आज्ञा दें।

काश्यपः— कण्व—

अस्मान् साधु विचिन्त्य संयमधनानुच्चैः कुलं चात्मन-
स्त्वय्यस्याः कथमप्यबान्धवकृतां स्नेहप्रवृत्तिं च ताम् ।
सामान्यप्रतिपत्तिपूर्वकमियं दारेषु दृश्या त्वया
भाग्यायत्तमतः परं न खलु तद् वाच्यं वधूबन्धुभिः ।। १७ ।।

अन्वय—संयमधनान् अस्मान् आत्मनः च उच्चैः कुलम् , त्वयि अस्याः कथम् अपि अबान्धवकृतां तां स्नेहप्रवृत्तिं च साधु विचिन्त्य त्वया इयं दारेषु सामान्यप्रतिपत्तिपूर्वकं दृश्या, अतः परं भाग्यायत्तम् , तत् खलु वधूबन्धुभिः न वाच्यम् ।

शब्दार्थ—संयमधनान् = संयम ही है धन जिनका ऐसे (संयम रूपी धन वाले)। अस्मान् = हम लोगों को । आत्मनः च = और अपने । उच्चैः = ऊँचे । कुलम् = कुल को । त्वयि = तुम्हारे (आपके) ऊपर । अस्याः = इसके । कथम् अपि = किसी भी रूप में । अबान्धवकृताम् = बन्धुओं (सम्बन्धियों) के द्वारा न कराये गये (अर्थात् स्वेच्छा सम्पन्न)। ताम् = उस। स्नेहप्रवृत्तिम् = प्रेम-व्यापार को । च = भी । साधु = सम्यक्तया । विचिन्त्य = विचार कर । त्वया = तुम्हारे द्वारा (आपके द्वारा)। इयम् = यह। दारेषु = स्त्रियों में (सभी पत्नियों में)। सामान्यप्रतिपत्तिपूर्वकम् = समान गौरव (आदर) के साथ । दृश्या = देखी जानी चाहिये । अतः = इससे । परम् = आगे (अधिक)। भाग्यायत्तम् = भाग्य के अधीन (है)। तत् = वह । खलु = वस्तुतः । वधूबन्धुभिः = वधू (कन्या) के सम्बन्धियों (भाई-बन्धुओं) के (द्वारा)। न = नहीं। वाच्यम् = कहा जाना चाहिये (नहीं मांगा जाना चाहिये)।

अनुवाद—संयम रूपी धन वाले हम लोगों को, अपने ऊँचे कुल को और तुम्हारे (आपके) ऊपर इस (शकुन्तला) के, किसी भी प्रकार बन्धुओं (सम्बन्धियों) के द्वारा न कराये गये (ऐच्छिक प्रेम-व्यापार को भी) विचार कर तुम्हारे (आपके) द्वारा यह (शकुन्तला) (सभी) पत्नियों (रानियों) में समान गौरव (आदर) के साथ देखी जानी चाहिये । इसके आगे (अर्थात् इससे अधिक) भाग्य के अधीन है, वह वस्तुतः वधू (कन्या) के सम्बन्धियों (भाई-बन्धुओं) द्वारा नहीं कहा (मांगा) जाना चाहिये (अर्थात् उसके विषय में कन्या के भाई-बन्धुओं को कुछ नहीं कहना चाहिये)।

संस्कृत व्याख्या—संयमधनान् – तपोधनान् , **अस्मान्** – अस्मद्विधान् अस्याः शकुन्तलायाः आत्मीयान् , **आत्मनः** च – स्वस्य च, **उच्चैः** – उन्नतंम, कुलं वंशम् , **त्वयि** – दुष्यन्ते, **अस्याः** – शकुन्तलायाः, **कथमपि** – केनापि रूपेण, **अबान्धवकृतां** – बन्धुजनप्रयासं विनैव घटिताम् (स्वयमेव विहिताम्), **ताम्** – तादृशीम् , **स्नेहप्रवृत्तिं च** – प्रणयोत्पत्तिम् च, **साधु** – सम्यक् , **विचिन्त्य** – विचार्य, **त्वया** – दुष्यन्तेन, **इयम्** – एषा शकुन्तला, **दारेषु** – (सर्वासु) पत्नीषु, **सामान्यप्रतिपत्तिपूर्वकं** – तुल्यसम्मानपूर्वकम् , **दृश्या** – दर्शनीया; **अतः परम्** – इतोऽधिकम् , **भाग्यायत्तम्** – दैवाधीनम् , **तत् खलु** – निश्चयेन, **वधूबन्धुभिः** – कन्यासम्बन्धिभिः, **न वाच्यं** – न कथनीयम् ।

संस्कृत-सरलार्थः—दुष्यन्तम्प्रति स्वशिष्यमाध्यमेन प्रेषणीयं सन्देशं कण्वः कथयति – वयं तपोधनाः, भवतः कुलमुच्चं, भवन्तं प्रति शकुन्तलायाः स्नेहप्रवृत्तिः बन्धुजनप्रयासं विनैव स्वेच्छया जाता – एतत्सर्वं मनासि निधाय भवता स्वपत्नीनां सर्वासां मध्ये शकुन्तलेयं समानसम्मानपूर्वकं दर्शनीयेति – अनुरुध्यते । अतोऽधिकं भाग्याधीनमेवातो न तद्विषये किमपि कथ्यते याच्यते वेति

विगलितोऽर्थः ।

व्याकरण—विचिन्त्य – वि+चिन्त्+क्त्वा – ल्यप् । संयमधनान् – संयम एव धनं येषां तान् (ब०व्री०)। स्नेहप्रवृत्तिम् – स्नेहस्य प्रवृत्तिम् । अबान्धवकृताम् – न बान्धवैः कृताम् (न०त०) अबान्धवकृताम् । सामान्यप्रत्तिपूर्वकम् – सामान्या प्रतिपत्तिः (कर्म०) सामान्यप्रतिपत्तिः सा पूर्वा यस्मिन् कर्मणि तत् (ब०व्री०) । प्रतिपत्तिः प्रति+पद्+क्तिन् । भाग्यायत्तम् – भाग्ये आयत्तम् (त०ष०) आयत्त – आ+यत्+क्त ।

कोष—'दाराः पुभूम्नि चाक्षताः' इत्यमरः । 'प्रतिपत्तिः प्रवृत्तौ च प्रागल्भे गौरवेऽपि च । सम्प्राप्तौ च प्रबोधे च पदप्राप्तौ च योषिति' ।। इति मेदिनी ।

अलङ्कार—(१) श्लोक में 'माम्' न कहकर 'संयमधनान् अस्मान्' का कथन है अतः विशेष के लिये सामान्य का कथन होने से **'अप्रस्तुतप्रशंसा'** अलङ्कार है । श्लोक के चतुर्थ चरण के 'न तद् वाच्यम् बधूबन्धुमिः' इस सामान्य कथन 'मयैतन्न वक्तव्यम्' इस विशेष के स्थान पर हुआ है अतः यहाँ भी **अप्रस्तुतप्रशंसा** अलङ्कार है । ल०द्र० १/७ । (२) 'न खलु तद् वाच्यं बधूवन्धुमिः' इस पदार्थ के प्रति भाग्यायत्तम् यह पदार्थ कारण है अतः पदार्थहेतुक **'काव्यलिङ्ग'** अलङ्कार है । ल०द्र० १/४ । (३) श्लोक में 'साधु विचिन्त्य' इस एक पूर्वकालिक क्रिया का सम्बन्ध 'अस्मान्' आत्मनः उच्चैः कुलम् तथा अस्याः... सेहप्रवृत्तिम् च ताम्' इन तीन कारकों से सम्बन्ध होने के कारण (कारक क्रिया) **दीपक** अलङ्कार है । ल०द्र० २/१५ । (४) श्लोक में **श्रुत्यनुप्रास, वृत्त्यनुप्रास** भी है ।

छन्द—श्लोक में **शार्दूलविक्रीडित** छन्द है । ल०द्र० १/१४ ।

टिप्पणी—(१) यह श्लोक चतुर्थ अङ्क के उत्कृष्ट चार श्लोकों में माना जाता है । (२) कण्व का सन्देश कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है । (क) **'संयमधनान्'** के कहने का तात्पर्य यह है कि संयम (तपस्या) के अतिरिक्त कण्व जैसे मुनियों के पास भौतिक धन नहीं हैं जिसे वे उन्हें (दुष्यन्त को) दे सकते हैं । तपोधन व्यक्ति दण्ड देने में भी समर्थ होता है । (ख) **उच्चैः कुलञ्चात्मिनः** अपने विख्यात उच्च कुल का ध्यान रखकर दुष्यन्त को शकुन्तला के प्रति ऐसा कोई व्यवहार नहीं करना चाहिये जिससे उसको कष्ट हो और उनका कुल कलङ्कित हो । (ग) **अबान्धवकृतां स्नेहप्रवृत्तिं च ताम्** – शकुन्तला का दुष्यन्त के प्रति प्रेम स्वाभाविक और ऐच्छिक है । उसमें उसके (शकुन्तला के) बन्धुओं का कोई हाथ नहीं हैं । अतः उसके विषय में बन्धु बान्धवों के ऊपर दोषारोपण के लिये कोई अवसर नहीं है । ऐसी स्थिति में शकुन्तला के ऐच्छिक प्रगाढ़ प्रेम की रक्षा नितान्त आवश्यक है । (घ) **सामान्य... दारेषु दृश्या त्वया** – कण्व का मात्र यही अनुरोध है कि उनकी पुत्री दुष्यन्त की सभी पत्नियों में समान-सम्मान की अधिकारिणी बने । (ङ) **'भाग्यायत्तमतः परः... दृश्या मत्वया'** अपने सन्देश का उपसंहार करते हुये कण्व का कहना है कि वह अपनी पुत्री के प्रति, अन्य रानियों से अधिक, दुष्यन्त के द्वारा दिये जाने वाले सम्मान की याचना नहीं करते, वह तो भाग्याधीन है ।

विशेष—किसी श्वसुर द्वारा, अपनी कन्या के विषय में, जामाता के प्रति दिया जाने वाला यह सन्देश अपने आप में बेजोड़ है ।

शार्ङ्गरवः—गृहीतः सन्देशः ।

शार्ङ्गरवः—(मैनें आप का) सन्देश ग्रहण कर लिया (अर्थात् समझ लिया)।

काश्यपः—वत्से, त्वमिदानीमनुशासनीयाऽसि। वनौकसोऽपि सन्तो लौकिकज्ञा वयम्।

व्या० एवं श०—अनुशासनीया – अनु+शास्+अनीयर+टाप् = अनुशासन (शिक्षा उपदेश) के योग्य। वनौकसः – वनमोकः आश्रयः येसां ते (ब०व्री०) = वन में निवास करने वाले। लौकिकज्ञाः – लोके विदितं भवं वा लोक+ठञ्+इक् – लौकिकम् तत् जानन्ति इति लौकिक+ज्ञा+क (कर्तरि) प्र०ब०व० = लोकव्यवहार को जानने वाले।

कण्व—बेटी, अब तुम्हें (भी) कुछ शिक्षा देनी है। वनवासी होते हुये भी हम लोग लोक-व्यवहार को जानने वाले हैं।

शार्ङ्गरवः—न खलु धीमतां कश्चिदविषयो नाम।

व्या० एवं श०—धीमताम् – धीः बुद्धिरस्यास्तीति धीमान् – धी+मतुप् – तेषां धीमताम् = बुद्धिमानों को। अविषयः = अज्ञात।

शार्ङ्गरव—वस्तुतः बुद्धिमानों को कुछ भी अज्ञात नहीं है।

कोष—'बुद्धिर्मनीषा धिषणा धीः प्रज्ञा शेमुषी मतिः' इत्यमरः।

काश्यपः—सा त्वमितः पतिकुलं प्राप्य—

कण्व—तुम यहाँ से पतिगृह को पहुँचकर—

शुश्रूषस्व गुरून् कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने
भर्तुर्विप्रकृताऽपि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः।
भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भाग्येष्वनुत्सेकिनी
यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो वामाः कुलस्याधयः॥ १८॥

अन्वय—गुरून् शुश्रूषस्व, सपत्नीजने प्रियसखीवृत्तिं कुरु, विप्रकृता अपि रोषणतया भर्तुः प्रतीपं मा स्म गमः, परिजने भूयिष्ठं दक्षिणा भव, भाग्येषु अनुत्मेकिनी (भव), एवं युवतयः, गृहिणीपदं यान्ति, वामाः कुलस्य आधयः (भवन्ति)।

शब्दार्थ—गुरून् = गुरुजनों की (बड़ों की)। शुश्रूषस्व = सेवा करना। सपत्नीजने = सपत्नियों (सौतों) के साथ। प्रियसखीवृत्तिम् – प्रियसखी जैसा व्यवहार। कुरु = करना। विप्रकृताऽपि = तिरस्कृत होने पर भी। रोषणतया = क्रोध के कारण। भर्तुः = पति के। प्रतीपम् = प्रतिकूल। मा स्म गमः = मत जाना (आचरण मत करना)। परिजने = सेवक-सेविकाओं पर। भूयिष्ठम् = अत्यधिक। दक्षिणा = उदार। भव = रहना। भाग्येषु = भाग्य पर। अनुत्सेकिनी = अभिमान (दर्प) से रहित रहना। एवम् = इस प्रकार। युवतयः = युवतियाँ। गृहिणीपदम् = गृहिणी (गृहलक्ष्मी) के पद को। यान्ति = प्राप्त करती हैं। वामाः = इसके प्रतिकूल आचरण करने वाली। कुलस्य = कुल के लिये। आधयः = व्याधि (विपत्ति का कारण) होती हैं।

अनुवाद—गुरुजनों (बड़ों) की सेवा करना, सपत्नियों (सौतों) के साथ प्रियसखी जैसा व्यवहार करना, तिरस्कृत होने पर भी क्रोधवश पति के प्रतिकूल आचरण न करना, सेवक-सेविकाओं के प्रति अत्यधिक उदार रहना और (अपने) अच्छे भाग्य पर निरभिमान (होना) (अर्थात् गर्व मत करना)। इस प्रकार (आचरण करने वाली) युवतियाँ गृहिणी (गृहलक्ष्मी) के पद को प्राप्त

करती हैं और इसके प्रतिकूल आचरण करने वाली (युवतियाँ) कुल के लिये व्याधि (विपत्ति का कारण) बनती हैं।

संस्कृत व्याख्या—महर्षिकण्व उपदिशति शकुन्तलाम् – गुरून् – श्वश्रूश्वसुरादिगुरुजनान्, **शुश्रूषस्व** – सेवस्व; **सपत्नीजने** – सपत्नीसमूहे, **प्रियसखीवृत्तिं** – प्रियसखीवद् व्यवहारम्, **कुरु** – विधेहि, **विप्रकृता अपि** – तिरस्कृता अपि, **रोषणतया** – क्रोधवशात्, **भर्तुः** – स्वामिनः, **प्रतीपं** – विरुद्धम् (वैपरीत्यं), **मा स्म गमः** – न गच्छ, प्रतिकूलवर्तिनी मा भव किन्त्वनुकूलैव भवेत्यर्थः, **परिजने** – सेवकवर्गे, **भूयिष्ठम्** – अतिशयेन, **दक्षिणा भव** – अनुकूला भव; **भाग्येषु** – निजसौभाग्येषु, **अनुत्सेकिनी** – निरभिमाना भव इति शेषः, **एवम्** – अनेनप्रकारेण, **युवतयः** – तरुण्यः, **गृहिणीपदम्** – गृहलक्ष्मीपदम्, **यान्ति** – लभन्ते; **वामाः** – विपरीताचरणवत्यः युवतयः; **कुलस्य** – पितृश्वसुरवंशस्य, **आधयः** – सन्तापजनिकाः, **भवन्तीति** – शेषः।

संस्कृत-सरलार्थः—शकुन्तला कृते कण्वसन्देशस्यायमाशयः – 'ये युवतयः पतिगृहं गत्वा गुरुजनान् सेवन्ते, सपत्नीवर्गे प्रियसखीवद् व्यवहारं कुर्वन्ति, पतितिरस्कृताऽपि तत्प्रतिकूलं नाचरन्ति, सेवकलोके नितान्तमुदारा भवन्ति, स्वभाग्येषु निरभिमाना तिष्ठन्ति, ता एव गृहलक्ष्मीपदं भजन्ते, एतद्विपरीताचरणशीला गृहस्याभिशापरूपा एव जायन्ते। कण्वः कामयते यत्तदीया पुत्री गृहलक्ष्मीपदमवाप्तुमेवाचरेदिति।

व्याकरण—शुश्रूषस्व – श्रु+लोट्+म०पु०ए०व०। प्रियसखीवृत्तिम् – प्रियसख्या वृत्तिम् – ष०त०। विप्रकृता – वि+प्र+क्त+टाप् –प्र०ए०व०। रोषणतया – रुष्+युच् – अन – रोषणम् तस्य भावः (तल्०) रोषता-तया। मा स्म गमः – गम् धातु से माङ् के योग में लुङ् लकार 'न माङ्योगे' सूत्र से अट् आगम का अभाव गमः – गम्+लुङ् – म०पु०ए०व०। प्रतीपम् – प्रतिकूलमपाम् इति प्रतीपम् (प्रादिसमास) प्रति+अप् 'ऋक्' – सूत्र से सामासान्त 'अ' 'द्वयन्त' सूत्र से अप् के 'अ' को इत् दीर्घ प्रतीपम्। भूयिष्ठम् – बहु+इष्ठन् 'इष्ठस्य यिट् च' सूत्र 'बहु' के स्थानपर 'भू' आदेश और 'इ' के स्थान पर 'यि' प्र० ए०व०। अनुत्सेकिनी – उत्+सिच्+घञ् 'चजो कुः...' सूत्र से च् के स्थान पर क् – उत्सेकः (अभिमान) न विद्यते उत्सेकः यस्याः सा – अनुत्सेकिनी। वामाः – वमति स्नेहमित्यर्थे वम+ण (अ) वृद्धि टाप् प्र०ए०व०। आधयः – आ+धा उपसर्ग 'धोः किः' सूत्र से आधीयते दुःखमनेनेति प्र०ब०व०।

कोष—'प्रतीपोऽन्यः पराङ्मुखे' इति शब्दाब्धिः। 'पुंस्याधिर्मानसी व्यथा' – इत्यमरः।

अलङ्कार—(१) 'सपत्नीजने प्रियसखी वृत्तिं कुरु' में **'निदर्शना'** अलङ्कार है क्योंकि यहाँ सपत्नीजनों के प्रति प्रिय सखी के समान व्यवहार करने को कहा गया है। यह समान व्यवहार – असम्बद्ध दो वस्तुओं में सम्बन्ध की स्थापना को प्रकाशित करता है। ल०द्र १/१७। (२) 'वामा स्त्रियों' मे आधि' के आरोप से **'रूपक'** अलङ्कार है। ल०द्र० २/१६। (३) यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयः' इस चतुर्थ चरण में वर्णित सामान्य से प्रथम तीन चरणों में वर्णित विशेष का समर्थन करने से **'अर्थान्तरन्यास'** अलङ्कार है। ल०द्र० १/२। (४) आधिरूप कार्य के साथ कारणभूत **'वामा'** का अभेद रूप से वर्णन है अतः **'हेतु'** अलङ्कार है। ल०द्र०४/६।

छन्द—यहाँ **'शार्दूलविक्रीडित'** छन्द है। ल०द्र० १/१४ श्लो०।

टिप्पणी—(१) **प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने** – उस समय राजाओं की अनेक पत्नियां होती थी। राजा दुष्यन्त भी अनेक पत्नियों वाले राजा थे। प्राय: सपत्नियों में परस्पर झगड़ा होता है इसीलिये कण्व अपनी बेटी को सपत्नियों से अपनी प्रिय सखी जैसा व्यवहार करने को कहते हैं। इससे घर का वातावरण शान्त रहेगा। कामसूत्र में कहा गया है—'आगतां चैनां (सपत्नीं) भगिनिकावदीक्षेत ॥' (२) **गुरून शुश्रूषस्व** – यह आज्ञा 'गुरूणां ह्यविचारणीया' के अनुरूप है। बड़ों की सेवा भारतीय संस्कृति का एक प्रधान अङ्ग है। (३) **भर्तुर्विप्रकृतापि** – पति की सेवा और उसकी आज्ञा का परिपालन स्त्री का सबसे बड़ा धर्म है। पति के क्रुद्ध होने पर भी पत्नी को क्रुद्ध नहीं होना चाहिये – इस दृष्टि से शकुन्तला को कण्व का यह उपदेश है। भारतीय वाङ्मय में अन्यत्र भी प्राप्त होते हैं—'अभ्युध्त्थानमुपागते गृहपतौ तद् भाषणे नम्रता, तत्पादार्पितदृष्टिरासनविधिस्तस्योपचर्या स्वयम्। सुप्ते तत्र शयीतप्रथमतो जह्याच्च शय्यामिति, प्राच्यै: पुत्रिनिवेदित: कुलवधूसिद्धान्तधर्मागम:।' (४) **भूयिष्ठं भव दक्षिणा** – सेवकों के प्रति उदारता का भाव रखना – यह कुलवधू के कर्त्तव्य का एक भाग है। प्राय: नारियाँ घर में अपने सेवक-सेविका-वर्ग के प्रति अनुदार होती हैं, यह ठीक नहीं है। सेवकों के प्रति उदारता रखने से एक तो वे सन्तुष्ट होते हैं, दूसरे सन्तुष्ट होकर अपने दायित्व का परिपालन परिश्रम से करते हैं। **भाग्येष्वनुत्सेकिनी** – अपने भाग्य पर गर्व न करने का यह उपदेश बहुत महत्त्पूर्ण है। प्राय: स्त्रियाँ अपने भाग्य पर अभिमान करती हैं। उससे पारिवारिक और सामाजिक वातावरण अशान्त हो जाता है। (५) **यान्त्येवं गृहिणीपदम् ...** – कण्व ने ऊपर जितने उपदेश दिये हैं वे सब कुशल गृहिणी के लिये आवश्यक हैं। जो विवाहित स्त्रियाँ उक्त उपदेशों को दृष्टिगत कर कार्य करती हैं वे ही गृहिणी जैसे उच्च पद को प्राप्त करने की अधिकारिणी बनती हैं। उसके विपरीत आचरण करने वाली कुल के लिये व्याधिस्वरूप हो जाती है। (६) इस श्लोक में शास्त्रानुकूल मनोहर वचन होने से **उपदिष्ट** नामक नाटकीय लक्षण है। लक्षण – 'उपदिण्टं मनोहारि वाक्यं शास्त्रानुसारत:' सा०द०। (७) पति गृह को जाने वाली पुत्री के लिये पिता द्वारा दिये जाने वाला यह उपदेश अत्यन्त उपयोगी, प्रशस्य तथा विचारणीय है। (८) यह श्लोक भी प्रसिद्ध चार श्लोको में परिगणित है।

कथं वा गौतमी मन्यते।

अथवा गौतमी (इस विषय में) क्या सोचती (मानती) है (अर्थात् गौतमी का क्या मत?)।

गौतमी—एतावान् वधूजनस्योपदेश:। जाते, एतत् खलु सर्वमवधारय। (एत्तिओ वहजणस्स उवदेसो। जादे, एदं क्खु सव्वं ओधारेहि।)

व्या० एवं श०—उपदेश – उप्+दिश्+घञ्, अवधारय – अव+धृ+णिच् लोट् म०पु०ए०व० = समझो, याद रखो।

गौतमी—इतना उपदेश वधुओं (नव विवाहित युवतियों) के लिये (पर्याप्त) है। बेटी, यह सब अवश्य ही (भली-भाँति) याद रखना।

काश्यप:—वत्से, परिष्वजस्व मां सखीजनं च।

व्या० एवं श०—परिष्वजस्व – परि+ष्वज्+लो०म०पु०ए०व० = आलिङ्गन करो।

कण्व—बेटी, मुझसे और (अपनी) सखियों से गले मिल लो।

शकुन्तला—तात, इत एव किं प्रियंवदाऽनसूये सख्यौ निवर्तिष्येते ? (शकुन्तलया

एव्व किं पिअंवदाअणसूआओ सहीओ णिवत्तिस्सन्ति ?)

व्या० एवं श०—इत एव = यहीं से। निबर्तिष्येते – नि+वृत्+लृट्+ प्र०पु०द्वि०व० = लौट जायेंगी।

शकुन्तला—पिताजी, क्या यहाँ से ही प्रियंवदा और अनसूया—दोनों सखियाँ लौट जायेंगी ?

काश्यपः—वत्से, इमे अपि प्रदेये। न युक्तमनयोस्तत्र गन्तुम्। त्वया सह गौतमी यास्यति।

व्याकरण एवं शब्दार्थ—प्रदेये – प्र+दा+यत्+टाप् प्र०द्वि०व० = देने योग्य (विवाह करने योग्य)। युक्तम् – युज्+क्त = उचित। गन्तुम् – गम्+तुमुन् = जाना।

कण्व—बेटी, इन दोनों को भी देना है (अर्थात् इन दोनों का भी विवाह करना है)। इनका वहाँ (हस्तिनापुर) जाना उचित नहीं है। तुम्हारे साथ गौतमी जायेंगी।

टिप्पणी—(१) कण्व के द्वारा अनसूया तथा प्रियंवदा को शकुन्तला के साथ न भेजना साभिप्राय है। अनसूया और प्रियंवदा दोनों साथ जाती तो शकुन्तला के शाप की बात प्रकट हो जाती जो नाटकीय संरचना की दृष्टि से ठीक नहीं होता। उनके जाने से फिर आगे की कथा आगे न बढ़ पाती। (२) अनसूया एवं प्रियंवदा दोनों अविवाहित और युवती हैं अतः कण्व सामाजिक दृष्टि से शकुन्तला के साथ उन्हें भेजना उचित नहीं समझते। इससे यह भी सिद्ध होता है कि उन दिनों वयस्क हो जाने पर कन्याओं का विवाह होता था। माता-पिता के द्वारा उनका कन्यादान होता था।

शकुन्तला—(पितरमाश्लिष्य) **कथमिदानीं तातस्याङ्कात् परिभ्रष्टा मलयतटोन्मूलिता चन्दनलतेव देशान्तरे जीवितं धारयिष्यामि।** (कहं दाणिं तादस्स अंकादो परिब्भट्टा मलअतडुम्मूलिया चन्दणलदा विअ देसन्तरे जीविअं धारइस्सं।)

व्या० एवं श०—अङ्कात् = गोद से। परिभ्रष्टा – परि+भ्रस्ज्+क्त+टाप् = गिरी हुयी – अलग हुयी। उन्मूलिता = उखाड़ी गयी। जीवितम् = जीवन को। धारयिष्यामि – धृ+णिच्+ल्युट्+उ०पु०ए०व० = धारण करूँगी।

शकुन्तला—(पिता से लिपटकर) पिता की गोद से अलग होकर अब मैं मलय पर्वत के तट से उखाड़ी गयी चन्दन-लता की भाँति, दूसरे देश में कैसे जीवन धारण करूँगी (अर्थात् वहाँ कैसे जीऊँगी)।

काश्यपः—वत्से, किमेवं कातराऽसि।

कण्व—बेटी, क्यों इस प्रकार व्याकुल (दुःखी) हो रही हो ?

अभिजनवतो भर्तुः श्लाघ्ये स्थिता गृहिणीपदे
विभवगुरुभिः कृत्यैस्तस्य प्रतिक्षणमाकुला।
तनयमचिरात् प्राचीवार्कं प्रसूय च पावनं
मम विरहजां न त्वं वत्से शुचं गणयिष्यसि॥ १९॥

अन्वय—वत्से, त्वम् अभिजनवतः भर्तुः श्लाघ्ये गृहिणीपदे स्थिता तस्य विभवगुरुभिः कृत्यैः प्रतिक्षणम् आकुला अचिरात् च प्राची अर्कम् इव पावनं तनयं प्रसूय मम विरहजां शुचं न गणयिष्यसि।

शब्दार्थ—वत्से = हे बेटी ! त्वम् = तुम । अभिजनवतः = उत्तम (ऊँचे) कुल में उत्पन्न (अति-कुलीन) । भर्तुः = पति के । श्लाघ्ये = प्रशंसनीय । गृहिणीपदे = गृहिणी के (सम्मानित) पद पर । स्थिता = स्थित हुई (प्रतिष्ठित होकर) । तस्य = उसके । विभवगुरुभिः = ऐश्वर्य के कारण महान् (महत्त्वपूर्ण) । कृत्यैः = कार्यों से । प्रतिक्षणम् = प्रतिक्षण । आकुला = व्यस्त । अचिरात् च = और शीघ्र ही । प्राची = पूर्व दिशा । अर्कम् इव = सूर्य के समान । पावनम् = पवित्र । तनयम् = पुत्र को । प्रसूय = जन्म देकर । मम = मेरे । विरहजाम् = विरह से उत्पन्न । शुचम् = शोक को । न गणयिष्यसि = नहीं गिनोगी; (अर्थात् भूल जाओगी) ।

अनुवाद—हे बेटी, तुम उत्तम कुल में उत्पन्न (अपने) पति के प्रशंसनीय गृहिणी (महारानी) के पद पर प्रतिष्ठित होकर, उस (पति) के ऐश्वर्य (समृद्धि) के कारण महत्त्वपूर्ण कार्यों से प्रतिक्षण (सतत) व्यस्त रहती हुई और शीघ्र ही, पूर्व दिशा जिस प्रकार पवित्र सूर्य को जन्म देती है उसी प्रकार, पवित्र पुत्र को जन्म देकर मेरे विरह जनित शोक को नहीं गिनोगी (अर्थात् भूल जाओगी) ।

संस्कृत व्याख्या—**वत्से** – पुत्रि ! **त्वं** – शकुन्तला, **अभिजनवतः** – उत्तमकुलोत्पन्नस्य, **भर्तुः** – पत्युः, **श्लाघ्ये** – प्रशंसनीये, **गृहिणीपदे** – गृहस्वामिनिपदे, **स्थिता** – प्रतिष्ठिता, **तस्य** – भर्तुः, **विभवगुरुभिः** – धनसम्पत्त्या महद्भिः, **कृत्यैः** – कर्मभिः, **प्रतिक्षणम्** – सर्वदा (सततम्), **आकुला** – व्यस्ता, **अचिरात् च** – शीघ्रमेव च, **प्राची अर्कम् इव** – पूर्वा दिक् सूर्यम् इव, **पानम्** – पवित्रम् , **तनयम्** – पुत्रम् , **प्रसूय** – जनयित्वा, **मम विरहजां** – मद्वियोगजनिताम् , **शुचं** – शोकम् , **न गणयिष्यसि** – नानुभविष्यसि ।

संस्कृत-सरलार्थः—स्वपतिगृहप्रस्थानकाले स्वपुत्रीं शकुन्तलां शकुन्तलां समाश्यासयन् कण्वो वदति यत् – पुत्रि । इतो गत्वा त्वं यदा सत्कुलोत्पन्नस्य पत्युः प्रशस्यं गृहिणीपदम् अलङ्कुर्वाणा भर्तुरैश्वर्यवशात् महनीयेषु गृहकार्येषु सततं कार्यरता सती प्राचीव सूर्यमिव पवित्रं पुत्रं यथा शीघ्रं जनयिष्यति तदा नूनमेव मद्वियोगजनितं शोकं विस्मरिष्यसि ।

व्याकरण—अभिजनवतः – अभिजनः कुलम्, प्रशस्तः अभिजनः अस्यास्तीति – अभि+जन+मतुप् अभिजनवान् तस्य । गृहिणीपदे – गृहिण्याः – पदे (ष०त०) । विभवगुरुभिः – गृणातीति गुरुः गृ+उ, विभवेन गुरुभिः तृ०त० । प्रसूय – प्र+सू+क्त्वा+ल्यप् = उत्पन्न कर । विहजाम् – विरहजाम् – विरह+जन+ड – टाप् द्वि०ए०व० । यह पद शुचम् का विशेषण है ।

कोष—'अभिजनान्वयौ' – इत्यमरः । 'आत्मजस्तनयः सूनुः सुतः' – इत्यमरः ।

अलङ्कार—(१) 'प्राचीवार्कं पावनं तनयम्' में **'श्रौती पूर्णोपमा'** अलङ्कार है । यहाँ 'तनय' उपमेय, 'अर्क' उपमान, 'पावन' साधारण धर्म तथा 'इव' वाचक शब्द हैं । ल०द्र० १/५ । (२) श्लोक में चतुर्थ चरणगत 'मम विरहजां शुचं त्वं न गणयिष्यति' इस अर्थ के प्रति 'गृहकार्य में प्रतिक्षण व्यस्त रहना' – 'अभिजनवतो... प्रतिक्षणमाकुला' तथा सूर्य के समान तेजस्वी पुत्र को उत्पन्न करना – 'तनयमचिरात् ... पावनम्' इन दो कारणों का उल्लेख होने से **'काव्यलिङ्ग'** अलङ्कार है । ल०द्र० १/४ श्लो० । (३) तृतीय चरण में 'च' समुच्चय अर्थ में है क्योंकि उससे तीन कारणों का एक साथ उल्लेख है । अतः **समुच्चय** अलङ्कार है । ल०द्र० २/५ श्लो० । इनके अतिरिक्त श्रुत्यनुप्रास, वृत्त्यनुप्रास है ।

छन्द—श्लोक में **हरिणी** छन्द है । ल०द्र० ३/१० श्लो० ।

टिप्पणी—सर्वप्रथम पतिगृह जाने वाली कन्यायें अपने माता-पिता से विलग होने के कारण बहुत दुःखी होती हैं। उनके लिये विरहजनित कष्ट असह्य हो जाता है परन्तु जब वे अपने श्वसुरालय जाती हैं और सन्तानों की मां बन कर गार्हस्थ्य जीवन में व्यस्त हो जाती हैं तो उक्त कष्ट को एक प्रकार से भूल जाती हैं। कण्व इसी स्थिति को दृष्टि में रखकर शकुन्तला को समझाते हैं।

(शकुन्तला पितुः पादयोः पतति)।

(शकुन्तला पिता के पैरों पर गिरती है)।

काश्यपः—यदिच्छामि ते तदस्तु।

कण्व—मैं तुम्हारे लिये जो चाहता हूँ, वह (पूर्ण) हो।

शकुन्तला—(सख्यावुपेत्य) **हला, द्वे अपि मां सममेव परिष्वजेथाम्।** (हला, दुवे वि मं समं एव्वं परिस्सजह।)

व्या० एवं श०—परिष्वजेथाम् – परि+स्वञ्ज+लोट्+म०पु०द्वि०व० = आलिङ्गन करो।

शकुन्तला—(सखियों के पास जाकर) सखियों, तुम दोनों भी एक साथ ही मेरा अलिङ्गन करो।

सख्यौ—(तथा कृत्वा) **सखि, यदि नाम स राजा प्रत्यभिज्ञानमन्थरो भवेत्, ततस्तस्येदमात्मनामधेयाङ्कितमङ्गुलीयकं दर्शय।** (सहि, जइ णाम सो राआ पच्चहिण्णाणमन्थरो भवे, तदो से इमं अत्तणामहेअअङ्किअंअङ्गुलीअअं दंसेहिं।)

व्या० एवं श०—प्रत्यभिज्ञानमन्थरः – प्रत्यभिज्ञाने मन्थरः (तत्पुरुष) = पहचानने मे शिथिल। आत्मनामाभिधेयाङ्कितम् – आत्मनः नामधेयम् (ष०त०) तेन अङ्कितम् (तृ०त०) = अपने नाम से अङ्कित। अङ्गुलीयकम् – अङ्गूठी को।

दोनों सखियाँ—(वैसा कर अर्थात् गले लगाकर) सखी, यदि वह राजा (तुम्हें) पहचानने में शिथिल हो (अर्थात् देर करे) तो उसके अपने नाम से अङ्कित यह अङ्गूठी (उसे) दिखा देना।

शकुन्तला—अनेन सन्देहेन वामाकम्पिताऽस्मि। (इमिणा संदेहेण वो आकम्पिदम्हि।)

व्या० एवं श०—वाम् – युवयोः के स्थान पर अन्वादेश = तुम दोनों के। आकम्पिता – आ+कम्प+क्त+टाप् = काँप गयी हूँ।

शकुन्तला—तुम दोनों के इस सन्देह से मैं काँप गयी (घबरा गयी) हूँ।

सख्यौ—मा भैषीः। अतिस्नेहः पापशङ्की। (मा भाआहि। अदिसिणेहो पावसंकी।)

व्या० एवं श०—मा भैषीः = मत डरो। पापशङ्की = पाप की शङ्का करने वाला।

दोनों सखियाँ—डरो मत। अत्यधिक प्रेम (अनुराग) पाप की शङ्का करने वाला होता है। (अर्थात् अत्यधिक स्नेह के कारण अनिष्ट की आशङ्का हुआ करती है)।

शार्ङ्गरवः—युगान्तरमारूढः सविता। त्वरतामत्रभवती।

व्या० एवं श०—युगान्तरम् – युगपरिमाणमन्तरं इति युगान्तरम् = एक युग (पहर) के बाद अर्थात् दूसरे पहर को। आरूढः – आ+रुह्+क्त = चढ़ गया है।

शार्ङ्गरव—सूर्य दूसरे पहर (युगान्तर) में चढ़ गया है। (इसलिये) आदरणीया आप (शकुन्तला) शीघ्रता करें।

कोष—'नाम कोपेऽभ्युपगमे विस्मये स्मरणेऽपि च।' '...विकल्पेऽपिच' – इति मेदिनी। 'युगं हस्तचतुष्केऽपि च' – इति विश्वः।

टिप्पणी—(१) **प्रत्यभिज्ञानमन्थरो भवेत् दर्शयेति** – शकुन्तला की दोनों सखियों को दुर्वासा के शाप की कथा ज्ञात ही है अतः उनकी यह आशङ्का स्वाभाविक ही है कि कहीं दुष्यन्त शाप के कारण शकुन्तला को न पहचाने। इसीलिये नामङ्कित अँगूठी को दिखाने की बात कहती है। प्रत्यभिज्ञान (पहचान) से पूर्ववृत्त या घटित घटना आदि का स्मरण हो जाता है। (२) **अतिस्नेहः पापशङ्की** – अर्थात् अत्यन्त प्रगाढ स्नेह पाप (अनिष्ट) की आशङ्का कराता है। यह व्यवहार में देखा जाता है कि जब कोई अपना अत्यन्त प्रिय प्राणी कहीं बाहर जाता है तो उसके प्रेमी के हृदय में इस प्रकार शङ्कायें उठती हैं कि मार्ग में कोई दुर्घटना न हो जाय। ऐसी आशङ्का स्नेहातिशय के कारण होती है। इसमें अन्य कोई कारण नहीं है। दोनों सखियाँ इसी तथ्य को ध्यान में रखकर शकुन्तला को समझा रही हैं।

शकुन्तला—(आश्रमाभिमुखी स्थित्वा) **तात, कदा नु भूयस्तपोवनं प्रेक्षिष्ये ?** (ताद, कदा णु भुओ तवोवणं पेक्खिस्सं।)

व्याकरण एवं शब्दार्थ—प्रेक्षिष्ये – प्र+इक्ष्+लृट्+उ०पु०ए०व० = देखूँगी।

शकुन्तला—(आश्रम की ओर मुख किये हुए खड़ी होकर) पिता जी, मैं फिर कब तपोवन को देखूँगी (अर्थात् आप मुझे फिर कब बुलायेंगे) ?

काश्यपः—श्रूयताम् — **कण्व**—सुनो—

भूत्वा चिराय चतुरन्तमहीसपत्नी
दौष्यन्तिमप्रतिरथं तनयं निवेश्य।
भर्त्रा तदर्पितकुटुम्बभरेण सार्धं
शान्ते करिष्यसि पदं पुनराश्रमेऽस्मिन् ॥ २० ॥

अन्वय—चिराय चतुरन्तमहीसपत्नी भूत्वा, अप्रतिरथं दौष्यन्तिं तनयं निवेश्य तदर्पितकुटुम्बभरेण भर्त्रा सार्धं शान्ते अस्मिन् आश्रमे पुनः पदं करिष्यसि।

शब्दार्थ—चिराय = चिरकाल (बहुत दिनों) तक। चतुरन्तमहीसपत्नी = चारों (समुद्र) हैं सीमा (अन्त) जिसके ऐसी पृथ्वी की सपत्नी (सौत) अर्थात् चारों समुद्रों तक फैली हुई पृथ्वी की सपत्नी (सौत)। भूत्वा = होकर। अप्रतिरथम् = नहीं है प्रतिद्वन्द्वी महारथी (प्रतिरथ) जिसका ऐसे, प्रतिद्वन्द्वी से रहित (अद्वितीय) महारथी। दौष्यन्तिम् = दुष्यन्त से उत्पन्न। तनयम् = पुत्र को। निवेश्य = (सिंहासन पर) बैठाकर। तदर्पितकुटुम्बभरेण = जिसके द्वारा उस (पुत्र) पर कुटुम्ब का भार सौंप दिया गया है ऐसे, उस (पुत्र) पर कुटुम्ब का भार छोड़ देने (सौंप देने) वाले। भर्त्रा = पति के। सार्धम् = साथ। शान्ते = शान्त। अस्मिन् = इस। आश्रमे = आश्रम में। पुनः = फिर। पदम् = स्थान (निवास)। करिष्यसि = करोगी (बनाओगी)।

अनुवाद—बहुत दिनों तक चारों (समुद्रों) तक फैली हुई पृथ्वी की सपत्नी (राजा दुष्यन्त की पटरानी) होकर और अपने अद्वितीय महारथी दुष्यन्त से उत्पन्न पुत्र को (राज-सिंहासन पर) प्रतिष्ठित करा कर (बैठाकर) और उस (पुत्र) को कुटुम्ब का भार सौंपने वाले पति (दुष्यन्त) के साथ इस शान्त आश्रम में फिर (आकर) निवास करोगी।

संस्कृत व्याख्या—चिराय – चिरकालम् यावत् , **चतुरन्तमहीसपत्नी भूत्वा** – चत्वारः समुद्राः अन्ताः प्रान्ताः यस्याः तादृश्याः मह्याः पृथिव्याः सपत्नी समानभर्तृका भूत्वा, **अप्रतिरथम्** – अद्वितीयवीरम् , **दौष्यन्तिं** – दुष्यन्तस्य अपत्यम् , **तनयं** – पुत्रम् (भरतम्), **निवेश्य** – राज्यसिंहासने प्रतिष्ठाप्य, **तदर्पितकुटुम्बभरेण** – तस्मिन् पुत्रे न्यस्तः कुटुम्बपोषणभारः येन तेन, **भर्त्रा** – पत्या (दुष्यन्तेन), **सार्धं** – सह, **शान्ते अस्मिन्** – निरुपद्रवे अस्मिन् **आश्रमे** – तपोवने, **भूयः** – पुनः, **पदं** – स्थानम् , **करिष्यसि** – विधास्यसि । अर्थात् निवसिष्यसि ।

संस्कृत-सरलार्थः—कण्वकथनस्यायमाशयो यत् शकुन्तला चिरकालं यावत् चतुः समुद्रवेष्टिता पृथिवीव दुष्यन्तस्य महाराज्ञी सती महावीरं (भरतनामकं) पुत्रं राज्यसिंहासने प्रतिष्ठाप्य तथा तस्मै प्रदत्तराज्यभारेण स्वभर्त्रा (दुष्यन्तेन) साकं वानप्रस्थाश्रमे पुनः शान्तवनेऽस्मिन् निवासं करिष्यसि ।

व्याकरण—चतुरन्तमहीसपत्नी – चत्वारः (समुद्राः) अन्ताः यस्याः तादृश्याः मह्याः सपत्नी (तत्पु०, बहु०) । अप्रतिरथम् – न विद्यते प्रतिरथं (प्रतिद्वन्द्वी) यस्य सः तम् (ब०व्री०) = प्रतिद्वन्द्वी न हो (अद्वितीय) । दौष्यन्तिं – दुष्यन्तस्य अपत्यं पुमान् तम् , पुत्र अर्थ में इञ् प्रत्यय । तदर्पितकुटुम्बभरेण – तस्मिन् अर्पितः कुटुम्बस्य भरः (भारः) येन तेन (बहु०) । निवेश्य – नि+विश्+णिच्+क्त्वा – ल्यप् । तदर्पित कुटुम्बभरेण – तस्मिन् अर्पितः – कुटुम्बस्य भरः येन तेन (ब०व्री०) । करिष्यसि – कृ+लृट्+म०पु०ए०व० ।

कोष—'निवेशः शिविरोद्वाहविन्यासेषु प्रकीर्तितः' – इत्यमरः ।

अलङ्कार—इस श्लोक में पहले पृथ्वी पर सपत्नी का आरोप किया गया है, पुनः उस पर (पृथ्वी पर) पुत्र को बिठाया गया है, तदन्तर पुत्र पर कुटुम्ब का भरण-पोषण का भार रखा गया है, इस प्रकार यहाँ मालादीपक अलङ्कार है । मालादीपक का लक्षण निम्नाङ्कित है— 'तन्मालादीपकं पुनः । धर्मिणामेकं धर्मेण सम्बन्धो यद् यथोत्तरम् ।' अर्थात् **मालादीपक** अलङ्कार वहाँ होता है जहाँ धर्मी रूप से वर्णित अनेक वस्तुओं का उत्तरोत्तर एक धर्म से सम्बन्ध वर्णित किया जाता है । कुछ विद्वान् यहाँ **'काव्यलिङ्ग'** अलङ्कार मानते हैं ।

छन्द—यहाँ **'वसन्ततिलका'** छन्द है । ल०द्र० १/८ श्लो० ।

टिप्पणी—(१) राजा को पृथ्वी का पति कहा जाता है । दुष्यन्त पृथ्वी एवं शकुन्तला दोनों के पति हुये 'चतुरन्तमहीसपत्नी' । इस प्रकार शकुन्तला पृथ्वी की सपत्नी है । अनेक पत्नियों के होते हुये भी दुष्यन्त के वंश की दो प्रतिष्ठा है—१. समुद्र तक फैली पृथ्वी, २. शकुन्तला । दुष्यन्त का द्वितीय अङ्क में कहना है—'परिग्रहबहुत्वेऽपि द्वे प्रतिष्ठे कुलस्य नः । समुद्ररसना चोर्वी सखी च युवयोरियम्' ॥ ७ ॥ (२) प्राचीन भारत में 'वानप्रस्थ' आश्रम का परिपालन विशेषतः राजा भी करते थे । कण्व का सङ्केत उसी आश्रम के प्रति है जब शकुन्तला अपने पति के साथ वानप्रस्थ जीवन बिताने वन में आयेगी । वानप्रस्थ में राजा (आदि) अपने पुत्र को राज्यभार सौंप कर सपत्नीक जङ्गल में रहते थे । मनु के अनुसार सभी को वानप्रस्थ जीवन बिताना चाहिये—

गृहस्थस्तु यदा पश्येद् वलीपलितमात्मनः । अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत् ।

सन्त्यज्य ग्राम्यमाहारं सर्वं चैव परिच्छदम्। पुत्रेषु भार्यां निक्षिप्य वनं गच्छेत् सहैव वा। मनु० ६/२-३१।

(३) **निवेष**—इसका दो अर्थ हो सकता है १. राज्यसिंहासन पर बिठाकर, २. विवाह कराकर। दोनों अर्थों का प्रयोग कालिदास ने किया है।

गौतमी—जाते, परिहीयते गमनवेला। निवर्तय पितरम्। अथवा चिरेणापि पुनः पुनरेषैवं मन्त्रयिष्यते। निवर्ततां भवान्। (जादे, परिही अदि गमणवेला। णिवत्तेहि पिदरं। अहवा चिरेण वि पुणो पुणो एसा एव्वं मन्त इस्सदि। णिवत्तदु भवं।)

व्या० एवं श०—जाता = (पुत्री) सम्बोधन में जाते। परिहीयते – परि+हा+कर्मकर्तरि लट् प्र०पु०ए०व० = बीत रही है।

गौतमी—पुत्री, जाने का समय बीत रहा है। (इसलिये) पिता जी को लौटाओ। अथवा यह (शकुन्तला) बहुत देर तक बार-बार इसी प्रकार कहती रहेगी। (इसलिये अब) आप (ही) लौट जाइये।

काश्यपः—वत्से, उपरुध्यते तपोऽनुष्ठानम्।

व्या० एवं श०—उपरुध्यते – उप+रुध्+लट् प्र०पु०ए०व० (कर्म वाच्य) = रुक रहा है।

कण्व—बेटी, (मेरी) तपस्या का अनुष्ठान रुक रहा है (इसलिये) मुझे जाने दो।

शकुन्तला—(भूयः पितरमाश्लिष्य) **तपश्चरणपीडितं तातशरीरम्। तन्माऽतिमात्रं मम कृत उत्कण्ठस्व।** (तवच्चरणपीडिदं तादसरीरं। ता मा अदिमेत्तं मम किदे उक्कण्ठस।)

व्या० एवं श०—आश्लिष्य – आ+श्लिष्+क्त्वा – ल्यप् = लिपटकर। तपश्चरणपीडितं – तपश्चरणपीडितम् तपसः चरणेन पीडितम् त०ष० = तपस्या के आचरण से पीडित (दुर्बल)। उत्कण्ठस्व – उत्+कण्ठ् लोट् म०पु०ए०व० = दुःखी होइये।

शकुन्तला—(पुनः पिता से लिपटकर) पिता जी का (अर्थात् आप का) शरीर तपस्या के आचरण से (अत्यन्त) कृश (पीड़ित) है। इसलिये मेरे लिये आप अत्यधिक दुःखी मत होइये।

काश्यपः—(सनिःश्वासम्)—

कण्व—(उच्छ्वास लेते हुये)—

शममेष्यति मम शोकः कथं नु वत्से त्वया रचितपूर्वम्।
उटजद्वारविरूढं नीवारबलिं विलोकयतः॥ २१॥

अन्वय—वत्से, त्वया रचितपूर्वं उटजद्वारविरूढं नीवारबलिं विलोकयतः मम शोकः कथं नु शमम् एष्यति।

शब्दार्थ—वत्से = पुत्री। त्वया = तुम्हारे द्वारा। रचितपूर्वम् = पहले (भूतबलि के रूप में या पक्षियों के लिये) डाले (बिखेरे) गये। उटजद्वारविरूढम् = कुटी के द्वार पर उगे हुये। नीवारबलिम् = नीवार (जङ्गली धान) के उपहार (बलि) को। विलोकयतः = देखते हुये। मम = मेरा। शोकः = शोक। कथं नु = भला कैसे। शमम् = शान्ति को। एष्यति = प्राप्त होगा।

अनुवाद—बेटी! तुम्हारे द्वारा पहले (भूतबलि के रूप में) बनाये गये (पक्षियों आदि के खाने के लिये डाले (बिखेरे गये) (और अब कुटी के द्वार पर उगे हुये) नीवारों (जङ्गली धान)

को देखते हुये मेरा शोक कैसे शान्ति को प्राप्त होगा (अर्थात् शान्त होगा) ?

संस्कृत व्याख्या—वत्से – पुत्रि ! **त्वया** – शकुन्तलया, **रचितपूर्वम्** – प्राक् , निर्मितम् , **पक्षिप्रभृतीनां** – भक्षणाय पूर्वं विकीर्णमित्यर्थः, **सम्प्रति उटजद्वारविरूढम्** – भूतबलिरूपेण कुटीरद्वारे तोयसम्पर्केणाङ्कुरितम् , **नीवारबलिम्** – वन्यधान्योपहारम् , **विलोकयतः** – पश्यतः, **मम** – कण्वस्य, **शोकः** – विषादः, **कथं नु** – केन प्रकारेण; **शमं शान्तिम् एष्यति** – यास्यति, कथमपि शान्तिं न प्राप्स्यति इत्यर्थः।

संस्कृत-सरलार्थः—'पुत्री ! पूर्वं त्वया कुटीरद्वारे बलिरूपेण (पक्षिप्रभृतिजीवानां भक्षणाय) यानि नीवारधान्यानि विकीर्णानि तानि सम्प्रति-अङ्कुरितानि जातानि। तानि पश्यतो मम कष्टं कथमपि शान्तं न भवि ष्यति, तानि पश्यता मया न केनापि प्रकारेण त्वद्वियोगजनितं क्लेशमपाकर्त्तुं शक्यते' – इति सरलोऽर्थः।

व्याकरण—एष्यति – इण् (इ) लृट् प्र०पु०ए०व०। रचितपूर्वम् – पूर्वं रचितम् (सुप्सुपा समास)। 'भूतपूर्वेचरट्' सूत्र से पूर्ववर्ती 'पूर्व' का बाद में प्रयोग। उटजद्वारविरूढम् – उटजस्य कुटीरस्य द्वारेऽअङ्कुरितम् – त०स०। उटज – उटाज्जायते – उट्+जन्+ड (जनेर्डः सूत्र से 'ड' प्रत्यय)। नीवारबलिम् – नीवारैः बलिम् (तृ०त०)। विलोकयतः – वि+लोक्+णिच्+शतृ+ष० ए०व०।

कोष—'मुनीनां तु पर्णशालोटजोऽस्त्रियाम्' – इत्यमरः। 'उटजस्तृणपर्णादिः' – देशीकोषः।

रस भाव—इस श्लोक में कण्व का वात्सल्य अत्यन्त पीडित है। यहाँ करुण (करुण वात्सल्य) की अच्छी व्यञ्जना हुई है।

अलङ्कार—(१) यहाँ कण्व के शोक को दूर न होने का 'शममेष्यति मम शोकः कथं नु' कारण कुटिया के द्वार पर शकुन्तला द्वारा विकीर्ण और अब उगे हुये तृणधान्य का देखना (उटजद्वारविरूढं नीवारबलिं विलोकयतः) रूप पदार्थ है अतः यहाँ पदार्थहेतुक **'काव्यलिङ्ग'** अलङ्कार है। ल०द्र० १/४ श्लो०। (२) कुछ विद्वान् यहाँ **काव्यलिङ्ग** से अनुप्राणित **अर्थापत्ति** अलङ्कार मानते हैं। ऐसी स्थिति में दोनों का अङ्गाङ्गिभावसंकर होगा। कुछ विद्वानों के मत में यहाँ **'परिकर'** अलङ्कार भी है।

छन्द—यहाँ **'आर्या'** छन्द है। ल०द्र० १/२ श्लो०।

टिप्पणी—(१) **नीवारबलिम्** – नीवार एक धान्य विशेष है जिसे आजकल 'तिन्नी' भी कहते हैं। प्राचीन काल में मुनि लोग इसका खाद्यान्न के रूप में उपयोग करते थे। ऐसे नीवार का बलिवैश्य देव यज्ञ या भूतयज्ञ के लिये भी उपयोग होता था। पशु-आदि जीवों को खाने के लिये जिन नीवार धान्यों को शकुन्तला ने कुटीर के द्वार पर बिखेर दिया था वे जल के संयोग से उग आये हैं। शकुन्तला जब अपने पिता कण्व से दुःखित होने के लिये मना करती है (तन्मातिमात्रं मम कृते उत्कण्ठस्व) तब वे कहते हैं कि तुम्हारे द्वारा बिखेरे गये और अब उगे हुये नीवार धान्य को देखते हुये मैं अपने कष्ट को कैसे रोक सकता हूँ। ये नीवार धान्य ही तुम्हारी स्मृति के और तुम्हारी स्मृति ही मेरे शोक का कारण होगी। (२) यज्ञ पाँच प्रकार के होते हैं— १. देवयज्ञ, २. पितृयज्ञ, ३. मनुष्ययज्ञ, ४. भूतयज्ञ, ५. ब्रह्मयज्ञ। **भूतयज्ञ** में भूत से आभिप्राय पशु-पक्षी आदि विविध जीवों से है। सृष्टि के समस्त पदार्थों पर न्यूनाधिक रूप से सभी प्राणियों का अधिकार है। सभी को उसमें अधिकार मिलना चाहिये।

यह सोचकर ही भूतयज्ञ 'बलि' का विधान होता था। शकुन्तला द्वारा बलि के रूप में बिखेरा गया नीवारधान्य भूतयज्ञ के ही अन्तर्गत है।

विशेष—इस श्लोक में करुण वात्सल्य की बहुत अच्छी व्यञ्जना हुई है। शकुन्तला के प्रस्थान के अवसर पर कण्व का वात्सल्य नितान्त आहत है। कुछ विद्वान् 'भूत्वा चिराय' श्लोक के स्थान पर इसे उत्तम चार श्लोकों के अन्तर्गत मानते हैं। विशेष जानकारी के लिये द्रष्टव्य भूमिका का 'तत्र श्लोकचतुष्टयम्'।

गच्छ। शिवास्ते पन्थानः सन्तु। — जाओ। तुम्हारे मार्ग मङ्गलमय हों।

(निष्क्रान्ता शकुन्तला सहयायिनश्च)

(शकुन्तला और उसके साथ जाने वाले लोग निकल जाते हैं)।

सख्यौ—(शकुन्तलां विलोक्य) **हा धिक्, हा धिक्। अन्तर्हिता शकुन्तला वनराज्या।** (हद्धी, हद्धी। अन्तलिहिदा सउन्दला वणराईए।)

दोनों सखियाँ—(शकुन्तला को देखकर) हाय कष्ट है, हाय कष्ट है, शकुन्तला वृक्षों (वन) की पङ्क्ति से ओझल हो गयी।

काश्यपः—(सनिःश्वासम्) **अनसूये, गतवती वां सहचारिणी। निगृह्य शोकमनुगच्छतं मां प्रस्थितम्।**

व्या० एवं श०—अन्तर्हिता – अन्तर्+धा+क्त+टाप् (धा को हि) = ओझल। वनराज्या – वनस्य राजिः पङ्क्तिः वनराजिः तया (तत्पु०) = वनपङ्क्ति से।

कण्व—(उच्छ्वास लेते हुये) अनसूया, तुम लोगों की सखी चली गयी। तुम लोग अपने शोक को रोककर (आश्रम की ओर) प्रस्थान करने वाले मेरा अनुगमन करो (मेरे पीछे-पीछे आओ)।

उभे—तात, शकुन्तलाविरहितं शून्यमिव तपोवनं कथं प्रविशाति।

व्या०. एवं श०—शकुन्तलाविरहितं –शकुन्तलया विरहितम् = शकुन्तला रहित (तत्पु०)।

दोनों—पिता जी, शकुन्तला से रहित (इस) सूने से तपोवन में हम कैसे प्रवेश करें।

काश्यपः—स्नेहप्रवृत्तिरेवंदर्शिनी। (सविमर्शं परिक्रम्य) **हन्त भोः शकुन्तलां पतिकुलं विसृज्य लब्धमिदानीं स्वास्थ्यम्। कुतः—**

व्या० एवं श०—स्नेहप्रवृतिः – स्नेहस्य प्रवृत्तिः (ष०त०) प्रवृत्तिः – प्र+वृत्+क्तिन् = प्रेम-प्रवाह (भाव)। एवंदर्शिनी – एवं दर्शयतीति – एवम्+दृश्+णिनि (कर्तरि ताच्छील्ये) ङीप् = इस प्रकार दिखाने वाली। विसृज्य – वि+सृज्+क्त्वा – ल्यप् = छोड़कर-भेजकर। स्वास्थ्यम् – स्वस्मिन् तिष्ठति स्वस्थः (स्व+स्थ+क) तस्य भावः स्वास्थ्यम् – स्वस्थ+ष्यञ् = स्वस्थता (निश्चिन्तता) को।

कण्व—प्रेम प्रवाह (भाव) इसी प्रकार दिखाने वाला होता है (अर्थात् प्रेम के आधिक्य के कारण व्यक्ति को ऐसा ही अनुभव होता है)। (विचार-मग्न चारों ओर घूमकर) अहा! शकुन्तला को पति के घर (अर्थात् ससुराल) भेजकर अब (मुझे) निश्चिन्तता (मानसिक शान्ति) प्राप्त हुई।

क्योंकि—

टिप्पणी—(१) **शून्यमिव तपोवनम्** - यह नितान्त स्वाभाविक है कि प्रियजन के वियोग में आवास आदि शून्य सा हो जाता है। प्रथम वियोग में तो वह शून्यता और बढ़ जाती है। यहाँ सखियों के कथन का यही अभिप्राय है। (२) **स्नेहप्रवृत्तिरेवंदर्शिनी** - अनसूया और प्रियंवदा के अकथन (शून्यमिव...) का उत्तर देते हुये कण्व का कहना है कि तपोवन की शून्यता जैसी प्रतीति उन दोनों के शकुन्तला के प्रति उनके स्नेहभाव के प्रवाह के कारण है। स्नेहभाव (प्रवाह) के कारण वस्तुयें (प्रिय के वियोग में) उलटी प्रतीत होने लगती है। शकुन्तला उन दोनों की अभिन्न है और उसके प्रति उनका अतिशय स्नेह है अतः उन्हें उसके वियोग में सब कुछ सूना लग रहा है।

कोष—'प्रवृत्तिस्तु प्रवाहे स्यात्' - इति मेदिनीकोषः। 'हन्त हर्षेऽनुकम्पायामित्यमरः'।

अर्थो हि कन्या परकीय एव तामद्य सम्प्रेष्य परिग्रहीतुः।
जातो ममायं विशदः प्रकामं प्रत्यर्पितन्यास इवान्तरात्मा।। २२।।

अन्वय—कन्या हि परकीयः एव अर्थः, अद्य तां परिग्रहीतुः सम्प्रेष्य मम अयम् अन्तरामा प्रत्यर्पितन्यासः इव प्रकामं विशदः जातः।

शब्दार्थ—कन्या = कन्या। हि = वस्तुतः। परकीयः = पराया। एव = ही। अर्थः = धन (होता है)। अद्य = आज। ताम् = उसको। परिग्रहीतुः = परिग्रह (विवाह) करने वाले (पति दुष्यन्त के पास) (पति के पास)। सम्प्रेष्य = भेजकर। मम = मेरा। अयम् = यह। अन्तरात्मा = अन्तःकरण। प्रत्यर्पितन्यासः = जिसके द्वारा धरोहर (न्यास) लौटा दी गयी है ऐसे व्यक्ति की भाँति (धरोहर लौटा देने वाले व्यक्ति की भाँति)। प्रकामम् = अत्यन्त। विशदः = निर्मल, प्रसन्न, निश्चिन्त। जातः = हो गया है।

अनुवाद—कन्या (लड़की) वस्तुतः दूसरे का ही धन है। आज उस (कन्या) को पति के (पास) भेजकर मेरा यह अन्तःकरण उसी प्रकार अत्यन्त प्रसन्न हो गया है, जिस प्रकार धरोहर लौटा देने वाले व्यक्ति (का अन्तःकरण अति प्रसन्न) (निश्चिन्त) हो जाता है।

संस्कृत व्याख्या—**कन्या** - तनया, **हि** - निश्चयेन, **परकीयः एव** - परस्य एव, **अर्थः** - धनम्, **अस्तीति** - शेषः, **अद्य** - अस्मिन्नहनि, **तां** - कन्याम्, **परिग्रहीतुः** - परिणेतुः, **सम्प्रेष्य** - प्रस्थाप्य, **मम** - कण्वस्य, **अयम्** - एषः, **अन्तरात्मा** - अन्तःकरणम्, **प्रत्यर्पितन्यासः इव** - पुनरर्पितनिक्षेपः इव, **प्रकामम्** - अत्यन्तम्, **विशदः** - निर्मलः, निश्चिन्तः, प्रसन्नः, **जातः** - निष्पन्नः।

संस्कृत-सरलार्थः—कण्वकथनाभिप्रायोऽस्ति कन्या परस्य धनमस्ति। परधनरूपं कन्याधनं (शकुन्तलामि त्यर्थः) तत्स्वामिने पत्ये समर्प्य तथैव कण्वो निश्चिन्तो जातः यथा कश्चिन् न्यासं तत्स्वामिनं प्रत्यर्प्य निश्चिन्तः (प्रसन्नाः) भवति।

व्याकरण—परकीयः - परस्य अयम् पर+छ+कुक् (क) का आगम। सम्प्रेष्य - सम्+प्र+इष्+क्त्वा - ल्यप्। ग्रहीतुः - ग्रह+तृच् ष०त०पु०। प्रत्यर्पितन्यासः - प्रत्यर्पितः पुनर्दत्तः न्यासः निक्षेपः येनेदृश इव बहु०। न्यासः - नि+अस्+घञ्।

कोष—'कन्या नार्यां कुमार्यां च राश्यौषधिविशेषयोः' - इति हैम।।

अलङ्कार—यहाँ 'प्रत्यर्पितन्यास इव' में **'उत्प्रेक्षा'** अलङ्कार है। यहाँ 'इव' औपम्यवाचक न होकर उप्रेक्षावाचक है। न्यास के साथ उसका साधर्म्य है। उत्प्रेक्षावाचक शब्द निम्नाङ्कित कारिका में सङ्गृहीत हैं—

मन्ये शङ्के ध्रुवं प्रायो नूनमित्येवमादयः ।
उत्प्रेक्षा व्यज्यते शब्दैरिव शब्दोऽपि तादृशः ।।

अर्थात् मन्ये, शङ्के, ध्रुवम् , प्रायः, नूनम् , इव – ये शब्द उत्प्रेक्षावाचक हैं ।

टिप्पणी—पिता के पास उसकी पुत्री धरोहर के रूप में रहती है क्योंकि वह दूसरे (अर्थात् पति) की धन होती है । इसलिये जब तक पिता परधन रूपी कन्या को उसके वास्तविक स्वामी (उसके पति) को नहीं दे देता तब तक उसका हृदय निश्चिन्त नहीं हो पाता । इसीलिये कन्या का पिता होना कष्टप्रद होता है—**'जातेति कन्या महतीति चिन्ता' 'कन्यापितृत्वं खलु नाम कष्टम्'** कहा गया है । आज महर्षि कण्व धरोहररूप अपनी बेटी शकुन्तला को उसके पति दुष्यन्त के पास भेजकर परमशान्ति एवं निश्चिन्तता का अनुभव कर रहे हैं ।

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

(सभी निकल जाते हैं)

।। इति चतुर्थोऽङ्कः ।।

।। चतुर्थ अङ्क समाप्त ।।

◆

पञ्चमोऽङ्कः

(ततः प्रविशत्यासनस्थो राजा विदूषकश्च)

(तत्पश्चात् आसन पर बैठे हुये राजा और विदूषक प्रवेश करते हैं)।

विदूषकः—(कर्णं दत्त्वा) **भो वयस्य, सङ्गीतशालान्तरेऽवधानं देहि। कलविशुद्धाया गीतेः स्वरसंयोगः श्रूयते। जाने तत्रभवती हंसपदिका वर्णपरिचयं करोतीति।** (भो वअस्स, संगीतसालन्तरे अवधाणं देहि। कलविसुद्धाए गीदीए सरसंजोओ सुणीअदि। जाणे तत्तहोदी हंसवदिआ वण्णपरिअअं करेदि त्ति।)

व्या० एवं श०—सङ्गीतशालान्तरे – सङ्गीतस्य शाला तस्याः अन्तरे मध्ये – तत्पुरुष = सङ्गीतशाला के भीतर। नृत्य, वाद्य तथा गीत को सङ्गीत कहते हैं—नृत्यं वाद्यं गीतं च त्रयं सङ्गीतमुच्यते। अवधानम् – अव+धा+ल्युट् = ध्यान। कलविशुद्धायाः – कला मधुरा- स्फुटध्वनियुक्ता विशुद्धा – विशुद्धा नाम नीतिः (ग्रामरागजनिका) – तस्याः (तत्पुरुष) = मधुर एवं अस्पष्ट ध्वनि युक्त विशुद्धा नामक गीत (गीति-भेद) का। स्वरसंयोगः – स्वरस्य संयोगः (तत्पु०) = स्वरालाप। वर्णपरिचयम् – वर्णस्य गीतिक्रमस्य परिचयम्।

विदूषक—(कान लगाकर) हे मित्र! सङ्गीतशाला के भीतर ध्यान दीजिये। अस्पष्ट मधुर ध्वनियुक्त शुद्धा नामक गीति का स्वर आलाप (सुरीला तान) सुनायी पड़ रहा है। मैं समझता हूँ कि माननीया (रानी) हंसपदिका वर्णों का परिचय (गीति क्रम का परिचय प्राप्त) कर रही हैं।

टिप्पणी—(१) कल – 'कड्' धातु से 'कडति माद्यति अनेन अर्थ में घञ् वृद्धि का अभाव और 'ड' को 'ल' करने पर 'कल' शब्द व्युत्पन्न होता है, जिसका अर्थ है—मधुर अस्पष्ट ध्वनि। अमरकोष में कहा गया है—'ध्वनौ तु मधुरास्फुटे कलः'। (२) शुद्ध गीति के पाँच भेद होते हैं—भिन्ना, गौडा, निवेसरा, साधारणी तथा विशुद्धा। 'गीतयः पञ्चशुद्धाख्या भिन्ना गौडा निवेसरा। साधारणी विशुद्धा स्यादवक्रैर्ललितैः स्वरैः'॥ इनमें विशुद्धा नामक एक भेद है। विशुद्ध का अर्थ होता है – निर्दोष-त्रुटिरहित। विशुद्धा नामक गीति भेद में सरल और ललित स्वर होते हैं। (३) स्वरसंयोग – स्वर सात हैं—निषाद, ऋषभ, गान्धार, षड्ज, मध्यम, धैवत और पञ्चम। अमरकोष में कहा गया है—'निषादर्षभगान्धारषड्जमध्यमधैवताः। पञ्चमश्चेत्यमी सप्त तन्त्रीकण्ठोत्थिताः स्वराः'॥ (४) वर्णपरिचयम् – वर्णः गीतिक्रमः तस्य परिचयम् = गीतिक्रम का परिचय। यहाँ 'स रे ग म प ध नि' इन सात स्वरों से अभिप्राय है। वस्तुतः वर्ण का अर्थ गान किया है। वह चार प्रकार का होता है—स्थायी, आरोही, अवरोही तथा सञ्चारी – संगीतरत्नाकर में कहा गया है—'गानक्रियोच्यते वर्णः स चतुर्धा निरूप्यते। स्थाय्यारोह्यवरोही च संचारी च'॥ (५) सङ्गीतशालायाम् – इस से यह द्योतित होता है कि कालिदास के समय में ऊँचे परिवारों में स्त्रियाँ सङ्गीत सीखती थीं और उन्हें सङ्गीत सिखाने के लिये सङ्गीतशालायें होती थीं।

राजा—तूष्णी भव। यावदाकर्णयामि।

राजा—चुप (शान्त) हो जाओ। जब तक मैं सुनता हूँ।

(आकाशे गीयते)

(आकाश में गाया जाता है।)

अभिनवमधुलोलुपस्त्वं तथा परिचुम्ब्य चूतमञ्जरीम् ।
कमलवसतिमात्रनिर्वृतो मधुकर विस्मृतोऽस्येनां कथम् ।। १ ।।

(अहिणवमहुलोलुवो तुमं तह परिचुम्बिओ चूअमंजरिं।
कमलवसइमेत्तणिव्वुदो महुअर विम्हरिओ सि णं कहं ।।)

अन्वय—मधुकर, अभिनवमधुलोलुपः त्वं चूतमञ्जरीं तथा परिचुम्ब्य कमलवसतिमात्रनिर्वृतः (सन्) एनां कथं विस्मृतः असि।

शब्दार्थ—मधुकर = हे भ्रमर ! अभिनवमधुलोलुपः = नवीन मधु (पुष्परस) के लोभी। त्वम् = तुम। चूतमञ्जरीम् = आम की मञ्जरी को। तथा = उस प्रकार। परिचुम्ब्य = चुम्बन कर (रसास्वादन कर)। कमलवसतिमात्रनिर्वृतः = कमल में निवास मात्र से सन्तुष्ट। एनाम् = इसको। कथमू = क्यों। विस्मृतः असि = भूल गये हो।

अनुवाद—हे भ्रमर ! नवीन मधु (अनास्वादित पुष्परस) के लोभी तुम आम्र की मञ्जरी को उस प्रकार (अत्यधिक प्रेम से) चुम्बन (रसास्वादन) कर (अब) कमल में निवासमात्र से सन्तुष्ट (होकर) इस (आम्रमञ्जरी) को कैसे भूल गये हो ?

संस्कृत व्याख्या—**मधुकर** - हे भ्रमर ! **अभिनवमधुलोलुपः** - नूतनस्य अनास्वादितरसस्य पुष्परसस्य प्रणयरसस्येतिव्यङ्ग्यम् अभिलाषी, **त्वं** - भवान् , **चूतमञ्जरीं** - आम्रवल्लरीम् , नवयौवनाम् मामिति व्यङ्ग्यम् , **तथा** - तेन प्रकारेण प्रीत्या सह, **परिचुम्ब्य** - रसम् आस्वाद्य, **कमलवसतिमात्रनिर्वृतः** - पद्मनिवासमात्रसन्तुष्टः, गतप्राययौवनाया देव्या वसुमत्याः सहवासमात्रेण सन्तुष्टः इति व्यङ्ग्यम् , **एनाम्** - आम्रमञ्जरीम् , मामितिव्यङ्ग्यम् , **कथं** - किमर्थम् , **विस्मृतः असि** - न स्मरसि।

संस्कृत-सरलार्थः—व्यञ्जनयाऽयमर्थो याति बोधविषयताम् - कामुक ! अनास्वादितपूर्वस्याधरमधुनः पिपासुस्त्वं चूतमञ्जरीमिव नवयौवनां मां (हंसपदिकां) सम्यक्तया कपोलादिषु चुम्बित्वा सम्प्रति गतप्राययौवनाया देव्या वसुमत्याः सहवासमात्रेण सन्तुष्टः सन् एनाम् (अर्थात् मां हंसपदिकां) कथं विस्मृतः ? कथं विरक्तो माम्प्रतीति भावः)।

व्याकरण—अभिनवमधुलोलुपः - अभिनवे मधुनि लोलुपः (तत्पु०)। लोलुपः - गर्हितं लुभ्यति इति लुप्+यङ्+अच्। परिचुम्ब्य - परि+चुम्ब+क्त्वा+ल्यप्। कमलवसतिमात्रनिर्वृतः - कमले वसतिः (सप्त०त०), सा एव कमलवसतिमात्रम् (मयूरव्यसकादि...) तेन निर्वृतः (तृ०त०)। विस्मृतः - वि+स्मृ+क्त (कर्तरि)।

कोष—'मधुव्रते मधुकरः कामुकेऽपि प्रकीर्तितः' इति विश्वः।

अलङ्कार—(१) इस श्लोक के पदों के श्लिष्ट होने से यहाँ **'श्लेष'** अलङ्कार है। ल०द्र० २/९ श्लो०। द्व्यर्थक होने के कारण एक अर्थ भ्रमर के पक्ष में और दूसरा अर्थ राजा (दुष्यन्त) के पक्ष में होगा। (२) विशेषणों के साभिप्राय होने से **'परिकर'** अलङ्कार है। ल०द्र० १/२६ श्लो०। (३) यहाँ मधुकर पर नायक दुष्यन्त, आम्रमञ्जरी पर नायिका शकुन्तला

(हंसपदिका) तथा कमलवसति पर अन्त:पुर की (वसुमती) रानी का आरोप होने के कारण **'समासोक्ति'** अलङ्कार है। ल०द्र० १/२३ श्लो०।

छन्द—यहाँ **'अपरवक्त्र'** छन्द है। **लक्षण**—'अयुजि ननरला गुरुः समे तदपरवक्त्रमिदं नजौ जरौ'। अर्थात् जिस छन्द के प्रथम और तृतीय चरण में क्रमशः नगण, नगण, रगण, लघु और गुरु – इस क्रम से तथा द्वितीय और चतुर्थ चरण में क्रमशः नगण, जगण, जगण तथा रगण होते हैं उसे **'अपरवक्त्र'** छन्द कहते हैं। इस छन्द के विषम चरणों (प्रथम एवं तृतीय) में ग्यारह तथा सम चरणों में (द्वितीय और चतुर्थ) में बारह वर्ण होते हैं।

टिप्पणी—(१) हंसपदिका के इस गीत का सारांश यह है कि दुष्यन्त हंसपदिका (पटरानी) से प्रेम करने के कारण अब हंसपदिका को भूल गया है। हंसपदिका राजा की प्रेमिका है जो कभी उसके प्रगाढ़ प्रेम की अधिकारिणी थी परन्तु अब वियोग-विधुरा है। यह श्लोक कवि ने शकुन्तला की स्मृति दिलाने के लिये यहाँ प्रस्तुत किया हैं।

दुष्यन्त भ्रमर है, शकुन्तला आम्रमञ्जरी है, शकुन्तला से सम्भोग रूप प्रणय सम्बन्ध स्थापित कर अर्थात् उसका परिपूर्ण रूप से उपभोग कर दुष्यन्त सम्प्रति अपनी राजधानी में अन्त:पुर की रानियों (वासुमती) के साथ प्रगय व्यापार में मग्न होने के कारण उसे (शकुन्तला को) भूल गया है। राजा की इस प्रकार की विस्मृति में दुर्वासा का शाप अहम् भूमिका निभा रहा है। (२) यहाँ **'क्षिप्ति'** नामक गर्भ सन्धि का अङ्ग है। उसका लक्षण है—'रहस्यार्थस्य तद्भेदः क्षिप्तिः स्यात्' सा०द०। दशरूपक के अनुसार यहां **आक्षेप** नामक गर्भसन्धि का अङ्ग है। लक्षण – 'गर्भभेदसमुदभेदादाक्षेपः परिकीर्तितः'। (३) यहाँ तृतीय **'पताकास्थानक'** है। लक्षण – 'अर्थोपक्षेपकं यत्तु लीनं सविनयं भवेत्। क्लिष्टप्रत्युत्तरोपेतं तृतीयमिदमुच्यते'॥ सा०द०। (४) यहाँ **'प्रच्छेदक'** नामक लास्य का अङ्ग भी है। उसका लक्षण है—'अन्यासक्तं पतिं मत्वा प्रेमविच्छेदमत्युना। वीणापुरस्सरं गानं स्त्रियाः प्रच्छेदको मतः'॥ सा०द० ६-२१८।

राजा—अहो, रागपरिवाहिणी गीतिः।

व्या० एवं श०—रागपरिवाहिणी – रागस्य परिवाहिणी रागं परिवहति राग+परि+वह+णिनि+ङीप् = अनुराग की वर्षा करने वाली।

राजा—अहा, (क्या ही) अनुराग की वर्षा करने वाली गीति है।

विदूषकः—किं तावद् गीत्या अवगतोऽक्षरार्थः। (किं दाव गीदीए अवगओ अक्खरत्थो।)

व्या० एवं श०—अवगतः – अव+गम+क्त = समझ लिया गया।

विदूषक—क्या (आप ने) गीत के शब्दों का अर्थ समझ लिया ?

राजा—(स्मितं कृत्वा) **सकृत्कृतप्रणयोऽयं जनः। तदस्या देवीं वसुमतीमन्तरेण महदुपालम्भनं गतोऽस्मि। सखे माधव्य, मद्वचनादुच्यतां हंसपदिका। निपुणमुपालब्धोऽस्मीति।**

व्या० एवं श०—सकृत्कृतप्रणयः – सकृत् कृतः प्रणयः (प्र+नी+अच्) यस्मिन् सः (ब०ब्री०) = जिससे एक बार प्रेम किया गयाा हो। अयं जनः = यह व्यक्ति अर्थात् हंसपदिका। वसुमतीमन्तरेण – यहाँ 'अन्तरेण' के योग में 'अन्तराऽन्तरेण युक्ते' से द्वितीया हुई है = वसुमती को लक्षित कर। उपालम्भनम् – उप+आ+लम्भ ल्युट्+नुम् का आगम = (उलाहना)। मद्वचनात् = मेरी ओर से उपालब्धः – उप+आ+लम्भ+ल्युट्+क्त = उलाहना दिया गया।

राजा—(मुस्कराकर) यह व्यक्ति (हंसपदिका) (मेरे द्वारा) एक बार प्रेम किया गया था (अर्थात् इस हंसपदिका से मैंने एक बार प्रेम किया था)। देवी वसुमती को लक्ष्य में रखकर इस (हंसपदिका) ने मुझे बहुत बड़ा उलाहना दिया है। मित्र माधव्य, मेरी ओर से हंसपदिका से कहना कि तुमने मुझे अत्यन्त चतुरता से उलाहना दिया है।

टिप्पणी—(१) देवी – महारानी के लिये 'देवी' शब्द का और अन्य रानियों के लिये 'भट्टिनी' का प्रयोग होता है—'देवी कृताभिषेकायामितरासु च भट्टिनी' – सा०द०।

विदूषकः—यद् भवानाज्ञापयति। (उत्थाय) **भो वयस्य, गृहीतस्य तया परकीयैर्हस्तैः शिखण्डके ताण्ड्यमानस्याप्सरसा वीतरागस्येव नास्तीदानीं मे मोक्षः।** (जं भवं आणवेदि। भो वअस्स, गहीदस्स ताए परकीएहिं हत्थेहिं सिहण्डए ताडीअमाणस्स अच्छराए वीरदाअस्स विअ णत्थि दाणिं मे मोक्खो।)

व्या० एवं श०—परकीयैः हस्तैः = दूसरे हाथों द्वारा (सेविकाओं के हाथों द्वारा)। शिखण्डके = चोटी। ताड्यमानस्य – तड्+णिच्+कर्मवाच्य – शानच ष०ए०व० = मारे जाते हुये। वीतरागस्य – वीतः रागः यस्य तस्य (ब०ब्री०) = विदूषक के पक्ष में प्रेमशून्य तथा संन्यासी के पक्ष में विरक्त। मोक्षः = विदूषक के पक्ष में – छुटकारा तथा संन्यासी के पक्ष में – मुक्ति।

विदूषक—आपकी जो आज्ञा (आपकी आज्ञा के अनुसार कार्य करूँगा)। (उठकर) हे मित्र, अब उस (हंसपदिका) के द्वारा दूसरी (सेविकाओं) के हाथों से शिखा (चोटी) पकड़ कर मारे जाते हुये मुझको, छुटकारा उसी प्रकार नहीं मिलेगा जिस प्रकार अप्सरा के द्वारा (पकड़े गये) (किसी) विरक्त (संन्यासी) को मुक्ति नहीं मिलती।

टिप्पणी—परकीयैः हस्तैः – रानी स्वयं चोटी पकड़ कर पिटाई करती तो फिर भी सह्य था वह दासियों आदि के हाथों से चोटी पकड़ कर पिटाई करेगी – यह महती विडम्बना है।

राजा—गच्छ ! नागरिकवृत्त्या सञ्ज्ञापयैनाम्।

व्याकरण एवं शब्दार्थ—नागरिकवृत्या – नागरिकस्य वृत्या = नागरिक की भाँति चातुर्यपूर्ण व्यवहार से। संज्ञापय – सम्+गम्+णिच् लोट् म०पु०ए०व० = समझा देना।

राजा—जाओ। शिष्ट व्यवहार (नागरिक-वृत्ति) से उसको समझा देना।

विदूषकः—का गतिः। (इति निष्क्रान्तः)।

विदूषक—क्या उपाय है ? (अर्थात् इसके अतिरिक्त दूसरा कोई उपय नहीं है)। (निकल जाता है)।

राजा—(आत्मगतम्) **किं नु खलु गीतमेवं विधार्थमाकर्ण्येष्टजनविरहादृतेऽपि बलवदुत्कण्ठितोऽस्मि। अथवा—**

व्या० एवं श०—एवंविधार्थम् – एवं विधः अर्थः यस्य तम् = इस प्रकार के अर्थ (भाव) पूर्ण। आकर्ण्य – आ+कर्ण+क्त्वा – ल्यप् = सुनकर। इष्टजनविरहादृते – इष्टजनस्य विरहः तस्मात् ऋते = इष्ट जन के विरह के बिना। यहाँ ऋते के योग में पञ्चमी है। उत्कण्ठित – उत्+कण्ठ+क्त = खिन्न-दुःखी।

राजा—(अपने मन में) किस कारण से इस प्रकार के भाव (अर्थ) पूर्ण गीत को सुनकर प्रिय व्यक्ति के वियोग के बिना भी अत्यधिक उत्कण्ठित (खिन्न) हो रहा हूँ ? अथवा—

टिप्पणी—राजा के कथन से यह अर्थ प्रतीत होता है कि राजा को अपनी उत्कण्ठा (खिन्नता) का कारण शाप के कारण अज्ञात है अर्थात् वह शकुन्तला के वियोग का स्मरण नहीं कर पा रहा है।

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुको भवति यत् सुखितोऽपि जन्तुः ।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि ।। २ ।।

(इति पर्याकुलस्तिष्ठति)।

अन्वय—रम्याणि वीक्ष्य, मधुरान् शब्दान् च निशम्य, सुखितः अपि जन्तुः यत् पर्युत्सुकः भवति, तत् नूनं भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि अबोधपूर्वं चेतसा स्मरति।

शब्दार्थ—रम्याणि = रमणीय (वस्तुओं) को। वीक्ष्य = देखकर। च = और। मधुरान् = मधुर। शब्दान् = शब्दों को। निशम्य = सुनकर। सुखितः = सुखी। अपि = भी। जन्तुः = प्राणी (व्यक्ति)। यत् = जो। पर्युत्सुकः = उत्कण्ठित (खिन्न)। भवति = हो जाता है। तत् = वह। नूनम् = निश्चय ही। भावस्थिराणि = संस्कार (वासना) के रूप में (हृदय में) स्थित (विद्यमान)। जननान्तरसौहृदानि = दूसरे जन्म की मैत्री (प्रणयसम्बन्धों) को। अबोधपूर्वम् = अज्ञानपूर्वक (अनजाने)। चेतसा = मन से। स्मरति = स्मरण (याद) करता है।

अनुवाद—रमणीय (वस्तुओं) को देखकर और मधुर शब्दों को सुनकर सुखी (प्रसन्नचित्त) प्राणी भी जो उत्कण्ठित (खिन्न) हो जाता है; वह निश्चय ही संस्कार (वासना) के रूप में (हृदय से) विद्यमान पूर्वजन्मों के प्रणय-सम्बन्धों (प्रेम व्यवहारों) को अज्ञानपूर्वक मन से स्मरण करता है। (खिन्नावस्था में बैठता है।)

संस्कृत व्याख्या—**रम्याणि** – चन्द्रोद्यानप्रमदादीनि सुन्दराणि वस्तूनि, **वीक्ष्य** – विलोक्य; **मधुरान्** – श्रवणसुखदान् , **शब्दान्** – सङ्गीतादीन् ; **निशम्य च** – श्रुत्वा च; **सुखितः अपि** – प्रियविरहाभावात् प्रसन्नचित्तोऽपि, **जन्तुः** – प्राणी, **यत् पर्युत्सुकः भवति** – यद् उत्कण्ठितो जायते; (उन्मना भवतितीत्यर्थः), **तत् नूनं** – तन्निश्चितम् , **भावस्थिराणि** – संस्काररूपेण दृढमवस्थितानि, **जननान्तरसौहृदानि** – पूर्वजन्मनां प्रणयव्यवहारम् , **अबोधपूर्वम्** – अज्ञानपूर्वम्, **चेतसा** – मानसा, **स्मरति** – स्मरणं करोति।

संस्कृत-सरलार्थः—राज्ञ्या हंसवत्या गीयमानम् उपालम्भरूपं गीतं श्रुत्वा नितरां समुत्कण्ठितो राजा दुष्यन्तः स्वचित्ते विचारयति – रमणीयानि वस्तूनि (दृश्यानि) समवलोक्य श्रवणसुखदान् शब्दान् (गीतादीनि) च श्रुत्वा सुख्यपि प्राणी यदुन्मना जायते तन्नूनं संस्काररूपेण हृदयगतान् जन्मान्तरप्रणयान् अबोधपूर्वकं स्मरति।

व्याकरण—रम्याणि – रम्+यत् प्र०नपु० बहुवचन। वीक्ष्य – वि+ईक्ष-क्त्वा-ल्यप्। नि+शम्+क्त्वा-ल्यप्। सुखितः – सुख+इतच्। अबोधपूर्वम् – बोधः पूर्वं यथा स्यात् तथा बोधपूर्वम् न बोधपूर्वम् अबोधपूर्वम् (नञ् तत्पु०)। जननान्तरसौहृदानि – अन्यत् जननं जननान्तरम् (मयूरव्यंसकादिवत् समास) जननान्तराणां सौहृदानि (तत्पु० समास)। भावस्थिराणि – भावैः स्थिराणि (तृ०त०)। स्मरति – स्मृ+लट्+प्र०पु०ए०व०।

अलङ्कार—(१) 'पर्युत्सुको भवति यतसुखितोऽपि जन्तुः' में अप्रस्तुत जनसामान्य से

प्रस्तुत दुष्यन्त रूप विशेष की प्रतीति होने से **'अप्रस्तुतप्रशंसा'** अलङ्कार है। ल०द्र० १/१७ श्लो०। (२) पूर्वार्ध में उत्तरार्ध हेतु के रूप में उपन्यस्त होने से **'काव्यलिङ्ग'** अलङ्कार है। ल०द्र० १/४ श्लो०। (३) बोध (अनुभव) रूप कारण के न होने पर भी स्मृतिरूप (तच्चेतसा स्मरति) कार्य हो रहा है अत: **'विभावना'** अलङ्कार है। ल०द्र० १/१८ श्लो०। (४) यत्सु यत्सु, नूनम् इत्यादि स्थलों में **अनुप्रास** भी है।

छन्द—**'वसन्ततिलका'** छन्द है। ल०द्र० १/८ श्लो०।

टिप्पणी—(१) **पर्युत्सुक** – औत्सुक्य का लक्षण है—कालाक्षमत्वमौत्सुक्यमिष्टवस्तुवियोगत:। तद्दर्शनाद् रम्यवस्तुदिदृक्षादेश्च (इतिसुधाकर:)। (२) दुष्यन्त के इस कथन से स्पष्ट है कि वह दुर्वासा के शाप से भावित होने के कारण शकुन्तला के स्मरण में सर्वथा असमर्थ हैं परन्तु उसके हृदय में शकुन्तला के प्रणय के संस्कार विद्यमान हैं। (३) यह देखा जाता है कि प्रत्येक दृष्टि से सुखी व्यक्ति भी जब रम्य वस्तु को देखकर तथा गीतादि को सुनकर सुखी होने के स्थान पर दु:खी होता है तो वहाँ वह अपने हृदय में वासना रूप से स्थित जन्मान्तर के प्रणयादि सम्बन्धों को न जानते हुये भी स्मरण करता है। (४) इसी प्रकार के भाव कालिदास के काव्य में अन्यत्र भी दृष्टिगोचर होते हैं यथा – (क) 'मनो हि जन्मान्तरसङ्गतिज्ञम्' रघुवंश ७/१५। (ख) 'संस्कारा: प्राक्तना इव'। रघु० १/२०।

(तत: प्रविशति कञ्चुकी)

(तत्पश्चात् कञ्चुकी प्रवेश करता है)।

कञ्चुकी—अहो नु खल्वीदृशीमवस्थां प्रतिपन्नोऽस्मि।

व्या० एवं श०—खल्वीदृशीम् – खलु+ईदृशीम् – यण् सन्धि प्रतिपन्न: – प्रति+पद्+क्त प्राप्त।

कञ्चुकी—ओह, मैं, (अब) ऐसी अवस्था को प्राप्त हो गया (पहुँच गया) हूँ।

आचार इत्यवहितेन मया गृहीता या वेत्रयष्टिरवरोधगृहेषु राज्ञ:।
काले गते बहुतिथे मम सैव जाता प्रस्थानविक्लवगतेरवलम्बनार्था।। ३।।

अन्वय—राज्ञ: अवरोधगृहेषु आचार: इति अवहितेन मया या वेत्रयष्टि: गृहीता सा एव बहुतिथे काले गते प्रस्थानविक्लवगते: मम अवलम्बनार्था जाता (अस्ति)।

शब्दार्थ—राज्ञ: = राजा के। अवरोधगृहेषु = अन्त:पुर में। आचार: = नियम (परम्परा है)। इति = ऐसा। अवहितेन = सावधान (समर्थ)। मया = मेरे द्वारा। या = जो। वेत्रयष्टि: = बेंत की छड़ी। गृहीता = ग्रहण की गयी थी। सा = वह। एव = ही। बहुतिथे = अधिक। काले = समय के। गते = बीत जाने पर। प्रस्थानविक्लवगते: = चलने (प्रस्थान) में लड़खड़ायी गति है जिसकी ऐसे (चलने में असमर्थ)। मम = मेरे लिये। अवलम्बनार्था = सहारा की वस्तु। जाता = बन गयी है।

अनुवाद—राजा के अन्त:पुर में (यह) नियम (परम्परा) है, ऐसा (मानकर) शक्तिसम्पन्न (समर्थ) (भी) मेरे द्वारा जो बेंत की छड़ी ग्रहण (धारण) की गयी थी, वही (बेंत की छड़ी) अधिक समय के बीत जाने पर (इस वृद्धावस्था में) चलने में लड़खड़ायी हुयी गति वाले (अर्थात् चलने में असमर्थ) मेरे लिये सहारा की वस्तु हो (बन) गयी है।

संस्कृत व्याख्या—**राज्ञः** – नृपस्य, **अवरोधगृहेषु** – अन्तःपुरेषु, **आचार इति** – परम्पराप्राप्ता मर्यादा इति विचार्य, **अवहितेन** – समर्थेन, **मया** – कञ्चुकिना, **या वेत्रयष्टिः** – यः वेत्रदण्डः, **गृहीता** – धृता, **सा एव** – सैव वेत्रयष्टिः, **बहुतिथे काले** – अत्यधिक समये, **गते** – व्यतीते सति, **प्रस्थानविक्लवगतेः** – प्रस्थाने चलने विक्लवा गतिः स्खलिता पादक्षेपः यस्य तस्य, **मम** – मे कञ्चुकिनः, **अवलम्बनार्था** – अवलम्बनाय, **जाता** – अभवत् ।

संस्कृत-सरलार्थः—नृपस्यान्तःपुरेषु तत्रत्या परम्परेयमिति मत्वा समर्थेनापि मया या वेत्रयष्टिर्गृहीता सैवेदानीं गमने विक्लवगतेर्मम कञ्चुकिनोऽवलम्बनाय जातेति कञ्चुकिकथनस्याभिप्रायः ।

व्याकरण—अवरोधगृहेषु – अवरुध्यत्ते राजदाराः यत्र इति अवरोधः अव+रुध्+घञ् (अधिकरणे) तेषां गृहाः (ष०त०) तेषु । अवहितेन – अव+धा+क्त+तृ०ए०व० । यहाँ 'धा' के स्थान में 'हि' आदेश होता है । आचारः – आ+चर+घञ् । वेत्रयष्टिः – वेत्रस्य यष्टिः (ष०त०) । गृहीता = ग्रह+क्त+टाप् । बहुतिये – बहूनां पूरणः बहुतियः पूरण अर्थ में 'बहु... गण...' सूत्र से तिथुक् (तिथ्) प्रत्यय और 'तस्य पूरणे' से डट् (अ) प्रत्यय – बहु+तिथ्+अ – बहुतिथः तस्मिन् – (तत्पु०) । प्रस्थानविक्लवगतेः – प्रस्थाने विक्लवा गतिः यस्य तस्य (ब०ब्री०) । यह पद 'मम' इसका विशेषण है । अवलम्बनार्था – अवलम्बनम् अर्थः यस्याः सा अवलम्बनार्था ।

कोष—'अथ शक्तिश्च शक्ती च यष्टिर्यष्टी च यष्टिका । दण्डकाण्डोऽपि लगुडः पशुघ्नों दण्डकोऽपि च' – इति रत्नावली ।

अलङ्कार—(१) इस श्लोक में अधिक समय बीतना 'काले गते बहुतिथे' लड़खड़ाने (प्रस्थानविक्लवगतेः) का कारण है अतः पदार्थहेतुक **'काव्यलिङ्ग'** अलङ्कार है । ल०द्र० १/४ । (२) एक ही वेत्रयष्टि के अनेक स्थानों पर दृष्टिगोचर होने के कारण **'विशेष'** अलङ्कार है । (३) वृद्धावस्था के आरम्भ होने पर वेत्रयष्टि (छड़ी) सहायक हो रही है अतः **'समाहित'** अलङ्कार है । लक्षण—'कार्यारम्भे सहायाप्तिः' । (४) **'आचारः'** – इस प्रकार निमित्त का कथन कर देने से उक्तनिमित्ता **विभावना** है । ल०द्र० १/१८ ।

छन्द—यहाँ **वसन्ततिलका** छन्द है । ल०द्र० १/८ श्लो० ।

टिप्पणी—(१) **कञ्चुकी** – यह प्राचीन काल में अन्तःपुर का अध्यक्ष होता था । यह एक प्रकार से अन्तःपुर की रानियों के अङ्गरक्षक का काम करता था । कञ्चुकी के पद पर सात्विक वृद्ध ब्राह्मण नियुक्त होता था । इसका नाम सम्भवतः कञ्चुकी इसलिये पड़ा है क्योंकि वह कञ्चुक चोंगा पहनता था । इसकी व्युत्पत्ति है—कञ्चुकः वारवाणः अस्यास्तीति कञ्चुक+इनि । इस नाटक में कञ्चुकी, पञ्चम अङ्क में प्रवेश करता है और संस्कृत बोलता है ।

नाट्य शास्त्र में कञ्चुकी का लक्षण है—'अन्तःपुरचरो वृद्धो विप्रो गुणगणान्वितः । सर्वकार्यार्थकुशलः कञ्चुकीत्यभिधीयते ।। ना०शा० । मातृगुप्ताचार्य ने इसका लक्षण यह दिया है—'ये नित्यं सत्त्वसम्पन्नाः कामदोषविवर्जिताः । ज्ञानविज्ञानकुशलाः कञ्चुकीयास्तु ते स्मृताः ।। कञ्चुकी को अन्तःपुर के आचार के अनुसार वेत्रयष्टि धारण करना पड़ता था । 'रक्षाधिकारिणा वेत्रयष्टिर्गृहीतव्या' । दुष्यन्त के अन्तःपुर के कञ्चुकी का कहना है कि पहले जिस वेत्रयष्टि को आचारानुपालन में धारण किया था, वही वेत्रयष्टि वृद्धावस्था में मेरी सहारा बन गयी है—**"सैव जाता विक्लवगतेरवलम्बनाय"** ।

भोः कामं धर्मकार्यमनतिपात्यं देवस्य । तथापीदानीमेव धर्मासनादुत्थिताय

पुनरुपरोधकारि कण्वशिष्यागमनमस्मै नोत्सहे निवेदयितुम् । अथवाऽविश्रमोऽयं लोकतन्त्राधिकारः । कुतः—

व्या० एवं श०—कामम् – काम्यते – कम+णिङ्+अम् = यद्यपि भले ही। यह अव्यय पद स्वीकार अर्थ में है। धर्मकार्यम् – धर्मस्य कार्यम् (ष०त०) = धार्मिक कार्य। अनतिपात्यम् – न+अति+पत+णिच्+यत् = विलम्ब करने योग्य नहीं है अर्थात् तुरन्त करने योग्य। धर्मासनात् – धर्मस्य आसनम् तस्मात् = धर्मासन से, न्यायालय से। उत्थितस्य – उत्+स्था+क्त ष०ए०व० = उठे हुये का। उपरोधकारि – उप+रुध्+कृ+इनि नपु०प्र०ए०व० = अवरोध (विघ्न) करने वाला। कण्वशिष्यागमनम् – कण्वशिष्यस्य आगमनम् = कण्व शिष्य के आगमन को। निवेदयितुम् – नि+विद+णिच्+तुमुन् = निवेदन करने के लिये। अविश्रमः – न विश्रमः अविश्रमः वि+श्रम+घञ् – 'नोदात्तोपदेशस्य...' से वृद्धि का निषेध = विश्रामरहित। लोकतन्त्राधिकारः – लोकतन्त्रस्य अधिकारः (ष०त०) = लोकतन्त्र का अधिकार (प्रजा की रक्षा का अधिकार)।

अरे, यद्यपि महाराज के लिये धर्मकार्य अनुल्लङ्घनीय है तथापि अभी ही न्यायासन (धर्मासन) से उठकर (गये हुये) इस (महाराज) से फिर (विश्राम में) विघ्न करने (बाधा डालने) वाले कण्व के शिष्यों के आगमन (के समाचार) को कहने में समर्थ नहीं हूँ। अथवा यह लोकतन्त्र का अधिकार (प्रजा की रक्षा का अधिकार) विश्राम-रहित होता है (अर्थात् प्रजा की रक्षा में लगे हुये राजा को विश्राम का अवसर कहाँ मिल सकता है) क्योंकि—

टिप्पणी—(१) **धर्मकार्यम्** – ऋषियों, विद्वानों का सत्कार भी धर्म है। यहाँ कण्वशिष्यों के सत्कार से अभिप्राय है। (२) **धर्मासन** – उस आसन को कहते हैं जिस पर बैठकर राजा न्याय करता है। अन्यत्र भी इसका उल्लेख मिलता है—'धर्मासनाद्विशति वासगृहं नरेन्द्रः'। (३) **लोकतन्त्राधिकारः** – इससे सिद्ध होता है कि कालिदास के समय में भी प्रजा पालन के कार्य में विलम्ब नहीं किया जाता था। प्रजाहित को सर्वोपरि रखा जाता था। **अविश्रमः** – प्रजाहित के कार्य में राजा को विश्राम नहीं मिलता था।

भानुः सकृद्युक्ततुरङ्ग एव रात्रिन्दिवं गन्धवहः प्रयाति ।
शेषः सदैवाहितभूमिभारः षष्ठांशवृत्तेरपि धर्म एषः ।। ४ ।।

अन्वय—भानुः सकृत् एव युक्ततुरङ्गः भवति गन्धवहः, रात्रिन्दिवं प्रयाति, शेषः सदा एव आहितभूमिभारः, षष्ठांशवृत्तेः अपि एषः धर्मः।

शब्दार्थ—भानुः = सूर्य। सकृत् = एक बार। एव = ही। युक्ततुरङ्गः = जोड़ दिये हैं (रथ में) घोड़े जिसने ऐसा। गन्धवहः = गन्ध को ले जाने वाली वायु। रात्रिन्दिवम् – रात-दिन। प्रयाति = चलती (बहती) है। शेषः = शेषनाग। सदैव = सर्वदा ही। आहितभूमिभारः = रखा गया (धारण किया गया) है भूमि का भार जिसके द्वारा ऐसा, पृथ्वी के भार को (सतत) धारण करने वाला। षष्ठांशवृतैः = छठाँ भाग है आजीविका जिसकी उसका (कर के रूप में आय का छठाँ भाग लेने वाले का)। अपि = भी। एषः = यह। धर्मः = धर्म (कर्त्तव्य) है।

अनुवाद—सूर्य ने एक बार ही (अपने रथ में) घोड़ों को जोता है। वायु रात-दिन चलती (बहती) रहती है। शेषनाग सर्वदा ही पृथ्वी के भार को धारण किये रहते हैं। (प्रजा से कर के रूप में आय को) छठाँ भाग लेने वाले (अर्थात् राजा) का भी यही कर्त्तव्य (धर्म) है।

संस्कृत व्याख्या—भानुः – सूर्यः, **सकृत् एव** – एकवारमेव, **युक्ततुरङ्गः** – योजिताः तुरङ्गाः अश्वाः येन तादृशः (अस्ति), **गन्धवहः** – वायुः, **रात्रिन्दिवम्** – अहोरात्रम् , **प्रयाति** – प्रवहति, **शेषः** – (शेषनागः) सदैव सततमेव, **आहितभूमिभारः** – स्वशिरसि स्थापितः पृथिव्याः भारः येन सः, **षष्ठांशतृत्तेः** – अपि प्रजोत्पादित द्रव्यजातानां षष्ठो भागः एव वृत्तिः जीविका यस्य तस्य अपि, नृपस्य अपि इत्यर्थः, **एषः** – अयम् , **धर्मः** – कर्त्तव्यम् , **अस्तीति** – शेषः ।

संस्कृत-सरलार्थः—यथा सूर्यः तुरङ्गयुक्तरथारूढोऽनवरतमाकाशे गच्छति, पवनः सततं प्रवाति, शेषनागः सर्वदा पृथ्वीभारं वहति, न मनागपि विश्रान्तिं लभते तथैव राजाऽपि विश्रामानपेक्षयाऽनवरतं स्वप्रजाःपालयति । तस्य कृते नास्ति विश्रामावसरः, इति भावः ।

व्याकरण—सकृद्युक्ततुरङ्गः – सकृत् युक्ताः तुरङ्गाः यस्य सः (बहु०) । रात्रिन्दिवम् – रात्रौ च दिवा च तयो समाहारः । आहितभूमिभारः – आहितः, भूम्याः भारः येन सः (बहु०) । षष्ठांशवृत्तेः – षष्ठः अंशः वृत्तिः यस्य तस्य (बहु०) ।

कोष—'श्वसनः स्पर्शनो वायुर्मातरिश्वा सदागतिः । पृषदश्वो गन्धवाहनिलाशुगाः' – इत्यमरः । 'भानुरथौ रवौ दिने' – इत्यमरः ।

अलङ्कार—(१) इस श्लोक में अविश्रान्तिरूप एक सामान्य धर्म के भिन्न-भिन्न शब्दों से (अर्थात् सकृत्, रात्रिन्दिवम्, सदैव) पृथक्-पृथक् निर्देश होने के कारण **'मालाप्रतिवस्तूपमा'** अलङ्कार है । ल०द्र० १/२५ श्लो० । (२) चतुर्थ चरण में 'दुष्यन्तस्य' ऐसा विशेष कथन न कर षष्ठांशवृत्तेः यह सामान्य कथन किया गया है । अतः **'अप्रस्तुतप्रशंसा'** अलङ्कार है । ल०द्र० १/ १७ श्लो० ।

छन्द—पद्य में **उपेन्द्रवज्रा** छन्द है ।

टिप्पणी—(१) सूर्य ने सृष्टि के प्रारम्भ में एक बार अपने घोड़ों को रथ में जोड़ा था । तब से उसका रथ निरन्तर चलता ही रहता है । इसी प्रकार वायु निरन्तर बहता रहता है और शेषनाग सर्वदा भूमि के भार को धारण किये हुये हैं । ये सभी अपना कार्य निरन्तर करते रहते हैं– कभी विश्राम नहीं करते । (२) राजा प्रजा से उसकी उपज (आय) का छठाँ भाग कर के रूप में लेकर अपनी जीविका चलाता है । अतः अविरामगति से प्रजाहित का कार्य करना उसका कर्त्तव्य हो जाता है । (३) लोकतन्त्राधिकारः – कालिदास के समय में यद्यपि लोकतन्त्र नहीं था परन्तु लोक या प्रजा का कार्य करना राजा का कर्त्तव्य था । (४) भानु, वायु, आदि के सतत कर्त्तव्य पालन का उल्लेख अन्यत्र भी हुआ है—'सदा चरति खे भानुः सदा वहति मारुतः । धत्ते भुवं सदा शेषः सदा धीरोऽविकत्थनः' ।

यावन्नियोगमनुतिष्ठामि । (परिक्रम्यावलोक्य च) **एष देवः—**

व्या० एवं श०—नियोगम् – नि+युज्+घञ् द्वि०ए०व० = कर्त्तव्य । अनुतिष्ठामि – अनु+स्था+उ०पु०ए०व० = कर्त्तव्य का पालन करता हूँ ।

तो मैं (अपने) कर्त्तव्य का पालन करता हूँ । (चारों ओर घूमकर और देखकर) यह महाराज—

प्रजाः प्रजाः स्वा इव तन्त्रयित्वा
निषेवते श्रान्तमना विविक्तम् ।
यूथानि सञ्चार्य रविप्रतप्तः
शीतं दिवा स्थानमिव द्विपेन्द्रः ॥ ५ ॥

अन्वय—स्वाः प्रजाः इव प्रजाः तन्त्रयित्वा श्रान्तमनाः दिवा यूथानि सञ्चार्य रविप्रतप्तः द्विपेन्द्रः शीतं स्थानम् इव विविक्तं निषेवते।

शब्दार्थ—स्वाः = अपनी। प्रजाः इव = सन्तान की भाँति। प्रजाः = प्रजाओं का। तन्त्रयित्वा = पालन कर। श्रान्तमनाः = श्रान्त है मन जिसका ऐसे, थके हुये मन वाले। दिवा = दिन में। यूथानि = झुण्डों (समूहों) को। सञ्चार्य = सञ्चालित कर, इधर-उधर विचरण कराकर। रविप्रतप्तः = सूर्य (की किरणों) से सन्तप्त। द्विपेन्द्रः = गजराज। शीतम् = शीतल छाया वाले। स्थानम् इव = स्थान की भाँति। विविक्तम् = एकान्त का। निषेवते = सेवन कर रहे हैं।

अनुवाद—अपनी सन्तान की भाँति प्रजाओं का पालन कर खिन्न (थके हुये) मन वाले (महाराज), उसी प्रकार एकान्त का सेवन कर रहे हैं, जिस प्रकार दिन में (अपने) झुण्डों को सञ्चालित कर (अपनी देख-रेख में) सूर्य (की किरणों) से सन्तप्त गजराज शीतल (छायादार) स्थान पर सेवन करता है।

संस्कृत व्याख्या—**स्वाः** – स्वकीयाः, **प्रजाः इव** – सन्ततिम् इव, **प्रजाः** – जनान्, **तन्त्रयित्वा** – सम्यक् व्यवस्थाप्य (शासनेन सन्मार्गे स्थापयित्वा), **श्रान्तमना** – खिन्नचित्तः (शिथिलमनाः), **दिवा** – अहनि, **यूथानि** – गजसमूहान् , **सञ्चार्य** – इतस्ततः सञ्चाल्य, **रविप्रतप्तः** – सूर्येण सन्तप्तः, (सूर्यातपैः सन्तप्तः), **द्विपेन्द्रः** – गजराजः, **शीतं** – शीतलम् , **स्थानम् इव** – प्रदेशम् इव, **विविक्तम्** – एकान्तम् , **निषेवते** – आश्रयते।

संस्कृत-सरलार्थः—यथा वने दिवसे (मध्याह्ने) गजराजः सूर्यातपसन्तप्तो यूथगतान् अन्यान् गजान् इतस्ततः गमयित्वा वृक्षच्छायाश्रिते-एकान्तस्थाने विश्रामं लभते तथैव प्रजापालनरूपकर्माश्रयणेन श्रान्त- चित्तः (खिन्नचित्तः) महाराजो दुष्यन्तोऽधुना-एकान्तस्थानमवाप्य विश्रामं लभते इति कञ्चुकिनः कथनाभिप्रायः।

व्याकरण—श्रान्तमनाः – श्रान्तं (श्रम+क्त) मनः यस्य सः (ब०व्री०)। रविप्रतप्तः – रविणा सूर्येण प्रतप्तः – प्र+तप्+क्त (तृ०तत्पु०)। द्विपेन्द्रः – द्वाभ्यां शुण्डमुखाभ्यां पिबति (द्वि+पा+क) द्विपः द्विपानाम् इन्द्रः। प्रजाः – प्रकर्षेग जायन्ते इति प्र+जन+'ड' कर्तरि टाप् प्र०बहु०व०। तन्त्रयित्वा – तन्त्र+णिच्+क्त्वा। सञ्चार्य – सम्+चर+णिच्+क्तवा – ल्यप्। विविक्तम् – वि+विच्+क्त।

कोष—'प्रजा स्यात् सन्ततौ जने' – इत्यमरः। 'विविक्तं पूतविजनौ' – इत्यमरः। 'दन्ती दन्तावलो हस्ती द्विरदोऽनेकपो द्विजः' – इत्यमरः।

अलङ्कार—'प्रजाः प्रजाः इव' में **उपमा** अलङ्कार है। ल०द्र० १/५ श्लो०। 'प्रजा प्रजाः' में **यमक** अलङ्कार भी है। लक्षण – अर्थे सत्यर्थभिन्नानां वर्णानां सा पुनः श्रुतिः –का०प्र०।

छन्द—**उपजाति** छन्द है। लक्षण—इन्द्रवज्रा – 'स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः तथा उपेन्द्रवज्रा' – 'उपेन्द्रवज्रा प्रथमे लघथौ सा' के सम्मिश्रण से **उपजाति** 'छन्द' बनता है। इसमें किसी चरण में **इन्द्रवज्रा** और किसी में **उपेन्द्रवज्रा** रहता है।

टिप्पणी—(१) प्राचीन-काल में राजा सन्तान की भाँति प्रजा का पालन करते थे। वे उसके सुख और दुःख का सर्वदा ध्यान रखते थे। (२) इस श्लोक में राजा को गजराज के समान, प्रजा को गजसमूह के समान तथा राज्य के सञ्चालन को गजसमूह के सञ्चालन के समान बताया गया है।

(उपगम्य) **जयतु जयतु देवः ! एते खलु हिमगिरेरुपत्यकारण्यवासिनः काश्यपसन्देशमादाय सस्त्रीकास्तपस्विनः सम्प्राप्ताः । श्रुत्वा देवः प्रमाणम् ।**

व्या० एवं श०—अपत्यकायां यदरण्यं तत्र वसन्तीति तथाभूताः = हिमालय की तराई के जङ्गल में रहने वाले। उपत्यका - उप+त्यकन् ('उपाधिभ्यां त्यकन्' से समीप अर्थ में त्यकन्)+टाप्। काश्यपसन्देशम् - काश्यपस्य (कण्वस्य) सन्देशम् ष०त० = काश्यप के सन्देश को। सन्देशः - सम्+दिश्+घञ्। आदाय - आ+दा+क्त्वा - ल्यप् = लेकर। सस्त्रीकाः - स्त्रीभिः सहिताः - सह के स्थान में 'स' तथा कन् प्रत्यय = स्त्री सहित। सम्प्राप्ताः - सम्+प्र+आप्+क्त प्र०बहु०व० = प्राप्त हुये - आये हैं।

(समीप जाकर) जय हो, महाराज की जय हो। ये हिमालय की तराई के जङ्गल में रहने वाले तपस्वी लोग स्त्रियों के साथ (महर्षि) कण्व का सन्देश लेकर आये हैं। सुनकर महाराज ही (निर्णय के विषय में) प्रमाण हैं (अर्थात् आप जैसी आज्ञा दें वैसा किया जाय)।

टिप्पणी—(१) देवः प्रमाणम् - यह एक मुहावरा है। इसका अर्थ है—इस विषय में आप ही प्रमाण हैं। अतः आप ही निश्चय कीजिये कि आगे क्या करना है ? जो आप कहें वही करना है। (२) 'उपत्यकाऽद्रेरासन्ना भूमिः - इत्यमरः।

राजा—(सादरम्) **किं काश्यपसन्देशहारिणः ?**

राजा—(आदर के साथ) क्या कण्व के सन्देश को लेकर आये हैं ?

कञ्चुकी—अथ किम् ।

कञ्चुकी—जी हाँ।

राजा—तेन हि मद्वचनाद् विज्ञाप्यतामुपाध्यायः सोमरातः । अमूनाश्रमवासिनः श्रौतेन विधिना सत्कृत्य स्वयमेव प्रवेशयितुमर्हतीति । अहमप्यत्र तपस्विदर्शनोचिते प्रदेशे स्थितः प्रतिपालयामि ।

व्या० एवं श०—मद्वचनाद् = मेरी आज्ञा से। विज्ञाप्यताम् - वि+ज्ञा+णिच्+पुक् आगम+लोट् प्र०पु०ए०व० = सूचित किये जायँ। श्रौतेन - श्रुतौ विहितः श्रुति+अण्+तृ०ए०व० = वैदिक। विधिना = विधि से। सत्कृत्य - सत्+कृ+क्त्वा-ल्यप् = सत्कार कर। प्रवेशयितुम् - प्र+विश+णिच्+तुमुन् = प्रवेश कराने के लिये। तपस्विदर्शनोचिते = तपस्वियों के दर्शन योग्य। यह 'स्थाने' का विशेषण है। प्रतिपालयामि - प्रति+पाल्+णिच् - उ०पु०ए०व० = प्रतीक्षा करता हूँ।

राजा—तो मेरी आज्ञा से आचार्य सोमरात सूचित किये जायँ (अर्थात् आचार्य सोमरात से कहो) कि इन आश्रमवासियों का वैदिक विधि से सत्कार कर स्वयं ही (उन्हें) अन्दर ले आवें। मैं भी यहाँ तपस्वियों के दर्शन योग्य स्थान में स्थित हुआ (बैठा हुआ) प्रतीक्षा करता हूँ।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देवः । (इति निष्क्रान्तः)।

कञ्चुकी—महाराज जो आज्ञा। (निकल जाता है)।

राजा—(उत्थाय) **वेत्रवति, अग्निशरणमार्गमादेशय ।**

व्या० एवं श०—अग्निशरणमार्गम् - अग्नेः शरणम् अग्निशरणम् तस्य मार्गम् (ष०त०) = यज्ञशाला का मार्ग। आदेशय - आ+दिश्+णिच्+लो०म०पु०ए०व० = बताओ।

राजा—(उठकर) वेत्रवती, यज्ञशाला (अग्निशरण) का मार्ग बताओ।

प्रतिहारी—इत इतो देवः। (इदो इदो देवो)।

प्रतिहारी—महाराज, इधर से, इधर से (आइये)।

टिप्पणी—(१) **उपाध्यायः** – उपेत्य समीपे अधीयते अस्मात् – उप+अधि+उ (इ) घञ् = अध्यापक। मनु ने उपाध्याय का यह लक्षण दिया है—'एकदेशं तु वेदस्य वेदाङ्गान्यपि वा पुनः। योऽध्यापयति वृत्त्यर्थमुपाध्यायः स उच्चते'॥ मनु० २-१४। अर्थात् जो जीवि ा के लिये वेतनादि लेकर वेदों तथा वेदाङ्गों का अध्यापन करता है वह 'उपाध्याय' कहलाता है। उपाध्याय का स्थान आचार्य से छोटा होता है। (२) **अग्निशरणम्** – अग्निशरण (यज्ञशाला) में तीन प्रकार की अग्नियों की स्थापना होती है। राजा तपस्वियों आदि से यज्ञशाला में ही मिलता था। कहा भी गया है—अग्न्यागारतः कार्यं पश्येद् वैद्यतपस्विनाम्। पुरोहिताचार्यसखः प्रत्युद्गम्याभिवाद्य च॥

राजा यज्ञशाला में आचार्य, पुरोहित आदि के साथ बैठता था। आगन्तुक तपस्वियों आदि की अगवानी कर उन्हें प्रणाम करता था। श्रौतेन विधिना सत्कृत्य – इस कथन से यह भी सिद्ध होता है कि उन दिनों आगन्तुक तपस्वियों का सत्कार वैदिक विधि से होता था। (३) **प्रतिहारी** – प्रति+हृ+घञ्+वैकल्पिक दीर्घ+ङीप् = द्वार की रक्षिका, द्वारपालिका। इसको वेत्रवती भी कहते हैं। दुष्यन्त वेत्रवति इस सम्बोधन से उसे पुकारता है – 'वेत्रवति अग्निशरणमार्गमादेशय'। प्रतिहारी का यह लक्षण दिया गया है—'सन्धिविग्रहसम्बद्धं नानाकार्यसमुत्थितम्। निवेदयन्ति याः कार्यं प्रतीहार्यस्तु ताः स्मृताः'॥ अर्थात् जो सन्धि, विग्रह आदि से सम्बद्ध विविध कार्यों के बारे में निवेदन करती है वह प्रतिहारी कहलाती है।

कोष—'शरणं गृहरक्षित्रोः'।

राजा—(परिक्रामति। अधिकारखेदं निरूप्य) **सर्वः प्रार्थितमर्थमधिगम्य सुखी सम्पद्यते जन्तुः। राज्ञां तु चरितार्थता दुःखोत्तरैव।**

व्या० एवं श०—प्रार्थितम् – प्र+अर्थ+क्त = अभीष्ट-अभिलषित। अधिगम्य – अधि+गम्+क्त्वा – ल्यप् = प्राप्त कर। चरितार्थता – चरितः अर्थः येन सः चरितार्थः (ब०ब्री०) तस्य भावः (तल्) = सफलता (राज्य की प्राप्ति आदि)। दुःखोत्तरैव – दुःखम् उत्तरं (प्रधानं) यत्र (ब०ब्री०) सा = दुःखान्त।

राजा—(चारो ओर घूमता है। अधिकार की खिन्नता का अभिनय कर) सभी प्राणी अपनी अभीष्ट वस्तु को प्राप्त कर सुखी होते हैं। किन्तु राजा को सफलता दुःखान्त (कष्टप्रद) ही होती है।

औत्सुक्यमात्रमवसाययति प्रतिष्ठा क्लिश्नाति लब्धपरिपालनवृत्तिरेनम्।
नातिश्रमापनयनाय यथा श्रमाय राज्यं स्वहस्तधृतदण्डमिवातपत्रम्॥ ६॥

अन्वय—प्रतिष्ठा औत्सुक्यमात्रम् अवसाययति, (किन्तु) लब्धपरिपालनवृतिः एनं क्लिश्नाति, राज्यं स्वहस्तधृतदण्डम् आतपत्रम् इव अतिश्रमापनयनाय न यथा श्रमाय।

शब्दार्थ—प्रतिष्ठा = उच्च-पद की प्राप्ति। औत्सुक्यमात्रम् = केवल उत्सुकता (अभिलाषा) को। अवसाययति = समाप्त करती है। लब्धपरिपालनवृतिः = प्राप्त (राज्यादि की) रक्षा का कार्य। एनम् = इसे। क्लिश्नाति = क्लेश देता है। राज्यम् = राज्य। स्वहस्तधृतदण्डम् = अपने हाथ में धारण किया (पकड़ लिया) गया है दण्ड जिसका ऐसे (अपने हाथ में पकड़े हुये

दण्ड वाले)। आतपत्रम् इव = छत्र (छाता) की भाँति। अतिश्रमापनयनाय = अधिक थकान को दूर करने के लिये। न = नहीं (होता)। यथा = जितना। श्रमाय = थकान के लिये (होता है)।

अनुवाद—उच्च-पद पर (राज्य-पद इत्यादि) की प्राप्ति केवल उत्सुकता (अभिलाषा) को समाप्त (पूर्ण) करती है, किन्तु प्राप्त (राज्यादि) की रक्षा का कार्य इस (प्राप्त-कर्ता) को कष्ट देता है। (अपने हाथ में ली गयी है दण्ड-व्यवस्था जिसकी ऐसा) राज्य, अपने हाथ में धारण किये हुये दण्ड वाले (अर्थात् जिसका दण्ड अपने हाथ में पकड़ लिया गया है, ऐसे) छाते की भाँति थकान को दूर करने के लिये (उतना) नहीं (होता), जितना थकान (उत्पन्न करने) के लिये (होता है)।

संस्कृत व्याख्या—**प्रतिष्ठा** – उच्चपदप्राप्तिः, **औत्सुक्यमात्रम्** – उत्सुकतामात्रम् , **अवसाययति** – समापयति, **लब्धपरिपालनवृत्तिः** – प्राप्तपरिरक्षणरूपव्यापारः, **एनं** – राजानम्, **क्लिश्नाति** – पीडयति; **राज्यं** – राजत्वम् , **स्वहस्तधृतदण्डं** – स्वकरे गृहीतः यष्टिः यस्य तत्, **आतपत्रम् इव** – छत्रम् इव, **अतिश्रमापनयनाय न** – अत्यधिकस्य क्लेशस्य दूरीकरणाय न भवति; **यथा** – येन प्रकारेण, **श्रमाय** – क्लेशाय भवति।

संस्कृत-सरलार्थः—अलब्धराज्यादिप्राप्तिः राज्ञः कृते तदभिलाषाशान्तिप्रदा एव भवति परन्तु प्राप्तराज्यस्य परिपालनादिव्यापरस्तु राजानं नूनं दुःखयति एव। स्वहस्तधृतदण्डं छत्रं यथा धारकस्य श्रमापनयनाय तथा न भवति यथा तस्य क्लेशाय भवति। राज्यपरिपालनं नितरां कठिनमिति द्योत्यतेऽनेन कथनेन।

व्याकरण—प्रतिष्ठा – प्र+स्था+अङ्+टाप् – इसके दो अर्थ हैं—१. राज्य की प्राप्ति, २. गौरव आदि की प्राप्ति। औत्सुक्यमात्रम् – उत्सुकस्य भावः औत्सुक्यम् – उत्सुक+ष्यञ् – औत्सुक्यमेव औत्सुक्यमात्रम् = केवल उत्सुकता को। अवसाययति – अव+सो (सा)+णिच्+ यक् लट्०प्र०पु०ए०व० = समाप्त (विनष्ट) करती है। लब्धपरिपालनवृतिः – लब्धस्य परिपालने वृत्तिः – तत्पुरुष। क्लिश्नाति – क्लिश्+श्ना+ल्युट्+प्र०पु०ए०व०। स्वहस्तधृतदण्डम् – स्वहस्तेन धृतः दण्डः यस्मिन तत् , बहु०ब्री०। आतपत्रम् – आतपात् त्रायते इति, आतप+त्रा+त्त।

यहाँ 'स्वहस्तधृतदण्डम्' के दो अर्थ हैं। दण्ड पद श्लिष्ट है। उसका एक अर्थ राज्य की दण्ड व्यवस्था है। यह अर्थ राजा के पक्ष में लगता है। जिसने अपने हाथ में राज्य की दण्ड व्यवस्था ले ली है। दण्डयति – दण्ड+अच् = दण्डः। दण्ड का दूसरा अर्थ डण्डा है। यह अर्थ छाते के पक्ष में लगता है जिसने अपने हाथ में छाते का डण्डा ले रखा है।

कोष—'दण्डो यमे मानभेदे लगुडे दमसैन्ययोः। व्यूहभेदे प्रकाण्डेऽश्वे कोणमन्थानयोरपि। अभिमाने ग्रहे दण्डश्चण्डांशोः परिपार्श्विके॥' इति विश्वप्रकाशकोषः।

अलङ्कार—(१) 'स्वहस्तधृतदण्डमातपत्रमिव' यहाँ पर **'उपमा अलङ्कार'** है। आतपत्र उपमान है, राज्य उपमेय है, इव वाचक शब्द है तथा कष्टश्रम आदि का होना साधारण धर्म है। (२) उत्तरार्ध वाक्यार्थ के प्रति पूर्वार्द्ध गत वाक्यार्थ हेतु है। अतः वाक्यार्थ हेतुक **'काव्यलिङ्ग'** अलङ्कार है। ल०द्र० १/४ श्लो०। (३) प्रतिष्ठा तथा दण्ड शब्द श्लिष्ट है। उनके दो-दो अर्थ होते हैं। प्रतिष्ठा का एक अर्थ राज्यप्राप्ति तथा दूसरा अर्थ सम्मान और यश की प्राप्ति होता है। इसी प्रकार दण्ड का एक अर्थ छाते का डण्डा है, और दूसरा अर्थ डण्ड विधान है, इसलिये यहाँ **'श्लेष'** अलङ्कार है। ल०द्र० २/६ श्लो०। (४) श्लोक के तृतीय चरण में जो 'श्रमापनयानाय' है वह 'श्रमाय' है। इस प्रकार विरोध होने से **'विरोधाभास'** अलङ्कार है। ल०द्र० २/११ श्लो०।

छन्द—श्लोक में **वसन्ततिलका** छन्द है। ल०द्र० १/८ श्लो०।

टिप्पणी—अलब्ध वस्तु के लाभ (प्राप्ति) को योग कहते हैं 'अलब्धस्य लाभः योगः'। और लब्ध वस्तु की रक्षा क्षेम है 'लब्धस्य रक्षणं क्षेमः'। इस श्लोक में योग और क्षेम दोनों की चर्चा है। योग की अपेक्षा क्षेम को अत्यधिक कष्टप्रद बताया गया है। उच्च पद आदि की प्राप्ति न होने तक उसकी प्राप्ति की अभिलाषा बनी रहती है। प्राप्ति हो जाने पर अभिलाषा समाप्त हो जाती है और प्राप्ति के अनन्तर मनुष्य का दायित्व और कार्यभार बढ़ जाता है। राज्य की प्राप्ति होने पर राजा का भार और उसका दायित्व अत्यधिक बढ़ जाता है। जिसके कारण राजा की दशा अपने हाथ में छाते का दण्ड (डण्डा) धारण करने वाले उस व्यक्ति के समान हो जाती है, जो धूप आदि से बचने के लिए छाता लगाता है, परन्तु उसको दण्ड आदि के धारण में जितना कष्ट होता है उसकी अपेक्षा उसे छाता के द्वारा सुख नहीं मिल पाता। अर्थात् राज्य प्राप्ति जनित सुख की अपेक्षा राज्य-परिपालन में कष्ट अधिक हो जाता है।

(नेपथ्ये) **वैतालिकौ—विजयतां देवः।**

(नेपथ्य में) **दो चारण** (स्तुतिपाठक)—महाराज की जय हो,

टिप्पणी—वैतालिकौ - समय की सूचना देने वाले को वैतालिक (भाट या चारण) कहते हैं। 'विविधः तालः वितालः वितालः प्रयोजनमस्येति - विताल+ठञ्। अमरकोष में 'वैतालिक' को बोधकर कहा गया है - 'वैतालिका बोधकराः' - इत्यमरः। भविष्यपुराण में इसका यह लक्षण है—'तत्तत्प्रहरकयोग्यै रागैस्तत्कालवाचिभिः श्लोकैः। सरभसमेव वितालं गायन् वैतालिको भवति'॥ यहाँ विताल से अभिप्राय विताल गान से है। यह प्रशंसनीय श्लोकों का गायन कर राजा को प्रसन्न करता है। श्लोकगायन ही उसका शिल्प है। अतः इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार से भी हो सकती है—वितालः लक्षणया वितालगानम् तत् शिल्पमस्य इति - विताल+ठक् (इकादेश)।

प्रथमः— प्रथम—

स्वसुखनिरभिलाषः खिद्यसे लोकहेतोः
प्रतिदिनमथवा ते वृत्तिरेवंविधैव।
अनुभवति हि मूर्ध्ना पादपस्तीव्रमुष्णं
शमयति परितापं छायया संश्रितानाम्॥ ७॥

अन्वय—स्वसुखनिरभिलाषः लोकहेतोः प्रतिदिनं खिद्यसे, अथवा ते वृत्तिः एवंविधा एव, हि पादपः मूर्ध्ना तीव्रम् उष्णम् अनुभवति, छायया संश्रितानां परितापं शमयति।

शब्दार्थ—स्वसुखनिरभिलाषः = अपने सुख की अभिलाषा न रखने वाले (आप)। लोकहेतोः = प्रजा के लिये। प्रतिदिनम् = प्रतिदिन। खिद्यसे = खिन्न होते हो (कष्ट उठाते हो)। अथवा = अथवा। ते = तुम्हारा। वृत्तिः = कार्य। एवंविधा = ऐसा। एव = ही (है)। हि = क्योंकि। पादपः = वृक्ष। मूर्ध्ना = शिर से (पर)। तीव्रम् = तीक्ष्ण (प्रचण्ड)। उष्णम् = गर्मी (धूप) को। अनुभवति = सहन करता है। छायया = छाया से। संश्रितानाम् = आश्रित लोगों के। परितापम् = सन्ताप को। शमयति = शान्त (दूर) करता है।

अनुवाद—अपने सुख की अभिलाषा न करने वाले (आप) प्रजा (के हित) के लिये प्रतिदिन कष्ट उठाते हैं, अथवा आप का कार्य (ही) ऐसा है। क्योंकि वृक्ष (अपने) सिर पर प्रचण्ड

(तीक्ष्ण) धूप को सहन करता है (किन्तु) अपनी छाया से आश्रित लोगों के सन्ताप को शान्त (दूर) करता है।

संस्कृत व्याख्या—स्वसुखनिरभिलाषः – निजस्य सुखे अभिलाषरहितः त्वम् , **लोकहेतोः** – प्रजायाः सुखार्थम् , **प्रतिदिनं** – प्रतिदिवसम् , सततमित्यर्थः, **खिद्यसे** – कष्टमनुभवसि; **अथवा** – ते तव राज्ञः, **वृत्तिः** – कार्यव्यापारः, **एवंविधैव** – ईदृशी एव, **भवति** – इति शेषः, **हि** – यतः, **पादपः** – वृक्षः, **मूर्ध्ना** – शिरसा, **तीव्रम्** – तीक्ष्णम् , **उष्णम्** – आतपम् , **अनुभवति** – सहते, **छायया** – स्वछायाप्रदानेन, **संश्रितानाम्** – आश्रितानाम् , **परितापं** – सन्तापम् , **शमयति** – निवारयति।

संस्कृत-सरलार्थः—प्रथमवैतालिककथनस्यायमभिप्रायः – राजा दुष्यन्तः स्वसुखे निस्पृहो भूत्वा जनानां (प्रजानां) सुखाय सततं कष्टं सहते। एतदपि वक्तुं शक्यते यत् तस्य राज्ञः कार्यमेवेदृशं विद्यते। वृक्षः स्वयन्तु स्वशिरसा तीव्रं सूर्यतापं सहते परन्तु स्वछायाश्रितान् जनान् तापरहितान् विधत्ते।

व्याकरण—स्वसुखनिरभिलाषः – स्वस्य सुखम् स्वसुखम् तस्मिन् निरभिलाषः तत्पुरुष। खिद्यसे – खिद्+लट्+म०पु०ए०व०। खिद् धातु दिवादिगणी आत्मनेपदी है। सिद्धान्तकौमुदी में यह धातु दिवादिगण में ही पठित है। काव्यालङ्कारसूत्र-वृत्तिकार ने उस धातु को दिवादिगणी न मानकर 'खिद्यसे' को कर्मकर्तृ वाच्य माना है। लोकहेतोः – लोकस्य हेतोः – 'हेतु' में पञ्चमी। वृत्तिः – वृत्+क्तिन्। वृक्ष पक्ष में पादपः – पादेन मूलेन पिबति इति पादपः – पाद+पा+क कर्तरि। राजा के पक्ष में पादप की व्युत्पत्ति यह है—पादान् चरणभूतान् प्रजाजनान् पातीति पादपः। परितापम् – परि+ताप्+घञ्। राजपक्ष में प्रजा के सन्ताप को और वृक्ष पक्ष में वृक्ष के नीचे आश्रित जनों के सन्ताप को।

कोष—'वैतालिका बोधकराः' – इत्यमरः। 'लोकस्तु भुवने जने' – इत्यमरः। 'उष्णं दक्षेऽपि चातके चातपे' – इति त्रिकाण्डकोषः।

अलङ्कार—(१) यहाँ अन्तिम दो चरणों में वृक्ष पर सज्जन का आरोप किया गया है अतः **'समासोक्ति'** अलङ्कार है। ल०द्र० १/२३ श्लो०। (२) उत्तरार्ध में उपमान के धर्म एवं क्रिया का **बिम्बप्रतिबिम्ब** भाव होने से **दृष्टान्त** अलङ्कार है। ल०द्र०१/२५ श्लो०। (३) छाया तापशान्ति का कारण है अतः **'काव्यलिङ्ग'** अलङ्कार है। ल०द्र० १/४ श्लो०। (४) अथवा कह कर पूर्व बात का निषेध किया गया है अतः **'आक्षेप'** अलङ्कार है। लक्षण—वस्तुनो वक्तुमिष्टस्य विशेषप्रतिपत्तये। निषेधाभास आक्षेप... इति।

छन्द—श्लोक में **मालिनी** छन्द है। इसका लक्षण निम्नाङ्कित है—

'ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः' अर्थात् जिस छन्द के प्रत्येक चरण में क्रमशः दो नगण (।।।), एक मगण (ऽऽऽ) तथा दो यगण (।ऽऽ) हों और आठवें तथा सातवें अक्षर पर यति (विराम) हो उसे मालिनी कहते हैं। इस पद्य में यह लक्षण घटता है।

टिप्पणी—जिस प्रकार वृक्ष स्वयं तो अपने सिर पर सूर्य की तीव्र धूप सहन कर लेता है और अपनी छाया से अपने नीचे स्थित प्राणियों के सन्ताप (गर्मी) को शान्त करता है, उसी प्रकार राजा भी अपने सुख की चिन्ता न कर अपने आश्रित प्रजा के कल्याण के लिये

कष्ट उठाता है। यहाँ राजा की तुलना वृक्ष से की गयी है तथा आश्रित व्यक्तियों को प्रजा के समान बतलाया गया है। इससे राजा की सहज परोपकार परायणता एवं प्रजाहिततत्परता को दिखाया गया है।

द्वितीयः— द्वितीय—

नियमयसि विमार्गप्रस्थितानात्तदण्डः
प्रशमयसि विवादं कल्पसे रक्षणाय।
अतनुषु विभवेषु ज्ञातयः सन्तु नाम
त्वयि तु परिसमाप्तं बन्धुकृत्यं प्रजानाम्॥ ८॥

अन्वय—आत्तदण्डः विमार्गप्रस्थितान् नियमयसि, विवादं प्रशमयसि, रक्षणाय कल्पसे, अतनुषु विभवेषु ज्ञातयः सन्तु नाम, प्रजानां बन्धुकृत्यं तु त्वयि परिसमाप्तम्।

शब्दार्थ—आत्तदण्डः = राजदण्ड को धारण करने वाले (राजदण्ड को धारण किये हुये)। विमार्गप्रस्थितान् = कुमार्ग पर जाने वालों को (कुमार्गियों को)। नियमयसि = नियन्त्रित करते हो। विवादम् = विवादों को (झगड़ों को)। प्रशमयसि = शान्त (समाप्त) करते हो। रक्षणाय = (प्रजा की) रक्षा के लिये। कल्पसे = समर्थ होते हो। अतनुषु = जो तनु (स्वल्प) नहीं है ऐसे (विशाल्ल)। विभवेषु = वैभव (सम्पत्ति) के होने पर। ज्ञातयः = सम्बन्धी (बन्धु-बान्धव)। सन्तु नाम = भले ही हो जाँय। प्रजानाम् = प्रजाओं का। बन्धुकृत्यम् = बन्धुकार्य (बन्धु-बान्धवों के द्वारा सम्पन्न होने वाला कार्य)। त्वयि = तुम्हारे में (आप में)। परिसमाप्तम् = समाप्त होता है (पूर्ण होता है)।

अनुवाद—राजदण्ड को धारण किये हुये तुम (आप) कुमार्ग पर जाने वालों लोगों को नियंत्रित करते हो (सन्मार्ग पर चलने के लिये बाध्य करते हो), (प्रजा के आपसी) विवादों (झगड़ों) को शान्त (समाप्त) करते हो और (प्रजा की) रक्षा में समर्थ हो। विशाल ऐश्वर्य के होने पर भले ही (बहुत से) सम्बन्धी (बन्धु-बान्धव) हो जाँय, (किन्तु) प्रजा (लोगों) का बन्धु-बान्धवों के द्वारा सम्पन्न होने वाला कार्य (बन्धु-कार्य) तो आप में (ही) पूर्ण होता है। (अर्थात् प्रजा का बन्धु-कार्य आप ही पूरा करते हैं)।

संस्कृत व्याख्या—आत्तदण्डः – गृहीतराजदण्डः त्वम् , **विमार्गप्रस्थितान्** – कुमार्गगामिनः, **नियमयसि** – नियन्त्रयसि, (सन्मार्गगामिनः करोषि) (जनानां), **विवादं** – कलहम् , **प्रशमयसि** – निवारयसि, **रक्षणाय** – प्रजानां परिपालनाय, **कल्पसे** – क्षमसे, **अतनुषु** – विपुलेषु, **विभवेषु** – धनादिषु सत्सु, **ज्ञातयः** – बान्धवाः, **सन्तु नाम** – भवन्तु नाम; **प्रजानां** – जनानाम् ; **बन्धुकृत्यं तु** – बान्धवैः करणीयं कार्यम् , **त्वयि** – राजनि, **परिसमाप्तं** – पूर्णतया सम्पन्नं भवति। यत्कार्यं बन्धुभिः करणीयं तत्तु त्वयैव सम्पाद्यते – इति।

संस्कृत-सरलार्थः—राजानं स्तुवतो द्वितीयवैतालिककथनस्यायमभिप्रायः – राजा दुष्यन्तो स्वयं गृहीतराजदण्डोऽसत्पथस्थितान् जनान् दण्डभयेन सन्मार्गगामिनो विधत्ते। स प्रजानां पारस्परिकं विवादं समाधिं नयति। प्रजारक्षणे सदा तत्परो जायते। येषां पार्श्वे विपुलसम्पत्तिर्भवति तेषान्तु नैका बन्धु-बान्धवा जायन्ते परन्तु राज्ञा दुष्यन्तस्य स्थितिर्नास्तीदृशी। तेन स्वयमेव प्रजाजनानां तान्यपि कृत्यानि सम्पाद्यन्ते यानि तैरेव सम्पादनीयानि सन्ति। प्रजाजनान् प्रति राज्ञो बन्धुत्वभावो नूनं प्रशंस्य इति।

व्याकरण—आत्तदण्डः – (आ+दा+क्त – 'अच् उपसर्गात्तः' से आत्) आत्तः दण्डः येन सः (बहु०)। विमार्गप्रस्थितान् – विपरीतो मार्गः विमार्गः, तेन प्रस्थितान् (तत्पु०)। नियमयसि – नि+यम्+णिच् , लट् म०पु०ए०व०। प्रशमयसि – प्र+शम्+णिच् , लट्, म०पु०ए०व०। रक्षणाय – यहाँ 'क्लृपि सम्पद्यमाने च' इस नियम से कल्प धातु के कारण चतुर्थी विभक्ति है। बन्धुकृत्यं – बन्धूनां कृत्यम् (तत्पु०)। परिसमाप्तम् – परि+सम्+आप्+क्त। अतनुषु – न तनु (विशालं) अतनु तेषु।

अलङ्कार—(१) अन्तिम चरण में वर्णित वाक्यार्थ के प्रति प्रथम तीन चरणों में वर्णित वाक्यार्थ हेतु है अतः यहाँ वाक्यार्थहेतुक **काव्यलिङ्ग** अलङ्कार है। ल०द्र० १/४ श्लो०। (२) 'नियमयसि', 'प्रशमयसि' तथा 'कल्पसे' – इन तीन क्रियाओं का एक ही कारक 'त्वम्' से सम्बन्ध होने के कारण **'दीपक'** अलङ्कार है। ल०द्र० २/१५ श्लो०। (३) इसमें निजी बन्धुओं से राजा को उत्कृष्ट (श्रेष्ठ) बन्धु बनाया गया है, अतः **'व्यतिरेक'** अलङ्कार है।

छन्द—यहाँ **मालिनी** छन्द है। ल०द्र ५/७ श्लो०।

टिप्पणी—(१) **अतनुविभवेषु** – जिसके पास अतुल वैभव होता है उसके सभी लोग अपने आप बन्धु-बान्धव बन जाते हैं कहा भी गया है—'सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ते'। इसके विपरीत निर्धन के सभी लोग पराये हो जाते हैं। परन्तु राजा दुष्यन्त सभी प्रजा के बन्धु (सम्बन्धी) हैं। उनके सभी कार्यो – जैसे कुमार्ग से हटाना, पारस्परिक विवादों को निपटाना, उनकी रक्षा करना आदि – को वे स्वयं करते हैं। इसलिये बन्धु भाव उन्हीं में पूर्णतः प्रतिष्ठित है। बन्धु वही है जो सम्पत्ति – विपत्ति सभी में काम आये। कहा भी गया है—'उत्सवे व्यसने चैव दुर्भिक्षे राजविप्लवे। राजद्वारे श्मशाने च यस्तिष्ठति स बान्धवः'। (२) **आत्तदण्डः** – राजा दुष्यन्त सर्वदा दण्ड को अपने हाथ में लेकर कुमार्गगामियों आदि का नियमन करते हैं। यदि दण्ड का भय न होता प्रजा एक दूसरे को खा जाय। कहा भी गया है—'प्रजा दण्डभयादेव न खादन्ति परस्परम्'। दण्ड प्रयोग के विषय में कहा गया है—'स्वराष्ट्रे न्यायवृत्तिः स्यादुग्रदण्डश्च शत्रुषु। सुहृत्सु तिलस्निग्धेषु ब्राह्मणेषु क्षमान्वितः'॥ (३) इस श्लोक में राजा दुष्यन्त को उत्तम गुणों से युक्त बताया गया है।

राजा—एते क्लान्तमनसः पुनर्नवीकृताः स्मः। (इति परिक्रामति)।

व्या० एवं श०—क्लान्तं खिन्नं श्रान्तं मनः येषां ते ब०ब्री० = थके (खिन्न) मन वाले।

राजा—(इस स्तुति-पाठ को सुनकर) यह थके मन वाला मैं फिर नवीन (अर्थात् ताजा) कर दिया गया हूँ। (घूमता है)।

प्रतिहारी—एषोऽभिनवसम्मार्जनसश्रीकः सन्निहितहोमधेनुरग्निशरणालिन्दः। आरोहतु देवः। (एसो अहिणवसम्मज्जसस्सिरीओ सण्णिहिदहोमधेणू अग्गिसरणालिन्दो। आरोहदु देवो।)

व्या० एवं श०—अभिनवसम्मार्जनसश्रीकः – श्रिया शोभया सहितः इति सश्रीकः अभिनवेन सद्यः सम्पादितेन सम्मार्जनेन सश्रीकः = अभी-अभी की गयी सफाई के कारण शोभायमान। यह पद अग्निशरणालिन्द का विशेषण है। सन्निहितहोमधेनुः – सन्निहिता समीपस्था होमधेनुः यत्र तथोक्तः (ब०ब्री०) = हवन के लिए उपयोगी समीपवर्ती गाय से युक्त। होमधेनुः – होमार्थं धेनुः। अग्निशरणालिन्दः – अग्नेः शरणम् अग्निशरणम् (ष०त०) तस्य आलिन्दः तत्पुरुष = यज्ञशाला का चबूतरा। आरोहतु – आ+रुह+लोट् प्र०पु०ए०व० = चढ़ें।

प्रतिहारी—अभी की गयी सफाई के कारण शोभायमान और हवन के (घृतादि के) लिये उपयोगी समीपस्थ गाय से युक्त यह यज्ञशाला का चबूतरा (आलिन्द) है। महाराज (इस पर) चढ़ें।

राजा—(आरुह्य परिजनांसावलम्बी तिष्ठति) **वेत्रवति, किमुद्दिश्य भगवता काश्यपेन मत्सकाशमृषयः प्रेषिताः स्युः ?**

व्या० एवं श०—आरुह्य – आ+रुह+क्त्वा – ल्यप् = चढ़कर। परिजनांसावलम्बी – परिजनस्य अंसौ अवलम्बते – परिजन+अंस+अव+लम्ब+णिनि = सेविका के कन्धे का सहारा लिये हुये। तिष्ठति – स्था+प्र०पु०ए०व० = खड़ा होता है। प्रेषिताः – प्र+इष्+क्त प्र०ब०व० = भेजे गये।

राजा—(चढ़कर सेविका के कन्धे का सहारा लेते हुये खड़ा होता है) वेत्रवती, किस उद्देश्य से पूजनीय कण्व के द्वारा मेरे पास ऋषि भेजे गये होंगे ?

किं तावद् व्रतिनामुपोढतपसां विघ्नैस्तपो दूषितं
धर्मारण्यचरेषु केनचिदुत प्राणिष्वसच्चेष्टितम् ।
आहोस्वित् प्रसवो ममापचरितैर्विष्टम्भितो वीरुधा-
मित्यारूढबहुप्रतर्कमपरिच्छेदाकुलं मे मनः ।। ९ ।।

अन्वय—किं तावत् उपोढतपसां व्रतिनां तपः विघ्नैः दूषितम् ? उत धर्मारण्यचरेषु प्राणिषु केनचित् असत् चेष्टितम्, आहोस्वित् मम अपचरितैः वीरुधां प्रसवः विष्टम्भितः, इति आरूढबहुप्रतर्कं मे मनः अपरिच्छेदाकुलम्।

शब्दार्थ—किम् तावत् = क्या। उपोढतपसाम् = बढ़ी हुयी है तपस्या जिनकी ऐसे, (महान् तपस्या वाले)। व्रतिनाम् = नियम समय से रहने वाले (ऋषियों की)। तपः = तपस्या। विघ्नैः = विघ्नों के द्वारा। दूषितम् = दूषित कर दी गयी है ? उत = अथवा। धर्मारण्यचरेषु = तपोवन में विचरण करने वाले। प्राणिषु = प्राणियों (जीवों) पर। केनचित् = किसी के द्वारा। असत् = अनुचित। चेष्टितम् = व्यवहार (चेष्टा) किया गया है ? आहोस्वित् = अथवा। मम = मेरे। अपचरितैः = दुराचरणों के कारण। वीरुधाम् = लताओं का। प्रसव = प्रसव (फूल-फल आना)। विष्टम्भितः = रुक गया है। इति = इस प्रकार। आरूढबहुप्रतर्कम् = उत्पन्न है (व्याप्त है) अनेक (बहुत सी) शङ्कायें जिसमें ऐसा (अनेक शङ्काओं से ग्रस्त)। में = मेरा। मनः = मन। अपरिच्छेदाकुलम् = निर्णय (निश्चय) न कर सकने के कारण व्याकुल (है)।

अनुवाद—क्या महान् तपस्वी व्रती (ऋषियों) की तपस्या विघ्नों के द्वारा दूषित कर दी गयी है ? अथवा तपोवन में विचरण करने वाले प्राणियों (जीवों) पर किसी के द्वारा अनुचित व्यवहार (हिंसा आदि) किया गया है ? अथवा मेरे किन्हीं कुकृत्यों के कारण लताओं का प्रसव (उनमें फूल-फल आना) रुक गया है ? इस प्रकार उत्पन्न अनेक शङ्काओं से ग्रस्त मेरा मन (कुछ भी) निर्णय (निश्चय) न कर सकने के कारण (व्याकुल हो रहा है)।

संस्कृत व्याख्या—**किं तावत्** – किमिति, **उपोढतपसां** – विरूढ़ तपः येषां तेषाम्, **व्रतिनां** – तपस्विनाम्, **तपः** – तपश्चरणम्, **विघ्नैः** – विघ्नकारिभिः राक्षसादिभिः अन्तरायैः, **दूषितम्** – व्याहतम् अस्ति, **उत** – अथवा, **धर्मारण्यचरेषु** – तपोवनविहारिषु, **प्राणिषु** – जन्तुषु, **केनचित्** – दुष्टेन, **असत्** – अनुचितम्, **चेष्टितम्** – आचरितम्, **आहोस्वित्** – अथवा, **मम** – दुष्यन्तस्य, **अपचरितैः** – पापाचरणैः, **वीरूधां** – लतानां, **प्रसवः** – फल-पुष्पाद्युद्गमः,

विष्टम्भितः – निरुद्धः, **इति** – एवं प्रकारेण, **आरूढबहुप्रतर्कम्** – आरुठाः उद्भूताः नानाविधाः संशयाः यस्मिन् तत् , **मे मनः** – मम मानसम् , **अपरिच्छेदाकुलम्** – अपरिच्छेदेन अनिर्णयेन व्याकुलम् , **जायते** – इति शेषः ।

संस्कृत-सरलार्थः—तपस्विनामागमनसमाचारं श्रुतवा दुष्यन्तस्य मनषि नैकाः सन्देहाः प्रादुर्भवन्ति । तद्यथाः किं तपस्विनां तपश्चरणं के नचिद् विघ्नेनाहतम् ? अथवा, तपोवनप्राणिनः प्रति केनचिद दुष्टैनासदाचरितम् , उताही तस्य (दुष्यन्तस्य) पापाचरणैर्लतानां पुष्पाद्युद्गमो बाधितः ? उपर्युक्तसंशयग्रस्तेन मनसा मया दुष्यन्तेन सम्प्रति निर्णेतुमिदं न शक्यते यत्काश्यपेन केन हेतुना इमे ऋषयः प्रेषिताः ? इति भावः ।

व्याकरण—उपोढतपसाम् – उपोढं विवृद्धं तपः येषां तेषाम् (ब०ब्री०) उपोढम् – उप+वह+क्त । धर्मारण्यचरेषु – धर्मस्य धर्माय वा अरण्यम् धर्मारण्यं तस्मिन् चरन्ति ये तेषु (तत्पु०) । चेष्टितम् – चेष्ट+क्त । विष्टम्भितम् – वि+स्तम्भ्+क्त = निरुद्ध कर दिया गया । आरूढबहुप्रतर्कम् – आरूढाः बहवः प्रतर्काः यस्मिन् तत् (ब०ब्री०) । अपरिच्छेदाकुलम् – अपरिच्छेदेन आकुलम् (तृ०त०) ।

कोष—'पुष्पं फलं च प्रसवं च वृक्षाणां प्रसवं विदुः' – इति धारणी । 'प्रसवस्तु फले पुष्पे वृक्षाणां गर्भमोचने' – इति मेदिनी । 'लता प्रतायनिनी वीरूत्' – इत्यमरः । 'प्रसवो जननानुज्ञा पुत्रेषु फलपुष्पयोः' – इति यादवः ।

अलङ्कार—(१) चतुर्थ चरण में वर्णित 'अपरिच्छेदाकुलम् मे मनः' के कारण प्रथम तीन चरणों में उक्त हैं अतः पदार्थ हेतुक **'काव्यलिङ्ग'** अलङ्कार है । ल०द्र० १/५ । (२) प्रथम चरण के 'तपसा' तपः – तथा तृतीय चरण में 'स्वित् – सवः' आदि स्थलों में **अनुप्रास** अलङ्कार है ।

छन्द—यहाँ **शार्दूलविक्रीडित** छन्द है । ल०द्र० १/१४ श्लो० ।

टिप्पणी—(१) भारतीय परम्परा में ऐसी मान्यता है कि राजा के पापों के कारण ही प्रजा पर विपत्ति आती है । इस सम्बन्ध में संस्कृत-वाङ्मय में अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं । उनमें से कुछ ये हैं—(क) 'न राजापचारमन्तरेण प्रजासु अकालमृत्युः संचरति' । 'उत्तररामचारित' (ख) 'राजदोषैर्विपद्यन्ते प्रजा ह्यविधिपालिताः । असद्वृत्तौ हि नृपतौ अकाले म्रियते जनः । राम० ७/७३ । (ग) 'राज्ञोऽपचारात् पृथिवी स्वल्पसस्या भवेत् किल। अल्पायुषः प्रजाः सर्वा दरिद्रा व्याधिपीडिताः' ।। इसके विपरीत पुण्यात्मा राजा के प्रभाव से सर्वत्र सौख्य, आनन्द आदि छा जाता है । राजा दिलीप के वन में प्रवेश करते ही वृष्टि के बिना ही दावाग्नि शान्त हो जाती है । वृक्षों में फल-पुष्पों की विशेष वृद्धि हो जाती है । जीव निर्बाध हो जाते हैं 'शशाम वृष्ट्यापि बिना दवाग्निरासीद् विशेषा फलपुष्पवृद्धिः । ऊनं न सत्त्वेष्वधिको बबाधे तस्मिन् वने गोप्तरि गाहमाने' । रघु० ।

प्रतिहारी—सुचरितनन्दिन ऋषयो देवं सभाजयितुमागता इति तर्कयामि । (सुचरिदणन्दिणो इसीओ देवं सभाजइदुं आअदेत्ति तक्केमि ।)

व्या० एवं श०—सुचरितनन्दिनः – शोभनं चरितं सुचरितम् तेन साधु नन्दन्तीति – सुचरित+नन्द+णिनि = (आपके) सुन्दर आचरण से प्रसन्न । यह पद 'ऋषयः' इस पद का विशेषण है । सभाजयितुम् – सभाज+णिच्+तुमुन् = स्वागत (अभिनन्दन) करने के लिये ।

प्रतिहारी—(आप के) सुन्दर चरित (आचरण) से प्रसन्न ऋषि लोग **महाराज का**

अभिनन्दन करने के लिये आये हैं – ऐसा मैं सोच रही हूँ।

(ततः प्रविशन्ति गौतमीसहिताः शकुन्तलां पुरस्कृत्य मुनयः । पुरश्चैषां कञ्चुकी पुरोहितश्च) ।

व्या० एवं श०—पुरस्कृत्य – पुरस्+कृ+क्त्वा – ल्यप् = आगे कर।

(तत्पश्चात् शकुन्तला को आगे करके गौतमी के साथ मुनि लोग प्रवेश करते हैं। इनके आगे-आगे कञ्चुकी और पुरोहित हैं)।

कञ्चुकी—इत इतो भवन्तः ।

कञ्चुकी—इधर से, इधर से, आप लोग (आइये)।

शर्ङ्गरवः—शारद्वत,

शार्ङ्गरव—हे शारद्वत (मैं समझता हूँ कि)—

महाभागः कामं नरपतिरभिन्नस्थितिरसौ,
न कश्चिद् वर्णानामपथमपकृष्टोऽपि भजते ।
तथापीदं शश्वत्परिचितविविक्तेन मनसा
जनाकीर्णं मन्ये हुतवहपरीतं गृहमिव ।। १० ।।

अन्वय—कामम् अभिन्नस्थितिः असौ नरपतिः महाभागः, वर्णानाम् अपकृष्टः अपि कश्चित् अपथं न भजते, तथापि शश्वत्परिचितविविक्तेन मनसा जनाकीर्णम् इदं हुतवहपरीतं गृहम् इव मन्ये।

शब्दार्थ—कामम् = यद्यपि। अभिन्नस्थितिः = जिसने (कभी भी) मर्यादा का उलङ्घन (त्याग) नहीं किया है ऐसा, मर्यादा के रक्षक। असौ = यह। नरपतिः = राजा। महाभागः = महानुभाव (अत्यन्त श्रेष्ठ)। वर्णानाम् = वर्णों में। अपकृष्टः = निकृष्ट। अपि = भी। कश्चित् = कोई। अपथम् = कुमार्ग का (को)। न = नहीं। भजते = सेवन करता है। तथापि = तो भी। शश्वत्परिचितविविक्तेन = निरन्तर एकान्त से परिचित (अभ्यस्त) मैं। मनसा = मन से। जनाकीर्णम् = लोगों से भरे हुये (भीड़ से युक्त)। इदम् = इस (राजमहल) को। हुतवहपरीतम् = अग्नि से घिरे हुये। गृहम् = घर की भाँति। मन्ये = मान रहा हूँ, अनुभव कर रहा हूँ।

अनुवाद—(शारद्वत !) यद्यपि, मर्यादा का उलङ्घन न करने वाले (मर्यादा के रक्षक) ये राजा अत्यन्त श्रेष्ठ हैं और (इनके राज्य में) वर्णों में कोई नीच व्यक्ति भी कुमार्ग पर नहीं चलता, तथापि निरन्तर एकान्त के अभ्यस्त मन से, मैं लोगों से भरे हुये इस (राजमहल) को अग्नि से घिरे हुये घर की भाँति अनुभव कर रहा हूँ।

संस्कृत व्याख्या—कामं – यद्यपि सत्यमिति यावत् , **अभिन्नस्थितिः** – न भिन्ना परित्यक्ता स्थितिः मर्यादा येन तादृशः **असौ** – एषः, **नरपतिः** – राजा, **महाभागः** – महानुभावः (महाभाग्यशाली) अस्ति, **वर्णानाम्** – ब्रह्मणादीनाम् , **अपकृष्टः अपि** – निकृष्टोऽपि, **कश्चित्** – कोऽपि जनः, **अपथं** – कुमार्गम् , **न भजते** – न सेवते, **तथापि शश्वतत्परिचितविविक्तेन** – शश्वत् निरन्तरम् अभ्यस्तं विजनस्थानं येन तेन (मया), **मनसा** – चेतसा, **जनाकीर्णं** – लोकसङ्कुलम्, **इदम्** – एतत् राजभवनम्, **हुतवहपरीतम्** – अग्निना व्याप्तम् , **गृहम् इव** – भवनमिव, **मन्ये** – जानामि।

संस्कृत-सरलार्थः—शार्ङ्गरव वदति – सत्यमिदं यद् अयं राजा दुष्यन्तो महाभाग्यशाली तथा मर्यादापालकोऽस्ति। अस्य राज्ये वर्णानां निकृष्टोऽपि जनः कुमार्गं न गच्छति तथापि अभ्यस्तविजनस्थानोऽहं जनसङ्कुलमिदं राजभवनं वह्निा परिव्याप्तमिव जानामि। अर्थात् राजसदनमिदनग्निप्रज्वलितममिव मे प्रतिभाति।

व्याकरण—अभिन्नस्थितिः – अभिन्ना स्थितिः (मर्यादा) येन सः (ब०ब्री०)। महाभाग – महान् भागः भाग्यं यस्य स (ब०ब्री०)। अपकृष्टः – अप+कृष+क्त। अपथं न पन्थाः इति – अपथम् (नञ् तत्पु०)। शश्वत्परिचितविविक्तेन – शश्वत् परिचितं विविक्तं येन तेन (ब०ब्री०)। जनाकीर्णम् – जनैः आकीर्णम् (तृ०तत्पु०)। हुतवहपरीतम् – हुतवहेन परीतम् (तृ०तत्पु०)।

कोष—'वर्णो द्विजादिः' – इत्यमरः।

अलङ्कार—(१) यहाँ शार्ङ्गरव की अशान्ति का कोई कारण विद्यमान नहीं है पर अशान्ति हो रही है अतः कारण के न रहने पर कार्य होने से **विभावना** अलङ्कार है। ल०द्र० १/१८। (२) शान्ति के कारण राजा की महानुभावता आदि के विद्यमान रहने पर भी शान्ति न होने से **विशेषोक्ति** अलङ्कार है। ल०द्र० ३/२२। ये दोनों अलङ्कार उक्त निमित्त भेद के अन्तर्गत है क्योंकि **'शाश्वत्परिचितविविक्तेन मनसा'** इस कथन से निमित्त उक्त है। दोनों अलङ्कारों के साधक, बाधक प्रमाण के अभाव में सन्देह सङ्कर है। (३) 'हुतवहपरीतम् गृहमिव' में **उपमा** अलङ्कार है। ल०द्र० १/५। यहाँ इव उपमा वाचक है उत्प्रेक्षा वाचक नहीं है।

छन्द—पद्य में **शिखरिणी** छन्द है। ल०द्र० १/९।

टिप्पणी—(१) **महाभागः** – महाभाग उसे कहते है जिस पर जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त कोई कलङ्क लगा हो—आरभ्योत्पत्तिमामृत्योः कलङ्को यस्य नो भतेत्। स्याच्चैवानुपमा कीर्तिर्महाभागः स उच्यते॥ (२) **हुतवहपरीतमिव** – शार्ङ्गरव जन्म से लेकर सदा शान्त आश्रम में रहने का अभ्यासी है अतः उसे राजा दुष्यन्त का भीड़-भाड़ से भरा हुआ भवन अग्नि की लपटों से घिरे हुये घर की तरह लग रहा है। यह मनोवैज्ञानिक सत्य है कि सदा शान्त वातावरण में रहने वाले व्यक्ति के लिये लोगों से भरा हुआ भवन अजीब सा लगता है।

शारद्वतः—स्थाने भवान् पुरप्रवेशादित्थंभूतः संवृत्तः। अहमपि—

व्याख्या एवं श०—स्थाने – यह उचित के अर्थ में अव्यय है। अमरकोष में कहा गया है कि – 'युक्ते द्वे साम्प्रतं स्थाने'। नगरप्रवेशात् – हेत्वर्थ में पञ्चमी। संवृत्तः – सम्+वृत्+क्त = हो गये हैं।

शारद्वत—यह ठीक ही है कि आप नगर (पुर) में प्रवेश करने से इस प्रकार के हो गये हैं (अर्थात् ऐसा आप को अनुभव हो रहा है)। मैं भी—

अभ्यक्तमिव स्नातः शुचिरशुचिमिव प्रबुद्ध इव सुप्तम्।
बद्धमिव स्वैरगतिर्जनमिह सुखसङ्गिनमवैमि॥ ११॥

अन्वय—इह सुखसङ्गिनं जनं स्नातः अभ्यक्तम् इव शुचिः अशुचिम् इव, प्रबुद्धः सुप्तम् इव, स्वैरगतिः बद्धम् इव अवैमि।

शब्दार्थ—इह = यहाँ। सुखसङ्गिनम् = सुखों में आसक्त। जनम् = लोगों को। स्नातः = स्नान किया हुआ (नहाया हुआ) व्यक्ति। अभ्यक्तम् इव = तेल लगाये हुये के समान। शुचिः

= पवित्र । अशुचिम् इव = अपवित्र के समान । प्रबुद्धः = जगा हुआ । सुप्तम इव = सोये हुये के समान । स्वैरगतिः = स्वच्छन्द विचरण करने वाला । बद्धम् इव = बँधे हुये के समान । अवैमि = समझ रहा हूँ ।

अनुवाद—यहाँ के सुखों में आसक्त लोगों को मैं उसी प्रकार समझ रहा हूँ जिस प्रकार नहाया हुआ व्यक्ति तेल लगाये हुये व्यक्ति को, पवित्र व्यक्ति अपवित्र को, जगा हुआ व्यक्ति सोये हुये को और स्वच्छन्द विचरण करने वाला व्यक्ति बँधे हुये को (समझता है)।

संस्कृत व्याख्या—**इह** – राजगृहे, **सुखसङ्गिनं** – सांसारिकभोगविलासासक्तम् , **जनं** – लोकम् , **स्नातः** – कृतस्नानो जनः, **अभ्यक्तं** – कृततैलमर्दनमिव, **शुचिः** – पवित्रः, **अशुचिमिव** – अपवित्रमिव, **प्रबुद्धः** – जागरितः, **सुप्तमिव** – शयानमिव, **स्वैरगतिः** – स्वाधीनः, **बद्धमिव** – निगडितमिव, **अवैमि** – जानामि ।

संस्कृत-सरलार्थः–शारद्वतकथनस्यायामशयः – यथा स्नातो जनः कृततैलमर्दनं जनम् अपवित्रं मत्वा परिहराति, यथा वा पवित्रो (जनः) अपवित्रम् अस्पृश्यं मनुते, यथा वा प्रबुद्धा (जागरितो) जनः शयानं बुध्यते यथा च स्वाधीनो जनो बद्धं जनं जानाति तथैव सः शारद्वतः सांसारिभोगविलाससक्तं नगरस्थं जनं (हेयं) जानीते ।

व्याकरण—अभ्यक्तमिव – अभि+अञ्ज्+क्त । स्नातः – स्ना+क्त । प्रबुद्धः – प्र+बुध्+क्त । सुप्तम् – सुप्+क्त । बद्धम् – बध्+क्त । स्वैरगतिः – स्वैरा गतिः यस्यः (ब०ब्री०) । स्वैरः स्व+ईर – 'स्वादी रेरिणोः' वार्तिक से वृद्धि । सुखसङ्गिनम् – सुखे सङ्गः, सः अस्ति अस्य इति सुखसङ्गी तम् सुख सङ्ग+इति द्वि०ए०व० ।

अलङ्कार—यहाँ एक उपमेय 'सुखसङ्गिनम्' के स्नातः अभ्यक्तमिव शुत्रि, अशुचिमिव, प्रबुद्धः सुप्तमिव तथा स्वैरगतिः बद्धमिव – ये चार उपमान हैं अतः **'मालोपमा'** अलङ्कार है । द्र० २/१० ।

टिप्पणी—(१) सदा जङ्गल में रहने वाले लोगों को नगर में रहने वाले लोग किस प्रकार प्रतीत होते हैं ? इसका शारद्वत के इस कथन में अच्छा चित्रण है । शारद्वत सुखासक्त हस्तिनापुर के निवासियों को उसी प्रकार समझ रहा है जिस प्रकार स्नान कर लेने वाला तेल मालिश वाले को, जागा हुआ सोये हुये को तथा स्वतंत्र व्यक्ति बद्ध (बँधे हुये) को समझता है ।

शकुन्तला—(निमित्तं सूचयित्वा) **अहो, किं मे वामेतरं नयनं विस्फुरति ?** (अम्महे, किं मे वामेदरं णअणं विप्फुरदि ?)

व्या एवं श०—निमित्तम् = लक्षण (अपशकुन) । सूचयित्वा = सूचित कर । वामेतरम् – वामम् इतरत् यस्मात् (ब०) अथवा वामात् इतरत् (प० तत्पु०) = दाहिना । विस्फुरति – वि+स्फुर+लट्+प्र०पु०ए०व० = फड़क रहा है ।

शकुन्तला—(अपशकुन को सूचित कर) ओह, क्यों मेरा दाहिना नेत्र फड़क रहा है?

टिप्पणी—निमित्तम् – 'निमित्तं हेतुलक्ष्मणोः (अमरकोष) और 'निमित्तं लक्षणे हेतौ (शाश्वतः) इन कोष वचनों के अनुसार निमित्त के लक्षण और हेतु-दो अर्थ होते हैं । यहाँ निमित्त लक्षण के अर्थ में आया है पर उसका अभिप्राय अशुभ या अपशकुन है क्योंकि स्त्रियों की दाहिनी

—

आँख का फड़कना अशुभसूचक माना जाता है। कहा भी गया है—'वामभागस्तु नारीणां पुंसां श्रेष्ठस्तु दक्षिणः' तथा 'दक्षिण चक्षुः स्पन्दनं बन्धुदर्शनमर्थलाभं वा। वामचक्षुः स्पन्दनं बन्धुविच्छेदं धनहानिं वा'।।

गौतमी—जाते, प्रतिहतममङ्गलम्। सुखानि ते भर्तुकुलदेवता वित्तरन्तु। (जादे, पडिहदं अमंगलम्। सुहाइं दे भत्तुकुलदेवदाओ वितरन्दु।) (इति परिक्रामति)।

व्या० एवं श०—प्रतिहतम् – प्रति+हत्+क्त = विनष्ट (हो)। यहाँ भवतु क्रिया का अध्याहार कर **'अमङ्गलं प्रतिहतं भवतु'** इस प्रकार वाक्यगठन होता है। भर्तृकुलदेवता-भर्तुः कुलं भर्तृकुलम् तस्य देवताः भर्तुकुलदेवताः = पतिकुल के देवता। वितरन्तु – वि+तृ+लोट्+प्र०पु०ब०व० = प्रदान करें।

गौतमी—बेटी अमङ्गल नष्ट हो। पतिकुल के देवता तुम्हें सुख प्रदानप करें। (घूमती है)।

पुरोहितः—(राजानं निर्दिश्य) **भो भोस्तपस्विनः,असावत्रभवान् वर्णाश्रमाणां रक्षिता प्रागेव मुक्तासनो वः प्रतिपालयति। पश्यतैनम्।**

व्या० एवं श०—रक्षिता – रक्ष्+तृच् = रक्षक। मुक्तासनः – मुक्तम् आसनं येन (ब०ब्री०) = छोड़ दिया है आसन जिसने अर्थात् आसन से उठे हुये। पश्यतैनम् – पश्यत+एनम् = वृद्धि सन्धि। पश्यत – दृश+म०पु०ब०व०। एनम् = इनको।

पुरोहित—(राजा की ओर सङ्केत कर) हे हे तपस्वियों, ये (चारों) वर्णों और आश्रमों के रक्षक आदरणीय महाराज पहले से ही आसन से उठकर आप लोगों की प्रतीक्षा कर रहे हैं। इन्हें देखिये अर्थात् इनसे मिलिये।

शार्ङ्गरवः—भो महाब्राह्मण, काममेतदभिनन्दनीयं तथापि वयमत्र मध्यस्थाः। कुतः—

व्या० एवं श०—महाब्राह्मण – महान् चासौ ब्राह्मणः (कर्म० स०) महत्+ब्राह्मण = महाब्राह्मण। यहाँ सम्बोधन है = हे महाब्राह्मण श्रेष्ठ ब्राह्मण। कामम् = यद्यपि। अभिनन्दनीयम् – अभि+नन्द+अनीयर = प्रशंसनीय (है)। मध्यस्थाः – मध्ये तिष्ठन्ति मध्यस्थाः – मध्य+स्था+क = उदासीन, निःस्पृह।

शार्ङ्गरव—हे श्रेष्ठ ब्राह्मण, यद्यपि (महाराज का) यह (शिष्टाचार प्रदर्शन) प्रशंसनीय है, तथापि हम लोग इस विषय में उदासीन हैं क्योंकि—

टिप्पणी—(१) **महाब्राह्मण** – यहाँ महाब्राह्मण से अभिप्राय श्रेष्ठ ब्राह्मण का है। यद्यपि साधारणतः शंख, तैल, मांस, वैद्य, ज्योतिषी, ब्राह्मण, यात्रा, पथ तथा निद्रा के साथ सम्बद्ध होने पर महा (महत्) शब्द अप्रशंनीय अर्थात् निन्दा का सूचक हो जाता है—"शंखे तैले तथा मांसे वैद्ये ज्योतिषके द्विजे। यात्रायां पथि निद्रायां महच्छन्दो न दीयते" पर कालिदास ने यहाँ महाब्राह्मण का प्रयोग प्रशंसा में ही किया है। इससे प्रतीत होता है कि कालिदास के समय 'महाब्राह्मण' शब्द का प्रयोग निकृष्ट अर्थ में नहीं होता था। **मध्यस्था** – शार्ङ्गरव के कथन का अभिप्राय यह है कि राजा विनम्रतापूर्वक आसन से उठकर हम लोगों का जो आदर कर रहे हैं हम लोग इस विषय में उदासीन हैं अर्थात् हमारे लिये वह कार्य सामान्य है।

भवन्ति नम्रास्तरवः फलागमैर्नवाम्बुभिर्दूरविलम्बिनो घनाः।
अनुद्धताः सत्पुरुषाः समृद्धिभिः स्वभाव एवैष परोपकारिणाम्।। १२।।

अन्वय—तरवः फलागमैः नम्राः भवन्ति, घनाः नवाम्बुभिः दूरविलम्बिनः (भवन्ति), सत्पुरुषाः समृद्धिभिः अनुद्धताः (भवन्ति), एषः परोपकारिणां स्वभावः एव।

शब्दार्थ—तरवः = वृक्ष। फलागमैः = फलों के आ जाने से (फलों से लद जाने पर)। नम्राः = नम्र (झुके हुये)। भवन्ति = हो जाते हैं। घनाः = बादल। नवाम्बुभिः = नीवन जल से। दूरविलम्बिनः = बहुत नीचे झुक जाते हैं (आ जाते हैं) (इसी प्रकार)। सत्पुरुषाः = सज्जन। समृद्धिभिः = समृद्धियों से, सम्पत्तियों से। अनुद्धताः = गर्वरहित विनम्र (हो जाते हैं)। एषः = यह। परोपकारिणाम् = परोपकारियों का। स्वभावः = स्वभाव। एव = ही (है)।

अनुवाद—वृक्ष फल के आ जाने पर नम्र हो जाते हैं (झुक जाते हैं)। बादल नये जल से (पूर्ण होने पर) बहुत नीचे (पृथ्वी के पास) लटक जाते हैं (अर्थात् बहुत नीचे तक झुक जाते हैं)। (इसी प्रकार) सज्जन समृद्धियों (को पाने) से विनम्र (हो जाते हैं)। यह परोपकारियों का स्वभाव ही है।

संस्कृत व्याख्या—तरवः – वृक्षाः, **फलागमैः** – फलोत्पत्तिभिः, **पूर्णाः सन्तः नम्राः** – विनताः, **भवन्ति** – जायन्ते, **घनाः** – मेघाः, **नवाम्बुभिः** – नववर्षर्तुसलिलैः, **दूरविलम्बिनः** – धारणीतलसमीपं लम्बमानाः (भवन्ति) एवमेव, **सत्पुरुषाः** – सज्जनाः, **समृद्धिभिः** – धनसम्पत्तिभिः, **अनुद्धताः** – गर्वशून्याः, **विनीताः** – इत्यर्थः, **भवन्तीति** – शेषः, **एषः** – असौ, **परोपकारिणां** – परानुपकर्तुम् शीलं येषां जनानां तेषाम् , **स्वभावः** – एषा प्रकृतिः एव।

संस्कृत-सरलार्थः—महाराजदुष्यन्तस्य प्रशंस्यं शिष्टाचारं विलोक्य शार्ङ्गरवो हृष्टो ब्रूते – लोके दुष्यन्तनिभाः सज्जनाः सम्पत्तिभिस्तथैव निरभिमानाः सन्तः विनीता जायन्ते यथा फलोद्गमैः पादपा नितरामानता जायन्ते, मेघाः वर्षर्तुजलपरिपूर्णाः सन्तो विनीताः पृथ्वीसमीपं लम्बमानाभवन्ति। वस्तुतः परोपकारवृत्तीनां जनानामयं स्वभाव एव।

व्याकरण—नम्राः – नम्+र प्र०ब०व०। फलागमैः – फलानामागमै (तत्पु०)। दूरविलम्बिनः – रंरं विलम्बन्ते इति – दूर+वि+लम्ब्+णिनि – प्र०ब०व०। परोपकारिणाम् – परेषामुपकुर्वन्ति – पर+उप+कृ+णिनि ष०ब०व०।

अलङ्कार—(१) इस श्लोक के चतुर्थ चरण के 'स्वभाव एवैष परोपकारिणाम्' इस सामान्य से प्रथम तीन चरणों के 'भवन्ति नम्रास्तरवः समृद्धिभिः, नवाम्बुभिर्भूरि विलम्बिनो घनाः तथा अनुद्धताः सत्पुरुषाः समृद्धिभिः – इन तीन विशेष अर्थों का समर्थन होने से **'अर्थान्तरन्यास'** अलङ्कार है। ल०द्र० १/२ श्लो०। (२) तृतीय चरण में अप्रस्तुत सत्पुरुष सामान्य से प्रस्तुत दुष्यन्त रूप विशेष की अभिव्यञ्जना होने से **'अप्रस्तुतप्रशंसा'** अलङ्कार है। ल०द्र० १/१७ श्लो०। (३) इस श्लोक में एक ही **'विनय'** सामान्य धर्म का भिन्न-भिन्न वाक्यों में **'नम्राः', दूरविलम्बिनः'** तथा **'अनुद्धताः'** इन पदों से पृथक्-पृथक् निर्देश होने से **मालाप्रतिवस्तूपमा** अलङ्कार है। ल०द्र० १/२५ श्लो०। (४) अप्रस्तुत **'तरु'**, **'धन'** तथा **'सत्पुरुष'** का एक ही **'भवन्ति'** इस क्रिया से सम्बन्ध होने के कारण **'तुल्ययोगिता'** अलङ्कार है। ल०द्र० ३/१७।

छन्द—श्लोक में **'वंशस्थ'** छन्द है। ल०द्र १/१८ श्लो०।

टिप्पणी—इस श्लोक में परोपकारपरायण चेतन तथा अचेतन प्रकृति के स्वभाव का अति भव्य वर्णन है।

प्रतिहारी—देव, प्रसन्नमुखवर्णा दृश्यन्ते। जानामि विश्रब्धकार्या ऋषयः। (देव, पसण्णमुहवण्णा दीसन्ति। जाणामि विसद्धकज्जा इसीओ।)

व्या० एवं श०—प्रसन्नमुखवर्णाः – प्रसन्नः मुखस्य वर्णः येषां ते (ब०ब्री०) = प्रसन्नमुखवर्ण (कान्ति) वाले। दृश्यन्ते – दृश्+कर्मवाच्य यक्+लट्+प्र०पु०ब०व० = दिखायी दे रहे हैं। विश्रब्धकार्याः – विश्रब्धं विश्वासपूर्णं शान्तिपूर्णमिति यावत्। वि+श्रम्+क्त। विश्रब्धं कार्यं येषां ते (ब०ब्री०)

प्रतिहारी—महाराज, (ये ऋषिलोग) प्रसन्नमुखकान्ति वाले दिखायी दे रहे हैं। मैं समझती हूँ कि ये ऋषि लोग शान्तिपूर्ण (विश्वस्त) कार्य वाले हैं (अर्थात् किसी शान्तिपूर्ण कार्य से आये हैं)।

राजा—(शकुन्तलां दृष्ट्वा) **अथात्रभवती**—

राजा—(शकुन्तला को देखकर) और यह आदरणीया—

का स्विदवगुण्ठनवती नातिपरिस्फुटशरीरलावण्या।
मध्ये तपोधनानां किसलयमिव पाण्डुपत्राणाम्॥ १३॥

अन्वय—पाण्डुपत्राणां मध्ये किलयम् इव तपोधनानां मध्ये अवगुण्ठनवती नातिपरिस्फुटशरीरलावण्या का स्वित्।

शब्दार्थ—पाण्डुपत्राणाम् = पीले पत्तों के। मध्ये = मध्य (बीच) में। किसलयम् इव = नवीन पत्ते (किसलय) के समान। तपोधनानाम् = तपस्या ही धन जिनका ऐसे अर्थात् तपस्वियों के। मध्ये = मध्य में। अवगुण्ठनवतीम् = घूँघट (अवगुण्ठ) वाली। नातिपरिस्फुटशरीरलावण्या = जिसके शरीर का सौन्दर्य बहुत अधिक प्रकट (स्पष्ट) नहीं हो रहा है ऐसी, (अस्पष्ट शरीर-सौन्दर्य वाली)। का स्वित् = कौन है ?

अनुवाद—पीले पत्तों के मध्य में नवीन पत्ते (किसलय) के समान तपस्वियों के मध्य में घूँघट वाली (यह स्त्री), जिसके शरीर का सौन्दर्य बहुत अधिक प्रकट (स्पष्ट) नहीं हो रहा है, कौन है ?

संस्कृत व्याख्या—**पाण्डुपत्राणां** – पीतपर्णानाम्, **मध्ये** – अन्तरे, **किसलयम् इव** – नवपल्लवम् इव, **तपोधनानां** – तपस्विनाम्, **मध्ये** – अन्तरे, **अवगुण्ठनवती** – अवगुण्ठनयुक्ता, **नातिपरिस्फुटशरीरलावण्या** – न अतिप्रकटं देहस्य सौन्दर्यं यस्याः साः नातिप्रकटदेहसौन्दर्या, **का स्वित्** – को नु एषा रमणी।

संस्कृत-सरलार्थः—शकुन्तलामवलोक्य राजा विचारयित – पुरोदृश्यमानाऽवगुण्ठनवती नातिस्फुटशरीरसौन्दर्या रमणीयं केति न जानामि। तपस्विनां मध्ये विराजमानेयं रमणी तथैव न भाति यथा पीतपर्णानां मध्ये नवं किसलयं न भाति।

व्याकरण—अवगुण्ठनमस्याः अस्ति अवगुण्ठनवती – अवगुण्ठन+मतुप्+ङीप्। नातिपरिस्फुटशरीरलावण्या – न अतिपरिस्फुटं शरीरस्य लावण्यं यस्याः सा (बहु०)।

कोष—'अथावगुण्ठनञ्चावगुण्ठिका। योषाशिरःप्रावरणक्रियायां स्यात्'। इति शब्दाब्धिः।

अलङ्कार—(१) श्लोक में 'किसलयमिव' में **'उपमा'** अलङ्कार है। यहाँ पर **'शकुन्तला'**

उपमेय, **'किसलय'** उपमान, **'कोमलता'** साधारण धर्म तथा **'इव'** वाचक शब्द है। ल०द्र० १/५। (२) **'नातिपरिस्फुटशरीरलावण्या** में **'अवगुण्ठनवती'** कारण है अतः **'काव्यलिङ्ग'** अलङ्कार है। ल०द्र० १/४ श्लो०।

छन्द—'वंशस्थ' छन्द है। ल०द्र० १/८ श्लो०।

टिप्पणी—अवगुण्ठनवती – इससे यह ज्ञात होता है कि उस समय उच्च कुल की स्त्रियाँ घूँघट करती थी। परन्तु विशेष स्थितियों में घूँघट नहीं भी किया जाता था। रामायण युद्धकाण्ड में कहा गया है कि अत्यधिक विपत्ति, युद्ध, स्वयंवर, यज्ञ, विवाह में स्त्रियों का दर्शन दूषित नहीं है—'व्यसनेषु न कृच्छ्रेषु, न युद्धेषु स्वयंवरे। क्रतौ न विवाहे च दर्शनं दूष्यते स्त्रियाः॥ भास के प्रतिमानाटक में राम सीता से कहते हैं—'मैथिलि! अपनीयताम् अवगुण्ठनम्'।

प्रतीहारी—देव, कुतूहलगर्भः प्रहितो न मे तर्कः प्रसरति। ननु दर्शनीया पुनरस्या आकृतिर्लक्ष्यते। (देव, कुतूहलगब्भो पहिदो ण में तक्को पसरदि। णं दंसणीआ उण से आकिदी लक्खीअदि।)

व्या० एवं श०—कुतूहलगर्भः – कुतूहलं गर्भे यस्य = कुतूहल (जिज्ञासा) से पूर्ण। प्रहितः = प्रेषित-प्रेरित। प्रसरति – प्र+सृ+लट् – प्र०पु०ए०व०। लक्ष्यते – लक्ष्+कर्म वा०प्र०पु०ए०व० = दिखायी दे रही है।

प्रतीहारी—महाराज, कौतूहल (जिज्ञासा) पूर्वक भेजा गया (प्रेषित) भी मेरा अनुमान (निश्चय की ओर) नहीं फैल (बढ़) पा रहा है (अर्थात् जिज्ञासा होते हुये भी मैं अपने अनुमान से किसी निष्कर्ष पर पहुँचने में असमर्थ हूँ) इसकी आकृति मनोहर (दर्शनीय) प्रतीत हो रही है।

राजा—भवतु अनिर्वर्णनीयं परकलत्रम्।

व्या० एवं श०—अनिर्वर्णनीयम् परस्य कलत्रम् = परस्त्री ध्यान से देखने योग्य नहीं होती।

राजा—ठीक है, (किन्तु) दूसरे की स्त्री को ध्यान से नहीं देखना चाहिये।

शकुन्तला—(हस्तमुरसि कृत्वा। आत्मगतम्) **हृदय, किमेवं वेपसे ? आर्यपुत्रस्य भावमवधार्य धीरं तावद् भव।** (हिअअ, किं एव्वं वेवसि ? अज्जउत्तस्स भावं ओहरिअ धीरं दाव होहि।)

व्या० एवं श०—अवधार्य – अव+धृ+णिच्+क्त्वा+ल्यप् = समझ कर।

शकुन्तला—(हाथ को छाती पर रखकर। अपने मन में) हृदय, क्यों इस प्रकार काँप रहे हो। आर्यपुत्र के (पूर्व-प्रदर्शित) प्रेम को समझकर धैर्य तो धारण करो।

पुरोहितः—(पुरो गत्वा) **एते विधिवदर्चितास्तपस्विनः। कश्चिदेषामुपाध्यायसन्देशः। तं देवः श्रोतुमर्हति।**

व्या० एवं श०—विधिवत् = विधान पूर्वक। अर्चिताः – अर्च+क्त प्र०ब०व० = पूजित। उपाध्यायसन्देशः – उपाध्यायस्य सन्देशः (ष०त०) = उपाध्याय का सन्देश। श्रोतुमर्हति = सुनने की कृपा करें।

पुरोहित—(आगे जाकर) विविधत् पूजित ये तपस्वी लोग (उपस्थित हैं)। इनके गुरु

जी का कुछ सन्देश है। महाराज उसे सुनने की कृपा करें।

राजा—अवहितोऽस्मि।

व्या० एवं श०—अवहितः – अव+धा+क्त = सावधान हूँ।

राजा—मैं (सुनने के लिये) सावधान हूँ।

ऋषयः—(हस्तानुद्यम्य) **विजयस्व राजन्।**

व्या० एवं श०—उद्यम्य – उठा कर।

ऋषि लोग—(हाथों को उठाकर) हे राजन्, आप की जय हो।

राजा—सर्वानभिवादये।

राजा—मैं सभी को प्रणाम करता हूँ।

ऋषयः—इष्टेन युज्यस्व।

व्या० एवं श०—युज्यस्व – युज्+लोट्+म०पु०ए०व० = युक्त हों।

ऋषि लोग—अभीष्ट वस्तु से युक्त होवें (अर्थात् अपनी अभीष्ट वस्तु को प्राप्त करें)।

राजा—अपि निर्विघ्नतपसो मुनयः ?

व्या० एवं श०—निर्विघ्नतपसः – निर्विघ्नं विघ्नरहितं तपः येषां ते – निर्विघ्नतपसः = निर्विघ्न तपस्या वाले। यह पद 'मुनयः' पद का विशेषण है।

राजा—मुनि लोग निर्विघ्न तपस्या वाले तो हैं न (अर्थात् मुनि लोगों की तपस्या निर्विघ्न तो चल रही है) ?

टिप्पणी—(१) 'कौतूहलं कौतुकं च कुतुकं च कूतूहलम्' इत्यमरः। (२) 'कलत्रं श्रेणिभार्ययोः'। कलत्र शब्द स्त्री वाचक है पर उसका प्रयोग नपुंसक लिङ्ग में ही होता है। (३) 'अनिर्वर्णनीयं परकलत्रम्' परस्त्री को ध्यान से देखना निषिद्ध है। विष्णुस्मृति में कहा गया है—'परदारान् न वीक्षेत'। मृच्छकटिक में आया है—'न युक्तं परकलत्रदर्शनम्'। (४) **उपाध्यायसन्देशः** – यहाँ 'उपाध्याय' गुरु सामान्यवाची है। इसका लक्षण पहले दिया जाचुका हैं। उपाध्याय और आचार्य में अन्तर होता है। उपाध्याय वैतनिक होता है जब कि आचार्य अवैतनिक। आचार्य आध्यात्मिक शिक्षा देता है जब कि उपाध्याय सभी शास्त्रों को पढ़ाता है। (५) **आर्यपुत्र** – यह नाटकीय सम्बोधन है। पत्नी अपने पति को **'आर्यपुत्र'** कहकर सम्बोधित करती है।

ऋषयः— ऋषि लोग—

कुतो धर्मक्रियाविघ्नः सतां रक्षितरि त्वयि।
तमस्तपति घर्मांशौ कथमाविर्भविष्यति ।। १४ ।।

अन्वय—सतां रक्षितरि त्वयि धर्मक्रियाविघ्नः कुतः ? घर्मांशौ तपति तमः कथम् आविर्भविष्यति ?

शब्दार्थ—सताम् = सज्जनों के। रक्षितरि = रक्षक। त्वयि = तुम्हारे (आप के) (रहते हुये)। धर्मक्रियाविघ्नः = धार्मिक क्रियाओं में विघ्न। कुतः = कहाँ से, (कैसे हो सकता है ?)। घर्मांशौ = गर्म (उष्ण) हैं किरणें जिसकी ऐसे सूर्य के। तपति = तपते रहने पर। तमः =

अन्धकार। कथम् = कैसे। आविर्भविष्यति = प्रकट होगा (प्रकट हो सकता है ?)।

अनुवाद—सज्जनों के रक्षक आप के (विद्यमान रहने पर) धार्मिक क्रियाओं में विघ्न कैसे (हो सकता है) ? सूर्य के तपते रहने पर अन्धकार कैसे प्रकट हो सकता है ?

संस्कृत व्याख्या—सतां – साधुजनानाम् , **रक्षितरि** – परिपालयितरि, **त्वयि** – (भवति) दुष्यन्ते, **धर्मक्रियाविघ्नः** – धर्मानुष्ठाने अन्तरायः, **कुतः** – कथं स्यात् ? **घर्मांशौ** – सूर्ये, **तपति** – भासमाने सति, **तमः** – अन्धकारः, **कथं** – केन प्रकारेण, **आविर्भविष्यति** – पकटीभविष्यति।

संस्कृत-सरलार्थः—ऋषिगणवचनस्यायम्भावः – सज्जनानां रक्षके दुष्यन्ते विद्यमाने सति धार्मिकानुष्ठाने तथैव विघ्नस्य नावसरःयदा सूर्ये भासमाने तमसो नास्ति स्थितिः।

व्याकरण—धर्मक्रियाविघ्नः – धर्मस्य क्रियासु विघ्नः (तत्पु०)। घर्मांशौ – घर्माः अंशवः यस्य तस्मिन् (बहु०)। रक्षितरि – रक्ष्+तृच्+सप्तमी ए०व० = रक्षक। तपति – तप्+शतृ+सप्तमी ए०व० = तपते रहने पर।

कोष—'विघ्नोऽन्तरायः प्रत्यूहः' – इत्यमरः। 'विद्वान् विपश्चिद् दोषज्ञः सन् सुधीः कोविदो बुधः' – इत्यमरः।

अलङ्कार—(१) यहाँ उपमेयभूत दुष्यन्त और उपमानभूत सूर्य में तथा धर्मक्रियाविघ्न तथा 'तमः कथमाविर्भविष्यति' आदि उनके साधारण धर्मों में बिम्बप्रतिबिम्ब है अतः **'दृष्टान्त'** अलङ्कार है। ल०द्र० १/२५ श्लो०। (२) पूर्वार्ध में 'कुतः' और उत्तरार्ध में 'कथम्' के प्रयोग से **'अर्थापत्ति'** अलङ्कार है। अर्थापत्ति का लक्षण—'दण्डापूपिकन्यायार्थागमोऽर्थापत्ति ईष्यते' इसमें प्राकरणिक (प्रस्तुत) अर्थ से अप्राकरणिक (अप्रस्तुत) अथवा अप्रस्तुत अर्थ से प्रस्तुत अर्थ का आपतन (बोध) होता है।

छन्द—इस पद्य में **'अनुष्टुप्'** छन्द है। ल०द्र० १/५ श्लो०।

टिप्पणी—(१) यहाँ उदाहरण नामक नाटकीय लक्षण है। उसका लक्षण है—'यत्र तुल्यार्थयुक्तेन वाक्येनाभिप्रदर्शनात् साध्यतेऽभिमतश्चार्थस्तदुदाहरणं मतम्॥ (२) इस श्लोक के भाव से मिलने जुलते भाव अन्यत्र भी दृष्टिगोचर होते हैं। जैसे—(क) ऋते रवेः क्षालायितुं क्षमेत कःक्षपास्तमस्काण्डमलीमसं नभः। शिशु०। (ख) सूर्ये तपत्यावरणाय दृष्टे कल्पेत लोकस्य कथं तमिस्रा। रघुवंश। (ग) सर्वत्र नो वार्तमवेहि राजानि नाथे कुतस्त्वय्यशुभं प्रजानाम्। (घ) तमांसि तिष्ठन्ति हि तावदंशुमान् न याति यावदुदयाद्रिमौलिताम्।

राजा—अर्थवान् खलु मे राजशब्दः। अथ भगवांल्लोकानुग्रहाय कुशली काश्यपः?

व्या० एवं श०—अर्थवान् – अर्थः अस्ति अस्य अर्थयुक्त = सार्थक।

राजा—तब तो मेरा राजा (कहा जाना) शब्द सार्थक है। भगवान् कण्व लोगों के मङ्गल के लिये सकुशल तो हैं ?

शार्ङ्गरवः—स्वाधीनकुशलाः सिद्धिमन्तः। स भवन्तमनामयप्रश्नपूर्वकमिदमाह।

व्या० एवं श०—स्वाधीनकुशलाः – स्वाधीनं कुशलं येषां ते (ब०ब्री०) = अपने अधीन है कुशलता जिनकी ऐसे। सिद्धिमन्तः – सिद्धि+मतुप् प्र०बहु०व० = सिद्धि-सम्पन्न।

अनामयप्रश्नपूर्वकम् – अनामयस्य प्रश्नः अनामयप्रश्नः सः पूर्वः यथा स्यात्तथा = नीरोगताविषयक प्रश्न पूछते हुये।

शार्ङ्गरव—सिद्धियों से सम्पन्न लोगों की कुशलता (उनके) अधीन होती है। उन्होंने आप की नीरोगता (अनामय) के विषय में पूछते हुये यह कहा है।

राजा—किमाज्ञापयति भगवान्?

राजा—(भगवान् कण्व) क्या आदेश देते हैं?

शार्ङ्गरवः—यन्मिथः समयादिमां मदीयां दुहितरं भवानुपायंस्त तन्मया प्रीतिमता युवयोरनुज्ञातम्। कुतः—

व्या० एवं श०—मिथ:समयात् – मिथ: परस्परं समयात् शपथाचारात् (तृ०ष०) = परस्पर शपथपूर्वक। दुहितरम् – दुह्+तृच्+द्वि०ए०व० = पुत्री को। यहाँ स्वस्रादिगण में होने के कारण 'न षट्स्वस्रादिभ्यः' सूत्र से ङीप् का निषेध हुआ है। उपायंस्त – उप+यम्+लुङ्+प्र०पु०ए०व० = प्रीतियुक्त-प्रसन्न। यह पद 'मया' पद का विशेषण है। अनुज्ञातम् – अनु+ज्ञा+क्त = अनुमति दे दी।

शार्ङ्गरव—जो आप ने परस्पर शपथ (प्रतिज्ञा) पूर्वक (गान्धर्व विधि से) मेरी पुत्री के साथ विवाह किया है, (आप दोनों के) उस (विवाह कार्य) को प्रसन्न मन वाले मेरे द्वारा अनुमति दे दी गयी है। क्योंकि—

टिप्पणी—(१) **अर्थवान् खलु मे राजशब्दः** – 'राजा' यह शब्द लोकान् रञ्जयति राजते इति वा दो प्रकार से बनता है (राज+कनिन्)। जो प्रजा को प्रसन्न करे वह राजा है। यदि मेरे रक्षण में (शासन में) प्रजा की धार्मिक क्रियाओं में कोई विघ्न नहीं पड़ता है और इस प्रकार प्रजा प्रसन्न है तो मेरे लिये राजा शब्द सार्थक हो गया है। मैं वस्तुतः प्रजा हितकारी हूँ। इस प्रकार के भाव से परिपूर्ण रघुंवश का यह श्लोक भी है—'यथा प्रह्लादनाच्चन्द्रः प्रतापात् तपनो यथा। तथैव सोऽभूदन्वर्थो राजा प्रकृतिरञ्जनात्॥ रघु०। मनु ने भी कहा है प्रभु ने सभी की रक्षा के लिये राजा की सृष्टि की है—'रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत् प्रभुः'॥ (२) **स्वाधीनकुशलाः सिद्धिमन्तः** – सिद्धियाँ आठ प्रकार की होती हैं—'अणिमा महिमा चैव गरिमा लघिमा तथा। प्राप्तिः प्राकाम्यमीशित्वं वशित्वं चाष्टधा मताः॥ इन आठ सिद्धियों से युक्त मनीषी स्वाधीन कुशल (सिद्धिमन्तः) होते हैं। अर्थात् उनका कुशल उनके अधीन होता है। महर्षि कण्व ऐसे ही सिद्धिमान् महानुभावों में हैं। (३) **भगवान्** – सिद्धियों से सम्पन्न होने के कारण कण्व को भगवान् कहा गया है। ऐश्वर्य आदि छः गुणों को 'भग' कहते हैं और उनसे युक्त मनीषी को भगवान् कहा जाता है—भग+मतुप् प्र०पु०ए०व०। छः भग ये हैं—'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धैर्यस्य यशसः श्रियः। ज्ञानवैराग्योश्चैव षण्णां भग इतीरणा॥ (४) **मिथः समयात्** – यहाँ समय (सम्+इ+अच्) का अर्थ शपथ है – 'समयः शपथाचारकालसिद्धान्तसंविदः' अमरकोष। (५) **दुहितरम्** – प्राचीन काल में कन्यायें गाय आदि का दूध दुहने का भी कार्य करती थीं इसलिये उन्हें दुहिता कहा जाता था। यास्क ने निरुक्त में 'दुहिता' की यह व्युत्पत्ति दी है—'दुहिता दूरे हिता भवति- अर्थात् कन्या चूँकि विवाह के बाद दूर (श्वसुरालय) भेज दी जाती हैं अतः इसे 'दुहिता' कहते हैं।

त्वमर्हतां प्राग्रसरः स्मृतोऽसि नः शकुन्तला मूर्तिमती च सत्क्रिया।
समानयंस्तुल्यगुणं वधूवर चिरस्य वाच्यं न गतः प्रजापतिः॥ १५॥

अन्वय—त्वं नः अर्हतां प्राग्रसरः स्मृतः असि, शकुन्तला च मूर्तिमती सत्क्रिया, तुल्यगुणं वधूवरं समानयन् प्रजापतिः चिरस्य वाच्यं न गतः।

शब्दार्थ—त्वम् = तुम (आप)। नः = हम लोगों के। अर्हताम् = पूजनीयों में। प्राग्रसरः = अग्रसर। स्मृतः = माने गये। असि = हो (हैं)। च = और। शकुन्तला = शकुन्तला। मूर्तिमती = शरीरधारिणी = साक्षात्। सत्क्रिया = शोभन क्रिया (पूजा) (है)। तुल्यगुणम् = समान गुणों वाले। वधूवरम् = वधू और वर को। समानयन् = मिलाते हुए। प्रजापतिः = सृष्टिकर्ता (ब्रह्मा)। चिरस्य = चिरकाल के, बहुत दिनों की (चली आ रही)। वाच्यम् = निन्दा को। न = नहीं। गतः = प्राप्त हुये हैं।

अनुवाद—आप हम लोगों के पूजनीय व्यक्तियों में अग्रगण्य कहे गये (माने गये) हैं और शकुन्तला साक्षात् (शरीरधारिणी) पूजा (सत्क्रिया) है। (इस प्रकार के) समान गुणों वाले वधू और वर को मिलाते हुये ब्रह्मा चिरकाल की (बहुत दिनों से चली आ रही) निन्दा को नहीं प्राप्त हुये।

संस्कृत व्याख्या—**त्वं** – दुष्यन्तः, **नः** – अस्माकम् , **अर्हतां** – पूजनीयानाम् , **प्राग्रसरः** – मुख्यतमः, **स्मृतः** – मतः, **असि** – भवसि, **शकुन्तला च**, **मूर्तिमती** – शरीरधारिणी, **सत्क्रिया** – शोभनक्रिया अस्ति, **इति** – शेषः, **तुल्यगुणं** – सदृशगुणोपेतम् , **वधूवरं** – कन्यावरम् , **समानयन्** – संयोजयन् , **प्रजापतिः** – विधाता, **चिरस्य** – चिरकालप्रवृत्तम् , **वाच्यं** – निन्दाम् , **न** – नहि, **गतः** – प्राप्तः।

संस्कृत-सरलार्थः—शार्ङ्गरवकथनस्यायं संक्षेपः – 'त्वं दुष्यन्तोऽस्माकं पूज्यानां मुख्यतमः स्मृतोऽसि। शकुन्तलेयं शरीरधारिणी सत्क्रियैव अस्ति। समानगुणोपेतं वधूवरं संयोजयन् विधिश्चिरकालिकीं निन्दां न गतः'।

व्याकरण—अर्हताम् – अर्ह+शतृ+ष०ब०व०। प्राग्रसरः – प्रकर्षेण अग्रे सरतीति – अग्र+सृ+ट (अ)। अग्रसर रूप भी प्रचलित है। स्मृतः – स्मृ+क्त। मूर्तिमती – मूर्ति+मतुप+ङीप्। सत्क्रिया – सत्+कृ+श (अ)+टाप् = सत्क्रिया। समानयन् – सम्+आ+नी+शतृ प्र०ए०व०। तुल्यगुणम् – तुल्याः गुणाः यस्य तत् तयोक्तम्। वधूवरं – वधूः वरश्च तयोः समाहारः तम् (द्वन्द्व) समाहार अर्थ में एक वचन हुआ है। चिरस्य – यह अव्यय है। इसका अर्थ चिरकाल से है।

अलङ्कार—श्लोक के पूर्वार्ध में समान गुणों के आधार पर वर-वधू के एक दूसरे के समान होने की प्रशंसा की गयी है अतः **'सम'** अलङ्कार है। **'समालङ्कार'** वहाँ होता है जहाँ परस्पर अनुरूप पदार्थों के संसर्ग का वर्णन होता है। लक्षण—'समं स्यादानुरूप्येण श्लाघा योग्यस्य वस्तुनः'।

छन्द—पद्य में **वशंस्थ** छन्द है। ल०द्र० १/१८ श्लो०।

टिप्पणी—**'चिरस्य वाच्यं न गतः प्रजापतिः'** संसार में प्रायः योग्य वर को योग्य पत्नी और योग्य कन्या (वधू) को योग्य वर (पति) नहीं मिल पाता। इससे लोग प्रजापति की निन्दा करते हैं। उनकी यह निन्दा चिरकाल से चली आ रही है। कहा भी गया है—

यः सुन्दरस्तद्वनिता कुरूपा या सुन्दरी सा पतिरूपहीना।
यत्रोभयं तत्र दरिद्रता च विधेर्विचित्राणि विचेष्टितानि॥

परन्तु योग्य वर दुष्यन्त और योग्य वधू शकुन्तला का संयोग कराकर प्रजापति (ब्रह्मा) अब अपनी निन्दा से बच गये हैं। अर्थात् अब इस अनुरूप विवाह से प्रजापति की निन्दा समाप्त हो गयी। यहाँ 'वाच्यं न गतः' का अर्थ है 'निन्दां न प्राप्तः'। वाच्य के कई अर्थ होते हैं उनमें निन्दा भी है। निन्दा अर्थ 'वाच्य' नपुंसक लिङ्ग में होता है।

तदिदानीमापन्नसत्त्वेयं प्रतिगृह्यतां सहधर्मचरणायेति।

व्या० एवं श०—आपन्नसत्त्वा – आपन्नं सत्त्वं यया सा (ब०ब्री०) – आपन्न – आ+पद्+क्त। कोष के अनुसार 'आपन्नसत्त्वा' का अर्थ गर्भिणी होता है – 'आपन्नसत्त्वा स्याद् गुर्विण्यन्तर्वत्नी च गर्भिणी' – इत्यमरः। सहधर्मचरणायेति – साथ में धर्माचरण के लिये। कहा गया है—सपत्नीको धर्ममाचरेत्।

तो अब इस गर्भवती (शकुन्तला) को अपने साथ धर्माचरण के लिये ग्रहण (स्वीकार) कीजिये।

गौतमी—आर्य किमपि वक्तुकामाऽस्मि। न मे वचनावसरोऽस्ति। कथमिति। (अज्ज, किंपि वत्तुकामम्हि। ण मे वअणावसरो अत्थि। कहत्ति।)

व्या० एवं श०—वक्तुकामा – वक्तुं कामः यस्याः सा (म् का लोप) (ब०ब्री०) = कहने की इच्छुक। वचनावसरः – वचनस्य अवसरः (ष०त०) = बोलने का अवसर।

गौतमी—आर्य, मैं कुछ कहने की इच्छा वाली (इच्छुक) हूँ। (यद्यपि) मेरे बोलने का अवसर नहीं है, क्योंकि—

नापेक्षितो गुरुजनोऽनया त्वया पृष्टो न बन्धुजनः।
एकैकस्य च चरिते भणामि किमेकैकम्॥ १६॥

अन्वय—अनया गुरुजनः न अपेक्षितः, त्वया बन्धुजनः न पृष्टः, एकैकस्य च चरिते एकैकं किं भणामि।

शब्दार्थ—अनया = इसके द्वारा (शकुन्तला के द्वारा)। गुरुजनः = (पिता आदि) गुरुजन। न = नहीं। अपेक्षितः = अपेक्षित हुये (पूछे गये)। त्वया = तुम्हारे (आपके) द्वारा (भी)। बन्धुजनः = (इसके या अपने) बन्धु-बान्धव। न = नहीं। पृष्टः = पूछे गये। एकैकस्य च = एक दूसरे के। चरिते = आचरण पर। एकैकम् = प्रत्येक को (आप दोनों में से एक-एक को)। किम् = क्या। भणामि = मैं कहूँ।

अनुवाद—इस (शकुन्तला) ने (अपने) (पिता आदि) गुरुजनों की अपेक्षा नहीं की (उनसे अनुमति लेने की आवश्यकता नहीं समझी) और तुमने (आपने) भी (इसके) बन्धुवान्धवों से नहीं पूछा (विवाह के विषय में इसके या अपने बन्धु-बान्धवों से बात-चीत नहीं की)। (तुम दोनों के) परस्पर के (इस) आचरण (कार्य) पर मैं (तुम दोनों में से) प्रत्येक (किसी एक) को क्या कहूँ।

संस्कृत व्याख्या—अनया – शकुन्तलया, **गुरुजनः** – पित्रादिजनः, **न** – नहि, **अपेक्षितः** – गणितः (गुरुजनापेक्षामकृत्वा स्वयमेव निर्णीतम्), **त्वया** – दुष्यन्तेन (अपि अस्याः), **बन्धुजनः** – बन्धुवर्गः, **न** – नहि, **पृष्टः** – जिज्ञासितः, **एकैकस्य च** – परस्परस्य च, **चरिते** – अनुष्ठिते कार्ये, **एकैकम्** – एकम्-एकम्, **किं भणामि** – किं कथयामि।

संस्कृत-सरलार्थः—'गौतम्या वचनस्यायं संक्षेपः – यतो हि विवाहात् प्राक् न शकुन्तलया पित्रादिगुरुवर्गोऽपेक्षितो न वा त्वया (दुष्यन्तेन) तस्याः (स्वस्य वा) बन्धुवर्गस्तद्विषये पृष्टः (याचितः)। अतोऽस्यां परिस्थित्याम् अन्योन्यप्रज्ञिया स्वेच्छयैव कृते गान्धर्वविवाहे युवयोः प्रत्येकं किमहं कथयामि।'

व्याकरण—पृष्टः – पृच्छ+क्त। नापेक्षितः – न+अपेक्षितः (अप्+ईक्ष+क्त)। एकैकस्य – एकस्य एकस्य – बीप्सा अर्थ में नित्यवीप्सयोः सूत्र से द्वित्व और 'एकं बहुव्रीहिवत्' से बहुव्रीहिवत् होने से बीच की विभक्ति का लोप। एकैकम् – एकम् एकम् – यहाँ भी उक्त प्रक्रिया से बीच की विभक्ति का लोप। भणामि – भण्+लट्+उ०प्र०ए०व०।

अलङ्कार—यहाँ श्लोक में 'किमेकैकं भणामि' प्रत्येक से क्या कहूँ अर्थात् कुछ भी नहीं – इस अर्थ की प्रतीति होने से **'अर्थापत्ति'** अलङ्कार है। ल०द्र० ५/१४ श्लो०।

छन्द—**'आर्या'** छन्द है। ल०द्र० १/२ श्लो०।

टिप्पणी—गौतमी के कथन का अभिप्राय यह है कि जब दोनों दुष्यन्त और शकुन्तला गुरुजनों अथवा बन्धु-बान्धवों से पूछे बिना स्वयमेव प्रणय सूत्र में बँध गये तब उन दोनों से अब कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। अब दोनों का उत्तरदायित्व है कि किये गये सम्बन्ध का निर्वाह करें।

शकुन्तला—(आत्मगतम्) **किं नु खल्वार्यपुत्रो भणति।** (कि णु क्खु अज्जउत्तो भणादि ?)

शकुन्तला—(अपने मन में) (देखें), आर्यपुत्र क्या कहते हैं ?

राजा—**किमिदमुपन्यस्तम् ?**

व्या० एवं श०—उपन्यस्तम् – उप+नि+अस्+क्त = उपस्थित-प्रस्तुत।

राजा—यह क्या बात (मेरे सामने) उपस्थित है ? (आप लोग यह क्या कह रहे हैं)?

शकुन्तला—(आत्मगतम्) **पावकः खलु वचनोपन्यासः।** (पावओ क्खु वअणोवण्णासो।)

व्या० एवं श०—उपन्यासः – प्रारम्भः – वचनस्य+उपन्यासः = बात कहना।

शकुन्तला—(अपने मन में) (इनका यह) बात कहना तो अग्नि (की भाँति) है।

शार्ङ्गरवः—**कथमिदं नाम ? भवन्त एव सुतरां लोकवृत्तान्तनिष्णाताः।**

व्या० एवं श०—लोकवृत्तान्तनिष्णाताः – लोकस्य – वृत्तान्तः लोकवृत्तान्तः तस्मिन् निष्णाताः अभिज्ञाः – (तत्पुरुष) = लोक-व्यवहार में निपुण। निष्णाताः – नि+ष्णा+क्त 'निनदीभ्यां स्नातेः कौशले' सूत्र से कौशल अर्थ में स् को ष् हुआ है। सुतराम् – सु+तर+आम् = अत्यधिक।

शार्ङ्गरव—(आप) यह कैसे (कहते हैं) ? आप स्वयं ही लोक-व्यवहार में निपुण हैं।

टिप्पणी—**उपन्यास** – वचन के प्रारम्भ को उपन्यास कहते हैं—'उपन्यासस्तु वाङ्मुखम्'। निष्णाताः – 'प्रवीणे निपुणाभिज्ञनिष्णातशिक्षिताः'। वैज्ञानिकः कृतमुखः कृती कुशल इत्यपि॥ – इत्यमरः। कुशल के दस नाम हैं—प्रवीण, निपुण, अभिज्ञ, विज्ञ, निष्णात, शिक्षित, वैज्ञानिक, कृतमुख, कृती तथा कुशल।

सतीमपि ज्ञातिकुलैकसंश्रयां जनोऽन्यथा भर्तृमतीं विशङ्कते।
अतः समीपे परिणेतुरिष्यते प्रियाऽप्रिया वा प्रमदा स्वबन्धुभिः ।। १७ ।।

अन्वय—भर्तृमतीं ज्ञातिकुलैकसंश्रयां सतीम् अपि जनः अन्यथा विशङ्कते, अतः स्वबन्धुभिः प्रमदा प्रिया अप्रिया वा परिणेतुः समीपे इष्यते।

शब्दार्थ—भर्तृमतीम् = जिसका पति जीवित है ऐसी (सधवा)। ज्ञातिकुलैकसंश्रयाम् = केवल सगे-सम्बन्धियों का कुल ही है आश्रय जिसका ऐसी (पितृगृह में ही सदा रहने वाली)। सतीम् = साध्वी (सदाचारिणी) स्त्री को। अपि = भी। जनः = लोग। अन्यथा = अन्य प्रकार की। विशङ्कते = आशङ्का करते हैं। अतः = इसलिये। स्वबन्धुभिः = अपने बन्धुजनों के द्वारा। प्रमदा = युवती। प्रिया अप्रिया वा = प्रिया हो अथवा अप्रिया हो। परिणेतुः = परिणेता के (पति) के। समीपे = पास में (रहने की)। इष्यते = इच्छा की जाती है।

अनुवाद—सधवा स्त्री यदि सर्वदा पितृगृह में ही रहती है तो चाहे वह कितनी भी सती-साध्वी (सदाचारिणी) हो, लोग अन्य प्रकार की (उल्टी) आशङ्का करने लगते हैं (वह व्यभिचारिणी है—ऐसा सोचने लगते हैं)। अतः युवती के बन्धुजन उस युवती को पति के पास ही रखना चाहते हैं, चाहें उसका पति उसे चाहता हो अथवा न चाहता हो।

संस्कृत व्याख्या—**भर्तृमतीं** – विद्यमानपतिकां (सधवामिति यावत्), **ज्ञातिकुलैकसंश्रयां** – सदा पितृगृहैकवासिनीम् , **सतीमपि** – साध्वीमपि, **अतः** – अस्मात् कारणात् , **स्वबन्धुभिः** – वधूज्ञातिजनैः, **प्रमदा** – युवतिः, **प्रिया** – भर्तुः अभिमता, **अप्रिया वा** – अनभिमता वा, **परिणेतुः** – पत्युः, **समीपे** – पार्श्वे (तदीया स्थितिः) इष्यते काम्यते।

संस्कृत-सरलार्थः—अयम्भावः – सधवा युवतिः यदि सदा स्वपितृगृहे निवषति तदा साध्वीमपि तां जना व्याभिचारिणीत्वेन सम्भावयन्ति। अतः युवति-बान्धवा इदमेव कामयन्ते यद् विवाहिता युवतिः पतिवाञ्छिता वा स्यात् तदवाञ्छिता वा (स्यात्) स्वपतिगृह एव निवसेद् इतिहेतोः शकुन्तला दुष्यन्तपार्श्वे समानीता।

व्याकरण—ज्ञातिकुलैकसंश्रयाम् – ज्ञातीनां कुलमेकः संश्रयः यस्याः सा ताम् (बहु०)। भर्तृमतीम् – भर्तृ+वतुप्+ङीप् – ताम्। परिणेतुः – परि+नी+तृच् – तस्य। इष्यते – इष्+कर्मवाच्य+लट् प्र०पु०ए०व०।

अलङ्कार—(१) इस श्लोक में अप्रस्तुत प्रमदा सामान्य से शकुन्तला रूप प्रमदा विशेष की प्रतीति हो रही है अतः **'अप्रस्तुतप्रशंसा'** अलङ्कार है। ल०द्र० १/१७ श्लो०। (२) सतीमपि अर्थात् पतिव्रता होने पर भी इससे इस दूसरे अर्थ की प्रतीति होती है कि यदि वह असती है तो उसके विषय में कुछ नहीं कहना है। अतः **'अर्थापत्ति अलङ्कार'** है। ल०द्र० ५/१४ श्लो०। (३) श्लोक में तृतीय चरण में 'परिणेतुःसमीपे इष्यते' इस अर्थ के प्रति 'जनोऽन्यथा विशंकते' यह अर्थ हेतु रूप से उपन्यस्त है अतः **'काव्यलिङ्ग'** है। द्र० १/४ श्लो०।

छन्द—इस पद्य में **वंशस्थ** छन्द है। लक्षण—जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ अर्थात् जिस छन्द के प्रत्येक चरण में जगण, तगण, जगण और रगण होता है उसे **'वशंस्थ'** कहते हैं।

टिप्पणी—(१) विवाहिता युवती कन्या यदि बहुत दिनों तक पिता के घर रहती है तो उसके आचरण के विषय में लोगों में नाना प्रकार की शङ्कायें उठती हैं। इस तथ्य को ध्यान में

रखकर प्राचीन ग्रन्थों में अनेक वचन कहे गये हैं जैसे—(क) **पद्मपुराण** में कहा गया है—कन्या पितृगृहे नैव सुचिरं वासमर्हति । लोकापवादः सुमहान् जायते पितृवेश्मनि ।। (ख) **कामसूत्र** में पितृगृह में व्यसन (विपत्ति) या उत्सव के अवसर पर पिता के घर कुछ समय के लिये जाना चाहिये—'ज्ञातिकुलस्यानभिगमनमन्यत्र व्यसनोत्सवाभ्याम् । तत्रापि नायकजनाधिष्ठिताया नातिकालमवस्थानमपरिवर्तितप्रवासवेषता च ।। कामसूत्र ४/१/४५ । (२) विश्वनाथ ने इस श्लोक को **'अर्थविशेषण'** नामक नाटकीय लक्षण के रूप में उद्घृत किया है । अर्थ विशेषण का लक्षण है—'उक्तस्यार्थस्य यत्तु स्यादुत्कीर्तनमनेकधा । उपालम्भस्वरूपेण तत्स्यादर्थविशेषणम्' । सा०द० ६.२०६ ।

राजा—किं चात्रभवती मया परिणीतपूर्वा ?

व्या० एवं श०—परिणीतपूर्वा - पूर्वं परिणीता - परिणीतपूर्वा - भूतपूर्वे चरट से पूर्व का परनिपात - पहले किया गया है विवाह जिसका ऐसी ।

राजा—तो क्या यह आदरणीया मेरे द्वारा पहले कभी विवाहित हैं (अर्थात् तो क्या मैंनें पहले इनसे विवाह किया है) ?

शकुन्तला—(सविषादम् । आत्मगतम्) **हृदय, साम्प्रतं ते आशङ्का ।** (हिअअ, संपदं दे आसङ्का ।)

व्या० एवं श०—साम्प्रतम् = उचित - युक्ते द्वे साम्प्रतं स्थाने - उचित (युक्त) के लिये ये शब्द है साम्प्रतम् - स्थाने ।

शकुन्तला—(खेदपूर्वक अपने मन में) हृदय तुम्हारी आशङ्का ठीक ही थी ।

शार्ङ्गरवः—किं कृतकार्यद्वेषो धर्मं प्रति विमुखता कृतावज्ञा ?

व्या० एवं श०—कृतकार्यद्वेषः - कृते कार्ये द्वेषः = किये गये (विवाह रूप) कार्य के प्रति द्वेष (घृणा)। कृतावज्ञा - कृतस्य (कार्य स्प) अवज्ञा (अनादरः) = किये गये कार्य का अनादर ।

शार्ङ्गरव—क्या आपका अपने किये गये कार्य के प्रति द्वेष (घृणा) है अथवा धर्म के प्रति (आपकी) विमुखता है अथवा किये गये कार्य का (जान बूझ कर) तिरस्कार है ?

राजा—कुतोऽयमसत्कल्पनाप्रश्नः ?

व्या० एवं श०—असत्कल्पनाप्रश्नः - असती कल्पना तस्याः प्रश्नः =

राजा—यह असत्य (झूठी) कल्पना वाला प्रश्न कहाँ से उठ रहा है ?

शार्ङ्गरवः—मूर्च्छन्त्यमी विकाराः प्रायेणैश्वर्यप्रमत्तेषु ।। १८ ।।

व्या० एवं श०—प्रायेणैश्वर्यप्रमत्तेषु - प्रायेण+ऐश्वर्यप्रमत्तेषु - (वृद्धि सन्धि) ऐश्वर्येण प्रमत्तेषु = ऐश्वर्य से मत्तों में । विकारः - वि+कृ+घञ् = मनोविकृतियाँ । स्वरूप से अन्यथा वृत्ति को विकार कहते हैं—'स्वरूपादन्यथात्वम् विकारः' - इति श्रीपतिः । मूर्च्छन्ति -मूर्च्छ (वर्धने) लट्+प्र०पु०ए०व० = बढ़ जाते हैं ।

शार्ङ्गरव—ऐश्वर्य (समृद्धि) के कारण मदान्ध लोगों में प्रायः ये विकार (अवगुण) बढ़ जाते हैं ।

सम्पूर्ण (१८) श्लोक की संस्कृत-व्याख्या—शार्ङ्गरवो दुष्यन्तस्य किं चात्र भवति मया परिणीतपूर्वा, इति वचनं श्रुत्वा क्रुद्धे वदति। प्रथमं स प्रश्नत्रयं पृच्छति—(१) किं कृतं विवाहरूपकार्यम्प्रति विद्वेषः ? (२) किं धर्मं प्रति विमुखता ? (३) किं कृतस्य (विवाहरूपकार्यस्य) अवज्ञा (अनादरः) ? तदनन्तरं स्वक्षोभं प्रकटयति वचोभिरैभिः – प्राय ऐश्वर्यमदाधेषु जनेस्वीदृशा विकारा दृश्यन्ते।

संस्कृत-सरलार्थः—शार्ङ्गरवमते रातासमधिकसमृद्धिमत्तोऽत एव तस्मिन् विकारा ईदृशा जायन्ते। एवं तस्य राज्ञः स्वन्टतकार्यविद्वेषो धर्मविमुखता कृतकार्यावज्ञाः च आयते

अलङ्कार—(१) इस श्लोक (१८) के प्रथम चरण में राजा से तीन प्रश्न किये गये हैं (क) किं कृतकार्यद्वेषः, (ख) धर्मं प्रति विमुखता, (ग) कृतावज्ञा ? इनमें सन्देह की स्थिति होने से **सन्देह** अलङ्कार हो सकता है। (२) पूर्वार्द्धगत विशेष के द्वारा उत्तरार्द्धगत सामान्य का समर्थन होने **अर्थान्तरन्यास** अलङ्कार है। ल० द्र० १/२ श्लो०।

छन्द—यहाँ **'आर्या'** छन्द है। ल० द्र० १/२ श्लो०।

विशेष—(१) श्लोक में क्रोध युक्त वचन होने के कारण **'त्रोटक'** नामक गर्भ सन्धि का अङ्ग है। ल० 'त्रोटकं पुनः संरब्धवाक्' सा० ६/९९। (२) कुछ विद्वान् यहाँ राजा के ऊपर दोषारोपण के कारण **'अपवाद'** नामक विमर्श सन्धि का अङ्ग मानते हैं—लक्षण – 'दोषप्रख्यापवादः स्यात्'। (३) कुछ विद्वान् उत्तरार्द्ध में **सम्फोट** नामक विमर्श सन्धि का अङ्ग मानते हैं – 'सम्फोटो रोषभाषणम्'।

राजा—विशेषेणाधिक्षिप्तोऽस्मि।

व्या० एवं श०—अधिक्षिप्तः – अधि+क्षिप्+क्त = तिरस्कृत या अपमानित।

राजा—(इस आरोप से) मैं विशेषरूप से तिरस्कृत हुआ हूँ।

विशेष—यद्यपि शार्ङ्गरव ने मूर्च्छन्त्यमी – प्रमत्तेषु – में सामान्य कथन ही किया है परन्तु राजा उसे अपने ऊपर घटित कर दुःखी एवं अपमानित हो रहे हैं ! 'विशेषेणाधिक्षिप्तोऽस्मि। राघवभट्ट के अनुसार यहाँ से लेकर षष्ठ अङ्क तक विमर्श (अवमर्श) सन्धि है। शाप के कारण राजा द्वारा शकुन्तला के पहचानने में बाधा है।

गौतमी—जाते, मुहूर्तं मा लज्जस्व। अपनेष्यामि तावत् तेऽवगुण्ठनम् ततस्त्वां भर्ताऽभिज्ञास्यति। (जादे, मुहुत्तअं मा लज्ज। अवणइस्सं दा व दे ओउण्ठणं। तदो तुमं भट्टा अहिजाणिस्सदि।) (इति यथोक्तं करोति)।

व्या० एवं श०—लज्जस्व – लज्ज+लोट्+म०पु०ए०व० = लज्जा मत करो। अपनेष्यामि – अप+नी+लृट्+उ०पु०ए०व० = हटाऊँगी (हटाती हूँ)। अवगुण्ठनम् – घूँघट को। अभिज्ञास्यति – अभि+ज्ञा+लृट्+प्र०पु०ए०व० = पहचानेगा।

गौतमी—बेटी, थोड़ी देर के लिये लज्जा मत करो। मैं तुम्हारे घूँघट को हटाती हूँ। तब (तुम्हारा) पति तुमको पहचानेगा। (कहे गये के अनुसार करती है अर्थात् घूँघट को हटाती है)।

राजा—(शकुन्तलां निर्वर्ण्य। आत्मगतम्)—

व्या० एवं श०—निर्वर्ण्य = देखकर।

राजा—(शकुन्तला को देखकर, अपने मन में)—

इदमुपनतमेवं रूपमक्लिष्टकान्ति
प्रथमपरिगृहीतं स्यान्न वेत्यव्यवस्यन् ।
भ्रमर इव विभाते कुन्दमन्तस्तुषारं
न च खलु परिभोक्तुं नैव शक्नोमि हातुम् ।। १९ ।।

(इति विचारयन् स्थितः) ।

अन्वय—एवम् उपनतम् इदम् अक्लिष्टकान्ति रूपं प्रथमपरिगृहीतं स्यात् न वा इति अव्यवस्यन् विभाते भ्रमरः अन्तस्तुषारं कुन्दम् इव न खलु परिभोक्तुं न एव हातुं शक्नोमि ।

शब्दार्थ—एवम् = इस प्रकार । उपनतम् = प्राप्त हुये (उपस्थित हुये) । इदम् = यह । अक्लिष्टकान्ति = नहीं है क्लिष्ट (म्लान) कान्ति जिसकी ऐसा सुकोमल (उज्ज्वल) कान्ति युक्त । रूपम् = सौन्दर्य । प्रथमपरिगृहीतम् स्यात् = पहले स्वीकार किया गया है । न वा = अथवा नहीं । इति = इस प्रकार । अव्यवस्यन् = निश्चय न कर पाता हुआ । विभाते = प्रातः काल में । भ्रमरः = भौरा । अन्तस्तुषारम् = भीतर है ओस (तुषार) जिसके ऐसे (भीतर हिम-कणों से युक्त) । कुन्दम् इव = कुन्द पुष्प की भाँति । न च खलु = न तो । परिभोक्तुम् = उपभोग करने के लिये । न = न । एव = ही । हातुम् = छोड़ने के लिये । शक्नोमि = समर्थ हूँ (समर्थ हो पा रहा हूँ) ।

अनुवाद—इस प्रकार (स्वतः ही) प्राप्त हुये (उपस्थित) इस अम्लान कान्ति वाले सौन्दर्य को मैनें पहले स्वीकार किया है अथवा नहीं – इस बात का निश्चय न कर पाता हुआ मैं, प्रातःकाल में, भीतर हिम-कणों से युक्त कुन्द पुष्प को भ्रमर की भाँति, न तो (इसका) उपभोग करने में और न ही (इसे) छोड़ने में ही समर्थ हो पा रहा हूँ ।

संस्कृत व्याख्या—**एवम्** – अनेन प्रकारेण, **उपनतं** – प्राप्तम् , **इदम्** – एतत् , **अक्लिष्टकान्तिम्** – अक्लिष्टा उज्ज्वला कान्तिः शोभा यस्य तत् , **रूपं** – लावण्यम् , **प्रथमपरिगृहीतं** – पूर्वं गान्धर्वविवाहेन स्वीकृतम् , **स्यात्** – भवेत् , **न वा** – न वा स्वीकृतम् , **इति** – एतत् , **अव्यवस्यन्** – अनिर्धारयन् , अन्यतरपक्षत्वेन निश्चयम् अभजमानः (अहम्), **विभाते** – प्रभाते, **भ्रमरः** – षट्पदः, **अन्तस्तुषारम्** – अभ्यन्तरे तुषारः हिमं यस्य तथाभूतम् , **कुन्दम् इव** – कुन्दपुष्पम् इव, **न च खलु** – न तु, **परिभोक्तुं** – सेवितुम स्वीकर्त्तुम् , **नैव** – न च, **हातुं** – त्यक्तुम् , **शक्नोमि** – पारयामि अर्थात रूपमिदं न स्वीकृर्तु न वा त्यक्तं प्रभवामीत्यर्थः ।

संस्कृत-सरलार्थः—शकुन्तलां विलोक्य हृदये कथयतश्चिन्तयतो राज्ञो दुष्यन्तस्यायं भावः 'शीतकाले प्रातः समये विकसितं तुषारव्याप्तं कुन्दपुष्पं भ्रमरो यथा शीताधिक्यात्र तदाघ्रातुं शक्नोति न वा तत्सौरभाकृष्टः सन् हातुं शक्नोति तथैव दुष्यन्तोऽपि परमलावण्यमयीं शकुन्तलामवलोक्य धर्मभयेन न तामङ्गीकर्तुं प्रभवति न च तत्सौन्दर्याकृष्टः सन् अस्वीकर्तुमेव पारयति ।'

व्याकरण—उपनतम् – उप+नम्+क्त । अक्लिष्टकान्ति – अक्लिष्टा कान्तिः यस्य तत् (ब०ब्री०) । अक्लिष्ट – क्लिश+क्त+टाप् न क्लिष्टा अक्लिष्टा । प्रथमपरिगृहीतम् – परि+ग्रह+क्त – परिगृहीतम् – प्रथमं परिगृहीतम् – प्रथमपरिगृहीतम् ।अव्यवस्यन् –वि+अव+सो+शतृ व्यवस्यन् नञ् समासे अव्यस्यन् । अन्तस्तुषारम् – अन्तः तुषारं यस्य तत् (ब०ब्री०) ।

अलङ्कार—'यहाँ भ्रमर इव विभाते कुन्दमन्त:तुषारम्' इस स्थल में उपमा है। शकुन्तला की उपमा उस कुन्द पुष्प से दी गयी है जिसके भीतर तुषार रहता है। शकुन्तला के गर्भ में बच्चा है अत: यह उपमा सटीक है। ल०द्र० १/५ श्लो०।

छन्द—यहाँ **मालिनी** छन्द है। ल०द्र० १/१० श्लो०।

टिप्पणी—(१) यहाँ वास्वतिकता का ज्ञान न होने से **संशय** नामक नाटकीय लक्षण है। लक्षण 'संशयोऽसावतत्त्वस्य वाक्ये स्याद् यदनिश्चयः। सा०द०। (२) विभाते – श्लोक में **विभाते** शब्द सार्थक है। प्रात:काल में कुन्द पुष्प तुषार (ओस) से युक्त रहता है। सूर्योदय के बाद ओस हट जाती है और भ्रमर उसके मधु का पान कर सकता है। उसी प्रकार अभिज्ञान का दर्शन होने पर शाप के हट जाने के कारण राजा शकुन्तला का ग्रहण कर सकता है।

प्रतीहारी—(स्वगतम्) **अहो, धर्मापेक्षिता भर्तुः। ईदृशं नाम सुखोपनतं रूपं दृष्ट्वा कोऽन्यो विचारयति ?** (अहो, धम्मावेक्खिआ भट्टिणो। ईदिसं णाम सुहोवणदं रूवं देक्खिअ को अण्णो विआरेदि ?)

व्या० एवं श०—धर्मापेक्षिता – धर्ममपेक्षते विचारयति इति धर्मापेक्षी (ताच्छील्ये णिनि) तस्य भाव: = धर्म पर ध्यान देना (धर्मनिष्ठता)। सुखोपनतम् – सुखेन उपनतम् = सरलता से प्राप्त। विचारयति – वि+चर+णिच् प्र०पु०ए०व० = (ग्रहण करने या न करने का) विचार करता है।

प्रतीहारी—(अपने मन में) ओह, स्वामी की धर्मनिष्ठता (धन्य है)। इस प्रकार सरलता से प्राप्त सौन्दर्य को देखकर दूसरा कौन विचार करता है ?

शार्ङ्गरवः—भो राजन् किमिति जोषमास्यते ?

व्या० एवं श०—जोषम् = मौन-चूप। आस्यते = बैठे हो।

शार्ङ्गरवः—हे राजन् , क्यों इस प्रकार चुप बैठे हैं ?

राजा—भोस्तपोधनाः, चिन्तयन्नपि न खलु स्वीकरणमत्रभवत्याः स्मरामि। तत्कथमिमामभिव्यक्तसत्त्वलक्षणां प्रत्यात्मानं क्षेत्रिणमाशङ्कमानः प्रतिपत्स्ये ?

व्या० एवं श०—तपोधना: – तप: धनं येषां ते तपोधना: (ब०ब्री०) = तपस्वियों प्र०ब०व० सम्बोधन। चिन्तयन्+अपि – चिन्तयन् – चिन्त्+णिच्+शत् प्र०ए०व० = विचार करता हुआ (सोचता हुआ) भी। स्मरामि – स्मृ+लट्+उ०पु०ए०व०। स्वीकरणम् = स्वीकार करना। अभिव्यक्तसत्त्वलक्षणाम् – अभिव्यक्तं सत्त्वस्य गर्भस्य लक्षणं चिह्नं यस्या: ताम् = जिसमें गर्भ के चिह्न दिखायी दे रहे हैं ऐसी। क्षेत्रिणम् – क्षेत्र+णिन् द्वि०ए०व० = क्षेत्री अर्थात् पति। आशङ्कमान: – आ+शङ्क+शानच्+मुट् द्वि०ए०व० = शङ्का करता हुआ। प्रतिपत्स्ये – प्रति+पत्+लृट्+उ०पु०ए०व० = स्वीकार करूँगा।

राजा—हे तपस्वियों, (प्रयत्नपूर्वक) सोचता हुआ भी मैं इन माननीया को (विवाह के रूप में) स्वीकार करने की बात का स्मरण नहीं कर पा रहा हूँ। तो स्पष्टत: गर्भधारिणी इन (शकुन्तला) के प्रति अपने को पति मानता हुआ मैं कैसे इन्हें स्वीकार करूँ ?

शकुन्तला—(अपवार्य) **आर्यस्य परिणय एव सन्देहः कुतः इदानीं मे दूराधिरोहिण्याशा ?** (अजस्स परिणए एव्व संदेहो। कुदो दाणिं मे दूराहिरोहिणी आसा ?)

शकुन्तला—(एक ओर मुँह कर) आर्य को विवाह में ही सन्देह है। अब मेरी दूर तक चढ़ी हुई (पराकाष्ठा को प्राप्त) आशा (महत्त्वाकांक्षा कहाँ ?) (अर्थात् सम्राट् की पटरानी बनने की महात्त्वाकाङ्क्षा का तो कहना ही क्या) !

शार्ङ्गरवः—मा तावत् ।

शार्ङ्गरव—ऐसा मत (कहें)।

टिप्पणी—(१) **क्षेत्रिणम्** - स्त्री को क्षेत्र माना जाता है और पति को क्षेत्री। विश्वकोष के अनुसार क्षेत्र का एक अर्थ स्त्री भी है—'क्षेत्रं शरीरे केदारे सिद्धस्थानकलत्रयोः'। दुष्यन्त के कथन का अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार किसी दूसरे के खेत (क्षेत्र) में कोई बीज भले बो दे, पर फसल का अधिकारी तो खेत (क्षेत्र) का मालिक ही होगा। जिसका खेत है। क्षेत्र रूपी स्त्री में पर पुरुष के द्वारा गर्भाधान हुआ है तो उससे उत्पन्न सन्तान वास्तविक पति की ही मानी जायेगी। वह सन्तान निश्चित रूप से औरस न होकर क्षेत्रज मानी जायेगी। गर्भवती शकुन्तला को स्वीकार करने में राजा की कठिनाई यही है। (२) **दूराधिरोहिणी-आशा** - शकुन्तला की महती आशा-महात्त्वाकांक्षा यह थी कि वह सम्राट् दुष्यन्त की सम्राज्ञी बनकर संसार का सुख भोगेगी, पर दुष्यन्त के द्वारा उसको स्वीकार न करने की स्थिति में तो उसकी आशालता पर तुषारपात ही हो गया। उसकी पाराकाष्ठा को प्राप्त महत्त्वाकांक्षा धराशायी हो गयी।

कृताभिमर्शामनुमन्यमानः सुतां त्वया नाम मुनिर्विमान्यः ।
मुष्टं प्रतिग्राहयता स्वमर्थं पात्रीकृतो दस्युरिवासि येन ।। २० ।।

अन्वय—कृताभिमर्शां सुताम् अनुमन्यमानः मुनिः त्वया विमान्यः नाम, येन मुष्टं स्वम् अर्थं प्रतिग्राहयता दस्युः इव पात्रीकृतः असि।

शब्दार्थ—कृताभिमर्शाम् = (तुम्हारे द्वारा) जिसका बलपूर्वक उपभोग किया गया है, ऐसी (बलात् उपभोग की गयी)। सुताम् = (अपनी) पुत्री को। अनुमन्यमानः = अनुमति देने वाले, गान्धर्व विवाह को मान्यता देने वाले। मुनिः = मुनि। त्वया = तुम्हारे द्वारा। विमान्यः नाम = क्या अपमान किये जाने योग्य हैं ? येन = जिनके द्वारा। मुष्टम् = चुराये गये। स्वम् = अपने। अर्थम् = धन को। प्रतिग्राहयता = समर्पित करते हुये। दस्युः इव = चोर की भाँति। (त्वं) पात्रीकृतः असि = (तुम) पात्र बनाये गये हो।

अनुवाद—(तुम्हारे द्वारा) बलपूर्वक उपभोग (बलात्कार) की गयी (अपनी) पुत्री (के गान्धर्व विवाह) को मान्यता देने वाले मुनि (कण्व) तुम्हारे द्वारा क्या (इस प्रकार) अपमान किये जाने योग्य हैं ? चुराये गये अपने (शकुन्तलारूपी) धन को समर्पित करते हुये जिनके द्वारा, चोर की भाँति तुम (योग्य) पात्र बनाये गये।

संस्कृत व्याख्या—कृताभिमर्शां - कृतः विहितः अमिमर्शः बलादुपभोगः यस्याः ताम् कृतबलात्काराम्, **सुतां** - (स्वस्य) पुत्रीम् (शकुन्तलाम्), **अनुमन्यमानः** - अनुमोदमानः, **मुनिः** - महर्षिः कण्वः, **त्वया** - दुष्यन्तेन, **विमान्यः नाम** - किं अवमाननीयः (अवज्ञेयः) न खलु अवमाननीयः इत्यर्थः, **येन** - (ईदृशेन) मुनिना (कण्वेन) मुष्टं चोरितम् , **स्वम् अर्थं** - स्वकीयं धनम् , **प्रतिग्राहयता** - समर्पयता (तदधीनं कारयता), **दस्युः इव** - चौरः इव, **पात्रीकृतोऽसि** - पात्रत्वं प्रापितोऽसि।

संस्कृत-सरलार्थः—क्रुद्धशार्ङ्गरवस्योक्तेरयमभिप्रायः - 'शकुन्तलापितुः

कण्वस्यानुमतिमन्तरैव तदनुपस्थितौ दुष्यन्तेन सा (शकुन्तला) बलाद्गृहीता। उदारचेतसा महर्षिकण्वेन दुष्यन्तापराधमगणयता गान्धर्वविवाहं मन्यमानेन सा (शकुन्तला) तस्यै तथैव प्रदत्ता यथा केनचिद् धनस्वामिना धनचौरायैव चोरितं धनं सहर्षं प्रदीयते। अस्यां दशायां किमेतादृशो महर्षिकण्वः कथमपि दुष्यन्तेन नावमाननीयः। शकुन्तलापरिग्रहणेन स मान्य एव।

व्याकरण—कृताभिमर्शाम् – कृतः विहितः अभिमर्शः (धर्षणं) यस्या सा ताम् (ब०ब्री०) – कृत+अभि+मृश+घञ्+टाप् – द्वि०ए०व०। अनुमन्यमानः – अनु+मन्+शानच् – म०पु०ए०व०। विमान्य – वि+मान्+णिच्+यत् (कर्मणि विभक्तिः)। मुष्टम् – मुष्+क्त। प्रतिग्राहयता – प्रति+ग्रह+णिच्+शतृ तृ०ए०व०। पात्रीकृतः – पात्र+च्वि+कृ+क्त प्र०ए०व०।

अलङ्कार—(१) यहाँ दस्युरिव में **उपमा** अलङ्कार है। दुष्यन्त की तुलना दस्यु से की गयी है। ल०द्र० १/५ श्लो०। (२) यहाँ 'त्वया नाम मुनिर्विमान्यः' में **सूक्ष्म** अलङ्कार है। आकार या चेष्टा पहिचान में आने वाली कोई सूक्ष्म वस्तु जब अन्य युक्ति से प्रकाशित की जाती है तब **सूक्ष्म** अलङ्कार होता है। यहाँ शार्ङ्गरव के द्वारा यह बताया गया है कि मुनि की अवमानना उचित नहीं है जिन्होंने सब कुछ सहकर अपनी उदारता का परिचय दिया है। वे अनुग्रह और विग्रह दोनों के करने में समर्थ हैं। लक्षण—'सलक्षितस्तु सूक्ष्मोऽर्थ आकारेणेङ्गितेन वा। कथापि सूच्यते भङ्ग्या तत्र सूक्ष्मं तदुच्यते'॥ (३) उत्तरार्ध में **विषम** अलङ्कार है। चोरी किये गये धन को उसी को लौटाने पर यदि वह स्वीकार नहीं करता है तो दाता की अवमानना होती है। उसी प्रकार कण्व के द्वारा दी गयी शकुन्तला को यदि दुष्यन्त स्वीकार नहीं करते हैं तो यह उनकी अवमानना ही है। ल०द्र० १/१८ श्लो०।

टिप्पणी—शार्ङ्गरव के कहने का तात्पर्य यह है कि राजा ने कण्व की अनुमति के बिना उनकी धर्मपुत्री शकुन्तला को अपना कर महान् अपराध किया है। उसने एक प्रकार से चोरी की है। कण्व ने राजा को शाप न देकर उसके अपराध को क्षमा करते हुये उसके किये गये कार्य को अनुमोदन कर हुये शकुन्तला को उसके पास भेज दिया है। ऐसे महर्षि कण्व का राजा को पूर्व विवाहिता शकुन्तला को स्वीकार न कर अपमान नहीं करना चाहिये, अपितु उन्हें शकुन्तला को स्वीकार कर उनका सम्मान करना चाहिये।

शारद्वतः—शार्ङ्गरव, विरम त्वमिदानीम्। शकुन्तले, वक्तव्यमुक्तमस्माभिः। सोऽयमत्रभवानेवमाह। दीयतामस्मै प्रत्ययप्रतिवचनम्।

व्या० एवं श०—विरम् – वि+रम+लोट्+म०पु०ए०व० = चुप रहो। 'वि' उपसर्ग के योग में 'रम' धातु परस्मैपदी हो जाती है। वक्तव्यम् – वच्+तव्यत् = कहने योग्य। प्रत्ययप्रतिवचनम् – प्रत्ययजनकं प्रतिवचनम् = विश्वासजनक उत्तर। यहाँ मध्यमपद लोपी समास है। = विश्वसनीय (विश्वासजनक)। दीयताम् – दा+कर्मवाच्य+लोट्+प्र०पु०ए०व०।

शारद्वत—शार्ङ्गरव, तुम अब चुप रहो। शकुन्तला, हम लोगों द्वारा कथनीय बात कह दी गयी (अर्थात् हम लोगों को जो कहना था, वह कह दिया)। ये महाराज इस प्रकार कह रहे हैं। अब तुम इन्हें विश्वसनीय (विश्वास दिलाने वाला) प्रत्युत्तर दो।

शकुन्तला—(अपवार्य) **इदमवस्थान्तरे गते तादृशेऽनुरागे किं वा स्मारितेन? आत्मेदानीं मे शोचनीय इति व्यवसितमेतत्।** (प्रकाशम्) **आर्यपुत्र...** (इत्यर्धोक्ते) **संशयित इदानीं परिणये नैष समुदाचारः। पौरव, न युक्तं नाम ते तथा पुनराश्रमपदे स्वभावोत्तानहृदयमिमं**

जनं समयपूर्वं प्रतार्येदृशैरक्षरैः प्रत्याख्यातुम् । (इमं अवत्थन्तरं गदे तादिसे अणुराए किं वा सुमराविदेण ? अत्ता दाणिं मे सोअणीओ त्ति ववसिदं एदं । अज्जउत्त संसइदे परिणए ण एसो समुदाआरो । ...पोरव, ण जुत्तं णाम दे तह पुरा अस्समपदे सहावुत्ताणहिअअं इमं जणं समअपुव्वं पतारिअ इदिसेहिं अक्खरेहि पच्चाचक्खिदुं ।)

व्या० एवं श०—अवस्थान्तरे गते = विपरीत अवस्था को प्राप्त हो जाने पर। स्मारितेन किम् = स्मरण कराने से क्या लाभ ? स्मृ+णिच्+क्त तृ०व० । शोचनीयम् – शुच्+अनीयर = शोक के योग्य, निन्दा (धिक्कार) के योग्य। व्यवसितम् – वि+अव+सो+क्त । संशयिते = सन्देह युक्त होने पर। यह 'परिणये' का विशेषण है। समुदाचारः – सम्+उद्+आ+चर+घञ् = सम्बोधनरूप व्यवहार। युक्तम् = उचित। स्वभावम् = स्वभावतः निष्कपट हृदय वाले। इमं जनम् = इस व्यक्ति को अर्थात् मुझ (शकुन्तला) को। समयपूर्वम् = प्रतिज्ञापूर्वक (शपथपूर्वक)। प्रतार्य = ठग कर (धोखे में डालकर)। प्रत्याख्यातुम् – प्रति+आ+ख्या+तुमुन् = निराकरण करना (निषेध करना)।

शकुन्तला—(एक ओर मुँह कर) उस प्रकार के (गम्भीर-प्रगाढ़) प्रेम के इस (विपरीत) अवस्था में प्राप्त हो जाने पर स्मरण कराने से क्या लाभ ? इस समय मेरी आत्मा शोचनीय (धिक्कार के योग्य) है – यह निश्चित है। (प्रकट रूप में) आर्यपुत्र... (आधा ही कहने पर) अब विवाह के सन्दिग्ध होने पर (विवाह के विषय में सन्देह होने से) यह सम्बोधन उचित नहीं है। ...हे पुरुवंशी राजन् , पहले आश्रमभूमि में स्वभावतः निष्कपट (सरल) हृदय वाले इस व्यक्ति को (अर्थात् मुझे) शपथपूर्वक ठगकर (धोखे में डालकर) (अब) इस प्रकर के वचनों से उसका निराकरण करना (कथमपि) उचित नहीं है।

टिप्पणी—(१) **आत्मेदानीं मे शोचनीयः** – मुझे अपने आप को भी धिक्कारना चाहिये क्योंकि मैं भी दोषी हूँ। (२) **आर्यपुत्र** – यह पति के लिये पत्नी द्वारा विधेय सम्बोधन है। इसको कहकर शकुन्तला इसलिये रुक जाती है कि जब दुष्यन्त उसको पत्नी के रूप में स्वीकार नहीं कर रहा है तो ऐसे व्यक्ति को 'आर्यपुत्र' कहना शोभानीय एवं उचित नहीं है। (३) **पौरव** – यह सम्बोधन सार्थक है। इससे शकुन्तला का क्रोध व्यक्त होता है, इसके साथ ही इससे इस अर्थ की भी व्यञ्जना होती है कि 'पुरु' जैसे उच्च वंश में उत्पन्न राजा दुष्यन्त के लिये इस प्रकार का कार्य उचित नहीं है। (४) **स्वभावोत्तानहृदयमिमं जनं समयपूर्वं प्रतार्य** – शकुन्तला के इस कथन का अभिप्राय यह है कि वह आश्रम में पालित-पोषित होने के कारण नितान्त सरल और निष्कपट है। अपनी मीठी-मीठी एवं मधुर बातों से दुष्यन्त ने उसके हृदय को इतना प्रभावित कर दिया कि वह प्रणय सूत्र में बँध गयी। 'समयपूर्व' से उसका अभिप्राय दुष्यन्त के इन वचनों से है—**'प्रतिग्रहबहुत्वेऽपि... सखी च युवयोरियम्' 'किं शीतलैः... पद्मताम्रौ'... 'कथमातपे गमिष्यसि'** ।

कोष—**'समयः शपाथाचारऽकालषिद्धात्रसंविदः'** – इत्यमरः। **'निम्नं गभीरं गम्भीरमुत्तानं तद्विपर्यये'** – इत्यमरः।

राजा—(कर्णौ पिधाय) **शान्तं पापम् ।**

राजा—(कानों को ढक कर) पाप शान्त हो (अर्थात् ऐसा पापयुक्त वचन मत कहो)।

व्यपदेशमाविलयितुं किमीहसे जनमिमं च पातयितुम् ।

कूलङ्कषेव सिन्धुः प्रसन्नमम्भस्तरुं च ।। २१ ।।

अन्वय—प्रसन्नम् अम्भः (आविलयितुम्) तटतरुं (पातयितुम्) च कूलङ्कषा सिन्धुः इव व्यपदेशम् आविलयितुम् इमं जनं च पातयितुं किम् ईहसे।

शब्दार्थ—प्रसन्नम् = निर्मल (स्वच्छ)। अम्भः = जल को। च = और। तटतरुम् = किनारे के वृक्ष को। कूलङ्कषा = किनारों को तोड़ने वाली (ढहाने) वाली। सिन्धुः इव = नदी की भाँति। व्यपदेशम् = (अपने) कुल (वंश) को। आविलयितुम् = कलङ्कित करने के लिये। च = और। इस = इस। जनम् = व्यक्ति को। पातयितुम् = भ्रष्ट (पतित) करने के लिये। किम् = क्यों। ईहसे = चाहती हो।

अनुवाद—स्वच्छ जल को (मलिन करने वाली) और किनारे के वृक्ष को (गिराने वाली) किनारों को तोड़ती हुयी (ढहाती हुई) नदी की भाँति तुम क्यों (अपने) कुल को कलङ्कित और इस व्यक्ति को (अर्थात् मुझको) पतित करना चाहती हो।

संस्कृत व्याख्या—प्रसन्नं – स्वच्छम् , **अम्भः** – जलम् ; (आविलयितुम्), **तटतरुं च** – तीरस्य वृक्षम् च, (पातयितुम्), **कूलङ्कषा** – तटभेदिनी-तटसंघर्षिणी, **सिन्धुः इव** – नदी इव, **व्यपदेशं** – स्ववंशम् , **आविलयितुं** – कलङ्कयितुम् (मलिनीकर्तुंम्), **इमम्** – एतम् , **जनं** – व्यक्तिम् मामित्यर्थः, **पातयितुं च** – पतितं कर्तुं च, किम् प्रश्ने, **ईहसे** – इच्छसि (चेष्टसे)।

संस्कृत-सरलार्थः—अयम्भावः – तटभेदिनी नदी यथा स्वच्छं जलं मलिनीकुरुते तटस्थं वृक्षं च पातयति तथैव त्वं किमर्थं स्वकुलं कलङ्कयितुं इमं जनं दुष्यन्तं च पातयितुं कामयसे (चेष्टसे) ? त्वया तथा करणीयं यथा तव कुलं कलङ्कितं न भवेत्तथा मम दुष्यन्तस्य पतनं च न स्यादितिभावः।

व्याकरण—व्यपदेशम् – वि+अप+दिश्+घञ् , व्यपदिश्यते अनेन इति व्यपदेशम्। आविलयितुम् – आविल+णिच्+तुमुन्। कूलङ्कषा – कूलं कषतीति कूलङ्कषा – कूल+कष्+खच् 'मुम्' (म) का आगम।

कोष—'सिन्धुः समुद्रे नद्यां च नदे देशेभदानयोः' इति विश्वः। 'अम्भोऽर्णस्तोयपानीयनीरक्षीराम्बुशम्बरम्'– इत्यमरः।

अलङ्कार—(१) 'कूलङ्कषा सिन्धुरिव' में **'पूर्णोपमा'** अलङ्कार है। यहाँ शकुन्तला उपमेय, सिन्धु (नदी) उपमान, आविलयितुम् तथा पातयितुम् साधारण धर्म तथा 'इव' वाचक शब्द है। (२) पूर्वार्द्ध में गुण और क्रियाओं का समुच्चय होने से **'समुच्चय'** अलङ्कार है। द्र० २/१०।

छन्द—यहाँ **आर्या** छन्द है। ल०द्र० १/२ श्लो०।

टिप्पणी—(१) राजा के इन वचनों से शकुन्तला की जो कूलङ्कषा नदी से तुलना की गयी है उससे शकुन्तला के चरित्र को दूषित बताया गया है। (२) **'पातयितुम्'** इस पद से यह ध्वनित होता है कि शकुन्तला स्वयं तो पतित है ही अब मुझे भी (गिराने) पतित बनाने आयी है। णिच् प्रत्यय के प्रयोग से इस अर्थ का निकलना स्वाभाविक है।

शकुन्तला—भवतु। यदि परमार्थतः परपरिग्रहशङ्किना वक्तुं प्रवृत्तं तदभिज्ञानेनानेन तवाशङ्कामपनेष्यामि। (होदु। जइ परमत्थतो परपरिग्गहसंकिणा तुए एव्वं वत्तुं पउत्तं ता अहिण्णाणेण इमिणा तुहं आसंकं अवणइस्सं।)

व्या० एवं श०—परमश्चासौ अर्थः परमार्थः परमार्थ शब्द से तृतीयार्थ में तसिल् है = यथार्य में-सचमुच। परपरिग्रहशङ्किना - परस्प परिग्रहः (स्त्री) तं शङ्कते इति - परिग्रह+शङ्क+णिन+तृ०ए०व० = परस्त्री की शङ्का करने वाले। अभिज्ञानेन - अभिज्ञायते अनेनेति अभिज्ञानम् तेन - अज्ञि+ज्ञा+ल्युट् तृ०ए०व० = पहचान (अंगूठी रूपी पहचान से अभिप्राय है)। अपनेष्यामि - अप+नी+ऌट्+प्र०पु०ए०व० = दूर करूँगी।

कोष—'पत्नी परिजनादानमूलशापाः परिग्रहाः' इत्यमरः।

शकुन्तला—अच्छा, यदि वास्तव में पर-स्त्री की आशङ्का से आप के द्वारा इस प्रकार का कथन प्रारम्भ किया गया है (अर्थात् यदि आप दूसरे की स्त्री समझ कर ऐसा कह रहे हैं) तो इस अभिज्ञान (पहचान की अँगूठी) से मैं आप की आशङ्का को दूर करूँगी।

राजा—उदारः कल्पः।

राजा—(यह) उत्तम प्रस्ताव (उपाय, कल्प) है।

शकुन्तला—(मुद्रास्थानं परामृश्य) **हा धिक्। अङ्गुलीयशून्या मेऽङ्गुलिः।** (हद्धी। अंगुलीअअसुण्णा में अंगुली।) (इति सविषादं गौतमीमवेक्षते।)

व्या० एवं श०—धिक् - 'धिक्' के दो अर्थ होते हैं—निर्भक्त, निन्दा, 'धिक् निर्भक्तनिन्दयोः'। अङ्गुलीयकशून्या - अङ्गुलीयकेन शून्या (तृ०व०) = अँगूठी से रहित। परामृश्य - परा+मृश्+क्त्वा - ल्यप् = स्पर्श क़र-टटोल कर।

शकुन्तला—(अङ्गुठी के स्थान को स्पर्श कर) ओह, मेरी अङ्गुली अङ्गूठी से रहित है। (अर्थात् अङ्गूठी अङ्गुली में नहीं है)। (खेद के साथ गौतमी को देखने लगती है)।

व्या० एवं श०—अवक्षते - अव+ईक्ष लट् प्र०पु० = देखती है।

गौतमी—नूनं ते शक्रावताराभ्यन्तरे शचीतीर्थसलिलं वन्दमानायाः प्रभ्रष्टमङ्गुलीयकम्। (णूणं दे सक्कावदारब्भन्तरे सचीतित्थसलिलं वन्दमाणाए पब्भट्टं अंगुलीअअं।)

व्या० एवं श०—शक्रावताराभ्यन्तरे - शक्रावतारस्य शक्रावतारतीर्थस्य अभ्यन्तरे मध्ये = शक्रावतार तीर्थ में। प्रभ्रष्टम् - प्र+भ्रंश्+क्त = गिर गयी।

गौतमी—निश्चय ही शक्रावतार (तीर्थ) में शचीतीर्थ के जल की वन्दना करते समय तुम्हारी अङ्गूठी गिर गयी होगी।

राजा—(सस्मितम्) **इदं तत् प्रत्युत्पन्नमति स्त्रैणमिति यदुच्यते।**

व्या० एवं श०—प्रत्युत्पन्नमति = तात्कालिक प्रतिभा से युक्त। तात्कालिकी प्रतिभा को प्रत्युत्पन्नमति कहते हैं - 'तात्कालिकी तु प्रतिभा प्रत्युत्पन्नमतिः स्मृता' सुधाकर - प्रत्युत्पन्ना तात्कालिकी मतिः यस्य तत् = तत्काल उत्पन्न बुद्धि से युक्त। यह पद स्त्रैणम् का विशेषण है। स्त्रैणम् - स्त्री+नञ् प्र०ए०व० = स्त्रीवर्ग-स्त्रीसमूह। प्रत्युत्पन्नमति स्त्रैण का भाव यह है कि स्त्रियाँ हाजिर जवाब होती हैं।

राजा—(मुस्कराहट के साथ) जो यह कहा जाता है कि स्त्रीवर्ग तुरन्त उत्पन्न मति वाली (उपाय सोचने वाली हाजिर जवाब) होती हैं, यह वही हैं।

शकुन्तला—अत्र तावद् विधिना दर्शितं प्रभुत्वम् अपरं ते कथयिष्यामि। (एत्थ दाव विहिणा दंसिदं पहुत्तणं अवरं दे कहिस्सं।)

शकुन्तला—यहाँ (अभिज्ञान दिखाने के विषय में) तो भाग्य के द्वारा (अपनी) प्रभुता दिखा दी गयी। (अब) मैं (स्मरण दिलाने के लिये) आप से दूसरी बात कहूँगी।

राजा—श्रोतव्यमिदानीं संवृत्तम्।

व्या० एवं श०—श्रोतव्यम् – श्रु+तव्यत्। संवृत्तम् – सम्+वृत्+क्त = प्रस्तुत है (रह गया है)।

राजा—अब सुनना ही शेष है। अर्थात् सुनना ही पड़ेगा (यह शकुन्तला पर व्यङ्ग्य है) अर्थात् अँगूठी दिखाने की बात समाप्त हुई अब तो सुनना ही सुनना है।

शकुन्तला—नन्वेकस्मिन् दिवसे नवमालिकामण्डपे नलिनीपत्रभाजनगतमुदकं तव हस्ते सन्निहितमासीत्। (णं एक्कस्सिं दिअहे, णोमालिआमण्डवे णलिणीपत्तभाअणगअं तुह उअअ हत्थे सण्णिहिदं आसि।)

व्या० एवं श०—नवमालिकामण्डपे – नवमालिकायाः मण्डपे (ष०त०) = नवमालिका (चमेली) के मण्डप में। नलिनीपत्रभाजनगतम् – नलिनीपत्रमेव कमलिनीपत्रमेव भाजनं पात्रं तस्मिन् गतं स्थितम् = नलिनीपत्र के (पात्र में) पत्ते में रखा हुआ। सन्निहितं – सम्+नि+धा+क्त = रखा हुआ।

शकुन्तला—एक दिन नवमालिका (चमेली) के कुञ्ज में कमलिनी के पत्ते के पात्र (दोने) में रखा हुआ जल आप के हाथ में था।

राजा—शृणुमस्तावत्।

राजा—हाँ, सुन रहा हूँ।

शकुन्तला—तत्क्षणे सा मे पुत्रकृतको दीर्घापाङ्गो नाम मृगपोतक उपस्थितः। त्वयायं तावत् प्रथमं पिबत्वित्यनुकम्पिनोपच्छन्दित उदकेन। न पुनस्तेऽपरिचयाद्धस्ताभ्याशमुपगतः। पश्चात् तस्मिन्नेव मया गृहीते सलिलेऽनेन कृतः प्रणयः। तदा त्वमित्थं प्रहसितोऽसि। सर्वः सगन्धेषु विश्वसिति। द्वावप्यत्रारण्यकाविति। (तक्खणं सो मे पुत्तकिदओ दीहपंगो णाम मिअपोदओ उवट्ठिओ। तुए अअं दाव पढमं पिअउ त्ति अणुअम्पिणा उवच्छन्दिदो उअएण। ण उण दे अपरिचआदो हत्थब्भास उवगादो। पक्छा तस्सिं एव्व मए गहिदे सलिल णेण किदो पणओ। तदा तुमं इत्थं पहसिदो सि। सव्वो सगन्धेसु विस्ससिदि। दुवेवि एत्थ आरण्णआ त्ति।)

व्या० एवं श०—दीर्घापाङ्गः – दीर्घौ आयतौ अपाङ्गौ नेत्रप्रान्तौ यस्य सः = बड़े-बड़े हैं नेत्र प्रान्त जिसके ऐसा। अनुकम्पिना – अनु+कम्प्+णिनि – तृ०ए०व० = दयालु। उपच्छन्दितः – उप+छन्द्+णिच्+क्त = प्रेमपूर्वक बुलाया। हस्ताभ्याशम् – हस्तयोः अभ्याशम् (अभि+अश्+घञ्) समीपम् = हाथ के पास। प्रहसितः – प्र+हस+क्त = हंसे थे। सगन्धेषु – समानः गन्धः (बन्धुः) येषां तेषु = सम्बन्धियों में। यहाँ समान को 'स' आदेश हुआ है। आरण्यकौ – अरण्ये भवः – अरण्य+वुञ् (अक)प्रथमा द्वि०व० = वन में रहने वाले।

विशेष—(१) 'सगन्धो बन्धुरुच्यते' – इति हलायुधः – इस वचन के अनुसार सगन्ध बन्धु को कहते हैं। (२) पोत; पाकोऽर्भको डिम्भः पृथुकः शावकः शिशुः' इत्यमरः। – इस अमरकोष के वचनानुसार बच्चे के ७ नाम हैं—पोत, पाक, अर्भक, डिम्भ, पृथुक, शावक तथा शिशु। (३) यहाँ पर **आदान** नामक **विमर्श** सन्धि का अङ्ग है। **लक्षण**—'कार्यसंग्रहश्चादानम्' साथ ही **'उत्कीर्तन'** नामक नाट्यालङ्कार है। लक्षण—'भूतकार्याख्यानम् उत्कीर्तनम्'।

शकुन्तला—उसी क्षण (समय) मेरा पुत्र वनपालित वह 'दीर्घापाङ्ग' नामक मृगशावक (हरिण का बच्चा) आ गया। तब दयालु आप ने 'पहले यह (जल) पी ले' इस अभिप्राय से उसे जल पीने के लिये बुलाया किन्तु परिचय न होने के कारण (वह) आप के हाथ के पास नहीं आया। बाद में मेरे द्वारा वही जल (अपने) हाथ में ले लेने पर उस (मृगशावक) ने जल में प्रेम प्रदर्शित कर दिया (अर्थात् जल पी लिया)। तब आपने इस प्रकार हँसी उड़ायी थी कि सभी अपने पर विश्वास करते हैं। (क्योंकि) तुम दोनों ही यहाँ वनवासी (वन में सहवासी) हो।

राजा—एवमादिभिरात्मकार्यनिर्वर्तिनीनामनृतमयवाङ्मधुभिराकृष्यन्ते विषयिणः।

व्या० एवं श०—पदच्छेद – एवम्+आदिभिः+आत्मकार्यनिर्वर्तिनीनाम् – अनृतमयवाङ्मधुभिः+आकृष्यन्ते। आत्मकार्यनिर्वर्तिनीनाम् – आत्मनः कार्यम् आत्मकार्यम् तस्य निर्ववर्तिनीनाम् – निर+वृत्+णिच्+ल्युट्+णिनि ष०ब०व० = अपने कार्य को सिद्ध करने वाली-स्त्रियों का (स्वार्थ साधिकाओं का)। अनृतमयवाङ्मधुभिः – अमृतमयवाचःएव मधूनितैः = असत्ययुक्तवाणीरूपमधु से – झूठ वचनरूप मधु से। आकृष्यन्ते – आ+कृष्+कर्मवाच्य+लट्+ प्र०पु०बहु० = आकृष्ट होते हैं। विषयिणः – विषयः अस्य अस्तीति विषयी ते = कामी लोग।

राजा—अपने कार्य को सिद्ध करने वाली स्त्रियों के इस प्रकार के असत्यमयवाणीरूप मधु से (झूठ और मधुर वचनों से) कामी लोग आकृष्ट किये जाते हैं।

गौतमी—महाभाग, नार्हस्येवं मन्त्रयितुम्। तपोवनसंवर्धितोऽनभिज्ञोऽयं जनः कैतवस्य। (महाभाअ, ण अरुहसि एव्वं मन्तिदुं। तवोवणसंवड्ढिदो अणभिण्णो अअं जणो कइदवस्स।)

व्या० एवं श०—मन्त्रयितुम् – मन्त्र+णिच्+तुमुन् = कहने के लिये (कहना)। तपोवनसंवर्धितः – तपोवने संवर्धितः (सम्+वृध+क्त) (ष०त०) = तपोवन में संवर्धित-बढ़े हुये। अनभिज्ञः-जानातीति – अभिज्ञः (अभि+ज्ञा+क) न अभिज्ञः अनभिज्ञः = न जानने वाला, अपरिचित। कैतवस्य = छल-कपट (पूर्ण व्यवहार का)।

गौतमी—महानुभाव, ऐसा नहीं कहना चाहिये, क्योंकि तपोवन में (सम्पन्न पालन-पोषण से) बढ़ा हुआ यह व्यक्ति (शकुन्तला) छल-कपट से अनभिज्ञ है।

राजा—तापसवृद्धे

राजा—हे वृद्ध तपस्विनी,

स्त्रीणामशिक्षितपटुत्वममानुषीषु
सन्दृश्यते किमुत याः प्रतिबोधवत्यः।
प्रागन्तरिक्षगमनात् स्वमपत्यजात-
मन्यैर्द्विजैः परभृताः खलु पोषयन्ति॥ २२॥

अन्वय—स्त्रीणाम् अशिक्षितपटुत्वम् अमानुषीषु (अपि) सन्दृश्यते, याः प्रतिबोधवत्यः (तासाम्) किमुत, परभृताः अन्तरिक्षगमनात् प्राक् स्वम् अपत्यजातम् अन्यैः द्विजैः खलु पोषयन्ति।

शब्दार्थ—स्त्रीणाम् – स्त्रियों को। अशिक्षितपटुत्वम् = शिक्षा के बिना ही (बिना सिखाये ही) चतुरता। अमानुषीषु = मनुष्य जाति से भिन्न स्त्रियों में। सन्दृश्यते = दिखायी देती है। याः = जो। प्रतिबोधवत्यः = ज्ञान-सम्पन्न। किमुत = (उनका) क्या कहना। परभृताः = दूसरे (पक्षी कौये) द्वारा पालित-पोषित कोयलें। अन्तरिक्षगमनात् = आकाश में जाने (उड़ने) से। **प्राक्**

= पहले । स्वम् = अपने । अपत्यजातम् = सभी बच्चों को । अन्यैः = दूसरे । द्विजैः = पक्षियों (कौओं) द्वारा । खलु = ही । पोषयन्ति = पालन करवाती है ।

अनुवाद—जब शिक्षा के बिना ही स्त्रियों की चतुरता (चालाकी) मनुष्य जाति से भिन्न स्त्रियों में (भी) दिखायी पड़ती है, (तो) जो ज्ञानसम्पन्न (मानव-स्त्रियाँ है उनका) क्या कहना ! कोयलें आकाश में उड़ने से पहले अपने बच्चों का दूसरे पक्षियों (= कौओं) द्वारा पालन करवाती हैं ।

संस्कृत व्याख्या—(यदि) स्त्रीणां – स्त्रीजातेः, **अशिक्षितपटुत्वम्** – अनुपदिष्टगूढवञ्चनाचातुर्यम्, **अमानुषीषु** – मनुष्यव्यतिरिक्तासु नारीषु (अपि), **सन्दृश्यते** – विलोक्यते, **(तदा) याः** – नार्यः, **प्रतिबोधवत्यः** – ज्ञानसम्पन्नाः वागादिव्यवहारकुशलाः (तासाम्), **किमुत** – किं वक्तव्यम्, **परभृताः** – कोकिलाः, **अन्तरिक्षगमनात्** – आकाशगमनात् , उड्डयनादित्यर्थः, **प्राक्** – पूर्वम् , **स्वं** – स्वकीयम् , **अपत्यजातम्** – सन्ततिसमूहम् , **अन्यैः** – अपरैः, **द्विजैः** – पक्षिभिः काकैरित्यर्थः, **खलु** – एव, **पोषयन्ति** – पालयन्ति ।

संस्कृत-सरलार्थः—स्त्रीजातेः मानुषीभिन्नास्वपि-अनुपदिष्टवञ्चनापाटवं परिदृश्यते याः पुनः – लोकव्यवहारज्ञानसंवलिताः सन्ति तासां विषये तु किं वक्तव्यम् ? अर्थात् तासां लोकव्यवहारकौशलन्तु विदितमेव । विषयेऽस्मिन्न पक्षिभूताः कोकिलस्त्रियो दृष्टिपथं नेया याभिराकाशगमनात् प्राक् स्वशावकाः काकैः पोष्यन्ते ।

व्याकरण—अशिक्षितपटुत्वम् – अशिक्षितं च तत् पटुत्वम् (कर्म०स०) । प्रतिबोधवत्यः – परिबुध्यतेद्‌नेनेति परिबोधः, (परि+बुध्+घञ् करणे) सः अस्ति आसाम् इति परिबोध+मुतुप् (म् को व्) ङीप् प्र०ब०व० = लोकव्यवहारादिज्ञानसम्पन्न । परभृताः परैः (काकैः) भ्रियन्ते इति परिभृताः = कोकिल की स्त्रियाँ । द्विजैः द्विः जायते इति द्वि+जन्+ड = पक्षी । पोषयन्ति – पुष्+णिच्+ल०प्र०ब०व० = पोषण कराती है । अन्तरिक्षम् – अन्तर्+ईक्ष+घञ् – 'ई' को छान्दस ह्रास्व । अन्तः द्यावापृथिव्योः मध्य ईक्ष्यते अथवा – अन्तः ऋक्षाणि यस्य तत् – पृषोदरादित्वात् साधुः ।

कोष—'वनप्रियः परभृतः कोकिलः पिक इत्यपि' – इत्यमरः । 'जातिर्जातं च सामान्यम्' – इत्यमरः । 'तारापथोऽन्तरिक्षं च मेघाध्वा च महाविलम्' – इत्यमरः ।

अलङ्कार—(१) यहाँ उत्तरार्द्धगत विशेष अर्थ से पूर्वार्द्धगत सामान्य अर्थ का समर्थन होने से **'अर्थान्तरन्यास'** अलङ्कार है । ल०द्र० १/२ श्लो० । (२) प्रथम चरण में शकुन्तला रूप विशेष के प्रस्तुत होने पर स्त्री सामान्य रूप की प्रतीति होने से **'अप्रस्तुतप्रशंसा'** अलङ्कार है । ल०द्र० १/१७ श्लो० । (३) किमुत के द्वारा मानुषी के आधिक्य का वर्णन होने से **'व्यतिरेक'** अलङ्कार है । ल०द्र० १/२३ श्लो० ।

छन्द—यहाँ **वसन्ततिलका** छन्द है । ल०द्र० १/८ श्लो० ।

टिप्पणी—(१) **तापसवृद्धे** – वृद्धा तापसी, कर्मधारय समास में 'कडाराकर्मधारये' सूत्र से 'वृद्ध' पद का विकल्प से पर निपात होता है और 'तापसवृद्धा' रूप बनता है जिसका सम्बोधन में 'तापसवृद्धे' रूप होता है । (२) **स्त्रीणामशिक्षितपटुत्वम् अमानुषीषु** – इसका भाव यह है कि मानवेतर पशुपक्षियों की स्त्री जाति में बिना शिक्षा के लोक-व्यवहार आदि की चतुरता दृष्टिगोचर होती है । इस प्रकार का भाव अन्य काव्य-ग्रन्थों में भी पाया जाता है । जैसे —(क) स्त्रियो हि नाम खल्वेता निसर्गादेव पण्डिताः । पुरुषाणां तु पाण्डित्यं शास्त्रैरेवोपदिश्यते ।

(मृच्छकटिक ४/१९)। (ख) वयस्य ! निसर्गनिपुणाः स्त्रियः। (मालविकाग्निमित्र तृ० अङ्क)। (३) **परभृतैः** – कोयल को 'परभृत' इसलिये कहा जाता है क्योंकि उसका लालन-पालन पर अर्थात् कौओं के द्वारा होता है—'परैः काकैः भ्रियन्ते इति परभृताः'। (४) ऐसी जनश्रुति है कि कोयल अपने नवजात बच्चों को कौओं के घोसलें में छोड़ देती है और कौअे वर्णसाम्य के कारण अपना बच्चा समझ कर उनका पालन करते हैं। बड़े हो जाने पर फिर वे उड़कर अपने माँ (बाप) के पास आ जाते हैं। (५) इस श्लोक में प्रकारान्तर से शकुन्तला की यह उत्पत्ति सङ्केतित है कि उसकी माता मेनका अप्सरा होने से अमानुषी है और वेश्या होने से परभृत (परपालित) है। **'स्वमपत्यजातम्'** से मेनकापुत्री शकुन्तला सङ्केतित है और **'प्रागन्तरिक्षगमनात्'** से शकुन्तला को छोड़कर मेनका के अन्तरिक्ष में चले जाने का सङ्केत है। **'अन्यैःद्विजैः'** इन पदों से कण्व का सङ्केत है जो ब्राह्मण (द्विज) हैं और जिन्होंने शकुन्तला का लालन-पालन किया था। (६) टीकाकार श्रीनिवास ने इस श्लोक के प्रतिपाद्य से शाकुन्तल की आगे की कथा का सङ्केत माना है। उनके अनुसार परभृत से शकुन्तला, अपत्य... से भरत, अन्यैःद्विजैः से मारीच आदि ऋषि तथा **प्रागन्तरिक्षगमनात्** से राजा (दुष्यन्त) का मातलि के साथ स्वर्ग में जाने आदि अर्थों की कल्पना की गयी है। साथ ही उन्होंने 'राजा के मारीच के आश्रम में जाने के पूर्व शकुन्तला ने ऋषियों से भरत का पालन कराया' – इस क्लिष्ट अर्थ की भी कल्पना की है। इसकी अपेक्षा पूर्ववर्ती सङ्केत अधिक युक्त है।

शकुन्तला—(सरोषम्) **अनार्य, आत्मनो हृदयानुमानेन पश्यसि। क इदानीमन्यो धर्मकञ्चुकप्रवेशिनस्तृणच्छन्नकूपोपमस्य तवानुकृतिं प्रतिपत्स्यते ?** (अणज्ज, अत्तणो हिअआणुमाणेण पेक्खसि ? को दाणिं अण्णो धम्मकञ्चुअप्पवेसिणो तिणच्छण्णकूवोवमस्स तव अणुकिदिं पडिवदिस्सादि ?)

व्या० एवं श०—धर्मकञ्चुकप्रवेशिनः (यह पद 'तव' का विशेषण है) – धर्मः एव कञ्चुकः (मयू०स०) तेन व्यपदिशति इति धर्मकञ्चुक+वि+प्र+विश+णिनि (कर्तरि) ष०ए०व० = धर्म का चोंगा पहने हुये। तृणच्छन्नकूपोपमस्य – तृणैः छन्नः (तृ०व०) तादृशः कूपः (कर्म०), स उपमा यस्य तस्य (बहु०) = तृणों (घासों) से आच्छादित कुयें के समान। प्रतिपत्स्यते – प्रति+पद्+लृट्+प्रथम पु०ए०व० = करेगा।

शकुन्तला—(क्रोधपूर्वक) नीच, (तुम) अपने हृदय के अनुमान से (अर्थात् अपने हृदय के समान सबको) देखते (समझते) हो। इस समय (तुम्हारे अतिरिक्त) दूसरा कौन (व्यक्ति होगा जो) तिनकों से आच्छादित कुयें के समान धर्म का आवरण (चोंगा) धारण किये हुये (पहने हुये) तुम्हारा अनुकरण करेगा ? (अर्थात् तुम जैसा पाखण्डी दूसरा नहीं होगा)।

राजा—(आत्मगतम्) **सन्दिग्धबुद्धिं मां कुर्वन्नकैतव इवास्याः कोपो लक्ष्यते। तथा ह्यनया—**

व्या० एवं श०—सन्दिग्धबुद्धिम् – सन्दिग्धा बुद्धिः यस्य तादृशम् (ब०ब्री०) = सन्दिग्ध बुद्धि वाला। यह पद 'माम्' इस पद का विशेषण है। कुर्वन् – कृ+शतृ प्र०पु०ए०व० = करता हुआ। अकैतवः – नास्ति कैतवं यस्मिन् सः = निश्छल (अकृत्रिम, स्वाभाविक)।

राजा—(अपने मन में) मुझे सन्देह युक्त बुद्धि वाला करता (बनाता) हुआ इसका क्रोध **निश्छल (बनावट से रहित आकृत्रिम सा) दिखायी पड़ रहा है। क्योंकि इसके द्वारा—**

मय्येव विस्मरणदारुणचित्तवृत्तौ
वृत्तं रहः प्रणयमप्रतिपद्यमाने ।
भेदाद् भ्रुवोः कुटिलयोरतिलोहिताक्ष्या
भग्नं शरासनमिवातिरुषा स्मरस्य ।। २३ ।।

अन्वय—विस्मरणदारुणचित्तवृत्तौ मयि एव रहः वृत्तं प्रणयम् अप्रतिपद्यमाने अतिरुषा अतिलोहिताक्ष्या कुटिलयोः भ्रुवोः भेदात् स्मरस्य शरासनं भग्नम् इव ।

शब्दार्थ—विस्मरणदारुणचित्तवृत्तौ = विस्मरण (भूल जाने) के कारण जिसकी मनोवृत्ति कठोर हो गयी है ऐसे (विस्मरण के कारण कठोर मनोवृत्ति वाले)। मयि = मेरे द्वारा (में)। एव = ही। रहः = एकान्त में। वृत्तम् = सम्पन्न घटित। प्रणयम् = प्रणय-सम्बन्ध को। अप्रतिद्यमाने = स्वीकार न करने पर। अतिरुषा = अत्यन्त क्रोध के कारण। अतिलोहिताक्ष्या = अत्यधिक लाल हो गयी है आखें जिसकी ऐसी (अत्यधिक लाल नेत्रों वाली)। अनया = इसके द्वारा। कुटिलयोः = टेढ़ी। भ्रुवोः = भौहों के। भेदात् = चढ़ाने से। स्मरस्य = कामदेव का। शरासनम् = धनुष। भग्नम् इव = मानो तोड़ दिया गया है।

अनुवाद—विस्मरण के कारण कठोर मनोवृत्ति वाले मेरे द्वारा ही एकान्त में सम्पन्न हुये प्रणय-सम्बन्ध को स्वीकार न करने पर, अत्यन्त क्रोध के कारण अत्यधिक लाल नेत्रों वाली इस (शकुन्तला) ने (अपनी) टेढ़ी भौंहों को चढ़ाकर मानों कामदेव का धनुष तोड़ दिया है।

संस्कृत व्याख्या—विस्मरणदारुणचित्तवृत्तौ – विस्मृत्या कठोरा मनोवृतिः यस्य तस्मिन् , **मयि एव** – दुष्यन्ते एव, **रहः** – एकान्ते, **वृत्तं** – सञ्जातम् , **प्रणयं** – प्रीतिम् , **अप्रतिपद्यमाने** – अस्वीकुर्वाणे, **अतिरुषा** – अतिक्रोधेन, **अतिलोहिताक्ष्या** – अत्यन्तरक्तवर्णे नयने यस्याः तया अत्यारक्तनयनया, **अनया** – शकुन्तलया, **कुटिलयो** – स्वभावतःवक्रयोः, **भ्रुवोः** – भृकुट्योः, **भेदात्** – भङ्गात्, **स्मरस्य** – कामदेवस्य, **शरासनं** – धनुः, **भग्नम् इव** – खण्डितम् इव।

संस्कृत-सरलार्थः—विस्मृतिवशात् कर्कशहृदये मयि – (दुष्यन्ते) एवैकान्ते गुप्तरूपेण सम्पन्नं गान्धर्वविवाहरूपं प्रेमसम्बन्धम् अस्वीकुर्वाणे सत्यतिक्रोधेनारक्तनयनयाऽनया शकुन्तलया स्वकुटिलयोर्भुवोर्भङ्गात् कामस्य धनुः खण्डितमेवेति संक्षिप्तार्थः ।

व्याकरण—विस्मरणदारुणचित्तवृत्तौ – विस्मरणेन दारुणा चित्तवृत्तिः यस्य तस्मिन् (बहु०)। अतिलोहिताक्ष्या – अतिलोहिते अक्षिणी यस्याः तया (बहु०)। अप्रतिपद्यमाने – अप्रतिपद्यमानम् (प्रति+पद्+शानच) न प्रतिपद्यमानम् अप्रतिपद्यमानम् तस्मिन् ।

अलङ्कार—(१) **'भ्रुवोः भेदात् स्मरस्य शरासनं भग्नमिव'** यहाँ उत्प्रेक्षावाचक इव शब्द के प्रयोग से **'उत्प्रेक्षा'** अलङ्कार है। यहाँ भ्रू के भेद में कामदेव के धनुषभङ्ग की सम्भावना की गयी है। ल०द्र० १/१८ श्लो०। (२) नेत्रों के अधिक लाल होने का कारण अत्यधिक क्रोध है अतः पदार्थहेतुक **'काव्यलिङ्ग'** अलङ्कार है। ल०द्र० १/४ श्लो०। (३) भ्रुवोः भेदात् – यहाँ भेदात् में ल्यब्लोपे से पञ्चमी है अतः अर्थ होगा – 'भ्रूभेदमपदिश्य' अतः **अपह्नुति** अलङ्कार होगा। इस प्रकार **सापह्नवोत्प्रेक्षा** अलङ्कार हो जायेगा। **उत्प्रेक्षा** का सौष्ठव तब और बढ़ जाता है जब वह किसी दूसरे अलङ्कार से युक्त हो जाती है – 'अलंकारान्तरोत्था सा वैचित्र्यमधिकं भजेत्'।

छन्द—यहाँ **वसन्ततिलका** छन्द है। ल०द्र० १/८ श्लो०।

टिप्पणी—क्रोध में आखें लाल हो जाती हैं और भौहें तन जाती है अर्थात् टेढ़ी हो जाती

हैं। शकुन्तला के ऊपर झूठा आरोप लगाने से वह आग बबूला हो गयी है जिससे उसके नेत्र लाल हो गये हैं और भौहें तन गयी हैं, टेढ़ी हो गयी हैं। उन टेढ़ी भौहों में कामदेव की धनुष के टूटने की उत्प्रेक्षा की गयी है।

(प्रकाशम्) **भद्रे, प्रथितं दुष्यन्तस्य चरितम्। तथापीदं न लक्षये।**

व्या० एवं श०—प्रथितं = ख्यात। लक्षये - लक्ष+उ०पु०ए०व० = देख पा रहा हूँ।

(प्रकट रूप में) भद्रे, दुष्यन्त का चरित प्रख्यात है। तथापि मैं यह नहीं देख पा रहा हूँ (अर्थात् जो आप कह रही हैं उसे याद नहीं कर पा रहा हूँ)।

शकुन्तला—सुष्ठु तावदत्र स्वच्छन्दचारिणी कृतास्मि। याऽहमस्य पुरुवंशप्रत्ययेन मुखमधोर्हृदयस्थितविषस्य हस्ताभ्याशमुपगता। (सुट्ठु दाव अत्त सच्छन्दचारिणी किदम्हि। जा अहं इमस्स पुरुवंसप्पच्चएण मुहमहुणो हिअअट्ठिअविसस्स हत्थब्भासं उवगदा।)

व्या० एवं श०—स्वच्छन्दचारिणी - स्वच्छन्दम् स्वातन्त्र्यमवलम्ब्य चरति-इति स्वच्छन्द+चर+णिनि+ङीप् = स्वच्छन्द विचरण करने वाली। पुरुवंशप्रत्ययेन - पुरुवंशस्य प्रत्ययेन (ष०त०) = पुरुवंश के विश्वास से। मुखमधोः - मुखे मधु - मधुरं वचनं यस्य (ब०व्री०) तस्य - मुख में मधु (मधुर वचन) वाले = मुख में मधु वाले अर्थात् बाहर से मीठे। हृदयस्थितविषस्य - हृदये अभ्यन्तरे स्थितम् भरितम् विषं यस्य तस्य = हृदय में भरे हुये विष वाले। हस्ताभ्याशम् = हाथ के पास अर्थात् इसके हाथों - उपगता प्राप्त हो गयी है।

शकुन्तला—अच्छा, तो अब मैं स्वच्छन्द विचरण करने वाली (दुश्चरित्र सिद्ध) कर दी गयी हूँ। जो मैं पुरुवंश के विश्वास से मुख में मधु (अर्थात् ऊपर से मीठे) और हृदय में विष भरे हुये इस (राजा) के हाथ में पड़ गयी हूँ।

टिप्पणी—शकुन्तला की दृष्टि में राजा दुष्यन्त 'मुख में राम बगल में छुरी' वाली उक्ति को चरितार्थ करता है। क्योंकि वह ऊपर से मीठी-मीठी बातें करता है पर उसके हृदय में विष भरा है अन्यत्र भी कहा गया है—'वर्जयेत् तादृशं मित्रं विषकुम्भं पयोमुखम्'।

(इति पटान्तेन मुखमावृत्य रोदिति)।

(आञ्चल से मुख को ढककर रोती है)।

शार्ङ्गरवः—इत्थमात्मकृतमप्रतिहतं चापलं दहति।

व्या० एवं श०—पटान्तेन = आञ्चल से। आवृत्य - आ+वृत्+क्त्वा - ल्यप् = ढककर। आत्मकृतम् - आत्मना कृतम् = (किसी से पूछे बिना-परामर्श लिये बिना) अपने आप की गयी। चापलम् = चापलता। दहति = जलाती है (दु:ख देती है)। अप्रतिहतम् - अनियन्त्रित।

शार्ङ्गरव—(बिना किसी से पूछे) अपने आप की गयी अनियन्त्रित चपलता इसी प्रकार जलाती (दु:ख देती) है।

अतः परीक्ष्य कर्तव्यं विशेषात् सङ्गतं रहः।
अज्ञातहृदयेष्वेवं वैरीभवति सौहृदम् ।। २४ ।।

अन्वय—अत: रह: सङ्गतं विशेषात् परीक्ष्य कर्तव्यम्, अज्ञातहृदयेषु सौहृदम् एवं वैरी भवति।

शब्दार्थ—अत: = इसलिये। रह: = एकान्त। सङ्गतम् = मिलन (सम्बन्ध)। विशेषात् = विशेषरूप से। परीक्ष्य = परीक्षा कर (समझ बूझ कर)। कर्तव्यम् = करना चाहिये। अज्ञातहृदयेषु = जिनका हृदय ज्ञात नहीं है ऐसे लोगों के साथ (में)। सौहृदम् = मित्रता (प्रेम)। एवम् = इसी प्रकार। वैरीभवति = वैर के रूप में बदल जाता है (दु:खद होता है)।

अनुवाद—इसलिये एकान्त का (प्रेम-विवाहादि) सम्बन्ध विशेषरूप से परीक्षा कर करना चाहिये। अज्ञात हृदय वाले लोगों के साथ किया गया प्रेम इसी प्रकार वैर के रूप में बदल जाता है (अर्थात् दु:खान्त बन जाता है)।

संस्कृत व्याख्या—**अत:** – अस्मात् कारणात् , **रह:** – एकान्ते, **सङ्गतं** – प्रणयसम्बन्धादिकम्, **विशेषात्** – विशेषत: (सम्यक्), **परीक्ष्य** – परीक्षणं कृत्वा, **कर्तव्यं** – करणीयम् ; **अज्ञातहृदयेषु** – अविदितचित्तेषु जनेषु, **सौहृदं** – प्रणयम् , **एवम्** – इत्थम् , **वैरीभवति** – शत्रुतामापद्यते।

संस्कृत-सरलार्थ:—एकान्ते प्रणयादिसम्बन्ध: सम्यक् विचार्यैव विधेयोऽन्यथा अविदितचित्तेषु कृत: प्रणय: निश्चयेन शत्रुतारूपेण परिणमतीतिभाव:।

व्यकरण—परीक्ष्य – परि+ईक्ष्+ल्यप्। अज्ञातहृदयेषु – अज्ञातं हृदयं येषां तेषु (बहु०)। वैरीभवति – वैर+च्वि+भू+लट् प्र०पु०ए०व०।

अलङ्कार—(१) यहाँ दुष्यन्त तथा शकुन्तला की मैत्री का विशेष रूप से वर्णन करना चाहिये था परन्तु उसका वर्णन न कर सामान्य मैत्री का वर्णन किया गया है जिससे अप्रस्तुत सामान्य से प्रस्तुत विशेष की प्रतीति हो रही है। अत: **अप्रस्तुतप्रशंसा** अलङ्कार है। ल०द्र० १/१७ श्लो०। (२) उत्तरार्द्ध के सामन्य रूप अर्थ से पूर्वार्द्ध के विशेष रूप अर्थ का समर्थन होने से **अर्थान्तरन्यास** अलङ्कार है। यहाँ समर्थ्य-समर्थक भाव वैधर्म्य के कारण है क्योंकि मैत्री सौहार्द का कारण बन रही है। ल०द्र० १/२ श्लो०। (३) पूर्वार्द्ध के प्रति उत्तरार्द्ध का वाक्यार्थ हेतु रूप से उपन्यस्त है अत: वाक्यार्थ हेतुक **काव्यलिङ्ग** अलङ्कार है। ल०द्र० १/४ श्लो०।

छन्द—उपजाति छन्द है। ल०द्र० २/७ श्लो०।

टिप्पणी—(१) **परीक्ष्य कर्त्तव्यम्** – किसी के साथ गुप्त मैत्री जैसे गान्धर्व विवाहादिसम्बन्ध सम्यक् सोच विचार कर ही करना चाहिये। जिसका कुल, शील, चरित्र, स्वभाव आदि पूर्णत: ज्ञात न हो उसके साथ किसी भी प्रकार का मैत्री आदि सम्बन्ध नहीं करना चाहिये। क्योंकि इस प्रकार के सम्बन्ध अन्तत: शत्रुता में परिणत हो जाते हैं। वे दु:खान्त ही हो जाते हैं। भारवि ने कहा भी है—'असन्मैत्री हि दोषाय कूलच्छायेव सेविता', नीतिग्रन्थों में अज्ञात कुल-शील वाले के साथ सान्निध्य को वर्जित किया हे—'अज्ञातकुलशीलस्य वासो देयो न कस्यचित्'। (२) शार्ङ्गरव के माध्यम से महाकवि कालिदास ने अपने विचारों को प्रकट किया है। उन्होंने गान्धर्व-विवाह (प्रेम-विवाह) के दोषों की ओर ध्यान आकृष्ट किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि उन दिनों गान्धर्व-विवाह अप्रिय हो गया था।

राजा—अयि भो:, किमत्रभवतीप्रत्ययादेवास्मान् संयुतदोषाक्षरै: क्षिणुथ ?।

व्या० एवं श०—अत्रभवतीप्रत्ययादेव – अत्रभवत्या: प्रत्यय: तस्मात् ष०त० = माननीय (शकुन्तला की बातों पर) विश्वास से ही। संयुतदोषाक्षरै: – संयुता: दोषा: येषु तै: तादृशै: अक्षरै: (त०) = दोषपूर्ण शब्दों (वचनों) से। क्षिणुथ – क्षि+म०पु०ब०व० = कष्ट दे रहे हो।

राजा—हे महानुभाव, इन आदरणीया (शकुन्तला) (की बातें) पर विश्वास कर लेने के कारण दोषयुक्त शब्दों के द्वारा हमें क्यों दुःखित कर रहे हो ?

शार्ङ्गरवः—(सासूयम्) **श्रुतं भवद्भिरधरोत्तरम् ।**

व्या० एवं श०—अधरोत्तरम् - अधरं च उत्तरं च इति अधरोत्तरम् (द्वन्द्व) यह भी व्युत्पत्ति हो सकती है - अधरं च तत् उत्तरम् (कर्म०) = निकृष्ट उत्तर।

शार्ङ्गरव—(ईर्ष्यापूर्वक) सुन लिया गया, आप लोगों के द्वारा (दिया गया) यह नीचता पूर्ण उत्तर। (अर्थात् सुन लिया, आप लोगों का नीचतापूर्ण उत्तर) !

टिप्पणी—अधरस्तु पुमानोष्ठे हीनेऽनूर्ध्वे च वाच्यवत् - इस कोष के अनुसार अधर का अर्थ यहाँ हीन, निकृष्ट है।

आ जन्मनः शाठ्यमशिक्षितो यस्तस्याप्रमाणं वचनं जनस्य ।
परातिसन्धानमधीयते यैर्विद्येति ते सन्तु किलाप्तवाचः ।। २५ ।।

अन्वय—यः आ जन्मनः शाठ्यम् अशिक्षितः तस्य जनस्य वचनम् अप्रमाणम् ; यैः परातिसन्धानं विद्या इति अधीयते ते किल आप्तवाचः सन्तु ।

शब्दार्थ—यः = जिसने। आजन्मनः = जन्म से लेकर। शाठ्यम् = शठता को (धूर्तता को)। अशिक्षितः = नहीं सीखा है। तस्य = उस। जनस्य = व्यक्ति का। वचनम् = वचन। अप्रमाणम् = अप्रामाणिक (है)। यैः = जिनके द्वारा। परातिसन्धानम् = दूसरों को धोखा देना। विद्या = विद्या (है)। इति = ऐसा (समझकर)। अधीयते = अध्ययन किया जाता है। ते = वे। किल = ही। आप्तवाचः = प्रामाणिक वचन वाले। सन्तु = हों, हैं।

अनुवाद—जिसने जन्म से लेकर (आज तक) धूर्तता (शठता) को नहीं सीखा है, उस व्यक्ति का वचन (कथन) अप्रामाणिक (प्रमाणरहित) है और जो 'दूसरों को धोखा देना विद्या (कला) है' - ऐसा (मानकर उसे) सीखते हैं, वे ही सत्य वचन बोलने वाले (प्रामाणिक वचन वाले) हैं ?

संस्कृत व्याख्या—**यः** - जनः, **आ जन्मनः** - जन्मप्रभृति अद्य यावत् , **शाठ्यं** - खलताम्, **अशिक्षितः** - नोपदिष्टः, **तस्य जनस्य** - तादृशस्य जनस्य, **वचनं** - कथनम् , **अप्रमाणम्** - प्रमाणरहितम् , **यैः** - जनैः, **परातिसन्धानम्** - अन्यस्य वञ्चनम् , **विद्या इति** - विद्यात्वेन, **अधीयते** - पठ्यते, **ते किल** - तादृशाः जनाः नृपादयः, **आप्तवाचः** - विश्वासयोग्याः, **सन्तु** - भवन्तु।

संस्कृत-सरलार्थः—जन्मत आरभ्याद्य यावद् वनवासिन्या अदृष्टकैतवायाः कण्वपुत्र्याः शकुन्तलाया वचनञ्चेत् कपटमयमस्ति तर्हि किं सततं छलपरिपूर्ण व्यवहारं कुर्वतोऽसत्यवचनस्य तव वचनं प्रामाणिक- मस्तीति प्रश्नाभिप्रायः।

व्याकरण—आजन्मनः - 'आङ्मर्यादावचने' सूत्र से कर्मप्रवचनीय होकर 'पञ्चम्यपाङ्परिभिः' सूत्र से 'आ' के योग में पञ्चमी। शाठ्यम् - शठस्य भावः शाठ्यम् शठ+ष्यञ्। अशिक्षितपटुत्वम् - अशिक्षितम् न शिक्षितम् अशिक्षितम् (नञ् तत्पु०) अशिक्षितं च तत् पटुत्वम् कर्मधारय स०। परातिसन्धानम् - परेषामतिसन्धानम् - परि+अति+सम्+धा+ल्युट् (तत्पु०)। अप्रमाणम् - न प्रमाणम् (न०तत्पु०)। अधीयते - अधि+इ+कर्मवाच्य प्र०पु०ए०व०। आप्तवाचः आप्ताः वाचः येषां ते

तादृशा: आप्तवाच: (ब०ब्री०)।

कोष—'वञ्चनञ्चाभिसन्धानं व्यालीकञ्च प्रतारणम्' – इति हैमः। 'किल शब्दस्तु वार्तायां सम्भाव्यनुनयार्थयोः' – इति विश्वः।

अलङ्कार—(१) परातिसन्धान पर विद्या का आरोप है अत: **'रूपक'** अलङ्कार है। ल०द्र० २/१६ श्लो०। (२) यहाँ प्रस्तुत विशेष शकुन्तला, दुष्यन्त न कहकर 'यो जनः' आदि अप्रस्तुत का कथन किया गया है इससे वैधर्म्य प्रयुक्त **'अप्रस्तुतप्रशंसा'** अलङ्कार है। ल०द्र० १/१७ श्लो०। अथवा 'तस्य जनस्य वचनमप्रमाणम्' – उस व्यक्ति का कहना अप्रमाणिक है? अपितु नहीं है। 'ते आप्तवाच: सन्तु' वे आप्तवचन (सत्यवादी) कहलायें! – अर्थात् नहीं कहलाये, इस प्रकार काकुध्वनि से साधर्म्य से **अप्रस्तुतप्रशंसा** अलङ्कार है। इस साधर्म्य-वैधर्म्य दोनों प्रकार से **अप्रस्तुतप्रशंसा** अलङ्कार है।

छन्द—उपजाति छन्द है। ल०द्र० २/१७ श्लो०।

टिप्पणी—(१) यथार्थवक्ता को आप्त कहा जाता है – आप्तस्तु यथार्थवक्ता। (२) **किल** – श्लोक में **किल** शब्द का प्रयोग सम्भावना में हुआ है—'किलशब्दस्तु सम्भाव्यनुनयार्थयोः' (३) इस श्लोक में व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानता है। अभिप्राय यह निकलता है कि शकुन्तला का कथन प्रामाणिक है तथा दुष्यन्त का असत्य अर्थात् वह असत्यवादी है। (४) यहाँ **'द्रव'** नामक **विमर्श** सन्धि का अङ्ग है। लक्षण—द्रवो गुरुव्यतिक्रान्तिः शोकावेगादिसम्भवा।

राजा—भोः सत्यवादिन् अभ्युपगतं तावदस्माभिरेवम्। किं पुनरिमामतिसन्धाय लभ्यते?

व्या० एवं श०—अतिसन्धाय = ठग कर। अभ्युपगतम् – अभि+उप+गम्+क्त = मान लिया जाय, स्वीकार कर लिया जाय।

राजा—हे सत्यवादी, अच्छा मेरे द्वारा (जैसा आप कहते हैं) वैसा मान लिया गया। (अर्थात् मैंने मान लिया कि मैं झूठा हूँ)। किन्तु इस (स्त्री) को ठगकर (मुझे) क्या मिलेगा?

शार्ङ्गरवः—विनिपातः।

व्या० एवं श०—विनिपातः – वि०नि० पत्+घञ् = पतन।

शार्ङ्गरव—अध:पतन (मिलेगा)।

राजा—विनिपातः पौरवैः प्रार्थ्यत इति न श्रद्धेयमेतत्।

व्या० एवं श०—श्रद्धेयम् = श्रद्धा या विश्वास के योग्य।

राजा—पौरवों (पुरुवंश में उत्पन्न राजाओं) के द्वारा अध:पतन चाहा जाता है (अर्थात् पुरुवंशी राजा अपना अध:पतन चाहते हैं)—यह विश्वास के योग्य नहीं है।

शारद्वतः—शार्ङ्गरव, किमुत्तरेण। अनुष्ठितो गुरोः सन्देशः। प्रतिनिवर्तामहे वयम्। (राजानं प्रति)—

व्या० एवं श०—अनुष्ठितः – अनु+स्था+क्त = कर लिया गया। प्रतिनिवर्तामहे – **प्रति+नि+वृत् उ०पु०ब०व० = लौट चलें।**

शारद्वत—शार्ङ्गरव, उत्तर देने से क्या (लाभ)? (हम लोगों द्वारा) गुरुजी का सन्देश

पूरा कर दिया गया (अर्थात् कह दिया गया) हम लोग लौट चलें। (राजा से)—

तदेषा भवतः कान्ता त्यज वैनां गृहाण वा।
उपपन्ना हि दारेषु प्रभुता सर्वतोमुखी।। २६ ।।

अन्वय—तत् एषा भवतः कान्ता, एनां त्यज वा गृहाण वा, हि दारेषु सर्वतोमुखी प्रभुता उपपन्ना।

शब्दार्थ—तत् = तो। एषा = यह। भवतः = आपकी। कान्ता = पत्नी (अस्ति)। एनाम् = इसको। त्यज = छोड़ो। वा गृहाण वा = अथवा ग्रहण (स्वीकार) करो। हि = क्योंकि। दारेषु = पत्नी पर। सर्वतोमुखी = (पति की) सभी प्रकार की। प्रभुता = प्रभुता (अधिकार)। उपपन्ना = स्वीकार की गयी है (मानी गयी है)।

अनुवाद—तो यह (शकुन्तला) आप की प्रेयसी (पत्नी) है, इसको आप छोड़ें अथवा ग्रहण करें। क्योंकि पत्नी पर (पति की) सभी प्रकार की प्रभुता (अधिकार) मानी गयी है।

संस्कृत व्याख्या—तत् – तस्मात् , **एषा** – इयं शकुन्तला, **भवतः** – दुष्यन्तस्य, **कान्ता** – पत्नी, **अस्तीति** – शेषः, **एनाम्** – इमाम् , **त्यज** – परित्यागं कुरु, **वा गृहाण वा** – वा स्वीकुरु वा; **हि** – यतः, **दारेषु** – पत्न्याम् पत्युरितिशेषः, **सर्वतोमुखी** – सर्वप्रकारा, **प्रभुता** – स्वामित्वम् , **उपपन्ना** – स्वीकृता।

संस्कृत-सरलार्थः—एषा शकुन्तला भवतो दुष्यन्तस्य पत्नी वर्तते। इच्छानुसारम् अस्या त्यागं ग्रहणं वा करोतु, यतो हि पत्नीषु पत्युः सर्वतोमुखी-अधिकारः स्वीकृतो धर्मावलम्बिभिरिति।

व्याकरण—उपपन्ना – उप+पद्+क्त+टाप्। दारेषु – दारयन्ति भ्रातृन् दाराः दृ विदारणे से णिच् तथा घञ् = सप्तमी ब०व०।

कोष—'भार्या जायाथ पुंभूम्नि दाराः'।

अलङ्कार—उत्तरार्द्धगत सामान्य अर्थ से पूर्वार्द्धस्थित विशेष अर्थ का समर्थन होने से **अर्थान्तरन्यास** अलङ्कार है। ल०द्र० १/२ श्लो०।

छन्द—यहाँ **अनुष्टुप्** छन्द है। ल०द्र० १/५ श्लो०।

टिप्पणी—(१) यहाँ **अक्षमा** नामक नाट्यलङ्कार है। लक्षण—'अक्षमा सा परिभवः स्वल्पोऽपि नाभिसह्यते'। (२) पूर्वपरुष गुरुजनों के कीर्तन से **प्रसङ्ग** नामक विमर्श सन्धि का अङ्ग है। लक्षण—'प्रसङ्गो गुरुकीर्तनम्'। (३) **उपपन्ना... प्रभुता सर्वतोमुखी** – प्राचीन काल में पत्नी पर पति का पूर्ण अधिकार माना जाता था। अग्निपुराण में कहा भी गया है—'भर्ता हि दैवतं स्त्रीणां भर्ता हि गतिरुच्यते। प्रतिमा नाटक में आया है – भर्तृनाथा हि नार्यः। (४) **दारेषु** – स्त्रीवाचक 'दार' शब्द पुँलिङ्ग और नित्य बहुवचनान्त है।

गौतमी—गच्छाग्रतः। (इति प्रस्थिताः)

गौतमी—आगे आगे चलो। (सभी प्रस्थान कर देते हैं)।

शकुन्तला—कथमनेन कितवेन विप्रलब्धाऽस्मि ? यूयमपि मां परित्यजथ। (कहं इमिणा किदवे वप्पलद्ध म्हि ? तुम्ह वि मं परिच्चअह।) (इत्यनुप्रतिष्ठते)।

व्या० एवं श०—कितवेन – धूर्त के द्वारा। विप्रलब्धा – वि+प्र+लम्भ+क्त = ठगी गयी।

शकुन्तला—इस धूर्त के द्वारा मैं कैसी ठगी गयी हूँ ? तुम लोग भी मुझे छोड़ रहे हो)। (पीछे-पीछे चलने लगती है)।

गौतमी—(स्थित्वा) **वत्स शार्ङ्गरव, अनुगच्छतीयं खलु नः करुणपरिदेविनी शकुन्तला। प्रत्यादेशपरुषे भर्तरि किं वा मे पुत्रिका करोतु ?**

(वच्छ संगरव, अणुगच्छदि इअं क्खु णा करुणपरिदेविणी सउन्दला। पच्चादेस परुसे भत्तुणि किं वा मे पुत्तिआ करेदु ?)

व्या० एवं श०—करुणपरिदेविनी – करुणेन परिदीव्यतीति सा – करुण विलाप करती हुई। (विलापः परिदेवनम्)। प्रत्यादेशपरुषे भर्तरि – प्रत्यादेशेन परुषे। तृ०तत्पु०। प्रति+आ+दिश्+घञ् – तृ०ए०व० – प्रत्यादेशः तेन परुषे। परित्याग के कारण दारुण होने पर, (पति के काठोरता पूर्वक परित्याग कर देने पर) यह पद भर्तरि का विशेषण है। पुत्रिका = बेचारी पुत्री (शकुन्तला)। पुत्री+कन्+टाप् – ई को ह्रस्व।

गौतमी—(रुककर) बेटा, शार्ङ्गरव, करुण विलाप करती हुयी यह शकुन्तला हम लोगों के पीछे-पीछे आ रही है। पति के निष्ठुर परित्याग कर दिये जाने पर (अब) मेरी बिटिया क्या करे ?

शार्ङ्गरवः—(सरोषं निवृत्य) **किं पुरोभागे, स्वातन्त्र्यमवलम्बसे।**

व्या० एवं श०—पुरोभागे – पुरो भागः यस्याः सा – पुरस्+भाग+टाप् – पुरोभागा सम्बोधन में पुरोभागे = पहले हिस्सा मांगने वाली अर्थात् झगड़ालू (हर काम में आगे आने वाली दुष्ट, नीच, निर्लज्ज)। स्वातन्त्र्यम् – स्वः आत्मा तन्त्रं प्रधानं स्वतन्त्रः स्वतन्त्रय भावः – स्वतंत्र+ष्यञ् = स्वतन्त्रता को। अवलम्बसे – अव+लम्ब्+म०पु०ए०व० = आश्रय (सहारा) ले रही हो ?

शार्ङ्गरव—(मुड़कर क्रोधपूर्वक) अरी दुष्टा, क्यों तुम स्वतन्त्रता का सहारा ले रही हो !

(शकुन्तला भीता वेपते)

(शकुन्तला डरकर काँपने लगती है)।

शार्ङ्गरवः—शकुन्तले, शार्ङ्गरव—शकुन्तला,

यदि यथा वदति क्षितिपस्तथा
त्वमसि किं पितुरुत्कुलया त्वया।
अथ तु वेत्सि शुचि व्रतमात्मनः
पतिकुले तव दास्यमपि क्षमम्।। २७।।

अन्वय—यथा क्षितिपः वदति यदि त्वं तथा असि, उत्कुलया त्वया पितुः किम् ? अथ तु आत्मनः व्रतं शुचि वेत्सि, पतिकुले तव दास्यम् अपि क्षमम्।

शब्दार्थ—यथा = जैसा। क्षितिपः = राजा। वदति = कह रहे हैं। यदि = यदि। त्वम् = तुम। तथा = वैसी (ही) हो। उत्कुलया = कुल (की मर्यादा) का उल्लङ्घन करने वाली, (कुलकलङ्किनी)। त्वया = तुमसे। पितुः = पिता का। किम् = क्या (प्रयोजन)। अथ तु = और यदि। आत्मनः = अपने। व्रतम् = व्रत को (आचरण को)। शुचि = पवित्र। वेत्सि = समझती हो (तो)। पतिकुले = पति के घर में। तव = तुम्हारी। दास्यम् = दासता। अपि = भी। क्षमम्

= ठीक (हितकर) है।

अनुवाद—जैसा राजा कह रहे हैं, यदि तुम वैसी (ही) हो (तो) कुलमर्यादा को भङ्ग करने वाली (कुलकलङ्किनी) तुमसे पिता का क्या (प्रयोजन) ? और यदि तुम अपने आचरण को पवित्र समझती हो (तो) पति के घर में तुम्हारी दासता (दासी के रूप में रहना) भी उचित (हितकर) है।

संस्कृत व्याख्या—**यथा** – यत् , **क्षितिपः** – राजा, **वदति** – कथयति, **यदि** – चेत्, **त्वं** – शकुन्तला, **तथा असि** – तादृशी एव असि; **उत्कुलया** – उल्लङ्घितकुलाचारपद्धत्या (कुलटया), **त्वया** – शकुन्तलया, **पितुः** – गुरोः कण्वस्य, **किं** – प्रयोजनम् , **अथ तु** – यदि त्वम्, **आत्मनः** – स्वस्य, **व्रतं** – चरित्रम् , **शुचि** – पवित्रम् , **वेत्सि** – जानासि-मनुषे (तर्हि), **पतिकुले** – भर्तृगृहे, **तव** – ते, **दास्यम् अपि** – दासीरूपेणावस्थानमपि, **क्षमम्** – समीचीनम् हितकरम् अस्ति !

संस्कृत-सरलार्थः—(त्वद्विषये) यथा राजा कथयति यदि त्वं तथैवासि तदा त्वया (शकुन्तलया) न किमपि प्रयोजनम् पितुः कण्वस्य। यदि त्वं स्वीयं चरित्रं पावनं मनुषे तदा तु पतिगृहे त्वदीयं दासत्वमपि समीचीनमस्ति। अतस्त्वयाऽत्रैव स्थातव्यं नास्माभिः सह गन्तव्यमिति भावः।

व्याकरण—क्षितिपः – क्षितिं पृथिवीं पातीति – क्षिति+पा+क = राजा। उत्कुलया उत्क्रान्ता कुलात् कुलं वा, तत्पुरुष = कुलमर्यादा से भ्रष्ट-कुलकलङ्किनी। वेत्सि – विद्+लट्+म०पु०ए०व० = समझती हो, मानती हो। दास्यम् = दासस्य भावः – दास+ष्यञ् = दासता।

अलङ्कार—यहाँ द्वितीय चरण के प्रति प्रथम चरण को तथा चतुर्थ चरण के प्रति तृतीय चरण को हेतु रूप में उपस्थित किया गया है अतः **'काव्यलिङ्ग'** अलङ्कार है। ल०द्र० १/४ श्लो०। अनुप्रास की भी स्थिति है।

छन्द—**'द्रुतविलम्बित'** छन्द है। ल०द्र० २/११ श्लो०।

टिप्पणी—शार्ङ्गरव तात्कालिक भारतीय संस्कृति का कट्टर पोषक है, जिसमें स्त्रियों की स्वतन्त्रता अवाञ्छनीय है। मनुस्मृति में कहा गया है कि स्त्री को सदा कुमारावस्था से लेकर प्रौढ़ावस्था तक पुत्र, पिता, पति आदि के संरक्षण में रहना चाहिये—'पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने'। (२) शार्ङ्गरव शकुन्तला के समक्ष दो विकल्प रखता है पहला यह कि यदि राजा के वचनानुसार शकुन्तला कुलटा है तब तो उसका पिता के घर जाना उचित नहीं है क्योंकि दुराचारिणी कन्या को कोई भी पिता अपने घर रखना उचित नहीं समझता। ऐसी कन्या से महर्षिकण्व की मर्यादा नष्ट होगी। दूसरा यह कि यदि शकुन्तला अपने को चरित्रवती समझती है तो पति के घर में उसकी दासता भी उचित है। (३) **प्रभुता सर्वतोमुखी** – इसके द्वारा पत्नी पर पति के सर्वाङ्गपूर्ण अधिकार का प्रख्यापन है। इससे कालिदासकालीन भारतीय नारी-समाज की स्थिति पर प्रकाश पड़ता है। स्त्री की पति की अधीनता के विषय में अन्यत्र भी कहा गया है जैसे—'भर्ता हि दैवतं स्त्रीणां भर्ता हि गतिरुच्यते' – अग्निपुराण।

तिष्ठ। साधयामो वयम्।

व्या० एवं श०—तिष्ठ – स्था+लोट्+म०पु०ए०व० = रुको। साधयामः – गच्छामः

= हम लोग जा रहे हैं। नाटकों में 'साधि' धातु का प्रयोग गमन अर्थ में होता है। सधि+लट्+उ०पु०ब०व०।

तुम (यहीं) ठहरो, हम लोग जा रहे हैं।

राजा—भोः तपस्विन् , किमत्रभवतीं विप्रलभसे ?

व्या० एवं श०—विप्रलभसे = छोड़कर जा रहे हैं – धोखा दे रहे हैं। वि+प्र+लम्भ्+लट्+म०पु०ए०व०।

राजा—हे तपस्वी, क्यों (इन) आदरणीया को धोखा दे रहे हो।

कुमुदान्येव शशाङ्कः सविता बोधयति पङ्कजान्येव।
वशिनां हि परपरिग्रहसंश्लेषपराङ्मुखी वृत्तिः ।। २८ ।।

अन्वय—शशाङ्कः कुमुदानि एव, सविता पङ्कजानि एव बोधयति, हि वशिनां वृत्तिः परपरिग्रहसंश्लेषपराङ्मुखी।

शब्दार्थ—शशाङ्कः = चन्द्रमा। कुमुदानि = कुमुदों को। एव = ही। सविता = सूर्य। पङ्कजानि = कमलों को। एव = ही। बोधयति = विकसित करता है। हि = क्योंकि। वशिनाम् = वशी अर्थात् इन्द्रियों को वश में रखने वालों की (जितेन्द्रियों की)। वृत्तिः = मनोवृत्ति। परपरिग्रहसंश्लेषपराङ्मुखी = परस्त्री के सम्पर्क से विमुख होती है।

अनुवाद—चन्द्रमा कुमुदों को ही और सूर्य कमलों को ही विकसित करता है। क्योंकि जितेन्द्रिय लोगों की मनोवृति परस्त्री के सम्पर्क से विमुख (होती है)।

संस्कृत व्याख्या—शशाङ्कः – चन्द्रः, **कुमुदानि एव** – कैरवाणि एव, विकासयति, **सविता** – सूर्यः, **पङ्कजानि एव** – कमलानि एव, **बोधयति** – प्रस्फुटीकरोति, **हि** – यतः, **वशिनाम्** – जितेन्द्रियानाम् , **वृत्तिः** – मनोवृत्तिः, **परपरिग्रहसंश्लेषपराङ्मुखी** – परस्त्री सम्पर्कविमुखी, **भवतीति** – शेषः।

संस्कृत-सरलार्थः—चन्द्रः कुमुदान्येव तथा सूर्यः कमलान्येव विकासयति। यतो हि जितेन्द्रियाणां पुरुषाणां मनोवृत्तिः परस्त्रीसम्पर्कविमुखी भवति। अतः ममापि मनोवृत्तिः परस्त्रीभूतायाः शकुन्तलायाः सम्पर्कात् सर्वांशतः विमुखी वर्तते।

व्याकरण—बोधयति – बुध्+णिच्+प्र०पु०ए०व०। परपरिग्रहसंश्लेषपराङ्मुखी – परेषां परिग्रहाणां संश्लेषे पराङ्मुखी (तत्पु०)। वृत्तिः – वृत्+क्तिन्।

कोष—'वृत्तिर्विवरणाजीवकैशिक्यादिप्रवर्तने' – इति मेदिनी।

अलङ्कार—(१) पूर्वार्द्ध में विद्यमान विशेष रूप अर्थ का उत्तरार्द्धगत सामान्य अर्थ से समर्थन किया गया है अतः **'अर्थान्तरन्यास'** अलङ्कार है। ल०द्र० १/२ श्लो०। (२) **बोधयति** – इस एक क्रियारूप धर्म का सम्बन्ध दो अप्रस्तुत (सूर्य-चन्द्र) पदार्थों के साथ होने से **'तुल्ययोगिता'** अलङ्कार है। ल०द्र० ३/१७ श्लो०। (३) पद्य में अप्रस्तुत चन्द्रमा तथा सूर्य का क्रमशः कमलिनी, कुमदिनी को विकसित न करने रूप समान वस्तु से प्रस्तुत दुष्यन्त द्वारा शकुन्तला को स्पर्श न करने रूप समान वस्तु की प्रतीति होने से **'अप्रस्तुतप्रशंसा'** अलङ्कार है। ल०द्र० १/१७ श्लो०।

छन्द—पद्य में **'आर्या'** छन्द है। ल०द्र० १/२ श्लो०।

टिप्पणी—इस पद्य में दुष्यन्त के कहने का अभिप्राय यह है कि जितेन्द्रिय पुरुष परस्त्री के सम्पर्क से सर्वथा विमुख होता है। ऐसी स्थिति में पुरुवंश में जन्म लेने वाला जितेन्द्रिय दुष्यन्त परस्त्रीरूप शकुन्तला को कथमपि स्वीकार नहीं कर सकता। उसके कहने का यह भाव भी प्रतीत होता है कि यदि शकुन्तला के साथ आने वाले मुनिगण (शार्ङ्गरव आदि) यह सोचते हैं कि यहाँ शकुन्तला को छोड़ देने से धीरे-धीरे कुछ दिनों के बाद उसपर (मैं दुष्यन्त) आसक्त हो जाऊँगा तो यह भी उनका भ्रम है।

शार्ङ्गरवः—यदा तु पूर्ववृत्तमन्यसङ्गाद् विस्मृतो भवांस्तदा कथमधर्मभीरुः ?

व्या० एवं श०—अन्यसङ्गाद् = अन्य (रानियों में आसक्त होने से)। विस्मृतः - वि+स्मृ+क्त = भूल गये (हैं)। अधर्मभीरुः = अधर्म से डरने वाले।

शार्ङ्गरव—जब आप अन्य (रानियों) में आसक्त हो जाने के कारण पहले ही घटना को भूल गये हैं तब अधर्म से डरने वाले कैसे (हैं)!

राजा—(पुरोहितं प्रति) **भवन्तमेवात्र गुरुलाघवं पृच्छामि।**

राजा—(पुरोहित के प्रति) आप से ही इस विषय में उचित-अनुचित पूछ रहा हूँ।

टिप्पणी—(१) **अन्यसङ्गाद्** - अन्तःपुर की अन्य रानियों में आसक्त होने के कारण यदि दुष्यन्त शकुन्तला के साथ अपने गान्धर्व-विवाह को भूल गये हैं तो फिर उनकी अधर्मभीरुता कहाँ रह जाती है ? अधर्म से डरने वाला व्यक्ति अधर्मभीरु होता है न कि अधर्म करने वाला। शार्ङ्गरव के कथन का अभिप्राय यह है कि दुष्यन्त स्वयं गान्धर्व विवाह से अङ्गीकृत अपनी पत्नीरूपा शकुन्तला का परित्याग कर अधर्मभीरु कहलाने के अधिकारी नहीं है। (२) यहाँ **उत्प्रासन** नामक नाटकीय अलङ्कार है। लक्षण है - उत्प्रासनं तूपहासो योऽसाधौ साधुमानिनि। (३) **गुरुलाघवं पृच्छामि** - (क) इसका अभिप्राय यह है कि राजा अपने पुरोहित से यह पूछना चाहता है कि प्रस्तुत प्रसङ्ग में शकुन्तला के परित्याग अथवा अङ्गीकार में कौन सा कार्य उचित और कौन सा अनुचित है ? (ख) व्याकरण की दृष्टि से गुरुलाघवम् पद का प्रयोग अनियमित है। 'अण्' प्रत्यय करने पर गुरुलघु+अण् आदि 'अच्' की वृद्धि होकर 'गौरुलघवम् प्रयोग बनना चाहिये। परन्तु इस पद का प्रयोग पतञ्जलि में भी किया गया है—'पर्यायशब्दानां गुरुलाघवचिन्ता नास्ति-महाभाष्य। वा०रा० में 'विमृश्य गुरुलाघवम्' तथा मनुस्मृति में 'आरभेत ततः कार्यं सञ्चिन्त्य गुरुलाघवम् प्रयोग हुआ है।

मूढः स्यामहमेषा वा वदेन्मिथ्येति संशये।
दारत्यागी भवाम्याहो परस्त्रीस्पर्शपांसुलः॥ २९॥

अन्वय—अहं मूढः स्याम्, वा एषा मिथ्या वदेत्, इति संशये दारत्यागी भवामि आहो परस्त्रीस्पर्शपांसुलः (भवामि)।

शब्दार्थ—अहम् = मैं। मूढः = विवेकहीन (मोहग्रस्त)। स्याम् = हो रहा हूँ। वा = अथवा। एषा = यह। मिथ्या = झूठ, असत्य। वदेत् = बोल रही है। इति = इस प्रकार का। संशये = सन्देह होने पर। दारत्यागी = पत्नी-परित्यागी। भवामि होऊँ (बनूँ)। आहो = अथवा। **परस्त्रीस्पर्शपांसुल = परस्त्री के स्पर्श से दूषित (कलङ्कित) (बनूँ)।**

अनुवाद—मैं विवेकहीन हो रहा हूँ (अर्थात् मैं ही भूल रहा हूँ) अथवा यह (स्त्री) झूठ

बोल रही है-इस प्रकार का सन्देह होने पर मैं पत्नी-परित्यागी होऊँ (बनूँ) अथवा परस्त्री (दूसरे की स्त्री) के स्पर्श से दूषित (होऊँ)।

संस्कृत व्याख्या—अहं - दुष्यन्तः, **मूढः** - विवेकहीनः (मोहग्रस्तः), **स्याम्** - भवेयम् , **वा** - अथवा, **एषा** - शकुन्तला, **मिथ्या** - असत्यम् , **वदेत्** - कथयेत् , **इति संशये** - इति सन्देहे, **दारत्यागी** - पत्नीपरित्यागी, **भवामि, आहो** - अथवा, **परस्त्रीस्पर्शपांसुलः** - परकलत्रसम्पर्केण दूषितः, **भवामि** - इति शेषः।

संस्कृत-सरलार्थः—दुष्यन्तचिन्तनस्यायम्भावः - अहमेव विवेकहीनो (मन्दबुद्धिः) भवेयम् वा-एषा (शकुन्तला) मिथ्या वदेत् इति सन्देहेऽहं पत्नीपरित्यागी भवेयम् अथवा परस्त्रीसम्पर्कदूषितःस्याम् !

व्याकरण—परस्त्रीस्पर्शपांसुलः - परस्य स्त्रियाः स्पर्शेन पांसुलः (तत्पु०)।

कोष—'आहो उताहो, किमुत विकल्पे, किं किमुत च' - इत्यमरः।

टिप्पणी—(१) राजा किंकर्त्तव्यविमूढ हो गया है। राजा का कहना है कि या तो मैं विवेकहीन (मोहग्रस्त) हो गया हूँ जिससे शकुन्तला के विवाह का स्मरण नहीं कर पा रहा हूँ अथवा यह (शकुन्तला) झूठ बोल रही है कि उसके साथ मेरा विवाह हुआ है। यदि यह बात सत्य है कि शकुन्तला के साथ मेरा विवाह हुआ है तब तो मेरे ऊपर अपनी पत्नी के परित्याग का महादोष (महापाप) लगेगा। यदि शकुन्तला परस्त्री है और उसकी बातों में आकर उसे अपने पास रख लेता हूँ तो निश्चय ही परस्त्रीसम्पर्क से मैं दूषित बनूँगा। इस प्रकार राजा पुरोहित से पूछ रहा है। (२) **परस्त्रीस्पर्शपांसुलः** - भोः सत्यवादिन् से लेकर यहाँ तक उत्तर-प्रत्युत्तर होने से **विरोध** नामक **विमर्श** सन्धि का अङ्ग है। लक्षण—उत्तरोत्तरवाक्यं तु विरोध इति संज्ञितः।

पुरोहितः—(विचार्य) **यदि तावदेवं क्रियताम्।**

पुरोहित—(विचार कर) यदि (ऐसी बात है) तो इस प्रकार कीजिये।

राजा—अनुशास्तु मां भवान्।

व्या० एवं श०—अनुशास्तु - अनु+शास्+लोट्+प्र०पु०ए०व० = आज्ञा दें।

राजा—आप मुझे आदेश दें।

पुरोहितः—अत्रभवती तावदाप्रसवादस्मद्गृहे तिष्ठतु। कुत इदमुच्यते इति चेत् - त्वं साधुभिरादिष्टपूर्वः प्रथममेव चक्रवर्तिनं पुत्रं जनयिष्यसीति। स चेन्मुनिदौहित्रस्तल्लक्षणोपपन्नो भविष्यति, अभिनन्द्य शुद्धान्तमेनां प्रवेशयिष्यसि। विपर्यये तु पितुरस्याः समीपनयनमवस्थितमेव।

व्या० एवं श०—आप्रसवात् = सन्तानोत्पत्ति तक। 'आ' के योग में 'पञ्चम्यपाङ्परिभिः' सूत्र से पञ्चमी। कुत इदम् = 'ऐसा क्यों कहते हैं' ? यदि आप यह पूछना चाहते हैं। आदिष्टपूर्वः - पूर्वम् आदिष्टः आदिष्टपूर्वः। 'भूतपर्वे चरट्' से पूर्व का परनिपवात (ब०ब्री०) पहले ही बताया है। जनयिष्यति - जन्+णिच्+लृट्+प्र०पु०ए०व० = उत्पन्न करेगी। मुनिदौहित्रः - मुनेः+दौहित्रः (ष०त०)। दौहित्रः - दुहितुः अपत्यम् दुहितृ+अण्+प्र०पु०ए०व० = मुनि का नाती। तल्लक्षणोपयन्नः

तस्य चक्रवर्तिनः लक्षणम् तेन उपपन्नः (उप+पद+क्त) = चक्रवर्ती के लक्षण से युक्त। अभिनन्द्य – अभि+नन्द्+क्त्वा – ल्यप् = अभिनन्दन कर। प्रवेशयिष्यसि – प्र+विश्+णिच्+लृट्+म०पु०ए०व० = प्रवेश कराइयेगा। विपर्यये = विपरीत होने (अर्थात् चक्रवर्ती पुत्र के प्राप्त न होने) पर। अवस्थितमेव – अव+स्था+क्त = निश्चित ही है।

विशेष—(१) **चक्रवर्ती** के हाथ आदि में ये चिह्न माने जाते हैं,—१. अतिरिक्तः करो यस्य प्रथिताङ्गुलको मृदुः। चापाङ्कुशाङ्कितः सोऽपि चक्रवर्ती भवेत्॥ २. यस्य पादतले पद्मं चक्रं वाप्यथ तोरणम्। अङ्कुशं कुलिशं चापि स सम्राट् भविष्यति॥ **चक्रवर्ती** की व्युत्पत्ति है—चक्रे अवश्यं वर्तते इति चक्र+वृत्+णिनि (कर्तरि आवश्यके)। (२) यहाँ यह ध्येय है कि प्रवास से लौटने पर महर्षि कण्व को जब शकुन्तला के गान्धर्व-विवाह का पता चला और जब वह पतिगृह जाने के लिये तैयार हुई तो उन्होंने शकुन्तला को यह आशीर्वाद दिया कि वह शर्मिष्ठा की भाँति अपने पति की प्रिय बनेगी और उसी की भाँति चक्रवर्ती पुत्र को प्राप्त करेगी। शर्मिष्ठा अपने पति ययाति की अति प्रिय पत्नी थी और उसने 'पूरु' नामक चक्रवर्ती सम्राट् पुत्र को जन्म दिया था। ययतेरिव शर्मिष्ठा भर्तुर्बहुमता भव। सुतं त्वमपि सम्राजं सेव पूरूमवाप्नुहि॥ (च०अङ्क) शकुन्तला ने भी आगे भरत नामक सम्राट् पुत्र को जन्म दिया।

पुरोहित—तो ये मान्या (शकुन्तला) (सन्तानोत्पत्ति) तक हमारे घर रहें। यदि (आप यह पूछें कि) यह (मेरे द्वारा) क्यों कहा जा रहा है ? (तो सुनें) आप को (ज्योतिर्विद्) महात्माओं द्वारा पहले ही बताया गया है कि आप सर्वप्रथम ही चक्रवर्ती पुत्र को उत्पन्न करेंगे। यदि वह मुनि (कण्व) का दौहित्र (पुत्री से उत्पन्न पुत्र) उस (चक्रवर्ती) के लक्षण से युक्त होगा, (तो) अभिनन्दन कर इन (माननीया शकुन्तला) को अन्तःपुर में प्रवेश कराइयेगा। अन्यथा (= इसके विपरीत होने पर) तो इनका (इनके) पिता (कण्व) के समीप भेजना निश्चित ही है।

राजा—यथा गुरुभ्यो रोचते।

व्या० एवं श०—गुरुभ्यो रोचते – 'रुच्यर्थानां प्रीयमाणः' सूत्र से चतुर्थी है।

राजा—जैसा गुरुजन को अच्छा लगे (वैसा ही होगा)।

पुरोहितः—वत्से, अनुगच्छ माम्।

पुरोहित—बेटी, मेरे पीछे-पीछे आओ।

शकुन्तला—भगवती वसुधे, देहि मे विवरम् (भअवदि वसुहे, देहि मे विवरं)।

व्या० एवं श०—विवरम् – वि+वृच्+अच् = छिद्र-स्थान।

शकुन्तला—हे भगवती वसुन्धरा (हे पृथ्वी माता), मुझे (अपने अन्दर) छिद्र (स्थान) दो।

(इति रुदती प्रस्थिता। निष्क्रान्ता सह पुरोधसा तपस्विभिश्च)

व्या० एवं श०—प्रस्थिता – प्र+स्था+क्त+टाप् = प्रस्थान कर दिया। निष्क्रान्ता – निष्+क्रम्+क्त = निकल गयी। पुरोधसा तपस्विभिश्च सह – यहाँ सह के योग में 'सहयुक्तेऽप्रधाने' से तृतीया विभक्ति हुई है।

(रोती हुई प्रस्थान करती है। पुरोहित और तपस्वियों के साथ निकल जाती है)।

(राजा शापव्यवहितस्मृतिः शकुन्तलागतमेव चिन्तयति)

व्या० एवं श०—शापव्यवहितस्मृतिः - शापेन व्यवहिता स्मृतिः यस्य तथोक्तः (ब०ब्री०) = शाप के कारण जिसकी स्मृति में व्यवधान पड़ गया है ऐसा।

(शाप से लुप्त स्मृति वाला राजा शकुन्तला के ही विषय में विचार करता है)।

(नेपथ्ये) **आश्चर्यमाश्चर्यम्।**

(नेपथ्य में) आश्चर्य है, आश्चर्य है।

राजा—(आकर्ण्य) **किं नु खलु स्यात् ?**

राजा—(सुनकर) क्या हो गया है ?

(प्रविश्य) **पुरोहितः**—(सविस्मयम्) **देव; अद्‌भुतं खलु संवृत्तम्।**

(प्रवेश करके) **पुरोहित**—(आश्चर्य के साथ) महाराज, बड़ा आश्चर्य हो गया है।

राजा—किमिव ?

राजा—कैसा ?

पुरोहितः—देव, परावृत्तेषु कण्वशिष्येषु—

व्या० एवं श०—परावृत्तेषु - परा+वृत्+क्त स०ब०व० = लौट जाने पर। यह पद **'कण्वशिष्येषु'** का विशेषण है।

सा निन्दन्ती स्वानि भाग्यानि बाला बाहूत्क्षेपं क्रन्दितुं च प्रवृत्ता।

पुरोहित—महाराज, कण्व के शिष्यों के लौट जाने पर—

अनुवाद—वह बाला (शकुन्तला) अपने भाग्य की निन्दा करती हुयी हाथों को उठाकर रोने लगी।

राजा—किं च ?

राजा—तब फिर क्या हुआ ?

पुरोहितः—

स्त्रीसंस्थानं चाप्सरस्तीर्थमारादुत्क्षिप्यैनां ज्योतिरेकं जगाम ।। ३० ।।

अन्वय—सा बाला स्वानि भाग्यानि निन्दन्ती बाहूत्क्षेपं रोदितुं प्रवृत्ता च। अप्सरस्तीर्थम् आरात् स्त्रीसंस्थानम् एकं ज्योतिः एनाम् उत्क्षिप्य जगाम च।

शब्दार्थ—सा बाला = वह अप्रगल्भा (शकुन्तला), स्वानि भाग्यानि = अपने भाग्य की। निन्दन्ती = निन्दा करती हुई। बाहूत्क्षेपम् = बाँह उठाकर। रोदितुं प्रवृत्ता च = रोने लगी। अप्सरस्तीर्थम् = अप्सरा तीर्थ के। आरात् = समीप। स्त्रीसंस्थानम् = स्त्री के समान आकार वाली। एकं ज्योतिः = एक ज्योति (तेजोमयी मूर्ति)। एनाम् = उसको। उत्क्षिप्य = (गोद में) उठाकर। जगाम = चली गयी।

पुरोहित—शची-तीर्थ (अप्सरा-तीर्थ) के पास ही स्त्री के समान आकार वाली एक

ज्योति (तेजोमयी मूर्ति) उस (शकुन्तला) को उठाकर चली गयी (अर्थात् अदृश्य हो गयी)।

संस्कृत व्याख्या—सा बाला - अप्रगल्भा (शकुन्तला), **स्वानि** - स्वीयानि, **भाग्यानि** – भागधेयानि, **निन्दन्ती** – अधिक्षिपन्ती, **बाहूत्क्षेपम्** - भुजौ-उत्थाप्य, **रोदितुं** - क्रन्दितुं, **प्रवृत्ता च** – प्रारब्धवती च। (तस्मिन्नेव काले) **अप्सरस्तीर्थम् आरात्** - अप्सरस्तीर्थस्य (शचीतीर्थस्य) समीपे, **स्त्रीसंस्थानम्** – रमण्याकारम् , **एकंज्योतिः** – एकस्तेजोपुञ्जः, **एनाम्** – तां शकुन्तलाम् , **उत्क्षिप्य** – स्वक्रोडे-उत्थाप्य, जगाम-(आकाशं) गतम्।

संस्कृत-सरलार्थः—यदैव सा बाला (शकुन्तला) निजभाग्यमधिक्षिपन्ती बाहूत्क्षेपं विलपितुं प्रवृत्ता तदैव शचीतीर्थस्य समीपे एव स्त्रीशरीराकारम् एकं दिव्यं तेजस्तां स्वक्रोडे निधायाकाशम्प्रति जगामेति भावः।

व्याकरण—निन्दन्ती - निन्द शतृ+ङीप्। बाहूत्क्षेपम् - बाहु+उत्+क्षिप्+णमुल्। अप्सरस्तीर्थम् - अप्सरसः तीर्थम् (ष०त०)। आरात् - यह अव्यय है। इसके दूर और समीप दोनों अर्थ होते हैं। यहाँ समीप अर्थ है। स्त्रीसंस्थानम् - स्त्रियाः संस्थानमिव संस्थानं यस्य तत् (ब०ब्री०)। उत्क्षिप्य - उत्+क्षिप्+क्त्वा ल्यप्। जगाम - गम्+लिट्+प्र०पु०ए०व०।

कोष—'आराद् दूरसमीपयोः' - इत्यमरः।

अलङ्कार—(१) श्लोक में पूर्वार्द्ध एवं उत्तरार्द्ध में दो चकार ('च प्रवृत्ता एवं चाप्सरसस्तीर्थ') से दो क्रियाओं रोदन तथा गमन की एक साथ प्रतीति होने से **'समुच्चय'** अलङ्कार है। ल०द्र० २/५ श्लो०। (२) स्त्रीसंस्थानम् - स्त्रिया संस्थानमिव संस्थानं यस्य तत् में **समासवाचक लुप्तोपमा** अलङ्कार है। ल०द्र० १/५ श्लो०।

छन्द—श्लोक में **'शालिनी'** छन्द है। उसका लक्षण है—'शालिन्युक्ता म्लौ तगौ गोऽब्धिलोकैः'।

(सर्वे विस्मयं रूपयन्ति) (सभी लोग आश्चर्य का अभिनय करते हैं)

राजा—भगवन्, प्रागपि सोऽस्माभिरर्थः प्रत्यादिष्ट एव। किं वृथा तर्केणान्विष्यते विश्राम्यतु भवान्।

व्या० एवं श०—प्रत्यादिष्टः - प्रति+आ+दिश्+क्त = निराकरण-परित्याग कर दिया गया। अन्विष्यते - अनु+इष्+कर्मवाच्य यक् लट् प्र०पु०ए०व० = खोजा जा रहा है। विश्राम्यतु - वि+श्रम+लोट्+प्र०पु०ए०व० = विश्राम करें।

राजा—भगवन्, पहले भी हम लोगों द्वारा उस (शकुन्तला रूप) वस्तु का निराकरण कर दिया गया था। (अब) आप व्यर्थ के तर्क से (उसको) क्यों खोजते हैं ? आप विश्राम कीजिये।

पुरोहितः—(विलोक्य) **विजयस्व**। (इति निष्क्रान्तः)।

पुरोहित—(देखकर) आप की विजय हो। (निकल जाता है)।

राजा—वेत्रवति, पर्याकुलोऽस्मि। शयनभूमिमार्गमादेशय।

व्या० एवं श०—विजयस्व - वि+जि+लोट्+म०पु०ए०व० = विजय हो। यहाँ

विपराभ्या जे: से आत्मने पद हुआ है। पर्याकुल: – परि-अतिशयेन आकुल: (प्रा०स०) परि+आकुल: = यण् सन्धि = व्याकुल (व्यग्र)। आदेशय – आ+दिश्+णिच् – लोट्०म०पु०ए०व० = बताओ।

राजा—वेत्रवती, मैं व्याकुल हो गया हूँ। शयन-स्थान का मार्ग बताओ।

प्रतीहारी—इत इतो देवः। (इदो इदो देवो।) (इति प्रस्थिता)।

प्रतीहारी—महाराज, इधर से, इधर से (आइये)। (चल पड़ती है)।

कामं प्रत्यदिष्टां स्मरामि न परिग्रहं मुनेस्तनयाम्।
बलवत्तु दूयमानं प्रत्याययतीव मां हृदयम्।। ३१।।

अन्वय—कामं प्रत्यदिष्टां मुनेः तनयां परिग्रहं न स्मरामि, तु बलवत् दूयमानं हृदयं मां प्रत्याययति इव।

शब्दार्थ—कामम् = भले ही, यद्यपि। प्रत्यदिष्टाम् = परित्यक्त की गयी, तिरस्कृत की गयी। मुनेः = मुनि की। तनयाम् = पुत्री को। परिग्रहम् = पत्नी के रूप में। न = नहीं। स्मरामि = स्मरण कर पा रहा हूँ। तु = तथापि। बलवत् = अत्यधिक। दूयमानम् = दुःखित होता हुआ। हृदयम् = हृदय। माम् = मुझको। प्रत्याययति इव = मानो विश्वास दिला रहा है।

अनुवाद—यद्यपि परित्यक्त (तिरस्कृत) की गयी मुनि-पुत्री (शकुन्तला) को पत्नी के रूप में (ग्रहण करने की बात को) नहीं स्मरण कर पा रहा हूँ, तथापि अत्यधिक दुःखित होता हुआ (मेरा) हृदय मुझको मानो विश्वास दिला रहा है (कि वह मेरी पत्नी है)।

संस्कृत व्याख्या—कामं – यद्यपि, **प्रत्यादिष्टां** – सम्प्रत्येव परित्यक्ताम्, **मुनेः** – कण्वस्य, **तनयां** – पुत्रीम् (शकुन्तलाम्), **परिग्रहं** – पत्नीम् (इति), **न** – नहि, **स्मरामि** – विभावयामि, **तु** – तथापि, **बलवत्** – अत्यधिकम्, **दूयमानं** – पीड्यमानम्, **हृदयं** – मम मनः, **मां** – दुष्यन्तम्, **प्रत्याययति इव** – विश्वासमुत्पादयति इव।

संस्कृत-सरलार्थः—यद्यपि सम्प्रत्येव परित्यक्तां मुनिपुत्रीं शकुन्तलां स्वपत्नीरूपेण न विभावयामि, परन्तु नितरां पीड्यमानं मम चित्तं विश्वासयतीव यदेषा मया परिणीतपूर्वेति।

व्याकरण—प्रत्यादिष्टाम् – प्रति+आ+दिश्+क्त+टाप्+द्वि०ए०व०। परिग्रहम् – परिगृह्य इति परिग्रहः – परि+ग्रह+अप् (कर्मणि) तम्। दूयमानम् – दू+यक्+मुक्+शानच्। प्रत्याययति – प्रति+इ+णिच्+लट् – प्र०पु०ए०व०।

कोष—'काममिति स्वाच्छन्द्येऽनिच्छाङ्गीकारे च' – इति गणकारः।

अलङ्कार—(१) प्रत्याययतीव – में उत्प्रेक्षावाचक 'इव' के प्रयोग से यहाँ **उत्प्रेक्षा अलङ्कार** है। ल०द्र० १/१८ श्लो०। (२) पीड़ा के कारण के स्मरण न होने पर दूयमानत्व रूप कार्य हो रहा है अतः **'विभावना'** अलङ्कार है। ल०द्र० १/१८ श्लो०। दुष्यन्त के हृदय में शकुन्तला के पत्नी होने के विषय में जो विश्वास उत्पन्न हो रहा है, उसका कारण उसके हृदय की **व्याकुलता है अतः 'अनुमान' अलङ्कार है। लक्षण—'अनुमानं तदुक्तं यत् साध्यसाधनयोर्वचः।**

छन्द—यहाँ **आर्या** छन्द है। ल०द्रं० १/२ श्लो०।

टिप्पणी—(१) मुनिकन्या (गुरुकन्या) में मुनि (गुरु) का उल्लेख होने से **प्रसङ्ग** नामक विमर्श सन्धि का अङ्ग है—'प्रसङ्गो गुरुकीर्वनम्'। सा०द०। (२) शकुन्तला के प्रत्यादेश (परित्याग) की कथा की समाप्ति हो जाती है; परन्तु राजा के चित्त की व्यग्रता (व्याकुलता) शकुन्तला की प्राप्ति की ओर उसको अग्रसर कर रही है अतः **'बिन्दु'** है।

विशेष—यद्यपि दुष्यन्त ने (शाप-ग्रस्त होने के कारण) पुरानी घटना की स्मृतिके अभाव में पत्नीरूप में गृहीत शकुन्तला का परित्याग कर दिया, पर उसके (शकुन्तला के) चले जाने के बाद उनका (दुष्यन्त का) सच्चा हृदय व्याकुल होते हुये उन्हें मानो यह विश्वास दिला रहा है कि 'शकुन्तला उनकी पत्नी है।' वस्तुतः शाप उनकी विस्मृति का कारण है और धार्मिक एवं सामाजिक परितिस्थियों ने उनके द्वारा अपनी ही प्रिय पत्नी का इसलिये परित्याग (तिरस्कार) करा दिया, क्योंकि वह परस्त्री समझ ली गयी। अब दुष्यन्त के सच्चे हृदय की व्यग्रता शकुन्तला के पत्नीत्व का परिचायक बन रहा है।

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

(सभी निकल जाते हैं)

।। इति पञ्चमोऽङ्कः ।।

।। पञ्चम अङ्क समाप्त ।।

षष्ठोऽङ्कः

(ततः प्रविशति नागरिकः श्यालः पश्चाद् बद्धपुरुषमादाय रक्षिणौ च)

व्याकरण एवं शब्दार्थ—नागरिकः – नगरं रक्षति (नगर+ठक्) नगरे नियुक्तः – नागरिकः = नगर रक्षाधिकारी। श्यालः (राज्ञः) श्यालः = (राजा का) = साला (कोतवाल)। बद्धपुरुषम् = बाँधे हुये पुरुष को। आदाय – आ+दा+क्त्वा+ल्यप् = लेकर। रक्षिणौ = रक्षक (सिपाही)। रक्ष्+णिनि = रक्षिणौ प्र०द्वि०व०।

(तत्पश्चात् नगर-रक्षाधिकारी राजा का साला और उसके पीछे बँधे हुये पुरुष को लेकर दो रक्षक (सिपाही) प्रवेश करते हैं।)

टिप्पणी—(१) नागरिकः – नगर की रक्षा में नियुक्त अधिकारी इसे कोष्ठपाल (कोतवाल) भी कहा जाता था। यह राजा का साला होता था। इसीलिये 'राजश्याल' भी कहा जाता था। उसे 'राष्ट्रिय', 'राष्ट्रियश्याल' एवं 'शकार' भी कहा जाता था। यह हीन कुल की स्त्री से उत्पन्न होता था। साहित्यदर्पण में शकार का यह लक्षण दिया गया है—'मदभूर्खताभिमानी दुष्कुलतैकश्वर्यसंयुक्तः। सोऽयमनूढाभ्राता राज्ञः श्यालः शकार इत्युक्तः॥' शकारी बोली का प्रयोग करने के कारण इसका नाम शकार पड़ा है—भाषाप्रायत्वात् शकारो राष्ट्रियः स्मृतः। अमरकोष में राजा के साला को 'राष्ट्रिय' कहा गया है—'राज्ञः श्यालस्तु राष्ट्रियः' – इत्यमरः। दशरूपक में म्लेच्छ, आभीर, शकार आदि को उपयोगी बताया गया है—'म्लेच्छाभीरशकाराद्याः स्वस्वकार्योपयोगिनः'।

रक्षिणौ—(ताडयित्वा) **अरे कुम्भीरक, कथय कुत्र त्वयैतन्मणिबन्धनोत्कीर्णनामधेयं राजकीयमङ्गुलीयकं समासादितम्?** (अले कुम्भीलआ, कहेहि कहिं तुए एशे मणिबन्धणुक्किण्णामहेए लाअकीअए अंगुलीअए शमाशादिए?)

व्या० एवं श०—कुम्भीरक = चोर। इस पद की व्युत्पत्ति कई प्रकार से की जाती है। (क) कुम्भिनं हस्तिनम् ईरयति (कुम्भिन्+ईर+अण्+क (स्वार्थे) जो हाथी को जल से भगा देता है अर्थात् मगर। यह अभिधेय अर्थ है पर चोरी से पकड़ने के कारण उसका लाक्षणिक अर्थ 'चोर' होता है क्योंकि 'चोर' भी सब कुछ चोरी से ही लेता है। (ख) कु (पृथिवी)+भिद् – गौण अर्थ मिट्टी की दीवाल, उसे तोड़ने वाला (दीवाल तोड़कर – दीवाल में सेंध लगाकर घर में घुसने वाला) चोर। इस तरह 'कुम्भीरक' यह शब्द निपातन से बनता है। (ग) कुछ विद्वान् इस पद की व्युत्पत्ति इस प्रकार करते है—कुम्भी स्वल्पं कुम्भं घटं धनपूर्णं राति गृह्णाति इति कुम्भीरः स एव कुम्भीरकः। 'नाममाला' मे कहा गया है—'कुम्भीरके गण्डपदस्तस्करश्च मलिम्लुचः।' अमरकोष में मगर के दो नाम कहे गये हैं—(१) नक्र, (२) कुम्भीर – 'नक्रस्तु कुम्भीरः' – इत्यमरः। **मणिबन्धनोत्कीर्णनामधेयम्**—मणेः बन्धनं यत्र तत् मणिबन्धनम्, उत्कीर्णं नामधेयं यत्र तत् उत्कीर्णनामधेयम्, मणिबन्धनं च तत् उत्कीर्णनामधेयम् (कर्मधारय समास) = जिस पर मणि जड़ी हुई है और (राजा का) नाम खुदा है। यह पद 'अङ्गुलीयकम्' पद का विशेषण है। **समासादितम्** = प्राप्त किया।

दोनों सिपाही—(पीटकर) अरे चोर, बताओ मणिजटित और जिस पर नाम खुदा हुआ है ऐसी यह राजा की अङ्गूठी तुमने कहाँ पायी ?

पुरूषः—(भीतिनाटितकेन) **प्रसीदन्तु भावमिश्राः, अहं नेदृशकर्मकारी ।** (पशीदन्तु भावमिश्शे । हगे ण ईदिशकम्मकाली ।)

व्या० एवं श०—भीतिनाटितकेन – भीतेः भयस्य नाटितकं नाटनं तेन = भय का अभिनय कर । प्रसीदन्तु – प्र+सद्+लोट्+प्र०पु०बहु० वचन = प्रसन्न हो । भावमिश्राः – भावाः विद्वांसः तेषु मिश्रा गौरवान्विताः इति यावत् श्रेष्ठाः = (सम्मान्य) आप लोग । 'मान्यो भावस्तु वक्तव्यः' इस वचन के अनुसार 'भाव' शब्द का प्रयोग किया गया है । ईदृशकर्मकारी – ईदृशं कर्म करोतीति ताच्छीले णिनि – ईदृशकर्म+कृ+णिनि = ऐसा (नीच) कर्म करने वाला ।

पुरुष—(भय के अभिनय के साथ) आदरणीय आप लोग (मुझपर) प्रसन्न हों । मैं इस प्रकार का काम (अर्थात् चोरी) करने वाला नहीं हूँ ।

प्रथमः—किं शोभनो ब्राह्मण इति कलयित्वा राज्ञा प्रतिग्रहो दत्तः ? (किं शोहणे बम्हणेत्ति कलिअ रण्णा पडिग्गहे दिण्णे ?)

व्या० एवं श०—प्रतिग्रहः = दान । कलयित्वा – कल+णिच्+क्त्वा = जानकर । दत्तः – दा+क्त = दिया ।

प्रथम—(सिपाही) क्या 'सुयोग्य ब्राह्मण (हो)' – ऐसा समझकर राजा ने (तुम्हें यह) दान दिया है ?

पुरुषः—श्रृणुतेदानीम् । अहं शक्रावताराभ्यन्तरालवासी धीवरः । (शुणध दाणिं हगे शक्कावदालब्भंतरालवाशी धीवले ।)

व्या० एवं श०—श्रृणुत+इदानीम् – गुण सन्धि । श्रृणुत – श्रु+लोट्+म०पु० बहु० वचन = सुनिये । शक्रावताराभ्यन्तरालवासी – शक्रावतार नामक तीर्थ में रहने वाला । अवतारः – अव+तृ+घञ् । शक्रस्य अवतारः शक्रावतारः शक्रवतारस्य अभ्यन्तराले वसतीति (वस्+णिनि) । धीवरः = मल्लाह । 'कैवर्ते दासधीवरौ' – इत्यमरः ।

विशेष—धीवर 'मागधी' भाषा बोलता है । भरत के अनुसार राक्षस, शकार, धीवर आदि की भाषा मागधी होती है । मागधी में 'र' के स्थान पर 'ल' तथा 'स' या 'ष' के स्थान पर 'श' का प्रयोग होता है ।

पुरुष—अब सुनिये । मैं शक्रावतार (नामक तीर्थ) में रहने वाला मल्लाह हूँ ।

द्वितीयः—पाटच्चर, किमस्माभिर्जातिः पृष्टा ? (पाडच्चली, किं अम्मेहिं जादी पुच्छिदा ?)

व्या० एवं श०—पाटच्चरः अथवा पटयन् चरति – इति पटच्चरः स एव पाटच्चरः स्वार्थे अण् = वस्त्र से अपने मुख आदि को ढककर घूमता है – चोर । 'दस्युः पाटच्चरस्तेनः' पृष्टा – पृच्छ+क्त+टाप् = पूछी । पाटयन् चरति व्यवहरति इति पाटयन्+चर्+अच् 'य' लोप ।

द्वितीय (सिपाही)—अरे चोर, क्या हम लोगों ने तुम्हारी जाति पूछी है ?

श्यालः—सूचक, कथयतु सर्वमनुक्रमेण । मैनमन्तरा प्रतिबधान । (सूअअ, कहेदु शव्वं अणुक्कमेण । मा णं अन्तरा पडिबन्धह ।)

व्या० एवं श०—सूचक ! सूचयति ज्ञापयति चौरादीन् सूचकः तत्सम्बुद्धौ सूचक ! =

चोर आदि की सूचना देने वाला। यह एक सिपाही का नाम है। मैनमन्तरा – मा+एनम्+अन्तरा = इसको बीच में मत। प्रतिबधान = टोको।

कोतवाल—सूचक, इसे क्रमशः सारी बात कहने दो। इसको बीच में मत टोको।

उभौ—यदावुत्त आज्ञापयति। कथय। (जं आवुत्ते आणवेदि। कहेहि।)

व्या० एवं श०—आवुत्त = बहन का भाई अर्थात् जीजा। अमरकोष के अनुसार भगिनीपति को 'आवुत्त' कहते हैं। 'भगिनीपतिरावुत्तः' रामाश्रयी टीका में इसकी व्युत्पत्ति यों दी गयी है—'आपनमाप्' संपदादि क्विप् आपमुत्तनोति – 'अन्येभ्योऽपि' से 'ड' प्रत्यय = आवुत्त। यहाँ यह पद सम्बोधन है। यद्यपि इसका शाब्दिक अर्थ 'जीजा' है परन्तु यहाँ इसका अर्थ केवल आदरसूचक है। प्रचीन काल में राजा की कई पत्नियाँ हुआ करती थीं। राजा सभी सालों को प्रमुख पदों पर नियुक्त कर देता था। सभी राजा को 'आवुत्त' कहते थे। धीरे-धीरे यह शब्द आदरसूचक बन गया और लोग बड़े अधिकारी को भी 'आवुत्त' कहने लगे।

दोनों (सिपाही)—जो श्रीमान् (आवुत्त) आज्ञा देते हैं। (तदनुसार अपनी बात) कहो।

पुरुषः—अहं जालोद्गालादिभिर्मत्स्यबन्धनोपायैः कुटुम्बभरणं करोमि। (अहके जालुग्गालादिहिं मच्छबन्धनोवाएहिं कुटुम्बभलणं कलेमि।)

व्या० एवं श०—जालोद्गालादिभिः – जालानि – आनायाश्च, उद्गालाश्च (उद्+गृ+घञ् 'अ') वडिशानि चेति जालोद्गालाम् (समाहारद्वन्द्व तथा 'जातिरप्राणिनाम्' से एक वचन) जालोद्गालमादिः येषां तै = जाल-काँटा आदि (मछली पकड़ने के साधन)। मत्स्यबन्धनोपायैः – मत्स्यानां मीनानां बन्धनस्य ग्रहणस्य उपायैः साधनैः = मछली पकड़ने के उपायों (साधनों) से। कुटुम्बभरणम् – कुटुम्बस्य – परिवारस्य भरणं पालनम् (ष०त०) = परिवार का पालन।

पुरुष—मैं जाल-काँटा (काँटा-उद्गाल) इत्यादि मछली पकड़ने के साधनों (उपायों) से (अपने) परिवार का पालन पोषण करता हूँ।

श्यालः—(विहस्य) **विशुद्ध इदानीमाजीवः।** (विसुद्धो दाणिं आजीवो)।

व्या० एवं श०—आजीवः – आजीव्यते अनेन (आ+जीव+यक्) आजीवः = आजीविका। अमरकोष में जीविका-वेतन के छः नाम हैं—आजीवो जीविका वार्ता वृत्तिर्वर्तनजीवने'।

विशुद्ध... आजीवः – यह कथन उपहासास्पद है। प्राचीन काल में जीवों की हिंसा आदि से जीविका चलाना निन्दनीय समझा जाता था। इसीलिये धीवर की जीविका पर व्यङ्ग्य् है।

कोतवाल—(हँसकर) तो (यह तुम्हारी बड़ी) पवित्र आजीविका है।

पुरुषः—

सहजं किल यद् विनिन्दितं न खलु तत्कर्म विवर्जनीयम्।
पशुमारणकर्मदारुणोऽनुकम्पामृदुरेव श्रोत्रियः॥ १॥

(शहजे किल जे विणिन्दिए ण हु दे कम्म विवज्जणी अए।
पशुमालणकम्मदालुणे अणुकम्पामिदु एव्व शोत्तिए॥)

अन्वय—विनिन्दितम् (अपि) यत् कर्म किल सहजं तत् खलु न विवर्जनीयम्, पशुमारणकर्मदारुणः श्रोत्रियः अनुकम्पामृदुः एव (भवति)।

शब्दार्थ—विनिन्दितम् = निन्दित। यत् = जो। कर्म = कार्य। किल = वस्तुतः। सहजम्

= स्वाभाविक (वंशपरम्परा-प्राप्त) हो। तत् = उसको। खलु = निश्चय ही। न = नहीं। विवर्जनीयम् = छोड़ना चाहिये। पशुमारणकर्मदारुणः = पशुहत्या जैसे कर्म के कारण कठोर (क्रूर)। श्रोत्रियः = वेदपाठी ब्राह्मण (वस्तुतः)। अनुकम्पामृदुः = कृपा (दया) से कोमल (हृदय वाला)। एव = ही (होता है, कहा जाता है)।

अनुवाद—निन्दित (भी) जो काम स्वाभाविक हो (अर्थात् वंशपरम्परा से चला आ रहा हो), उसको निश्चय ही नहीं छोड़ना चाहिये। (यज्ञों में) पशु हत्या जैसे कर्म के कारण कठोर (हृदय वाला) वेदपाठी (ब्राह्मण) वस्तुतः कृपा (दया) भाव से कोमल (ही होता है, अर्थात् कहा जाता है)।

संस्कृत व्याख्या—**विनिन्दितं** – विगर्हितम्, **यत् कर्म** – यत् कार्यम्; **किल** – वस्तुतः, **सहजं** – वंशपरम्परागतम्, **तत्** – तत्कर्म, **खलु** – निश्चयेन, **न** – नहि, **विवर्जनीयम्** – परित्याज्यम्, **पशुमारणकर्मदारुणः** – पशुवधकार्येण क्रूरः, **श्रोत्रियः** – वेदपाठी, **अनुकम्पामृदुः** – दयया कोमलहृदयः एव भवति।

संस्कृत-सरलार्थ—लोकेषु निन्दितमपि वंशपरम्पराप्राप्तं जीविकासाधनरूपकार्यं कथमपि न त्याज्यम्। सर्वजीवेषु कोमलहृदयोऽपि वेदपाठी (ब्राह्मणः) यज्ञकर्माणि पशुवधरूपं वंशपरम्पराऽगतं क्रूरं कर्म करोत्येव। अर्थात् यथा वेदपाठी स्वीयं सहजं कर्म करोति तथैवाहमपि स्वजीविकासाधनरूपं मत्स्याद्िमारणरूपं निन्दितमपि कर्म करोमीति न तत्र कश्चिद् दोषः।

व्याकरण—पशुमारणकर्मदारुणः – पशूनां मारणं यत् कर्म तेन दारुणः (तत्पु०) अनुकम्पामृदुः अनुकम्पया मृदुः (तत्पु०)। सहजम् – सह+जन्+ड (अ)। विवर्जनीयम् – वि+वृज+अनीयर। विनिन्दितम् – वि+निन्द्+क्त। पशुमारणकर्मदारुणः – पशूनां मारणं यत् कर्म तेन दारुणः (तृ०त०)। अनुकम्पामृदुः – अनुकम्पया मृदुः (तृ०त०)। श्रोत्रियः – छन्दोऽधीते, इस अर्थ से 'श्रोत्रियश्छन्दोऽधीते' से 'घ' प्रत्यय घ को इय् तथा छन्दस् को 'श्रोत्र' आदेश कर 'श्रोत्रिय' शब्द बनता है।

अलङ्कार—(१) श्लोक के पूर्वार्द्ध में वर्णित सामान्य का उत्तरार्द्ध में वर्णित विशेष से समर्थन होने के कारण **'अर्थान्तरन्यास'** अलङ्कार है। ल०द्र० १/२। (२) विशेष धीवर के प्रस्तुत रहने पर भी पूर्वार्द्ध में सामान्य के वर्णन से 'अप्रस्तुतप्रशंसा' अलङ्कार है। ल०द्र० १/१६ श्लो०। (३) अनुकम्पा करने वाले (अर्थात् दयालु) श्रोत्रिय के द्वारा पशुहत्यारूप क्रूर कर्म करने के कारण 'विषम' अलङ्कार है। ल०द्र० १/१८।

छन्द—श्लोक में 'सुन्दरी' छन्द है। लक्षण – 'अयुजो यदि सौ जगौ युजोः, सभराल्गौ यदि सुन्दरी तदा' अर्थात् जिस छन्द के प्रथम तथा तृतीय चरण में क्रमशः दो सगण (।।ऽ), जगण (।ऽ।) तथा तीप एवं चतुर्थ पाद में क्रमशः सगण, भगण, रगण, एक ल० एक गु० एवं गुरू वर्ण हो वह **'सुन्दरी'** नामक छन्द होता है। इस छन्द के प्रथम और तृतीय चरण में १०-१० वर्णों तथा द्वितीय एवं चतुर्थ चरण में ११-११ वर्णों का गुम्फन होता है।

टिप्पणी—(१) (क) **श्रोत्रियः** – पद्मपुराण में कहा गया है—ब्राह्मण जन्म से ब्राह्मण, संस्कार से 'द्विज', विधाभ्यास से विप्र और तीनों से 'श्रोत्रिय' होता है—जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः संस्कारैर्द्विज उच्यते। विधाभ्यासी भवेद्विप्रः श्रोत्रियस्त्रिभिरेव हि॥ (ख) देवल ने श्रोत्रिय का यह **लक्षण दिया है—'एकां शाखां सकल्पां वा षड्भिरङ्गैरधीत्य वा। षट्कर्मनियतो विप्रः श्रोत्रियो नाम**

धर्मवित् ॥' (२) **सहजमपि**—(क) गीता में दोषयुक्त भी सहज (वंशपरम्परा-प्राप्त) कर्म को न छोड़ने की बात कही गयी है—'सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।' (ख) मनु ने भी कहा है—'वरं स्वधर्मो विगुणो न पारम्यः स्वनुष्ठितः ।' परधर्मेण जीवन् हि सद्यः पतति जातितः ।' (ग) अन्यत्र धर्मशास्त्र में भी कहा गया है—'येनास्य पितरो याता येन याता पितामहाः । तेन यायात् सतां मार्गं तेन गच्छन्न दुष्यति ॥' (घ) इससे यह प्रतीत होता है कि कालिदास के समय में पशुबलि प्रचलित थी । यज्ञ में पशु वध करने वाला श्रोत्रिय घृणा की दृष्टि से नहीं देखा जाता था । (ङ) धीवर के कहने का अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार यज्ञ में वंशपरम्परा के अनुसार पशुवध करने वाला श्रोत्रिय घृणा का पात्र नहीं है उसी प्रकार मत्स्यादि के वध से अपनी जीविका चलाने वाला वह (धीवर) भी घृणापात्र नहीं है ।

श्यालः—ततस्ततः ? (तदो तदो ?)

कोतवाल—हाँ, तब (फिर क्या हुआ) ?

पुरुषः—एकस्मिन् दिवसे खण्डशो रोहितमत्स्यो मया कल्पितो यावत् । तस्योदराभ्यन्तर इदं रत्नभासुरमङ्गुलीयकं दृष्ट्वा पश्चादहं तस्य विक्रयाय दर्शयन् गृहीतो भावमिश्रैः । मारयत वा मुञ्चत वा । अयमस्यागमवृत्तान्तः । (एक्कशिंश दिअशे खण्डशो लोहिअमच्छे मय कप्पिदे जाव । तश्श उदलब्भन्तले एदं लदणभाशुलं अंगुलीअअं देक्खिअ पच्छा अहके शे विक्कआअ दंशअंते गहिदे भावमिश्शेहिं । मालेह वा मुचेह वा । अअं शे आअमवुत्तंते ।)

व्या० एवं श०—खण्डशः = खण्ड-खण्ड (टुकड़े-टुकड़े) । कल्पितः – कृप+क्त = किया गया, काटा गया । 'कल्पनं कर्तनं क्लृप्तौ' – इत्यमरः । तस्योदराभ्यन्तरे – तस्य उदरस्य अभ्यन्तरे = उसके पेट के भीतर । रत्नभासुरम् – रत्नेन भासुरम् (तृ०त०) = रत्न चमकती हुयी । अङ्गुलीयकम् = अँगूठी को । दर्शयन् – दृश्+णिच्+प्र०ए०व० = दिखाता हुआ । भावमिश्रैः = आदरणीय आप लोगों द्वारा । मारयत – मृ+णिच्+लो०म०ब०व० = मारिये । मुञ्चत – मुच्+लो०म०पु०ब०व० = छोड़िये । आगमवृत्तान्तः – आगमस्य वृत्तान्तः = प्राप्ति की कहानी ।

पुरुष—एक दिन रोहू (रोहित) मछली मेरे द्वारा टुकड़े-टुकड़े की गयी (अर्थात् मैने उसे काटा) । उसके पेट के भीतर रत्न से चमकती हुयी इस अंगूठी को देखा बाद में मैं उसको बेचने के लिये (व्यापारी को) दिखाता हुआ आदरणीय आप लागों द्वारा पकड़ लिया गया हूँ । (अब मुझे) मारिये अथवा छोड़िये । यही इस (अंगूठी) के मिलने की कहानी है ।

श्यालः—जानुक, विस्रगन्धी गोधादी मत्स्यबन्ध एवं निःसंशयम् । अङ्गुलीयकदर्शनमस्य विमर्शयितव्यम् । राजकुलमेव गच्छामः । (जाणुअ, विस्सगन्धी गोहादी मच्छबन्धो एव्व णिस्संअअं । अंगुलीअअदंसणं से विमरिसिद व्वं । राअउलं गच्छामो ।)

व्या० एवं श०—जानुक – यह प्रथम रक्षी का नाम है । विस्रगन्धी – विस्रस्य गन्धः अस्ति यस्य सः मत्वर्थ में इनि = कच्चे मांस की गंधवाला । गोधादी – गोधाम् अत्ति खादति = गोह खाने वाला । मत्स्यबन्धः – मत्स्यान् बध्नाति इति मत्स्य+बन्ध+अण् मत्स्यबन्धः = मछली पकड़ने वाला – मछुआ (मल्लाह) । विमर्शयितव्यम् – वि+मृश्+णिच्+तव्यत् = विचारणीय (है) । गच्छामः = गम्+लट्+उ०पु०ब०व० = चलते हैं ।

कोतवाल—जानुक, कच्चे मांस की गन्ध वाला यह निःसन्देह ही गोह भक्षी मछली

पकड़ने वाला (मल्लाह) है। इसका अङ्गूठी पाना (अर्थात् इसके अङ्गूठी पाने की कहानी) विचारणीय है।

हम लोग राजदरबार (राजकुल) में ही चलते हैं।

रक्षिणौ—तथा। गच्छ अरे गण्डभेदक। (तह। गच्छ अले गण्डभेदअ)

व्या० एवं श०—गण्डभेदक - गण्डं ग्रन्थिं भिनत्ति गण्ड+भिद्+ण्वुल् = गाँठ काटने वाला, गिरहकट।

दोनों सिपाही—ठीक है। अरे गिरहकट (गाँठ काटनेवाले, चोर) चलो।

टिप्पणी—(१) **विस्रगन्धी** - अमरकोष के 'विस्रं स्यादागन्धि यत्' इस वचन के अनुसार विस्र का अर्थ ही कच्चे मांस की गन्ध वाला है, अतः यहाँ 'विस्रगन्धी' में गन्ध शब्द अनावश्यक है - ऐसा कहा जा सकता है। परन्तु यहाँ यह कहना समीचीन है कि सम्भवतः कालिदास के समय में 'विस्र' शब्द का अर्थ केवल कच्चा मांस रहा हो और बाद में अमरसिंह के समय में, कच्चे मांस की गन्धवाला हो गया हो। (२) **गोधादी** - इस शब्द को टीकाकारों (विद्वानों) ने इसलिये अपाणिनीय घोषित किया है क्योंकि 'गोधा' शब्द के जातिवाचक होने से उससे ताच्छील्य अर्थ में 'सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये' से 'णिनि' प्रत्यय नहीं हो सकता। (३) इस शब्द का इस प्रकार से व्युत्पादन कर उसको पाणिनिसम्मत बनाया जा सकता है - पौनः पुन्येन गोधमत्ति इस अर्थ में 'बहुलमाभी क्ष्ण्ये' सूत्र से पौनः पुन्य अर्थ में णिनि हो सकता है। उक्त सूत्र जातिवाचक शब्द पहले रहने पर भी णिनि करता है।

(सर्वे परिक्रामन्ति)—(सभी घूमते हैं)

श्यालः—सूचक, इमं गोपुरद्वारेऽप्रमत्तौ प्रतिपालयतं यावदिदमङ्गुलीयकं यथागमनं भर्तुर्निवेद्य ततः शासनं प्रतीक्ष्य निष्क्रमामि। (सूअअ, इमं गोपुरदुआरे अप्पमता पडिवालह जाव इमं अंगुलीअअं जहागमणं भट्टिणों णिवेदिअ तदो सासणं पडिच्छिअ णिक्कमामि।)

व्या० एवं श०—गोपुरद्वारे - गोपुरस्य नगरस्य द्वारे = नगर के मुख्य द्वार पर। रत्नकोष के अनुसार 'गोपुर' का अर्थ केवल नगर भी है - 'पुरमात्रेऽपि गोपुरम्' वैसे अमरकोष के 'पुरद्वारं तु गोपुरम्' इस वचन के अनुसार गोपुर का अर्थ है पुरद्वार। अप्रमत्तौ - न प्रमत्तौ अप्रमत्तौ = सावधानी से। प्र+मद्+क्त। प्रतिपालतम् - प्रति+पालि म०पु०द्वि०व० = प्रतीक्षा करो। प्रतीक्ष्य - प्रति+ईक्ष्+क्त्वा - ल्यप् = प्रतीक्षा कर। भर्त्रे - भर्तृ शब्द से 'कर्मणा यमभिप्रैति...' सूत्र से सम्प्रदान संज्ञा फिर चतुर्थी विभक्ति ए०व० = स्वामी से। निष्क्रमामि - निस्+क्रम्+उ०पु०ए०व० = निकलता हूँ।

कोतवाल—सूचक, नगर के द्वार पर अप्रमादपूर्वक (अर्थात् सावधानी से) (तुम दोनों) इस (धीवर) की देखभाल करना, जब तक यह अङ्गूठी जिस प्रकार मिली है (वैसा) स्वामी से निवेदन कर और फिर (उनकी) आज्ञा को लेकर (बाहर) निकलता हूँ।

उभौ—प्रविशत्वावुत्तः स्वामिप्रसादाय। (प्रविशदु आवुत्ते शामिपशादश्श।)

व्या० एवं श०—स्वामिप्रसादाय - स्वामिनः प्रसादः तस्मै = स्वामी महाराज का प्रसाद (कृपा) प्राप्त करने के लिये।

दोनों (सिपाही)—महाराज की कृपा प्राप्त करने के लिये श्रीमान् (भीतर) प्रवेश करें।

(इति निष्क्रान्तः श्यालः)

श्याल (कोतवाल) निकल जाता है।

प्रथमः—जानुक, चिरायते खल्वावुत्तः। (जाणुअ, चिलाअदि क्खु आवुत्ते।)

व्या० एवं श०—चिर इव आचरतीति, चिर+क्यङ्+लट् प्र०पु०ए०व० = विलम्ब कर रहे हैं।

प्रथम (सिपाही)—जानुक, श्रीमान् (कोतवाल) जी विलम्ब कर रहे हैं।

द्वितीयः—नन्बसरोपसर्पणीया राजानः। (णं अवशलोवशप्पणीआ लाआणो।)

व्या० एवं श०—अवसरोपसर्पणीयाः - अवसरेण उपसर्पणीयाः उप+सृप्+अनीयर् प्र०ब०व० = यथावसर मिलने योग्य।

दूसरा (सिपाही)—राजा लोग यथावसर मिलने योग्य होते हैं (अर्थात् राजा लोगों से अवसर देखकर ही मिला जाता है)।

प्रथमः—जानुक, स्फुरतो मम हस्तावस्य वधार्थं सुमनसः पिनद्धुम्। (जाणुअ, फुल्लन्ति मे हत्था इमश्श वहश्श शुमणा पिणद्धुं।) (इति पुरुषं निर्दिशति)।

व्या० एवं श०—सुमनसः = पुष्पों की माला। पिनद्धुम् - अपि+नह्+तुमुन् = पहनाने के लिये।

विशेष—प्राचीन काल में जिसको प्राणदण्ड दिया जाता था, उसे न्यायालय से फांसी के स्थान तक लाल माला पहना कर ले जाया जाता था।

प्रथम सिपाही—जानुक, मेरे हाथ इसके बध के लिये पुष्पों की माला पहनाने हेतु फड़क रहे हैं। (पुरुष की ओर सङ्केत करता है)।

पुरुषः—नार्हति भावोऽकारणमारणं भावयितुम्। (ण अलुहदि भावे अकालणमालणं भविदुं।)

व्या० एवं श०—भावः = श्रीमान्। अकारणमारणम् - मारयतीति मारणः मृ+णिच्+ल्युट्, अकारणे मारणः सुप्सुपा समास तम् = अकारण मारने का। भावयितुम् - भू+णिच्+तुमुन् = विचार करना।

पुरुष—आप लोगों के लिये अकारण (ही) (मुझे) मारने का विचार करना उचित नहीं है।

द्वितीयः—(विलोक्य) **एष नः स्वामी पत्रहस्तो राजशासनं प्रतीक्ष्येतोमुखो दृश्यते। गृध्रबलिर्भविष्यसि, शुनो मुखं वा द्रक्ष्यसि।** (एशे अम्हाणं शामी पत्तहत्थे लाअशाशणं पडिच्छिअ इदोमुहे देखीअदि। गिद्धवली भविश्शशि, शुणो मुहं वा देक्खिश्शशि।)

व्या० एवं श०—पत्रहस्तः - पत्रं हस्ते यस्य सः (ब०ब्री०) = हाथ में पत्र लिये हुये। राजशासनम् - राज्ञः शासनम् = राजा की आज्ञा को। प्रतीक्ष्य = लेकर, प्रति+ईक्ष्+क्त्वा+ल्यप्। इतोमुखः = इधर (ही) मुख किये हुये। दृश्यते - दृश्+यक्+प्र०पु०ए०व० = दिखायी दे रहे हैं। गृध्रबलिः - गृद्धेभ्यो बलिः = गृद्धों का भोजन। द्रक्ष्यसि - दृश्+लृट्+म०पु०ए०व० = देखोगे।

विशेष—प्रचीन काल में अपराधी को फांसी पर लटका कर उसके शव को गृद्धों को खाने के लिये फेंक दिया जाता था। शुनोमुखम् - कुत्ते का मुख। प्राचीन काल में अपराधी को

आधा गाड़कर कुत्तों को छोड़ दिया जाता था। कुत्ते जीते ही उसका मांस खा जाते थे।

द्वितीय सिपाही—(देखकर) ये हमारे स्वामी हाथ में पत्र लिये हुये राजा के आदेश को लेकर इधर मुख किये हुये दिखायी पड़ रहे हैं। (अब) तु गिद्धों का भोजन (बलि) होगा अथवा कुत्तों का मुँह देखेगा।

(प्रविश्य) **श्यालः—सूचक, मुच्यतामेष जालोपजीवी। उपपन्नः खल्वस्याङ्गुलीयकस्यागमः।** (सूअअ, मुंचेदु एसो जालोअजीवी। उववण्णो क्खु से अंगुलीअअस्स आअमो।)

व्या० एवं श०—मुच्यताम् - मुच्+कर्मवाच्य-यक्+लट्+प्र०पु०ए०व० = छोड़ दिया जाय। जालोपजीवी - जालेन उपजीवति (उप+जीव+णिनि) = जाल से जीविका चलाने वाला (मल्लाह)। उपपन्नः - उप+पद्+क्त = ठीक (है)।

(प्रवेश कर) **कोतवाल**—सूचक, जाल से (मछली पकड़कर) आजीविका चलाने वाला यह (मल्लाह) छोड़ दिया जाय। इसको अङ्गूठी मिलने की (प्राप्ति की) बात ठीक है।

सूचकः—यथावुत्तो भणाति। (जह आवुत्ते भणादि।)

सूचक—जैसा श्रीमान् कहते हैं (वैसा ही करता हूँ)।

द्वितीयः—एष यमसदनं प्रविश्य प्रतिनिवृत्तः। (एशे जमशदणं पविशिअ पडिणिवुत्ते।) (इति पुरुषं परिमुक्तबन्धनं करोति)।

व्या० एवं श०—यमसदनम् - यमस्य सदनम् (ष०त०) = यमराज के घर। प्रतिनिवृत्तः - प्रति+नि+वृत्+क्त = लौट आया।

द्वितीय (सिपाही)—यह यमराज के घर जाकर लौट आया। (पुरुष को बन्धन से मुक्त कर देता है)।

पुरुषः—(श्यालं प्रणम्य) **भर्तः, अथ कीदृशो मे आजीवः?** (भट्टा, अह कीलिशे मे आजीवे?)

पुरुष—(कोतवाल को प्रणाम कर) स्वामी, मेरी आजीविका कैसी है?

श्यालः—एष भर्त्राङ्गुलीयकमूल्यसम्मितः प्रसादोऽपि दापितः। (एसो भट्टिणा अङ्गुलीअअमूल्लसम्मिदो पसादो वि दाविदो।) (इति पुरुषाय स्वं प्रयच्छति)।

व्या० एवं श०—प्रसादः - प्र+सद्+घञ् = पुरस्कार। दापितः - दा+णिच्+पुक+क्त = दिलाया गया है। अङ्गुलीयकमूल्यसम्मितः - अङ्गुलीयकस्य मूल्येन सम्मितः (त०स०) = अंगूठी के मूल्य के बराबर।

कोतवाल—महाराज के द्वारा अङ्गूठी के मूल्य के बराबर यह पुरस्कार (प्रसाद) भी दिलाया गया है। (पुरुष को धन देता है)।

पुरुषः—(सप्रणामम् प्रतिगृह्य) **भर्तः, अनुगृहीतोऽस्मि।** (भट्टा, अणुग्गहिद म्हि।)

व्या० एवं श०—भर्तः - भर्तृ शब्द का प्रथमा ए०व० का सम्बोधन में रूप है = स्वामी। अनुगृहीतः - अनु+ग्रह्+क्त।

पुरुष—(प्रणामपूर्वक लेकर) स्वामी, मैं अनुगृहीत हूँ।

सूचकः—एष नामानुग्रहो यच्छूलादवतार्य हस्तिस्कन्धे प्रतिष्ठापितः। (एशे णाम अणुग्गहे जे शूलादो अवदालिअ हत्थिक्कन्धे पडिट्ठाविदे।)

व्या० एवं श०—शूलात् = फाँसी से। अवतार्य – अव+तृ+णिच्+क्त्वा – ल्यप् = उतार कर। हस्तिस्कन्धे – हस्तिनः स्कन्धे (ष०त०) = हाथी के कन्धे पर। प्रतिष्ठापितः – प्र+स्था+णिच्+पुक्+क्त = बैठा दिया गया।

सूचक—यह अनुग्रह ही है कि शूली से उतार कर हाथी के कन्धे पर बैठा दिया गया।

जानुकः—आवुत्त, पारितोषिकं कथयति, तेनाङ्गुलीयकेन भर्तुः सम्मतेन भवितव्यम्। (आवुत्त, पालिदोशिअं कहेदि, तेण अंगुलीअएण भट्टिणो शम्मदेण होदव्वं।)

व्या० एवं श०—पारितोषिकं – परितोष+ठञ् ('प्रयोजनम्' से) = पुरस्कार। इसका शाब्दिक अर्थ परितोष देने वाला होता है। सम्मतेन = प्रिय। भवितव्यम् – भू+तव्यत् = होना चाहिये।

जानुक—श्रीमान् , पुरस्कार (देना यह) ज्ञापित करता है कि अङ्गूठी से महाराज का अत्यधिक प्रेम होना चाहिये (अर्थात् पुरस्कार देने से यह प्रतीत होता है कि महाराज को वह अङ्गूठी अत्यन्त प्रिय है)।

श्यालः—न तस्मिन् महार्हं रत्नं भर्तुर्बहुमतमिति तर्कयामि। तस्य दर्शनेन भर्तुरभिमतो जनः स्मारितः। मुहूर्तं प्रकृतिगम्भीरोऽपि पर्यश्रुनयन आसीत्। (ण तस्सिं महारूहं रदणं भट्टिणो बहुमदं त्ति तक्केमि। तस्य दंसणेण भट्टिणो अभिमदो जणो सुमराविदो। मुहुत्तअं पकिदिगम्भीरो वि पज्जसुणअणो आसि।)

व्या० एवं श०—महार्हम् = बहुमूल्य। बहुमतम् = प्रिय। अभिमतः – अभि+मन्+वर्तमान में क्त = इष्ट (प्रिय)। स्मारितः – स्मृ+णिच्+क्त = याद कराया गया। प्रकृतिगम्भीरः – प्रकृत्या गम्भीरः तृ०त०स० = स्वभाव से गम्भीर। पर्यश्रुनयनः – परिगतानि अश्रूणि ययोः ते पर्यश्रुणी तादृशे नयने यस्य सः (ब०ब्री०) = अश्रुपूरितनयन वाले।

कोतवाल—मैं अनुमान करता हूँ कि उस (अङ्गूठी) में (जड़ा गया) बहुमूल्य रत्न महाराज को प्रिय नहीं है। (किन्तु) उसको देखने से महाराज का (कोई) प्रिय व्यक्ति (उनको) याद आ गया। (क्योंकि) वे स्वभावतः गम्भीर होते हुये भी थोड़ी देर के लिये अश्रुपूरितनयन वाले (आँसू से युक्त नेत्र वाले) हो गये (अर्थात् उनके आँखों में आँसू भर गये)।

सूचकः—सेवितं नामावुत्तेन। (शेविदं णाम आवुत्तेण)।

व्या० एवं श०—सेवितम् – सेव्+क्त = सेवा की गयी।

सूचक—तब श्रीमान् (आप) के द्वारा महाराज की सेवा कर दी गयी।

जानुकः—ननु भण। अस्य कृते मात्स्यिकभर्तुरिति (णं भणाहि। इमश्श कए मच्छिआभत्तु णो त्ति।) (इति पुरुषमसूयया पश्यति)।

व्या० एवं श०—मत्स्यान् घ्नन्ति इति मात्स्यिकाः (मत्स+ठक्) तेषां भर्तुः = मछुओं के स्वामी। असूयया = ईर्ष्या से।

जानुक—यह कहो कि इस धीवरराज (मल्लाहों के स्वामी) के लिये (आप द्वारा महाराज की सेवा की गयी)। (पुरुष को ईर्ष्यापूर्वक देखता है)।

पुरुषः—भट्टारक, इतोऽर्धं युष्माकं सुमनोमूल्यं भवतु। (भट्टालक, इदो अद्धं तुम्हाणं शुमणोमुल्लं होदु।)

व्या० एवं श०—सुमनो मूल्यम् = फूलों की माला का मूल्य।

पुरुष—स्वामी, इसमें से आधा आप लोगों के (पूजा के लिये) पुष्पों का मूल्य हो (अर्थात् इसमें से आधा आप लोग ले लें)।

जानुकः—एतावद् युज्यते। (एत्तके जुज्जइ)।

जानुक—इतना ठीक है।

श्यालः—धीवर, महत्तरस्त्वं प्रियवयस्क इदानीं मे संवृत्तः कादम्बरीसाक्षिकमस्माकं प्रथमसौहृदमिष्यते। तच्छौण्डिकापणमेव गच्छामः। (धीवर, महत्तरो तुमं पिअवअस्सओ दाणिं में संवुत्तो। कादम्बरीसक्खिअं अम्हाणं पढमसोहिदं इच्छीअदि। ता सोण्डिआपणं एव्व गच्छामो।)

व्या० एवं श०—महत्तरः – अतिशयेन महान् – महत्+तरप् = बहुत बड़े। प्रियवयस्कः – प्रिय मित्र। संवृत्तः – सम्+वृत्+क्त = हो गये। कादम्बरी साक्षिकम् – कुत्सितम् अम्बरं यस्य सः कदम्बरः (बलरामः) तस्य इयम् कदम्बर+अण्+ङीप् , कादम्बरी, सा साक्षिणी यस्य तम् तादृशम् = मदिरा को साक्षी बनाकर। प्रथमसौहृदम् – प्रथमं च तत् सौहृदम् – त०स० = प्रथम मित्रता। इष्यते – इष्+यक्+लट् प्र०पु०ए०व० = वाञ्छित है (होनी चाहिये)। तच्छौण्डिकापणम् – तत्+शौण्डिक+आपणम् – शौण्डिकस्य आपणम् – ष०त०। शुण्डा सुरा पण्यमस्य सः (ब०ब्री०), शुण्डा+ठक्+इक् = शौण्डिकः तस्य आपणम् = मदिरा विक्रेता की दूकान पर।

कोतवाल—धीवर, अब तुम मेरे अत्यन्त प्रिय मित्र हो गये। हम लोगों की प्रथम मित्रता मदिरा को साक्षी बनाकर होनी चाहिये। तो हम लोग शराब-विक्रेता की दूकान पर ही चलते हैं।

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)—(सभी निकल जाते हैं)।

।। इति प्रवेशकः ।। ॥ प्रवेशक समाप्त ॥

टिप्पणी—(१) **सुमनो मूल्यं भवतु** – इससे ज्ञात होता है कि उन दिनों पुलिस विभाग में घूस की बीमारी फैल गयी थी। (२) **कादम्बरीसाक्षिकम्** – इससे एक ओर जहाँ मदिरापान जैसी बुराई की स्थिति का बोध होता है, वहीं दूसरी ओर मैत्री सम्बन्ध स्थापित करते समय उसके पान करने का भी बोध होता है। (३) **शौण्डिकापणम्** – इससे उन दिनों मदिरा की दूकानों का पता चलाता है। (४) **प्रवेशकः** – यह नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों के विधानानुसार प्रतिपादित पाँच अर्थोपक्षेपकों में अन्यतम है। इसकी व्युत्पत्ति है – प्र+विश्+ण्वुल्। नाट्यशास्त्रीय पारिभाषिक शब्द होने से सा०द० में इसका यह लक्षण दिया गया है—प्रवेशकोऽनुदात्तोक्त्या नीचपात्रप्रयोजितः। अङ्कद्वयान्तर्विज्ञेयः शेषं विष्कम्भके यथा।। ६/७। विष्कम्भक के समान इसमें भी भूत काल में घटित तथा भविष्य काल में होने वाली घटना की सूचना होती है। इसमें निम्नकोटि के ही पात्र रहते हैं। यह दो अङ्कों के मध्य में आता है। पात्रों की भाषा प्राकृत होती है। कुछ आचार्यों का यह मत है कि नाटक के तृतीय एवं चतुर्थ अङ्क में विष्कम्भक एवं षष्ठ अङ्क में प्रवेशक होना चाहिये। प्रस्तुत प्रवेशक के सूचक, जानुक आदि पात्र निम्नकोटिक हैं और उनकी भाषा प्राकृत है। इसमें भूतकाल में शक्रावतार में गिरकर अंगूठी के खोने तथा उसके मिल जाने पर दुष्यन्त के भावी वियोग की सूचना है। अतः यह प्रवेशक है। यह पञ्चम तथा षष्ठ अङ्क के बीच में आया है। कुछ विद्वान् इसे 'अङ्कावतार' मानते हैं।

(ततः प्रविशत्याकाशयानेन सानुमती नामाप्सराः)

(तत्पश्चात् विमानसे सानुमती नामक अप्सरा प्रवेश करती है।)

सानुमती—निर्वर्तितं मया पर्यायनिर्वर्तनीयमप्सरस्तीर्थसान्निध्यं यावत् साधुजनस्याभिषेककाल इति। साम्प्रतमस्य राजर्षेरुदन्तं प्रत्यक्षीकरिष्यामि। मेनकासम्बन्धेन शरीरभूता मे शकुन्तला। तया च दुहितृनिमित्तमादिष्टपूर्वाऽस्मि। (समन्तादवलोक्य) **किं नु खलु ऋतूत्सवेऽपि निरुत्सवारम्भमिव राजकुलं दृश्यते। अस्ति मे विभवः प्रणिधानेन सर्वं परिज्ञातुम्। किन्तु सख्या आदरो मया मानयितव्यः। भवतु, अनयोरेवोद्यानपालिकयोस्तिरस्करिणीप्रतिच्छन्ना पार्श्ववर्तिनी भूत्वोपलप्स्ये।** (णिव्वत्तिदं मए पज्जाअणिव्वत्तिणिज्जं अच्छरातित्थसण्णिज्झं जाव साहुजणस्स अभिसेअकालो त्ति। सँपदं इमस्स राएसिणो उदन्तं पच्च्खीकरिस्सं। मेणआसंबन्धेण सरीरभूदा मे सउन्दला। ताए अ दुहिदुणिमित्तं आदिट्ठपुव्वम्हि। किं णु क्खु उदुच्छवे वि णिरुच्छवारम्भं विअ राअउलं दीसइ। अत्थि मे विहवो पणिधाणेण सव्वं परिण्णादं किं दुसहीए आदरो मए माण्इदव्वो। होदु, इमाणं एव्व उज्जाणपालिआणं तिरक्खरिणीपडिच्छण्णा पस्सवत्तिणी भविअ उवलहिस्सं।) (इति नाट्येनावतीर्य स्थिता)।

व्या० एवं श०—निर्वर्तितम् – निर+वृत्+णिच्+क्त = सम्पन्न (पूरा) कर लिया। पर्यायनिर्वर्तनीयम् – पर्यायेण निर्वर्तनीयम् (निर+वृत्+अनीयर) तृ०त० = बारी-बारी से (उपस्थित रहकर) ड्यूटी करने का कार्य। अप्सरस्तीर्थसान्निध्यम् – अप्सरसः तीर्थं तस्य सान्निध्यम् (ष०त०) = अप्सरा तीर्थ का सामीप्य अर्थात् अप्सरा तीर्थ पर। यावत् = तक या जब तक। अभिषेककालः – अभिषेकस्य कालः = स्नान का समय। उदन्तम् – 'वार्ता प्रवृत्तिर्वृत्तान्त उदन्तः स्यात्' इस अमरकोष के वचनानुसार यहाँ वृत्तान्त (समाचार) व्यर्थ है। प्रत्यक्षीकरिष्यामि – अप्रत्यक्षं प्रत्यक्षं करिष्यामि – प्रत्यक्ष+(अभूत तद्भाव में) च्वि+कृ+लृट् उ०पु०ए०व० = प्रत्यक्ष रूप से देखूँगी। शरीरभूता – अशरीरं शरीरं भूता इति = शरीर के समान। यहाँ 'च्वि' प्रत्यय का अर्थ मानकर 'श्रेण्यादयः कृतादिभिः' से समास। दुहितृनिमित्तम् = पुत्री (शकुन्तला) के लिये कुछ करने हेतु। आदिष्टपूर्वा – पूर्वम् आदिष्टा इति (सुप्सुपा समास) 'भूतपूर्वे चरट्' से 'पूर्व' शब्द का परनिपात = पहले ही आदिष्ट (कही गयी)। निरुत्सवारम्भम् – निर्-न, न विद्यते उत्सवारम्भः (उत्सवप्रवृत्तिः) यस्मिन् तत् तादृशम् = जिसमें उत्सव (वसन्तोत्सव) का प्रारम्भ नहीं हुआ है, ऐसा। यह पद राजकुल का विशेषण है। विभवः = शक्ति, सामर्थ्य। प्रणिधानेन – प्र+नि+धा+ल्युट् = समाधि के द्वारा। आदरः – आ+दृ+अप् = अनुरोध। मानयितव्यः – मानि+तव्यत् = सम्मान करना चाहिये। तिरस्करणीप्रतिच्छन्ना – तिरस्करिण्या प्रतिच्छन्ना (तृ०त०) = तिरस्करणी (विद्या) से अदृश्य बनी हुयी तिरस्करिणी – तिरः करोति तिरस्+कृ+णिनि (कर्तरि) ङीप् निपातन से वृद्धि का अभाव। प्रतिच्छन्ना – प्रति+छद्+णिच्+क्त+टाप्। उपलप्स्ये – उप+लभ्+लृट्+उ०पु०ए०व० = जान जाऊँगी।

सानुमती—जब तक सज्जन लोगों के स्नान का समय है तब तक अप्सरातीर्थ पर बारी-बारी से वहाँ उपस्थित रहने का जो नियम है, वह मैंने पूरा कर लिया है। अब इस राजर्षि (दुष्यन्त) का वृत्तान्त (समाचार) को मैं (स्वयं) प्रत्यक्ष करूँगी (अर्थात् प्रत्यक्ष रूपसे देखूँगी)। मेनका के साथ सम्बन्ध होने के कारण शकुन्तला मेरे शरीर के समान है। उस (मेनका) के द्वारा (अपनी) पुत्री (शकुन्तला) के लिये (कुछ करने हेतु) मैं पहले से ही कह दी गयी हूँ। (चारों ओर देखकर) क्या कारण है कि (वसन्त) ऋतु के उत्सव के अवसर पर भी राजकुल में उत्सव का प्रारम्भ नहीं दिखायी

पड़ रहा है। मुझमें ध्यान-शक्ति (प्रणिधान) से सब कुछ जान लेने की शक्ति है किन्तु (अपनी) सखी (मेनका) के अनुरोध का सम्मान मुझे करना ही चाहिये। अच्छा, मैं अन्तर्धान होने की विद्या (तिरस्करिणी) के द्वारा अदृश्य होकर इन दोनों उद्यानपालिकाओं के समीप में रहकर (दुष्यन्त का समाचार) ज़ान जाऊँगी। (अभिनयपूर्वक उतरकर खड़ी हो जाती है)।

टिप्पणी—(१) **पर्यायनिर्वर्तनीयम्** – अप्सरातीर्थ की अप्सराओं के ऊपर वहाँ की रक्षा का भार दिया गया था। अतः क्रमशः बारी-बारी से उनकी ड्यूटी लगती थी, जिससे सज्जनों के स्नान के समय कोई दुर्घटना न घट सके। (२) अभिषेकः (क) – 'अभिषेकः स्नानमित्यपि' इति त्रिकाणुशेषः। (ख) – 'पर्यायोऽवसरे क्रमे' – इत्यमरः। (ग) – साधुर्जने मुनौ वार्धुषिके सज्जनरम्ययोः' – इति त्रिकाणुशेषः। (घ) – 'तीर्थं योनौ जलावतारे च' इति हलायुधः। (ङ) – 'वार्ता प्रवृत्तिर्वृत्तान्त उदन्तः' स्यादित्यमरः। (३) **प्रणिधानेन** – ध्यान शक्ति को प्रणिधान कहते हैं। देवता और अप्सरायें अपनी ध्यानशक्ति से वर्तमान के अतिरिक्त भूत और भविष्य की वस्तुओं को भी देख सकती हैं। (४) **तिरस्करणी** – यह एक अन्तर्धान विद्या है। अप्सरायें आदि इस विद्या के द्वारा दूसरों को देख सकती हैं पर उन्हें कोई नहीं देख सकता।

(ततः प्रविशति चूताङ्कुरमवलोकयन्ती चेटी। अपरा च पृष्ठतस्तस्याः)

(तत्पश्चात् आम्रमञ्जरी को देखती हुयी दासी और उसके पीछे दूसरी दासी प्रवेश करती है)।

प्रथमा— पहली—

अताम्रहरितपाण्डुर जीवितं सत्यं वसन्तमासस्य।
दृष्टोऽसि चूतकोरक ऋतुमङ्गलं त्वां प्रसादयामि॥ २॥

(आतम्महरिअपंडुर जीविद सत्तं वसन्तमासस्स।
दिट्ठो सि चूदकोरअ उदुमंगल तुमं पसाएमि॥)

अन्वय—आताम्रहरितपाण्डुर, वसन्तमासस्य सत्यं जीवितम् चूतकोरक दृष्टः असि। ऋतुमङ्गल, त्वां प्रसादयामि।

शब्दार्थ—आताम्रहरितपाण्डुर = हे कुछ लाल-हरे और श्वेत वर्ण वाले! वसन्तमासस्य = वसन्त (चैत्र) मास के। सत्यम् = वास्तविक। जीवितम् = जीवन। चूतकोरक = हे आम के बौर! दृष्टः असि = देख लिये गये हो। ऋतुमङ्गल = हे ऋतु के मङ्गलस्वरूप! त्वाम् = तुमको। प्रसादयामि = प्रसन्न कर रही हूँ (प्रणाम कर ही हूँ)।

अनुवाद—कुछ लाल-हरे और श्वेत वर्ण वाले, वसन्त (चैत्र) मास के वास्तविक जीवन भूत हे आम के बौर, तुम देख लिये गये हो (अर्थात् तुम मुझे आज दिखायी दिये हो)। हे (वसन्त) ऋतु के मङ्गलस्वरूप, मैं तुमको प्रसन्न (प्रणाम) कर रही हूँ।

संस्कृत व्याख्या—आताम्रहरितपाण्डुर – ईषल्लोहितहरितशुभ्रवर्णसमन्वित, **वसन्तमासस्य** – मधुमासस्य, **सत्यं** – वास्तविकम् , **जीवितं** – प्राणभूत, **चूतकोरक** – हे आम्रमुकुल, **दृष्टः असि** – (त्वं मया) अवलोकितः असि, **ऋतुमङ्गल** – हे वतन्तस्य मङ्गलस्वरूप, **त्वां** – भवन्तम् **प्रसादयामि** – प्रीयामि प्रणमामि।

संस्कृत-सरलार्थ—आम्रकोरकं विलोक्य चेटी वदति हे लोहितहरितशुभ्रवर्णयुक्त!

आम्रकोरक ! वसन्तस्य प्राणभूतस्त्वं मयाऽवलोकितः । वसन्तर्तुमङ्गलभूतं त्वां प्रणमामि-प्रणियामि ।

व्याकरण—आताम्रहरितपाण्डुर – ताम्रश्चासौ हरितश्च पाण्डुरश्चेति 'वर्णो, वर्णेन' से कर्मधारय समास पुनः 'आ' के साथ सुप्सुपा समास । पाण्डुरः – पाण्डु+'र' मत्वर्थ में । प्रसादयामि – प्र+सद्+णिच् – उ०पु०ए०व० ।

कोष—'आताम्रं पाटलं विषदारुणम्' इति धनञ्जयः । 'कालिकः कोरकः पुमान्' इत्यमरः ।

अलङ्कार—(१) यहाँ 'आताम्र...' आदि स्थलों में '**स्वभावोक्ति**' अलङ्कार है । ल०द्र० १/७ श्लो० । (२) 'वसन्तमासस्य जीवितम्' यह '**रूपक**' अलङ्कार है । ल०द्र० २/१६ श्लो० ।

छन्द—'**आर्या**' छन्द है । ल०द्र० १/२ श्लो० ।

टिप्पणी—**वसन्तमासस्य** – वसन्त ऋतु में चैत्र और वैशाख दो महीने होते हैं । यहाँ वसन्त से अभिप्राय चैत्रमास से है क्योंकि मञ्जरी का सर्वप्रथम दर्शन चैत्र में होता है । आम्रमञ्जरी का दर्शन शुभ है । उसको प्रणाम (प्रसन्न) करने का रहस्य भी यही है ।

द्वितीया—परभृतिके, किमेकाकिनी मन्त्रयसे ? (परहुदिए, किं एआइणी मन्तेसि ?)

दूसरी—परिभृतिका, तुम अकेली क्या मन्त्रणा कर रही हो (अर्थात् क्या गुनगुना रही हो ?)

प्रथमा—मधुकरिके, चूतकलिकां दृष्ट्वोन्मत्ता परभृतिका भवति । (महुअरिए चूदकलिअं देक्खिअ उन्मत्तिआ परहुदिआ होदि) ।

व्या० एवं श०—परभृतिका – परेण भ्रियते परभृतः, 'संज्ञायां कन्, से 'कन्' टाप् = कोयल ।

विशेष—यहाँ परभृतिका तथा मधुकरिका – इन दोनों शब्दों के दो-दो अर्थ होते हैं— परभृतिका – (१) दासी का नाम, (२) कोयल । मधुकरिका – (१) दासी का नाम, (२) भ्रमरी ।

पहली—मधुकरिका, परभृतिका (कोयल) आम की कली को देखकर मतवाली हो जाती है । (मैं परभृतिका भी मतवाली हो रही हूँ) ।

द्वितीया—(सहर्षं त्वरयोपगम्य) **कथमुपस्थितो मधुमासः ?** (कहं उवट्ठिदो महुमासो ?)

व्या० एवं श०—त्वरा शब्द का तृ०ए०व० त्वरया = शीघ्रता से । उपगम्य – उप+गम्+क्त्वा – ल्यप् = समीप जाकर ।

दूसरी—(प्रसन्नतापूर्वक शीघ्रता से समीप जाकर) क्या वसन्त का महीना आ गया ?

प्रथमा—मधुकरिके, तवेदानीं काल एष मदविभ्रमगीतानाम् । (महुअरिए, तव दाणिं कालो एसो मदविब्भमगीदाणं ।)

व्या० एवं श०—मदविभ्रमगीतानाम् – विभ्रमाश्च गीताश्चेति विभ्रमगीताः, मदेन विभ्रमगीताः = (१) मदयुक्त विलास-गीतों का । (२) मद विलास एवं गीतों का । मधुकरिके – मधुकर एव मधुकरकः (कन्) स्त्रीलिङ्ग में टाप् मधुकारिका ।

पहली—मधुकरिका, अब तुम्हारे मदभरे (मादक) विलासों (विभ्रम) और गीतों का यह (सुहावना) समय (आ गया) है ।

द्वितीया—सखी, अवलम्बस्व मां यावदग्रपादस्थिता भूत्वा चूतकलिकां गृहीत्वा कामदेवार्चनं करोमि । (सही, अवलम्ब मं जाव अग्गपादट्ठिआ भविअ चूदकलिअं गेण्हिअ

कामदेवच्चणं करेमि ।)

व्या० एवं श०—अवलम्बस्व – अव+लम्ब+म०पु०ए०व० = सहारा दो । अग्रपादस्थिता – अग्रौ च तौ पादौ अग्रपादौ (कर्म०) अग्रपादयोः स्थिता (तृ०त०) = पैरों के अग्रभाग (पंजे) पर स्थित (खड़ी) । चूतकलिकाम् – चूतस्य आम्रस्य कलिकां मञ्जरीम् = आम्रमञ्जरी को ।

दूसरी—सखी, मुझे सहारा दो, जब तक मैं अगले पैर पर खड़ी होकर आम्रमञ्जरी को लेकर (तोड़कर) कामदेव की अर्चना करती हूँ ।

प्रथमा—यदि ममापि खल्वर्धमर्चनफलस्य । (जइ मम वि क्खु अद्धं अच्चणफलस्स ।)

व्या० एवं श०—अर्धम् = आधा । अर्चनफलस्य – अर्चनस्य फलमर्चनफलम् तस्य = पूजा के फल का आधा भाग ।

पहली—यदि मुझे भी पूजा के फल का आधा भाग (मिले, तो मैं ऐसा करूँगी) ।

विशेष—परभृतिका एवं मधुरिका दोनों सखियाँ हैं । दोनों में अन्तर यह है कि परभृतिका हास्यप्रिय एवं वाचाल है और मधुरिका शान्त प्रकृति ।

द्वितीया—अकथितेऽप्येतत् सम्पद्यते । यत एकमेव नौ जीवितं द्विधास्थितं शरीरम् । (सखीमवलम्ब्य स्थिता चूताङ्कुरं गृह्णाति) । **अये, अप्रतिबुद्धोऽपि चूतप्रसवोऽत्र बन्धनभङ्गसुरभिर्भवति ।** (अकहिदे वि एदं संपज्जइ जदो एक्कं एव्व णो जीविदं दुधाट्ठिदं शरीरं । अए, अप्पडिबुद्धो वि चूदप्पसवो एत्थ बन्धणभंगसुरभी होदि ।) (इति कपोतहस्तकं कृत्वा) ।

व्या० एवं श०—नौ-आवयोः = हम दोनों का । जीवितम् = प्राण (आत्मा) । अप्रतिबुद्धः – प्रति+बुध्+क्त – प्रतिबुद्धः न प्रतिबुद्धः अप्रतिबुद्ध (नञ् समास) = पूर्णरूप से अविकसित । चूतप्रसवः – चूतस्य प्रसवः = आम्रमञ्जरी । बन्धनभङ्गसुरभिः – बन्धनात् भङ्गेन सुरभिः, तत्पुरुष = डंठल से टूटने से सुगन्धित ।

विशेष—कपोतहस्तकम् – प्रणामादि के समय हाथ जोड़ने का यह एक प्रकार है । इसमें दोनो हाथों को इस प्रकार मिलाकर जोड़ा जाता हे जिसमें दोनों हथेलियों के बीच में खाली रहती है । हाथ का शेष भाग मिला हुआ होता है । बीच का भाग उठा होने से कबूतर की तरह प्रतीत होता है । संगीतरत्नाकर में इसका यह लक्षण दिया गया है—

कपोतोऽसौ करो यत्र श्लिष्टमूलाग्रपार्श्वकौ । प्रणामे गुरुसंभाषे० ॥

दूसरी—(तुम्हारे) न कहने पर भी यह होता (अर्थात् बिना कहे भी पूजा का आधा फल तुम्हें मिल जाता) । क्योंकि हम दोनों के प्राण एक ही हैं, (केवल) शरीर दो हैं । (सखी का सहारा लेकर खड़ी हुयी आम का बौर तोड़ती है) । ओह, अविकसित (बिना खिली हुयी) भी आम की मञ्जरी, डण्ठल (बन्धन) के टूटने पर सुगन्ध युक्त हो रही है (अर्थात् सुगन्ध फैला रही है) । (दोनों हाथों को कपोताकार जोड़कर)—

त्वमसि मया चूताङ्कुर दत्तः कामाय गृहीतधनुषे ।
पथिकजनयुवतिलक्ष्यः पञ्चाभ्यधिकः शरो भव ॥ ३ ॥

(तुमं सि मए चूदंकुर दिण्णो कामस्स गहीदधणुअस्स ।
पहिअजणजुवइलक्खो पंचब्भहिओ सरो होहि ॥)

(इति चूताङ्कुरं क्षिपति)।

अन्वय—चूताङ्कुर, त्वं मया गृहीतधनुषे कामाय दत्तः असि, पथिकजनयुवतिलक्ष्यः पञ्चाभ्यधिकः शरः भव।

शब्दार्थ—चूताङ्कुर = हे आम्र-मञ्जरी ! त्वम् = तुम। मया = मेरे द्वारा। गृहीतधनुषे = धनुष को धारण धारण कर लेने वाले। कामाय = कामदेव के लिये। दत्तः असि = दिये गये हो। पथिकजनयुवतिलक्ष्यः = पथिकजनों (परदेशी व्यक्तियों) की युवतियाँ (पत्नियाँ) लक्ष्य हैं जिसका ऐसे (पथिकजनों की पत्नियों को लक्ष्य बनाने वाले)। पञ्चाभ्यधिकः = पाँचों (बाणों) में सर्वश्रेष्ठ। शरः = बाणः। भव = होवो।

अनुवाद—हे आम्रमञ्जरी ! तुमको मैं धनुर्धारी कामदेव को समर्पित करती हूँ। तुम पथिकजनों (प्रवासियों) की पत्नियों को लक्ष्य बनाने वाले और (कामदेव के) पाँचों (बाणों) में सर्वश्रेष्ठ बाण होवो। (आम्रमञ्जरी को फेंकती है)।

संस्कृत व्याख्या—चूताङ्कुर – हे आम्रमञ्जरी ! **त्वं, मया** – द्वितीयया उद्यानपालिकया, **गृहीतधनुषे** – सज्जीकृतचापाय, **कामाय** – मदनाय, **दत्तः असि** – अर्पितोऽसि, **पथिकजनयुवतिलक्ष्यः** – प्रोषितभर्तृकाहृदयपीडकः, **पञ्चाभ्यधिकः** – पञ्चानां शराणां श्रेष्ठः, **शरः भव** – बाणः भव।

संस्कृत सरलार्थ—रसालमुकुल ! त्वं मया (मधुकरिकया) गृहीतधनुषे कामाय समर्पितोऽसि। त्वं पथिकजनतरुणीशरण्यः पञ्चानां कामबाणानां विशिष्टबाणो भव।

व्याकरण—गृहीतधनुषे – गृहीतं धनुः येन तस्मै (बहु०)। पथिकजनयुवतिलक्ष्यः – पथिकजनानां युवतयः लक्ष्याणि यस्य (बहु०)।

अलङ्कार—पञ्चाभ्यधिकः में **'अतिशयोक्ति'** अलङ्कार है। ल०द्र० ३/१७ श्लो०।

छन्द—'आर्या' छन्द है। ल०द्र० १/२ श्लो०।

टिप्पणी—(१) 'अरविन्दमशोकञ्च चूतञ्च नवमल्लिका। नीलोत्पलञ्च पञ्चैते पञ्चबाणस्य सायकाः' के अनुसार – अरविन्द (लालकमल), अशोक, आम्र, चमेली (नवमल्लिका) और नीलकमल—ये कामदेव के पाँच बाण हैं।

(प्रविश्यापटीक्षेपेण कुपितः)

(पर्दा को हटाकर प्रवेश कर क्रोधपूर्वक)

कञ्चुकी—मा तावत् अनात्मज्ञे, देवेन प्रतिषिद्धे वसन्तोत्सवे त्वमाम्रकलिकाभङ्गं किमारभसे ?

व्या० एवं श०—आम्रकलिकाभङ्गम् – आम्रकलिकायाः भङ्गम् (ष०त०) = आम्रकली (आम्रमञ्जरी का) तोड़ना। अनात्मज्ञे – आत्मानं स्वं न जानाति आत्मन+ज्ञा+क+टाप् = आत्मज्ञा न आत्मज्ञा अनात्मज्ञा सम्बोधन अनात्मज्ञे = आत्मज्ञान (अपने कर्त्तव्य का ज्ञान) न रखने वाली अर्थात् मूर्ख।

कञ्चुकी—अरी, मूर्ख ऐसा मत करो। महाराज द्वारा वसन्तोत्सव मना कर दिये जाने पर (भी) तुम आम की कली को तोड़ना क्यों प्रारम्भ कर रही हो ?

उभे—(भीते) प्रसीदत्वार्यः अगृहीतार्थे आवाम्। (पसीददु अज्जो। अग्गहीदत्थाओ

व्या० एवं श०—भीते – भी+क्त+टाप् प्र०द्वि०व० = डरी हुई । अगृहीतार्थे आवाम् – अगृहीतः अविदितः अर्थः मधूत्सवप्रतिषेधरूपः याभ्यां ते (ब०व्री०) = हम दोनों को वास्तविकता (वसन्तोत्सव निषेधरूपराजाज्ञा) अज्ञात है ।

दोनों—(डरी हुयी) आर्य, प्रसन्न होइये, हम दोनों वह बात नहीं जानती थीं (कि वसन्तोत्सव का निषेध किया गया है)।

कञ्चुकी—न किल श्रुतं युवाभ्यां यद् वासन्तिकैस्तरुभिरपि देवस्य शासनं प्रमाणीकृतं तदाश्रयिभिः पत्रिभिश्च । तथाहि—

व्या० एवं श०—वासन्तिकैः – वसन्ते जातः वासन्तिकः – वसन्त शब्द से 'वसन्ताच्च' सूत्र से 'ठञ्' (इक्) = वसन्त में फूलने वाले । शासनम् = आज्ञा । प्रमाणीकृतम् – प्रमाण+च्वि, ईत्व क्+क्त = प्रमाण माना (आज्ञा का पालन किया) । तदाश्रयिभिः = वृक्षों पर आश्रय लेने वाले अर्थात् रहने वाले । यह पद 'पत्रिभिः' का विशेषण है । पत्रिभिः पत्र+इनि – तृ०ब०व० = पक्षियों के द्वारा ।

कञ्चुकी—क्या तुम दोनों ने यह नहीं सुना है कि वसन्त में फूलने वाले (वासन्तिक) वृक्षों के द्वारा और उन पर आश्रय लेने वाले (रहने वाले) पक्षियों के द्वारा (भी) महाराज की आज्ञा पालन किया गया है । क्योंकि—

चूतानां चिरनिर्गताऽपि कलिका वध्नाति न स्वं रजः
सन्नद्धं यदपि स्थितं कुरबकं तत् कोरकावस्थया ।
कण्ठेषु स्खलितं गतेऽपि शिशिरे पुंस्कोकिलानां रुतं
शङ्के संहरति स्मरोऽपि चकितस्तूणार्धकृष्टं शरम् ।। ४ ।।

अन्वय—चूतानां चिरनिर्गता अपि कलिका स्वं रजः न बध्नाति, कुरबकं यदपि सन्नद्धं तत् कोरकावस्थया स्थितम् , शिशिरे गते अपि पुंस्कोकिलानां रुतं कण्ठेषु स्खलितम् , शङ्के स्मरः अपि चकितः तूणार्धकृष्टं शरं संहरति ।

शब्दार्थ—चूतानाम् = आमों की । चिरनिर्गता = बहुत दिनों से निकली हुयी । अपि = भी । कलिका = कली । स्वम् = अपने । रजः = पराग को । न = नहीं । बध्नाति = बाँध रही है (धारण कर रही है) । कुरबकम् = कुरबक नामक पुष्प । यदपि = जो कि । सन्नद्धम् = (खिलने के लिये) तैयार । तत् = वह । कोरकावस्थया = कली की दशा में । स्थितम् = वर्तमान है । शिशिरे = शिशिर ऋतु के । गते = चले (बीत) जाने पर । अपि = भी । पुंस्कोकिलानाम् = नर कोयलों की । रुतम् = कूक । कण्ठेषु = गलों में । स्खलितम् = रुकी हुयी है । शङ्के = मैं सम्भावना (अनुमान) करता हूँ । स्मरः = कामदेव । अपि = भी । चकितः = चकित हुआ (भयभीत) । तूणार्धकृष्टम् = तूणीर (तरकस) से आधे खींचे हुये (निकाले हुये) । शरम् = बाण को । संहरति = रोक ले रहा है ।

अनुवाद—बहुत दिनों से निकली हुयी भी आम की कली अपने पराग को नहीं धारण कर रही है । कुरबक नामक पुष्प, जो कि (खिलने के लिये) तैयार है, वह (भी) कली की दशा में (ही) रह गया है । शिशिर (ऋतु) के बीत जाने पर भी नर-कोयलों की कूक (आवाज) (उनके) (गलों) में (ही) रुकी है । मेरा (अनुमान) है कि कामदेव भी भयभीत होकर (अपने) तरकस से आधे खींचे हुये (निकाले हुये) बाण को रोक रहा है (अर्थात् तरकस में ही रख रहा है)।

संस्कृत व्याख्या—**चूतानाम्** – आम्राणाम् , **चिरनिर्गता अपि** – चिरादुद्भिन्नाऽपि, **कलिका** – मञ्जरी, **स्वम्** – स्वकीयम् , **रजः** – परागम् , **न** – नहि, **बध्नाति** – प्रकटयति, **कुरबकम्** – एतदाख्यं पुष्पम् , **यदपि** – यत् च, **सन्नद्धं** – विकासाय वृन्ताद्बहिर्गतम् , **तत्** – पुष्पम् , **कोरकावस्थया** – कलिकारूपेण, **स्थितम्** – वर्तमानम् , **शिशिरे** – शीततर्तौ, **गते अपि** – व्यतीते अपि, **पुंस्कोकिलानां** – पुसां कोकिलानाम् , **रुतं** – कूजितम् , **कण्ठेषु** – गलविलेषु, **स्खलितं** – रुद्धम्; **शङ्के** – (अहं) सम्भावयामि, **स्मरः अपि** – कामदेवः अपि, **चकितः** – भीतः सन् , **तूणार्धकृष्टम्** – निषङ्गादर्धमाकृष्टम्, **शरं** – बाणम् , **संहरति** – पुनः निषङ्गे एव स्थापयति ।

संस्कृत-सरलार्थः—वसन्तोत्सवप्रतिषेधरूपां राज्ञामनुसृत्य सर्वत्र सुर्वाणि कार्याणि समवरुद्धानि दृश्यन्ते यथा चिरकालादुद्भिन्नाऽपि रसालकलिका स्वपरागं न धत्ते, विकासाय वृन्ताद्बहिर्गतमपि कुरबकपुष्पं कोरकरूपेणैवस्थितम् व्यतीतेऽपि शिशिरर्तौ पुंस्कोकिलानां कूजितं तदीयगलेष्वेवावरुद्धं जातम् । एतत्सर्वमालक्ष्य मन्येऽहं यत् कामदेवोऽपि भीतः सन् निषङ्गादर्धनिर्गतमपि बाणं तूणीर एव निक्षिपति ।

व्याकरण—सन्नद्धम् – सम्+नह्+क्त । तूर्णार्धकृष्टम् – तूर्णाद् अर्धकृष्टम् (त०स०) । संहरति – सम्+हृ+लट् प्र०पु०ए०व० ।

कोष—'कन्दर्पो दर्पकोऽनङ्गः कामः पञ्चशरः स्मरः' इत्यमरः । 'कलिका कोरकः पुमान्' इत्यमरः ।

अलङ्कार—(१) इस पद्य में 'स्वं रजो न बध्नाति' जिस प्रकार कोई प्रौढा बाला अपने रजोदर्शन को प्राप्त नहीं होती, उसी प्रकार आम्रमञ्जरी भी पराग को धारण नहीं कर रही है । इस प्रकार आम्रमञ्जरी में चेतन (प्रौढ बाला) का आरोप होने के कारण 'समासोक्ति' अलङ्कार है । ल०द्र० १/२३ श्लो० । (२) 'शङ्के संहरति स्मरोऽपि... शरम्' में 'शङ्के' इस उत्प्रेक्षावाचक शब्द के प्रयोग से **'वाच्योत्प्रेक्षा'** अलङ्कार है । ल०द्र० १/५ श्लो० । (३) चतुर्थचरणगत अर्थ के प्रति प्रथम तीन चरणगत अर्थ (वाक्यार्थ) हेतु के रूप में उपन्यस्त है अतः 'काव्यलिङ्ग' अलङ्कार है । ल०द्र० १/४ श्लो० । (४) चिरनिर्गताऽपि आदि में कारण का कथन होने पर परागादि कार्य का निषेध किया गया है अतः मालारूप **'विशेषोक्ति'** अलङ्कार है । ल०द्र० ३/२३ ।

छन्द—**'शार्दूलविक्रीडित'** है । ल०द्र० १/१४ श्लो० ।

टिप्पणी—इस श्लोक में विरहव्यथित राजा द्वारा वसन्तोत्सव के निषिद्ध किये जाने पर प्रकृति (चर-अचर) पर भी उसके प्रभाव का वर्णन है । यह कञ्चुकी की अपनी भावना है ।

उभे—नास्ति सन्देहः । महाप्रभावो राजर्षिः । (णात्थि संदेहो । महाप्पहाओ राएसी ।)

दोनों—(इसमें कोई) संदेह नहीं है । राजर्षि (दुष्यन्त) अत्यन्त प्रभावशाली है ।

प्रथमा—आर्य, कति दिवसान्यावयोर्मित्रावसुना राष्ट्रियेण भट्टिनीपादमूलं प्रेषितयोः । इत्थं च नौ प्रमदवनस्य पालनकर्म समर्पितम् । यदागन्तुकतयाऽश्रुतपूर्व आवाभ्यामेष वृत्तान्तः (अज्ज, कदि दिअहाइं अम्हाणं मित्तावसुणा रट्ठिएण भट्टिणीपाअमूलं पेसिदाणं । इत्थं अ णो पयदवणस्स पालणकम्म समप्पिदं । ता आअन्तुअदाए अस्सुदपुव्वो अम्हेहिं एसो वुत्तन्तो ।)

व्या० एवं श०—राष्ट्रियेण – राष्ट्रे अधिकृतः, राष्ट्र+घ (इय्) 'राष्ट्रावारपाराद् घखौ' **सूत्र से 'घ' फिर उसके स्थान पर 'इय्' लगा कर राष्ट्रिय फिर तृ०ए०व० में राष्ट्रियेण होता है** –

राजा के साले (कोतवाल) द्वारा। कति – किम्+डति (अति) इम् का लोप = कुछ। इसका रूप बहुवचन में ही चलता है। भट्टिनीपादमूलम् – भट्टिन्याः पादमूलम् – महारानी के चरणों में अर्थात् उनकी सेवा में। अश्रुतपूर्वः – न पूर्वं श्रुतः (सुप्सुपा समास) = पहले न सुना गया।

पहली—आर्य, कुछ दिनों पहले राजा के साले (राष्ट्रिय) मित्रावसु के द्वारा हम दोनों महारानी के चरणों में (महारानी की सेवा में) भेज दी गयी थीं। इस प्रकार हम दोनों को (इस) उद्यान (प्रमदवन) की सुरक्षा का काम सौंपा गया है। इसलिये (यहाँ) नवागन्तुक होने के कारण हम दोनों ने पहले यह समाचार नहीं सुना है।

कञ्चुकी—भवतु। न पुनरेवं प्रवर्तितव्यम्।

कञ्चुकी—ठीक है, तुम दोनों फिर ऐसा काम मत करना।

उभे—आर्य, कौतुहलं नौ। यद्यनेन जनेन श्रोतव्यं कथयत्वार्यः किंनिमित्तं भर्त्रा वसन्तोत्सवः प्रतिषिद्धः। (अज्ज, कोदूहलं णो। जइ इमिणा जणेण सादव्व कहेदु अज्जो किंणिमित्तं भट्टिणा वसन्तुस्सवो पडिसिद्धो।)

व्या० एवं श०—नौ – आवयोः = हम दोनों का। श्रोतव्यम् – श्रु+तव्यत् = सुनने योग्य। प्रतिषिद्धः – प्रति+सिध्+क्त = निषिद्ध कर दिया है, रोक दिया है।

दोनों—आर्य, हम दानों को जिज्ञासा (है)। यदि इस जन (अर्थात् हम दोनों) द्वारा सुनने योग्य (हो, तो) आर्य बतायें कि किस कारण से स्वामी ने वसन्तोत्सव रोक दिया है?

सानुमती—उत्सवप्रियाः खलु मनुष्याः। गुरुणा कारणेन भवितव्यम्। (उस्सवप्पिआ क्खु मणुस्सा। गुरुणा कारणेण होदव्वं)।

व्या० एवं श०—उत्सवप्रिया – उत्सवः प्रियः येषां ते (ब०ब्री०) = प्रिय है उत्सव जिनको ऐसे। गुरुणा = महता (बड़ा)। भवितव्यम् – भू+तव्यत् = होना चाहिये।

सानुमती—मनुष्य उत्सव के प्रेमी होते हैं। (इसलिये वसन्तोत्सव को रोकने में कोई बड़ा कारण होना चाहये।

विशेष—'उत्सवप्रिया मनुष्याः' का भाव यह है कि मनुष्य स्वभाव से उत्सव-प्रेमी होता है।

कञ्चुकी—बहुलीभूतमेतत् किं न कथ्यते। किमत्रभवत्योः कर्णपथं नायातं शकुन्तलाप्रत्यादेशकौलीनम्।

कञ्चुकी—यह बात सर्वत्र फैल चुकी है तो क्यों न बता दूँ। क्या शकुन्तला के परित्याग (अस्वीकार करने) के कारण होने वाला लोकापवाद आप लोगों के कर्णद्वार तक नहीं पहुँचा है (अर्थात् आप लोगों ने नहीं सुना है)।

कोष—'स्यात्कौलीनं लोकवादः' इत्यमरः।

उभे—श्रुतं राष्ट्रियमुखाद् यावदङ्गुलीयकदर्शनम्। (सुदं रट्ठिअमुहादो जाव अंगुलीअदंसणं।)

दोनों—हम लोगों ने (नगर-रक्षाधिकारी) राजा के साले के मुख से अङ्गूठी देखने तक की बात सुनी है।

कञ्चुकी—तेन ह्यल्पं कथयितव्यम्। यदैव खलु स्वाङ्गुलीयकदर्शनादनुस्मृतं देवेन सत्यमूढपूर्वा मे तत्रभवती रहसि शकुन्तला मोहात् प्रत्यादिष्टेति। तदाप्रभृत्येव पश्चात्तापमुपगतो

देवः । तथाहि—

व्या० एवं श०—स्वाङ्गुलीयकदर्शनात् - स्वस्य अङ्गुलीयकम् स्वाङ्गुलीयकम् तस्य दर्शनात् (त०ष०) = अपनी अँगूठी को देखने से । अनुस्मृतम् - अनु+स्मृ+क्त = (यह बात) याद आयी । ऊढपूर्वा - पूर्वम् ऊढा, सुप्सुपा से समास = पहले विवाहित । प्रत्यादिष्टा - प्रति+आ+दिश्+क्त+टाप् = परित्यक्त, अस्वीकृत । मोहात् = अज्ञानवश ।

कञ्चुकी—तब तो थोड़ा ही कहना (शेष) है । जब से अपनी अङ्गूठी को देखने से महाराज को यह बाद याद आयी कि सचमुच सुश्री शकुन्तला एकान्त में मेरे द्वारा पहले विवाहित हैं (पर) अज्ञान के कारण उसका परित्याग कर दिया है तब से ही महाराज पश्चाताप में पड़े हुये हैं । क्योंकि—

रम्यं द्वेष्टि यथा पुरा प्रकृतिभिर्न प्रत्यहं सेव्यते
शय्याप्रान्तविवर्तनैर्विगमयत्युन्निद्र एव क्षपाः ।
दाक्षिण्येन ददाति वाचमुचितामन्तःपुरेभ्यो यदा
गोत्रेषु स्खलितस्तदा भवति च व्रीडाविलक्षश्चिरम् ।। ५ ।।

अन्वय—(महाराजः) रम्यं द्वेष्टि, पुरा यथा प्रकृतिभिः प्रत्यहं न सेव्यते, उन्निद्रः एव शय्याप्रान्तविवर्तनैः क्षपाः विगमयति, यदा दाक्षिण्येन अन्तःपुरेभ्यः उचितां वाचं ददाति तदा गोत्रेषु स्खलितः चिरं व्रीडाविलक्षः च भवति ।

शब्दार्थ—रम्यम् = रमणीय वस्तुओं से । द्वेष्टि = द्वेष (घृणा) करते हैं । पुरा यथा = पहले की भाँति । प्रकृतिभिः = प्रजा जनों (मन्त्रियों आदि) के द्वारा । प्रत्यहम् = प्रतिदिन । न = नहीं । सेव्यते = सेवित होते हैं (मिलते हैं) । उन्निद्रः = जागते हुये । एव = ही । शय्याप्रान्तविवर्तनैः = शय्या (बिस्तर) के किनारों पर करवट बदलते हुये । क्षपाः = रातों को । विगमयति = बिताते हैं । यदा = जब । दाक्षिण्येन = उदारता (शिष्टता) के कारण । अन्तःपुरेभ्यः = अन्तःपुर (रनिवास) की रानियों को (के लिये) । उचितम् = उचित । वाचम् = वचन (उत्तर) । ददाति = देते हैं । तदा = तब । गोत्रेषु = नामों के उच्चारण में । स्खलितः = भूल हो जाने पर । चिरम् = बहुत देर तक । व्रीडाविलक्षः = लज्जावश व्याकुल । भवति = हो जाते हैं ।

अनुवाद—(वे राजा दुष्यन्त सम्प्रति) मनोहर वस्तुओं से द्वेष (घृणा) करते हैं (अर्थात् रमणीय वस्तुओं को देखना पसन्द नहीं करते हैं) । पहले की भाँति प्रजाओं द्वारा प्रतिदिन सेवित नहीं होते (अर्थात् प्रजाजनों मन्त्रियों आदि से पहले की भाँति नहीं मिलते) । जागते हुये ही बिस्तर के किनारों पर करवट बदलते-बदलते रातों को बिताते हैं । जब शिष्टता के कारण अन्तःपुर (रनिवास) की रानियों को उचित उत्तर देते हैं तब नाम लेने में भूल हो जाने पर (अर्थात् उस रानी के नाम के स्थान पर शकुन्तला का नाम लेने पर) बहुत देर तक लज्जा वश व्याकुल हो जाते हैं ।

संस्कृत व्याख्या—रम्यं - रमणीयं सर्वमपि (स्रक्चन्दवगीतवादित्रादिकम्) वस्तुजातम् , **द्वेष्टि** - नाभिनन्दति (द्रष्टुं नेच्छति), **पुरा यथा** - पूर्ववत् , **प्रकृतिभिः** - प्रजाभिः, **प्रत्यहं** - प्रतिदिनम् , **न** - नहि, **सेव्यते** - उपास्यते, **उन्निद्रः एव** - जागरितः एव, **शय्याप्रान्तविवर्तनैः** - **शयनीयस्य उपान्तभागयोः परिलुण्ठनैः**, **क्षपाः** - **निशाः**, **विगमयति** - **यापयति**, **यदा** -

यस्मिन् समये, **दाक्षिण्येन** – औदार्येण (शिष्टतया), **अन्तःपुरेभ्यः** – अन्तः पुरस्थितदेवीभ्यः, **उचितां** – प्रार्थनानुरूपाम् , **वाचं** – वाणीम् , **ददाति** – वदति (उत्तरं प्रयच्छतीत्यर्थः), **तदा** – तस्मिन् समये, **गोत्रेषु** – नामसु, **स्खलितः** – प्रभ्रष्टः (अन्यनामोच्चारणस्थाने शकुन्तलानामग्रहणशीलः सन्), **चिरं** – बहुकालं यावत् , **व्रीडाविलक्षः** – लज्जाविह्वलः, **च**, **भवति** – जायते।

संस्कृत-सरलार्थ—राज्ञो दुष्यन्तस्य पश्चातापमयीं स्थितिं वर्णयन् कञ्चुकी वदति – राजा साम्प्रतं शकुन्तलाविरहदुःखात् मनोहराण्यपि वस्तूनि द्रष्टुं नेच्छति। मन्त्र्यादिभिरावश्यककार्यहेतोर्नोपास्यते। उन्निद्रः सन् शयनीयोवात्तभागेषु परिलुण्ठनैर्निशाः खेदपूर्वकं यापयति। यदा शिष्टतावशादन्तःपुरकामिनीभ्योऽपेक्षितमुत्तरं प्रयच्छति तदाऽन्यनामोच्चारणस्थाने शकुन्तलानामोच्चारणवशाद् बहुकालं यावल्लज्जितो जायते।

व्याकरण—विगमयति – वि+गम्+णिच् लट् प्र०पु०ए०व० = बिताते हैं। शय्याप्रान्तविवर्तनैः – शय्यायाः प्रान्तयोः विवर्तनैः – त०स०। व्रीडाविलक्षः वीडया विलक्षः तृ०व०। दाक्षिण्येन – दक्षिणस्य भावः दक्षिण+ष्यञ् दाक्षिण्यं तेन।

कोष—'प्रकृतिगुणसाम्ये स्यादमात्यादिस्वभावयोः' इति मेदिनी। 'गोत्रं नाम्नि तथा वये' इति हलायुधः।

अलङ्कार—(१) राजा दुष्यन्त के पश्चाताप का वर्णन अभिप्रेत था परन्तु उसका वर्णन न कर उसके (पश्चाताप के) कार्यों का वर्णन होने से पर्यायोक्त' अलङ्कार है। ल०द्र० ३/५ श्लो०। (२) 'व्रीडाविलक्षः' का कारण 'गोत्रेषु स्खलितः' है अतः **'काव्यलिङ्ग'** अलङ्कार है। द्र० १/४। (३) पश्चाताप के अनेक कारणों का उल्लेख होने से 'समुच्चय' अलङ्कार है। द्र० २/१०।

छन्द—यहाँ शार्दूलविक्रीडित' छन्द है। ल०द्र० १/१४ श्लो०।

सानुमती—**प्रियं मे**। (पिअं मे।)

सानुमती—(यह समाचार) मेरे लिये प्रिय है।

कञ्चुकी—**अस्मात् प्रभवतो वैमनस्यादुत्सवः प्रत्याख्यातः।**

व्या० एवं श०—प्रभवतः – महान्। यह पद वैमनस्य का विशेषण है। वैमनस्यात् – विकृतं मनः विमनतस्य भावः विमनस्+ष्यञ् = मानषिक ग्लानि। प्रत्याख्यातः – प्रति+आ+चक्ष क्त = रोक दिया।

कञ्चुकी—इसी महान् मानसिक ग्लानि के कारण उत्सव रोक दिया गया है।

उभे—**युज्यते**। (जुज्जइ।)

दोनों—(ऐसा करना) ठीक ही है।

(नेपथ्ये) **एतु एतु भवान्**। (एदु एदु भवं।)

(नेपथ्य में) आइये, आप (इधर से) आइये।

कञ्चुकी—(कर्णं दत्त्वा) **अये, इत एवाभिवर्तते देवः। स्वकर्मानुष्ठीयताम्।**

व्या० एवं श०—अनुष्ठीयताम् – अनु+स्था+कर्मवाच्य यक् लो०प्र०पु०ए०व० = करो।

कञ्चुकी—(कान लगाकर) अरे, महाराज इधर ही आ रहे हैं। अपना काम करो (अर्थात् अपने काम में लग जाओ)।

उभे—तथा। (तह।) (इति निष्क्रान्ते)।

दोनों—ठीक है। (दोनों निकल जाती हैं)।

(ततः प्रविशति पश्चात्तापसदृशवेषो राजा विदूषकः प्रतिहारी च)

(तदनन्तर प्रश्चाताप के अनुरूप वेश वाले राजा, विदूषक और प्रतीहारी प्रवेश करते हैं)।

कञ्चुकी—(राजानमवलोक्य) **अहो, सर्वास्ववस्थासु रमणीयत्वमाकृतिविशेषाणाम्। एवमुत्सुकोऽपि प्रियदर्शनो देवः। तथाहि—**

व्या० एवं श०—रमणीयत्वम् – रम्+णिच्+अनीयर (कर्तरि बाहुलकात्) रमणीयः तस्य भावः – रमणीय+त्व= सौन्दर्य। आकृतिविशेषाणाम= सुन्दर आकृति वालों की। उत्सुकः = व्याकुल, व्यग्र। प्रियदर्शनः – प्रियं मनोहरं दर्शनं यस्यासौ = देखने में सुन्दर, सौम्यमूर्ति।

कञ्चुकी—(राजा को देखकर) ओह, विशिष्ट (सुन्दर) आकृति वालों का सौन्दर्य सभी अवस्थाओं में विद्यमान रहता है अर्थात् सुन्दर आकृति वाले लोग सभी अवस्थाओं में सुन्दर लगते हैं। इस प्रकार व्याकुल होते हुये भी महाराज देखने में प्रिय (मनोहर) हैं। क्योंकि—

विशेष—'अहो ! सर्वास्ववस्थासु रमणीयत्वमाकृतिविशेषाणाम्' कञ्चुकी द्वारा दुष्यन्त के विषय में कही गयी यह उक्ति सूक्ति के रूप में ग्रहणीय है। इसका भाव यह है कि जिन लोगों का व्यक्तित्व आकृति विशेष से मण्डित होता है वे सभी अवस्थाओं में सुन्दर (रमणीय) लगते हैं। लोक में ऐसा देखा भी जाता है कि विशिष्ट आकृति वाले व्यक्ति सुख-दुःख की सभी अवस्थाओं में रमणीय ही दृष्टिगोचर होते हैं। कञ्चुकी की इस उक्ति के उदाहरण स्वयं दुष्यन्त ही हैं जो कञ्चुकी को विरह व्याकुल होते हुये भी प्रिय दर्शन, दिखायी देते हैं—'एवमुत्सुकोऽपि प्रियदर्शनो देवः'।

प्रत्यादिष्टविशेषमण्डनविधिर्वामप्रकोष्ठार्पितं
बिभ्रत्काञ्चनमेकमेव वलयं श्वासोपरक्ताधरः।
चिन्ताजागरणप्रताम्रनयनस्तेजोगुणादात्मनः
संस्कारोल्लिखितो महामणिरिव क्षीणोऽपि नालक्ष्यते॥ ६॥

अन्वय—प्रत्यादिष्टविशेषमण्डनविधिः वामप्रकोष्ठार्पितम् एकम् एव काञ्चनं वलयं बिभ्रत् श्वासोपरक्ताधरः चिन्ताजागरणप्रताम्रनयनः संस्कारोल्लिखितः महामणिः इव क्षीणः अपि आत्मनः तेजोगुणात् (क्षीणः) न आलक्ष्यते।

शब्दार्थ—प्रत्यादिष्टविशेषमण्डनविधिः = जिनके द्वारा विशेषरूप से अलङ्कारधारण-विधि का परित्याग कर दिया गया है ऐसे, विशेषरूप से अलङ्कार (आभूषण) पहनने की विधि का परित्याग किये हुये। वाम्रप्रकोष्ठार्पितम् = बायीं कलायी (प्रकोष्ठ) में पहने हुये। एकम् = एक। एव = ही। काञ्चनम् = स्वर्णनिर्मित। वलयम् = कङ्गन को। बिभ्रत् = धारण किये हुये। श्वासोपरक्ताधरः = जिनका अधर (निचला ओठ) (उष्ण) श्वासों (साँसों) के कारण अत्यधिक (उपरक्त) हो गया है, (उष्ण) श्वासों के कारण अत्यधिक लाल अधर (निचले ओठ) वाले। चिन्ताजागरणप्रताम्रनयनः = जिनके नेत्र चिन्ता से जागने के कारण अत्यधिक लाल हो गये हैं, चिन्ता से जागने के कारण अत्यधिक लाल नेत्रों वाले। संस्कारोल्लिखितः = कसौटी पर कसे (खरादे) गये। महामणिः इव = महामणि की भाँति (बहुमूल्य रत्न की भाँति)। क्षीणः = कृश

(दुर्बल) होते हुये। अपि = भी (महाराज)। आत्मनः = अपने। तेजोगुणात् = तेजोगुण (तेजस्विता) के कारण। न = (क्षीण) नहीं। आलक्ष्यते = दिखायी पड़ रहे हैं।

अनुवाद—विशेषरूप से अलङ्कार (आभूषण) पहनने की विधि का परित्याग किये हुये, बायीं कलायी में एक स्वर्णनिर्मित कङ्गन (कङ्कण) को धारण किये हुये, (उष्ण) श्वासों (साँसों) से अत्यधिक लाल अधर (निचले ओठ) वाले और चिन्ता से (रात-रात भर) जागने के कारण अत्यधिक लाल नेत्रों वाले (महाराज दुष्यन्त), कसौटी (शाण) पर घिसे गये महामणि (बहुमूल्य रत्न) की भाँति कृश (दुर्बल) होते हुये भी अपनी तेजस्विता (तेज के गुण) के कारण (कृश) नहीं दिखलायी पड़ रहे हैं।

संस्कृत व्याख्या—प्रत्यादिष्टविशेषमण्डनविधिः – परित्यक्तविशेषालङ्करणविधिः येन तादृशः, **वामप्रकोष्ठार्पितं** – वामप्रकोष्ठस्याधोभागे न्यस्तम् , **एकम् एव काञ्चनं** – स्वर्णमयं, **वलयं** – कटकम्, **बिभ्रत्** – धारयन् , **श्वासोपरक्ताधरः** – उष्णोच्छ्वासेन उपरक्तः अधरोष्ठः यस्य तादृशः, **चिन्ताजागरणप्रताम्रनयनः** – शकुन्तलानुध्यानेन यत् निद्राच्छेदः तेन अतिलोहिते नयने यस्य तादृशः, **एषः** – देवः, **संस्कारोल्लिखितः** – शाणघर्षणादिना तनूकृतः, **महामणिः इव** – बहुमूल्यरत्नमिव, **क्षीणोऽपि** – कृशोऽपि, **आत्मनः** – स्वस्य, **तेजोगुणात्** – दीप्तिप्रभावात् , **न** – नहि, **आलक्ष्यते** – कृशतया ज्ञातुं न शक्यते।

संस्कृत-सरलार्थः—'अहो, सर्वास्ववस्थासु रमणीयत्वमाकृतिविशेषाणाम् परित्यक्तः, वाणप्रकोष्ठस्यावस्तने माग एकमेव कनकमयं करकं धत्ते, उष्णश्वासेमोपरक्त क्तधरोष्ठः, शकुन्तलानुध्यानरुपया चिन्तया जागरणवशात्तस्य नयने रक्ते जाने। परन्तवस्यां दशया मपि सः शाणधर्सणादिना क्षीणो मणिरिव स्वदीप्तिप्रभावात् कृशो न लक्ष्यते।

व्याकरण—प्रत्यादिष्टविशेषमण्डनविधिः – प्रत्यादिष्टः (प्रति+आ+दिश्[+क्त) विशेषेण मण्डनस्य विधिः येन सः (बहु०)। वामप्रकोष्ठार्पितं – वामे प्रकोष्ठे अर्पितम् (तत्पु०)। श्वासोपरक्ताधरः – श्वासैः उपरक्तः अधरः यस्य सः (बहु०)। चिन्ताजागरणप्रताम्रनयनः – चिन्तया जागरणेन प्रताम्रे नयने यस्य सः (बहु०)। संस्कारोल्लिखितः – संस्काणे उल्लिखितः (तत्पु०)।

कोष—'स्यादुल्लिखितमुत्कीर्णे तनुकृते च वाच्यवत्' इति मेदिनी। 'तेजः प्रभावे दीप्तौ च' इत्यमरः।

अलङ्कार—(१) यहाँ राजा (दुष्यन्त) की तुलना महामणि से (संस्कारोल्लिखितो महामणिरिव) से की गयी है, अतः 'उपमा' अलङ्कार है। ल०द्र०। (२) यहाँ विरहावस्था में राजा के स्वाभाविक वर्णन से 'स्वभावोक्ति' अलङ्कार है। ल०द्र० १/७ श्लो०। (३) विशेषणों के साभिप्राय होने से 'परिकर' अलङ्कार है। ल०द्र० १/२६ श्लो०।

छन्द—श्लोक में 'शार्दूलविक्रीडित' छन्द है। ल०द्र० १/१४ श्लो०।

टिप्पणी—(१) इस श्लोक में राजा की चार विरहजन्य कामदशाओं का वर्णन किया गया है—प्रत्यादिष्ट से विषयनिवृत्ति, चिन्ता से सङ्कल्प, जागरण से निद्रा का अभाव और क्षीण होने से तनुता। (२) काम की दस दशायें होती हैं—'नयनप्रीतिः प्रथमं चिन्तासङ्गस्ततोऽथ सङ्कल्पः। निद्राच्छेदस्तनुता विषयनिवृत्तिस्त्रपाशः। उन्मादो मूर्छा इत्येताः स्मरदशा दशैव स्युरित्याचक्षते॥ उज्ज्वलनीलमणि।

सानुमती—(राजानं दृष्ट्वा) **स्थाने खलु प्रत्यादेशविमानिताऽप्यस्य कृते शकुन्तला**

क्लाम्यतीति । (ठाणे क्खु पच्चादेसविमाणिदा वि इमस्स किदे सउन्दला किलम्मदि त्ति ।)

व्या० एवं श०—स्थाने = उचित ही है । प्रत्यादेशविमानिता – प्रत्यादेशेन विमानिता तृ०त० = तिरस्कार से अपमानित । विमानिता – वि+मान्+क्त+टाप् । क्लाम्यति – क्लम्+लट् प्र०पु०ए०व० = दुःखी रहती है ।

सानुमती—(राजा को देखकर) परित्याग के द्वारा अपमानित हुयी भी शकुन्तला इस (राजा दुष्यन्त) के लिये दुःखित रहती है, यह ठीक ही है ।

विशेष—(१) स्थाने – यह अव्यय 'उचित', 'युक्त' – इस अर्थ में है—'युक्ते द्वे साम्प्रतं स्थाने' इत्यमरः । (२) प्रत्यादेशः—'प्रत्याख्यानं निरसनं प्रत्यादेशो निराकृतिः' – प्रत्याख्यान, निरसन, प्रत्यादेश तथा निराकृति – ये चार शब्द निषेध या खण्डित करने के बोधक है ।

राजा—(ध्यानमन्दं परिक्रम्य)

व्या० एवं श०—ध्यानमन्दम् – ध्यानेन मन्दम् तृ०त० = ध्यानमग्न होने से धीरे-धीरे ।

राजा—(ध्यान-मग्न धीरे-धीरे चारों ओर घूमकर)

प्रथमं सारङ्गाक्ष्या प्रियया प्रतिबोध्यमानमपि सुप्तम् ।
अनुशपदुःखाययेदं हतहृदयं सम्प्रति विबुद्धम् ।। ७ ।।

अन्वय—प्रथमं सारङ्गाक्ष्या प्रियया प्रतिबोध्यमानम् अपि सुप्तम् इदं हतहृदयं सम्प्रति अनुशयदुःखाय विबुद्धम् ।

शब्दार्थ—प्रथमम् = पहले । सारङ्गाक्ष्या = मृग के समान नेत्रों वाली । प्रियया = प्रिया के द्वारा । प्रतिबोध्यमानम् = जगाया जाता हुआ (याद दिलाया जाता हुआ) । अपि = भी । सुप्तम् = सोया हुआ, (विस्मृतिग्रस्त) । इदम् = यह । हतहृदयम् = अभागा हृदय । सम्प्रति = अब । अनुशयदुःखाय = पश्चाताप (दुःख के लिये) । विबुद्धम् = जाग गया है (होश में आ गया है) ।

अनुवाद—पहले मृगनयनी प्रिया (शकुन्तला) के द्वारा जगाया जाता हुआ (याद दिलाया जाता हुआ) भी सोया हुआ (विस्मृतिग्रस्त) यह अभागा हृदय अब पश्चाताप दुःख (भोगने) के लिये जाग गया (होश में आया) है ।

संस्कृत व्याख्या—प्रथमं – पूर्वम् , **सारङ्गाक्ष्या** – मृगलोचनया, **प्रियया** – प्रेयस्या शकुन्तलया, **प्रतिबोध्यमानम् अपि** – ज्ञाप्यमानम् अपि, (विविधरूपेणं प्रेर्यमाणम् अपि), **सुप्तम्** – निद्रितम् (मोहमुपागतं), विस्मृतिग्रस्तमित्यर्थः, **इदम्** – एतत् , **हतहृदयं** – भाग्यवञ्चितम् – अन्तः करणम् , **सम्प्रति** – अधुना, **अनुशयदुःखाय** – पश्चात्तापदुःखाय पश्चात्तापदुखं सोढुमित्यर्थः, **विबुद्धम्** – जागरितम् , **चैतन्यमागतम्** – इत्यर्थः ।

संस्कृत-सरलार्थ—शकुन्तलाप्रत्याख्यानजनितदुःखेन पश्चात्तापं गतो राजा चिन्तयति- यदा प्रेयस्या शकुन्तलया स्वयमेवागत्य बहुविधमहं प्रेममूलकसम्बन्धविषये ज्ञापितस्तदा तु तद्ववचनामनादृत्य मोहमुपगतं मे भाग्यहीनं हृदयम् सम्प्रति प्रियावियोगे जाते पश्चात्तापकष्टमनुभवितुं प्रबुद्धमस्तीति मन्ये ।

व्याकरण—सारङ्गाक्ष्या – सारङ्गस्य अक्षिणी इव अक्षिणी यस्याः तया (बहु०) । प्रतिबोध्यमानम् – प्रति+बुध्+णिच्+यक्+शानच । विबुद्धम् – वि+बुध्+क्त ।

अलङ्कार—(१) पूर्वार्ध में कारण के होने पर भी कार्य के न होने का वर्णन होने से

'विशेषोक्ति' अलङ्कार है। (२) उत्तरार्द्ध में कारण के बिना ही कार्य का वर्णन होने से **'विभावना'** अलङ्कार है। दोनों का क्रमशः लक्षण द्रष्टव्य - २/२२ श्लो० तथा १/१८ श्लो०। (३) 'सारङ्गाक्ष्या' में 'लुप्तोपमा' है - ल०द्र० १/५ श्लो०।

छन्द—श्लोक में 'आर्या' छन्द है। ल०द्र० १/२ श्लो०।

सानुमती—नन्वीदृशानि तपस्विन्या भागधेयानि। (णं ईदिसाणि तवस्सिणीए भाअहेआणि।)

व्या० एवं श०—तपस्विन्या - तपस्+विनि+ङीप्+तृ०ए०व० = बेचारी अभागी। 'तपस्वी तापसे दीने' इति हैमः।

सानुमती—उस बेचारी (शकुन्तला) के भाग्य ही ऐसे हैं।

विदूषकः—(अपवार्य) **लङ्घित एष भूयोऽपि शकुन्तलाव्याधिना। न जाने कथं चिकित्सितव्यो भविष्यतीति।** (लंघिदो एषो भूओ वि सउन्दलावाहिणा। ण आणे कहं चिकिच्छिदव्वो भविस्सदि त्ति।)

व्या० एवं श०—शकुन्तलाव्याधिना - शकुन्तला एव व्याधिः तेन = शकुन्तला रूप रोग से। चिकित्सितव्यः - कित्+सन्+तव्यत् = चिकित्सा के योग्य।

विदूषक—(एक ओर मुँह करके) यह फिर शकुन्तला के रोग से आक्रान्त (ग्रस्त) हो गये। न जाने कैसे इनकी चिकित्सा होगी ?

कञ्चुकी—(उपगम्य) **जयतु जयतु देवः। महाराज, प्रत्यवेक्षिताः प्रमदभूमयः। यथाकाममध्यास्तां विनोदस्थानानि महाराजः।**

व्याकरण एवं शब्दार्थ—प्रत्यवेक्षिताः - प्रति+अव+ईक्ष+क्त+टाप् = देख लिये गये। अध्यास्तां विनोदस्थानानि - यहाँ स्थानानि में अधिशीङ्स्थासाम् से कर्मसंज्ञा (द्वितीया) है।

कञ्चुकी—(समीप में जाकर) जय हो, महाराज की जय हो। महाराज प्रमदवन के स्थान (मेरे द्वारा) भली-भाँति देख लिये गये हैं। महाराज, (अब आप) इच्छानुसार विनोदस्थानों पर बैठिये।

राजा—वेत्रवति, मद्वचनादमात्यमार्यपिशुनं ब्रूहि। चिरप्रबोधान्न सम्भावितमस्माभिरद्य धर्मासनमध्यासितुम्। यत्प्रत्यवेक्षितं पौरकार्यमार्येण तत्पत्रमारोप्य दीयतामिति।

व्या० एवं श०—चिरप्रबोधात् = देर से (सोकर) उठने के कारण। न सम्भावितम् - सम्+भू+णिच्+क्त = सम्भव नहीं। धर्मासनम् - धर्मस्य आसनम् ष०त० = धर्मासन (न्यायासन) पर। अध्यासितुम् - अधि+आस्+तुमुन् = बैठना। यहाँ 'अधिशीङ्स्थासां कर्म' से कर्मसंज्ञा तदन्तर द्वितीया। पत्रमारोप्य = कागज पर चढ़ा कर अर्थात् लिखकर।

राजा—वेत्रवति, मेरे आदेशानुसार मन्त्री आर्य पिशुन से कहो कि आज देर से (सोकर) उठने के कारण मेरा धर्मासन (न्यायासन) पर बैठना सम्भव नहीं है। आर्य (आप) के द्वारा जो नागरिकों का कार्य देख लिया गया हो, उसे पत्र पर चढ़ाकर (मेरे पास) भेज दें।

विशेष—उन दिनों राजा धर्मासन (न्यायासन) पर बैठकर राजकार्य देखता था। कहा भी गया है—धर्मासनमधिष्ठाय संवीताङ्गः समाहितः। प्रणम्य लोकपालेभ्यः कार्यदर्शनमाचरेत्॥

प्रतिहारी—यद्देव आज्ञापयति। (जं देवो आणवेदि)। (इति निष्क्रान्ता)।

प्रतिहारी—जो महाराज आज्ञा देते हैं। (निकल जाता है)।

राजा—वातायन, त्वमपि स्वं नियोगमशून्यं कुरु।

राजा—वातायन, तुम भी अपना कार्य (नियोग) पूरा (अशून्य) करो।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देवः। (इति निष्क्रान्ता)।

कञ्चुकी—जो आप की आज्ञा। (निकल जाता है)।

विदूषकः—कृतं भवता निर्मक्षिकम्। साम्प्रतं शिशिरातपच्छेदरमणीयेऽस्मिन् प्रमदवनोद्देश आत्मानं रमयिष्यसि। (किदं भवदा णिम्म च्छिअं। संपदं सिसिरातवच्छेअरमणीए इमस्सिं पमदवणुद्देसे अत्ताणं रमइस्ससि।)

व्या० एवं श०—निर्मक्षिकम् – मक्षिकाणामभावः निर्मक्षिकम् अव्ययी भाव समास। मक्खियों से रहित। यह एक प्रकार से मुहावरा है। इसका अर्थ निर्जन, एकान्त होता है। शिशिरातपच्छेदरमणीये – शिशिरश्च आतपश्च शिशिरातपौ, तयोः छेदेन रमणीये (त०ष०) = शीत एवं आतप (धूप) के अभाव से रमणीय (सुखद)। रमयिष्यति – रम्+णिच्+लृट् प्र०पु०ए०व० = रमण करेंगे (अर्थात् मनोरञ्जन कीजिये)।

विदूषक—आप के द्वारा (यह स्थान) एकान्त (निर्जन) कर दिया गया। अब शीत और धूप से रहित इस रमणीय प्रमदवन के प्रदेश में अपना मनोरञ्जन कीजिये।

राजा—वयस्य, रन्ध्रोपनिपातिनोऽनर्था इति यदुच्यते तदव्यभिचारि वचः। कुतः—

व्या० एवं श०—रन्ध्रोपनिपातिनः – रन्ध्रेषु छिद्रेषु उपनिपातिनः (उप+नि+पत्+णिनि प्र०बं०व०) = छिद्रों में पड़ने वाले। यह पद 'अनर्थाः' इस पद का विशेषण है। अनर्थ का अर्थ दुःख-विपत्ति होता है। 'रन्ध्रोपनिपातिनोऽनर्थाः' यह एक (मुहावरा) है। इसका भाव यह है कि विपत्ति में विपत्तियाँ आती हैं। इस भाव से मिलती जुलती अन्य सूक्तियां भी हैं—(क) 'छिद्रेष्वनर्था बहुलीभवन्ति'। (ख) 'क्षते प्रहारा निपतन्त्यभीक्ष्णम्'। अव्यभिचारि – निर्दोष, अपवादरहित अर्थात् पूर्णतः सत्य। न्यायशास्त्र में दूषित हेतु को व्याभिचार दोष कहते हैं।

राजा—हे मित्र, जो कहा जाता है कि विपत्तियाँ (अनर्थ) छिद्र (विपत्ति) पर ही टूट पड़ती हैं, वह बिल्कुल सत्य (अव्यभिचारी) वचन है। क्योंकि—

मुनिसुताप्रणयस्मृतिरोधिना मम च मुक्तमिदं तमसा मनः।
मनसिजेन सखे प्रहरिष्यता धनुषि चूतशरश्च निवेशितः॥ ८॥

अन्वय—सखे, मुनिसुताप्रणयस्मृतिरोधिना तमसा मम इदं मनः मुक्तं, प्रहरिष्यता मनसिजेन च धनुषि चूतशरः च निवेशितः।

शब्दार्थ—सखे = हे मित्र! मुनिसुताप्रणयस्मृतिरोधिना = मुनि (कण्व) की पुत्री (शकुन्तला) के प्रति प्रणय (प्रेम) के स्मरण को रोकने वाले। तमसा = अज्ञान (मोह) के द्वारा। मम = मेरा। इदम् = यह। मनः = मन। मुक्तम् च = मुक्त हो गया। च = और। प्रहरिष्यता = प्रहार करने वाले। मनसिजेन = कामदेव के द्वारा। धनुषि = धनुष पर। चूतशरः = आम्र-मञ्जरी रूपी बाण। च = भी। निवेशितः = चढ़ा लिया गया है।

अनुवाद—हे मित्र, मुनि (कण्व) की पुत्री (शकुन्तला) के प्रति प्रणय (प्रेम) के स्मरण के अज्ञान (मोह) के द्वारा यह मन मुक्त कर दिया गया है, और प्रहार करने वाले कामदेव के द्वारा धनुष पर आम्र-मञ्जरी रूपी बाण भी चढ़ा लिया गया है। (अर्थात् अब मेरा हृदय मोह-अज्ञान से

रहित हो गया है जिससे शकुन्तला के प्रणय की घटना याद आ गयी है)। पर इधर कामदेव भी मेरे ऊपर प्रहार करने के लिये उद्यत हो गया हैं।

संस्कृत व्याख्या—सखे – हे मित्र, **मुनिसुताप्रणयस्मृतिरोधिना** – कण्वतनया शकुन्तलायां प्रेम्णः स्मरणस्य अवरोधकेन, **तमसा** – मोहेन, **मम** – मे, **इदम्** – एतत् , **मनः** – चेतः, **मुक्तं च** – त्यक्तं च, **प्रहरिष्यता** – प्रहारं कुर्वता, **मनसिजेन** – कामदेवेन, **धनुषि** – चापे, **चूतशरः** – आम्रमञ्जरीबाणः, **निवेशितश्च** – आरोपितश्च।

संस्कृत-सरलार्थः—वियोगविह्वलो राजा स्वमित्रं विदूषकं स्वदशां वर्णयन् कथयति – मित्र। यद्यपि शकुन्तलाप्रणयस्मृतिबोधको मे मोहः समाप्तिं गतः परन्तु सम्प्रति कामदेवो मां पीडयितुमुद्यतो दृश्यते इति मम दुर्भाग्यमेव।

व्याकरण—मुनिसुताप्रणयस्मृतिरोधिना – मुने सुतायां प्रणयस्य स्मृतेः रोधिना (तत्पु०)। मनसिजेन – 'तत्पुरुषे कृति०' (अ० ६/३/१४) से सप्तमी का विकल्प से अलुक्, लुक् होने पर मनोज रूप बनता है। प्रहरिष्यता – प्र+हृ+लृट्+शतृ, तृ०,एक०। निवेशितः – नि+विश्+णिच्+क्त = चढ़ा लिया।

अलङ्कार—(१) प्रस्तुत श्लोक में भिन्न क्रम से प्रयुक्त दोनों चकार (मम 'च' तथा चूतशरश्च) 'मोचन' एवं निवेशन (निवेशितः) रूप दोनों क्रियाओं की एककालता को सूचित करते हैं अतः 'समुच्चय' अलङ्कार है। ल०द्र० २/१० श्लो०। (२) भोज ने यहाँ 'स्मरण' अलङ्कार माना है।

छन्द—श्लोक में 'द्रुतविलम्बित' छन्द है। ल०द्र० २/११ श्लो०।

टिप्पणी—'मुनिसुता' से यह ध्वनित होता है कि अङ्गूठी को देख लेने से राज दुष्यन्त पर पड़े महर्षि दुर्वासा के शाप का प्रभाव समाप्त हो गया है और उनको तपोवन तथा शकुन्तला से सम्बद्ध सभी वृतान्तों का स्मरण हो गया है।

विदूषकः—तिष्ठ तावत्। अनेन दण्डकाष्ठेन कन्दर्पबाणं नाशयिष्यामि। (चिट्ठ दाव। इमिणा दण्डकट्ठेण कन्दप्पबाणं णासइस्सं।) (इति दण्डकाष्ठमुद्यम्य चूताङ्कुरं पातयितुमिच्छति।)

विदूषक—तो रुकिये। इस काठ के दण्ड से कामदेव के बाण को नष्ट कर देता हूँ। (काठ के डण्डे को उठाकर आम्र-मञ्जरी को गिराना चाहता है।)

राजा—(सस्मितम्) **भवतु। दृष्टं ब्रह्मवर्चसम्। सखे, क्वोपविष्टः प्रियाया किञ्चिदनुकारिणीषु लतासु दृष्टिं विलोभयामि।**

व्या० एवं श०—ब्रह्मवर्चसम् – ब्रह्मणः वर्चः इति ब्रह्मवर्चसम् (ष०त०) 'वर्चस' में 'ब्रह्महस्तिभ्याम्' सूत्र से सामासान्त में 'अच्' प्रत्यय हुआ है। = ब्रह्मतेज को 'तेजः पुरीषयोर्वचः' इत्यमरः। अनुकारिणीषु – अनु+कृ+णिनि+ङीप् स०ब०व० = अनुकरण करने वाली। यह पद 'लता' पद का विशेषण है। विलोभयामि – वि+लुभ्+णिच् उ०पु०ए०व० = बहलाऊँ।

राजा—(मुस्कराहट के साथ) अच्छा, (तुम्हारा) ब्रह्मतेज देख लिया गया। हे मित्र, कहाँ बैठकर मैं अपनी प्रिया (शकुन्तला) का कुछ-कुछ अनुकरण करने वाली लताओं पर (अर्थात् लताओं को देखकर) अपनी दृष्टि को आनन्दित करूँ (बहलाऊँ)।

विदूषकः—नन्वासन्नपरिचारिका चतुरिका भवता सन्दिष्टा। माधवीमण्डप इमां वेलामतिवाहयिष्ये। तत्र मे चित्रफलकगतां स्वहस्तलिखितां तत्रभवत्याः शकुन्तलायाः

प्रतिकृतिमानयेति । (णं आसण्णपरिआरिआ चदुरिआ भवदा संदिट्ठा । माहवीमण्डवे इमं वेल अदिवाहिस्सं । तहिं मे चित्तफल अगदं सहत्थलिहिदं तत्तहोदीए सउन्दलाए पडिकिदिं आणेहि त्ति ।)

व्या० एवं श०—सन्दिष्टा – सम्+दिश्+क्त+टाप् = आदिष्ट की गयी है अर्थात् उसे आदेश दिया है । अतिवाहयिष्ये – अति+वह्+णिच्+लृट्+उ०पु०ए०व०, 'णिचश्च' सूत्र से आत्मने पद = बिताऊँगा । चित्रफलकगताम् – चित्रपट पर बनाये गये । प्रतिकृतिम् = चित्र को ।

विदूषक—आपने समीपवर्ती सेविका चतुरिका को आदेश किया है कि 'माधवी लता के कुञ्ज (मण्डप) में इस समय को बिताऊँगा । वहाँ मेरे अपने हाथ द्वारा चित्रपट पर बनाये गये मान्या शकुन्तला के चित्र को लाओ' ।

विशेष—वियोगावस्था में मन बहलाने के जो चार उपाय बताये गये हैं, उनमें (अपने प्रेमी-प्रेमिका का) चित्र बनाना भी है । चार उपाय हैं—(१) तत्सदृश वस्तुओं को देखना, (२) उसका चित्र बनाना, (३) 'स्वप्न में उसका दर्शन करना, (४) उसके द्वारा स्पर्श की गयी वस्तुओं का स्पर्श करना ।

राजा—ईदृशं हृदयविनोदस्थानम् । तत्तमेव मार्गमादेशय ।

राजा—ऐसा मन बहलाने का स्थान है, तो उसी मार्ग को बताओ ।

विदूषक—इत इतो भवान् । (इदो इदो भवं) ।

विदूषक—आप इधर से, इधर से (आइये) ।

(उभौ परिक्रामतः । सानुमत्यमनुगच्छति)

(दोनों चारों ओर घूमते हैं । सानुमती उनके पीछे-पीछे जाती है)

विदूषकः—एष मणिशिलापट्टकसनाथो माधवीमण्डप उपहाररमणीयतया निःसंशयं स्वागतेनेव नौ प्रतीच्छति । तत् प्रविश्य निषीदतु भवान् । (एसो मणिसिलापट्टअसणाहो माहर्वीमण्डवो उवहाररमणिज्जदाए णिस्ससअं साअदेण विअ णो पडिच्छदि । ता पविसिअ णिसीददु भवं ।)

व्या० एवं श०—मणिशिलापट्टकसनाथः – मणिशिलायाः पट्टकेन सनाथः (त०) = मणिमय शिलापट्ट से युक्त । माधवीमण्डपः – माधव्याःमण्डपः = माधवी कुञ्ज । उपहाररमणीयतया – उपहारेण-उपायनीकृतेन कुसुमराशिना या रमणीयता तया = उपहारस्वरूप पुष्प राशि की मनोहरता से । नौ = हम दोनों को । प्रतीच्छति – प्रति+इच्छति प्रति+इष्+लट् प्र०पु०ए०व० = आमन्त्रित कर रहा है । निषीदतु = बैठिये ।

विदूषक—यह मणिमय शिलापट्ट से युक्त माधवीकुञ्ज (पुष्पों के) उपहारों से रमणीय होने के कारण निःसन्देह मानो स्वागतपूर्वक हम दोनों को आमन्त्रित करा रहा है (अर्थात् हम दोनों को बुला रहा है) तो प्रवेश करके आप बैठिये ।

(उभौ प्रवेशं कृत्वोपविष्टौ)

(दोनों प्रवेश कर बैठ जाते हैं) ।

सानुमती—लतासंश्रिता द्रक्ष्यामि तावत् सख्याः प्रतिकृतिम् । ततोऽस्या भर्तुर्बहुमुखमनुरागं निवेदयिष्यामि । (लदासंस्सिदा देक्खिस्सं दाव सहीए पडिकिदिं । तदो से भत्तुणो बहुमुहं णिवेदइस्सं । (इति तथा कृत्वा स्थिता) ।

व्या० एवं श०—बहुमुखम् – बहूनि मुखानि यस्य तादृशम् (ब०ब्री०) = बहुत प्राकर से प्रकट किये गये।

सानुमती—तब तक लता का आश्रय (ओट) लेकर सखी (शकुन्तला) के चित्र को देखती हूँ। तत्पश्चात् इस (शकुन्तला) के पति (दुष्यन्त) के बहुमुखी (विविध प्रकार से प्रकट किये हुये) अनुराग को मैं उससे (शकुन्तला से) कहूँगी। (वैसा कर अर्थात् लता में छिपकर खड़ी हो जाती है।)

राजा—सखे, सर्वमिदानीं स्मरामि शकुन्तलायाः प्रथमवृत्तान्तम्। कथितवानस्मि भवते च। स भवान् प्रत्यादेशवेलायां मत्समीपगतो नासीत्। पूर्वमपि न त्वया कदाचित् सङ्कीर्तितं तत्रभवत्या नाम। कच्चिदहमिव विस्मृतवानसि त्वम्।

व्या० एवं श०—प्रत्यादेशवेलायाम् – प्रत्यादेशस्य वेलायाम् = परित्याग के समय। न सङ्कीर्तितं तत्रभवत्या नाम – (तुम्हारे द्वारा भी) सुश्री शकुन्तला का नाम नहीं लिया गया।

राजा—हे मित्र, अब शकुन्तला से सम्बद्ध पहले के सभी वृत्तान्त (घटना) को याद कर रहा हूँ। आप को मैंने (उसी समय) कहा (बताया) भी था। वह आप (उस शकुन्तला के) परित्याग के समय मेरे पास नहीं थे। (किन्तु) पहले भी आप के द्वारा उस (शकुन्तला) का नाम नहीं लिया गया (अर्थात् आप ने याद नहीं दिलाया)। क्या तुम भी मेरी तरह भूल गये थे?

विदूषकः—न विस्मरामि। किन्तु सर्वं कथयित्वाऽवसाने पुनस्त्वया हरिहासविजल्प एष न भूतार्थ इत्याख्यातम्। मयाऽपि मृत्पिण्डबुद्धिना तथैव गृहीतम्। अथवा भवितव्यता खलु बलवती। (ण विसुमरामि। किंतु सव्वं कहिअ अवसाणे उण तुए परिहासविअप्पओ एसो ण भूदत्थो त्ति आचक्खिदं। मए वि मिप्पिण्डबुद्धिणा तह एव्व गहीदं। अहवा भविदव्वदा क्खु बलवदी।)

व्या० एवं श०—परिहासविजल्पः – परिहासकथनम् = हँसी की बात। भूतार्थः = यथार्थ (सत्य)। मृत्पिण्डबुद्धिना – मृदः मृत्तिकायाः पिण्डः चयः इव सूक्ष्मदर्शनविमूढा बुद्धिः यस्य तथाविधेन मूढमतिना। भवितव्यता – भू+तव्यत्+तल्+टाप् = होनहार (भावी)। बलवती – बलमस्ति – बल+मतुप्+ङीप् = बलवाली (बलयुक्त)।

विदूषक—मैं नहीं भूलता। किन्तु सब कुछ कहकर अन्त में फिर आप ने कहा था कि—'यह सब हँसी की बात है, सत्य नहीं'। मिट्टी के लोदें के समान मन्द बुद्धि वाले मैंने भी उसी प्रकार (हँसी में कहा गया कथन) ही समझ गया। अथवा भावी (होनवार) बलवान् होती है।

टिप्पणी—'भवितव्यता खलु बलवती' – यह बहुप्रचलित सूक्ति है। इसका प्रयोग साधारण-असाधारण सभी लोग करते हैं। कुछ सूक्तियाँ ये हैं—(१) 'भवितव्यं भवत्येव नारिकेलफलाम्बुवत्', (२) सर्वंकषा भगवती भवितव्यतैव, (३) नियतिः केन वार्यते? (४) यत्पूर्वं विधिना ललाटलिखितं तन्मार्जितुं कः क्षमः।

सानुमती—एवमेवैतत् (एव्वं णेद)।

सानुमती—यह ऐसा (ही है)।

राजा—(ध्यात्वा) सखे, त्रायस्व माम्।

राजा—(ध्यान करके) हे मित्र, मुझको बचाओ।

विदूषकः—भोः किमेतत् ? अनुपपन्नं खल्वीदृशं त्वयि। कदापि सत्पुरुषाः शोकवास्तव्या न भवन्ति। ननु प्रवातेऽपि निष्कम्पा गिरयः। भो, किं एदं ? अणुववण्णं क्खु ईदिसं तुइ। कदा वि सप्पुरिसा सोअवत्तव्वा ण होन्ति। णं पवादे वि णिक्कम्पा गिरीओ।)

व्या० एवं श०—अनुपपन्नम् – उप+पद्+क्त विभक्तिकार्य उपपन्नम् न उपपन्नम् अनुपपन्नम् (नञ् समास) = अयोग्य, अनुचित। शोकवास्तव्याः – शोकस्य वास्तव्या = शोक के निवास अर्थात् शोकाभिभूत। वास्तव्याः – वस्+तव्यत्+णिच् प्र०ब०व० = निवासी। प्रवातेऽपि – प्रवातेऽपि = आँधी में भी। निष्कम्पाः कम्पनरहिताः निश्चलाः = अडिग।

विदूषक—अरे, यह क्या ? आप के विषय में निश्चय ही यह अनुचित है। सज्जन व्यक्ति कभी भी शोक के वशीभूत नहीं होते हैं। निश्चय ही आँधी में भी पर्वत नहीं काँपते (अर्थात् नहीं हिलते-अडिग रहते हैं)।

राजा—वयस्य, निराकरणविक्लवायाः प्रियायाः समवस्थामनुस्मृत्य बलवदशरणोऽस्मि। सा हि—

व्या० एवं श०—निराकरणविक्लवायाः – निराकरणेन विक्लवा (तृ०त०) तस्याः = परित्याग से व्याकुल का। अनुस्मृत्य – अनु+स्मृ+क्त्वा – ल्यप् = यादकर, स्मरण कर। बलवद् = अत्यन्त। अशरणः – नास्ति शरणं यस्य तादृशः = असहाय (अधीर)।

राजा—हे मित्र, परित्याग से व्याकुल प्रियतमा (शकुन्तला) की (तत्कालीन) दशा को याद कर मैं अत्यधिक असहाय (अधीर) हो गया हूँ। क्योंकि वह—

इतः प्रत्यादेशात् स्वजनमनुगन्तुं व्यवसिता
स्थिता तिष्ठेत्युच्चैर्वदति गुरुशिष्ये गुरुसमे।
पुनर्दृष्टिं बाष्पप्रसरकलुषामर्पितवती
मयि क्रूरे यत्तत् सविषमिव शल्यं दहति माम् ।। ९ ।।

अन्वय—इतःप्रत्यादेशात् स्वजनम् अनुगन्तुं व्यवसिता, गुरुसमे गुरुशिष्ये 'तिष्ठ' इति उच्चैः वदति (सति) स्थिता, बाष्पप्रसरकलुषां दृष्टिं पुनः मयि क्रूरे यत् अर्पितवती, तत् सविषं शल्यम् इव मां दहति।

शब्दार्थ—इतः = यहाँ से। प्रत्यादेशात् = अस्वीकार कर देने के कारण। स्वजनम् = अपने लोगों के। अनुगन्तुम् = पीछे-पीछे जाने के लिये। व्यवसिता = प्रवृत्त हुयी। गुरुसमे = पिता (गुरु) के समान। गुरुशिष्ये = गुरुशिष्य। तिष्ठ = (यह) रुको। इति = इस प्रकार। उच्चैः = जोर से (डाँटकर)। वदति = कहने पर। स्थिता = रुक गयी। वाष्पप्रसरकलुषाम् = आँसुओं के प्रवाह से मलिन। दृष्टिम् = दृष्टि को। पुनः = फिर। मयि = मुझे। क्रूरे = कठोर पर। यत् = जो। अर्पितवती = डाली। तत् = वह। सविषं = विषयुक्त। शल्यम् इव = बाण की भाँति। माम् = मुझको। दहति = जला रही है।

अनुवाद—यहाँ से (अर्थात् मेरे द्वारा) अस्वीकार हो जाने के कारण अपने बान्धवों के पीछे-पीछे जाने के लिये प्रवृत्त हुयी (अर्थात् अपने साथ आये हुये व्यक्तियों के पीछे-पीछे चलने लगी)। गुरु (पिता) के समान गुरुशिष्य (शार्ङ्गरव) के '(यहीं) रुको' इस प्रकार जोर से (डाँटकर) कहने पर खड़ी हो गयी (रुक गयी)। आँसुओं के प्रवाह से मलिन दृष्टि को फिर मुझ कठोर (क्रूर) पर जो डाली, वह (सारा दृश्य) विषयुक्त (विष से बुझे हुये) बाण की भाँति मुझको जला रहा है

(अर्थात् दुःखित कर रहा है)।

संस्कृत व्याख्या—**इतः** – मत्सकाशात् , **प्रत्यादेशात्** – निराकरणात् , **स्वजनं** – शार्ङ्गरवादिकमात्मीयजनान् , **अनुगन्तुम्** – अनुयातुम् , **व्यवसिता** – प्रवृत्ता, **गुरुसमे** – गुरुतुल्ये, **गुरुशिष्ये** – पितुः कण्वस्य शिष्ये शार्ङ्गरवे, '**तिष्ठ** – अत्रैव' (स्थिता भव), **इति** – इत्थम् , **उच्चैः** – तारस्वरेण, **वदति** – कथयति सति, **स्थिता** – गमनात् निवृत्ता; **वाष्पप्रसरकलुषाम्** – अश्रूणां प्रवाहेण मलिनाम् , **दृष्टिं** – नेत्रम् , **पुनः** – भूयः, **मयि क्रूरे** – निष्ठुरे मयि दुष्यन्ते, **यत् अर्पितवती** – यत् निक्षिप्तवती; **तत्** – सर्वमेव वृत्तम् , **सविषं** – विषयुक्तम् , **शल्यम् इव** – बाणम् इव, **मां** – दुष्यन्तम्, **दहति** – सन्तापयति।

संस्कृत-सरलार्थः—विषण्णो राजा कथयति विदूषकम् – इतो निराकरणात् स्वबन्धुवर्गमनुगन्तुं प्रवृत्ता सा शकुन्तला यदा गुरुसमेन गुरुशिष्येण शार्ङ्गरवेण 'अत्रैव तिष्ठ' इति तारस्वरेणोक्ता तदा सा तत्रैव स्थिता भूत्वाऽश्रुजलभरेण मलिनं स्वनेत्रं नृशंसे मयि भूयः पनितितवती तदखिलमेव वृत्तं (दृश्यं) विषाक्तं शल्यमिव मां दहति सम्प्रति।

व्याकरण—प्रत्यादेशात् – प्रति+आ+दिश्+घञ् , हेत्वर्थ में पञ्चमी। व्यवसिता – वि+अव+सो+क्त+टाप्। वदति – वद्+शतृ, स०,एक०। वाष्पप्रसरकलुषाम् – वाष्पाणां प्रसरेण कलुषाम् (तत्पु०)। सन्तापयति – सम्+तप्+णिच्+लट् प्र०पु०ए०व० = जला रहा है।

रस भाव—विप्रलम्भ शृङ्गार है। इस अङ्क के प्रारम्भ से ही उसकी स्थिति है।

अलङ्कार—(१) 'सविषमिव शल्यम्' में 'उपमा' अलङ्कार है। (२) 'दृष्टिं मयि क्रूरे अर्पितवती' यहाँ शकुन्तला ने अपनी दृष्टि क्रूर दुष्यन्त पर डाली। इस प्रकार यहाँ विशेष प्रकार की दृष्टि विशिष्ट प्रकार के व्यक्ति पर डालने के कारण 'समालङ्कार' है। ल०द्र० ५/१५ श्लो०। 'गुरुशिष्ये गुरुसमे' में दोनों 'गुरु' शब्दों में तात्पर्यमात्र की भिन्नता से 'लाटानुप्रास' अलङ्कार है। ल०द्र० ३/१६ श्लो०।

छन्द—यहाँ 'शिखरिणी' छन्द है। ल०द्र० १/९ श्लो०।

टिप्पणी—(१) शकुन्तला के लिये पति तथा पिता इन दोनों के द्वार बन्द हो गये थे। शकुन्तला ने अश्रुपूर्ण नेत्रों से दुष्यन्त की ओर देखा था। ऐसा लगता था कि मानो उसकी आँखे कह रही हों 'बताओ अब मैं कहाँ जाऊँ'। शकुन्तला की अनाथ और दयनीय अवस्था पर भी द्रवित न होने के कारण अपने आप को क्रूर कहते हुये राजा पश्चात्ताप की अग्नि में जल रहे हैं। (२) यह श्लोक अत्यन्त भावनामय है। इसमें दुष्यन्त की भावुकता तथा शकुन्तला की दयनीय दशा का मनोवैज्ञानिक वर्णन है।

सानुमती—अहोः, ईदृशी स्वकार्यपरता। अस्य सन्तापेनाहं रमे। (अम्महे, ईदिसी स्वकज्जपरदा। इमस्स संदावेण अहं रमामि।)

व्या० एवं श०—कार्यपरता = स्वार्थपरता। रमे – रम्+लट्+उ०पु०ए०व० = प्रसन्न हो रही हूँ।

सानुमती—अहो, ऐसी ही स्वार्थपरता (होती है कि) इस (राजा दुष्यन्त) के दुःख से मैं प्रसन्न हो रही हूँ।

विदूषकः—भोः, अस्ति मे तर्कः केनापि तत्रभवत्याकाशचारिणा नीतेति। (भो, अत्थि मे तक्को केण वि तत्तहोदी आआसचारिणा णीदे त्ति।)

व्या० एवं श०—तर्कः = अनुमान। आकाशचारिणा – आकाश+चर्+णिनि तृ०ए०व० = आकाश में विचरण करने वाले।

विदूषक—हे मित्र, मेरा अनुमान है कि आकाशचारी (प्राणी) के द्वारा मान्या (शकुन्तला) ले जायी गयी हैं (अर्थात् उस आदरणीया को कोई आकाश में विचरण करने वाला (देवता) उठा ले गया है)।

राजा—कः पतिदेवतामन्यः परामर्ष्टुमुत्सहेत ? मेनका किल सख्यास्ते जन्मप्रतिष्ठेति श्रुतवानस्मि। तत्सहचारिणीभिः सखी ते हृतेति मे हृदयमाशङ्कते।

व्या० एवं श०—परामर्ष्टुम् – पतिदेवताम् – पतिः देवता यस्याः ताम् ब०ब्री० = पति को देवता मानने वाली अर्थात् पतिव्रता। देवता – देव एव देवता स्वार्थ से 'देवात् तल्' सूत्र से तल्। परामर्ष्टुम् – परा+भृश+तुमुन् = छूने की। जन्मप्रतिष्ठा – जन्मनः – प्रतिष्ठ – प्र+स्था+अङ् जन्मदात्री, जननी।

राजा—उस पतिव्रता को कौन दूसरा स्पर्श करने का साहस कर सकता है। मैंने ऐसा सुना है कि मेनका तुम्हारी सखी (शकुन्तला) की जननी (जन्म देने वाली) है। उसकी सखियों के द्वारा तुम्हारी सखी (शकुन्तला) ले जायी गयी है (अर्थात् उसकी सखियाँ तुम्हारी सखी शकुन्तला को ले गयी हैं)—ऐसी मेरी हृदय की आशङ्का है।

सानुमती—सम्मोहः खलु विस्मयनीयो न प्रतिबोधः। (संमोहो क्खु विम्हअणिज्जो ण पडिबोहो।)

व्या० एवं श०—विस्मयनीयः – वि+स्मि+अच्+अनीयर् = आश्चर्य के योग्य, आश्चर्यकर। प्रतिबोधः – प्रति+बुध्+घञ् = स्मरण करना, ज्ञान। सम्मोहः – सम्+मुह्+घञ् = विस्मरण।

सानुमती—(राजा का शकुन्तला को) भूलना (सम्मोह) ही आश्चर्य की बात है, स्मरण करना (आश्चर्य की बात) नहीं है।

विदूषकः—यद्येवमस्ति खलु समागमः कालेन तत्रभवत्या। (जइं एव्वं अत्थि क्खु समाअमो कालेण तत्तहोदीए।)

व्या० एवं श०—कालेन – 'अपवर्गे तृतीया' से तृतीया।

विदूषक—यदि ऐसा है तो निश्चित ही समय आने पर मान्या (शकुन्तला) से (आप का) मिलन होगा।

राजा—कथमिव ?

राजा—कैसे ?

विदूषकः—न खलु मातापितरो भर्तृवियोगदुःखितां दुहितरं चिरं द्रष्टुं पारयतः। (ण क्खु मादापिदरा भत्तुविआअदुक्खिआं दुहिदरं चिरं देक्खिदुं पारेन्ति।)

व्या० एवं श०—मातापितरौ – माता च पिता च द्वन्द्व, 'मानङ् ऋतो द्वन्द्वे' से 'आनङ्' प्रत्यय लगाकर 'माता' शब्द बनता है = माता-पिता। भर्तृवियोगदुःखिताम् – भर्तुः वियोगः (ष०त०) भर्तृवियोगः तेन दुःखिताम् = पति वियोग से दुःखी।

विदूषक—वस्तुतः माता-पिता पति के वियोग से दुःखित पुत्री को अधिक समय तक नहीं देख सकते।

राजा—**वयस्य,**

राजा—हे मित्र,

स्वप्नो नु माया नु मतिभ्रमो नु क्लिष्टं नु तावत्फलमेव पुण्यम् ।
असन्निवृत्यै तदतीतमेते मनोरथा नाम तटप्रपाताः ।। १० ।।

अन्वय—तत् स्वप्नः नु, माया नु, मतिभ्रमः नु, तावत्फलम् एव क्लिष्टं पुण्यं नु, असन्निवृत्यै अतीतम् , एते मनोरथाः नाम ततप्रपाताः ।

शब्दार्थ—तत् = वह । स्वप्नः नु = क्या स्वप्न था ? माया नु = क्या माया थी ? मतिभ्रमः नु = क्या बुद्धि का भ्रम था ? तावत्फलम् = उतने फल वाला । एव = ही । क्लिष्टं = अत्यल्प, थोड़ा । पुण्यं नु = क्या पुण्य था ? असन्निवृत्यै = पुनः न लौटने के लिये । अतीतम् = चला गया । एते = ये । मनोरथाः = मनोरथ । तटप्रपाताः = तट (किनारे) के पतन (गिरने) के समान हैं ।

अनुवाद—वह (शकुन्तला का मिलन) क्या स्वप्न था ? क्या वह माया थी ? क्या वह मेरी बुद्धि का भ्रम था ? अथवा क्या उतने ही फल वाला (मेरा) स्वल्प पुण्य था ? वह (शकुन्तला का मिलन) फिर कभी न लौटने के लिये चला गया । ये (मेरे) मनोरथ (नदी के) तट (किनारे) के पतन के समान है, (जो गिरकर फिर कभी नहीं उठते) ।

संस्कृत व्याख्या—**तत्** – शकुन्तलासमागमः, **स्वप्नः नु** स्वापः किम् , निद्रितावस्थानुभूतमात्रं किमित्यर्थः, **माया नु** – केनापि मायिकेन प्रयुक्तम् इन्द्रजालं किम् , इन्द्रजालकल्पिता मिथ्या घटना किमित्यर्थः, **मतिभ्रमः नु** – बुद्धिभ्रमः किम् , **तावत् फलम् एव** – तावत् मात्रं फलं यस्य तत् , तावत्कालमात्रभोग्यमित्यर्थः, **क्लिष्टं** – स्वल्पम् , **पुण्यं नु** – सुकृतं किम् , **असन्निवृत्यै** – अपुनरावर्त्तनाय, **अतीतं** – गतम् , **एते** – इमे, **मनोरथाः** – ममाभिलाषाः, **नाम** – इत्यलोके, **तटप्रपाताः** – तीरस्य पतनमिव पतनम् एषां तादृशाः, सन्ति इति शेषः ।

संस्कृत-सरलार्थः—अङ्गुलीयकदर्शनजातस्मृतिर्दुष्यन्तोऽनेकान् विकल्पान् प्रस्तौति – तच्छकुन्तला लक्षणं तस्तु, तया सह पूर्वकृतं सम्भाषणादिकं वा स्वप्नोतु ?, इन्द्रजालकल्पिता मिथ्या घटना नु, बुद्धिविपर्ययो नु, तातत्कालभान्तभोग्यम् अल्यल्पं सौभाग्यं नु, तददिशनीम् अपुनरागमनाय व्यतीतम् । इमे सर्वे मनोरथा नाम नटप्रपाता एव सन्ति ।

व्याकरण—स्वप्नः – स्वप्+नन् = स्वप्न । क्लिष्टम् – क्लिश+क्त = स्वल्प । तावत् फलम् एव – तावत् मात्रं फलं यस्य तत् = उतने ही फल वाला । असन्निवृत्यै – सन्निवृत्तिः – सम्+नि+वृत्+भावे क्तिन् = सन्निवृत्तिः न सन्निवृत्तिः असन्निवृत्तिः तस्यै = फिर कभी न लौटने के लिये । मनोरथाः – मनसः रथः मनोरथः ते – मनोरथाः = मेरे अभिलाष । तटप्रपाताः – प्रपाताः – प्रपतत्ति एभ्यः प्र+पत्+घञ् । तटस्य तीरस्य प्रपातः पतनम् इव प्रपातः येषां तादृशाः = तट के प्रपात के समान ।

कोष—'स्वापः स्वप्नः संवेश इत्यपि' इत्यमरः ।

अलङ्कार—(१) श्लोक में चार विकल्पों – स्वप्न, माया, मतिविभ्रम तथा क्लिष्ट के साथ 'नु' के प्रयोग के कारण 'सन्देह' अलङ्कार है । ल०द्र० २/९ श्लो० । (२) यहाँ 'असन्निवृत्यै' इत्यादि वाम्यार्थ के प्रति पूर्ववाक्यार्थ हेतु है अतः 'काव्यलिङ्ग' अलङ्कार है ।

छन्द—यहाँ 'उपजाति' नामक छन्द है । ल०द्र० २/७ श्लो० ।

टिप्पणी—(१) राजा दुष्यन्त शकुन्तला के सुखद, अवर्णनीय और अल्पकालिक मिलन के विषय में चार कल्पनायें करते हैं—(अ) यह शकुन्तला के साथ मिलन क्या स्वप्न था ? किन्तु शकुन्तला के साथ सुखद मिलन स्वप्न नहीं हो सकता, क्योंकि मैं उस समय सोया हुआ नहीं था। मेरा संस्कार यह बताता है कि मैंने उसके सुखद मिलन का अनुभव किया है। (आ) क्या वह माया (जादू) थी ? किन्तु मेरे ऊपर किसी मायावी (जादूगर) की माया नहीं चल सकती। इसलिये वह शकुन्तला का सुखद मिलन माया नहीं हो सकता। (इ) क्या वह सुखद मिलन मेरी बुद्धि का व्यामोह (भ्रम) था ? किन्तु ऐसा भी नहीं हो सकता, क्योंकि उस समय की सारी घटनायें मुझे यथावत् याद हैं। (ई) अन्त में राजा इस निषकर्ष पर पहुँचते हैं कि वस्तुतः शकुन्तला के साथ सुखद मिलन मेरे किसी स्वल्प पुण्य का फल था जिसका अनुभव मैंने थोड़े समय तक किया। (२) **मनोरथा नाम तटप्रपाताः** – जिस प्रकार वर्षा ऋतु में तीव्र वेग से बहती हुयी नदी के टूटे हुये किनारे नदी की धारा में विलीन हो जाते हैं—पुनः नहीं जुड़ सकते। उसी प्रकार शकुन्तला के साथ मिलन के लिये मेरे मनोरथ मिथ्या हैं—अब उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती। (३) 'विदूषकः – यद्येवम्' से लेकर यहाँ तक सिद्धों के वचन के तुल्य भावी घटना की सूचना के कारण **'प्ररोचना'** नामक **विमर्श सन्धि** का अङ्ग है। दशरूपक में उसका यह लक्षण दियां गया है—'सिद्धामन्त्रणतो भाविदर्शिका स्यात् प्ररोचना। १/४७ श्लो०। (४) यहाँ सन्देह होने के कारण 'संशय' नामक नाटकीय लक्षण है। सा०द० में उसका यह लक्षण है—'संशयोऽज्ञाततत्त्वस्य वाक्ये स्याद् यदनिश्चयः'।

विदूषकः—मैवम्। नन्वङ्गुलीकमेव निदर्शनमवश्यम्भाव्यचिन्तनीयः समागमो भवतीति। (मा एव्वं। णं अंगुलीअअं एव्व णिदंसणं अवस्संभावी अचिन्तणिज्जो समाअमो होदि त्ति)।

व्या० एवं श०—निदर्शनम् – निदर्श्यतेऽनेनेति निदर्शनम् – नि+दृश्+णिच्+ल्युट् = उदाहरण (प्रमाण)। अवश्यम्भावी – अवश्यं भवतीति, अवश्यम्+भू+णिनि उक्त आवश्यक अर्थ में 'आवश्यकाधमर्ण्ययोः' सूत्र से = अवश्य होने वाला (होनहार)। समागमः – सम्+आ+गम्+अप् (अ) – 'ग्रहवृध...' सूत्र से = मिलन। अचिन्तनीय; – चिन्त्+अनीयर् – चिन्तनीयः न चिन्तनीयः अचिन्तनीयः = जिसके विषय में सोचा नहीं गया है – अचानक।

विदूषक—ऐसा न (कहिये) वस्तुतः यह अङ्गूठी ही उदाहरण (प्रमाण) है कि अवश्यम्भावी (अवश्य होने वाला) मिलन अचानक होता है।

राजा—(अङ्गुलीयकं विलोक्य) **अये, इदं तावदसुलभस्थानभ्रंशि शोचनीयम्।**

व्या० एवं श०—असुलभस्थानभ्रंशि – असुलभं यत्स्थानं तस्मात् भ्रश्यति = दुर्लभ स्थान से गिरने वाली। सुलभम् – सु+लभ्+खल् – सुलभम् न सुलभम् असुलभम् (नञ् स) असुलभं च तत्स्थानम् तस्मात् भ्रंशि – भ्रंश+तत्छाल्य में णिनि। शोचनीयम् = शुच्+अनीयर् = शोक का विषय।

राजा—(अङ्गूठी को देखकर) अरे, यह तो दुर्लभ स्थान से गिर जाने वाली (अङ्गूठी) शोचनीय हो गयी है।

तव सुचरितमङ्गुलीय नूनं प्रतनु ममेव विभाव्यते फलेन।
अरुणनखमनोहरासु तस्याश्च्युतासि लब्धपदं यदङ्गुलीषु॥ ११॥

अन्वय—अङ्गुलीय, तव सुचरितं मम (सुचरितम्) इव नूनं प्रतनु फलेन विभाव्यते, यत्

तस्याः अरुणनखमनोहरासु अङ्गुलीषु लब्धपदं च्युतम् असि।

शब्दार्थ—अङ्गुलीय = हे अङ्गूठी। तव = तुम्हारा। सुचरितम् = पुण्य। मम इव = मेरे समान। नूनम् = निश्चय ही। प्रतनु = स्वल्प। फलेन = परिणाम (फल) के द्वारा। विभाव्यते = ज्ञात हो रहा है। यत् = जो कि। तस्याः = उसके। अरुणनखमनोहरासु = लाल नाखूनों से मनोहर। अङ्गुलीषु = अङ्गुलियों में। लब्धपदम् = जिसके द्वारा स्थान (पद) प्राप्त कर लिया गया है ऐसी, स्थान को प्राप्त कर। च्युतम् असि = गिर गयी हो।

अनुवाद—हे अङ्गूठी, तुम्हारा पुण्य मेरे (पुण्य के) समान निश्चय ही स्वल्प (न्यून) है, (यह) परिणाम (फल) के द्वारा ही ज्ञात हो रहा है। जो कि उस (शकुन्तला) की लाल नाखूनों से मनोहर अङ्गुलियों में स्थान प्राप्त कर (भी) तुम गिर गयी (च्युत हो गयी) हो।

संस्कृत व्याख्या—अङ्गुलीयक – हे मुद्रिके! **तव** – त्वदीयम्, **सुचरितं** – पुण्यम्, **मम इव** – दुष्यन्तस्य इव, **नूनं** – निश्चितम्, **प्रतनु** – स्वल्पम्, (इति) **फलेन** – अङ्गुलीवियोगात्मना परिणामेन, **विभाव्यते** – ज्ञायते; **यत्** – यस्मात्, **तस्याः** – शकुन्तलायाः, **अरुणनखमनोहरासु** – रक्तैः नखैः मनोरमासु, **अङ्गुलीषु लब्धपदम्** – प्राप्तं स्थानं येन तथाविधम् त्वम्, **च्युतम् असि** – पतितम् असि।

संस्कृत-सरलार्थः—प्राप्तं स्वाङ्गुलीयं सम्बोधयन् राजा कथयति – 'अङ्गुलीय' मम पुण्यमिव तवापि पुण्यं निश्चितं स्वल्पं (क्षीणं) वर्तते इति ज्ञायत अङ्गुलीयवियोगात्मना फलेन। अल्पपुण्यादेव त्वं शकुन्तलाया आरक्तवर्णैर्नरवैः। सुशोभितासु अङ्गलीषु स्थानं लब्ध्वाऽपि ततो निपतितम्।

व्याकरण—अरुणनखमनोहरासु – अरुणैः नखैः मनोहरासु (तत्पु०)। लब्धपदं – लब्धं पदं येन तत् (बहु०)। विभाव्यते – वि+भू+णिच्+यक् लट् प्र०पु०ए०व० = ज्ञात (प्रतीत) होता है।

अलङ्कार—(१) यहाँ अल्प फल से अल्प पुण्य का अनुमान होने से 'अनुमान' अलङ्कार है। ल०द्र० ५/३१ श्लो०। (२) प्रस्तुत अङ्गूठी पर अप्रस्तुत स्वर्ग से गिरने वाले व्यक्ति के व्यवहार का आरोप होने से 'समासोक्ति' अलङ्कार है। १/२३ श्लो०। (३) 'ममेव' में उपमा अलङ्कार है। ल०द्र० १/५ श्लो०।

छन्द—यहाँ 'पुष्पिताग्रा' छन्द है। ल०द्र० २/१५ श्लो०।

टिप्पणी—(१) पुण्य इन्द्रियगोचर नहीं होता अतः फल को देखकर उसका अनुमान किया जाता है। यदि फल अल्प है तो पुण्य भी अल्प माना जायेगा। चूँकि अंगूठी स्वल्प समय तक ही शकुन्तला की अंगुली में रही इससे प्रतीत होता है कि उसका भी पुण्य क्षीण है। (२) **अरुणनखमनोहरासु** – नखों का लाल होना सौभाग्य एवं सौन्दर्य का द्योतक होता है। सामुद्रिक शास्त्र में राज वल्लभाओं के नखों का इस प्रकार वर्णन है—'नाति ह्स्वा नातिदीर्घा न स्थूला न कृशा अपि। अवक्राः सरला रक्तनखा रक्ततला अपि॥ कोमलाः सितविन्द्वाढया भङ्गुरा दीप्ति मन्नखाः। तादृगङ्गुलयो यस्याः सा भवेद् राजवल्लभा॥'

सानुमती—यद्यन्यहस्तगतं भवेत् सत्यमेव शोचनीयं भवेत्। (जइ अण्णहत्थगदं भवे सच्चं एव्व सोअणिज्जं भवे।)

सानुमती—यदि यह (अङ्गूठी) दूसरे के हाथ में पड़ जाती तो सचमुच ही शोचनीय

(शोक के योग्य) हो जाती।

विदूषकः—भोः, इयं नाममुद्रा केनोद्घातेन तत्रभवत्या हस्ताभ्याशं प्रापिता ? (भो, अइं णाममुद्दा केण उग्घादेण तत्तहोदीए हत्थाब्भासं पाविदा ?)

व्या० एवं श०—उद्घातेन – प्रसङ्ग से। हस्ताभ्याशम् – हस्तस्य अभ्याशम् = हाथ के समीप। प्रापिता – प्र+आप्+क्त+टाप् = प्राप्त कर ली गयी। दोनों पदों का सम्मिलित अर्थ है – हाथ की अङ्गुली में पहनायी गयी है।

विदूषक—हे (मित्र), यह नाम वाली (नामांकित) अङ्गूठी किस प्रसङ्ग से उन माननीया (शकुन्तला) के हाथ में दी गयी थी ?

सानुमती—ममापि कौतूहलेनाकारित एषः। (मम वि कोदूहलेण आआरिदो एसो।)

व्या० एवं श०—आकारितः – आ+कृ+णिच्+क्त = प्रेरित हुआ (है)।

सानुमती—यह (विदूषक) भी मेरे (समान) जिज्ञासा से प्रेरित हुआ है (अर्थात् मेरे समान ही इसको भी यह जानने की इच्छा है)।

राजा—श्रूयताम्। स्वनगराय प्रस्थितं मां प्रिया सबाष्पमाह कियच्चिरेणार्यपुत्रः प्रतिपत्तिं दास्यतीति।

व्या० एवं श०—प्रस्थितम् – प्र+स्था+क्त = प्रस्थान किये हुये। प्रतिपत्तिम् – प्रति+पद्+क्तिन् = समाचार।

राजा—सुनो। अपने नगर (हस्तिानुर) को प्रस्थान करते हुये मुझसे प्रिया (शकुन्तला) ने (आँखों में) आँसू भरकर कहा (था)—'आर्यपुत्र कितने दिनों में (आप मुझे अपना) समाचार देंगे।

विदूषकः—ततस्ततः ? (तदो तदो ?)

विदूषक—तब, तब (क्या हुआ) फिर क्या हुआ ?

राजा—पश्चादिमां मुद्रां तदङ्गुलौ निवेशयता मया प्रत्यभिहिता—

व्या० एवं श०—निवेशयता – नि+विश्+णिच्+शतृ+तृ०ए०व० = पहनाते हुये। अभिहिता – अभि+धा+क्त – टाप् = कही गयी।

राजा — तत्पश्चात् इस अङ्गूठी को उसकी अङ्गुली में पहनाते हुये मेरे द्वारा (यह) कहा गया (मैंने उससे कहा)—

> **एकैकमत्र दिवसे दिवसे मदीयं**
> **नामाक्षरं गणय गच्छसि यावदन्तम्।**
> **तावत् प्रिये मदवरोधगृहप्रवेशं**
> **नेता जनस्तव समीपमुपैष्यतीति।। १२।।**

अन्वय—प्रिये, दिवसे दिवसे एकैकं मदीयं नामाक्षरं गणय, यावत् अन्तं गच्छसि तावत् मदवरोधगृहप्रवेशं नेता जनः तव समीपम् उपैष्यति इति।

शब्दार्थ—प्रिये = हे प्रिये ! दिवसे-दिवसे = प्रतिदिन। एकैकम् = एक-एक। मदीयम् = मेरे। नामाक्षरम् = नाम के अक्षर को। गणय = गिनना। यावत् = जब तक। अन्तम् = अन्त को अन्तिम अक्षर पर। गच्छसि = पहुँचोगी। तावत् = तब तक। मदवरोधगृहप्रवेशम् = मेरे अन्तःपुर में प्रवेश कराने के लिये। नेता = ले जाने वाला। जनः (कोई) व्यक्ति। तव = तुम्हारे।

समीपम् = पास। उपैष्यति = आ जायेगा (उपस्थित हो जायेगा)। इति = ऐसा।

अनुवाद—हे प्रिये, प्रतिदिन (इस अङ्गूठी पर खुदे हुये) मेरे नाम के एक-एक अक्षर को गिनना। जब तक तुम (गिनती हुयी) अन्त को (अर्थात् अन्तिम अक्षर पर) पहुँचोगी तब तक मेरे अन्तःपुर में प्रवेश कराने के लिये (तुम्हें) ले जाने वाला व्यक्ति तुम्हारे पास पहुँच जायेगा।

संस्कृत व्याख्या—**प्रिये** – हे शकुन्तले ! **दिवसे दिवसे** – प्रतिदिनम् , **एकैकम्** – एकमेकम् , **मदीयं** – मम , **नामाक्षरं** – 'दुष्यन्त' इति नामाक्षरम् , **गणय** – गणनां कुरु; **यावत्** – यावत्कालम् , **अन्तम्** – अन्तिममक्षरम् , **गच्छसि** – प्राप्नोसि, **तावत्** – तावत् कालम् , **मदवरोधगृहप्रवेशं** – मम, अन्तःपुरे प्रवेशनम् , **नेता** – प्रापयिता, **जनः** – व्यक्ति; **तव** – ते, **समीपम्** – अन्तिके, **उपैष्यति इति** – अभिगमिष्यति इति।

संस्कृत-सरलार्थः—प्रिये ! शकुन्तले अत्रस्थिता प्रतिदिनमेकैकम् मम् नामाक्षरं गणय। गणवन्ती यावदन्तिममक्षरं यास्यसि तदा मदन्तःपरं निवेशयितुं कश्चिन्नेता जनस्तव समीपमागमिष्यति।

व्याकरण—दिवसे दिवसे – 'नित्यवीप्सयोः' से द्वित्व ! एकैकम् – यहाँ 'स्वार्थे अवधार्यमाणे एकस्मिन् 'द्वे' सूत्र से द्विरुक्ति में द्वित्व तथा 'एकं बहुव्रीहिवत्' से सुप् का लोप। नामाक्षरम् नाम्नः अक्षरम् (ष०त०)। मदवरोधगृहप्रवेशम् – मम अवरोधगृहम् – मदवरोधगृहम् तस्मिन् प्रवेशम् (तत्पु०)। यहाँ 'गुण कर्मणि नेष्यते' वार्तिक से प्रवेश में द्वितीया हुयी है। नेता – नी+तृच् प्र०ए०व०। उपैष्यति – उप+इष्+लृट् प्र०पु०ए०व०।

अलङ्कार—(१) यहाँ स्पष्ट रूप से गणना के पाँच दिनों का उल्लेख न कर अप्रत्यक्ष रूप से कथन करने के कारण 'पर्यायोक्त' अलङ्कार है। ल०द्र० ३/५ श्लो०। राघवभट्ट ने यहाँ काव्यलिङ्ग अलङ्कार माना है।

छन्द—यहाँ 'वसन्ततिलका' छन्द है। ल०द्र० १/८ श्लो०।

टिप्पणी—(१) 'दुष्यन्त' इस नाम में स्वर-व्यञ्जन मिलाकर पाँच अक्षर हैं। प्रत्येक दिन एक-एक अक्षर गिनने से 'दुष्यन्त', नाम के पाँचों अक्षर पाँच दिन में समाप्त हो जायेंगे। अतः पाँच दिन के अन्दर हस्तिनापुर से कोई व्यक्ति तुम्हारे पास आ जायेगा'—यह राजा के कथन का अभिप्राय है।

राजा—तच्च दारुणात्मना मया मोहान्नानुष्ठितम्।

व्या० एवं श०—दारुणात्मना – दारुण आत्मा यस्य तेन (ब०ब्री०) = अनुष्ठितम् – अनु+स्था+क्त = किया गया।

राजा—और निष्ठुर (कठोर) हृदय वाले मेरे द्वारा मोहवश (अज्ञानवश) वह कार्य पूरा नहीं किया गया।

सानुमती—रमणीयः खल्ववधिर्विधिना विसंवादितः। (रमणीओ क्खु अवही विहिणा विसंवादिदो।)

व्या० एवं श०—अवधिः – काल सीमा। विसंवादितः – वि+सम्+वद्+णिच्+क्त = बिगाड़ दिया।

सानुमती—(यह) रमणीय अवधि विधाता (अथवा भाग्य) के द्वारा बिगाड़ दी गयी।

विदूषकः—कथं धीवरकल्पितस्य रोहितमत्स्यस्योदराभ्यन्तर आसीत् । (कहं धीवलकप्पिअस्स लोहिअमच्छस्स उदलब्भन्तले आसि ?)

व्या० एवं श०—धीवरकल्पितस्य - धीवरेण कल्पितस्य (तत्पु०) = धीवर के द्वारा काटी गयी। उदराभ्यन्तरे - उदरस्य अभ्यन्तरे = पेट के भीतर।

विदूषक—कैसे (यह अङ्गूठी) धीवर (मल्लाह) द्वारा काटी गयी रोहू (रोहित) मछली के पेट के भीतर (पहुँच गयी) थी ?

राजा—शचीतीर्थं वन्दमानायाः सख्यास्ते हस्ताद् गङ्गास्त्रोतसि परिभ्रष्टम् ।

व्या० एवं श०—वन्दमानायाः - वन्द+शानच्+ष०ए०व० = शचीतीर्थ की वन्दना करती हुयी। परिभ्रष्टम् - परि+भस्ज्+क्त = गिर गयी।

राजा—शचीतीर्थ की वन्दना करती हुयी तुम्हारी सखी (शकुन्तला) के हाथ से गङ्गा की धारा में गिर गयी थी।

विदूषकः—युज्यते । (जुज्जइ ।)

विदूषक—ठीक है। (यह सम्भव है)।

सानुमती—अत एव तपस्विन्याः शकुन्तलाया अधर्मभीरोरस्य राजर्षेः परिणये सन्देह आसीत् । अथवेदृशोऽनुरागोऽभिज्ञानमपेक्षते । कथमिवैतत् ? (अदो एव्व तवस्सिणीए सउन्दलाए अधम्मभीरुणो इमस्स राएसिणो परिणए संदेहो आसि। अहवा ईदिसो अणुराओ अहिण्णाणं अवेक्खदि। कहं विअ एदं ?)

व्या० एवं श०—अधर्मभीरोः - अधर्मात् भीरोः (तत्पु०) = अधर्म से डरने वाले। अभिज्ञानम् - अभि+ज्ञा+ल्युट् = पहचान।

सानुमती—यही कारण है कि अधर्म से डरने वाले इस राजर्षि को बेचारी (भोली-भाली) शकुन्तला के साथ विवाह के विषय में संदेह हो गया था। अथवा इस प्रकार का प्रेम (अनुराग) (भी) अभिज्ञान (निशानी) की अपेक्षा रखता है—यह कैसी बात है।

राजा—उपालप्स्ये तावदिदमङ्गुलीयकम् ।

व्या० एवं श०—उपालप्स्ये - उप+लभ्+लृट् उ०पु०ए०व० = उलाहना दूँगा।

राजा—तो इस अङ्गूठी को उलाहना दूँगा।

विदूषकः—(आत्मगतम्) **गृहीतोऽनेन पन्था उन्मत्तानाम् ।** (गहीदो णेण पन्था उन्मत्तआणं ।)

विदूषक—(अपने मन में) इस (राजा दुष्यन्त) के द्वारा (अब) पागलों का मार्ग पकड़ लिया गया है।

राजा—(अङ्गुलीयकं विलोक्य) **मुद्रिके,**

राजा—(अङ्गूठी को देखकर) हे अङ्गूठी,

कथं नु तं बन्धुरकोमलाङ्गुलिं करं विहायासि निमग्नमम्भसि ?
अथवा

अचेतनं नाम गुणं न लक्षयेन्मयैव कस्मादवधीरिता प्रिया ।। १३ ।।

अन्वय—कोमलबन्धुराङ्गुलिं तं करं विहाय कथं नु अम्भसि निमग्नम् असि ! अथवा

अचेतनं गुणं नाम न लक्षयेन्मया एव कस्मात् प्रिया अवधीरिता।

शब्दार्थ—(मुद्रिके ! = हे अङ्गूठी !) बन्धुरमनोहरकोमलाङ्गुलिम् = मनोहर एवं कोमल अङ्गुली वाले। तम् करम् = उस हाथ को। विहाय = छोड़कर। कथम् = कैसे ? नु = यह प्रश्न सूचक अव्यय है। अम्भसि = जल में। निमग्नम् असि = डूब गयी थी। अचेतनम् = निर्जीव (वस्तु)। गुणं नाम = गुण को। न लक्षयेत् = नहीं देखती। मयैव (मया+एव) = मेरे द्वारा ही। कस्मात् = क्यों (किस कारण से)। प्रिया = प्रिया शकुन्तला। अवधीरिता = तिरस्कृत की गयीं।

अनुवाद—सुन्दर और कोमल अङ्गुलियों वाले उस हाथ को छोड़कर तुम कैसे जल में डूब गयी (गिर गयी) ? अथवा अचेतन (वस्तु) गुणों को नहीं देख सकती। (किन्तु चेतन होते हुये भी) मेरे द्वारा ही क्यों प्रिया (शकुन्तला) अपमानित की गयी (अर्थात् मैंने ही प्रिया का अपमान क्यों किया) ?

संस्कृत व्याख्या—बन्धुरकोमलाङ्गुलिम् – सुन्दरकोमलाङ्गुलियुक्तम् , **तं करम्** – शकुन्तलायाः हस्तम् , **विहाय** – त्यक्त्वा, **कथं नु** – केन कारणेन, **अम्भसि** – जले, **निमग्नम्** – निमज्जितम् असि ? अथवा, अचेतनम् – चेतनारहितम् (वस्तु), गुणम् – वैशिष्ट्यम्, नाम – सम्भावनाम् , **न लक्षयेत् – न विलोकयितुं** – शक्नुयात् ? **मया एव** – मया – सचेतनेन दुष्यन्तेनैव, **कथम्** – केन हेतुना, **प्रिया** – प्रियतमा (शकुन्तला), **अवधीरिता** – तिरस्कृता (अस्वीकृता) ?

संस्कृत-सरलार्थः—स्वीयां मुद्रिकां सम्बोधयन् दुष्यन्तो ब्रूते – मुद्रिके त्वं (प्रियायाः शकुन्तलायाः) सुन्दरं कोमलं च करं परित्यज्य, केन कारणेन जले निमग्ना (पतिता) जाता इत्युक्त्वा स पुनर्विचारयति – अचेतनं वस्तु अपरवस्तुगतं वैशिष्ट्यं न पश्येत् तत्र नाचेतनस्य दोषः। सचेतनेन मया दुष्यन्तेन हेतुमन्तरैव कथं प्रिया शकुन्तला तिरस्कृता ? वस्तुतो दोषस्तु सचेतनस्य ममैव नाचेतनस्याङ्गुलीयकस्येतिभावः।

व्याकरण—बन्धुराः कोमलाः अङ्गुलयः यस्य तम् (ब०ब्री०), बन्धुरः – बन्ध्+उरच्। विहाय – वि+हा+क्त्वा – ल्यप्। निमग्नम् – नि+मज्ज्+क्त। लक्षयेत् – लक्ष्+णिच्+लिङ् प्र०पु०ए०व०। अवधीरिता – अव+धीर+णिच्+क्त+टाप्।

कोष—'बन्धुरं तैन्नताममम्' इत्यमरः। 'बन्धुरं सुन्दरं रम्ये' इति विश्वः।

अलङ्कार—(१) पूर्वार्द्ध में अँगूठी पर चेतन व्यवहार का आरोप होने से **'समासोक्ति'** अलङ्कार है। ल०द्र० १/२३ श्लो०। (२) यहाँ पर तिरस्कार के कारण के अभाव में भी तिरस्कार होने से 'विभावना' अलङ्कार है। ल०द्र० १/१८ श्लो०। (३) तृतीय चरण के 'अचेतनं नाम गुणं न लक्षयेत्' इस सामान्य के द्वारा पूर्वोक्त विशेष का समर्थन होने से **'अर्थान्तरन्यास'** अलङ्कार है। ल०द्र० १/२ श्लो०।

छन्द—इस श्लोक में **'वशंस्थ'** छन्द है। ल०द्र० ५/१७ श्लो०।

विदूषकः—(आत्मगतम्) **कथं बुभुक्षया खादितव्योऽस्मि** (कहं बुभुक्खाए खादिदव्वो म्हि।)

व्या० एवं श०—खादितव्यः – खाद्+तव्यत् = खा लिया जाऊँगा। बुभुक्षया – भुज्+सन्+अ टाप् – बुभुक्षा तया = भूख से।

विदूषक—(अपने मन में) क्या मैं भूख के द्वारा खा लिया जाऊँगा (अर्थात् मुझे भूख बहुत अधिक सता रही है)।

राजा—प्रिये, अकारणपरित्यागानुशयतप्तहृदयस्तावदनुकम्प्यतामयं जनः पुनर्दशनेन।

व्या० एवं श०—अकारणपरित्यागानुशयतप्तहृदयः – अकारणं कारणराहित्येन यः परित्यागः तेन अनुशयः पश्चात्तापः तेन तप्तं हृदयं यस्य तेन।

राजा—प्रिये, बिना कारण (तुम्हारे) परित्याग के कारण पश्चात्ताप (अनुशय) से सन्तप्त हृदय वाले इस व्यक्ति (मुझ दुष्यन्त) को फिर से दर्शन देकर अनुगृहीत (कृतार्थ) करो।

(प्रविश्यापटीक्षेपेण चित्रफलकहस्ता)

(चित्रपट हाथ में ली हुयी पर्दा हटाने के साथ प्रवेश कर)

चतुरिका—इयं चित्रगता भट्टिनी। (इअं चित्तगदा भट्टिणी।) (इति चित्रफलकं दर्शयति)।

चतुरिका—यह चित्रलिखित (चित्र में बनायी गयी) स्वामिनी (शकुन्तला) हैं। (चित्रपट को दिखाती है)।

विदूषकः—(विलोक्य) **साधु वयस्य। मधुरावस्थानदर्शनीयो भावानुप्रवेशः स्खलतीव मे दृष्टिर्निम्नोन्नतप्रदेशेषु।** (साहु वअस्स। महुरावत्थाणदंसणिज्जो भावाणुप्पवेशो। क्खलदि विअ मे दिट्ठी णिण्णुण्णअप्पदेसेसु।)

व्या० एवं श०—मधुरावस्थानदर्शनीयः – मधुरं सुन्दरं यः अङ्गविन्यासः तेन दर्शनीयः = सुन्दर अङ्ग विन्यास से रमणीय। भावानुप्रवेशः प्रेमादिभावानाम् अनुप्रवेशः आविर्भावः = भावों की अभिव्यक्ति। स्खलतीव = मानो लड़खड़ा रही है। निम्नोन्नतप्रदेशेषु = ऊँचे-नीचे स्थानों पर।

विदूषक—(देखकर) मित्र, (बहुत) सुन्दर है। भावों की अभिव्यक्ति सुन्दर (अवयव के) विन्यास (अवस्थान) के कारण दर्शनीय है। मेरी दृष्टि ऊँचे-नीचे स्थानों पर मानो लड़खड़ा रही (फिसल जा रही) है।

सानुमती—अहो, एषा राजषेर्निपुणता। जाने सख्यग्रतो मे वर्तत इति। (अम्मो, एसा राएषिणो णिउणदा। जाणे सही अग्गदो मे वट्टदि त्ति)।

व्या० एवं श०—सख्यग्रतः – सखी+अग्रतः – यण् सन्धि आगे सखी (है)।

सानुमती—ओह, यह है राजर्षि (दुष्यन्त) (के चित्र बनाने) की निपुणता। लगता है कि (मेरी) सखी (शकुन्तला) मेरे सम्मुख विद्यमान है।

राजा—

यद्यत् साधु न चित्रे स्यात् क्रियते तत्तदन्यथा।
तथापि तस्या लावण्यं रेखया किञ्चिदन्वितम्॥ १४॥

अन्वय—चित्रे यत् यत् साधु न स्यात् तत् तत् अन्यथा क्रियते, तथापि तस्याः लावण्यं रेखया किञ्चित् अन्वितम्।

शब्दार्थ—चित्रे = चित्र में। यत् यत् = जो-जो (जो कुछ)। साधु = सुन्दर। न = नहीं। स्यात् = है। तत् तत् = वह वह (वह सब)। अन्यथा = विपरीत (दूसरे प्रकार से)। क्रियते

= किया जा रहा है (बनाया जा रहा है)। तथापि = तो भी। तस्याः = उसका। लावण्यम् = सौन्दर्य। रेखया = रेखाओं के द्वारा। किञ्चित् = कुछ ही (थोड़ा ही)। अन्वितम् = अनुकृत किया जा सका है (प्रकट हो पाया है)।

अनुवाद—चित्र में जो-जो सुन्दर नहीं है (अर्थात् त्रुटिपूर्ण है) वह सब (मेरे द्वारा) ठीक किया जा रहा है (अर्थात् उसको मैं अभी ठीक कर रहा हूँ)। फिर भी उस (शकुन्तला) का सौन्दर्य रेखाओं के द्वारा कुछ ही प्रकट हो पाया है।

संस्कृत व्याख्या—चित्रे – मत्कृते आलेखने, **यत् यत्** – यत्किञ्चिदपि, **साधु** – रम्यम् , **न** – नहि, **स्यात्** – वर्तते, **तत् तत्** – तत्सर्वम् , **अन्यथा** – शोभनम् , **क्रियते** – विधीयते, **तथापि तस्याः** – शकुन्तलायाः, **लावण्यं** – सौन्दर्यम् , **रेखया** – तूलिका-विहिताभिः रेखाभि, **किञ्चित्** – स्वल्पमेव, **अन्वितम्** – अनुगतम् , अस्तीति शेषः। अलौकिकरूपे राशिभूतेयं शकुन्तला मनुष्यस्य तूलिकया कथम प्यनुकर्त्तुं न शम्यत इति भावः।

संस्कृत-सरलार्थः—विदूषकृतचित्रप्रशंसामाकर्ण्य राजा वदति – शकुन्तलायाश्चित्रे यत् यत् सुन्दरं नास्ति तत्सर्वम् असुन्दरं रूपं मया सुष्ठु विधीयते। परन्तु तथ्यन्त्विदमस्ति यत् प्रियायाः शकुन्तलाया यथार्थ लावण्यं न चित्रयितुं शक्यते। शकुन्तलाया अपूर्वलावण्यं साकल्येन चित्रीकृतं न जातं चित्रेऽस्मिन् – इति भावः।

व्याकरण—लावण्यम् – लवणस्य भावः लवण+घ्यञ्। अन्वितम् – अनु+रण्+क्त।

छन्द—इस श्लोक में **'पथ्यावक्त्र'** छन्द है। ल०द्र० ३/१७ श्लो०।

टिप्पणी—(१) राजा दुष्यन्त चित्र बनाने में अत्यन्त प्रवीण हैं। उन्होंने बहुत सावधानी से चित्र बनाया है और चित्र की त्रुटियों को ठीक भी कर दिया है फिर भी शकुन्तला का लावण्य रेखाओं द्वारा कुछ ही प्रकट हो पाया है—वह इतनी सुन्दर है कि उसकी सुन्दरता चित्र में किसी प्रकार भी चित्रित नहीं की जा सकती।

सानुमती—सदृशमेतत् पश्चात्तापगुरोः स्नेहस्यानवलेपस्य च। (सरिसं एदं पच्छादावगुरुणो सिणेहस्स अणवलेवस्स अ।)

व्या० एवं श०—पश्चात्तापगुरोः – पश्चात्तापेन गुरुः तस्य (तत्पु०) = पश्चात्ताप से बढ़े हुये। यह पद 'स्नेहस्य' पद का विशेषण है। अनवलेपस्य – न अवलेपः अनवलेपः तस्य = अभिमानशून्यता के।

विशेष—राघवभट्ट ने अनवलेप का अर्थ निर्दोष किया है। तब यह पद 'स्नेहस्य' का विशेषण होगा। ऐसी स्थिति में पूरे वाक्य को अर्थ होगा – पश्चात्ताप के कारण बढ़े हुये निरभिमान (स्वाभाविक) स्नेह के अनुरूप ही है।

सानुमती—पश्चाताप के कारण बढ़े हुये (गुरु) प्रेम और अभिानशून्यता के अनुरुप ही यह (कथन) है।

विदूषकः—भोः इदानीं तिस्रस्तत्र भवत्यो दृश्यन्ते। सर्वाश्च दर्शनीयाः। कतमाऽत्र तत्रभवती शकुन्तला? (भो, दाणिं तिण्हिओ तत्तहोदीओ दीसन्ति। सव्वाओ अ दंसणीआओ। कदमा एत्थ तत्तहोदी सउन्दला ?)

व्या० एवं श०—कतमा – किम्+डतमच्+टाप् = कौन।

विदूषक—हे (मित्र) (इस चित्रपट में) तीन माननीय युवतियाँ दिखायी दे रहीं हैं। सभी दर्शनीय (सुन्दर) हैं। यहाँ (इनमें) श्रीमती शकुन्तला कौन हैं ?

सानुमती—अनभिज्ञः खल्वीदृश्यस्थ रूपस्य मोघदृष्टिरयं जनः। (अणभिण्णो क्खु ईदिसस्स रूवस्स मोहदिट्ठि अअं जणो।)

व्या० एवं श०—मोघदृष्टिः - मोघा दृष्टिः यस्य स = निष्फल दृष्टि।

सानुमती—निष्फल दृष्टि वाला यह व्यक्ति (विदूषक) निश्चय ही इस प्रकार के अनुपम रूप से अनभिज्ञ है।

राजा—त्वं तावत् कतमां तर्कयसि ?

व्या० एवं श०—तर्कयसि = समझ रहे हो।

राजा—तुम (इनमें से) किसको (शकुन्तला) समझ रहे हो ?

विदूषकः—तर्कयामि यैषा-शिथिलबन्धनोद्वान्तकुसुमेन केशान्तेनोद्भिन्नस्वेदबिन्दुना वदनेन विशेषतोऽपसृताभ्यां बाहुभ्यामवसेकस्निग्धतरुणपल्लवस्य चूतपादपस्य पार्श्वे ईषत्परिश्रान्तेवालिखिता सा शकुन्तला। इतरे सख्याविति। (तक्केमि जा एसा सिढिलबन्धणुव्वन्तकुसुमेण केसन्तेण उब्भिण्णस्सेअबिन्दुणा वअणेअ विसेसदो ओसरिंआहिं बाहाहिं अबसेअसिणिद्ध—तरुणपल्लवस्स चूअपाअवस्स पासे इसिपरिसन्ता विअ आलिहिदा सा सउन्दला। इदरांओ सहीओ त्ति।)

व्या० एवं श०—शिथिलबन्धनोद्वान्तकुसुमेन - शिथिलेन बन्धनेन उद्वान्तानि कुसुमानि यस्मात् तेन (बहु०) = ढीली चोटी से फूल गिर गये हैं जिसके ऐसे। यह पद 'केशपाशेन' पद का विशेषण है। केशपाशेन - केशपाश से युक्त (केशपाशवाली), उद्भिन्नस्वेदबिन्दुना - उद्भिन्नाः स्वेदविन्दवः यस्मिन् तेन (ब०ब्री०) = जिस पर पसीने की बूँदें उभरी हुई है अर्थात् दिखायी दे रही हैं ऐसे। यह पद 'वदनेन' पद का विशेषण है। अपसृताभ्याम् = झुकी हुयी। यह पद 'बाहुभ्याम्' इस पद का विशेषण है। अवसेकस्निग्धतरुणपल्लवस्य - अवसेकेन (सेचनेन) स्निग्धाः (मसृणाः) तरुपल्लवाः (नवपत्राणि) यस्य तादृशस्य = सीचने से हरे-भरे नवीन पत्तों वाले। यह पद 'चूतपादपस्य' इस पद का विशेषण है। चूतपादपस्य = आम्रवृक्ष के। ईषत् परिश्रान्तेव = कुछ थकी हुयी। इतरे = अन्य दो। सख्याविति - सख्यौ+इति - आव् आदेश।

विदूषक—मैं समझता हूँ कि ढीली चोटी से गिर गये हैं पुष्प जिसके ऐसे केशपाश वाली उभरी हुयी (दिखायी देने वाली) पसीने की बूदों वाले मुख (तथा) अत्यधिक झुकी हुई भुजाओं से युक्त और सींचने के कारण चिकने नवीन पत्तों वाले आम्र-वृक्ष के समीप कुछ थकी हुयी सी जो चित्रित की गयी है, वह शकुन्तला हैं। दूसरी दो सखियाँ हैं।

राजा—निपुणो भवान्। अस्त्यत्र मे भावचिह्नम्।

व्या० एवं श०—भावचिह्नम् - भावस्य चिह्नम् = (सात्त्विक) भाव के चिह्न।

राजा—आप (सचमुच) चतुर हैं। यहाँ (इस चित्र में) मेरे (सात्त्विक) भाव का सङ्केत (चिह्न) है—

> **स्विन्नाङ्गुलिविनिवेशो रेखाप्रान्तेषु दृश्यते मलिनः।**
> **अश्रु च कपोलपतितं दृश्यमिदं वर्णिकोच्छ्वासात्॥ १५॥**

अन्वय—रेखाप्रान्तेषु मलिनः स्विन्नाङ्गुलिविनिवेशः दृश्यते, वर्णिकोच्छ्वासात् इदं च कपोलपतितम् अश्रु दृश्यम् ।

शब्दार्थ—रेखाप्रान्तेषु = (चित्र की) रेखाओं के किनारों पर । मलिनः = धूमिल । स्विन्नाङ्गुलिविनिवेशः = पसीने से युक्त अङ्गुलियों का रखना (अर्थात् पसीने से युक्त अङ्गुलियों का निशान) । दृश्यते = दिखायी दे रहा है । च = और । वर्णिकोच्छ्वासात् = रङ्ग के फूल जाने के कारण । इदम् = यह । कपोलपतितम् = गालों पर गिरा हुआ । अश्रु = आँसू । दृश्यम् = (भी) दिखायी दे रहा है ।

अनुवाद—(चित्र की) रेखाओं के किनारों पर पसीने से युक्त अङ्गुलियों का मलिन निशान दिखायी दे रहा है और रङ्ग के फूल जाने के कारण यह (शकुन्तला) के गालों पर गिरा हुआ आँसू (भी) दृष्टिगोचर हो रहा है ।

संस्कृत व्याख्या—**रेखाप्रान्तेषु** – चित्रस्य पर्यन्तभागेषु, **मलिनः** – कृष्णवर्णः, **स्विन्नाङ्गुलिविनिवेशः** – स्वेदयुक्तानाम् अङ्गुलीनां विन्यासः, **दृश्यते** – अवलोक्यते, **वर्णिकोच्छ्वासात्** – रङ्गस्य स्फीतत्वात् , **इदं च** – एतच्च, **कपोलपतितं** – गण्डप्रदेशच्युतम् , **अश्रु** – नेत्रसलिलम् , **दृश्यं** – द्रष्टुं शक्यम् ।

संस्कृत-सरलार्थः—राजा विदूषकं वक्ति यदस्मिन् चित्रे मदीयभावोदयचिह्नमप्यस्ति तद्यथा चित्ररेखाप्रान्तभागेषु कृष्णवर्णः स्वेदयुक्ताङ्गुलिविन्यासो दृश्यते तथा शकुन्तला-कपोलप्रदेशेच्युतमश्रुजालं नयनगोचरतां याति ।

व्याकरण—रेखाप्रान्तेषु – रेखाणां प्रान्तेषु (तत्पु०) । स्विन्नाङ्गुलिविनिवेशः – स्विन्नानाम् अङ्गुलीनां विनिवेशः (तत्पु०) । वर्णिकोच्छ्वासात् – वर्णिकायाः उच्छ्वासात् (तत्पु०) । कपोलपतितम् – कपोलयोः पतितम् (ष०त०) ।

रसभाव—यहाँ श्रृङ्गार के सात्त्विक भावों का वर्णन है ।

अलङ्कार—(१) यहाँ सात्विक स्वेद (पसीना) से युक्त अङ्गुलियों के द्वारा राजा की शकुन्तला के प्रति भावविह्वलता की अनुमति होने से **'अनुमान'** अलङ्कार है । ल०द्र० ५/३१ श्लो० । (२) चित्र की रेखाओं पर पसीने की बूँदों के गिर जाने के कारण निशान की मलिनता तथा आँसूओं के गिरने से रङ्ग का फैल जाना स्वाभाविक है । साथ ही कामविकार के अविर्भाव के कारण सात्त्विक स्वेद तथा सात्त्विक अश्रुओं का होना भी स्वाभाविक है । अतः यहाँ **'स्वाभावोक्ति'** अलङ्कार है । ल०द्र० १/७ श्लो० ।

छन्द—श्लोक में **'आर्या'** छन्द है । ल०द्र० १/२ श्लो० ।

टिप्पणी—(१) सात्त्विक भाव आठ प्रकार के होते हैं—साहित्य-दर्पण के अनुसार वे आठ भाव ये हैं—**स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्चः स्वरभङ्गश्च वेपथुः । वैवर्ण्यमश्रुप्रलय इत्यष्टौ सात्त्विकाः स्मृताः ।।**

अर्थात् (१) स्तम्भ, (२) स्वेद, (३) रोमाञ्च, (४) स्वरभङ्ग, (५) वेपथु, (६) वैवर्ण्य, (७) अश्रु, (८) प्रलय ।

विशेष—यहाँ पद्य में 'स्वेद' और 'अश्रु' इन दो सात्त्विक भावों का वर्णन है । (२) अपनी प्रियतमा यक्षिणी का चित्र बनाते समय यक्ष की भी आँखों से आँसू निकले थे । मेघदूत का 'त्वामालिख्यप्रणयकुपिताम् ... सङ्गमं नौ कृतान्तः ॥ श्लोक द्रष्टव्य है ।

चतुरिके, अर्धलिखितमेतद् विनोदस्थानम् । गच्छ, वर्तिकां तावदानय ।

व्या० एवं श०—वर्तिकाम् – तूलिका । विनोदस्थपम् = मनोरञ्जन-साधन ।

चतुरिका, (मेरे) मनोरञ्जन का यह साधन अधूरा (ही) चित्रित है । तो जाओ, (चित्र में रङ्ग भरने के लिये) कूँची (ब्रश) ले आओ ।

चतुरिका—आर्य माधव्य, अवलम्बस्व चित्रफलकं यावदागच्छामि । (अज्ज माढव्व, अवलम्ब चित्तफलअं जाव आअच्छामि ।

चतुरिका—आर्य माधव्य, चित्रपट को पकड़िये, जब तक मैं आती हूँ ।

राजा—अहमेवैतदवलम्बे । (इति यथोक्तं करोति) ।

राजा—मैं ही इसको पकड़ता हूँ । (कहने के अनुसार करता है अर्थात् चित्रपट पकड़ता है) ।

(निष्क्रान्ता चेटी)—(दासी निकल जाती है)

राजा—(निःश्वस्य) **अहं हि**—

राजा—(लम्बी साँस लेकर) मैं तो—

साक्षात् प्रियामुपगतामपहाय पूर्वं
चित्रर्पितां पुनरिमां बहु मन्यमानः ।
स्रोतोवहां पथि निकामजलामतीत्य
जातः सखे प्रणययान्मृगतृष्णिकायाम् ।। १६ ।।

अन्वय—सखे, पूर्वं साक्षात् उपगतां प्रियाम् अपहाय पुनः चित्रार्पिताम् इमां बहुमन्यमानः पथि निकामजलां स्रोतोवहाम् अतीत्य मृगतृष्णिकायां प्रणयवान् जातः ।

शब्दार्थ—सखे = हे मित्र ! पूर्वम् = पहले । साक्षात् = (स्वयम्) प्रत्यक्ष । उपगताम् = समीप आयी हुयी । प्रियाम् = प्रिया को । अपहाय = छोड़कर । पुनः = अब । चित्रार्पिताम् = चित्रनिर्मित । इमाम् = इसको (शकुन्तला को) । वहुमन्यमानः = बहुत आदर देता हुआ । पथि = मार्ग में । निकामजलाम् = अत्यधिक जल वाली । स्रोतोवहाम् = नदी को । अतीत्य = लाँघकर, छोड़कर । मृगतृष्णिकायाम् = मृगमरीचिका में । प्रणयवान् = प्रेम करने वाला । जातः (अस्मि) = हो गया (हूँ) ।

अनुवाद—हे मित्र, पहले साक्षात् (स्वयम्) समीप में आयी हुयी (प्राप्त हुयी) प्रिया (शकुन्तला) को त्यागकर अब चित्रगत इसको बहुत समझता हुआ (बहुत आदर देता हुआ) मैं मार्ग में अधिक जल वाली नदी को लाँघकर (छोड़कर) मृगतृष्णा (मृगमरीचिका) में प्रेम करने वाला हो गया हूँ ।

संस्कृत व्याख्या—सखे – हे मित्र ! **पूर्वम्** – प्राक् , **साक्षात्** – प्रत्यक्षरूपेण (स्वयमेवेत्यर्थ), **उपगतां** – प्राप्ताम् , **प्रियां** – शकुन्तलाम् , **अपहाय** – परित्यज्य (अवगणय्येत्यर्थः), **पुनः** – मुहुः (अनन्तरम्), **चित्रार्पितां** – चित्रे लिखिताम् , **इमां** – शकुन्तलाम् , **बहुमन्यमानः** – नितान्तमाद्रियमाणः, **पथि** – मार्गे, **निकामजलां** – प्रभूतसलिलाम् , **स्रोतोवहां** – नदीम् , **अतीत्य** – अतिक्रम्य, **मृगतृष्णिकायां** – मृगमरीचिकायाम् , **प्रणयवान्** – प्रेमयुक्तः, **जातः** – अभवम् ।

संस्कृत-सरलार्थः—चित्रगतां शकुन्तलां सादरमवलोकयन् राजा विदूषकं वदति 'मित्र ! यदा मम प्रिया शकुन्तला साक्षान्मम समीपमागता तदा तु सा मया तिरस्कृता, परं साम्प्रतमहं चित्रलिखितां तामत्यादरेण समवलोकयन् तथैव निजप्रेमपिपासामपाकर्त्तुं समुत्सुको जातोऽस्मि यथा कश्चिज्जनो मार्गे जलपरिपूर्णां नदीमुल्लङ्घ्य स्वपिपासाशान्त्येः मृगमरीयिकां समाश्रयितुं यतते। साक्षादुपेतां प्रियामवगणय्य चित्रगतां तां समाद्रियमाणस्य मेऽहो मौढ्यमितिभावः।

व्याकरण—अपहाय – अप+हा+क्त्वा – ल्यप्। चित्रार्पिताम् – चित्रे अर्पिताम् (स०त०)। निकामजलाम् – निकामं जलं यस्यां ताम् (ब०ब्री०)। अतीत्य – अति+इ+क्त्वा – ल्यप्। मृगतृष्णिकायाम् – मृगाणां तृष्णा मृगतृष्णा (त०), सा अस्ति अस्यामिति मृगतृष्णा, मृगतृष्णिका तस्याम्। प्रणयवान् – प्र+नी+अच् करणे प्रत्यः, प्रणयः अस्ति अस्य – प्रणय+मतुप्। **विशेष** – 'प्रणय' शब्द सुखादिगण में पठित होने के कारण उससे मत्वर्थ में 'सुखादिश्यश्च' से 'इनि' प्रत्यय होगा और इनि प्रत्ययान्त रूप प्रणयिन् होगा। इस प्रकार प्रणयवान् अपाणिनीय प्रयोग है। इसको वैदिक प्रयोग मानना ही समीचीन है। कालिदास ने प्रणयिन् (प्रणयी) तथा प्रणयवत् (प्रणयवान्) दोनों का प्रयोग किया है। यथा – (१) अङ्काश्रयप्रणयिनः (शा० ७/१७)। (२) 'प्रणयिनीव नखक्षतमण्डनम्' (रघु० ९/३१)। (३) 'सा हि प्रणयवती' (रघु० ११/५७)।

कोष—'मृगतृष्णा मरीचिका' – इत्यमरः।

अलङ्कार—(१) इस पद्य में असम्भवद् वस्तु सम्बन्ध रूप निदर्शना अलङ्कार है। ल०द्र० १/१७ श्लो०। जिस प्रकार मार्गगत का जलपूर्ण महानदी को छोड़कर जैसे कोई व्यक्ति पिपासा शान्ति के लिये मृगमरीचिका आश्रय लेता है पर उसकी पिपासा शान्त न होकर और बढ़ती ही है, उसी प्रकार स्वयमेव उपस्थित अपनी प्रिया शकुन्तला की अवहेलना कर दुष्यन्त अब चित्रगत उसका सम्मान कर रहा है। इससे उसको मानसिक शान्ति नहीं मिलती उलटे उसकी कामव्यथा ही बढ़ती है। इन दो असम्बद्ध वस्तुओं में सम्बन्ध दिखाकर उनमें सादृश्य (औपम्य) का वर्णन होने से 'निदर्शना' है।

छन्द—वसन्ततिलका है। ल०द्र० १/८ श्लो०।

टिप्पणी—(१) मरुभूमि में ग्रीष्म ऋतु की मध्याह्न-वेला में प्यास से व्याकुल मृग को चमचमाती हुई रेत में जल का भ्रम हो जाता है। फलतः वह इधर-उधर दौड़ता है किन्तु पानी नहीं मिलता। इस प्रकार अन्त में भ्रान्त मृग अपने प्राण खो देता है। यही मृगतृष्णा है। (२) राजा के कथन का तात्पर्य यह है कि यह चित्र मृगतृष्णा के समान है। जिस प्रकार मृगतृष्णा मृग की प्यास को नहीं बुझा सकती, उसी प्रकार यह चित्र भी राजा की विरह-वेदना को शान्त नहीं कर रहा है, अपितु बढ़ा ही रहा है।

विदूषक—(आत्मगतम्) **एषोऽत्रभवान् नदीमतिक्रम्य मृगतृष्णिकां सङ्क्रान्तः।** (प्रकाशम्) **भोः, अपरं किमत्र लेखितव्यम् ?** (एसो अत्तभवं णदि अदिक्कमिअ मिअतिण्हआं संकन्तो। भो, अवरं किं एत्थ लिहिदव्वम् ?)

व्या० एवं श०—अतिक्रम्य – अति+क्रम+क्त्वा – ल्यप् = लाँध कर। सङ्क्रान्तः – सम्+क्रम्+क्त = प्रविष्ट हो गये (हैं)। लेखितव्यम् – लिख्+तव्यत् = लिखना है (चित्र बनाना है)। लिखितव्यम् – यह पाठ अशुद्ध है।

विदूषक—(अपने मन में) ये महानुभाव (महाराज) नदी को लाँघकर मृगतृष्णा में प्रविष्ट हो गये हैं। (प्रकट रूप में) हे (मित्र), यहाँ (इस चित्र में) और क्या लिखना (बनाना) है ?

सानुमती—यो यः प्रदेशः सख्या मेऽभिरूपस्तं तमालेखितुकामो भवेत्। (जो जो पदेसो सहीए मे अहिरूवो तं तं अलिहिदुकामो भवे।)

व्या० एवं श०—आलेखितुकामः - आलेखितुं कामः यस्य सः (बहु०) 'तुंकामनसोरपि' से 'म्' का लोप हुआ है = लिखने (चित्र बनाने) का इच्छुक।

सानुमती—जो-जो स्थान मेरी सखी (शकुन्तला) को प्रिय (अभिरूप) हैं, उन सबको चित्रित करने के इच्छुक होंगे।

राजा—श्रूयताम्—

राजा—सुनो—

कार्या सैकतलीनहंसमिथुना स्रोतोवहा मालिनी
पादास्तामभितो निषण्णहरिणा गौरीगुरोः पावनाः।
शाखालम्बितवल्कलस्य च तरोर्निर्मातुमिच्छाम्यधः
शृङ्गे कृष्णमृगस्य वामनयनं कण्डूयमानां मृगीम् ।। १७ ।।

अन्वय—सैकतलीनहंसमिथुना मालिनी स्रोतोवहा कार्या, ताम् अभितः निषण्णहरिणाः गौरीगुरोः पावनाः पादाः (कार्याः), शाखालम्बितवल्कलस्य तरोः अधः कृष्णमृगस्य शृङ्गे वामनयनं कण्डूयमानां मृगीं च निर्मातुम् इच्छामि।

शब्दार्थ—सैकतलीनहंसमिथुना = जिसके रेतीले तट पर हँसयुगल (हंसों का जोड़ा) बैठा हुआ है ऐसी (रेतीले किनारे पर बैठे हुये हंसयुगल वाली)। मालिनी = मालिनी। स्रोतोवहा = नदी। कार्या = चित्रित करनी है (बनानी है)। ताम् अभितः = उसके दोनों ओर। निषण्णहरिणाः = जिस पर हरिण बैठे हुये हैं ऐसी (बैठे हुये हरिणों वाली)। गौरीगुरोः = पार्वती (गौरी) के पिता (गुरु) अर्थात् हिमालय की। पावनाः = पवित्र। पादाः = पहाड़ियाँ। च = और। शाखालम्बितवल्कलस्य = जिसकी शाखाओं (डालियों) पर वल्कल-वस्त्र लटक रहे हैं ऐसे (शाखाओं पर लटकाये गये वल्कल-वस्त्रों वाले)। तरोः = वृक्ष के। अधः = नीचे। कृष्णमृगस्य = कृष्णमृग के (काले हरिण के)। शृङ्गे = सींग पर। वामनयनम् = बाई आँख को। कण्डूयमानाम् = खुजलाती हुयी। मृगीम् = मृगी को (हरिणी को)। निर्मातुम् इच्छामि = बनाने की इच्छा करता हूँ (बनाना चाहता हूँ)।

अनुवाद—जिसके रेतीले (बालुकामय) तट पर हंसयुगल (हंसों का जोड़ा) बैठा हुआ है ऐसी मालिनी नदी चित्रित करनी (बनानी) है। उसके दोनों ओर (पार्वती के पिता) हिमालय की (ऐसी) पवित्र पहाड़ियाँ (बनानी हैं), जिनपर हरिण बैठे हुये हैं। जिसकी शाखाओं (डालियों) पर (सूखने के लिये) वल्कल-वस्त्र लटक रहे हैं ऐसे वृक्ष के नीचे काले हरिण के सींग पर (अपनी) बाईं आँख को खुजलाती हुयी हरिणी को बनाने की इच्छा करता हूँ (बनाना चाहता हूँ)।

संस्कृत व्याख्या—सैकतलीनहंसमिथुना - बालुकामये पुलिने उपविष्टानि हंसानां द्वन्द्वानि यस्याः सा तादृशी, **मालिनी** - एतदाख्या, **स्रोतोवहा** - नदी, **कार्या** - कर्त्तव्या, चित्रयितव्येत्यर्थः, **ताम्** - मालिनीनदीम् , **अभितः** - उभयतः, **निषण्णहरिणाः** - उपविष्टाः मृगाः येषु तथाविधाः, **गौरीगुरोः** - गौर्याः पार्वत्याः गुरोः जनकस्य हिमालयस्य, **पावनाः** -

पवित्रा, **पादाः** – प्रत्यन्तपर्वतभागाः, कार्या इति शेषः, **शाखालम्बितवल्कलस्य** – शाखासु आलम्बितानि अपसारितानि वल्कलानि यस्य तस्य तादृशस्य, **तरोः** – वृक्षस्य, **अधः** – तलेः, **कृष्णमृगस्य** – कृष्णहरिणस्य, **शृङ्गे** – विषाणे, **वामनयनं** – सव्यनेत्रम्, **कण्डूयमानां** – खर्जनं कुर्वतीम् , **मृगीं च** – हरिणीं च, **निर्भातुम्** – आलेखितुम् , **इच्छामि** – वाञ्छामि ।

संस्कृत-सरलार्थः—राजा दुष्यन्तो विदूषकं ब्रवीति यदस्मिन् चित्रे मया चेद्दशी मालिनी नदी चित्रयितव्यास्ति, यस्या बालुकामयपुलिनप्रदेशेषु हंसयुगलानि समुपविष्टानि सन्ति, तां (मालिनीम्) उभयतो हिमालयस्य पावनाः प्रत्यन्तभागा आलेख्या यत्र हरिणा उपविष्टाः सन्ति तथाऽहं शाखावसक्तवल्कलस्य वृक्षास्याधः कृष्णसाराख्यमृगविशेषस्य विषाणे निजवामनेत्रं घर्षयन्तीं हरिणीमपि चित्रयितुं कामये ।

व्याकरण—सैकतलीनहंसमिथुना – सैकते लीनानि हंसमिथुनानि यस्याः सा (बहु०)। स्रोतोवहा – स्रोतस्+वह्+अच्+टाप् । निषण्णहरिणाः – निषण्णाः हरिणाः येषु ते (बहु०) नि+सद+क्त प्र०ब०व० निषण्णा । शाखालम्बितवल्कलस्य – शाखासु लम्बितानि वल्कलानि यस्य तस्य (बहु०) । कण्डूयमाना – कण्डू+शानच्+टाप् द्वि०ए०व० । कार्या – कृ+ण्यत्+टाप् ।

कोष—'पादा प्रत्यन्तपर्वताः' इत्यमरः । 'तोयोत्थितं नत्पुलिनं सैकतं सिकतामयम्' इत्यमरः ।

रस-भाव—यह श्लोक शृङ्गार 'विप्रलम्भ' का अच्छा उदाहरण है । सम्भोग शृङ्गार से सम्बद्ध वस्तुओं / कार्यों के वर्णन से विप्रलम्भ की पुष्टि होती है ।

विशेष—(१) चित्र में चित्रित 'स्रोतोवहा मालिनी' से रमणीयता, 'गौरीगुरोः' से निर्बाध विचरण, 'निषण्णचमराः' से स्थान की एकान्तता, सुरतक्षमता, मृगी का मृग की सींग में नयन का खुजलाना 'कण्डूयमानां मृगीम् – ये सभी वस्तुयें कामोद्दीपक है । ये सभी आश्रम-निवास के प्रसङ्ग में दुष्यन्त द्वारा देखी गयी थीं । उन्होंने उनका साक्षात् अनुभव किया था । (२) खुजलाती हुयी मृगी 'कण्डूयमानां मृगीम्' यह चित्र कामशास्त्र के अनुसार सम्भोग शृङ्गार का सूचक है । क्योंकि सम्भोग की इच्छा होने पर हरिणी के वामनयन में तथा स्त्रियों के मदनालय में कण्डूति (खुजलाहट) होती है । कहा भी गया है—'रिंसा यत्र जायेत कण्डूतिस्तत्र जायते । मृगीणां वामनयने योषितां मदनालये ।।

अलङ्कार—(१) प्रस्तुत श्लोक में 'कार्या' इस एक क्रिया के अप्रस्तुत 'स्रोतोवहा मालिनी' तथा 'गौरीगुरोः पावनाः' इन पदार्थों के साथ कर्मरूप से सम्बन्ध होने के कारण 'तुल्ययोगिता' अलङ्कार है । यहाँ दो अप्रस्तुत पदार्थों का एक क्रिया रूप धर्म के साथ सम्बन्ध प्रतिपादित है । ल०द्र० ३/१७ श्लो० । (२) वस्तुओं का स्वाभाविक वर्णन होने से **'स्वाभावोक्ति'** अलङ्कार है । ल०द्र० १/७ श्लो० । (३) कुछ लोग 'गौरीगुरोः' में प्रसङ्ग से वर्णन होने के कारण **'उदात्त'** अलङ्कार मानते हैं । उदात्त का लक्षण है—लोकातिशयसम्पत्तिवर्णनोदात्तमुच्यते । यद्यपि प्रस्तुस्याङ्गं महतां चरितं भवेत् अर्थात् लोकोत्तर वैभव का वर्णन अथवा महनीय पुरुषों के चरित्र का वर्णन जो प्रस्तुत वर्ण्य वस्तु के अङ्ग या उपकारक के रूप में प्रतीत होता है, 'उदात्तालङ्कार' कहलाता है । (४) लीनलिनी, 'गौरीगुरोः' मृगमृगीम् आदि में **अनुप्रास** है ।

छन्द—श्लोक में **'शार्दूलविक्रिडित'** छन्द है । ल०द्र० १/१४ श्लो० ।

विदूषकः—(आत्मगतम्) **यथाहं पश्यामि पूरितव्यमनेन चित्रफलकं लम्बकूर्चानां तापसानां कदम्बैः ।** (जह अहं देक्खामि पूरिदव्वं णेण चित्तफलअं लम्बकुच्चाणं तावसाणं

कदम्बहि ।)

व्या० एवं श०—पूरितव्यम् - पूरी+तव्यत् = भर दिया जाना। लम्बकूर्चानाम् - लम्बा: दीर्घा: कूर्चा: श्मश्रवो येषां ते (ब०ब्री०) = लम्बी दाढ़ी वाले। कदम्बैः = झुण्डों से।

विदूषक—(अपने मन में) जैसा मैं देख रहा हूँ कि इनके द्वारा यह चित्रपट लम्बी दाढ़ी वाले तपस्वियों के झुण्ड से भर दिया जायेगा।

टिप्पणी—'कूर्चोऽस्त्रीश्मश्रुपीठयो:' इति केशव:।

राजा—वयस्य, अन्यच्च। शकुन्तलायाः प्रसाधनमभिप्रेतमत्र विस्मृतमस्माभिः।

व्या० एवं श०—प्रसाधनम् = सजावट, अलङ्करण। 'आकल्पवेशौ नेपथ्यं प्रतिकर्म प्रसाधनम्' इत्यमर:। अभिप्रेतम् - अभि+प्र+इण्+क्त = इष्ट। विस्मृतम् - वि+स्मृ+क्त = भूल गया।

राजा—हे मित्र, और भी। शकुन्तला की जो सजावट हम करना चाहते थे, वह यहाँ (चित्र में) भूल ही गये हैं ?

विदूषकः—किमिव ? (किं विअ ?)

विदूषक—वह क्या ?

सानुमती—वनवासस्य सौकुमार्यस्य विनयस्य च यत्सदृशं भविष्यति। (वणवासस्स सोउमारस्स विणअस्स अ जं सरिसं भविस्सदि।)

व्या० एवं श०—सौकुमार्यस्य - सुकुमारस्य भाव: सौकुमार्यम् तस्य (ष०त०) = सुकुमारता का।

सानुमती—जो वनवास, सुकुमारता और विनय के अनुकूल होगा।

राजा—

कृतं न कर्णार्पितबन्धनं सखे शिरीषमागण्डविलम्बिकेसरम्।
न वा शरच्चन्द्रमरीचिकोमलं मृणालसूत्रं रचितं स्तनान्तरे।। १८।।

अन्वय—सखे, कर्णार्पितबन्धनम्, आगण्डविलम्बिकेसरं शिरीषं न कृतम्, वा स्तनान्तरे शरच्चन्द्रमरीचिकोमलं मृगालसूत्रं न रचितम्।

शब्दार्थ—सखे = हे मित्र! कर्णार्पितबन्धनम् = जिसका डण्ठल कानों में लगाया गया (फँसाया गया) है ऐसा (कानों में लगाये गये डण्ठल वाला)। आगण्डविलम्बिकेसरम् = जिसका केसर (पराग) कपोलों तक लटक रहा है ऐसा (कपोलों तक लटकते हुये केसर वाला)। शिरीषम् = शिरीष का पुष्प। न = नहीं। कृतम् = चित्रित किया गया है। वा = और। स्तनान्तरे = स्तनों के बीच में। शरच्चन्द्रमरीचिकोमलम् = शरद ऋतु के चन्द्रमा की किरणों के समान कोमल। मृणालसूत्रम् = कमल-नाल का हार। न = नहीं। रचितम् = रचा गया है (बनाया गया है)।

अनुवाद—हे मित्र, कानों में संलग्न डण्ठल वाला और कपोलों तक लटकते हुये केसर (पराग) वाला शिरीष (शिरस) का पुष्प नहीं चित्रित किया गया है तथा स्तनों के बीच में शरद् ऋतु के चन्द्रमा की किरणों के समान कोमल कमल-नाल का हार (भी) नहीं रचा गया (बनाया गया) है।

संस्कृत व्याख्या—सखे - हे मित्र, **कर्णार्पितबन्धनं** - कर्णे आरोपितं बन्धनं वृन्तं यस्य तत्, **आगण्डविलम्बिकेसरं** - आगण्डं कपोलपर्यन्तं लम्बमाना: केसरा: किञ्जल्का: यस्य

तत् , **शिरीषं** – शिरीषपुष्पम् , **न** – नहि, **कृतं** – रचितम् , **वा** – तथा, **स्तनान्तरे** – पयोधरयो मध्ये, **शरच्चन्द्रमरीचिकोमलं** – शरच्चन्द्रस्य – मरीचयः किरणाः तद्वत् सुकुमारम् , **मृणालसूत्रं** – मृणालमयो हारः, **न** – नहि, **रचितं** – चित्रितम् ।

संस्कृत-सरलार्थः—राजा चित्रविषये विदूषकं वदति 'मित्र' कर्णनिवेशितबन्धनं कपोलपर्यन्तप्रसृतकिञ्जल्कं शिरीषपुष्पं चित्रे न रचितमस्ति । पयोधरयोर्मध्यभागे शरदिन्दुकिरणकोमलो मृणालमयो हारोऽपि न रचितः ।

व्याकरण—कर्णार्पितबन्धनं – कर्णयोः अर्पितं बन्धनं यस्य तत् (बहु०) । आगण्डविलम्बिकेसरं – आगण्डं बिलम्बिनः केसराः यस्य तत् (बहु०) । स्तनान्तरे – स्तनयोः अन्तरे (तत्पु०) । शरच्चन्द्रमरीचिकोमलं – शरदः चन्द्रः शरच्चन्द्रः, तस्य भरीचिवत् कोमलम् (तत्पु०) ।

अलङ्कार—(१) इस श्लोक में 'कृतम्' तथा 'रचितम्' इन दो क्रियाओं का समुच्चय होने से **'समुच्चय'** अलङ्कार है । ल०द्र० २/५ श्लो० । (२) 'शरच्चन्द्रमरीचिकोमलम्' (शरदिन्दोः मरीचिवत् किरणवत् कोमलम्) में **'उपमा'** (समासगावाचकलुप्तोपमा) अलङ्कार है । ल०द्र० १/५ श्लो० । (३) यहाँ मृणाल सूत्रों से स्तनों के मध्य भाग की तथा स्तनों के मध्य भाग से मृणालसूत्र की शोभा बढ़ने के कारण अन्योन्य शोभाधायक होने से 'अन्योन्य' अलङ्कार है । लक्षण – 'अन्योन्यमुभयोरेकक्रियायाः करणं मिथः' ।

छन्द—यहाँ 'वशंस्थ' छन्द है । ल०द्र० ५/१७ श्लो० ।

विदूषकः—भोः, किं नु तत्रभवती रक्तकुवलयपल्लवशोभिनाऽग्रहस्तेन मुखमावार्य चकितचकितेव स्थिता । (सावधानं निरुप्य दृष्ट्वा) **आः, एष दास्याः पुत्रः कुसुमरसपाटच्चरस्तत्रभवत्या वदनकमलमभिलङ्घते मधुकरः ।** (भो, किं णु तत्तहोदी रत्तकुवलअपल्लवसोहिणा अग्गहत्थेण मुहं आवारिअ चइदचइदा विअट्ठि आ । आ, एसो दासीएपुत्तो कुसुमरसपाडच्चरो ततहोदीए वअणकमलं अहिलङ्घेदि महुअरो ।)

व्या० एवं श०—रक्तकुवलयपल्लवशोभिना – रक्तकुवलयस्य रक्तकमलस्य पत्रम् तद्वत् शाभिना सुन्दरेण = रक्तकमल के नवपल्लव के समान सुशोभित । यह पद 'अग्रहस्तेन' पद का विशेषण है । अग्रहस्तेन – हस्ताग्रेण = हाथ के अगले भाग से । आवार्य – आ+वृ+णिच्+क्त्वा – ल्यप् = ढक कर । चकितचकिता – चकितात् चकिता सह सुपा से समास = अत्यन्त भयभीत । चकितः शङ्कितोभीतः इति त्रिकाण्डकोषः । दास्याः पुत्रः (ष०त०) = नीच । यहाँ निन्दा अर्थ होने से 'पुत्रेऽन्यतरस्याम्' सूत्र से षष्ठी का अलुक है । कुसुमरसपाटच्चरः – कुसुमरसस्य पाटच्चरः (ष०त०) = पुष्प रस को चुराने वाला । पाटयन् छिन्दन् चरति – पाटच्चरः चोरः । 'प्रसूनं कुसुमं समम्' इत्यमरः । अभिलङ्घते = आक्रमण कर रहा है । वार्यताम् – वृ+णिच्+यक् (कर्मवाच्य) लोट्+प्र०पु०ए०व० = रोका (हटाया) जाय ।

विदूषक—हे (मित्र), आदरणीया (शकुन्तला) लाल कमल के नये पत्ते के समान सुशोभित हाथ के अगले भाग (अर्थात् अङ्गुलियों) से मुख को ढककर अत्यन्त भयभीत सी खड़ी हैं । (सावधानी से विचार कर और देखकर) ओह, यह नीच (दासी का बेटा) पुष्प के रस को चुराने वाला भ्रमर मान्या (शकुन्तला) के मुखकमल पर आक्रमण कर रहा (मँडरा रहा) है ।

राजा—ननु वार्यतामेष धृष्टः ।

व्या० एवं श०—वार्यताम् = रोका (हटाया) जाय।

राजा—तो यह ढीठ (भ्रमर) रोका (हटाया) जाय (अर्थात् इस ढीठ भौंरे को हटाओ)।

विदूषकः—भवानेवाविनीतानां शासितास्य वारणे प्रभविष्यति। (भवं एव्व अविणीदाणं सासिदा इमस्स वारणे पहविस्सदि।)

व्या० एवं श०—शासिता – शास्+तृच् = शासक (दण्ड देने वाले)। वारणे – वृ+णिच्+ल्युट् स०ए०व० = निवारण में। प्रभविष्यति = समर्थ होंगे।

विदूषकः—दुष्टों के शासक (दण्ड देने वाले) आप ही इसके निवारण (अर्थात् इसको हटाने) में समर्थ होंगे।

राजा—युज्यते। अयि भोः कुसुमलताप्रियातिथे, किमत्र परिपतनखेदमनुभवसि?

व्या० एवं श०—कुसुलताप्रियातिथे – कुसुमलतायाः प्रियातिथिः तत्सम्बोधने = पुष्पलता के प्रिय अतिथि। परिपतन खेदम् (शकुन्तला के मुख के चारों ओर) चक्कर लगाने का कष्ट।

राजा—ठीक है। अरे हे पुष्पलता के प्रिय अतिथि, तुम क्यों यहाँ (शकुन्तला के मुखमण्डल के चारों ओर) चक्कर काटने (अर्थात् मँडराने) का कष्ट उठा रहे हो?

एषा कुसुमनिषण्णा तृषितापि सती भवन्तमनुरक्ता।
प्रतिपालयति मधुकरी न खलु मधु विना त्वया पिबति॥ १९॥

अन्वय—(त्वयि) अनुरक्ता एषा मधुकरी तृषिता सती कुसुमनिषण्णा अपि भवन्तं प्रतिपालयति, त्वया विना मधु न खलु पिबति।

शब्दार्थ—(त्वयि) अनुरक्ता = (तुम पर) अनुरक्त, तुमसे प्रणय करने वाली। एषा = यह। मधुकरी = भ्रमरी। तृषिता सती = प्यासी होती हुयी। कुसुमनिषण्णा अपि = पुष्प पर बैठी हुयी भी। भवन्तम् = आप की, तुम्हारी। प्रतिपालयति = प्रतीक्षा कर रही है। त्वया = तुम्हारे। विना = बिना। मधु = पुष्परस को। न खलु = नहीं ही। पिबति = पी रही है।

अनुवाद—(तुम पर) अनुरक्त यह भ्रमरी, प्यासी होकर पुष्प पर बैठी हुयी भी (तुम्हारी) प्रतीक्षा कर रही है। तुम्हारे बिना पुष्परस को (भी) नहीं पी रही है।

संस्कृत व्याख्या—अनुरक्ता – (त्वयि) अनुरागवती, **एषा** – इयम्, **मधुकरी** – भ्रमरी, **तृषिता सती** – पिपासिता सती, **कुसुमनिषण्णा अपि** – कुसुमे पुष्पे निषण्णा स्थिता अपि, **भवन्तं** – प्रेमास्पदं त्वां भ्रमरम्, **प्रतिपालयति** – प्रतीक्षते; **त्वया विना** – भवता प्रियेण विना, **मधु** – पुष्परसम्, **न खलु** – नैव, **पिबति** – गृह्णाति।

संस्कृत-सरलार्थः—प्रेमाभिभूतो राजा विदूषकं सम्बोधयन् कथयति 'भ्रमर! त्व कथं शकुन्तलामुखं परितः भ्रमसि? पुष्पोपरि स्थिता तव प्रणयिनी भ्रमर्येकाकिनी पिपासिता सत्यपि प्रेमभाजनं त्वां प्रतीक्षते। सम्प्रति त्वामन्तरा पुष्परसं नैव पिबति – इति।

व्याकरण—अनुरक्ता – अनु+रञ्ज+क्त+टाप् = अनुरागवती। कुसुमनिषण्णा – कुसुमे निषण्णा (तत्पु०)। प्रतिपालयति – प्रति+पाल्+णिच् (स्वार्थे), लट्, प्र०पु०, एक०। त्वया विना – 'त्वया' में 'विना' के योग में तृतीया।

रस-भाव—शृङ्गार (विप्रलम्भ) रस है। भ्रमरी (मधुकरी) का आलम्बन विभाव भ्रमर (मुधकर) है।

अलङ्कार—(१) इस श्लोक में मधुकर एवं मधुकरी पर क्रमशः नायक तथा नायिका के व्यवहार का आरोप है अतः **'समासोक्ति'** अलङ्कार है। ल०द्र० १/२३ श्लो०।

छन्द—'आर्या' छन्द है। ल०द्र० १/२ श्लो०।

सानुमती—अद्याभिजातं खल्वेषवारितः। (अज्ज अभिजादं क्खु एसो वारिदो।)

व्या० एवं श०—अभिजातम् = श्रेष्ठ कुल के अनुरूप (अत्यन्त शिष्ट) ढंग से। 'न्याये कुलीनबुधयोरभिजातपदं विदुः' इति शाश्वतः। खल्वेष – खलु+एष – यण्। वारितः – वृ+णिच्+क्त = रोका गया।

सानुमती—आज (इस दशा में) (राजा द्वारा) यह (भ्रमर) अत्यन्त शिष्ट ढङ्ग से रोका गया है।

विदूषकः—प्रतिषिद्धाऽपि वामैषा जातिः। (पडिसिद्धा वि वामा एसा जादी।)

व्या० एवं श०—प्रतिषिद्धा – प्रति+सिध्+क्त+टाप् = रोकी (मना की) गयी। वामा = विपरीत (उल्टा) काम करने वाली।

विदूषक—यह (भ्रमर) जाति रोकी जाने पर भी विपरीत (उल्टा) कार्य करने वाली (होती है)।

राजा—एवं भोः, न मे शासने तिष्ठसि ? श्रूयतां तर्हि सम्प्रति—

राजा—क्यों रे, तू मेरे आदेश (शासन) में नहीं है (अर्थात् मेरी आज्ञा नहीं मानता है) ? तो अब तू सुन ले—

अक्लिष्टबालतरुपल्लवलोभनीयं
पीतं मया सदयमेव रतोत्सवेषु।
बिम्बाधरं स्पृशसि चेद् भ्रमर प्रियाया—
स्त्वां कारयामि कमलोदरबन्धनस्थम्॥ २०॥

अन्वय—भ्रमर, अक्लिष्टबालतरुपल्लवलोभनीयं मया रतोत्सवेषु सदयम् एव पीतं प्रियायाः बिम्बाधरं चेत् स्पृशसि, त्वां कमलोदरबन्धनस्थं कारयामि।

शब्दार्थ—भ्रमर = हे भ्रमर ! अक्लिष्टबालतरुपल्लवलोभनीयम् = न मुरझाये हुये (अथवा किसी के द्वारा स्पर्श न किये गये)। अक्लिष्ट – 'बालतरु... लोभनीयम्' नवीन तरु पल्लव के समान लुभावने (मनोहर)। मया = मेरे द्वारा। रतोत्सवेषु = सुरतोत्सव में (रतिकाल में)। सदयम् = दयापूर्वक। एव = ही। पीतम् = पिये गये (चुम्बन किये गये)। प्रियायाः = प्रिया (शकुन्तला) के। बिम्बाधरम् = बिम्बफल के समान (लाल) अधर को। चेत् = यदि। स्पृशसि = स्पर्श करते हो (करोगे तो)। त्वाम् = तुमको। कमलोदरबन्धनस्थम् = कमल के मध्य-भाग (उदर) रूपी कारागार (बन्धन) में स्थित (बन्द)। कारयामि = करा देता हूँ (करा दूँगा)।

अनुवाद—हे भ्रमर, न मुरझाये हुये (अथवा किसी के द्वारा स्पर्श न किये गये) नवीन तरुपल्लव के सामन लुभावने (मनोहर) तथा मेरे द्वारा रतिकाल में (भी) दयापूर्वक पान किये गये (मेरी) प्रिया (शकुन्तला) के बिम्बफल के समान (लाल) अधर को यदि तुम छूओगे (तो) तुमको कमल के मध्य-भाग रूपी कारागार में स्थित (बन्द) करा दूँगा।

संस्कृत व्याख्या—भ्रमर – हे मधुकर ! **अक्लिष्टबालतरुपल्लवलोभनीयं** – आक्लिष्टः अम्लानः यः तरुपल्लवः वृक्षपत्रं तद्वत् मनोहरम् , **मया** – तत्सौन्दर्यवशीभूतेन दुष्यन्तेन, **रतोत्सवेषु** – सुरतोत्सवेषु, **सदयम् एव** – सानुकम्पमेव, **पीतम्** – आस्वादितम् , चुम्बितमित्यर्थः, **प्रियायाः** – शकुन्तलायाः, **बिम्बाधारं** – बिम्बफलसदृशमधरोष्ठम् , **चेत्** – यदि, **स्पृशसि** – स्पर्शं करोषि, **त्वां** – भ्रमरम् , **कमलोदरबन्धनस्थं** – कमलस्य उदरं मध्यभागरूपं यद् बन्धनं कारागृहं तत्र तिष्ठति यः तादृशम्, **कारयामि** – कारयिष्यामि ।

संस्कृत-सरलार्थः—भ्रमरं सम्बोधयन् राजा कथयति – 'भ्रमर ! यदि त्वं मत्प्रियाया (शकुन्तलायाः) अम्लाननूतनतरुपल्लवदाकर्षकं पक्वबिम्बलसदृशारक्तं रतिकालेऽपि मया दुष्यन्तेन सदयं पीतञ्चाधरोष्ठं दशसि तर्हि त्वामहं कमलोदररूपकारागृहं प्रापयामि (प्रापयिष्यामीत्यर्थः) ।

व्याकरण—अक्लिष्टबालतरुपल्लवलोभनीयं – अक्लिष्टश्च बालश्च यः तरुपल्लवः, तद्वत् लोभनीयम् (कर्म०) । कमलोदरबन्धनस्थं – कमलस्य उदररूपं यद् बन्धनं तत्र तिष्ठतीति । बिम्बाधरम् – बिम्बसद्दृमधरम् बिम्बाधरं मध्यमपदलोपी समास । कमलोदरबन्धनस्थम् – कमलस्य उदरम् अभ्यन्तरमेव बन्धनम् कारागारं तत्रस्थं (तत्र निबद्धम्) ।

अलङ्कार—(१) 'अक्लिष्ट... लोभनीयम्' में उपमा (समासगा वाचकलुप्तोपमा) अलङ्कार है क्योंकि यहाँ उपमावाचक पद 'वति' प्रत्यय समास में लुप्त हो गया है । ल०द्र० १/५ श्लो० । इसी प्रकार 'बिम्बाधरम्' (बिम्बसदृशमधरम्) में भी **'समासगावाचकलुप्तोपमा'** है । (२) कमलोदरबन्धनस्थम् – कमल के भीतर भ्रमर का बन्द हो जाना स्वाभाविक है पर राजा के द्वारा अपने प्रयोजन के लिए अध्यवसित कर दिया गया है अतः 'अतिशयोक्ति' अलङ्कार है । ल०द्र० १/२३ श्लो० । (३) 'कमलोदरबन्धनस्थम्' में कमलोदर में बन्धन कारागार का आरोप होने से 'रूपक' है । ल०द्र० २/१६ श्लो० ।

छन्द—यहाँ 'वसन्ततिलका' छन्द है । ल०द्र० १/८ श्लो० ।

टिप्पणी—यहाँ 'व्यवसाय' नामक सन्धि का अङ्ग है । व्यवसाय का लक्षण है – व्यवसायश्च विज्ञेयः प्रतिज्ञाहेतु सम्भव ।

विदूषकः—एवं तीक्ष्णदण्डस्य किं न भेष्यति ? (प्रहस्य । आत्मगतम्) **एष तावदुन्मतः । अहमप्येतस्य सङ्गेनेदृशवर्ण इव संवृत्तः** (प्रकाशम्) **भोः चित्रं खल्वेतत् ।** (एव्वं तिक्खणदण्डसस किं ण भाइस्सदि ? एसो दावं उम्मत्तो । अहं पि एदस्स संगण ईदिसवण्णो विअ संवुत्तो । भो, चित्तं क्खु एद ।)

व्या० एवं श०—तीक्ष्णदण्डस्य – तीक्ष्णः कठोरः दण्डः यस्य = कठोर दण्ड वाले । यहाँ शेषत्वविवक्षा में षष्ठी है । ईदृशः वर्णः यस्य स = इसी प्रकार का (उन्मत्त) ।

विदूषक—इस प्रकार कठोर दण्ड देने वाले (आप) से (यह) क्यों नहीं डरेगा । (हँसकर, अपने मन में) यह (राजा) तो पागल (उन्मत) हो गया है । मैं भी इस (राजा) की सङ्गति के कारण इसी प्रकार का (अर्थात् पागल जैसा) हो गया हूँ । (प्रकट रूप में) हे (मित्र), यह तो चित्र है (वास्तविक दृश्य नहीं है) ।

राजा—कथं चित्रम् ?

राजा—क्या (यह) चित्र है ?

सानुमती—अहमपीदानीमवगतार्था । किं पुनर्यथालिखितानुभाव्येषः । (अहं पि दाणिं अवगदत्था। किं उण जहालिहिदाणुभावी एसो।)

व्या० एवं श०—अवगतार्था – अवगतः ज्ञातः अर्थः (वस्तु) मया तादृशी (ब०ब्री०) = यथार्थ को जानने वाली। यथालिखितानुभावी – यथालिखितम् लिखितानुरूपम् अनुभवति ध्यायति यस्तादृशः = चित्रानुसार अनुभव करने वाले।

सानुमती—मैं भी यथार्थ को अब समझ पायी हूँ (कि यह चित्र है)। फिर चित्र के अनुसार अनुभव करने वाले इस राजा का क्या कहना!

राजा—वयस्य, किमिदमनुष्ठितं पौरोभाग्यम् ?

व्या० एवं श०—पौरोभाग्यम् – पुरोमगिनः दुष्कर्मनिरतस्य कार्यम् – पुरोभागिन्+ष्यञ् अन्त्यलोप वृद्धि = ईर्ष्या, दोषदर्शन, यहाँ दोषदर्शन कराकर धृष्टता से अभिप्राय है। अमरकोष के अनुसार दोषपरक दृष्टि रखने वाले को पुरोभागी कहते हैं—'दोषैकदृक् पुरोभागी'। अनुष्ठितम् – अनु+स्था+क्त = किया।

राजा—हे मित्र, तुमने क्या धृष्टता (ढिठायी) कर दी ?

टिप्पणी—राजा (दुष्यन्त) चित्र में शकुन्तला को साक्षात् मानकर सुख का अनुभव कर रहे थे। पर विदूषक ने चित्र को वास्तविक चित्र बताकर राजा के आनन्द को भग्न कर दिया। यही उसकी पुरोभागिता (दोषदर्षिता) धृष्टता है।

दर्शनसुखमनुभवतः साक्षादिव तन्मयेन हृदयेन।
स्मृतिकारिणा त्वया मे पुनरपि चित्रीकृता कान्ता ।। २१ ।।

अन्वय—तन्मयेन हृदयेन साक्षात् इव दर्शनसुखम् अनुभवतः मे स्मृतिकारिणा त्वया कान्ता पुनः अपि चित्रीकृता।

शब्दार्थ—तन्मयेन = तल्लीन। हृदयेन = हृदय से। साक्षात् इव = मानो साक्षात् (प्रत्यक्ष)। दर्शनसुखम् = दर्शन के सुख का। अनुभवतः = अनुभव करते हुये (अनुभव करने वाले)। मे = मुझको। स्मृतिकारिणा = (यह चित्र है, इस प्रकार) स्मरण करा देने वाले। त्वया = तुम्हारे द्वारा। कान्ता = पत्नी, प्रिया। पुनरपि = फिर से। चित्रीकृता = चित्र बना दी गयी है।

अनुवाद—तन्मय हृदय से मानो (प्रिया के) साक्षात् दर्शन सुख का अनुभव करने वाले मुझको, (यह चित्र है ऐसा) स्मरण करा देने वाले तुम्हारे द्वारा (मेरी) प्रिया (शकुन्तला) फिर से चित्र बना दी गयी है (आँसुओं को बहाता है)।

संस्कृत व्याख्या—तन्मयेन – शकुन्तलामयेन, **हृदयेन** – चित्तेन, **साक्षादिव** – प्रत्यक्षमिव, **दर्शनसुखं** – दर्शनानन्दम्, **अनुभवतः** – विभावयतः, **मे** – मम, **स्मृतिकारिणा** – 'भोः चित्रमेतत्' इति स्मरणं जनयता, **त्वया** – पौरोभाग्यं भजमानेन विदूषकेन, **कान्ता** – प्रिया (शकुन्तला), **पुनरपि** – भूयोऽपि, **चित्रीकृता** – आलेख्यरूपेण परिणमिता।

संस्कृत-सरलार्थः—राजा विदूषकं प्रबीति – यदाऽहं शकुन्तलासंलग्नेन चेतसा साक्षाद्दर्शनसुखमनुभवन्नासम् तदा त्वया 'चित्रमिदं न शकुन्तलेति' स्मृतिं जनयता सा मे प्रिया (शकुन्तला) पुनरपि चित्रगता कृता।

व्याकरण—दर्शनसुखम् – दर्शनस्य सुखम् (तत्पु०)। स्मृतिकारिणा – स्मृतिं करोतीति – स्मृति+कृ+णिनि। चित्रीकृता – चित्र+च्वि+कृ+क्त+टाप्।

अलङ्कार—(१) इस श्लोक में 'साक्षादिव' में 'वाच्योत्प्रेक्षा' अलङ्कार है क्योंकि इसमें 'इव' आदि उत्प्रेक्षावाचक पदों का साक्षात् प्रयोग हुआ है। ल०द्र० १/१८ श्लो०। 'चित्रीकृता' में गम्योत्प्रेक्षा है। इसमें 'इव' आदि उत्प्रेक्षावाचक पदों का प्रयोग नहीं हुआ है।

विशेष—कुछ आयार्य यहाँ 'भ्रान्तिमान्' अलङ्कार मानते हैं। भोजराज ने 'सरस्वतीकण्ठाभरण' में इस श्लोक को 'स्मरण' अलङ्कार के रूप में उद्धृत किया है। 'अनुप्रास' भी है।

छन्द—यहाँ 'पथ्यावक्त्र' छन्द है। ल०द्र० ३/१७ श्लो०।

टिप्पणी—राजा चित्र में चित्रित शकुन्तला को उन्माद के कारण वास्तविक शकुन्तला समझ रहे थे। विदूषक ने राजा को याद दिला दिया कि 'महाराज यह तो चित्र है'। चित्र को समझकर राजा ने वह आनन्द लेना खो दिया जिससे उन्हें कष्ट हो रहा है।

सानुमती—पूर्वापरविरोध्यपूर्व एष विरहमार्गः। (पुव्वावरविरोही अपुव्वो ऐसा विरहमग्गो)।

व्या० एवं श०—पूर्वापरविरोधी – पूर्वस्य – प्रथमावस्थायाः – अपरस्य – अन्यस्य उत्तरार्द्धावस्थायाश्च यो विरोधः वैपरीत्यं तद्वान् = पहले शकुन्तला का प्रत्याख्यान सम्प्रति उसके लिये शोकातिशय से युक्त।

सानुमती—पहली और बाद की घटना का विरोधी यह विरहमार्ग निराला (अपूर्व) है। अर्थात् यह विरह का मार्ग आगे और पीछे की बातों से तालमेल न रखने वाला अपूर्व है।

टिप्पणी—राघवभट्ट के अनुसार सानुमती के इस कथन का अभिप्राय यह है—राजा पहले चित्र को चित्र समझता है। फिर उन्मादवश उसे वास्तविक शकुन्तला समझता है और अब अन्त में उसे पुनः चित्र समझता है। यहीं परस्पर विरोधिता है। जीवानन्द विद्यासागर एवं काले आदि विद्वानों के अनुसार पहले राजा द्वारा शकुन्तला की अवहेलना और अब उसके लिये पश्चात्ताप – यही विरोधिता है।

राजा—वयस्य, कैथमेवमविश्रान्तदुःखमनुभवामि ?

व्या० एवं श०—अविश्रान्तदुःखम् – अविश्रान्तम् अनवरतं दुःखम् = निरन्तर दुःख का।

राजा—हे मित्र, मैं क्यों इस प्रकार निरन्तर (कभी शान्त न होने वाले, अविश्रान्त) दुःख का अनुभव कर रहा हूँ ?

प्रजागरात् खिलीभूतस्तस्याः स्वप्ने समागमः।
वाप्पस्तु न ददात्येनां द्रष्टुं चित्रगतामपि॥ २२॥

अन्वय—प्रजागरात् तस्याः स्वप्ने समागमः खिलीभूतः, तु वाष्पः चित्रगताम् अपि एनां द्रष्टुं न ददाति।

शब्दार्थ—प्रजागरात् = जागते रहने के कारण (नींद न आने के कारण)। तस्याः = उसका। स्वप्ने = स्वप्न में। समागमः = मिलन। खिलीभूतः = रुक गया है (असम्भव हो गया है)। तु = और। वाष्पः = आँसू। चित्रगताम् = चित्रस्थित (चित्रलिखित)। अपि = भी। एनाम् = इसको। द्रष्टुम् = देखने। न = नहीं। ददाति = देता है।

अनुवाद—(रात भर) जागते रहने के कारण उस (शकुन्तला) का स्वप्न में समागम (मिलन) अवरुद्ध हो गया है और आँसू चित्रस्थित भी इस (शकुन्तला) को देखने नहीं देता है।

संस्कृत व्याख्या—प्रजागरात् - (रात्रौ) प्रकर्षेण जागरणात् , **तस्याः** - (प्रेयस्याः) शकुन्तलायाः, **स्वप्ने** - निद्रायाम् , **समागमः** - सङ्गमः, **खिलीभूतः** - निरुद्धः, **वाष्पस्तु** - अश्रुप्रवाहस्तु, **चित्रगताम् अपि** - आलेख्यगताम् अपि, **एनां** - शकुन्तलाम् , **द्रष्टुं न ददाति** - दर्शनयोग्यां न करोति।

संस्कृत-सरलार्थः—राजा स्वमित्रं विदूषकं स्वदयनीयदशां प्रकाशयन् वदति - यन्निशायामधिकजागरणात् तस्याः शकुन्तलायाः स्वप्ने सम्मेलनमसम्भवं जातम्। चित्रदर्शनकालेऽनवरताश्रुप्रवाहाच्चित्रगतामपि तां द्रष्टुं न प्रभवामीति मे महती विडम्बना।

व्याकरण—प्रजागरात् - प्र+जागृ+घञ् = हेतु में पञ्चमी = जागने के कारण। खिलीभूतः - खिल+च्वि+भू+क्त = रुक गया है (अवरुद्ध हो गया है) 'खिल' का अर्थ ऊसर भूमि होता है। यहाँ उसका अभिप्राय अवरुद्ध (असम्भव) है।

रस-भाव—'विप्रलम्भ' शृङ्गार है। नूनं वार्यतामेष धृष्टः से लेकर यहाँ तक तन्मयत्व - प्रवास विप्रलम्भ अवस्था दिखायी गयी है उसका लक्षण है—तन्मयं तत्प्रकाशो हि बाह्याभ्यन्तरतस्था। विप्रलम्भ चार प्रकार का होता है—(१) पूर्वरागात्मक, (२) मानात्मक, (३) प्रवासात्मक, (४) करुणात्मक।

अलङ्कार—(१) यहाँ रात्रिजागरण और वाष्प ये दो (हेतु) क्रमशः कार्यभूत अनिद्रा एवं (चित्र में) अदर्शन के कारण रूप से उपन्यस्त है अतः 'हेतु' नामक अलङ्कार है!

छन्द—'पथ्यावक्त्र' छन्द है। ल०द्र० ३/१७ श्लो०।

टिप्पणी—(१) वियोगावस्था में रात्रिजागरण के कारण निद्रा के अभाव में न स्वप्न में शकुन्तला का दर्शन हो पाता है और चित्र दर्शन के समय आँखों में आँसू भर जाने के कारण न चित्र में दर्शन हो पाता है। (२) श्लोक के इसी भाव से सम्बद्ध अन्य सूक्तियाँ भी द्रष्टव्य हैं—(क) 'त्वामालिख्य... आलुप्यते मे' मेघदूत। (ख) 'कथमुपलभे निद्रां स्वप्ने समागमकारिणीम्' (विक्रमो०)। (ग) 'मत्संभोगः कथमुपनयेत् स्वप्नजोऽपीति...' (मेघदूत)। (३) यहाँ 'दर्शनसुखम्' से लेकर यहाँ तक **'विरोधन'** नामक अवमर्श सन्धि का अङ्ग है क्योंकि यहाँ सुखानुभव कार्य के प्रति आ जाने वाले विघ्न को दिखाया गया है। लक्षण है—'कार्यात्ययोपशमनं विरोधनमिति स्मृतम्'।

सानुमती—सर्वथा प्रमार्जितं त्वया प्रत्यादेशदुःखं शकुन्तलायाः। (सव्वहा पमज्जिदं तु ए पच्चादेसदुक्खं सउन्दलाए।)

व्या० एवं श०—प्रमार्जितम् - प्र+मृज्+णिच्+क्त = शुद्ध कर दिया-दूर कर दिया। प्रत्यादेशदुःखम् - प्रत्यादेशस्य-प्रत्यादेशस्य दुःखम् = परित्याग (तिरस्कार) के दुःख को।

सानुमती—तब शकुन्तला के परित्याग का दुःख तुम्हारे द्वारा सब प्रकार से धो दिया (दूर कर दिया) गया है।

(प्रविश्य) चतुरिका—जयतु जयतु भर्ता। वर्तिकाकरण्डकं गृहीत्वेतोमुखं प्रस्थितास्मि। (जेदु जेदु भट्टा। वट्टिआकरण्डअं गेण्हिअं इदोमुहं पत्थिदम्हि।)

व्या० एवं श०—वर्तिकाकरण्डकम् - वर्तिकायाः चित्रलेखनसाधनीभूतायाः तूलिकाया-

करण्डकम् – पेटकम् = कूचियों तूलिकाओं (ब्रशों) की पेटी को। इतोमुखम् – इत: अस्यां दिशि, मुखम् आननम् यस्मिन् कर्मणि यथा तया = इधर की ओर मुख किये। प्रस्थिता – प्र+स्था+क्त+टाप् = चली थी – आ रही थी।

(प्रवेश कर) **चतुरिका**—जय हो, स्वामी की जय हो (चित्र में रङ्ग भरने के लिये) कूचियों की पेटी (वर्तिकाकरण्डक) को लेकर मैं इधर की ओर आ रही थी।

राजा—किं च ?

राजा—फिर क्या हुआ ?

चतुरिका—स मे हस्तादन्तरा तरलिकाद्वितीयया देव्या वसुमत्याऽहमेवार्यपुत्रस्योपनेष्यामीति सबलात्कारं गृहीतः। (सो मे हत्थादो अन्तरा तरलिआदुदीआए देवीए वसुमदीए अहं एव्व अज्जउत्तस्स उवणइस्सं त्ति सबलक्कारं गहीदो।)

व्या० एवं श०—अन्तरा = मार्ग के बीच में। तरलिकाद्वितीयया – तरलिका – तदभिधाना दासी, द्वितीया-सङ्गिनी यस्या: सा तया = तरलिका है साथी (सङ्गिनी) जिसकी ऐसी। यह पद 'देव्या' इस पद का विशेषण है। उपनेष्यामि – उप+नी+लृट्+उ०पु०ए०व० = 'ले जाऊँगी-पहुँचाऊँगी।' सबलात्कारम् – बलात्कारेण सहितम् सबलामित्यर्थ: = बलपूर्वक। गृहीत: – ग्रह्+क्त = ले लिया।

चतुरिका—यह (कूचियों की पेटी) मेरे हाथ से तरलिका जिनका अनुगमन कर रही थी ऐसी (अर्थात् तरलिका के साथ वहाँ उपस्थित) महारानी वसुमती के द्वारा "मैं ही महाराज के पास (इसे) पहुँचाऊँगी" – ऐसा कहकर बलपूर्वक ले ली गयी।

विदूषकः—दिष्ट्या त्वं मुक्ता। (दिट्ठआ तुमं मुक्का।)

विदूषक—भाग्य से तुम छूट गयी हो।

चतुरिका—यावद् देव्या विटपलग्नमुत्तरीयं तरलिका मोचयति तावन्मया निर्वाहित आत्मा। (जाव देवीए विडवलग्गं उत्तरीअं तरलिआ मोचेदि ताव मए णिव्वाहिदो अत्ता।

व्या० एवं श०—यावत् = जब तक। विटपलग्नम् – विटपे लग्नम् (स०त०) = वृक्ष की डाली में फंसे। उत्तरीयम् = दुपट्टे को। मोचयति – मुच्+णिच्+लट् प्र०पु०ए०व० = छुड़ाने लगी। तावत् = तब तक। आत्मा = अपने शरीर को। निर्वाहित: – निर्+वह्+णिच्+क्त = बचा लिया। आत्मा = शरीर।

चतुरिका—जब तक (वृक्ष की) शाखा (डाली) में फंसे महारानी के दुपट्टे को तरलिका छुड़ाने लगी तब तक मेरे द्वारा अपना शरीर बचा लिया गया (अर्थात् मैं अपने को बचा कर भाग आयी)।

राजा—वयस्य, उपस्थिता देवी बहुमानगर्विता च। भवानिमां प्रतिकृतिं रक्षतु।

व्या० एवं श०—बहुमानगर्विता – बहुमानेन – आदरेण, गर्विता-जातगर्वा = अत्यधिक आदर (पाने) के कारण गर्वीली। प्रतिकृतिम् = (शकुन्तला की) प्रतिमूर्ति (चित्र) को।

राजा—हे मित्र, महारानी आने वाली हैं और अत्यधिक मान से गर्वित हैं। आप इस चित्र की रक्षा करें।

विदूषकः—आत्मानमिति भण। (चित्रफलकमादायोत्थाय च) **यदि भवानन्तःपुरकूटवागुरातो मोक्ष्यते तदा मां मेघप्रतिच्छन्दे प्रासादे शब्दायय।** (अत्ताणं त्ति भणाहि। जइ भवं अन्तेउलकूडवागुरादो 'मुञ्चीअदि तदो मं मेहप्पडिच्छन्दे पासादे सद्दावहि।) (इति द्रुतपदं निष्क्रान्तः)।

व्या० एवं श०—अन्तःपुर कूटवागुरातः – कूटस्य वागुरा अन्तःपुरमेव कूटवागुरा – कूटजालम् तस्याः – अन्तःपुर के कूट (छल-प्रपंच) के जाल से। 'वागुरा मृग-बन्धनी' – इत्यमरः। मेघप्रच्छन्दे – मेघप्रतिच्छन्द नामक। यह 'प्रासादे' इस पद का विशेषण है। प्रासादे = राजभवन में। शब्दायय – पुकारना।

विदूषक—यह कहो कि 'अपने को (अर्थात् मुझे)' बचाओ। (चित्रपट को लेकर और उठकर) यदि अन्तःपुर के कूट-जाल से मुक्त हों तब मुझको 'मेघप्रतिच्छन्द' नामक भवन में पुकारना। (तेजी से पैर बढ़ाता हुआ निकल जाता है)।

सानुमती—अन्यसङ्क्रान्तहृदयोऽपि प्रथमसम्भावनामपेक्षते शिथिलसौहार्द इदानीमेषः। (अण्णसंकन्तहिअओ वि पढममंभावणं अवेक्खदि सिढिलसोहदो दाणिं एसो।)

व्या० एवं श०—अन्यसङ्क्रान्तहृदयः – अन्यस्यां सङ्क्रान्तं हृदयं यस्य सः = अन्य (शकुन्तला) में लगे हुये हृदय वाला। प्रथमसम्भावनाम् – प्रथमा प्राक् कृता या सम्भावना – सत्क्रिया, पूर्वं प्रदशिता या वसुमत्यां प्रीतिः इत्यर्थः, ताम् = प्रथम प्रणय की अपेक्षते – अपेक्षा करता है अर्थात् उसका ध्यान रखता है। शिथिलसौहार्दः – शिथिलं-स्वल्पीभूतं सौहार्दं प्रेम यस्य तादृशः = स्वल्प प्रेम युक्त।

सानुमती—अन्य (शकुन्तला में) संलग्न हृदय वाला यह (राजा) इस समय (वसुमती के प्रति) शिथिल (स्वल्प) प्रेम युक्त (होने पर भी) (उसके साथ हुये) प्रथम प्रणय का ध्यान रखता है ?

(प्रविश्य पत्रहस्ता)

(हाथ में पत्र ली हुयी प्रवेश कर)

प्रतीहारी—जयतु जयतु देवः। (जेदु जेदु देवो।)

प्रतीहारी—जय हो, महाराज की जय हो।

राजा—वेत्रवति, न खल्वन्तरा दृष्टा त्वया देवी।

राजा—वेत्रवती, तुम्हारे द्वारा (मार्ग) के बीच में महारानी (तो) नहीं देखी गयी हैं (अर्थात् तुमने महारानी वसुमती को तो नहीं देखा है)।

प्रतीहारी—अथ किम्। पत्रहस्तां मां प्रेक्ष्य प्रतिनिवृत्ता। (अह इं। पत्तहत्थं मं देक्खिअ पडिणिउत्ता।)

प्रतीहारी—और क्या (अर्थात् हाँ देखा था)! मुझे हाथ में पत्र लिये हुये देखकर लौट गयीं।

राजा—कार्यज्ञा कार्योपरोधं मे परिहरति।

व्या० एवं श०—कार्योपरोधम् – कार्यस्य – राजकार्यस्य उपरोधम्, वाधाम् = कार्य-बाधा को। परिहरति – परि+हृ+लट् प्र०पु०ए०व० = बचाती है।

राजा—कार्यों को जानने वाली (महारानी वसुमती) मेरे कार्यों में विघ्न नहीं डालती है।

प्रतीहारी—देव, अमात्यो विज्ञापयति-अर्थजातस्य गणनाबहुलतयैकमेव पौरकार्यमवेक्षितं तद्देवः पत्रारूढं प्रत्यक्षीकरोतु – इति । (देव, अमच्चो विण्णवेदि । अत्थजादस्स गणणाबहुलदाए एक्कं एव्व पोरकज्जं अवेक्खिदं तं देवो पत्तारूढं पच्चक्खीकरेदु त्ति ।)

व्या० एवं श०—अर्थजातस्य = द्रव्य समूह की । गणनाबहुलतया = गणना (गिनती) की अधिकता के कारण। पौरकार्यम् – नागरिकाणां (पुरवासिनां) कार्यम् = नागरिक कार्य। अवेक्षितम् – अव+ईक्ष+क्त = देखा गया है । पत्रारूढम् – पत्रे आरूढम् (आ+रुह्+क्त) = पत्र पर चढ़े अर्थात् पत्रगत। प्रत्यक्षींकरोतु अप्रत्यक्षं प्रत्यक्षं करोतु इति प्रत्क्षीकरोतु – प्रत्यक्ष+च्वि, ईत्व+कृ – लोट् प्र०पु०ए०व० = (आप स्वयं) देखें।

प्रतीहारी—महाराज—मन्त्री निवेदन कर रहे हैं कि (कर रूपमें प्राप्त) धन-राशि की गणना (गिनने) की अधिकता के कारण नगर-वासियों नागरिकों का (केवल) एक ही कार्य देखा गया है । पत्र पर चढ़ाये गये (अङ्कित) उस (कार्य) को महाराज (आप) देख लें।

टिप्पणी—(१) **अर्थजातस्य** – इससे ज्ञात होता है कि महाकवि के समय में राजा प्रजा से द्रव्य के रूप में कर लेता था और कर की धनराशि बहुत होती थी। अमात्य (महामन्त्री) की उपस्थिति में द्रव्य की गणना की जाती थी। (२) **पौरकार्यम्** – इससे विदित होता है कि न्यायकार्य अमात्य (महामन्त्री) देखता था। अन्तिम निर्णय राजा करता था। महामात्य मुकदमे आदि का निष्कर्ष राजा के सामने प्रस्तुत करता था।

राजा—इतः पत्रं दर्शय ।

राजा—इधर (मुझको) पत्र दिखाओ।

(प्रतिहार्युपनयति)

(प्रतिहारी पास ले जाती है)।

राजा—(अनुवाच्य) **कथम् ? समुद्रव्यवहारी सार्थवाहो धनमित्रो नाम नौव्यसने विपन्नः । अनपत्यःकिल तपस्वी । राजगामी तस्यार्थसञ्चय इत्येतदमात्येन लिखितम् । कष्टं खल्वनपत्यता । वेत्रवति, बहुधनत्वाद् बहुपत्नीकेन तत्रभवता भवितव्यम् । विचार्यतां यदि काचिदापन्नसत्त्वा तस्य भार्यासु स्यात् ।**

व्या० एवं श०—समुद्रव्यवहारी – समुद्रेण-सागरेण, व्यवहरति क्रयविक्रय कार्य। कुरुते यस्तथाविधः = समुद्र के द्वारा व्यापार करने वाला। सार्थवाहः = व्यापारियों का मुखिया। सार्थसमूहं वहतीति – सार्थ+वह+णिनि पद धनमित्रः का विशेषण हैं। नौव्यसने – नावः पोतस्य व्यसनं विपत् 'जलमज्जनमिति यावत्' तस्मिन् = नौकादुर्घटना में। विपन्नः – वि+पत्+क्त = मर गया। अनपत्यः – नास्ति अपत्यं यस्य सः अनपत्यः = निःसन्तान। तपस्वी = बेचारा। राजगामी – राजानं गच्छति राजगामी = राजा को मिलनी चाहिये। राजन्+गम्+णिनि। अर्थसञ्चय – अर्थस्य सञ्चयः = धनराशि। अनपत्यता – न अपत्यः अनपत्यः तस्य भावः = सन्तानहीनता। कष्टम् = कष्टदायक है। बहुधनत्वात् = अधिक धन होने के कारण। बहुपत्नीकेन – वह्व्यःपत्न्यः यस्य सः (बहु०) तेन = अधिक पत्नी वाला। यहाँ 'तदृतश्च' से 'कप्' प्रत्यय तथा पुंवद्भाव हुआ है। आपन्नसत्त्वा – आपन्नम् उदरे प्राप्तं सत्त्वं जन्तुः यया सा = गर्भिणी।

राजा—(पढ़कर) (यह) क्या ! समुद्र के द्वारा व्यापार करने वाला, व्यापारियों का प्रधान (सार्थवाह) धनमित्र नौका-दुर्घटना में मर गया। और वह बेचारा निःसन्तान था। "उसकी धनराशि राजा के पास जानी चाहिये"—यह मंत्री के द्वारा लिखा गया है। सन्तानहीनता निश्चय ही कष्टदायक है। वेत्रवती, अत्यधिक धन होने के कारण उस आदरणीय (व्यापारी) को बहुत पत्नियों वाला होना चाहिये। पता लगाया जाय-शायद उसकी पत्नियों में कोयी गर्भिणी हो।

टिप्पणी—(१) **आपन्नसत्त्वा** – मनु के विधानानुसार गर्भस्थ शिशु पैतृक सम्पत्ति का अधिकारी होता है—'ये जाता अजाता वा ये च गर्भे व्यवस्थिता। वृत्तिं तेऽपि हि काङ्क्षन्ति वृत्तिलोपोऽव-गर्हितः ॥ (२) **समुद्रव्यवहारी** – इससे यह सिद्ध होता है कि उस समय समुद्र के मार्ग से विदेश के साथ व्यापार होता था और नौका भी यातायात का मुख्य साधन थी। (३) **राजगामी** – मनु के अनुसार ब्राह्मण के धन के अतिरिक्त अन्य वर्णों के निःसन्तान होने पर मरने वाले की सम्पत्ति को राजसम्पत्ति माना जाता है—'अहार्यं ब्राह्मणद्रव्यं राज्ञा नित्यमिति स्थितिः। इतरेषान्तु वर्णानां सर्वाभावे हरेन्नृपः ॥ (३) **बहुपत्नीकेन** – इससे प्रतीत होता है कि कालिदास के समय राजा तथा धनी लोग अनेक पत्नियाँ रखते थे।

प्रतीहारी—देव, इदानीमेव साकेतकस्य श्रेष्ठिनो दुहिता निर्वृत्तपुंसवना जायाऽस्य श्रूयते। (देव, दाणिं एव्व साकेदअस्स सेट्ठिणो दुहिआ णिवुत्तपुंसवणा जाआ से सुणीअदि।)

व्या० एवं श०—साकेतकस्य – साकेतो अयोध्यायां भवः वसति वा साकेतकः – साकेत+वुञ् (अक्) तस्य = साकेत (अयोध्या) निवासी। 'स्यात् साकेतोऽयोध्यायाम्' – इति हैमः। श्रेष्ठितः = सेठ की। दुहिता = पुत्री। निर्वृत्तपुंसवना – निर्वृत्तं सम्पन्नं पुंसवनं संस्कारविशेषः यस्याः सा = जिसका पुंसवन संस्कार सम्पन्न हो गया है। जाया = पत्नी।

प्रतीहारी—महाराज, सुना जा रहा है कि अयोध्या के सेठ की पुत्री जिसका पुंसवन संस्कार अभी हुआ है, इसकी पत्नी है।

टिप्पणी—पुंवसन – यह सोलह संस्कारों में दूसरा संस्कार है। यह गर्भ के तृत्तीय या चतुर्थ मास में पुत्रप्राप्ति हेतु किया जाता है।

राजा—ननु गर्भः पित्र्यं रिक्थमर्हति। गच्छ। एवमात्यं ब्रूहि।

व्या० एवं श०—गर्भः – गर्भस्थः शिशुः = गर्भस्थ सन्तान। पित्र्यम् – पितुः इदम् – पितृ+यत् = पिता के। रिक्थम् – रिच्+थक् = धन को। अर्हति = (अधिकारी होने) योग्य।

राजा—तो गर्भ में स्थित सन्तान पिता के धन (रिक्थ) का अधिकारी है। जाओ। मंत्री से इस प्रकार कह दो।

विशेष—(१) 'रिक्थं धनं वसु' इत्यमरः। (२) **गर्भः** – गर्भस्थ शिशु भी पिता की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी होता है। (३) **पित्र्यं रिक्थम्** – बालक की पैतृक सम्पत्ति के विषय में मनु का कहना यह है कि बालक की शैशवास्था तक राजा उसकी सम्पत्ति की देख-भाल करता है—

बालदायादिकं रिक्थं तावदाजानु पालयेत् ।
यावत् स स्यात् समावृत्तो यावच्चातीतशैशवः ॥

प्रतीहारी—यद् देव आज्ञापयति। (जं देवो आणवेदि।) (इति प्रस्थिता)।

प्रतीहारी—महाराज जो आज्ञा देते हैं। (चल देती है।)

राजा—एहि तावत्।

राजा—जरा इधर आओ।

प्रतीहारी—इयमस्मि। (इअं म्हि।)

प्रतीहारी—यह मैं हूँ।

राजा—किमनेन सन्ततिरस्ति नास्तीति।

राजा—इससे क्या कि सन्तान है अथवा नहीं है—

येन येन वियुज्यन्ते प्रजाः स्निग्धेन बन्धुना।
स स पापादृते तासां दुष्यन्त इति घुष्यताम्।। २३।।

अन्वय—प्रजाः येन येन स्निग्धेन बन्धुना वियुज्यन्ते, पापात् ऋते दुष्यन्तः तासां सः सः इति घुष्यताम्।

शब्दार्थ—प्रजाः = प्रजाजन। येन येन = जिस-जिस। स्निग्धेन = स्नेही। बन्धुना = बन्धु से (भाई-बन्धु से)। वियुज्यन्ते = वियुक्त होते हैं। पापात् ऋते = पापकर्म के अतिरिक्त। दुष्यन्तः = दुष्यन्त। तासाम् = उनका। सः सः = वह-वह। अस्ति = है। इति = ऐसी। घुष्यताम् = घोषणा कर दी जाय।

अनुवाद—प्रजाजन (अपने) जिस-जिस स्नेही सम्बन्धी बन्धु से (मृत्यु के कारण) वियुक्त हो जाते हैं, पापकर्म के अतिरिक्त (यह) दुष्यन्त (अर्थात् मैं) उनका वह-वह (सम्बन्धी) है, ऐसी घोषणा कर दी जाय।

संस्कृत व्याख्या—प्रजाः – जनाः, **येन येन** – येन केनचित्, **स्निग्धेन** – प्रियेण, **बन्धुना** – स्वजनेन, **वियुज्यन्ते** – मृत्योः कारणात् वियुक्ताः भवन्ति, **पापात् ऋते** – पापकर्म विहाय, स्त्रीणां पतित्वेन विना इत्यर्थः, **दुष्यन्तः** – नृपोऽहम्, **तासां** – प्रजानाम्, **सः सः** – बन्धुः, अस्तीति शेष; **इति घुष्यताम्** – इति घोषणा क्रियताम्।

संस्कृत-सरलार्थः—राजा प्रतिहारीमादिशति यन्मम राज्ये सर्वत्र घोषणेयं कार्या – 'प्रजाजना येन येन स्वीयेन प्रियेण बन्धुना (भ्रात्रादिना) वियुक्ता भवन्ति, पापकर्म (विधवाया भर्तृत्वं) विहाय तत्स्थाने दुष्यन्तस्तेषां प्रजाजनानां बन्धुः संरक्षको भविष्यतीति।

व्याकरण—वियुज्यन्ते – वि+युज्+यक् (कर्मवाच्य) ल०प्र०पु०बहु०व०। स्निग्धेन – स्निह+क्त तृ०ए०व०। पापमस्त्यस्येति पापः मत्वर्थे अच् तस्मात् पापात् पापाद् ऋते – 'अन्यारादिरर्ते...' सूत्र से पञ्चमी = पापी के बिना। घुष्यताम् – घुष् (कर्मवाच्य)+यक् लोट् प्र०पु०ए०व०।

कोष—'प्रजा स्यात्संततौ जने' – इत्यमरः। 'स्निग्धं स्नेहयुक्ते चिक्कणेऽपि स्यात्' इति मेदिनी।

अलङ्कार—(१) दुष्यन्त में प्रजाजन के बन्धु के साथ अभेद का आरोप होने से **'रूपक'** अलङ्कार है। ल०द्र० २/१६ श्लो०।

छन्द—'अनुष्टुप्' छन्द है। ल०द्र० १/५ श्लो०।

टिप्पणी—(१) येन येन वियुज्यन्ते – राजा की घोषणा का अभिप्राय यह है कि प्रजाजनों में जो कोई भाई-बन्धु से वियुक्त होता है अर्थात् मरता है तो राजा उसके भाई-बन्धु के

रूप में अपने दायित्व का वहन करेगा। अर्थात् मृत व्यक्ति का भाई-बन्धु (संरक्षक) राजा (दुष्यन्त) होगा। (२) **पापादृते** – यहाँ इसके दो अर्थ हैं—(क) राजा पापी को छोड़कर औरों का बन्धु होगा। (ख) यदि किसी स्त्री का पति मर जाय तो राजा उसके साथ पति के रूप में व्यवहार जैसा पापकर्म नहीं करेगा।

विशेष—(१) राजा की उक्त घोषणा से प्रजा के प्रति उसका, निरतिशय प्रेम-कृपा भाव का प्रकाशन होता है। (२) यहाँ 'साहाय्य' नामक 'नाट्यालङ्कार' है। उसका लक्षण है—साहाय्यं संकटे यत्स्यादानकूल्यं परस्य च।'

प्रतीहारी—एवं नाम घोषयितव्यम्। (निष्क्रम्य। पुनः प्रविश्य) **काले प्रवृष्टमिवाभिनन्दितं देवस्य शासनम्।** (एव्वं णाम घोसइदव्वं। काले पवुट्ठं विअ अहिणन्दिदं देवस्स सासणम्।)

व्या० एवं श०—घोघयितव्यम् – घुष्+णिच्+तव्यत् = घोषणा करनी चाहिये। काले = उचित समय पर। प्रवृष्टम् – प्र+वृष्+क्त। काले प्रवृष्टमिव = उचित समय पर हुयी वर्षा के समान। देवस्य = आप राजा का। शासनम् = आदेश (घोषणा)।

प्रतीहारी—इसी प्रकार घोषणा करानी चाहिये। (निकलकर, पुनः प्रवेश कर) समय से हुयी वर्षा की भाँति महाराज के आदेश का (प्रजा द्वारा) अभिनन्दन किया गया।

राजा—(दीर्घमुष्णं च निःश्वस्य) **एवं भोः, सन्ततिच्छेदनिरवलम्बानां कुलानां मूलपुरुषावसाने सम्पदः परमुपतिष्ठन्ते। ममाप्यन्ते पुरुवंशश्रिय एष एव वृत्तान्तः।**

व्या० एवं श०—सन्ततिच्छेदनिरवलम्बानाम् – सन्ततीनां सन्तानानां छेदे – विरहे निरवलम्बानाम् (त०स०) = सन्तान के अभाव के कारण निराश्रितों की। यह पद 'कुल' का विशेषण है। मूलपुरुषावसाने – मूलपुरुषस्य अवसाने अन्ते = मूलपुरुष (वंश प्रतिनिधि) के मर जाने पर। परम् – अन्यम्। उपतिष्ठन्ते – उप+स्था+प्र०पु०ब०व०। यहाँ 'उपाद् देवपूजादिना...' सूत्र से आत्मने पद = पास चली जाती है। पुंरुषवशश्रियः – पुरुवंशस्य श्रीः तस्याः = पुरुवंश की लक्ष्मी की। वृत्तान्तः = बात (दशा)।

राजा—(लम्बी और गर्म साँस लेकर) ओह, सन्तान के अभाव के कारण निराश्रित कुलों की सम्पत्तियाँ मूलपुरुष (वंश के प्रतिनिधि) के मर जाने पर दूसरे के पास चली जाती है। मेरे भी मर जाने पर पुरुवंश की लक्ष्मी की यही दशा होगी।

प्रतीहारी—प्रतिहतममङ्गलम्। (पडिहदं अमंगलं।)

व्या० एवं श०—प्रतिहतम् – प्रति+हन्+क्त = नष्ट। यहाँ 'भवतु' इस क्रिया का अध्याहार होगा।

प्रतीहारी—अमङ्गल नष्ट (हो)।

राजा—धिङ्मामुपस्थितश्रेयोऽवमानिनम्।

व्या० एवं श०—धिङ्माम् = मुझको धिक्कार है। 'धिक्' के योग में द्वितीया। उपस्थितश्रेयोऽवमानिनम् – उपस्थितं प्राप्तं यत् श्रेयः शकुन्तलारूपकल्याणम् तस्य अवमानिनम् = आयी हुयी कल्याण रूपिणी (शकुन्तला) का अपमान करने वाले (मुझको)। अवमन्यते – अव+मन्+णिनि – अवमानी तम् = अवमानिनम्। आत्मा निन्दितः = अपनी निन्दा की। निन्दितः – निन्द्+क्त।

राजा—आये हुये (शकुन्तला रूपी) कल्याण की अवहेलना (तिरस्कार) करने वाले मुझको धिक्कार है।

सानुमती—असंशयं सखीमेव हृदये कृत्वा निन्दितोऽनेनात्मा। (असंसअं सहि एव्व हिअए करिअ णिन्दिदो णेण अप्पा।)

सानुमती—निःसन्देह (मेरी) सखी (शकुन्तला) को ही हृदय में रखकर इनके (राजा के) द्वारा अपनी निन्दा की गयी है।

राजा-संरोपितेऽप्यात्मनि धर्मपत्नी त्यक्ता मया नाम कुलप्रतिष्ठा।
कल्पिष्यमाणा महते फलाय वसुन्धरा काल इवोत्पबीजा।। २४।।

अन्वय—काले उप्तबीजा महते फलाय कल्पिष्यमाणा बसुन्धरा इव कुलप्रतिष्ठा धर्मपत्नी आत्मनि संरोपिते अपि मया त्यक्ता नाम।

शब्दार्थ—काले = समय पर। उप्तबीजा = जिसमें बीज बोया गया है ऐसी, बोये गये बीज वाली। महते = महान्। फलाय = फल के लिये (फल को)। कल्पिष्यमाणा = प्रदान करने में समर्थ (देने वाली)। वसुन्धरा इव = पृथ्वी की भाँति। कुलप्रतिष्ठा = वंश की प्रतिष्ठा स्परूप। धर्मपत्नी = धर्मपत्नी। आत्मनि = आत्मा को (अपने-अपने को)। संरोपिते = संरोपित कर देने पर, स्थापित कर देने पर। अपि = भी। मया = मेरे द्वारा। त्यक्ता नाम = परित्याक्त कर दी गयी।

अनुवाद—(उचित) समय पर जिसमें बीज बोया गया है ऐसी और महान् फल को प्रदान करने में समर्थ पृथ्वी की भाँति, वंश की प्रतिष्ठास्वरूप धर्मपत्नी (शकुन्तला) का, (उसके गर्भ में पुत्र के रूप में) अपने-आप को संरोपित (स्थापित) कर देने पर भी, मेरे द्वारा परित्याग कर दिया गया।

संस्कृत व्याख्या—काले - उचितसमये, **उप्तबीजा** - उप्तानि आहितानि बीजानि यस्यां तथाभूता, **महते** - प्रभूताय, **फलाय** - शस्याय पुत्ररूपफलाय, **कल्पिष्यमाणा** - प्रभविष्यन्ती, **वसुन्धरा इव** - रत्नागर्भापृथ्वी इव, **कुलप्रतिष्ठा** - वंशस्य आश्रयभूता, **धर्मपत्नी** - शकुन्तला, **आत्मनि** - गर्भस्थे पुत्ररूपे आत्मनि, **संरोपिते अपि** - संस्थापिते अपि, **मया** - दुष्यन्तेन, **त्यक्ता नाम** - परित्यक्ता नाम।

संस्कृत-सरलार्थः—यथा कश्चित् तां भूमिं, यस्यां यथा समयं बीजमुप्तं तथा या धान्यादिरूपबहुफलं प्रदातुं समर्था च अस्ति, मोहात् परित्यजति तथैवाहं स्वगर्भे मम पुत्रं धारयन्तीं निजवंशस्थितिकारणभूतां च धर्मपत्नीं (शकुन्तलां) पतित्यक्तवान् - इति कष्टम्।

व्याकरण—उप्तबीजा - उप्तानि बीजानि यस्यां सा (बहु०)। कल्पिष्यमाणा - क्लृप्+लृट्+शानच्+टाप्। कुलप्रतिष्ठा - कुलस्य प्रतिष्ठा (तत्पु०)। संरोपिते - सम्+रूह्+णिच्+क्त। फलाय - 'क्लृपि सम्पद्यमाने' सूत्र से कल्पिष्यमाणा के योग में चतुर्थी।

रस-भाव—इस श्लोक में दुष्यन्त के दैन्य एवं कारुणिक भाव की व्यञ्जना है।

अलङ्कार—(१) 'काले उप्तबीजा वसुन्धरा इव' में 'पूर्णोपमा' है। 'शकुन्तला' उपमेय, 'वसुन्धरा' उपमान, 'उप्तबीजा' साधारण धर्म और 'इव' औपम्यवाचक शब्द है। ल०द्र० १/५ श्लो०। (२) यथा समय बीज बोना उत्तम फल का हेतु है अतः यहाँ 'काव्यलिङ्ग' अलङ्कार है। ल०द्र० १/४ श्लो०।

छन्द—यहाँ 'उपजाति' नामक छन्द है। ल०द्र० २/७ श्लो०।

टिप्पणी—(१) 'आत्मा वै पुत्रनामासि', 'आत्मा वै जायते पुत्रः' 'आत्मा प्रविश्य जायायां पुत्ररूपेण जायते।' इत्यादि श्रुति-वाक्यों के अनुसार पुरुष स्वयं अपनी पत्नी के गर्भ से पुत्र के रूप में उत्पन्न होता है। इसलिये पुत्र को आत्मा कहा जाता है और पत्नी के गर्भ में पुत्र का आधान अपनी आत्मा का संरोपण है। (२) पुत्र-प्रसव से कुल चलता है – नष्ट नहीं होता। अतः पुत्र उत्पन्न करने वाली स्त्रियाँ कुल की प्रतिष्ठा मानी जाती हैं। दुष्यन्त ने स्वयं ही शकुन्तला को अपने कुल की प्रतिष्ठा कहा है—'द्वे प्रतिष्ठे कुलस्य नः।... सखी च युवयोरियम्'।

सानुमती—अपरिच्छिन्नेदानीं ते सन्ततिर्भविष्यति। (अपरिच्छिण्णा दाणिं दे संददो भविस्सदि।)

व्या० एवं श०—अपरिच्छिन्ना – परि+छिद्+क्त+टाप् – परिच्छिन्ना न परिच्छिन्ना अपरिच्छिन्ना = अटूट – सतत चलने वाली। सन्तति = वंशपरम्परा।

सानुमती—अब तुम्हारी वंशपरम्परा (सन्तति) अविच्छिन्न (अटूट) रहेगी।

चतुरिका—(जनान्तिकम्) **अये, अनेन सार्थवाहवृत्तान्तेन द्विगुणोद्वेगी भर्ता। एनामाश्वासयितुं मेघप्रतिच्छन्दादार्थं माधव्यं गृहीत्वागच्छ।** (अए, इमिण सत्थवाहवुत्तन्तेण दिउणुव्वेओ भट्टा। णं अस्सासिदूं मेहप्पडिच्छन्दादो अज्ज माढव्वं गेण्हिअ आअच्छेहि)।

व्या० एवं श०—सार्थवाहवृत्तान्तेन – सार्थवाहस्य वृत्तान्तेन (ष०त०) = सार्थवाह के वृत्तान्त से। द्विगुणोद्वेगी – द्विगुणः – उद्वेगः यस्य स = दुगुने उद्वेग वाला। आश्वासयितुम् = आश्वस्त करने के लिये। माधव्यम् = विदूषक को।

चतुरिका—(हाथ की ओट में) अरे, इस प्रमुख व्यापारी (धनमित्र) के वृत्तान्त से स्वामी दूनी व्याकुलता वाले हो गये हैं। इनको आश्वासन देने के लिये 'मेघप्रतिच्छन्द' (नामक भवन) से आर्य माधव्य को लेकर आओ।

प्रतीहारी—सुष्ठु भणसि। (सुट्ठु भणासि)। (इति निष्क्रान्ता)।

प्रतीहारी—तुम ठीक कहती हो। (निकल जाती है)।

राजा—अहो, दुष्यन्तस्य संशयमारूढाः पिण्डभाजः। कुतः—

व्या० एवं श०—संशयम् आरूढाः – आ+रूह्+क्त+टाप् प्र०ब०व० = संशय पर आरूढ हो गये हैं अर्थात् संशय में पड़ गये हैं। पिण्डभाजः – पिण्डं श्राद्धान्नं भजन्ते-अर्हन्ति – पिण्डभाजः = पिण्ड के भागी।

राजा—ओह, दुष्यन्त के (अर्थात् मेरे) पितृगण संशय में पड़ गये हैं। क्योंकि—

टिप्पणी—(१) राजा के कथन का अभिप्राय यह है कि सन्तान के अभाव में उनके पितरों को यह सन्देह हो गया है कि उनको तर्पण, श्राद्ध आदि कौन करेगा। अब तक तो उस श्राद्ध आदि को वे (दुष्यन्त) करते थे, पर अब उनके सन्तान न होने के कारण उक्त वेदविहित धर्मकृत्य का सम्पादन नहीं हो सकेगा। (२) **पिण्डभाजः** – पिण्ड पाने के तीन भागी (अधिकारी) माने गये हैं—(१) पिता, (२) पितामह, (३) प्रपितामह।

अस्मात्परं बत यथाश्रुति सम्भृतानि
को नः कुले निवपनानि नियच्छतीति।

नूनं प्रसूतिविकलेन मया प्रसिक्तं
धौताश्रुशेषमुदकं पितरः पिबन्ति ।। २५ ।।

(इति मोहमुपगतः)

अन्वय—बत अस्मात् परं नः कुले यथाश्रुति सम्भृतानि निवपनानि कः नियच्छति इति नूनं पितरः प्रसूतिविकलेन मया प्रसिक्तम् उदकं धौताश्रुशेषं पिबन्ति।

शब्दार्थ—बत = खेद है। यह खेदसूचक अव्यय है। अस्मात् = इसके। परम् = बाद। नः = हमारे। कुले = वंश में। यथाश्रुति = वेदोक्त विधि के अनुसार। सम्भृतानि = निर्मित (तैयार किये गये)। निवपनानि = श्राद्ध-तर्पण को। कः = कौन। नियच्छति = प्रदान करेगा। इति = इस प्रकार (सोचकर)। नूनम् = निश्चय ही। पितरः = पितर लोग। प्रसूतिविकलेन = सन्तानहीन। मया = मेरे द्वारा। प्रसिक्तम् = दिये गये। उदकम् = जल को। धौताश्रुशेषम् = आँसुओं के धोने से अवशिष्ट। पिबन्ति = पीते हैं।

अनुवाद—खेद है कि "इस (दुष्यन्त) के बाद हमारे वंश में वेदविहित विधि के अनुसार तैयार किये गये श्राद्ध-तर्पण को कौन देगा"—इस प्रकार (सोचकर) निश्चय ही (मेरे) पितृगण (पितर लोग) निःसन्तान मेरे द्वारा दिये गये जल (के उस भाग) को पीते हैं, जो (उनके) आँसुओं के धोने से अवशिष्ट होता है। (मूर्छित हो जाता है)।

संस्कृत व्याख्या—**बत** - खेदे, **अस्मात्** - दुष्यन्तात्, **परम्** - अनन्तरम्, **नः** - अस्माकम्, **कुले** - वंशे, **यथाश्रुति** - वेदोक्तविधिना, **सम्भृतानि** - संयोजितानि, **निवपनानि** - पितृतर्पणानि, **कः** - जनः, **नियच्छति** - प्रयच्छति दास्यतीत्यर्थः, **इति** - एवं विचार्य, **नूनं** निश्चयेन, **पितरः** - पितृलोकं गताः पूर्वजाः, **प्रसूतिविकलेन** - निःसन्तानेन, **मया** - दुष्यन्तेन, **प्रसिक्तं** - दत्तम्, **उदकं** - जलं, **धौताश्रुशेषं** - धौतानि प्रक्षालितानि नेत्रजलानि येन तस्मात् अवशिष्टम् यथा स्यात् तथा, **पिबन्ति** - पानं कुर्वन्ति।

संस्कृत-सरलार्थः—'अस्माकं कुले दुष्यन्तादनन्तरं न कोऽपि वेदोक्तविधिना सोपकरणसंयोजितानि श्राद्धतर्पणादीनि दास्यति' - इति विचार्य मदीयाः पितरो निःसन्तानेन मया (दुष्यन्तेन) प्रदत्तेन तर्पणजलेन प्रथमं स्ववाष्पजलानि प्रक्षालयन्ति तत्पश्चात् प्रक्षालनादवशिष्टं तर्पणजलं पिबन्ति।

व्याकरण—यथाश्रुति - श्रुतिम् अनतिक्रम्य (अव्ययी०)। प्रसूतिविकलेन - प्रसूत्या विकलेन (तत्पु०)। प्रसूति - प्र+सू+क्तिन्। धौताश्रुशेषं - धौतानि अश्रूणि येन तस्मात् शेषम् (तत्पु०)। धौत् - धाव्+क्त, ऊस्। निवपनानि - नि+वप्+ल्युट् प्र०ब०व०।

कोष—'श्रुतिः स्त्री वेद आम्नायस्त्रयी' - इत्यमरः। 'पितृदानं निवापः स्यात्' - इत्यमरः। 'प्रसूतिस्तनयोत्पत्त्योस्तथा दुहितरि स्मृता' - इति विश्वः। **'बत'** - 'खेदानुकम्पासन्तोषविस्मयामन्त्रणे बत इत्यमरः'। बत खेदसूचक अव्यय है।

रस-भाव—दुष्यन्त के कारुण्यभाव का व्यञ्जक यह श्लोक है।

अलङ्कार—(१) श्लोक में 'नूनम्' शब्द के उत्प्रेक्षावाचक होने से 'उत्प्रेक्षा' अलङ्कार है। ल०द्र० १/१८ श्लो०। (२) श्लोक का पूर्वार्द्धगत वाक्यार्थ उत्तरार्द्धगत वाक्यार्थ के प्रति हेतु रूप से उपन्यस्त है अतः 'काव्यलिङ्ग' अलङ्कार है। ल०द्र० १/४ श्लो०।

छन्द—इस पद्य में **'वसन्ततिलका'** छन्द है। ल०द्र० १/८ श्लो०।

टिप्पणी—(१) श्लोक के पूर्वार्द्ध का अभिप्राय यह है कि पुत्र, पितरों को श्राद्ध तर्पण आदि करता है। अभी तक तो मैं अपने पितरो को श्राद्ध-तर्पण आदि करता हूँ किन्तु मेरे पुत्र नहीं हैं। अतः मेरे पितरों को संशय होने लगा है कि मेरे (दुष्यन्त के) बाद उन्हें श्राद्ध-तर्पण आदि मिलेगा अथवा नहीं। (२) उत्तरार्द्ध का भाव यह है कि दुष्यन्त के वंश का लोप हो रहा है, अतः हमें श्राद्ध-तर्पण आदि नहीं मिलेगा – इस चिन्ता से पितरों को कष्ट हो रहा है जिससे उनके आँखों से आँसू गिर रहे हैं। फलस्वरूप दुष्यन्त द्वारा प्राप्त तर्पण-जल से पहले वे अपने आँसू को धोते हैं। फिर आँसू को धोने से बचे हुये जल को पीते हैं। (३) **'दीर्घमुष्णम् निःश्वस्य'** से लेकर यहाँ तक हार्दिक खेद होने के कारण **'छलन'** नामक 'विमर्श' सन्धि का अङ्ग है। छलन का लक्षण है—आत्मावसादनं यत्तु छलनं तदुदाहृतम्।

चतुरिका—(ससम्भ्रमवलोक्य) **समाश्वसितु समाश्वासितु भर्ता।** (समस्ससदु समस्ससदु भट्टा।)

चतुरिका—(घबराहट के साथ देख कर) स्वामी (आप) धैर्य धारण करें, धैर्य धारण करें।

सानुमती—हा धिक् हा धिक्। सति खलु दीपे व्यवधानदोषेणैषोऽन्धकारदोष-मनुभवति। अहमिदानीमेव निर्वृतं करोमि। अथवा श्रुतं मया शकुन्तलां समाश्वासयन्त्या महेन्द्रजनन्या मुखाद् यज्ञभागोत्सुका देवा एव तथाऽनुष्ठास्यन्ति यथाचिरेण धर्मपत्नीं भर्ताभिनन्दिष्यतीति। तद् युक्तमेतं कालं प्रतिपालयितुम्। यावदनेन वृत्तान्तेन प्रियसखीं समाश्वासयामि। (हद्धी हद्धी। सदि क्खु दीवे वचधाणदोसेण एसो अन्धआरदोसं अणुहोदि। अहं दाणिं एव्व णिव्वदुं करेमि। अहवा सुदं मए सउन्दलं समस्सासअन्तीए महन्दजणणीए मुहादो जण्णभाओस्सुआ देवा एव्व तह अणुचिट्ठिस्सन्ति जह अइरेण धम्मपदिणिं भट्टा अंहिणन्दिस्सदि त्ति। ता जुत्तं एदं कालं पडिपालिदुं। जाव इमिणा वुत्तन्तेण पिअसहिं समस्सासेमि।) (इत्युद्भ्रान्तकेन निष्क्रान्ता)।

व्या० एवं श०—दीपे विद्यमाने (पुत्ररूपे) दीपे = पुत्ररूप दीपक के रहने पर भी। व्यवधानदोषेण – व्यवधानस्य दोषेण = आवरण दोष से। अन्धकारदोषम् = मोह रूप अन्धकार दोष का। निर्वृतम् - निर+वृ+क्त = सुखी। (विगतक्लेशम्) समाश्वासयन्त्या - सम्+आ+श्वस्+णिच्+शतृ+ङीप् षष्ठी ए०व० = आश्वासन देती हुयी। यह पद महेन्द्रजनन्या का विशेषण है। इन्द्र की माता (अदिति) के। यज्ञभागोत्सुकाः – यज्ञभागभवाप्तुं उत्सुकाः = यज्ञभाग पाने के उत्सुक। यह पद 'देवाः' इस पद का विशेषण है। अनुष्ठास्यन्ति – अनु+स्था+लृट् प्र०पु०ब०व० = (उपाय) करेंगे। अचिरेण = शीघ्र। धर्मपत्नीम् = धर्मपत्नी (शकुन्तला) को। भर्ता = पति (दुष्यन्त)। अभिनन्दिष्यन्ति – अभि+नद्+लृट् प्र०पु०ए०व० = अभिनन्दित करगा। प्रतिपालयितुम् – प्रति+पाल+णिच्+तुमुन् = प्रतीक्षा करने के लिये। युक्तम् = उचित।समाश्वासयामि = आश्वस्त करती हूँ।

सानुमती—हाय धिक्कार है, हाय धिक्कार है। (पुत्ररूप) दीपक के होने पर भी (मोहरूप) आवरण-दोष के कारण ये (राजा) अन्धकार (निःसन्तान) होने का अनुभव कर रहे हैं। मैं इसी समय ही (इनको शकुन्तला का समाचार देकर) शान्त कर देती हूँ। अथवा शकुन्तला को आश्वासन देती हुयी इन्द्र की माता (अदिति) के मुख से मैंने सुना था कि यज्ञ में (अपने) भाग (को पाने) के लिये उत्सुक देवता ही वैसा (उपाय) करेंगे, जिससे शीघ्र ही महाराज (दुष्यन्त अपनी) धर्म-पत्नी (शकुन्तला) को

अभिनन्दित करेंगे (अर्थात् स्वागत-पूर्वक स्वीकार कर लेंगे)। तो उचित समय की प्रतीक्षा करना चाहिये। तब तक इस (राजा) के वृत्तान्त से (अपनी) प्रियसखी शकुन्तला को सान्त्वना देती हूँ। (उद्भ्रान्तक नृत्य के साथ निकल जाती है)।

(नेपथ्ये) **अब्रह्मण्यम्।** (अब्बम्हणं।)—(नेपथ्य में) अनिष्ट हो गया।

टिप्पणी—(१) **दीपे** – पुत्र को कुल-दीप (दीपक) कहा जाता है। यहाँ दीप से दुष्यन्त का पुत्र सर्वदमन अभिप्रेत है। शापरूप मोह के करण राजा को उस दीपक का ज्ञान नहीं है अत: उन्हें नि:सन्तान होने का दु:ख है। (२) **अब्रह्मण्यम्** – 'ब्रह्मण्य' का अर्थ ब्राह्मण के लिये हितकर है अत: अब्रह्मण्य का अर्थ ब्राह्मण के लिये अहितकर है। इसका अर्थ है – ब्राह्मण पर सङ्कट है उसे बचाओ। यह विपत्तिसूचक है।

राजा—(प्रत्यागतचेतन:, कर्णं दत्त्वा) **अये, माधव्यस्येवार्तस्वरः। कः कोऽत्र भोः ?**

व्या० एवं श०—प्रत्यागतचेतन: – प्रत्यागता चेतना तस्य (ब०ब्री०) = सचेतन होकर। आर्तस्वर: = करुण क्रन्दन।

राजा—(चेतना में आकर, कान लगाकर) अरे, माधव्य के समान करुण क्रन्दन है। अरे, कौन हैं, कौन है यहाँ ?

(प्रविश्य) **प्रतीहारी**—(ससम्भ्रमम्) **परित्रायतां देवः संशयगतं वयस्यम्।** (परित्ताअदु देवो संसअगदं वअस्सम्।)

व्या० एवं श०—संशयगतम् = जीवन-मरण के संदेह में पड़ा हुआ।

(प्रवेश कर) **प्रतीहारी**—(घबराहट के साथ) महाराज, सङ्कट में पड़े हुये मित्र (माधव्य) की रक्षा की जाय।

टिप्पणी—यहाँ **'भय'** नामक सन्ध्यन्तराङ्ग है लक्षण—भयं त्वाकस्मिकस्त्रास:।

राजा—केनात्तगन्धो माणवकः ?

व्याकरण एवं शब्दार्थ—आत्तगन्ध: = आत्त: गृहीत: (हत:) गन्ध: गर्व: यस्य तथाविध: = जिसका गर्व हर लिया गया है ऐसा। अभिभूत, अपमानित। अमरकोष के अनुसार अभिभूत को आत्तगन्ध कहते हैं—'आत्तगन्धोऽभिभूत:' – इत्यमर:। इसका अभिप्राय अपमानित भी होता है।

राजा—किसके द्वारा बेचारा (माणवक) अभिभूत (अपमानित) हुआ है ?

प्रतीहारी—अदृष्टरूपेण केनापि सत्त्वेनातिक्रम्य मेघप्रतिच्छन्दस्य प्रासादस्याग्रभूमिमारोपितः। (अदिट्ठरूवेण केन वि सत्तेण अदिक्कमिअ मेहप्पडिच्छन्दस्स पासादस्स अग्गभूमिं आरोहिदो।)

व्या० एवं श०—अदृष्टम् – अनवलोकनीयम् रूपम् आकार: यस्य तथा- विधेन = जिसका स्वरूप अदृश्य है वैसे। सत्त्वेन = जन्तु (भूत-प्रेत आदि) के द्वारा। अतिक्रम्य – अति+क्रम्+क्त्वा – ल्यप् = अतिक्रमण कर, पकड़ कर। अग्रभूमिम् = ऊपरी भाग (मंजिल) पर। आरोपित: – आ+रुप्+णिच्+क्त = ले जाया गया (है)।

प्रतीहारी—अदृष्ट रूप वाले किसी प्राणी (भूत-प्रेत आदि) के द्वारा पकड़ कर 'मेघप्रतिच्छन्द' नामक भवन की ऊपरी छत पर वह ले जाया गया है।

राजा—(उत्थाय) **मा तावत् । ममापि सत्त्वैरभिभूयन्ते गृहाः ।**

व्या० एवं श०—अभिभूयन्ते – अभि+भू+यक् प्र०पु०ब०व० = आक्रान्त हो रहे हैं ।

राजा—(उठकर) ऐसा न (कहो) । क्या मेरे भी घर भूत-प्रेतों द्वारा अक्रमण किये जाने लगे हैं ?

अथवा— अथवा—

अहन्यहन्यात्मन एव तावज्ज्ञातुं प्रमादस्खलितं न शक्यम् ।
प्रजासु कः केन पथा प्रयातीत्यशेषतो वेदितुमस्ति शक्तिः ।। २६ ।।

अन्वय—अहनि अहनि आत्मनः एव प्रमादस्खलितं तावत् ज्ञातुं न शक्यम् , प्रजासु कः केन पथा प्रयाति इति अशेषतः वेदितुं (कस्य) शक्तिः अस्ति ?

शब्दार्थ—अहनि अहनि = प्रतिदिन । आत्मनः = अपने । एव = ही । प्रमादस्खलितम् = प्रमाद जन्य (प्रमाद के कारण उत्पन्न) त्रुटियों को । तावत् ज्ञातुम् = जानना । न शक्यम् = सम्भव नहीं है । प्रजासु = प्रजाजनों में । कः = कौन । केन = किस । पथा = मार्ग से । प्रयाति = जा रहा है । इति = यह । अशेषतः = पूर्णरूप से । वेदितुम् = जानने के लिये । शक्तिः = (किसका) सामर्थ्य । अस्ति = है ।

अनुवाद—प्रतिदिन अपनी ही प्रमाद-जन्य (प्रमाद के कारण उत्पन्न) त्रुटियों को जानना सम्भव नहीं है । (तब) प्रजाजनों में कौन किस मार्ग से जा रहा है, यह पूर्णरूप से जानने में (किसका) सामर्थ्य है ।

संस्कृत व्याख्या—अहनि अहनि – प्रतिदिनम् , **आत्मनः एव** – स्वस्य एव, **प्रमादस्खलितम्** – अनवधानतया धर्माद् विच्युतिः, त्रुटिः, **तावत् ज्ञातुं** – बोद्धुं, **न** – नहि, **शक्यम्** – सम्भाव्यते; (तदा) **प्रज्ञासु** – जनेषु, **कः** – जनः, **केन पथा** – केन मार्गेण, **प्रयाति** – गच्छति, **इति वेदितुम्** – इति ज्ञातुम्, (कस्य) **शक्तिः** – सामर्थ्यम् , **अस्ति** – वर्तते, नास्ति कस्यापीत्यर्थः ।

संस्कृत-सरलार्थः—राजा विचारयति यदाहमेव स्वस्यैव प्रमादोद्भूतं कर्त्तव्यस्खलनं वेत्तुं न प्रभवामि, तदा प्रजाजनेषु कः केन मार्गेण न्यायेनान्यायेन वा गच्छति, इति पूर्णतो विज्ञातुं न पार्यते । न कोऽपि सकलजनाचरणं वेदितुं प्रभवतीति भावः ।

व्याकरण—प्रमादस्खलितम् – प्रमादेन स्खलितम् (तृ०त०) । शक्यम् – शक्+यत् । ज्ञातुम् – ज्ञा+तुमुन् । वेदितुम् – विद्+तुमुन् ।

अलङ्कार—(१) चतुर्थ चरण में 'शक्तिरस्ति' में काकु द्वारा व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होने से **'अर्थापत्ति'** अलङ्कार है । ५/१४ श्लो० । (२) श्लोक में सामान्य अर्थ से विशेष अर्थ की प्रतीति होने के कारण **'अप्रस्तुतप्रशंसा'** अलङ्कार है । ल०द्र० १/१७ श्लो० ।

छन्द—पद्य में 'उपजाति' छन्द है । ल०द्र० २/११ श्लो० ।

टिप्पणी—इस श्लोक का भाव यह है कि सर्वशक्तिमान् तथा जागरूक होने पर भी राजा अपने राज्य के समस्त प्रजाजनों के सम्पूर्ण क्रियाकलापों को जानने में समर्थ नहीं हो सकता ।

(नेपथ्ये) **भो वयस्य, अविहा अविहा ।** (भो वअस्स, अविहा अविहा ।)

व्या० एवं श०—अविहा - यह दो शब्दों से बना है अव = बचाओ, इह = यहाँ। (नेपथ्य में) हे मित्र, बचाओ, बचाओ।

राजा—(गतिभेदेन परिक्रामन्) **सखे, न भेतव्यं न भेतव्यम्।**

राजा—(चाल बदलकर घूमता हुआ) हे मित्र, डरो मत, डरो मत।

(नेपथ्ये)—(नेपथ्य में)

(पुनस्तदेव पठित्वा) **कथं न भेष्यामि ? एष मां कोऽपि प्रत्यवनतशिरोधरभिक्षुमिव त्रिभङ्गं करोति।** (कह ण भाइस्सं ? एस मं को वि पच्चवणदसिरोहं इक्खुं विअ तिण्णभंगं करेदि।)

व्या० एवं श०—भेष्यामि - भी+लृट् उ०पु०ए०व० = डरूँगा। प्रत्यवनत-शिरोधरभिक्षुम् इव - प्रत्यवनता पृष्ठतो वक्रा शिरोधरा ग्रीवा यस्य तथाविधम् (ब०ब्री०), इक्षुमिव - इक्षुदण्डमिव = गर्दन घुमाकर गन्ने की भाँति। त्रिदण्डम् = तीन टुकड़े।

(उसी बात को फिर कहकर) क्यों न डरूँ ? यह कोई मेरी गर्दन को घुमाकर गन्ने की तरह तीन टुकड़े कर रहा है।

राजा—(सदृष्टिक्षेपम्) **धनुस्तावत्।**

राजा—(दृष्टि घुमाकर) तो धनुष (ले आओ)।

(प्रविश्य शार्ङ्गहस्ता)

(हाथ में धनुष ली हुई प्रवेशकर)

यवनी—**भर्तः, एतद् हस्तावापसहितं शरासनम्।** (भट्टा, एदं हत्थावा वसहिदं सरासणं।)

व्या० एवं श०—हस्तावापसहितम् - हस्तम् आवपति रक्षति इति हस्तावापः 'कर्मण्यण्' से अण् = हाथ की रक्षा के लिये चमड़े का कवच दस्ताना। हस्तावापेन सहितम् = हस्तकवच (दास्ताना) सहित। शरासन = धनुष।

यवनी—स्वामी, हस्तकवच (दास्ताने) के सहित यह धनुष है।

(राजा सशरं धनुरादत्ते)

(राजा बाण के सहित धनुष को ले लेते हैं)।

(नेपथ्ये)—(नेपथ्य में)—

एषस्त्वामभिनवकण्ठशोणितार्थी शार्दूलः पशुमिव हन्मि चेष्टमानम्।
आर्त्तानां भयमपनेतुमात्तधन्वा दुष्यन्तस्तव शरणं भवत्विदानीम्।। २७।।

अन्वय—अभिनवकण्ठशोणितार्थी एषः शार्दूलः पशुम् इव चेष्टमानं त्वां हन्मि, आर्त्तानां भयम् अपनेतुम् आत्तधन्वा दुष्यन्तः इदानीं तव शरणं भवतु।

शब्दार्थ—अभिनवकण्ठशोणितार्थी = गर्दन के ताजे रक्त का इच्छुक। एषः = यह। शार्दूलः = व्याघ्र। पशुम् = पशु को। इव = जैसे (मारता है)। चेष्टमानम् = छटपटाते हुये। त्वाम् = तुमको। हन्मि = मारता हूँ। आर्त्तानाम् = पीडितों के। भयम् = भय को। अपनेतुम् = दूर करने के लिये। आत्तधन्वा = जिसके द्वारा धनुष धारण कर लिया गया है ऐसे धनुष

धारण करने वाले। दुष्यन्तः = दुष्यन्त। इदानीम् = अब। तव = तुम्हारे। शरणम् = रक्षक। भवतु = होवें।

अनुवाद—गर्दन के ताजे रक्त का इच्छुक मैं छटपटाते हुये तुम (विदूषक) को (उसी प्रकार) मारता हूँ, जैसे बाघ (छटपटाते हुये) पशु को मारता है। पीड़ितों के भय को दूर करने के लिये धनुष को धारण कर लेने वाला दुष्यन्त अब तुम्हारा रक्षक बने।

संस्कृत व्याख्या—अभिनवकण्ठशोणितार्थी – अभिनवं नूतनं यत् कण्ठस्य ग्रीवायाः शोणितं रक्तं तस्य अर्थी अभिलाषी, **एषः** – अहम् , **शार्दूलः** – व्याघ्रः, **पशुम् इव** – मृगादिकमिव, **चेष्टमानं** – रक्षणाय यतमानम् , **त्वां** – विदूषकम् , **हन्मि** – मारयामि, **आर्त्तानां** – पीडितानाम् , **भयं** – भीतिम् , **अपनेतुं** – दूरीकर्तुम् , **आत्तधन्वा** – धृतकार्मुकः, **तव मित्रं** – दुष्यन्तः, **इदानीं** – सम्प्रति, **तव** – विदूषकस्य, **शरणं भवतु** – रक्षकः भवतु।

संस्कृत-सरलार्थः—नेपथ्यगृहाद् उक्तिरियम् श्रूयते यदहं तव कण्ठान्निःसृतमुष्णं रक्तं पातुमभिलषामि। अतः स्वरक्षार्थमितस्ततः प्रयतमानं त्वां तथैव साम्प्रतं हन्मि यथा व्याघ्रो निजरक्षायै पूर्णतश्चेष्टमानं मृगादिकं पशुं मारयति। पीडितजनानां पीडां हर्त्तुं गृहीतकार्मुको दुष्यन्तश्चेत् समर्थः स इदानीं त्वां त्रातुमिहागच्छतु।

व्याकरण—अभिनवकण्ठशोणितार्थी – अभिनवस्य कण्ठशोणितस्य अर्थी (तत्पु०)। चेष्टमानं – चेष्ट्+शानच्। आत्तधन्वा – आत्तं धनुः येन सः (बहु०)। समासान्त मे आङ्। अपनेतुम् – अप+नी+तुमुन्। शरणम् – शृ+ल्युट्।

कोष—'धनुश्चापो धन्वशरासनकोदण्डकार्मुकम्' – इत्यमरः।

रस-भाव—रौद्र रस की व्यञ्जना है तथा वीभत्स रस ध्वनित हो रहा है।

अलङ्कार—'पशुमिव' में 'उपमा' अलङ्कार है। ल०द्र० १/५ श्लो०।

छन्द—यहाँ 'प्रहर्षिणी' छन्द है। लक्षण—'त्र्याशाभिर्मनजरगा प्रहर्षिणीयम्'। इस छन्द के प्रत्येक चरण में १३ वर्ण होते हैं – १ मगण, १ नगण, १ जगण, १ रगण, १ गुरु। ३–१० वर्ण पर यति होती है।

टिप्पणी—राजा पर शकुन्तला की धुन सवार है। अतः राक्षसों से युद्ध करने के लिये राजा के पौरुष को जगाने हेतु यह बात कही गयी है।

राजा—(सरोषम्) **कथं मामेवोद्दिशति ? तिष्ठ कुणपाशन, त्वमिदानीं न भविष्यसि।** (शार्ङ्गमारोप्य) **वेत्रवति, सोपानमार्गमादेशय।**

व्या० एवं श०—उद्दिशति – उत्+दिश्+ल०प्र०पु०ए०व० = लक्षित कर (कह) रहा है। कुणपाशन – कुणपं शवम् अश्नानीति कुणप्+अश्+युच् – तत्सम्बुद्धौ = शव खान वाले (राक्षस)। सोपानमार्गम् – सोपानस्य मार्गम् = सीढ़ी का मार्ग। आदेशय = बताओ।

राजा—(क्रोधपूर्वक) क्या मुझे ही लक्षित कर कह रहा है ? ठहर शव (मांस) भक्षी (राक्षस), तुम अब नहीं रहोगे। (धनुष चढ़ाकर) वेत्रवती सीढ़ी का मार्ग बताओ।

प्रतीहारी—इत इतो देवः। (इदो इदो देवो)।

प्रतीहारी—महाराज, इधर से, इधर से (आइये)।

(सर्वे सत्वरमुपसर्पन्ति)

(सभी लोग शीघ्रता से पास में आ जाते हैं)।

राजा—(समन्ताद् विलोक्य) **शून्यं खल्विदम् ।**

राजा—(चारों ओर देखकर) यह (स्थान) तो शून्य है (अर्थात् यहाँ तो कोई नहीं है)।

(नेपथ्ये) **अविहा अविहा । अहमत्रभवन्तं पश्यामि । त्वं मां न पश्यसि ? बिडालगृहीतो मूषक इव निराशोऽस्मि जीविते संवृत्तः ।** (अविहा अविहा। अहं अत्तभवन्तं पेक्खामि। तुमं मं ण पेक्खामि। बिडालग्गहीदो मूसओ विअ णिरासो म्हि जीविदे संवुत्तो।)

व्या० एवं श०—अविहा अविहा = बचाओ, बचाओ। बिडालगृहीतः – विडालेन गृहीतः (तृ०त०) = बिल्ली के द्वारा पकड़े गये। निराशः – निर्गता आशा यस्मात् स (ब०ब्री०) = आशारहित। जीविते = जीवन के विषय में। संवृत्तः – सम्+वृ+क्त = हो गया हूँ।

(नेपथ्य में) बचाओ, बचाओ। मैं आदरणीय आप को देख रहा हूँ। क्या आप मुझको नहीं देख रहे हैं ? बिल्ली के द्वारा पकड़े गये चूहे की भाँति मैं (अपने) जीवन के प्रति निराश हो गया हूँ।

राजा—भोस्तिरस्करिणीगर्वित, मदीयमस्त्रं त्वां द्रक्ष्यति । एष तमिषुं सन्दधे—

व्या० एवं श०—तिरस्करिणीगर्वित ! तिरस्करिण्या गर्वितः (तृ०त०) तत्ससम्बुद्धौ = तिरस्करिणी विद्या (के ज्ञान) से गर्वीले। द्रक्ष्यति – दृश्+लृट्+प्र०पु०ए०व० = देख लेगा। इषुम् = बाण को। सन्दधे – सम्+धा उ०पु०ए०व० = चढ़ाता हूँ।

राजा—हे अदृश्य होने की (तिरस्करिणी) विद्या से गर्वयुक्त, मेरा अस्त्र तुमको देखेगा। तो यह मैं उसी बाण को चढ़ाता हूँ—

यो हनिष्यति वध्यं त्वां रक्ष्यं रक्षिष्यति द्विजम् ।
हंसो हि क्षीरमादत्ते तन्मिश्रा वर्जयत्यपः ।। २८ ।।

(इत्यस्त्रं सन्धत्ते)।

अन्वय—यः वध्यं त्वां हनिष्यति, रक्ष्यं द्विजं रक्षिष्यति, हि हंसः क्षीरम् आदत्ते, तन्मिश्राः अपः वर्जयति।

शब्दार्थ—यः = जो। वध्यं = मारने (वध करने) के योग्य। त्वां = तुमको। हनिष्यति = मार डालेगा। रक्ष्यम् = रक्षा करने के योग्य। द्विजम् = ब्राह्मण की। रक्षिष्यति = रक्षा करेगा। हि = क्योंकि। हंसः = हंस। क्षीरम् = दूध को। आदत्ते = ग्रहण करता है, पी लेता है। तन्मिश्राः = उसमें मिले हुये। अपः = जल को। वर्जयति = छोड़ देता है।

अनुवाद—जो मारने (वध करने) के योग्य तुमको मार डालेगा और रक्षा करने के योग्य ब्राह्मण (विदूषक) को बचा लेगा। जैसे कि हंस दूध को ले लेता है और उसमें मिले हुये जल को छोड़ देता है। (बाण चढ़ाता है)।

संस्कृत व्याख्या—यः – बाणः, **वध्यं** – वधयोग्यम् , **त्वां** – राक्षसम् , **हनिष्यति** – मारयिष्यति, **रक्ष्यं** – रक्षायोग्यम् (रक्षणीय), **द्विजं** – ब्राह्मणम् , **रक्षिष्यति** – त्रास्यते, **हि** – यतः, **हंसः** – मरालः, **क्षीरं** – दुग्धम् , **आदत्ते** – गृह्णाति, **तन्मिश्राः** – दुग्धमिश्रिताः, **अपः** – जलानि, **वर्जयति** – परित्यजति।

संस्कृत-सरलार्थः—क्रुद्धो दुष्यन्तो विदूषकस्यादृश्यं हन्तारं सम्बोधयन् वदति (यदहं तादृशं बाणं सन्दधे) यो बाणो बधयोग्यं त्वां मारयिष्यति (तथा) रक्षायोग्यं (रक्षणीयं) द्विजं, विदूषकमिति यावत् , रक्षिष्यति यतो हि हंसो दुग्धमादत्ते तन्मिश्रितं जलं परित्यजति।

व्याकरण—बध्यम् - वधमर्हति - वध्+यत् = वध के योग्य। यहाँ 'हतो वा वधश्च वक्तव्यः' से यत् प्रत्यय और 'हन्' को 'वध' आदेश होता है। तन्मिश्राः तेन मिश्राः तृ०त०। अपः = जल को। 'आप्' शब्द का द्वि०ब०व० का रूप है।

रस-भाव—यहाँ रौद्ररस ध्वनित है। वह दुष्यन्त के क्रोध रूप स्थायी पर आधारित है। आलम्बन विभाव अदृश्य राक्षस है।

अलङ्कार—(१) यहाँ पूर्वार्द्ध वाक्य उपमेय है और उत्तरार्द्ध वाक्य उपमान है। दोनों के साधारण धर्मों, मारना, रक्षाकरना, ग्रहण करना तथा छोड़ना में परस्पर बिम्बप्रतिबिम्बभाव के होने से 'दृष्टान्त' अलङ्कार है। ल०द्र० १/२५ श्लो०। कुछ लोग 'उपमा' भी मानते हैं।

छन्द—'अनुष्टुप्' है। ल०द्र० १/५ श्लो०।

टिप्पणी—(१) ऐसी प्रसिद्धि है कि हंस जलमिश्रित दूध में से दूध पी लेता है और जल को छोड़ देता है।

विशेष—'राजा - भो' से लेकर यहाँ तक 'व्यवसाय' नामक गर्भ सन्धि का अङ्ग है।

(ततः प्रविशति विदूषकमुत्सृज्य मातलिः)

व्या० एवं श०—उत्सृज्य - उत्+सृज्+क्त्वा+ल्यप् = छोड़कर।

(तत्पश्चात् विदूषक को छोड़कर मातलि प्रवेश करता है)।

मातलिः—राजन् ,

कृताः शरव्यं हरिणा तवासुराः शरासनं तेषु विकृष्यतामिदम्।
प्रसादसौम्यानि सतां सुहृज्जने पतन्ति चक्षूंषि न दारुणाः शराः॥ २९॥

अन्वय—हरिणा तव शरव्यं असुराः कृताः तेषु इदं शरासनं विकृष्यताम् , सतां सुहृज्जने प्रसादसौम्यानि चक्षूंषि पतन्ति दारुणाः शराः न।

शब्दार्थ—हरिणा = इन्द्र के द्वारा। तव = तुम्हारे, आप के। शरव्यम् = (बाणों के) लक्ष्य। असुराः = राक्षस। कृताः = किये गये हैं (बनाये गये हैं)। तेषु = उन पर। इदम् = इस। शरासनम् = धनुष को। विकृष्यताम् = खींचा (चलाया) जाना चाहिये। सताम् = सज्जनों। सुहृज्जने = मित्रजनों पर। प्रसादसौम्यानि = दया से शान्त। चक्षूंषि = दृष्टि। पतन्ति = पड़ती है। दारुणाः = कठोर (भयंकर)। शराः = बाण। न = नहीं (पड़ते हैं)।

अनुवाद—इन्द्र के द्वारा आप (दुष्यन्त) के (बाणों के) लक्ष्य राक्षस बनाये गये हैं। (आप) उन (राक्षसों) के ऊपर (अपने) इस धनुष को खींचिये (चलाइये)। सज्जनों की मित्र-जनों पर दया से शान्त दृष्टि (ही) पड़ती है (न कि), कठोर (भयङ्कर) बाण।

संस्कृत व्याख्या—हरिणा - इन्द्रेण, **तव** - ते दुष्यन्तस्य, **शरव्यं** - लक्ष्यम् , **असुराः** - राक्षसाः, **कृताः** - विहिताः, निर्धारिता इति यावत् , **तेषु** - राक्षसेषु, **इदम्** - एतत् , **शरासनं** - धनुः, **विकृष्यताम्** - आकृष्यताम् , **सतां** - सज्जनानाम् , **सुहृज्जने** -

मित्रजने, मित्रसमवाये, **प्रसादसौम्यानि** – प्रेम्णा अनुग्रहेण वा मनोरमाणि, **चक्षुंषि** – नयनानि, **पतन्ति** – निपतन्ति, **दारुणाः** – भीषणाः (मर्मभेदिनः), **शराः** – इषवः, **न** – नहि (पतन्तीति शेषः) ।

संस्कृत-सरलार्थः—मातलिः दुष्यन्तं वदति – राजन् ! देवराजेन राक्षसा एव तव बाणलक्ष्यत्वेन निर्धारिताः अतो धनुरिदं तेषु राक्षसेष्वेव सन्धीयताम् । इन्द्रस्तव मित्रमहञ्च तत्सेवकोऽतोऽहं न ते बाणलक्ष्यम् अर्थात् मयि बाणो न निपात्यः । वस्तुतस्त्वादृशानां सत्पुरुषाणां प्रियजनेषु प्रसादमयी दृष्टिः पतति न तु तीक्ष्णा बाणाः ।

व्याकरण—शरण्यम् – शृणाति शरुः तस्मै हितमित्यर्थे 'उगवादिम्यो यत्' से यत् शरव्यम् । विकृष्यताम् – वि+कृष्+यक् (कर्मवाच्य) लोट् प्र०पु०ए०व० । प्रसादसौम्यानि – प्रसादेन सौम्यानि (तृ०त०), प्रसादेः – प्र+सद्+घञ् सौम्यम् – सोम शब्द से स्वार्थ में ष्यञ् चतुर्वर्णादीनां स्वार्थ उपसंख्यानम् से अथवा सोमः देवता अस्य, इस अर्थ में 'सोमाट्स्यट्यण्' से ट्यण् (य) प्रत्यय यह चक्षुंषि पद का विशेषण है ।

विशेष—'शरव्यम्' यह शब्द नित्य नपुंसक लिङ्ग है । यहाँ एक वचन में प्रयोग हुआ है । 'कृताः' यह बहुवननान्त क्रिया असुराः से सम्बद्ध है ।

कोष—'लक्षं लक्ष्यं शरव्यञ्च' इत्यमरः । 'हरिर्यमानिलेन्द्रार्कविष्णुसिंहांशुवाजिषु । शुकाहिकपिभेकेषु हरिर्ना कपिले त्रिषु' । 'सौम्यन्त सुन्दरे सोमदैवते' इत्यमरः ।

अलङ्कार—(१) इस श्लोक में 'तव' और 'मयि' – इस प्रस्तुत विशेष के कथन करने के स्थान पर 'सताम्' तथा 'सुहृज्जने' इस सामान्य का कथन करने से 'अप्रस्तुतप्रशंसा' अलङ्कार है । ल०द्र० १/१७ श्लो० । (२) उत्तरार्द्ध में वर्णित समान्य से पूर्वार्द्ध में वर्णित विशेष का समर्थन किये जाने के कारण 'अर्थान्तरन्यास' अलङ्कार है । ल०द्र० १/२ श्लो० । (३) पूर्वार्द्ध के पहले पाद के वाक्यार्थ के प्रति दूसरे पाद का वाक्यार्थ हेतु रूप से उपन्यस्त है, अतः यहाँ 'काव्यलिङ्ग' अलङ्कार है । ल०द्र० १/४ श्लो० । (४) 'सतां सुहृज्जने प्रसादसौम्यानि पतन्ति' इस स्थल में 'सम' अलङ्कार व्यङ्ग्य है क्योंकि यहाँ सज्जनों की सुहृज्जनो पर प्रसादमयी दृष्टि के पड़ने का उल्लेख है । योग्य वस्तु का योग्य वस्तु के साथ अनुरूप समागम ही 'सम' है । ल०द्र० ५/१५ श्लो० ।

छन्द—यहाँ 'वंशस्थ' छन्द है । ल०द्र० ५/१७ श्लो० ।

टिप्पणी—(१) मातलि इन्द्र का सारथि है । (२) इस श्लोक में मातलि की वाक् चातुरी दृष्टिगोचर होती है । उसने प्रथम पङ्क्ति 'कृताः शरण्यं हरिणा तवासुराः' में ही अपने आगमन का प्रयोजन तथा अपने स्वामी का संदेश बता दिया है । (३) 'प्रसादसौम्यानि... शराः' में मित्र पर कृपामयी दृष्टि रखने तथा शत्रु पर बाण चलाने का परामर्श दिया गया है ।

राजा—(ससम्भ्रममस्त्रमुपसंहरन्) **अये, मातलिः स्वागतं महेन्द्रसारथे !**

व्या० एवं श०—ससम्भ्रमम् – सम्भ्रमेण वेगेन सहितं ससम्भ्रमम् 'सह सुपा समास' = शीघ्रता के साथ । उपसंहरन् – उप+सम्+हृ+शतृ = बटोरता – उतारता हुआ ।

राजा—(शीघ्रता से अस्त्र को उतारता हुआ) अरे मातलि (आप हैं) । इन्द्र के सारथी, (आप का) स्वागत है ।

(प्रविश्य) **विदूषकः—अहं येनेष्टिपशुमारं मारितः, सोऽनेन स्वागतेनाभिनन्द्यते ।** (अहं जेण इट्टिपसुमारं मारिदो सो इमिणा साअदेण अहिणन्दीअदि ।)

व्या० एवं श०—इष्टिपशुमारम् – इष्टेः यज्ञस्य यः पशुः तस्य मारम् – मृ+णिच्+णमुल् **हननम्** = यज्ञीय पशु की मार । मारितः – मृ+णिच्+क्त (कर्मणि) । अभिनन्द्यते – अभि+नद्+यक् **(कर्मवाच्य)** प्र०पु०ए०व० = अभिनन्दित किया जा रहा है ।

(प्रवेश करके) **विदूषक**—जिसके द्वारा मैं यज्ञीय पशु की मार मारा गया हूँ । वह इन (राजा) के द्वारा स्वागतपूर्वक अभिनन्दित (सत्कृत) किया जा रहा है ।

मातलिः—(सस्मितम्) **आयुष्मन् , श्रूयतां यदर्थमस्मि हरिणा भवत्सकाशं प्रेषितः ।**

व्या० एवं श०—सस्मितम् – स्मितेन सहितम् = मुस्कराहट के साथ । अस्मि – **अस्**+मिन् – यह 'अहम्' के अर्थ में अव्यय है । भवत्सकाशम् – भवतः सकाशम् (त०स०) = **आपके** पास । प्रेषितः – प्र+इष्+क्त (कर्मणि) = भेजा गया ।

मातलि—(मुस्कराकर) चिरंजीविन् , सुनिये जिसके लिये मैं इन्द्र के द्वारा आप के पास **भेजा** गया हूँ ।

राजा—अवहितोऽस्मि ।

व्या० एवं श०—अवहितः – अव+धा+क्त (कर्तरि) = सावधान ।

राजा—मैं (सुनने के लिये) सावधान हूँ ।

मातलिः—अस्ति कालनेमिप्रसूतिर्दुर्जयो नाम दानवगणः ।

व्या० एवं श०—कालिनेमिप्रसूतिः – कालनेमिः तदाख्यः असुरः तस्य प्रसूतिः सन्ततिः = कालनेमि की सन्तान (कालनेमि के वंशज) । दानवगणः – दानवानां गणः समूहः = राक्षसों का समूह ।

मातलि—कालनेमि की सन्तान दुर्जय नामक राक्षसों का समूह है ।

विशेष—कालनेमि हिरण्यकशिपु का पुत्र था । इसके सौ सिर और सौ हाथ थे । विष्णु **ने उसका** वध किया था । **दानव** – दनु दक्ष की पुत्री थी और उसका विवाह कश्यप से हुआ था । इसके अत्याचारी पुत्र दानव कहे जाते हैं । दनोरपत्यं पुमान् दानवः – दनु+अण् । दुर्जयः – दुःखेन जेतुं शक्यः – दुर्+जि+अच् । ऐसा प्रतीत होता है कि राक्षसों के सङ्घ का नाम 'दुर्जय' था ।

राजा—अस्ति । श्रुतपूर्वं मया नारदात् ।

व्या० एवं श०—पूर्व श्रुतः श्रुतपूर्वः – पहले सुना गया ।

राजा—है । मेरे द्वारा पहले ही नारद से सुना गया था ।

मातलिः—

सख्युस्ते स किल शतक्रतोरजय्यस्तस्य त्वं रणशिरसि स्मृतो निहन्ता ।
उच्छेत्तुं प्रभवति यन्न सप्तसप्तिस्तन्नैशं तिमिरमपाकरोति चन्द्रः ।। ३० ।।

अन्वय—सः किल ते सख्युः शतक्रतोः अजय्यः (अस्ति) त्वं रणशिरसि तस्य निहन्ता स्मृतः, सप्तसप्तिः यत् नैशं तिमिरम् उच्छेत्तुं न प्रभवति तत् चन्द्रः अपाकरोति ।

शब्दार्थ—सः = वह । किल = वस्तुतः (निश्चय ही) । ते = तुम्हारे, आप के । सख्युः = मित्र । शतक्रतोः = **इन्द्र के लिये । अजय्यः = अजेय (है) । त्वम् = तुम (आप) । रणशिरसि**

= युद्धभूमि में। तस्य = उसके। निहन्ता = मारने वाले। स्मृतः = कहे गये हो (माने गये हैं)। सप्तसप्तिः = सूर्य। यत् = जिस। नैशम् = रात्रि के। तिमिरम् = अन्धकार को। उच्छेत्तुम् = काटने में (नष्ट करने में)। न = नहीं। प्रभवति = समर्थ होता है। तत् = उसको। चन्द्रः = चन्द्रमा। अपाकरोति = दूर करता है।

अनुवाद—वह (राक्षस-दल) निश्चय ही आपके मित्र इन्द्र के लिये अजेय है। आप युद्ध-भूमि में उस (राक्षस-दल) को मारने वाले (हन्ता) माने गये हैं। सूर्य रात्रि के जिस अन्धकार को नष्ट करने में समर्थ नहीं होता, उस (अन्धकार) को चन्द्रमा दूर कर देता है।

संस्कृत व्याख्या—**सः** – दानवगणः, **किल** – वस्तुतः, **ते** – तव दुष्यन्तस्य, **सख्युः** – मित्रस्य, **शतक्रतोः** – इन्द्रस्य, **अजय्यः** – जेतुमशक्यः, **त्वं** – राजा दुष्यन्तः, **रणशिरसि** – युद्धाग्रे, **तस्य** – दानवगणस्य, **निहन्ता** – घातकः, **स्मृतः** – कथितः, **सप्तसप्तिः** – सूर्यः, **यत नैशं** – यत् रात्रिभवम् (निशासम्बन्धि), **तिमिरम्** – अन्धकारम् , **उच्छेत्तुं** – विनाशयितुम् ,**न** – नहि, **प्रभवति** – क्षमते (समर्थो भवति), **तत्** – तमः, **चन्द्रः** – हिमांशुः, **अपाकरोति** – दूरीकरोति।

संस्कृत-सरलार्थः—मातलिर्दुष्यन्तं कथयति – दुर्जयनामकदानवसमुदायो भवन्मित्रेण देवराजेन हन्तुं न शक्यः। भवान् प्रधानसङ्ग्रामे तस्य दानवसमूहस्य घातकत्वेन कथ्यते (जनैः)। सूर्यो यद् रात्रिभवं तमो विनाशायितुं न प्रभवति तत्तमश्चन्द्रो विनाशयति। सत्यं दुर्जयाभिधानं राक्षससमूहं विनाशयितुं भवन्तं दुष्यन्तमन्तराऽपरो न कोऽपि क्षम इति मातलिकथनाभिप्रायः।

व्याकरण—सख्युः – सखिन् शब्द का षष्ठी एक व० का रूप। शतक्रतोः – शतं क्रतवो यस्य स शतक्रतुः (ब०ब्री०) तस्य = इन्द्र के। अजय्यः – जेतुं शक्यः जय्यः न जय्यः अजय्यः 'जेय' के स्थान पर 'जय्य' निपातन से बनता है। (न०त०)। रणाशिरसि – रणस्य शिरः रणशिरः तस्मिन् त०स०। निहन्ता – नि+हन्+तृच्। सप्तसप्तिः – सप्त सप्तयो यस्य सः। ब०ब्री०। नैशम् – निशा+ठञ् या अण्। उच्छेत्तुम् – उद्+छिद्+तुमुन्।

अलङ्कार—इस श्लोक में 'दृष्टान्त' अलङ्कार है। उत्तरार्द्ध दृष्टान्त वाक्य है और पूर्वार्द्ध द्रष्टान्तिक। दोनों में बिम्बप्रतिबिम्ब भाव है। ल०द्र० १/२५।

छन्द—यहाँ 'प्रहर्षिणी' छन्द है। ल०द्र० ६/२७ श्लो०।

टिप्पणी—(१) **शतक्रतोः** – सौ क्रतु (यज्ञ) करने वाले अर्थात् इन्द्र। ऐसी मान्यता है कि सौ अश्वमेध यज्ञ करने वाला इन्द्र के पद की प्राप्ति करता है। पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार 'क्रतु' का अर्थ शारीरिक या मानसिक बल है। अतः 'शतक्रतु' का अर्थ असीमित बल से युक्त। (२) **सप्तसप्तिः** – सूर्य की सात रङ्ग की किरणें उनके सात घोड़े माने जाते हैं। अतः उन्हें सात घोड़ों वाला कहा जाता है। सप्ति का अर्थ घोड़ा होता है। (३) इस श्लोक में इन्द्र को सूर्य तथा दुष्यन्त को चन्द्र के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इसका भाव यह है कि रात के जिस अन्धकार को सूर्य नहीं दूर कर पाता उसे चन्द्रमा दूर करता है, उसी प्रकार 'दुर्जय' नामक जिस दानवगण को इन्द्र नहीं मार सकते, उसे दुष्यन्त मार सकते हैं।

स भवानात्तशस्त्र एव इदानीमैन्द्ररथमारुह्य विजयाय प्रतिष्ठताम्।

व्या० एवं श०—ऐन्द्ररथम् – इन्द्रस्य इदम् ऐन्द्रम् – इन्द्र+अण् = इन्द्र के। आरुह्य

– आ+रुह+ क्त्वा – ल्यप् = चढ़कर। विजयाय – यहाँ तुमर्थाच्च भाववचनात्' से चतुर्थी।

वह आप शस्त्र धारण किये हुये ही अब इन्द्र के (इस) रथ पर चढ़कर विजय के लिये प्रस्थान करें।

राजा—अनुगृहीतोऽहमनया मघवतः सम्भावनया। अथ माधव्यं प्रति भवता किमेवं प्रयुक्तम्?

व्या० एवं श०—मघवतः – मघवान् का षष्ठी ए०व० = इन्द्र की। सम्भावना = सम्मान से।

राजा—मैं इन्द्र के इस सम्मान से अनुगृहीत हूँ। अच्छा, आप के द्वारा माधव्य के प्रति ऐसा (व्यवहार) क्यों किया गया?

मातलिः—तदपि कथ्यते। किञ्चिन्निमित्तादपि मनः सन्तापात् युष्मान् मया विक्लवो दृष्टः। पश्चात् कोपयितुमायुष्मन्तं तथाकृतवानस्मि कुतः—

व्या० एवं श०—किञ्चिन्निमित्तात् – किञ्चित् भवता अज्ञातम् किमपि निमित्तम् कारणं यस्य सः तस्मात् = किसी (अज्ञात) कारण से युक्त। यह पद 'मनः संत्तापात्' का विशेषण है। मनः सन्तापात् – मनसः सन्तापः (ष०त०) – तस्मात् मानसिक सन्ताप से। हेतु अर्थ में पञ्चमी है। आयुष्मान् – आयुः अस्ति अस्य – आयुष्+मतुप् = चिरञ्जीवी। विक्लवः – वि+क्लु+अच् = व्याकुल घबड़ाया हुआ, बैचेन। कोपयितुम् – कुप्+णिच्+तुमुन् = कुपित करने के लिये।

मातलि—उसे भी कह रहा हूँ। मैंने किसी कारण से चिरञ्जीवी आपको मानसिक सन्ताप के कारण व्याकुल देखा। (इसके) बाद चिरञ्जीवी आप को कुपित करने के लिये मैंने (माधव्य के साथ) वैसा (व्यवहार) किया है। क्योंकि—

ज्वलति चलितेन्धनोऽग्निर्विप्रकृतः पन्नगः फणां कुरुते।
प्रायः स्वं महिमानं क्षोभात् प्रतिपद्यते हि जनः॥ ३१॥

अन्वय—अग्निः चलितेन्धनः ज्वलति, पन्नगः विप्रकृतः फणां कुरुते, हि जनः प्रायः क्षोभात् स्वं महिमानं प्रतिपद्यते।

शब्दार्थ—अग्निः = अग्नि। चलितेन्धनः = जिनका इन्धन चलाया (हिलाया-डुलाया) गया है ऐसा, इन्धन के हिलाने-डुलाने से। ज्वलति = प्रज्वलित हो जाता है। पन्नगः = सर्प। विप्रकृतः = अपमानित हो जाने पर (अपमानित करने पर) छेड़ने पर। फणाम् = फण (फन) को। कुरुते = करता है, फैलाता है। हि = इसी प्रकार। जनः = व्यक्ति। प्रायः = बहुधा। क्षोभात् = उत्तेज़ना के कारण। स्वम् = अपने। महिमानम् = प्रभाव को (पराक्रम को)। प्रतिपद्यते = प्राप्त करते हैं (धारण करते हैं)।

अनुवाद—अग्नि इन्धन के चलाने (हिलाने-डुलाने) से प्रज्वलित हो जाता है। सर्प छेड़ने पर फण (फन) को फैलाता है। इसी प्रकार व्यक्ति प्रायः उत्तेजना के कारण (ही) अपने प्रभाव (पराक्रम) को धारण करता (प्रकट करता) है।

संस्कृत व्याख्या—अग्निः – वह्निः, **चलितेन्धनः** – विपर्यस्तकाष्ठः, **ज्वलति** – दीप्यतेः, **पन्नगः** – सर्पः, **विप्रकृतः** – अवमतः (उद्वेजितः), **फणां** – फटाम् **कुरुते** – विस्तारयति; **हि** – निश्चितम्, **जनः** – व्यक्तिः, **प्रायः** – बाहुल्येन, **क्षोभात्** – सङ्क्षोभात्,

उत्तेजनां प्राप्य, **स्वं** – स्वकीयम् । **महिमानं** – प्रभावम् , **प्रतिपद्यते** – धारयति (प्रकटयति)।

संस्कृत-सरलार्थः—मातलिर्नृपदुष्यन्तं वदति – अनलश्चलितेन्धनः सन् नितरां दीप्यते, सर्पोऽवमतः फटां विस्तारयति। तेजस्वी जनः प्रायः समुत्तेजितो भूत्वा निजपराक्रमं समासादयति, प्रकटयतीत्यर्थः।

व्याकरण—चलितेन्धनः – चलितानि इन्धनानि यस्य सः (बहु०)। विप्रकृतः— वि+प्र+कृ+क्त। महिमानम् – महत्+इमनिच् = महिमा द्वि०ए०व०।

कोष—'उरगः पन्नगो भोगी जिह्मगः पवनाशनः'। इत्यमरः प्रायश्चानशते मृत्यौ प्रायः बाहुल्यतुल्ययोः इत्यमरः। 'काष्ठं दार्विन्धनं त्वेधः इत्यमरः।

अलङ्कार—(१) इस श्लोक में (तेजस्वी) जनः उपमेय तथा वह्नि एवं पन्नग उपमान हैं। उपमेय और उपमानों के साधर्म्यो 'महिमानं प्रतिपद्यते', ज्वलति एवं फणां कुरुते – का बिम्ब-प्रतिबिम्ब – भाव दिखाया गया है अतः **'दृष्टान्त'** अलङ्कार है। ल०द्र० १/२५ श्लो०। दो उपमानों के कारण यह दृष्टान्त 'मालारूप' है। (२) 'भवान्' इस प्रस्तुत विशेष के स्थान पर सामान्य 'जनः' कहने से 'अप्रस्तुतप्रशंसा' अलङ्कार है। ल०द्र० १/१७ श्लो०। (३) उत्तरार्द्धगत सामान्य अर्थ से पूर्वार्द्धगत विशेष का समर्थन होने से 'अर्थान्तरन्यास' अलङ्कार है। ल०द्र० १/२ श्लो०।

छन्द—यहाँ 'आर्या' छन्द है। ल०द्र० १/२ श्लो०।

राजा—(जनान्तिकम्) **वयस्य, अनतिक्रमणीया दिवस्पतेराज्ञा तदत्र परिगतार्थं कृत्वा मद्वचनादमात्यपिशुनं ब्रूहि।**

व्या० एवं श०—अनतिक्रमणीया – न अतिक्रमणीया – अति+क्रम्+अनीयर+टाप् – नञ् षष्ठी समास – अनुल्लङ्घनीय। दिवस्पतेः – दिवः पतिः दिवस्पतिः तस्य तत्पुरुषकृतिबहुलम् षष्ठी का अलुक **'कस्थक्रिय'** से विसर्ग का स् = स्वर्गपति इन्द्र की। परिगतार्थम् – परिगतः – अर्थः येन तम् (ब०ब्री०) = (प्रस्तुत) विषय से अवगत, समाचार से अवगत। मद्वचनात् = मेरी आज्ञा से।

राजा—(हाथ की ओट में) हे मित्र, स्वर्ग के स्वामी (इन्द्र) की आज्ञा अनुलङ्घनीय है। इसलिये इस विषय में अवगत कराकर मेरे आदेशानुसार मन्त्री पिशुन से कहना कि—

त्वन्मतिः केवला तावत् परिपालयतु प्रजाः।
अधिज्यमिदमन्यस्मिन् कर्मणि व्यापृतं धनुः ॥ ३२ ॥

अन्वय—केवला त्वन्मतिः तावत् प्रजाः परिपालयतु, (यावत्) इदम् अधिज्यं धनुः अन्यस्मिन् कर्मणि व्यापृतम्।

शब्दार्थ—केवला = केवल, अकेली। त्वन्मतिः = तुम्हारी (आप की) बुद्धि। तावत् = तब तक। प्रजाः = प्रजा का। परिपालयतु = पूर्णरूप से पालन करे, पूर्णरूप से रक्षा करे। इदम् = यह। अधिज्यम् = जिसकी डोरी (प्रत्यञ्चा) चढ़ी हुयी है ऐसा, चढ़ी हुयी डोरी (प्रत्यञ्चा) वाला। धनुः = धनुष। अन्यस्मिन् = दूसरे। कर्मणि = कार्य में। व्यापृतम् = संलग्न है।

अनुवाद—अकेली आप की बुद्धि तब तक प्रजा का पूर्णरूप से पालन करे, (जब तक) यह चढ़ी हुयी डोरी (प्रत्यञ्चा) वाला (मेरा) धनुष (राक्षसों के वध रूपी) दूसरे कार्य में लगा हुआ है।

संस्कृत व्याख्या—केवला – एकाकिनी, **त्वन्मतिः** – तव अमात्यस्य बुद्धिः, **तावत्**

– सम्प्रति ममानुपस्थितिकाले, **प्रजाः** – राज्यजनान् ,**परिपालयतु** – रक्षतु, **इदम्** – एतत् , **अधिज्यं** – मौर्वीयुक्तम् ,**धनुः** – शरासनः, **अन्यस्मिन् कर्मणि** – देवेन्द्रसाहाय्यरूपे दानववधकर्मणि, **व्यापृतम्** – संलग्नम् , अस्तीति शेषः।

संस्कृत-सरलार्थः—राजा विदूषकमाध्यमेन प्रेषणीयम् मन्त्रिकृते – आदेशरूपं सन्देशं वदति – यावन्मदीयं मौर्वीयुक्तं धनुरिदं दानववधरूपापरास्मिन् कर्मणि व्यापृतमस्ति, तावत् त्वदीया बुद्धिरेवैकाकिनी प्रजाजनान् पालयत्विति। स्वविवेकानुसारं प्रजारक्षणं विधेयमिति भावः।

व्याकरण—अधिज्यम् – अध्यारूढा ज्या यत्र तत् ब०ब्री०। व्यापृतम् – वि+आ+पृ+क्त पुँल्लिङ्ग में यह शब्द मन्त्री, उच्च राज्यर्मचारी का वाचक होता है।

कोष—'मौर्वी ज्या शिञ्जिनी गुणः' इत्यमरः।

रस-भाव—यहाँ राजा के उत्साहाधिक्य तथा शौर्यातिशय के प्रकट होने के कारण **वीर रस** ध्वनित हो रहा है।

अलङ्कार—यहाँ पूर्वार्द्ध के प्रति उत्तरार्द्ध वाक्य हेतु रूप से उपन्यस्त है, अतः 'काव्यलिङ्ग' अलङ्कार है। ल०द्र० १/४ श्लो०।

छन्द—श्लोक में 'अनुष्टुप्' छन्द है। ल०द्र० १/५ श्लो०।

टिप्पणी—'त्वन्मतिः केवलाः...' राजा के इस कथन का अभिप्राय है कि प्रजारक्षण में राजा की शक्ति (धनुष आदि पर आधारित) और मंत्री की बुद्धि – इन दोनों का योगदान अपेक्षित होता है। अब तक दोनों के पारस्परिक योग से अर्थात् मन्त्री की बुद्धि और राजा के धनुष से प्रजारक्षण रूप कार्य चलता रहा। परन्तु अब चूँकि वह (राजा) इन्द्र के आदेश के पालन हेतु दानववध रूप कार्य में व्यस्त रहने के कारण अनुपस्थित रहेंगे ऐसी स्थिति में मन्त्री पिशुन को (उनकी अनुपस्थिति में) केवल अपनी बुद्धि (विवेक) के अनुसार प्रजापालन करना चाहिये। भारवि ने किरात में राजा एवं मन्त्री के सहयोग से राज्य की सुख-समृद्धि की बात कही है—'सदानुकूलेषु हि कुर्वते रतिं नृपेष्वमात्येषु च सर्वसम्पदः। किरात।

विदूषकः—यद् भवनाज्ञापयति। (जं भवं आणवेदि।) (इति निष्क्रान्तः)।

विदूषक—आप जो आज्ञा देते हैं। (निकल जाता है)।

मातलिः—आयुष्मान् रथमारोहतु।

मातलि—चिरञ्जीवी (आप रथ पर चढ़ें)।

(राजा रथाधिरोहणं नाटयति)

(राजा रथ पर चढ़ने का अभिनय करते हैं)।

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

(सभी निकल जाते हैं)।

।। इति षष्ठोऽङ्कः ।।

॥ षष्ठ अङ्क समाप्त ॥

सप्तमोऽङ्कः

(ततः प्रविशत्याकाशयानेनरथाधिरूढो राजा मातलिश्च)

व्या० एवं श०—आकाशयानेन+आकाशस्य यानम् ; यान्त्यनेन या+करणे ल्युट् = आकाशमार्ग से। 'यानं स्याद्वाहने गतौ' इस मेदिनी कोष के मतानुसार 'यान' के दो अर्थ वाहन तथा गति होते हैं। 'गति' का अर्थ मार्ग भी होता है। यहाँ मार्ग (पथ) अर्थ अभिप्रेत है।

(तत्पश्चात् आकाशमार्ग से रथ पर बैठे हुये राजा और मातलि प्रवेश करते हैं)।

राजा—मातले, अनुष्ठितनिदेशोऽपि मघवतः सत्क्रियाविशेषादनुपयुक्तमिवात्मानं समर्थये।

व्या० एवं श०—अनुष्ठितनिदेशः – अनुष्ठितः निदेशः (आदेशः) येन सः (ब०ब्री०) = आदेश का परिपालन कर लिया है जिसने ऐसा। निदेशः – नि+दिश्+घञ्। 'प्रैष्यादेशाज्ञानियोगः शासनं तथा – इति धनञ्जयः'। सत्क्रियाविशेषात् – सत्क्रिया सम्माननाः तस्याः विशेषः अतिशयः तस्मात् = विशेष सत्कार के कारण। मघवतः = इन्द्र के ('मघवान्' के षष्ठी ए०व० का रूप)। अनुपयुक्तमिव – उपयुक्तम् – उप+युज्+क्त – न उपयुक्तम् अनुपयुक्तम् = अयोग्य (अपात्र) सा।

राजा—हे मातलि, (इन्द्र के दुर्जय दैत्यों के वध रूप) आदेश का परिपालन कर देने पर भी इन्द्र के द्वारा किये गये विशेष सत्कार के कारण मैं अपने को (उस प्रकार के) सत्कार के लिये अयोग्य-सा समझ रहा हूँ।

विशेष—(१) राजा दुष्यन्त दुर्जय गण – राक्षसों का वध कर ही लौटते हैं। नाट्यशास्त्र के विधानानुसार रङ्गमञ्च पर दूर आह्वान, वध, युद्ध आदि के दृश्य नहीं दिखाये जाते —'दूराह्वानं वधं युद्धम् ...।' इसीलिये यहाँ उसका प्रदर्शन नहीं किया गया है और युद्ध के पश्चात् दुष्यन्त मातलि आदि का प्रवेश दिखाया गया है। (२) **अनुपयुक्तम्** – इसके दो अर्थ हो सकते हैं – (१) इन्द्र के सत्कार विशेष की तुलना में मेरा कार्य (वधरूप) नगण्य सा है। (२) इन्द्र के सत्कार को पाने की मेरी योग्यता (पात्रता) नहीं है। साथ ही राजा का प्रत्युपकारित्व, विनय और गुणग्राहिता सूचित होती है एवं इन्द्र द्वारा प्रदत्त सम्मान उनके सौभाग्यशाली होने का सूचक है।

मातलिः—(सस्मितम्) आयुष्मन् , उभयमप्यपरितोषं समर्थये।

व्या० एवं श०—उभयमप्यपरितोषम् – मातलि के इस कथन का अभिप्राय यह है कि असन्तोष दोनों ओर है अर्थात् राजा एवं इन्द्र दोनों तरफ है। राजा, इन्द्र द्वारा सम्मान को बड़ा एवं अपने कार्य – (अथवा योग्यता) आदि को छोटा मानकर असन्तुष्ट हैं तथा इन्द्र राजा के कार्य को बड़ा तथा अपने द्वारा दिये गये सम्मान को छोटा मानकर असन्तुष्ट हैं।

मातलि—(मुस्कराकर) चिरञ्जीवी, मैं (इन्द्र और आप राजा दुष्यन्त) दोनों को ही असन्तुष्ट समझ रहा हूँ।

प्रथमोकृतं मरुत्वतः प्रतिपत्त्या लघु मन्यते भवान् ।
गणयत्यवदानविस्मितो भवतः सोऽपि न सत्क्रियागुणान् ।। १ ।।

अन्वय—भवान् मरुत्वतः प्रतिपत्त्या प्रथमोपकृतं लघु मन्यते, सः अपि भवतः अवदानविस्मितः सत्क्रियागुणान् न गणयति ।

शब्दार्थ—भवान् = आप । मरुत्वतः = इन्द्र के द्वारा । प्रतिपत्त्या = (किये गये) सत्कार से । प्रथमोपकृतम् = पहले किये गये उपकार को । लघु = छोटा, तुच्छ । मन्यते = मानते हैं (समझते हैं) । सः = वह । अपि = भी । भवतः = आप के । अवदानविस्मितः = पराक्रम (शौर्यकर्म) से आश्चर्ययुक्त, विशिष्ट वीरता से आश्चर्य चकित हुये । सत्क्रियागुणान् = सत्कार के महत्त्व को । न = नहीं । गणयति = गिनते हैं (समझते हैं) ।

अनुवाद—आप इन्द्र के द्वारा किये गये सत्कार से (इन्द्र के प्रति अपने द्वारा) पहले किये गये उपकार को छोटा (तुच्छ) मानते (समझते) हैं । वह (इन्द्र) भी आप के पराक्रम (विशिष्ट वीरता) से आश्चर्यचकित होकर (आप के प्रति अपने द्वारा दिये गये) सत्कार के महत्त्व को (कुछ भी) नहीं गिनते (समझते) हैं ।

संस्कृत व्याख्या—भवान् – दुष्यन्तः, **मरुत्वतः** – इन्द्रस्य, **प्रतिपत्त्या** – गौरवेण, इन्द्रकृतया पूजया इत्यर्थः, **प्रथमोपकृतम्** – पूर्वकृतम् उपकारम् , स्वकृतमुपकारमिति यावत् , **लघु** – स्वल्पम् , **मन्यते** – स्वीकुरुते, **सः अपि** – इन्द्र अपि, **भवतः** – दुष्यन्तस्य, **अवदानविस्मितः** – भवतः पराक्रमेण आश्चर्यान्वितः, **सत्क्रियागुणान्** – सत्कारस्य महत्त्वम् , **न गणयति** – न बहुमन्यते ।

संस्कृत-सरलार्थः—मातलिः राजानं वदति – 'यद् इन्द्रकृतं सत्कारं वीक्ष्य यथा भवान् स्वकृतं वधरूपमुपकारं स्वल्पं मन्यते, तथैवेन्द्रोऽपि भवत्पराक्रमातिशयं विलोक्य भवन्तं प्रति प्रदर्शितं स्वसत्कारं नितान्तमल्पं मनुतेऽतस्तुल्य एवासन्तोष उभयपक्षयोरिति भावः ।

व्याकरण—प्रतिपत्त्या – प्रति+पद्+क्तिन् , तृ०ए० । प्रथमोकृतम् – प्रथमं च यत् उपकृतं च (कर्म०) । अवदानविस्मितः – अवदानेन विस्मितः (तत्पु०) अवदानम् – अव+दा+ल्युट् । सत्क्रियागुणान् – सत्क्रियायाः गुणान् (तत्पु०) ।

कोष—'इन्द्रो मरुत्वान् मघवा विडौजाः पाकशासनः' इत्यमरः । 'अवदानं कर्मवृत्तम्' इत्यमरः । 'पराक्रमोऽवदानम् स्यात्' इति भागुरिः – रघुवंश ११/२१ मल्लिनाथ टीका द्रष्टव्य ।

अलङ्कार—(१) सत्काररूपी कारण के होने पर गणनारूपी कार्य के न होने से **'विशेषोक्ति'** अलङ्कार है । (२) गुण-गणना रूप कार्य के अभाव का कारण न होने से **'विभावना'** अलङ्कार है । दोनों का लक्षण क्रमशः द्र० ३/२२ तथा १/१८ ।

छन्द—यहाँ **'सुन्दरी'** छन्द है । ल०द्र० ६/१ श्लो० ।

टिप्पणी—यहाँ से लेकर अङ्क की समाप्ति तक **'निर्बहण'** सन्धि है । निर्वहण का लक्षण है—'बीजवन्तो मुखाद्यर्था विप्रकीर्णा यथायथम् । एकार्थमुपनीयन्ते यत्र निर्वहणं हि तत्' सा०द० । आचार्य विश्वनाथ शकुन्तला के अभिज्ञान (पहचान) से लेकर अङ्क की समाप्ति तक 'निर्वहण' सन्धि मानते हैं ।

राजा—मातले, मा मैवम् । स खलु मनोरथानामप्यभूमिर्विसर्जनावसरसत्कारः । मम हि दिवौकसां समक्षमर्धासनोपवेशितस्य—

व्या० एवं श०—मनोरथानाम् = (कल्पनाओं) अभिलाषाओं का। अभूमि: न भूमि: अभूमि: – अस्थान (अविषय)। विसर्जनावसरसत्कार: – विसर्जनावसरे सत्कार: = विदायी के अवसर पर किया गया सत्कार। दिवौकसाम् – द्यौ: स्वर्ग: ओक: वासस्थानं येषां ते (ब०व्री०) दिवौकस: तेषाम् = देवताओं का। 'अमरा निर्जरा देवास्त्रिदशा विबुधा: सुरा:। सुपर्वाण: सुमनसस्त्रिदिवेशा दिवौकस: ॥ इत्यमर:। अर्धासनोपवेशितस्य – अर्धसने उपवेशितस्य (उप+विश्+णिच्+क्त ष०ए०व० = आधे आसन पर बिठाये गये।

राजा—हे मातलि, नहीं, ऐसा न (कहो)। विदायी के अवसर पर (इन्द्र के द्वारा) किया गया वह सत्कार तो निश्चय ही मेरे कल्पनाओं का भी विषय नहीं है (अर्थात् कल्पनाओं से भी परे की वस्तु है)। क्योंकि देवताओं के सामने (अपने) आधे आसन पर बैठाकर मुझको—

अन्तर्गतप्रार्थनमन्तिकस्थं जयन्तमुद्वीक्ष्य कृतस्मितेन।
आमृष्टवक्षोहरिचन्दनाङ्का मन्दारमाला हरिणा पिनद्धा ॥ २ ॥

अन्वय—अन्तिकस्थम् अन्तर्गतप्रार्थनं जयन्तम् उद्वीक्ष्य कृतस्मितेन हरिणा आमृष्टवक्षोहरिचन्दनाङ्का मन्दारमाला पिनद्धा।

शब्दार्थ—अन्तिकस्थम् = समीप में स्थित (खड़े हुये)। अन्तर्गतप्रार्थनम् = भीतर ही भीतर (अर्थात् मन में) है इच्छा (प्रार्थना) जिसके ऐसे, मन ही मन (मन्दरमाला के लिये) इच्छुक। जयन्तम् = जयन्त को। उद्वीक्ष्य = देखकर। कृतस्मितेन = मुस्कराते हुये। हरिणा = इन्द्र के द्वारा। आमृष्टवक्षोहरिचन्दनाङ्का = वक्ष:स्थल पर लगे हुये हरिचन्दन से चिह्नित। मन्दारमाला = मन्दारपुष्पों की माला। पिनद्धा = पहना दी गयी।

अनुवाद—समीप में खड़े हुये भीतर ही भीतर (मन ही मन) (माला पहनने) के इच्छुक (अपने पुत्र) जयन्त को देखकर मुस्कराते हुये इन्द्र ने (अपने) वक्ष:स्थल पर लगे हुये हरिचन्दन से चिह्नित मन्दार-पुष्पों की माला (मुझे) पहना दी।

संस्कृत व्याख्या—**अन्तिकस्थं** – समीपस्थम्, **अन्तर्गतप्रार्थनं** – हृदयस्थितमन्दारमालाभिलाषम्, **जयन्तम्** – एतदाख्यं स्वपुत्रम्, **उद्वीक्ष्य** – विलोक्य, **कृतस्मितेन** – विहितमन्दहासेन, **हरिणा** – इन्द्रेण, **आमृष्टवक्षोहरिचन्दनाङ्का** – स्पृष्टं यत् वक्ष:स्थं हरिचन्दनं तस्य चिह्नं यस्या: सा, **मन्दारमाला** – मन्दारप्रसूनानां माला देवतरुविशेषसुमनोमौलिका, **पिनद्धा** – मम कण्ठे परिधापिता।

संस्कृत-सरलार्थः—दुष्यन्तो वदति मातलिम् – स्वसमीपवर्तिनं मनोगतमन्दारमालाभिलाषशालिनं निजसुतं जयन्तमवलोक्य विहितमन्दहासेनेन्द्रेण, लिप्तवक्षोहरिचन्दनचिह्निता मन्दाराख्यसुरतरुपुष्पमालिका (अर्धासनोपवेशितस्य) ममोरसि स्वहस्ताभ्यामेव परिधापिता। नूनं तत्कृतोऽयं सत्कार: कल्पनातीत:।

व्याकरण—अन्तर्गतप्रार्थनम् – अन्तर्गता प्रार्थना यस्य तम् (बहु०)। उद्वीक्ष्य – उत्+वि+ईक्ष्+ल्यप्। आमृष्टवक्षोहरिचन्दनाङ्का – आमृष्टस्य वक्षोहरिचन्दनस्य अङ्क: यस्या: सा (बहु०)। पिनद्धा – अपि+नह्+क्त+टाप्; 'वष्टि भागुरिरल्लोपम्०' से अपि के अकार का लोप। कृतस्मितेन – कृतं स्मितं येन स: तेन (ब०व्री०)।

कोष—'पञ्चैते देवतरवो मन्दार: पारिजातक:। सन्तान: कल्पवृक्षश्च पुंसि वा हरिचन्दनम्', 'जयन्त: पाकशासनि'।

अलङ्कार—(१) इस श्लोक में राजा के गौरवाधिक्य का वर्णन होने से **'उदात्त'** अलङ्कार है। लक्षण – 'लोकातिशयसम्पत्तिवर्णनोदात्तमुच्यते'। (२) 'अन्तर्गतप्रार्थनम्' 'आमृष्ट... आदि विशेषणों के साभिप्राय होने से **'परिकर'** अलङ्कार है। ल०द्र० १/२६ श्लो०।

छन्द—**'उपजाति'** छन्द है। ल०द्र० ५/५ श्लो०।

टिप्पणी—(१) इस श्लोक से इन्द्र द्वारा किये गये दुष्यन्त के सत्कारातिशय का प्रकाशन होता है। (२) **आमृष्टवक्षोहरिचन्दनाङ्का** – इस पद से कई अर्थों की प्रतीति होती है – (१) उस समय इन्द्र के वक्षःस्थल पर हरिचन्दन लेप किया गया था। (२) इन्द्र ने उस समय उस माला को अपने वक्षःस्थल पर धारण कर रखा था। (३) माला ताजा, सुगन्धित और सुन्दर थी, जिसके लिये जयन्त ललचा रहे थे। (३) हरिचन्दन – यह पाँच देववृक्षों में परिगणित है। पद्मपुराण के अनुसार हरिचन्दन एक प्रकार का लेप है। स्वर्ग का चन्दन हरिचन्दन कहलाता है। (४) **पिनद्धा** – माला को इन्द्र ने दिया नहीं, अपितु पहनाया।

मातलिः—किमिव नामायुष्मानमरेश्वरान्नार्हति ? पश्य—

व्या० एवं श०—अमरेश्वरान्नार्हति – अमरेश्वरात्+न+अर्हति = देवों के स्वामी से नहीं प्राप्त कर सकते हैं अर्थात् देवराज से सभी वस्तुयें प्राप्त कर सकते हैं।

मातलि—चिरञ्जीवी, आप कौन सी वस्तु देवेन्द्र से नहीं प्राप्त कर सकते ? देखिये—

सुखपरस्य हरेरुभयैः कृतं त्रिदिवमुद्धृतदानवकण्टकम्।
तव शरैरधुना नतपर्वभिः पुरुषकेसरिणश्च पुरा नखैः॥ ३॥

अन्वय—अधुना नतपर्वभिः तव शरैः पुरा च नतपर्वभिः पुरुषकेसरिणः नखैः उभयैः सुखपरस्य हरेः त्रिदिवम् उद्धृतदानवकण्टकं कृतम्।

शब्दार्थ—अधुना = अब। नतपर्वभिः = झुकी हुयी हैं गाठें जिनकी ऐसे, झुकी हुयी गाठों वाले। तव = तुम्हारे (आप के)। शरैः = बाणों के द्वारा। पुरा च = और प्राचीन काल में। नतपर्वभिः = अङ्गुलियों के जोड़ पर मुड़े हुये। पुरुषकेसरिणः = नरसिंह (भगवान्) के। नखैः = नाखूनों के द्वारा। उभयैः = इन दोनों के द्वारा। सुखपरस्य = भोगों में लिप्त हुये। हरेः = इन्द्र के। त्रिदिवम् = स्वर्ग को। उद्धृतदानवकण्टकम् = दानवरूपी काँटे जिससे निकाल दिये गये हैं ऐसा, (दानवरूपी काँटो से रहित)। कृतम् = कर दिया गया है।

अनुवाद—इस समय (अर्थात् वर्तमान काल में) झुकी हुयी गाँठों वाले आप के बाणों और प्राचीन काल में अङ्गुलियों के जोड़ पर मुड़े हुये नरसिंह (भगवान्) के नाखूनों के द्वारा, (इस प्रकार) इन (बाणों और नाखूनों) दोनों के द्वारा सुखोपभोगासक्त इन्द्र के स्वर्ग को दावनवरूपी काँटों से रहित कर दिया गया।

संस्कृत व्याख्या—अधुना – सम्प्रति, **नतपर्वभिः** – आकुञ्चितानि ग्रन्थयः येषां तैः, **तव** – दुष्यन्तस्य, **शरैः** – बाणैः, **पुरा च** – कृतयुगे च, **नतपर्वभिः** – नतग्रन्थिभिः, **पुरुषकेसरिणः** – भगवतः नृसिंहस्य, **नखैः** – नखरैः, **उभयैः** – शरैः, **सुखपरस्य** – सुखोपभोगासक्तस्य, **हरेः** – इन्द्रस्य, **त्रिदिवं** – स्वर्गः, **उद्धृतदानवकण्टकं** – विनाशिताः दानवरूपाः कण्टकाः यस्मात् तादृशम्, **कृतं** – विहितम्।

संस्कृत-सरलार्थः—मातलिः दुष्यन्तं कथयति – सुखोपभोगासक्तस्येन्द्रस्य स्वर्गोऽधुना तव बाणैरसुरान् निहत्य तथा पुरा भगवतो नृसिंहस्य नखैर्हिरण्यकशिपुं हत्वा च राक्षसकण्टकविरहितो

विहित: । इन्द्रस्य स्वर्ग: पुरा नृसिंहेणाधुना च भवता रक्षित इत्यर्थ: ।

व्याकरण—नतपर्वभि: – नतानि पर्वाणि येषां तै: (बहु०)। सुखपरस्य – सुखे पर: तस्य (तत्पु०)। उद्धृतदानवकण्टकम् – उद्धृता: दानवरूपा: कण्टका: यस्मात् तत् (बहु०)। त्रिदिवम् – यह दो प्रकार से व्युत्पन्न होता है (१) त्रिविधं दीव्यति इति – त्रि+दिव्+क (अ) 'इगुपध' से 'क'। (२) तृतीयं दिवम्। यह पुँल्लिङ्ग एवं नपुंसक दोनों में होता है।

कोष—'त्रिदिवं तु खे। स्वर्गे च त्रिदिवा नद्याम्' – इति हैम:। 'स्वरव्ययं स्वर्गनाकत्रिदिवत्रिदशालया:। सुरलोको द्यो-दिवौ द्वे स्त्रियां क्लीबे त्रिविष्टपम्'। 'त्रिदिव' शब्द अमरकोष के अनुसार पुँल्लिङ्ग तथा 'हैम' कोष के अनुसार नपुंसकलिङ्ग है। श्लोक में 'त्रिदिव' नपुसकलिङ्ग में है।

अलङ्कार—(१) 'उद्धृतदानवकण्टकम्' में 'दानवा: कण्टका इव, ऐसा विग्रह करने पर 'समासगावाचकलुप्तोपमा' अलङ्कार है। ल०द्र० १/५ श्लो०। (२) यहाँ प्रस्तुत दुष्यन्त तथा अनेक बाण एवं अप्रस्तुत पुरुषकेसरी तथा उनके नखों – इन दोनों प्रस्तुत अप्रस्तुतों का एक क्रिया 'कृतम्' के साथ सम्बन्ध होने के कारण **'दीपक'** अलङ्कार है। ल०द्र० २/१५ श्लो०। (३) कुछ विद्वान् यहाँ **'तुल्ययोगिता'** अलङ्कार भी मानते हैं। ल०द्र० ३/१७ श्लो०।

छन्द—इस श्लोक में **'द्रुतविलम्बित'** छन्द है। ल०द्र० २/११ श्लो०।

टिप्पणी—(१) **पुरुषकेसरिण:** – प्राचीन काल में हिरण्यकशिपु ने इन्द्र को पदच्युत कर तीनों लोकों में त्राहि-त्राहि मचा दी थी। भगवान् विष्णु ने नृसिंह का अवतार धारण कर अपने नखों से उसका (हिरण्यकशिपु नामक राक्षस का) वध किया। वर्तमान काल में राजा दुष्यन्त ने कालनेमि की सन्तान दुर्जय नामक दानव-गण को परास्त कर स्वर्ग के राज्य को निष्कण्टक बनाया है। (२) नृसिंह या नरसिंह ये नाम अधिक प्रसिद्ध हैं। यह विष्णु का चौथा अवतार है।

राजा—अत्र खलु शतक्रतोरेव महिमा स्तुत्य:।

व्या० एवं श०—शतक्रतो: शतं क्रतव: यागा: यस्य (ब०ब्री०) तस्य = सौ यज्ञों वाले अर्थात् इन्द्र के। महिमा – महतो भाव: – महत्+इमनिच् = महत्ता, बड़प्पन, माहात्म्य। स्तुत्य: – स्तु+क्यप् – तुक् का आगम = प्रशंसनीय।

राजा—यहाँ (इस विषय में) तो इन्द्र की महत्ता प्रशंसनीय है।

> **सिध्यन्ति कर्मसु महत्स्वपि यन्नियोज्या:**
> **सम्भावनागुणमवेहि तमीश्वराणाम् ।**
> **किं वाऽभविष्यदरुणस्तमसां विभेत्ता**
> **तं चेत् सहस्रकिरणो धुरि नाकरिष्यत् ।। ४ ।।**

अन्वय—महत्सु अपि कर्मसु नियोज्या: यत् सिध्यन्ति तम् ईश्वराणां सम्भावनागुणम् अवेहि, किं वा अरुण: तमसां विभेत्ता अभविष्यत् चेत् सहस्रकिरण: तं धुरि न अकरिष्यत्।

शब्दार्थ—महत्सु = महान् (बड़े-बड़े)। अपि = भी। कर्मसु = कार्यों में। नियोज्या: = नियुक्त किये गये (आज्ञाकारी सेवक)। यत् = जो। सिध्यन्ति = सफल हो जाते हैं। तम् = उसको। ईश्वराणाम् = स्वामियों के। सम्भावनागुणम् = गौरव का गुण। अवेहि = समझो, (समझिये)। किं वा = क्या। अरुण: = (सूर्य का सारथि) अरुण। तमसाम् = अन्धकार का। विभेत्ता = विनाशक। अभविष्यत् = हो जाता (हो पाता)। चेत् = यदि। सहस्रकिरण: = असङ्ख्य

किरणों वाले अर्थात् सूर्य। तम् = उसको। धुरि = धुरा के अग्रभाग में। न = नहीं। अकरिष्यत् = किये होते (लगाये होते)।

अनुवाद—महान् (बड़े-बड़े) भी कार्यों में नियुक्त किये गये (सेवक) जो सफल हो जाते हैं, उसे स्वामियों के गौरव का गुण (ही) समझना चाहिये। क्या (सूर्य का सारथि) अरुण अन्धकार का विनाशक हो पाता (अर्थात् नहीं हो पाता) यदि सूर्य उस (अरुण) को (अपने रथ के) धुरा में (अग्रभाग में) न किये होते।

संस्कृत व्याख्या—**यत् महत्सु अपि** – गुरुतरेषु अपि, **कर्मसु** – कार्येषु, **नियोज्याः** – अधीनस्थाः सेवकाः, **सिध्यन्ति** – कार्यनिष्पादका भवन्ति, (सफलाः जायन्ते, इति), **तम् ईश्वराणां** – प्रभूणाम् , **सम्भावनागुणं** – गौरवविशेषम् , **अवेहि** – अवगच्छ; **किं वा** – किमुत, **अरुणः** – सूर्यसारथिः, **तमसाम्** – अन्धकाराणाम् , **विभेत्ता** – भेदकः (नाशकः), **अभविष्यत्** – स्यात् ; नैवाभविष्यदित्यर्थः, **चेत्** – यदि, **सहस्रकिरणः** – सूर्यः, **तम्** – अरुणम् , **धुरि** – अग्रभागे, **न** – नहि, **अकरिष्यत्** – अस्थापयिष्यत्।

संस्कृत-सरलार्थः—राजा मातलिं वदति – सेवका दुःसाध्वेष्वपि कार्येषु यत् सफला जायन्ते, नहि तेषां कश्चिद् गुणविशेषः कारणम् , अपितु तत्र स्वामिप्रदत्तगौरवमेव कारणम् अर्थात् स्वामिप्रसादेनैव ते सफला जायन्ते। सूर्यसारथेरुऽणस्यान्धकारविच्छेदे न काचित् सहजा शक्तिरपितु सस्वस्वामिनः सूर्यस्य प्रसादमवाप्यैवान्धकारविच्छेदरूपकर्मणि सफलो भवति। राज्ञः कथनस्यायं संक्षेपो यद् दानवगणविनाशे स (दुष्यन्तः) इन्द्रकृतसम्भावनयैव सफलो न स्वकृतपराक्रमेणात इन्द्रस्यैव महिमा प्रशस्ये न तस्य।

व्याकरण—नियोज्याः – नि+युज्+ण्यत् (कर्मणि) प्र०पु०ब०व०। सम्भावनागुणम् – सम्भावनायाः गुणम् (तत्पु०)। सहस्रकिरणः – सहस्रं किरणाः यस्य सः (बहु०)। विभेत्ता – वि+भिद्+तृच्।

कोष—'भृत्यो दासेयदासेरदासगोप्यकचेटकाः। नियोज्यकिंकरप्रैष्यभुजिष्यपरिचारकाः' – इत्यमरः। 'सूरसूतोऽरुणोऽनूरुःकाश्यपिर्गरुडाग्रजः' – इत्यमरः।

अलङ्कार—(१) श्लोक में प्रस्तुत इन्द्र और दुष्यन्त के स्थान पर अप्रस्तुत प्रभु एवं नियोज्य का कथन होने के कारण **'अप्रस्तुतप्रशंसा'** अलङ्कार है। ल०द्र० १/१७ श्लो०। (२) पूर्वार्द्धगत सामान्य से उत्तरार्द्धगत विशेष का समर्थन होने से **'अर्थान्तरन्यास'** अलङ्कार है। ल०द्र० १/२ श्लो०।

छन्द—यहाँ **'वसन्ततिलका'** छन्द है। ल०द्र० १/८ श्लो०।

टिप्पणी—(१) श्लोक में राजा के कथन का अभिप्राय यह है कि महान् स्वामी के प्रताप से सम्पूर्ण कार्य सम्पन्न हो सकता है, न कि सेवक के पुरुषार्थ से। सूर्य-सारथि विकलाङ्ग अरुण में स्वयं अन्धकार को दूर करने की शक्ति नहीं है, फिर भी असङ्ख्य तेज किरणों वाले सूर्य की शक्ति से वह अन्धकार को दूर कर देता है। उसी प्रकार असमर्थ मेरे द्वारा असुर परास्त नहीं हुये हैं अपितु इन्द्र के प्रताप के कारण (राक्षस) परास्त हुये हैं। मुझको तो यश वैसे ही मिल गया है।

मातलिः—सदृशमेवैतत्। (स्तोकमन्तरमतीत्य) **आयुष्मन् , इतः पश्य नाकपृष्ठप्रतिष्ठितस्य सौभाग्यमात्मयशसः।**

व्या० एवं श०—नाकपृष्ठप्रतिष्ठितस्य – नाकपृष्ठे स्वर्गतले प्रतिष्ठितस्य = स्वर्गलोक

में प्रतिष्ठित (आपका)। आत्मयशसः – आत्मनः स्वस्य, यशसः कीर्तेः = अपने यश का।

मातलि—यह (कथन आप के) अनुरूप ही है। (कुछ दूर आगे जाकर) चिरञ्जीविन्, स्वर्ग लोक में प्रतिष्ठित अपने यश के सौभाग्य को इधर देखिये।

विच्छित्तिशेषैः सुरसुन्दरीणां वर्णैरमी कल्पलतांशुकेषु।
विचिन्त्य गीतक्षममर्थजातं दिवौकसस्त्वच्चरितं लिखन्ति।। ५।।

अन्वय—अमी दिवौकसः गीतक्षमम् अर्थजातं विचिन्त्य सुरसुन्दरीणां विच्छित्तिशेषैः वर्णैः कल्पलतांशुकेषु त्वच्चरितं लिखन्ति।

शब्दार्थ—अमी = ये। दिवौकसः = देवता लोग। गीतक्षमं = गाये जाने योग्य। अर्थजातम् = अर्थ समूह को (भावों को)। विचिन्त्य = सोचकर। सुरसुन्दरीणाम् = देवाङ्गनाओं के। विच्छित्तिशेषैः = अङ्गराग (प्रसाधन) से अवशिष्ट। वर्णैः = रङ्गों से। कल्पलतांशुकेषु = कल्पलता (कल्पवृक्ष) के रेशमी वस्त्रों पर। त्वच्चरितम् = तुम्हारे (आप के) चरित को। लिखन्ति = लिख रहे हैं।

अनुवाद—(आयुष्मान्) ये (स्वर्ग-निवासी) देवता गेय अर्थसमूह (भावों) को सोचकर (गेयपद्यों को बनाकर) देवाङ्गनाओं के अङ्गराग (प्रसाधन) से अवशिष्ट रङ्गों से कल्पलता (कल्पवृक्ष) के रेशमी वस्त्रों पर आप के चरित को लिख रहे हैं।

संस्कृत व्याख्या—अमी – एते (दूरे दृश्यमानाः), **दिवौकसः** – देवाः, **गीतक्षमं** – गीतयोग्यं (गेयम्), **अर्थजातं** – पदार्थसमूहम् (पदावलिम्), **विचिन्त्य** – विचार्य, **सुरसुन्दरीणां** – देवाङ्गनानाम्, **विच्छित्तिशेषैः** – अङ्गरागावशिष्टैः, **वर्णैः** – रञ्जनसाधनैः, **कल्पलतांशुकेषु** – कल्पवृक्षसमुद्भववसनेषु, **त्वच्चरितं** – तव दुष्यन्तस्य चरितम्, **लिखन्ति** – लिपिबद्धं कुर्वन्ति।

संस्कृत-सरलार्थः—एते (दूरदृश्यमानाः) स्वर्गवासिनो देवा गेयपदावलिं विचार्य (निर्माय) देवाङ्गनानाम् अङ्गरागावशिष्टैर्वर्णैः कल्पलतोत्पन्नवसनेषु तव (भवतः दुष्यन्तस्य परोपकारादिरूपं) चरितं लिखन्ति।

व्याकरण—सुरसुन्दीराणाम् – सुराणां सुन्दरीणाम् (तत्पु०)। विच्छित्तिशेषैः – विच्छित्त्या शेषैः (तत्पु०)। विच्छित्तिः – वि+क्षिद्+क्तिन्। कल्पलतांशुकेषु – कल्पलतानाम् अंशुकेषु (तत्पु०)। विचिन्त्य – वि+चिन्त्+क्त्वा – ल्यप्।

कोष—'स्वरव्ययं स्वर्गनाकत्रिदिवत्रिदशालयाः' – इत्यमरः।

रस-भाव—यहाँ देवताओं की भृंङ्गारसोपभोगयोग्यं स्थिति आपके (दुष्यन्त के) कारण है, यह वस्तु अलङ्कार से ध्वनित होती है। अतः यहाँ अलङ्कार से वस्तुध्वनि है।

अलङ्कार—(१) इस पद्य में दुष्यन्त के चरित को लिखने वाले (देवता) साधनभूत अङ्गराग (स्याही रूप) तथा कल्पवृक्ष के लतारूप पत्र (कागज) – सभी विशिष्ट हैं अतः सभी के विशिष्ट होने से यहाँ **'उदात्त'** अलङ्कार है। ल०द्र० ७/२ श्लो०। (२) विच्छित्ति (प्रसाधन-साधन) से अवशिष्ट अङ्गरागादि का वर्ण (रङ्ग) के रूप में वर्णन किया गया है तथा उसका दुष्यन्त के चरित-लेखन में उपयोग किया गया है अतः **'परिणाम'** अलङ्कार है। ल०द्र० ३/३ श्लो०। **विशेष** – इस अलङ्कार में उपमेय-उपमान का अभेदारोप अर्थ प्रकृत में उपयोगी होता है। (३) 'कल्पलतांशुकेषु' में लता पर अंशुक का आरोप होने से **'रूपक'** अलङ्कार है। ल०द्र० २/१६ श्लो०।

छन्द—श्लोक में **'उपजाति'** छन्द है। ल०द्र० २/७ श्लो०।

टिप्पणी—(१) 'विच्छित्ति' शब्द का प्रयोग यहाँ अपने शरीर को सजाने के लिये विभिन्न रङ्गों के द्वारा बनाये गये डिजाइन, फूल तथा बेल-बूटे आदि के लिये किया गया है। स्वर्ग की सुन्दरियों के इसी प्रसाधन से बचे हुये रङ्ग से देवता लोग दुष्यन्त के शौर्यपूर्ण चरित को लिख रहे हैं। (२) इस श्लोक में 'सुरसुन्दरीणाम्' 'विच्छित्तिशेषैः' आदि पदों के प्रयोग से दुष्यन्त की चरित-गरिमा बढ़ी है।

राजा—मातले, असुरसम्प्रहारोत्सुकेन पूर्वेद्युर्दिवमधिरोहता मया न लक्षितः स्वर्गमार्गः। कतमस्मिन् मरुतां पथि वर्तामहे ?

व्या० एवं श०—असुरसम्प्रहारोत्सुकेन – असुराणां सम्प्रहारे उत्सुकेन (त०) = असुरों पर प्रहार हेतु उत्कण्ठित। सम्प्रहारः – सम्प्रहरन्ते अस्मिन् इति सम्प्रहारः सम्+प्र+हृ+घञ् (अधिकरणे)। पूर्वेद्युः – पूर्वस्मिन् अहनि इति पूर्वेद्युः – इस अर्थ में यह शब्द निपातन से सिद्ध है = पहले दिन। वर्तामहे – वृत्+उ०पु०ब०व०।

राजा—हे मातलि, असुरों पर आक्रमण करने के लिये उत्कण्ठित मैंने पहले दिन स्वर्ग की ओर चढ़ते समय, स्वर्ग का मार्ग (ध्यानपूर्वक) नहीं देखा था। (बताइये) हम लोग वायु के किस मार्ग पर चल रहे हैं ?

टिप्पणी—मरुतां पथि – भारतीय मान्यता के अनुसार आकाश सात भागों में विभक्त है, जिनमें सात मरुतों (पवनों) की स्थिति है। ब्रह्माण्डपुराण में सात पवनों (वायुस्कन्धों) का उल्लेख इस प्रकार है – 'आवहः प्रवहश्चैव संवहश्चोद्वहस्तथा। विवहाख्यः परिवहः परीवाह इति क्रमात्। सप्तैते मारुतस्कन्धा महर्षिभिरुदीरिताः ॥ – (१) आवह, (२) प्रवह, (३) संवह, (४) उद्वह, (५) विवह, (६) परिवह, (७) परीवाह। (१) पृथिवी से बादलों तक **'आवह'** वायु (२) 'प्रवह' में सूर्य, (३) 'संवह' में चन्द्रमा, (४) 'उद्वह' में नक्षत्र, (५) 'विवह' में ग्रह, (६) 'परिवह' में सप्तर्षि, (७) 'परीवाह' में ध्रुव है। दुष्यन्त के पूछने का अभिप्राय यही है कि इन सातों में से किस वायु के पथ (मारुतस्कन्ध) से हम लोग चल रहे हैं ?

मातलिः—

त्रिस्रोतसं वहति यो गगनप्रतिष्ठां ज्योतींषि वर्तयति च प्रविभक्तरश्मिः।
तस्य द्वितीयहरिविक्रमनिस्तमस्कं वायोरिमं परिवहस्य वदन्ति मार्गम् ॥ ६ ॥

अन्वय—यः गगनप्रतिष्ठां त्रिस्रोतसं वहति, प्रविभक्तरश्मिः च ज्योतींषि वर्तयति। तस्य परिवहस्य वायोः द्वितीयहरिविक्रमनिस्तमस्कम् इमं (मार्गम्) तस्य परिवहस्य वायोः मार्गं (विज्ञाः) वदन्ति।

शब्दार्थ—यः = जो। ('परिवह' नामक वायु)। गगनप्रतिष्ठाम् = आकाश में प्रतिष्ठित (स्थित)। त्रिस्रोतसम् = तीन धारायें हैं जिसकी अर्थात् आकाश गङ्गा को। वहति = धारण करता है। प्रविभक्तरश्मिः = जिसके द्वारा वायु रूपी किरणें फैला दी गयी हैं ऐसा (अपनी वायुकिरणों को फैलाकर। च = और। ज्योतींषि = ग्रह-नक्षत्रों (सप्तर्षि-मण्डल) को। वर्तयति = चलाता है (घुमाता है)। द्वितीयहरिविक्रमनिस्तमस्कम् = (वामन रूप धारण करने वाले) विष्णु (हरि) के द्वितीय चरण विन्यास से अन्धकार-रहित (पवित्र)। इमम् = इसे, तस्य = उस। परिवहस्य = परिवह नामक। वायोः = वायु का। मार्गम् = मार्ग। वदन्ति = कहते हैं।

अनुवाद—जो (परिवह नामक वायु) आकाश में प्रतिष्ठित (स्थित) आकाश गङ्गा को

धारण करता है और (जो वायु रूप) किरणों को फैलाकर ग्रह-नक्षत्रों (सप्तर्षि-मण्डल) को (ठीक-ठीक) चलाता (घुमाता) है। (वामन रूप धारण करने वाले) विष्णु के द्वितीय चरण-विन्यास से अन्धकार-रहित (पवित्र) इसे 'परिवह' नामक वायु का मार्ग कहते हैं।

संस्कृत व्याख्या—यः गगनप्रतिष्ठां – गगने आकाशे प्रतिष्ठा स्थितिः यस्याः तादृशीम्, **त्रिस्रोतसं** – त्रिमार्गगामाकाशगङ्गाम्, **वहति** – धारयति (यश्च), **प्रविभक्तरश्मिः** – प्रविभक्ताः प्रसृताः रश्मयः किरणाः येन सः (वायुकिरणान् प्रसार्य), **ज्योतींषि** – ग्रहनक्षत्राणि, **वर्तयति** – चालयति। **द्वितीयहरिविक्रमनिस्तमस्कम्** – वामनरूपिणं विष्णोः द्वितीयेन पादन्यासेन अन्धकाररहितम्, **इमम्** – एतं मार्गम्, **तस्य परिवहस्य** – तन्नामकस्य, **वायोः** – पवनस्य, **मार्गं** – पन्थानम्, **वदन्ति** – कथयन्ति।

संस्कृत-सरलार्थः—राज्ञो जिज्ञासां समाधातुं मातलिस्तं वदति एतं मार्गं विज्ञा जनाः परिवहनामकवायोर्मार्गं वदन्ति। अयमाकाशं धारयति तथा स्ववायुकिरणान् प्रसार्य नक्षत्राणि यथास्थानं चालयति। अयञ्च वामनरूपधारिणोर्विष्णोर्द्वितीयचरणविन्यासेन पवित्रीकृतोऽस्ति।

व्याकरण एवं शब्दार्थ—द्वितीयहरिविक्रमनिस्तमस्कम् – द्वितीयेन हरेः विक्रमेण निस्तमस्कम् (तत्पु०)। गगनप्रतिष्ठाम् – गगने प्रतिष्ठा यस्याः ताम् (बहु०)। त्रिस्रोतसम् – त्रीणि स्रोतांसि यस्याः ताम् (बहु०)। प्रविभक्तरश्मिः – प्रविभक्ताः रश्मयः येन सः (बहु०)। प्रतिष्ठाम् – प्र+स्था+अङ्+शप् – द्वि०ए०व०। विक्रमः – वि+क्रम+घञ् या अच्।

कोष—'गङ्गा विष्णुनदी जह्नुतनया सुरनिम्नगा। भागीरथी त्रिपथगा त्रिस्रोता भीष्मसूरपि ॥'– इत्यमरः।

अलङ्कार—(१) यहाँ महाचरित्र भगवान् विष्णु का वर्णन वायुवर्णन के अङ्गरूप में उपन्यस्त है अतः **'उदात्त'** अलङ्कार है। ल०द्र० ७/२ श्लो०।

छन्द—इस पद्य में **'वसन्ततिलका'** छन्द है। ल०द्र० १/८ श्लो०।

टिप्पणी—(१) **द्वितीयहरिविक्रम** – इससे विष्णु के वामनावतार का निर्देश है। हिरण्यकशिपु के वंशज 'बलि' नामक दैत्य को मारने के लिए विष्णु ने वामनरूप में अवतार लिया। उन्होंने बलि से तीन पग पृथ्वी मांगी। बलि की स्वीकृति मिलने पर उन्होंने (वामनावतार विष्णु ने) विराट रूप धारण कर एक पग से पृथ्वी नाप ली, दूसरे पग से आकाश एवं तीसरा पग बलि के सिर पर रखकर उसे पाताल पहुँचा दिया। द्वितीय पग से आकाश के नापने को 'परिवह' नामक वायु के पवित्र होने की बात कही गयी है। (२) **त्रिस्रोतसम्** – गङ्गा की तीन धारायें मानी जाती हैं। जो आकाश, पृथिवी और पाताल में स्थित हैं—(१) आकाश गङ्गा – जिसे **मंदाकिनी** कहते हैं। (२) पृथ्वी स्थित गङ्गा – जिसे **भागीरथी** कहते हैं। (३) पाताल में स्थित गङ्गा – जिसे **भोगवती** कहते हैं। आकाश गङ्गा 'परिवह' नामक वायु में स्थित है, सप्तर्षि नक्षत्र भी उसी में है। ब्रह्माण्डपुराण में कहा गया है—'सप्तर्षिचक्रं स्वर्गङ्गाषष्ठः परिवहस्तथा।' वायुपुराण का कथन है कि **'परिवह'** नाम का वायु श्रेष्ठ है, जो आकाशगङ्गा को धारण करता है – श्रेष्ठः परिवहो नाम तेषां वायुरपाश्रयः। योऽसौ विभर्ति भगवान् गङ्गामाकाशगोचराम्।

राजा—मातले, अतः खलु सबाह्यान्तःकरणो ममान्तरात्मा प्रसीदति। (रथाङ्गमवलोक्य) **मेघपदवीमवतीर्णौ स्वः।**

व्या० एवं श०—सबाह्यान्तःकरणः – बाह्यानि करणानि अन्तःकरणानि च तैः सह,

(बहुव्रीहि) = बाह्येन्द्रिय तथा अन्तःकरणों के साथ। मेघपदवीम् – मेघानाम् पदवीम् (ष०त०) = मेघों के मार्ग पर। अवतीर्णौ – अ+तृ+क्त प्र०द्वि०व० = उतर आये। स्वः – अस्+वस् उ०पु०द्वि०व० = हैं।

राजा—हे मातलि, इसीलिये (नेत्रादि) बाहरी और (मन आदि) भीतरी इन्द्रियों के सहित मेरी अन्तरात्मा प्रसन्न हो रही है (रथ के पहिये को देखकर) हम दोनों बादलों के मार्ग से उतर रहे हैं।

टिप्पणी—(१) करण का अर्थ इन्द्रिय होता है। इन्द्रिय दस प्रकार की होती है। पाँच ज्ञानेन्द्रिय, और पाँच कर्मेन्द्रिय। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं—आँख, नाक, कान, त्वचा और जिह्वा। पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं—हाथ, पैर, वाणी, मलेन्द्रिय और मूत्रेन्द्रिय। अन्तःकरण में ये चार परिगणित हैं—मन, बुद्धि, चित्त तथा अहङ्कार। (२) **मेघपदवीम्** – बादलों के मार्ग पर। पृथ्वी से बादलों तक 'भूवायु' या 'आवह' वायु है। रथ उसी में स्थित मार्ग पर आ चुका है।

मातलिः—कथमवगयम्यते ?

व्या० एवं श०—अवगम्यते – अव्+गम्+यक् (कर्मणि) = जानते हैं।

मातलि—कैसे मालूम हो रहा है ?

राजा—

अयमरविवरेभ्यश्चातकैर्निष्पतद्भि—
र्हरिभिरचिरभासां तेजसा चानुलिप्तैः ।
गतमुपरि घनानां वारिगर्भोदराणां
पिशुनयति रथस्ते शीकरक्लिन्ननेमिः ।। ७ ।।

अन्वय—शीकरक्लिन्ननेमिः अयं ते रथः अरविवरेभ्यः निष्पतद्भिः चातकैः अचिरभासां तेजसा अनुलिप्तैः हरिभिः च वारिगर्भोदराणां घनानां उपरिगतं पिशुनयति।

शब्दार्थ—शीकरक्लिन्ननेमिः = जिस रथ के चक्र का प्रान्त भाग (परिधि, नेमि) जल-कणों से भींग गया है ऐसा। अयम् = यह। ते = तुम्हारा (आपका)। रथः = रथ। अरविवरेभ्यः = अरों (तीलियों) के छिद्रों से। निष्पतद्भिः = निकलते हुये (निकलकर जाते हुये)। चातकैः = चातकों द्वारा। च = तथा। अचिरभासाम् = बिजली के। तेजसा = तेज से (प्रभा से)। अनुलिप्तैः = अनुलिप्त (रञ्जित)। हरिभिः = घोड़ों के द्वारा। वारिगर्भोदराणाम् = जल से परिपूर्ण। घनानाम् = बांदलों के। उपरि = ऊपर। गतम् = गगन को। पिशुनयति = सूचित कर रहा है।

अनुवाद—जिसके चक्र का प्रान्तभाग (परिधि) जल-कणों से भींगे प्रान्त भाग वाला गीला हो गया है – ऐसा यह आपका रथ (अपने) अरों (तिलियों) के छिद्रों से निकल कर जाते हुये चातकों के द्वारा तथा बिजली के तेज से अनुलिप्त (रञ्जित) घोड़ों के द्वारा, जल से परिपूर्ण बादलों के ऊपर चलने को सूचित कर रहा है।

संस्कृत व्याख्या—शीकरक्लिन्ननेमिः – शीकरैः जलकणैः क्लिन्ना नेमयः चक्रप्रान्त-भागाः यस्य तादृशः, **अयम्** – एषः, **ते** – तव मातलेः, **रथः** – स्यन्दनम्, **अरविवरेभ्यः** – चक्राङ्गाणां छिद्रेभ्यः, **निष्पतद्भिः** – निर्गच्छद्भिः, **चातकैः** – चातकपक्षिभिः, **अचिरभासां** – अचिरा क्षणिका भाः दीप्तिः यासां तासाम् विद्युतामित्यर्थः, **तेजसा** – प्रभया, **अनुलिप्तैः** – रञ्जितैः, **हरिभिः च** – रथाश्वैश्च, **वारिगर्भोदराणां** – जलपरिपूर्णाभ्यन्तराणाम्, **घनानां** – मेघानाम्,

उपरि – ऊर्ध्वम् , **गतं** – गमनम् , **पिशुनयति** – सूचयति।

संस्कृत-सरलार्थः—राजा मातलिं वदति – यदधुनाऽऽवां जलपूरितमेघपदवीमवतीर्णौ स्वः, यतो हि तव रथस्य चक्रप्रान्तभागा जलेनार्द्राः सन्ति। चातकाख्याः पक्षिणश्च रथारछिद्रेभ्यो निष्पतन्ति। रथाश्वाश्च विद्युत्कान्त्या रञ्जिताः सन्ति। एतैर्लक्षणैर्ज्ञायते यदावामिदानीं जलपूर्ण- मेघमार्गेण गच्छावः।

व्याकरण—शीकरक्लिन्ननेमिः – शीकरैः क्लिन्नाः नेमयः यस्य सः (बहु०)। अरविवरेभ्यः – अराणां विवरेभ्यः (तत्पु०)। अचिरभासां – न चिरा अचिरा; अचिरा भाः यासां तासाम् (बहु०)। वारिगर्भोदराणां – वारि गर्भे येषां तानि वारिगर्भाणि तादृशानि उदराणि येषां तेषां (बहु०)। पिशुनयति – पिशुन णिच् प्र०पु०ए०व०।

कोष—(१) 'तिनिशे स्यन्दनो नेमी रथद्रुरतिमुक्तकः ॥ वञ्जुलश्चित्रकृच्च' इत्यमरः। (२) 'पिशुनौ खलसूचकौ' इत्यमरः। (३) ' अरमशीघ्रे च चक्राङ्गे'। इति विश्वः।

अलङ्कार—(१) रथ के मेघ-मार्ग पर चलने की सूचना देने में 'शीकरक्लिन्ननेमि' इस पद का अर्थ हेतु रूप से उपन्यस्त है, अतः **'काव्यलिङ्ग'** (पदार्थहेतुक) अलङ्कार है। ल०द्र० १/४ श्लो०। (२) रथ के मेघ-मार्ग गमन के साक्ष्य हेतु 'अरविवरेभ्यो निष्पतद्भिः चातकैः' तथा 'अचिरभासां... हरिभिः' इन कई हेतुओं का उल्लेख किया गया है, अतः **'अनुमान'** अलङ्कार है। ल०द्र० ५/३१ श्लो०। (३) इन हेतुओं का उल्लेख होने के कारण 'समुच्चय' अलङ्कार भी है। ल०द्र० २/१० श्लो०।

छन्द—इस श्लोक में **'मालिनी'** छन्द है। ल०द्र० १/१० श्लो०।

टिप्पणी—चातकैः – हिन्दी में इसे पपीहा कहते हैं। ऐसी मान्यता है कि यह बादलों के जल को ही पीता है, पृथ्वी के जल को नहीं पीता।

मातलिः—क्षणादायुष्मान् स्वाधिकारभूमौ वर्तिष्यते।

व्या० एवं श०—स्वाधिकारभूमौ – स्वस्य अधिकारो यस्याम् सा स्वाधिकारा सा चासौ भूमिश्च तस्याम् – स्वाधिकारे भूतले इत्यर्थः। अर्थात् अपने राज्य मर्त्यलोक में। वर्तिष्यते – वृत्+लृट्+प्र०पु०ए०व० = रहेंगे–पहुँच जायेंगे।

मातलि—क्षरभर में चिरञ्जीवी (आप) अपने अधिकार वाली भूमि पर रहेंगे (अर्थात् अपने राज्य में पहुँच जायेंगे)।

राजा—(अधोऽवलोक्य) **वेगावतरणादाश्चर्यदर्शनः संलक्ष्यते मनुष्यलोकः। तथा हि—**

व्या० एवं श०—वेगावतारणात् – वेगेन अवतरणम् (अव+तृ+ल्युट्) वेगावतरणंम् तस्मात् = वेग से उतरने के कारण। आश्चर्यदर्शनः – आश्चर्यं दर्शनं यस्य सः (ब०व्री०) = आश्चर्यजनक।

राजा—(नीचे देखकर) वेग से उतरने के कारण मनुष्य-लोक आश्चर्यजनक दृश्य वाला दिखायी पड़ रहा है। क्योंकि—

शैलानामवरोहतीव शिखरादुन्मज्जतां मेदिनी
पर्णाभ्यन्तरलीनतां विजहति स्कन्धोदयात् पादपाः।
सन्तानैस्तनुभावनष्टसलिला व्यक्तिं भजन्त्यापगाः
केनाप्युत्क्षिपतेव पश्य भुवनं मत्पार्श्वमानीयते॥ ८॥

अन्वय—मेदिनी उन्मज्जतां शैलानां शिखरात् अवरोहति इव, पादपाः स्कन्धोदयात् पर्णाभ्यन्तरलीनतां विजहति, तनुभावनष्टसलिलाः आपगाः सन्तानैः व्यक्तिं भजन्ति, पश्य उत्क्षिपता केनापि भुवनं मत्पार्श्वम् आनीयते इव।

शब्दार्थ—मेदिनी = पृथ्वी। उन्मज्जताम् = उभरते हुये, प्रकट होते हुये। शैलानाम् = पर्वतों के। शिखरात् = शिखर से। अवरोहति इव = मानों नीचे उतर रही है। पादपाः = वृक्ष। स्कन्धोदयात् = तनों के प्रकट होने (दिखायी पड़ने) के कारण। पर्णाभ्यन्तरलीनताम् = पत्तों के भीतर छिपने को (पत्तों के भीतर छिपे हुये (रूप) को)। विजहति = छोड़ रहे हैं। तनुभावनष्टसलिलाः = कृशता (क्षीणता) के कारण जिनका जल दिखायी नहीं दे रहा था ऐसी (क्षीणता के कारण जलविहीन सी दिखायी देने वाली)। आपगाः = नदियाँ। सन्तानैः = विस्तार के कारण। व्यक्तिम् भजन्ति = प्रकटता को धारण कर रहीं है अर्थात् दृष्टिगोचर हो रही है। पश्य = देखिये। उत्क्षिपता = ऊपर फेंकने वाले। केनापि = किसी के द्वारा। भुवनम् = भूमण्डल। मत्पार्श्वम् = मेरे समीप। आनीयते इव = मानो लाया जा रहा है।

अनुवाद—पृथ्वी ऊपर की ओर उठते हुये (उभरते हुये) पर्वतों के शिखर से मानो नीचे उतर रही है। वृक्ष तनों के प्रकट होने (दिखायी पड़ने) के कारण (मानो) पत्तों के भीतर छिपना छोड़ रहे हैं। कृशता (क्षीणता) के कारण जलविहीन सी दिखायी पड़ने वाली नदियाँ विस्तार के कारण (मानो) प्रकट हो रही हैं। देखिये, ऐसा मालूम पड़ता है कि भूमण्डल मानो किसी के द्वारा उछालकर मेरे पास लाया जा रहा है।

संस्कृत व्याख्या—**मेदिनी** – पृथ्वी, **उन्मज्जतां** – प्रकटीभवताम् , **शैलानां** – पर्वतानाम् , **शिखरात्** – शृङ्गात् , **अवरोहति इव** – अधोयाति इव, **पादपाः** – वृक्षाः, **स्कन्धोदयात्** – प्रकाण्डानां प्राकट्यात् , **पर्णाभ्यन्तरलीनतां** – पर्णानां पत्राणां मध्ये लीनतां (तदाकारतामित्यर्थः) गुप्तताम् , **विजहति** – त्यजन्ति, **तनुभावनष्टसलिलाः** – तनुभावेन कृशतया अदृश्यं जलं यासां तादृश्यः, **आपगाः** – नद्यः, **सन्तानैः** – विस्तारैः, (दृष्टौ), **व्यक्तिं भजन्ति** – प्राकट्यं व्रजन्ति प्रकटीभवन्ति, **पश्य** – अवलोकय, **उत्क्षिपता** – कन्दुकवदूर्ध्वं निक्षिपता, **केनापि** – जनेन, **भुवनं** – भूमण्डलम् , **मत्पार्श्वम्** – मम समीपे, **आनीयते इव** – प्राप्यते इव।

संस्कृत-सरलार्थः—भूमण्डलसमीपमागच्छन् राजा मातलिं वक्ति – 'भवान् पश्यतु यदधोदृश्यमानेयं पृथ्वी प्रकटीभवतां पर्वतानामग्रभागेभ्योऽवतरतीव परिलक्ष्यते। अधो लक्ष्यमाणा इमे वृक्षाः सम्प्रति स्वपत्राभ्यन्तरगुप्ततां परित्यजन्ति – अर्थात् स्पष्टतो दृश्यन्ते दूरादवलोकनात् क्षीणतया सलिलविहीना इव दृश्यमाना नद्य इदानीं पूर्णजलाः सत्यो नयनगोचरत्वं यान्ति। अवलोकय, साम्प्रतमेवं प्रतीयते यत् केनापि समुत्क्षिप्येदं भूमण्डलं मत्समीपं प्राप्यते इव।

व्याकरण—स्कन्धोदयात् – स्कन्धानां उदयात् (तत्पु०)। पर्णाभ्यन्तरलीनतां – पर्णानाम् अभ्यन्तरे लीनताम् (तत्पु०)। तनुभावनष्टसलिलाः – तनुभावेन नष्टानि सलिलानि यासां ताः (बहु०)। उत्क्षिपता – उत्+क्षिप+शतृ, तृ०एक०। विजहति – वि+हा+लट् प्र०पु०ए०व०। व्यक्तिम् – वि+अञ्ज+क्तिन्। उन्मज्जताम् – उत्+मज्ज+शतृ – षष्ठी बहुवचन।

कोष—'अस्त्री प्रकाण्डः स्कन्धः स्यात्' – इत्यमरः। 'सलिलं कमलं जलम्' इति धरणिः।

अलङ्कार—(१) इस श्लोक में 'अवरोहतीव' तथा 'उत्क्षिपतेव' में इव सम्भावना के अर्थ में प्रयुक्त है अतः **'उत्प्रेक्षा'** अलङ्कार है। ल०द्र० १/१८ श्लो०। 'मत्पार्श्वमानीयते' – यहाँ

उत्प्रेक्षावाचक 'इवादि' शब्दों का प्रयोग नहीं हुआ है पर 'अनीयते इव' इस प्रकार व्याख्या करने पर **'गम्योत्प्रेक्षा'** है। (२) सम्पूर्ण पद्य में आकाश से उतरते हुये रथ के समय सभी वस्तुओं का स्वाभाविक वर्णन होने से **'स्वभावोक्ति'** अलङ्कार है। ल०द्र० १/७ श्लो०। (३) चतुर्थ चरण के वाक्यार्थ के प्रति प्रथम तीन चरणों के वाक्यार्थ हेतु हैं, अतः **'काव्यलिङ्ग'** अलङ्कार है। ल०द्र० १/४ श्लो०।

छन्द—इस पद्य में **'शार्दूलविक्रीडित'** छन्द है। ल०द्र० १/१४ श्लो०।

टिप्पणी—(१) **मेदिनी** – पुराणें के अनुसार विष्णु ने मधु और कैटभ नामक राक्षसों को मारा था जिससे पृथ्वी उनकी चर्बी (मेदस्) से व्याप्त हो गयी। अतः पृथ्वी को मेदिनी कहा जाता है – मधुकैटभयोरासीन्मेदसैव परिप्लुता। तेनेयं मेदिनी ख्याता प्रोच्यते ब्रह्मवादिभिः॥ देवीभागवत में भी कहा गया है—'मधुकैटभयोर्मेदःसंयोगान्मेदिनी स्मृता। धारणाच्च धरा प्रोक्ता पृथिवी विस्तरयोगतः'॥ (२) आकाश में काफी ऊँचाई पर उड़ते हुये वायुयान से नीचे पृथ्वी पर उतरते हुये नीचे जैसा दिखायी पड़ता है, उसी का वर्णन इस श्लोक में किया गया है। पहले तो पृथ्वी और पर्वतों का भेद प्रतीत नहीं होता, किन्तु ज्यों-ज्यों नीचे की ओर आते हैं त्यों-त्यों पृथ्वी पर्वत की चोटियों से नीचे सरकती हुयी सी दिखायी पड़ती है। दूर से पत्तों में छिपे पेड़ निकट आने पर दिखायी पड़ने लगते हैं। दूर से (ऊँचाई से) नदियों का जल नहीं दिखायी देता, किन्तु नीचे आने पर वे जलयुक्त दिखायी पड़ने लगती हैं। (३) रेल वायुयान इत्यादि से यात्रा करते समय ऐसा प्रतीत होता है कि पृथ्वी और वृक्षादि चल रहे हैं। आकाश मार्ग से पृथ्वी की ओर रथ से आते हुये राजा दुष्यन्त को ऐसा प्रतीत हो रहा है कि कोई व्यक्ति पृथ्वी को उछाल कर उनकी ओर ले जा रहा है।

मातलिः—साधु दृष्टम्। (सबहुमानमवलोक्य) **अहो, उदाररमणीया पृथ्वी।**

व्या० एवं श०—उदाररमणीया – उदारा चासौ रमणीया = विशाल और रमणीय। सबहुमानम् – बहुमानेन सहितम् = अत्यधिक आदरपूर्वक।

मातलि—(आप ने) ठीक देखा। (अत्यधिक आदरपूर्वक देखकर) अहो, यह पृथ्वी (कितनी) विशाल और रमणीय (चित्ताकर्षक) है।

राजा—मातले, कतमोऽयं पूर्वापरसमुद्रावगाढः कनकरसनिस्यन्दी सान्ध्य इव मेघपरिघः सानुमानवलोक्यते?

व्या० एवं श०—कतमः – किम्+उतमच् (तम) = बहुतों में कौन। पूर्वापरसमुद्रावगाढः – पूर्वम् अपरं च समुद्रम् अवगाढः – तत्पु० = पूर्व और पश्चिम समुद्र तक प्रविष्ट (फैला हुआ)। कनकरसनिस्यन्दी – कनकरसस्य निस्यन्दः सः अस्यास्तीति मत्वर्थ में 'इनि' (इन्) = स्वर्ण-रस को बहाने वाला। निस्यन्द की ये दोनों व्युत्पत्तियाँ ठीक हैं – निष्यन्द तथा निस्यन्द। यहाँ 'अनुविपर्य...' (८-३-७२) से 'स्' को वैकल्पिक 'ष्' होता है। सान्ध्यः – सन्ध्यायाः अयम् (सन्ध्या+अण्) सान्ध्यः = सन्ध्याकालीन। मेघपरिघः – मेघानां-जलदानां परिघः – अर्गलः इव = मेघ की अर्गला के समान। यह पद 'सानुमान्' इस पद का विशेषण है। यहाँ 'परिघ' 'अर्गला' से औपम्यविधान पर्वत की दीर्घाकारता को प्रदर्शित करने के लिये है। सानुमान् – सानुः अस्यास्तीति – सानु+मतुप् = चोटी वाला अर्थात् पर्वत।

राजा—मातलि, यह पूर्व और पश्चिम समुद्र में प्रविष्ट, सुवर्ण के रस को बहाने वाला

सायंकालीन मेघों की अर्गला (परिधि) के समान यह कौन पर्वत दिखायी पड़ रहा है ?

मातलिः—**आयुष्मन् , एष खलु हेमकूटो नाम किंपुरुषपर्वतस्तपःसंसिद्धिक्षेत्रम् । पश्य**—

व्या० एवं श०—हेमकूटः – हेम्नः काञ्चनस्य कूटानि शृंङ्गाणि यस्य सः = सोने की चोटी वाला पर्वत । किंपुरुषपर्वतः – किन्नरों का पर्वत । तपःसंसिद्धिक्षेत्रम् – तपसः संसिद्धेः क्षेत्रम् = तपस्या की सिद्धि का क्षेत्र ।

मातलि—चिरञ्जीविन् , यह तपस्या का सिद्धि-क्षेत्र किन्नरों का हेमकूट नामक पर्वत है । देखिये—

टिप्पणी—**'हेमकूटो नाम किंपुरुषपर्वतः'** – किंपुरुष का अर्थ किन्नर होता है । इनका शरीर मनुष्य का होता है और सिर घोड़े का। अमरकोष में कहा गया है—'स्यात्किन्नरः किम्पुरुषसस्तुरङ्गवदनः' । इन्हें कुबेर का सेवक कहा जाता है । इन किंपुरुषों (किन्नरों) का निवास स्थानभूत पर्वत 'हेमकूट' है । 'हेमकूट' का यह नाम अन्वर्थक है क्योंकि वह सोने की चोटी वाला है । किंपुरुषपर्वत को किंपुरुषवर्षपर्वत भी कहा जाता है । प्राचीन भारतीय साहित्य में नौ 'वर्ष' माने गये हैं । उनके नाम हैं—(१) कुरु, (२) हिरण्मय, (३) रम्यक, (४) इलावृत, (५) हरि, (६) केतुमाल, (७) भद्राश्व, (८) किंपुरुष-किन्नर, (९) भारत । किंपुरुषवर्ष भारत के उत्तर में स्थित माना गया है । 'हेमकूट' इस वर्ष का प्रधान पर्वत है । यह पर्वत हिमालय के उत्तर कैलास के समीप माना जाता है ।

'हेमकूट' का उल्लेख विष्णु पुराण में आया है—'हिमवान् हेमकूटश्च निषधस्तस्य दक्षिणे । नीलश्वेतश्च भृङ्गी च उत्तरे वर्षपर्वताः ।। लक्ष्यमाणौ द्वौ मध्यौ इति । किंपुरुषपर्वत का उल्लेख भी मिलता है—'भारतं प्रथमं वर्षं ततः किंपुरुषः स्मृतम् । हरिवर्षं तथैवान्यन्मेरो- र्दक्षिणतो द्विज ।। – इति ।

स्वायम्भुवान्मरीचेर्यः प्रबभूव प्रजापतिः ।
सुरासुरगुरुः सोऽत्र सपत्नीकस्तपस्यति ।। ९ ।।

अन्वय—स्वायम्भुवात् मरीचेः यः प्रजापतिः प्रबभूव, सुरासुरगुरुः सः सपत्नीकः अत्र तपस्यति ।

शब्दार्थ—स्वायम्भुवात् = ब्रह्मा के पुत्र । मरीचेः = मरीचि से । यः = जो । प्रजापतिः = प्रजापति । प्रबभूव = उत्पन्न हुये हैं । सुरासुरगुरुः = देवताओं और राक्षसों के पिता (गुरु) । सः = वे । सपत्नीकः = पत्नी के साथ । अत्र = यहाँ । तपस्यति = तपस्या कर रहे हैं ।

अनुवाद—ब्रह्मा के पुत्र मरीचि से जो प्रजापति (कश्यप) उत्पन्न हुये हैं, देवताओं और राक्षसों के पिता वे (प्रजापति) (अपनी) पत्नी के साथ यहाँ तपस्या कर रहे हैं ।

संस्कृत व्याख्या—**स्वायम्भुवात्** – स्वयम्भूः ब्रह्मा तस्य मानसपुत्रात् , **मरीचेः** – तन्नामकात् , **यः प्रजापतिः** – जगत्स्रष्टा, **प्रबभूव** – जज्ञे, **सुरासुरगुरुः** – देवदानवपिता, **सः** – प्रजापतिः, **सपत्नीकः** – पत्न्या सहितः, **अत्र** – अस्मिन् पर्वते, **तपस्यति** – तपश्चरति ।

संस्कृत-सरलार्थः—मातलिस्तपःसंसिद्धिक्षेत्रं हेमकूटं वर्णयन् राजानं वदति यत् पर्वतेऽस्मिन् स्वायम्भुवान्मरीचेर्यः प्रजापतिरभूत्, सुरासुरजनकः स स्वधर्मपत्न्या सहितः पर्वतेऽस्मिन् तपस्याञ्चरति ।

व्याकरण—स्वायम्भुवान् – स्वयम् आत्मना भवतीति स्वयम्भूः ब्रह्मा तस्य अपत्यम्

इति स्वायम्भुवः (स्वयम्+भू+अण्) तस्मात् = ब्रह्मा पुत्र से। सुरासुरगुरुः – सुराणामसुराणाञ्च गुरुः। तपस्यति – तपः चरति – 'कर्मणो रोमन्थ... (३-१-१५) से क्यङ् (य) और 'तपसः परस्मैपदं च' वार्तिक से रस्मैपद – लट्+प्र०पु०ए०व०।

अलङ्कार—प्रस्तुत श्लोक में 'अनुप्रास' अलङ्कार है।

छन्द—पद्य में **'पथ्यावक्त्र'** छन्द है। ल०द्र० १/५ श्लो०।

टिप्पणी—प्रजापतिः – प्रजापति का अभिप्राय कश्यप से है। मरीचि के पुत्र होने के कारण उन्हें 'मारीच' भी कहते हैं। इनकी अनेक पत्नियों (दक्ष की चौदह कन्याओं) में दो मुख्य थीं १. दिति, २. अदिति। 'दिति' से दैत्य 'दितेरपत्यं पुमान् दैत्यः' और 'अदिति' से देवता 'अदितेरपत्यं पुमान् आदित्यः – देवता' उत्पन्न हुये। इस प्रकार ये देवों तथा दैत्यों – दोनों के पिता (जनक) कहे जाते हैं। इसीलिये इन्हें 'सुरासुराणां गुरुः' कहा गया है। महाभारत के सात प्रजापतियों और विष्णु पुराण के नौ प्रजापतियों में इनका नाम परिगणित नहीं है। महाभारत में कश्यप को मरीचि का पुत्र कहा गया है—'मरीचेः कश्यपः पुत्रः कश्यपात्तु इमाः प्रजाः। प्रजज्ञिरे महाभागा दक्षकन्याश्चतुर्दश' ॥

राजा—तेन ह्यनतिक्रमणीयानि श्रेयांसि। प्रदक्षिणीकृत्य भगवन्तं गन्तुमिच्छामि।

व्या० एवं श०—अनतिक्रमणीयानि – अति+क्रम+अनीयर अतिक्रमणीयम् तानि अतिक्रमणीयानि; न अतिक्रमणीयानि अनतिक्रमणीयानि = अनुल्लङ्घनीय। यह पद श्रेयांसि का विशेषण है। दोनों का सम्मिलित भाव है कि कल्याणकर वस्तुओं का उल्लङ्घन (अनादर-उपेक्षा) नहीं करनी चाहिये। इसका वास्तविक अभिप्राय यह है कि कल्याणकर मङ्गलप्रद व्यक्ति या वस्तु यदि उपस्थित हो तो उसको प्रणाम-प्रदक्षिणा आदि करके कहीं जाना चाहिये। इस आचारसंहिता का उल्लङ्घन करने वाला व्यक्ति सुखी नहीं होता। इसीलिये दुष्यन्त कश्यप मुनि को प्रणाम आदि करते हुये आगे जाना चाहते हैं। रघुवंश में इसी प्रकार का भाव व्यक्त किया गया है—प्रतिबध्नातिहि श्रेयः पूज्यपूजाव्यतिक्रमः। रघु० १/७९। **प्रदक्षिणीकृत्य** – प्रगतं दक्षिणं प्रदक्षिणमिति (प्रा०स०) न प्रदक्षिणम् प्रदक्षिणमप्रदक्षिणं प्रदक्षिणं कृत्वा इति प्रदक्षिण+च्वि+कृ+क्त्वा – ल्यप् = प्रदक्षिणा कर। प्रदक्षिण शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार भी की जा सकती है—'प्रकृष्टं दक्षिणमस्य इति प्रदक्षिणम् (अव्ययी०) तत् अस्ति अस्य इति प्रदिक्षण+अच् (मत्वर्थे) प्रदक्षिणः। मनु के अनुसार ये वस्तुयें अथवा प्राणी प्रदक्षिणा के योग्य हैं—'मृदङ्गं दैवतं विप्रं घृतं मधु चतुष्पदम्। प्रदक्षिणानि कुर्वीत प्रख्यातं च वनस्पतिम्' ॥ मनु०।

राजा—तो कल्याण करने वाली वस्तुयें अनुलङ्घनीय होती हैं। मैं भगवान् (कश्यप) की प्रदक्षिणा करके ही (यहाँ से) जाना चाहता हूँ।

मातलि—प्रथमः कल्पः। (नाट्येनावतीर्णौ)

व्या० एवं श०—प्रथमः कल्पः = उत्तम विचार।

मातलि—यह विचार ठीक है। (अभिनयपूर्वक दोनों उतर गये)।

राजा—(सविस्मयम्)—

राजा—(आश्चर्यपूर्वक)—

उपोढशब्दा न रथाङ्गनेमयः प्रवर्तमानं न च दृश्यते रजः।
अभूतलस्पर्शतयाऽनिरुद्धतस्तवावतीर्णोऽपि रथो न लक्ष्यते ॥ १० ॥

अन्वय—अभूतलस्पर्शतया रथाङ्गनेमयः उपोढशब्दाः न, रजः च प्रवर्तमानं न दृश्यते, अनिरुद्धतः तव रथः अवतीर्णः अपि न लक्ष्यते।

शब्दार्थ—अभूतलस्पर्शतया = पृथ्वी का स्पर्श न होने के कारण। रथाङ्गनेमयः = रथ के पहियों की नेमियाँ (प्रान्तभाग)। उपोढशब्दाः न = जिनके द्वारा शब्द उत्पन्न किया गया है ऐसा नहीं (जिसने शब्द (आवाज) नहीं किया है। रजः = धूलि। च = और। प्रवर्तमानम् = उठती (उड़ती) हुयी। न = नहीं। दृश्यते = दिखायी पड़ रही हैं। अनिरुद्धतः = ऊपर-नीचे न होने के कारण, (उद्घात (झटका) न लगने के कारण)। तव = तुम्हारा। रथः = रथ। अवतीर्णः = उतरा हुआ। अपि = भी। न लक्ष्यते = नहीं दिखायी दे रहा है (नहीं प्रतीत हो रहा है)।

अनुवाद—पृथ्वी का स्पर्श न होने के कारण रथ के पहियों की नेमियों (प्रान्तभागों) ने शब्द नहीं किया है और (कहीं) धूल भी उठती (उड़ती) हुयी नहीं दिखायी पड़ रही है। (झटका उद्घात) न लगने के कारण (ऊपर-नीचे न होने के कारण) तुम्हारा (आपका) रथ (पृथ्वी पर) उतरा हुआ भी (उतर गया है ऐसा) प्रतीत नहीं हो रहा है।

संस्कृत व्याख्या—**अभूतलस्पर्शतया** – पृथिवीतलस्पर्शाभावेन, **रथाङ्गनेमयः** – रथाङ्गानां रथचक्राणां नेमयः चक्रप्रान्तभागाः, **उपोढशब्दाः न** – धृताः शब्दाः याभिः तादृश्यो भवन्ति, निःशब्दाः भवन्तीत्यर्थः, **रजः च** – धूलि च, **प्रवर्तमानम्** – तुरगखुरैः उद्गच्छत् , **न दृश्यते** – नावलोक्यते, **अनिरुद्धतः** – उद्घताभावात् अश्वप्रग्रहानिदाधात् , **तव** – मातलेः, **रथः** – स्यन्दनः, **अवतीर्णः अपि** – भूतले समागतः अपि, **न** – दृश्यते अवतीर्ण इति न प्रतीयते।

संस्कृत-सरलार्थ—रथचालनकौशलविषये राजा मातलिं सविस्मयं वदति – मातले ! पृथिवीस्पर्शाभावेन रथचक्रप्रान्तभागा ध्वनिं कुर्वाणा न सन्ति। उड्डीयमाना धूलिरपि क्वचिन्न दृश्यते। उद्घाताभावात्तव मातले रथः पृथिवीतलमागतोऽपि 'समवतीर्ण' इति न लक्ष्यते।

व्याकरण—रथाङ्गनेमयः – रथाङ्गानां नेमयः (तत्पु०)। उपोढशब्दाः – उपोढाः शब्दाः यैः ते (बहु०)। अभूतलस्पर्शतया – नास्ति भूतलस्पर्शः यस्य तथाभूततया। अनिरुद्धतः न निरुद्धम् अनिरुद्धम् (न०त०) तस्मात् हेतो पञ्चमी। उपोढः – उप+वह+क्त। अवतीर्ण – अव+तॄ+क्त।

कोष—'चक्रं रथाङ्गं तस्यान्ते नेमिः स्त्री स्यादित्यमरः'।

अलङ्कार—(१) इस पद्य में रथावतरण रूप कारण के होने पर भी 'रथाङ्गनेमय उपोढशब्दो न' तथा 'प्रवर्तमानं रजो न दृश्यते' इन दो कार्यो के न होने के कारण यहाँ उक्तनिमित्ता **'विशेषोक्ति'** नामक अलङ्कार है। ल०द्र० ३/२३ श्लो०। (२) श्लोकगत पहले के वाक्य रथावतरण के ज्ञान के अभाव के प्रति हेतुरूप से कथित हैं अतः **'काव्यलिङ्ग'** अलङ्कार है। ल०द्र० १/४ श्लो०। (३) कुछ विद्वान् यहाँ 'अवतीर्णोऽपिं न लक्ष्यते' यहाँ पर **'विरोधाभास'** मानते हैं। ल०द्र० २/११ श्लो०।

छन्द—यहाँ **'वंशस्थ'** छन्द है। ल०द्र० ५/१७ श्लो०।

टिप्पणी—(१) जब पहिये की परिधि (रिम) की रगड़ पृथ्वी पर होती है तब आवाज (खड़खड़ाहट) होती है, धूलि उड़ती है और उद्घात (हचक) के कारण उसका रुकना भी मालूम हो जाता है। देवताओं का रथ भी देवताओं की भाँति पृथ्वी का स्पर्श नहीं करता—ऊपर ही रहता है। अतः रथ में खड़खड़ाहट नही हो रही है, धूल नहीं उड़ रही है और रथ का पृथ्वी पर उतरना भी नहीं मालूम हो रहा है।

मातलिः—एतावानेव शतक्रतोरायुष्मतश्च विशेषः ।

मातलि—इतनी ही इन्द्र (के रथ) की आप (के रथ) से विशेषता (अन्तर) है।

राजा—मातले, कतमस्मिन् प्रदेशे मारीचाश्रमः ?

राजा—हे मातलि, मरीचि के पुत्र (कश्यप, मारीचि) का आश्रम किस प्रदेश में (स्थान पर) है ?

मातलिः—(हस्तेन दर्शयन्)—

मातलि—(हाथ से दिखाता हुआ)—

वल्मीकार्धनिमग्नमूर्तिरुरसा सन्दष्टसर्पत्वचा
कण्ठे जीर्णलताप्रतानवलयेनात्यर्थसम्पीडितः ।
अंसव्यापि शकुन्तनीडनिचितं बिभ्रज्जटामण्डलं
यत्र स्थाणुरिवाचलो मुनिरसावभ्यर्कबिम्बं स्थितः ।। ११ ।।

अन्वय—वल्मीकार्धनिमग्नमूर्तिः सन्दष्टसर्पत्वचा उरसा जीर्णलताप्रतानवलयेन कण्ठे अत्यर्थसम्पीडितः अंसव्यापि शकुन्तनीडनिचितं जटामण्डलं बिभ्रत् स्थाणुः इव अचलः असौ मुनिः यत्र अर्कबिम्बम् अभिस्थितः ।

शब्दार्थ—वल्मीकार्धनिमग्नमूर्तिः = जिनका आधा शरीर वल्मीक (बिमोट-बांबी) में निमग्न (अर्थात् उससे आच्छादित-ढका हुआ) है ऐसे (वल्मीकसे आच्छादित हुये आधे शरीर वाले)। सन्दष्टसर्पत्वचा = जिस पर साँप की केंचुल लिपटी हुयी है ऐसी (लिपटी हुयी साँप की केंचुल वाली)। उरसा = छाती से युक्त। जीर्णलताप्रतानवलयेन = पुरानी लताओं के तन्तुओं के समूह (के लिपट जाने) के कारण। कण्ठे = गले में। अत्यर्थसम्पीडितः = अत्यधिक पीड़ित। अंसव्यापि = कन्धों तक फैले हुये (व्याप्त)। शकुन्तनीडनिचितं = पक्षियों के घोसलों से व्याप्त (परिपूर्ण)। जटामण्डलम् = जटाओं के समूह को। बिभ्रत् = धारण करते हुये। स्थाणुः इव = ठूँठ की भाँति। अचलः = निश्चल। असौ = ये। मुनिः = मुनि। यत्र = जहाँ। अर्कबिम्बम् अभि = सूर्यमण्डल को लक्षित कर (सूर्य मण्डल की ओर मुख कर)। स्थितः = स्थित है।

अनुवाद—बिमोट-बांबी से आच्छादित (ढके हुये) आधे शरीर वाले, लिपटी हुयी साँप की केंचुल वाली छाती से युक्त, पुरानी लताओं के तन्तुओं के समूह (के लिपट जाने) के कारण गले में अत्यधिक पीड़ित और कन्धे तक फैले हुये तथा पक्षियों के घोंसले से व्याप्त (परिपूर्ण) जटाओं के समूह को धारण करते हुये ठूँठ की भाँति निश्चल ये मुनि जहाँ पर सूर्य-मण्डल की ओर (मुख कर) स्थित हैं। (वहीं कश्यप ऋषि का आश्रम है)।

संस्कृत व्याख्या—वल्मीकार्धनिमग्नमूर्तिः – पिपीलिकाकृतस्तूपे अर्धं निमग्ना निविष्टा मूर्तिः शरीरं यस्य तथाभूतः सः, **सन्दष्टसर्पत्वचा** – संसक्ता नागानां कञ्चुकाः यत्र तेन, **उरसा** – वक्षसा युक्तः, **जीर्णलताप्रतानवलयेन** – जीर्णानां प्राचीनानां (शुष्काणां) वल्लरीतन्तूनां वलयेन वेष्टनेन, **कण्ठे** – ग्रीवायाम्, **अत्यर्थसम्पीडितः** – अत्यधिकं क्लेशितः, **अंसव्यापि** – स्कन्धव्यापि, **शकुन्तनीडनिचितं** – शकुन्तानां पक्षिणां कुलायैः व्याप्तम्, **जटामण्डलं** – जटानां समूहम्, **बिभ्रत्** – धारयन्, **स्थाणुः इव** – शुष्कवृक्षकाण्डः इव, **अचलः** – निश्चलः, **असौ मुनिः** – अयम् ऋषिः, **यत्र** – यस्मिन् स्थाने, **अर्कबिम्बम् अभि** – सूर्यमण्डलं लक्ष्यीकृत्य, **स्थितः** – तिष्ठति।

संस्कृत-सरलार्थः—मारीचाश्रमं हस्तेन निर्दिशन् मातलिर्वदति राजानम् – यत्र

स्थाणुरिवाचलो मुनिर्मारीचः सूर्यमण्डलं लक्ष्यीकृत्य तिष्ठति स एव मारीचाश्रमोऽस्ति। तपश्चरतोऽस्यमुनेरर्धशरीरं वल्मीकेनाच्छादितमस्ति। अस्य वक्षःस्थले सर्पत्वचः संलग्नाः सन्ति। शुष्कलतातन्तुवेष्टनेनायं मुनिः कण्ठस्थले भृशं पीडितोऽस्ति तथा चायं स्कन्धव्याप्तं पक्षिनीडभरितं जटामण्डलं धारयन् राजते।

व्याकरण—वल्मीकार्धनिमग्नमूर्तिः – वल्मीके अर्धं निमग्ना (नि+मस्ज+क्त) मूर्तिः यस्य सः (बहु०)। सन्दष्टसर्पत्वचा – सन्दष्टा (सम्+दश+क्त+टाप्) सर्पाणां त्वचः यत्र तेन (बहु०)। जीर्णलताप्रतानवलयेन – जृ+क्त+टाप् – जीर्णा तासाम् जीर्णानां लताप्रतानानां वलयेन (बहु०)। अंसव्यापि – अंसौ व्याप्नोति इति तत्। शकुन्तनीडनिचितं – शकुन्तानां नीडैः निचितम् (तत्पु०) नि+चि+क्त। बिभ्रत् – वि+भृ+शत्। अभ्यर्कबिम्बम् – यहाँ 'अभिरभागे' सूत्र से 'अभि' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा और 'कर्मप्रव' सूत्र से 'अर्क' में द्वितीया हुई है।

कोष—'वल्ली तु व्रततिर्लता' – इत्यमरः। 'कुलायो नीडमस्त्रियाम्'– इत्यमरः।

अलङ्कार—(१) 'स्थाणुरिवाचलः' में श्रौती **'पूर्णोपमा'** अलङ्कार है। ल०द्र० १/५। (२) पूर्वोक्त सभी विशेषण 'मारीच' की भाँति 'स्थाणु' के पक्ष में भी लगते हैं अतः द्व्यर्थक होने के कारण **'श्लेष'** अलङ्कार है। ल०द्र० २/७ श्लो०। (३) सभी विशेषणों के साभिप्राय होने से **'परिकर'** अलङ्कार है। ल०द्र० १/२३ श्लो०।

छन्द—यहाँ **'शार्दूलविक्रीडित'** छन्द है। ल०द्र० १/१४ श्लो०।

टिप्पणी—(१) प्रायः सूखे वृक्ष अथवा ठूँठ पर दीमक मिट्टी का ऊँचा ढेर बना देते हैं उसे वल्मीक या बांबी कहते हैं। ठूँठ समझकर समाधि लगाये हुये मुनि के चारों ओर दीमकों ने बामी बना ली है। मुनि की छाती में केंचुले लिपटी हुयी है और पक्षियों ने मुनि को सूखा वृक्ष और जटाओं को झाड़ी समझकर उनमें अपना घोसला बना लिया है। मुनि को इनका पता नहीं है। इसमें निर्विकल्पक समाधि की पूर्ण अवस्था और उनकी कठोर तपस्या की अभिव्यक्ति हो रही है।

राजा—नमस्ते कष्टतपसे।

व्या० एवं श०—कष्टतपसे – कष्टं कृच्छ्रं तपः यस्य तस्यैः, कठोर तप वाले। 'नमः स्वस्ति' से 'चतुर्थी'।

राजा—कठोर तपस्या करने वाले (मुनि) को (मेरा) प्रणाम है।

मातलिः—(संयतप्रग्रहं रथं कृत्वा) **एतावदितिपरिवर्धितमन्दारवृक्षं प्रजापतेराश्रमं प्रविष्टौ स्वः।**

व्या० एवं श०—संयतप्रग्रहं – संयतः कराभ्यां धृतः प्रग्रहः यस्य सः तम् = लगाम खींचकर। अदितिपरिवर्धितमन्दारवृक्षम् – अदित्या कश्यपपत्न्या परिवर्धित जलसेकादिना वृद्धिं प्रापितः मन्दारवृक्षः यस्मिन् तम् (ब०व्री०) = अदिति के द्वारा परिवर्धित मन्दारवृक्ष वाले।

मातलि—(रथ के घोड़ों की लगाम खींचकर) अदिति के द्वारा (जल सेचनादि द्वारा) परिवर्धित मन्दार वृक्ष वाले, प्रजापति (कश्यप) के आश्रम में हम लोग प्रविष्ट हो गये हैं।

राजा—स्वर्गादधिकतरं निर्वृतिस्थानम्। अमृतह्रदमिवावगाढोऽस्मि।

व्या० एवं श०—निर्वृतिस्थानम् – निर्वृतिः – निर्+वृ+क्तिन् निर्वृतिः तस्याः स्थानम् (ष०त०) = सुख-शान्ति का स्थान। 'निर्वृतिः सुस्थित्यां स्यादस्तंगमनसौख्ययोः' इति विश्वप्रकाशकोषः। अमृत ह्रदम् – अमृतस्य ह्रदः तम् – (ष०त०)। 'पीयूषममृतं सुधा' इत्यमरः।

राजा—स्वर्ग से भी अधिक शान्तिप्रद (सुखप्रद) स्थान है। (इस स्थान में आकर) मानो मैं अमृत के सरोवर में डुबकी लगा रहा हूँ।

मातलिः—(रथं स्थापयित्वा) **अवतरत्वायुष्मान्।**

व्या० एवं श०—अवतरतु - अव+तृ+लोट्+प्र०पु०ए०व० = उतरें।

मातलि—(रथ को रोककर) चिरञ्जीवी (आप) उतरें।

राजा—(अवतीर्य) **मातले, भवान् कथमिदानीम् ?**

राजा—(उतरकर) हे मातलि, अब आप क्या (करेंगे) ?

मातलिः—**संयन्त्रितो मया रथः। वयमप्यवतरामः।** (तथा कृत्वा) **इत आयुष्मान्,** (परिक्रम्य) **दृश्यन्तामत्रभवतामृषीणां तपोवनभूमयः।**

व्या० एवं श०—संयन्त्रितः - सम्+यत्रि+क्त = अच्छी प्रकार रोका गया।

मातलि—मेरे द्वारा रथ अच्छी प्रकार रोक दिया गया है। हम लोग भी (अब) उतरते हैं। (वैसा कर अर्थात् उतरकर) चिरञ्जीविन्, इधर से (आइये)। (घूमकर) ऋषियों के तपोवन के स्थानों को (आप) देखें।

राजा—**ननु विस्मयादवलोकयामि।**

राजा—वस्तुतः मैं (स्थानों को) आश्चर्य से देख रहा हूँ।

प्राणानामनिलेन वृत्तिरुचिता सत्कल्पवृक्षे वने
तोये काञ्चनपद्मरेणुकपिशे धर्माभिषेकक्रिया।
ध्यानं रत्नशिलातलेषु विबुधस्त्रीसन्निधौ संयमो
यत् काङ्क्षन्ति तपोभिरन्यमुनयस्तस्मिंस्तपस्यन्त्यमी।। १२।।

अन्वय—सत्कल्पवृक्षे वने अनिलेन प्राणानां वृत्तिः उचिता, काञ्चनपद्मरेणुकपिशे तोये धर्माभिषेकक्रिया, रत्नशिलातलेषु ध्यानम्, विबुधस्त्रीसन्निधौ संयमः, अन्यमुनयः तपोभिः यत् काङ्क्षन्ति तस्मिन् अमी तपस्यन्ति।

शब्दार्थ—सत्कल्पवृक्षे = विद्यमान हैं कल्पवृक्ष जिसमें। वने = वन में। अनिलेन = वायु के द्वारा (वायु पीकर)। प्राणानाम् = प्राणों का (जीवन का)। वृत्तिः = व्यापार (यापन)। उचिता = अभ्यस्त अर्थात् वायु पीकर जीवन यापन के अभ्यस्त हैं। 'अभ्यस्तेऽप्युचितं न्याय्यम्' इतियादवः। काञ्चनपद्मरेणुकपिशे = स्वर्ण-कमलों के पराग से पीले। तोये = जल में। धर्माभिषेकक्रिया = धार्मिक स्नान-कार्य। रत्नशिलातलेषु = रत्नों के शिलाखण्डों पर। ध्यानम् = ध्यान। विबुधस्त्रीसन्निधौ = देवाङ्गनाओं के समीप में। संयमः = संयम (इन्द्रिय-निग्रह)। अन्यमुनयः = दूसरे मुनि। तपोभिः = तपस्याओं के द्वारा। यत् = जिन (वस्तुओं को)। काङ्क्षन्ति = चाहते हैं, इच्छा करते हैं। तस्मिन् = उनमें उनके सानिध्य में। अमी = ये। तपस्यन्ति = तपस्या करते हैं।

अनुवाद—कल्पवृक्षों वाले (इस) वन में (ये मुनि) वायु भक्षण के द्वारा (अपना) जीवन-यापन करने के अभ्यस्त हैं, स्वर्ण-कमलों के पराग से पीले जल में धार्मिक स्नान-कार्य करते हैं, रत्नों के शिलाखण्डों पर (बैठकर) ध्यान लगाते हैं तथा देवाङ्गनाओं के समीप में रहकर संयम (इन्द्रिय-निग्रह) करते हैं। दूसरे मुनि (अपनी) तपस्याओं के द्वारा जिन (वस्तुओं) को चाहते हैं, उन्हीं (वस्तुओं के बीच) में ये रहकर (मुनि) तपस्या करते हैं।

संस्कृत व्याख्या—सत्कल्पवृक्षे – विद्यमानाः कल्पवृक्षाः यस्मिन् , **तस्मिन् वने** – अरण्ये, **अनिलेन** – वायुना, **प्राणानां** – जीवनानाम् , **वृत्तिः** – धारणक्रिया, **उचिता** – अभ्यस्ता भवति वायुभक्षणेनैवैभिजीवनयात्रा क्रियते नतु कल्पवृक्षप्रदत्तस्वादुफलादिभिरित्यर्थः । **काञ्चनपद्मरेणुकपिशे** – सुवर्णकमलानां परागैः पिङ्गले, **तोये** – जले, **एषां धर्माभिषेकक्रिया** – धर्मिकस्नानकर्म, न तु विलासार्थं जलक्रीडायै जलावगाहनमित्यर्थः भवतीति शेषः, **रत्नशिलातलेषु** – मणिमयशिलापट्टेषु, **ध्यानम्** – ईश्वरचिन्तनम् , विधीयते इति शेषः, **विबुधस्त्रीसन्निधौ** – देवानां युवतीनां समीपे, **संयमः** – इन्द्रियनिग्रहः, क्रियते इति शेषः, **अन्यमुनयः** – अन्यतपस्विनः, **तपोभिः** – तपस्याभिः, **यत्** – वस्तु (यानि वस्तूनि), **काङ्क्षन्ति** – इच्छन्ति, **तस्मिन्** – तादृशभोगयुक्तवस्तुनि सति तादृशभोग्यवस्तुषु प्राप्तेष्वपीत्यर्थः । **अमी** – मुनयः, **तपस्यन्ति** – तपश्चरन्ति ।

संस्कृत-सरलार्थः—अभीष्टवस्तुदायकेषु कल्पवृक्षेषु विद्यमानेष्वपि – इमे मुनयः केवलं वायुभक्षणद्वारा स्वजीवन धारयन्ति । एते जलविहारतोयेष्वपि स्वर्णकमलपरागपिङ्गलेषु धार्मिकस्नानं कुर्वन्ति, न तु जलक्रीडां विदधतीत्यर्थः । मणिमयशिलाखण्डेषु स्थित्वा ध्यानं तथा देवाङ्गना-समीपे – इन्द्रियनिग्रहं कुर्वन्ति । अपरे मुनयो यानि वस्तूनि कामयन्ते स्वतपोभिस्तेषु प्राप्तेष्वपीमे तपश्चरन्ति ।

व्याकरण—काञ्चनपद्मरेणुकपिशे – काञ्चनपद्मानां रेणुभिः कपिशे त० । वृत्तिः – वृत्+क्तिन् । रत्नशिलातलेषु – रत्नशिलानां तलेषु – त० । ध्यानम् – ध्यै+ल्युट् । विबुधस्त्रीसन्निधौ – विबुधस्त्रीणां सन्निधौ – त० । काङ्क्षन्ति – काङ्क्ष+लट् प्र०पु०ब०व० ।

कोष—'अभ्यस्तेऽप्युचितं न्याय्यम्' इति यादवः । 'पञ्चैते देवतरवो मन्दारः पारिजातकः । संतानः कल्पवृक्षश्च पुंसि वा हरिचन्दनम् ॥ – इत्यमरः ।

अलङ्कार—(१) यहाँ कल्पवृक्ष कमलपद्मपुरेणुकपिश जल, रत्नशिला, देवाङ्गना आदि कारणों के विद्यमान रहने पर भी वायुभक्षण से प्राणधारण, स्नान ध्यान आदि विरुद्ध कार्यों का कथन होने से—कारण के रहने पर कार्याभाव रूप – उक्तनिमित्ता **'विशेषोक्ति'** अलङ्कार है । ल०द्र० ३/२२ । (२) चतुर्थ चरण में वर्णित वाक्यार्थ के प्रति प्रथम तीन चरण के वाक्यार्थ कारण रूप से उपन्यस्त हैं अतः **'काव्यलिङ्ग'** अलङ्कार है । ल०द्र० १/४ । (३) सामान्य मुनियों की अपेक्षा यहाँ के मुनियों के आधिक्य का वर्णन है अतः 'व्यतिरेक' अलङ्कार है । ल०द्र० १/२० ।

छन्द—'शार्दूलविक्रीडित' छन्द है । ल०द्र० १/१४ ।

टिप्पणी—(१) यह श्लोक मुनियों के कठोर संयम का आदर्श प्रस्तुत करता है । उपभोग के साधनों के न होने पर तो सभी लोग संयमी होते हैं । उनके रहने पर भी जो संयमी बन सके, वही वास्तविक संयमी है । इस आश्रम में कल्पवृक्ष, स्वर्ण-कमल, रत्नों के शिलाखण्ड और देवाङ्गनाओं (अप्सराओं) के विद्यमान रहने पर भी मुनिजन तपस्याकर रहे हैं, जबकि अन्य मुनिगण तपस्याओं द्वारा इन वस्तुओं को पाने की अभिलाषा रखते हैं ।

मातलिः—उत्सर्पिणी खलु महतां प्रार्थना । (परिक्रम्य । आकाशे) **अये वृद्धशाकल्य, किमनुतिष्ठति भगवान् मारीचः ? किं ब्रवीषि । दाक्षायण्या पतिव्रताधर्ममधिकृत्य पृष्टस्तस्यै महर्षिपत्नीसहितायै कथयतीति ।**

व्याकरण एवं शब्दार्थ—उत्सर्पिणी – उत् ऊर्ध्वम् उपरि सर्पति गच्छति या सा तथोक्ता = ऊर्ध्वगामिनी – ऊपर की ओर जाने वाली – ऊँची । उत्सर्पिणी – उत्+सृप्+णिनि+ङीप् । प्रार्थना = अभिलाषा । दाक्षायिण्या – दक्षस्य अपत्यं स्त्री दाक्षायणी दक्ष+फक्+आयन+ङीप् तया =

अदिति के द्वारा। दाक्षायणी दक्ष प्रजापति की पुत्री थी। अधिकृत्य – अधि+कृ+क्त्वा–ल्यप् = आश्रित कर, के विषय में। मारीचः – मरीचेरपत्यं पुमान् मारीचः = कश्यप। महर्षिपत्नीसहितायै – महर्षीणां पत्न्यः ताभिः सहिता तस्यै = (अन्य) महर्षि-पत्नियों के साथ।

मातलि—बड़े लोगों (महात्माओं) की अभिलाषा सदा ऊर्ध्वगामिनी होती है। (घूमकर। आकाश में) हे वृद्ध शाकल्य, भगवान् मारीच (कश्यप) क्या कर रहे हैं ? क्या कह रहे हैं आप ? कि दाक्षायणी (अदिति) के द्वारा पूछे गये पतिव्रता धर्म के विषय में वे (अन्य) महर्षियों की पत्नियों के साथ उस (दाक्षायणी) को उपदेश दे रहे हैं।

राजा—(कर्णं दत्त्वा) **अये, प्रतिपाल्यावसरः खलु प्रस्तावः।**

व्या० एवं श०—प्रतिपाल्यावसरः – प्रतिपाल्यः प्रतीक्ष्यः अवसरः यस्य तादृशः (ब०ब्री०) = प्रस्ताव (प्रसङ्ग की समाप्ति के) अवसर की प्रतीक्षा करने योग्य। यह पद 'प्रस्तावः' इस पद का विशेषण है। प्रस्तावः – विषयान्तर प्रसङ्ग।

राजा—(कान लगाकर) अरे, (पतिव्रता धर्म का) प्रसङ्ग (प्रस्ताव) ऐसा है कि हमें (उसकी समाप्ति के) अवसर की प्रतीक्षा करनी चाहिये।

मातलिः—(राजानमवलोक्य) **अस्मिन्नशोकवृक्षमूले तावदास्तामायुष्मान् , यावत्त्वामिन्द्रगुरवे निवेदयितुमन्तरान्वेषी भवामि।**

व्या० एवं श०—इन्द्रगुरवे – इन्द्रस्य गुरुः (त०) = इन्द्र के गुरु (पिता) (कश्यप) से। अन्तरान्वेषी = अवसर की खोज करने वाला – अवसर को ढूँढ़ने वाला।

मातलि—(राजा को देखकर) तब तक चिरञ्जीवी (आप) इस अशोक वृक्ष के नीचे बैठें जब तक मैं इन्द्र के पिता (मारीच) से (आप के आगमन की सूचना देने के लिये) उचित अवसर खोजता हूँ।

राजा—यथा भवान् मन्यते। (इति स्थितः)।

राजा—जैसा आप (ठीक) समझें। (बैठता है)।

मातलिः—आयुष्मन् , साधयाम्यहम्। (इति निष्क्रान्तः)।

व्या० एवं श०—साधयामि = जाता हूँ। इस पद का जाने के अर्थ में प्रायः प्रयोग हुआ है।

मातलि—चिरञ्जीवी, मैं जा रहा हूँ। (निकल जाता है)।

राजा—(निमित्तं सूचयित्वा)—

राजा—(शकुन को सूचित करके)—

मनोरथाय नाशंसे किं बाहो स्पन्दसे वृथा।
पूर्वावधीरितं श्रेयो दुःखं हि परिवर्तते॥ १३॥

अन्वय—मनोरथाय न आशंसे, बाहो ! वृथा किं स्पन्दसे, हि पूर्वावधीरितं श्रेयः दुःखं परिवर्तते।

शब्दार्थ—मनोरथाय = अभीष्ट (की प्राप्ति) के लिये। न = नहीं। आशंसे = आशा करता हूँ। बाहो ! = हे भुजा ! वृथा = व्यर्थ। किम् = क्यों। स्पन्दसे = फड़क रही हो। हि = क्योंकि। पूर्वावधीरितम् = पहले तिरस्कृत। श्रेयः = कल्याण। दुःखं परिवर्तते = दुःख में

बदल जाता है। अर्थात् वह (कल्याण) पुनः वापस नहीं आता।

अनुवाद—मैं (शकुन्तला रूप) अभीष्ट वस्तु (की प्राप्ति) की आशा नहीं करता हूँ। हे (मेरी दाहिनी) भुजा, तुम व्यर्थ (ही) क्यों फड़क रही हो। क्योंकि पहले तिरस्कृत किया गया कल्याण दुःख के रूप में बदल जाता है अर्थात् तिरस्कृत कल्याण की परिणति दुःख में ही होती है। वस्तुतः वह वापस नहीं आता।

संस्कृत व्याख्या—मनोरथाय – शकुन्तलासङ्गमरूपाभीष्टप्राप्तये, **न** – नहि, **आशंसे** – आशां करोमि, **बाहो !** – हे दक्षिणभुज, **वृथा** – व्यर्थमेव, **किं स्पन्दसे** – किं स्फुरसि; **हि** – यतः, **पूर्वावधीरितं** – पूर्वतिरस्कृतम् , **श्रेयः** – कल्याणम् , **दुःखं** – कष्टम् यथा स्यात्तथा, **परिवर्तते** – परिणमति।

संस्कृत-सरलार्थः—स्वदक्षिणभुजस्पन्दनं वरस्त्रीलाभसूचकं विज्ञाय राजा मनसि चिन्तयति – शुभशंसिना दक्षिणभुजस्पन्दनेन न कोऽपि लाभः। ममाभिलाषभूताया शकुन्तलायाः प्राप्तिरसम्भवैव। यतोहि तिरस्कृतं कल्याणं यथा दुःखरूपेणैव परिणमति। नूनं मया तिरस्कृता सा शकुन्तला न कथमपि लब्धुं शक्येति।

व्याकरण—अवधीरितम् – अव+धीर+क्त। वृथा – वृ+थाल्+किच्च।

अलङ्कार—(१) उत्तरार्द्धगत सामान्य से पूर्वार्द्धगत विशेष का समर्थन होने से **'अर्थान्तरन्यास'** अलङ्कार है। (२) इस श्लोक में प्रकृत (उपमेय) शकुन्तला का अप्रकृत (उपमान) से पूर्णनिगरण हो गया है अतः 'अतिशयोक्ति' अलङ्कार है। ल०द्र० ३/१७ श्लोक।

छन्द—'अनुष्टुप्' छन्द है। ल०द्र० १/५ श्लो०।

टिप्पणी—(१) **'किं बाहो। स्पन्दसे मुधा'** – गर्ग के मत में दक्षिण बाहु के फड़कने का फल इस प्रकार कहा गया है – दक्षिणबाहुस्पन्दनमर्थलाभं बन्धुदर्शनं तथा॥ (२) **'पूर्वावधीरितं...परिवर्तते'** इस वाक्य का अर्थ कई प्रकार से किया जा सकता है – जिस कल्याण कर वस्तु या प्राणी का तिरस्कार कर दिया जाता है वह दुःखद ही होता है। उसकी पुनः प्राप्ति असम्भव है। प्रस्तुत सन्दर्भ में दुष्यन्त के सोचने का अभिप्राय यह है कि उसके द्वारा प्रिय प्राणी शकुन्तला चूँकि पहले तिरस्कृत हो चुकी है अतः न उसकी प्राप्ति, नहीं सुख की प्राप्ति सम्भव है।

(नेपथ्ये) **मा खलु चापलं कुरु। कथं गत एवात्मनः प्रकृतिम् ?** (मा क्खु चावलं करेहि। कहं गदो एव्व अत्तणो पकिदिं ?)

व्या० एवं श०—प्रकृतिम् = (क्षत्रिय) स्वभाव को। गतः = प्राप्त।

(नेपथ्ये में) चञ्चलता मत करो। क्यों अपने (क्षत्रिय) स्वभाव को ही प्राप्त हो गया है ?

राजा—(कर्णं दत्त्वा) **अभूमिरियमविनयस्य। को नु खल्वेष निषिध्यते ?** (शब्दानुसारेणावलोक्य। सविस्मयम्) **अये, को नु खल्वयमनुबध्यमानस्तपस्विनीभ्यामबालसत्त्वो बालः ?**

व्या० एवं श०—अभूमिः = अस्थान। अविनयस्य = धृष्टता/उदण्डता को। निषिध्यते – नि+सिध्+यक् (कर्मणि) लट् प्र०पु०ए०व० = मना किया जा रहा है, रोका जा रहा है। सविस्मयम् – विस्मयेन सहितम् – (सहसुपा समास) = आश्चर्यसहित–आश्चर्यपूर्वक। अबालसत्त्वः – न बालः अबालः युवा तस्य सत्त्वमिव बलमिव सत्त्वं बलं (पराक्रमः) यस्य सः = युवक के समान बलशाली। सत्त्व का अर्थ बल और पराक्रम आदि होता है – 'सत्त्वोऽस्त्री जन्तुषु क्लीबे

व्यवसाये पराक्रमे' इति केशवः । सत्त्वं गुणे पिशाचादौ बले द्रव्यस्वभावयोः' इति विश्वः । अनुबध्यमानः – अनु+बध्+यक्+शानच् ।

राजा—(कान लगाकर) यह धृष्टता (उद्दण्डता) का स्थान नहीं है तो फिर यह कौन रोका जा रहा है ? (आवाज की ओर देखकर आश्चर्य पूर्वक) अरे, दो तपस्विनियों द्वारा अनुगमन किया जाता हुआ (असाधारण शक्तिशाली) युवा के समान बलशाली यह बालक कौन है ?

अर्धपीतस्तनं मातुरामर्दक्लिष्टकेसरम् ।
प्रक्रीडितुं सिंहशिशुं बलात्कारेण कर्षति ।। १४ ।।

अन्वय—मातुः अर्धपीतस्तनम् आमर्दक्लिष्टकेसरं सिंहशिशुं प्रक्रीडितुं बलात्कारेण कर्षति ।

शब्दार्थ—मातुः = माता के । अर्धपीतस्तनम् = स्तनों (के दूध) को जिसके द्वारा आधा ही पिया गया है ऐसे (स्तनों के दूध को आधा ही पिये हुये) । आमर्दक्लिष्टकेसरम् = रगड़ से (अथवा खींचने से) जिसके केसर (गले के बाल) बिखर गये हैं (खींचने से बिखरे हुये बालों वाले) । सिंहशिशुम् = सिंहशावक को । प्रक्रीडितुम् = खेलने के लिये । बलात्कारेण = बलपूर्वक (जबरदस्ती) । कर्षति = खींच रहा है ।

अनुवाद—जिसने माता के स्तनों के दूध को आधा ही पिया है तथा रगड़ने से (खींचने से) जिसके बाल (केसर) बिगड़ (बिखर) गये हैं ऐसे सिंहशावक (सिंह के बच्चे) को खेलने के लिये बलपूर्वक (हठपूर्वक) खींच रहा है (यह बालक कौन है ?)

संस्कृत व्याख्या—(कोऽयं बालः) **मातुः** – जनन्याः, **अर्धपीतस्तनम्** – अर्धम् असम्पूर्णं पीतः स्तनः येन तादृशम् , आमर्दक्लिष्टकेसरम् – आकर्षणेन विक्षिप्ताः केसराः यस्य तादृशम् , **सिंहशिशुं** – केशरिशावकम् , **प्रक्रीडितुं** – क्रीडां कर्तुम् , **बलात्कारेण** – प्रसह्य, **कर्षति** – आकर्षति ।

संस्कृत-सरलार्थः—द्वाभ्यां तपस्विनीभ्यामनु गम्यमानमपूर्वशक्तिसम्पन्नं सिंहशावकं कर्षन्तं बालमवलोक्य राजा कथयति यद् बालोऽयमपूर्वपराक्रमशाली वर्तते, यतो ह्यसौ विकीर्ण-क्लिष्टकेसरमर्धपीतस्तनं सिंहशावकं क्रीडनाय हठात् कर्षति । आश्चर्यकरोऽस्य पराक्रमः ।

व्याकरण—अर्धपीतस्तनम् – अर्धं पीतः स्तनः येन तम् (बहु०) । आमर्दक्लिष्टकेसरं – आमर्देन क्लिष्टाः केसराः यस्य तम् (बहु०) । सिंहशिशुं – सिंहस्य शिशुम् (तत्पु०) । प्रक्रीडितुम् – प्र+क्रीड्+तुमुन् । प्रसह्य – प्र+सह्+क्त्वा – ल्यप् । कर्षति – कृष्+लट्+प्र०पु०ए०व० ।

कोष—'सिंहसटासु पन्नागो बकुले नागकेशरे, केशरः पुंसि' इति त्रिकाण्डशेषः ।

अलङ्कार—(१) इस पद्य में बाल-चेष्टाओं का स्वाभाविक वर्णन होने से **'स्वभावोक्ति'** अलङ्कार है । ल०द्र० १/७ । (२) बालक के उदात्त चरित्र का वर्णन होने से **'उदात्त'** अलङ्कार भी है । ल०द्र० ७/२ ।

छन्द—यहाँ **'अनुष्टुप्'** छन्द है । ल०द्र० १/५ ।

टिप्पणी—(१) इस श्लोक से जहाँ बाल स्वभाव का जीता जागता चित्र प्रतिबिम्बित होता है वहीं बालक सर्वदमन के अतुलित पराक्रम एवं शक्ति का भी प्रकाशन होता है । (२) काव्य में इसी प्रकार का वर्णन अन्यत्र भी हुआ है जैसे—(१) बुद्धचरित का यह श्लोक – बालोऽबालप्रतिभो बभूव धृत्या च शौचेन धिया श्रिया च (२) कुमारसम्भव का यह श्लोक – गृह्णन् विषाणे हरवाहनस्य स्पृशन्नुमाकेसरिणः सटालीः'' प्रमदाय पित्रोः ।

(ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टकर्मा तपस्विनीभ्यां सह बालः) ।

(तत्पश्चात् पूर्वोक्त कार्य करता हुआ दो तपस्विनियों के साथ बालक प्रवेश करता है)।

बालः—जृम्भस्व सिंह, दन्तांस्ते गणयिष्ये । (जिम्भ सिंघ, दन्ताइं दे गणइस्सं ।)

व्या० एवं श०—यथानिर्दिष्टकर्मा – यथानिर्दिष्टम् निर्देशानुरूपम् सिंहशावककर्षणरूपं कर्म यस्य सः = पूर्वोक्त कार्य करता हुआ। यह पद 'बाल' इस पद का विशेषण है । जृम्भस्व – जृम्भ्+लोट् प्र०पु०ए०व० = मुख खोलो ।

बालक—हे सिंह, तुम जँभाई लो (अथवा मुँह खोलो), मैं तुम्हारे दाँतों को गिनूँगा।

प्रथमा—अविनीत, किं नोऽपत्यनिर्विशेषाणि सत्त्वानि विप्रकरोषि ? हन्त, वर्धते ते संरम्भः । स्थाने खलु ऋषिजनेन सर्वदमन इति कृतनामधेयोऽसि । (अविणीद, किं णो अपच्चणिव्विसेसाणि सत्ताणि विप्पअरेसि ? हन्त वड्ढइ दे संरम्भो। ठाणे क्खु इसिणेण सव्वदमणो त्ति किदणामहओ सि।)

व्या० एवं श०—अपत्यनिर्विशेषाणि – अपत्येभ्यः सन्तानेभ्यः निर्विशेषाणि अभिमानि (सन्तानतुल्यानि) = सन्तान के समान। यह पद 'सत्त्वानि' इस पद का विशेषण है । सत्त्वानि – प्राणियों को। विप्रकरोषि – वि+प्र+कृ+लट् म०पु०ए०व० = उत्पीड़ित (परेशान) कर रहे हो ? संरम्भः = क्रोध। स्थाने – यह अव्यय है। इसका अर्थ ठीक, समीचीन होता है। कृतनामधेयः – कृतं नामधेयं नाम यस्य तादृशः। पूर्वपद 'सर्वदमन इति' के साथ जुड़कर इसका अर्थ होगा = सर्वदमन नाम वाले – जिसका 'सर्वदमन' यह नाम रखा है ऐसे 'नाम' पद से स्वार्थ में 'धेय' प्रत्यय के योग से 'नामधेय' बनता है। 'स्थाने... नामधेयोऽसि' इस वाक्य का अर्थ होगा कि तुम्हारा 'सर्वदमन' यह नाम ठीक ही (अन्वर्थक) है क्योंकि **सर्वदमन** – इस पद की व्युत्पत्ति ही है जो सब का दमन कर दे—'सर्वं दमयति – इति सर्वदमनः' (सर्व+दम्+ल्यु)।

पहली—हे अशिष्ट, हमारे सन्तान के समान (इन) प्राणियों को क्यों उत्पीड़ित (परेशान) कर रहे हो। ओह, तुम्हारा क्रोध बढ़ता ही जा रहा है। ऋषियों के द्वारा तुम ठीक ही रखे गये 'सर्वदमन' नाम वाले हो। (अर्थात् ऋषियों ने ठीक ही तुम्हारा 'सर्वदमन' यह नाम रखा है)।

राजा—किं नु खलु बालेऽस्मिन्नौरस इव पुत्रे स्निह्यति मे मनः ? नूनमनपत्या मां वत्सलयति ।

व्या० एवं श०—औरसे – उरसः जात औरसः तस्मिन् पुत्रे इव = सगे पुत्र की भाँति। स्निह्यति = स्नेह कर रहा है। अनपत्यता = सन्तानहीनता। वत्सलयति – वत्सलं सस्नेहं करोति, तत्करोतीत्यर्थे णिच् – प्र०पु०ए०व० = पुत्रवत् स्नेह करा रही है।

राजा—न जाने क्यों इस बालक पर मेरा मन औरस पुत्र (सगे बेटे) की भाँति स्नेह कर रहा है ? निश्चित ही सन्तानहीनता मुझे (इस भाँति) स्नेह करा रही है।

द्वितीया—एषा खलु केसरिणी त्वां लङ्घयति यद्यस्याः पुत्रकं न मुञ्चसि । (एसा क्खु केसरिणी तुमं लंघेदि जइ से पुत्तणं ण मुंचेसि।)

व्या० एवं श०—केसरिणी – केसरः अस्याः अस्ति – केसर+णिनि+ङीप् = सिंहनी। लङ्घयति = आक्रमण करेगी। त्वाम् = तुम्हारे ऊपर। पुत्रकम् (पुत्र+कन्) = बच्चे को। न मुञ्चसि – मुचि+ल०म०पु०ए०व० = नहीं छोड़ते।

दूसरी—यह सिंहनी तुम पर अवश्य आक्रमण करेगी यदि तुम इसके बच्चे को नहीं छोड़ते हो।

बालः—(सस्मितम्) **अहो, बलीयः खलु भीतोऽस्मि।** (अम्हहे, वलिअं क्खु भीदो म्हि। (इत्यधरं दर्शयति)।

व्या० एवं श०—बलीयः खलु = अत्यन्त। भीतः - भी+क्त = भयभीत।

टिप्पणी—(१) **औरसे-पुत्र इव**—मनुस्मृति में १२ प्रकार के पुत्रों का वर्णन है—औरस, क्षेत्रज, दत्त आदि। पत्नी में उसके पति के संसर्ग से उत्पन्न पुत्र 'औरस' कहलाता है—स्वक्षेत्रे संस्कृतायां नु स्वयमुत्पादयेद्धियम्। तमौरसं विजानीयात् पुत्रं प्रथम कल्पितम्॥ मनु०॥ (२) अहो! बलीयः खलु भीतोऽस्मि—सर्वदमन का यह व्यङ्ग्यार्थपूर्ण वाक्य है। द्वितीया तपस्विनी के 'एषा खलु केसरिणी त्वां लङ्घयति... न मुञ्चसि' इस कथन को सुनकर वह (सर्वदमन) मुस्कराते हुये कह रहा है। उसके उक्त वाक्य का निहितार्थ है कि 'मैं स्वल्प भी डरा नहीं हूँ'।

बालक—(मुस्कराकर) ओह, मैं अत्यधिक डर गया हूँ। (अपना निचला ओंठ दिखाता है)।

राजा—

महतस्तेजसो बीजं बालोऽयं प्रतिभाति मे।
स्फुलिङ्गावस्थया वह्निरेधापेक्ष इव स्थितः॥ १५॥

अन्वय—महतः तेजसः बीजम् अयं बालः स्फुलिङ्गावस्थया स्थितः एधापेक्षः वह्निः इव मे प्रतिभाति।

शब्दार्थ—महतः = महान्। तेजसः = तेज का। बीजम् = बीजस्वरूप। अयम् = यह। बालः = बालक। स्फुलिङ्गावस्थया = चिनगारी की अवस्था में। स्थितः = स्थित, (विद्यमान)। एधापेक्षः = इन्धन की अपेक्षा करने वाली। वह्निः इव = अग्नि की भाँति। मे = मुझको। प्रतिभाति = प्रतीत हो रहा है।

अनुवाद—महान् तेज का बीजस्वरूप यह बालक, चिनगारी की अवस्था में विद्यमान और इन्धन की अपेक्षा करते हुये अग्नि की भाँति मुझको प्रतीत हो रहा है।

संस्कृत व्याख्या—महतः - प्रबलस्य, **तेजसः** - वीर्यस्य; प्रतापस्य, **बीजं** - कारणम्, **अयम्** - एषः, **बालः** - बालकः, **स्फुलिङ्गावस्थया** - स्फुलिङ्गस्य अग्निकणस्य या अवस्था-रूपम् तया - अग्निकणस्यावस्थया, **स्थितः** - वर्तमानः, **एधापेक्षः** - काष्ठापेक्षः, **वह्निः इव** - अग्नि इव, **मे** - मम, **प्रतिभाति** - प्रतीयते।

संस्कृत-सरलार्थः—सर्वदमनस्यापूर्वं तेजो विलोक्य राज वदति - यथा स्वल्पोऽपि स्फुलिङ्गः काष्ठसंयोगमवाप्य प्रज्चलितो जायते, तथैवायमपूर्वशक्तिशाल्ययं बालकोऽपि यौवनशिक्षादिकं प्राप्य महतीं तेजस्वितां भजिष्यतीति।

व्याकरण—स्फुलिङ्गावस्थया - स्फुलिङ्गस्य अवस्था तया (तत्पु०)। एधापेक्षः - एधं काष्ठमिन्धनमिति यावत् - अपेक्षते इति एधापेक्षः - इन्धन (काष्ठ) की अपेक्षा करते हुये। एध शब्द सकारान्त 'एधस्' तथा अकारान्त 'एध' दोनों है। यहाँ अकारान्त का प्रयोग है।

कोष—'हेतुर्ना कारणं बीजं निदानं त्वादिकारणम्' - इत्यमरः। 'काष्ठे दार्विन्धनं त्वेधः' इत्यमरः।

अलङ्कार—'वह्निरिव' यहाँ पर **'उपमा'** अलङ्कार है। यहाँ 'बाल' उपमेय, वह्नि उपमान 'इव' वाचक शब्द तथा बीजम् – आदि साधारण धर्म हैं। ल०द्र० १/५।

छन्द—यहाँ **'अनुष्टुप्'** छन्द है। ल०द्र० १/५।

टिप्पणी—'स्फुलिङ्ग... आग इन्धन की अपेक्षा रखती है। इन्धन मिलते ही उसका छोटा सा कण भी महान् लपटों के रूप में परिणत होकर असह्य हो जाता है, उसी प्रकार तेज का बीजभूत यह बालक भी भविष्य में यौवन आदि को पाकर महान् (असह्य) प्रतापी बनेगा।

प्रथमा—वत्स, एनं बालमृगेन्द्रं मुञ्च। अपरं ते क्रीडनकं दास्यामि। (वच्छ, एवं बालमिइन्दअं मुञ्च। अवरं दे कीलणअं दाइस्सं।)

व्या० एवं श०—बालमृगेन्द्रम् – मृगानां पशूनामिन्द्रः मृगेन्द्रः बालश्चासौ मृगेन्द्रः बालमृगेन्द्र (कर्मधारय) तम् = बालक सिंह को (सिंह के बच्चे को)। क्रीडनकम् = खिलौना। क्रीड्यतेऽनेनेति – क्रीडनकम् – क्रीड्+ल्युट्+करणे स्वार्थे कन्।

पहली—बेटा, इस सिंह के बच्चे को छोड़ दो मैं तुमको दूसरा खिलौना दूँगी।

टिप्पणी—'पशवोऽपि मृगाः, सिंहो मृगेन्द्रः पञ्चास्यः' – इत्यमरः।

बालः—कुत्र ? देह्येतत्। (कहिं ? देहि णं।) (इति हस्तं प्रसारयति)।

व्व० एवं श०—देह्येतत् – देहि+एतत् = यण सन्धि।

बालक—कहाँ है ? (खिलौना मुझको) दो। (हाथ फैलाता है)।

राजा—(बालस्य हस्तमवलोक्य) **कथं चक्रवर्तिलक्षणमप्यनेन धार्यते। तथा ह्यस्य—**

व्या० एवं श०—चक्रवर्तिलक्षणम् – चक्रवर्तिनः लक्षणम् = चक्रवर्ती का लक्षण। धार्यते – धृ+णिच्+यक् (कर्मणि) = धारण कर रहा है।

राजा—(बालक के हाथ को देखकर) क्या यह चक्रवर्ती के लक्षणों को धारण कर रहा है ? क्योंकि इसका—

टिप्पणी—चक्रवर्ती – शास्त्रों में चक्रवर्ती राजा, सम्राट के लक्षण दिये गये हैं। लक्षण के अनुसार जिसके हाथ की अँगुलियाँ घनी होती हैं और जिसका हाथ मृदुल धनुष अङ्कुश आदि से चिह्नित होता है, वह चक्रवर्ती राजा होता है। इसी प्रकार जिसके पैर के तल में पद्म, चक्र, तोरण, अङ्कुश, कुलिश आदि अङ्कित रहता है, वह सम्राट होता है—अतिरिक्तः करो यस्य ग्रथिताङ्गुलको मृदुः। चापाङ्कुशाङ्कितः सोऽपि चक्रवर्ती भवेद् ध्रुवम्॥ यस्य पादतले पद्मं चक्रं वाप्यथ तोरणम्। अङ्कुशं कुलिशं चापि स सम्राट् भवति ध्रुवम्॥

प्रलोभ्यवस्तुप्रणयप्रसारितो विभाति जालग्रथिताङ्गुलिः करः।
अलक्ष्यपत्रान्तरमिद्धरागया नवोषसा भिन्नमिवैकपङ्कजम्॥ १६॥

अन्वय—प्रलोभ्यवस्तुप्रणयप्रसारितः जालग्रथिताङ्गुलिः अस्य करः इद्धरागया नवोषसा भिन्नम् अलक्ष्यपत्रान्तरम् एकपङ्कजम् इव विभाति।

शब्दार्थ—प्रलोभ्यवस्तुप्रणयप्रसारितः = लुभावनी (ललचाने वाली) वस्तु के प्रेम (अथवा अभिलाषा) के कारण फैलाया गया। जालग्रथिताङ्गुलिः = जिसमें अङ्गुलियाँ जाल के समान गूंथी हुयी (मिली हुयी) हैं (जाल के समान गुँथी हुयी अङ्गुलियों वाला)। अस्य = इसका। करः = हाथ। इद्धरागया = जिसकी लालिमा बढ़ी हुयी है ऐसी (बढ़ी हुयी लालिमा वाली)। नवोषसा =

नवीन उषा के द्वारा। भिन्नम् = विकसित किये गये। अलक्ष्यपत्रान्तरम् = जिसमें पङ्खुड़ियों का मध्यभाग नहीं दिखायी पड़ रहा है ऐसे। एकपङ्कजम् इव = अद्वितीय कमल की भाँति। विभाति = सुशोभित हो रहा है।

अनुवाद—लुभावनी वस्तु (खिलौने) के लिये प्रेम (अथवा अभिलाषा) के कारण फैलाया गया और जाल के समान गुँथी हुयी अङ्गुलियों वाला इस (बालक) का हाथ, ऐसा सुशोभित हो रहा है, जैसे बढ़ी हुयी लालिमा से युक्त नवीन उषा के द्वारा विकसित किये गये और अदृष्टिगोचर पङ्खुड़ियों के मध्यभाग से युक्त (अर्थात् जिसकी पङ्खुड़ियों का मध्यभाग नहीं दिखायी पड़ रहा है ऐसा) अद्वितीय कमल हो।

संस्कृत व्याख्या—**प्रलोभ्यवस्तुप्रणयप्रसारितः** – लोभकारके क्रीडनकरूपे वस्तुनि – यः प्रणयः तेन प्रसारितः विस्तारितः, **जालग्रथिताङ्गुलिः** – जालवत् ग्रथिताः संश्लिष्टा अङ्गुलयः यस्मिन् सः, **अस्य** – बालकस्य, **करः** – हस्तः, **इद्धरागया** – इद्धं समृद्धं लौहित्यं यस्याः तया, **नवोषसा** – नूतनप्रभातसन्ध्यया, **भिन्नं** – प्रस्फुटितम् , **अलक्ष्यपत्रान्तरम्** – अदृश्याः पत्राणां दलानाम् अवकाशाः यस्मिन् तत् , **एकपङ्कजम् इव** – अद्वितीयं कमलम् इव, **विभाति** – शोभते।

संस्कृत-सरलार्थः—क्रीडनकरूपलोभनीयवस्तुप्रेम्णाऽभिलाषेण वा प्रसारितोः जालवत् संश्लिष्टाङ्गुलिरस्य बालकस्य हस्तः समृद्धलौहित्येन नवप्रभातसन्ध्यया भिन्नं विकसितम् अद्वितीयकमलमिव शोभते। तथा च यथा नवप्रभातसन्ध्यायामेवेषद्विकासभावं प्राप्नुवतोऽपि कस्यचित् कमलस्य कतिपयदलमात्रं विकसितं परिदृश्यते न तु दलान्तर्देशस्तथैव क्रीडनकमादातुं हस्तप्रसारसमये बालस्यास्य कतिपयाङ्गुलिमात्रं परिलक्ष्यते न त्वङ्गुलिसन्धिभाग इति।

व्याकरण—प्रलोभ्यवस्तुप्रणयप्रसारितः – प्रलोभ्ये वस्तुनि प्रणयेन प्रेम्णाऽभिलाषेण वा प्रसारितः (तत्पु०)। जालग्रथिताङ्गुलिः – जालवत् ग्रथिताः अङ्गुलयः यस्मिन् सः (बहु०)। इद्धरागया – इद्धः रागः यस्याः सा तया (बहु०)। अलक्ष्यपत्रान्तरम् – अलक्ष्याणि पत्राणाम् अन्तराणि यस्मिन् तत् (बहु०)। भिन्नम् – भिद्+क्त।

कोष—'उषा रात्रौ तदन्ते स्यादत्रानव्ययमप्युषा' इति विश्वः। 'उषः प्रत्युषसी अपि' – इत्यमरः।

अलङ्कार—(१) 'जालग्रथिताङ्गुलिः' इस पद का 'जालवत् ग्रथिता अङ्गुलयो यस्य सः' इस प्रकार विग्रह होने से यहाँ 'इव' के अर्थ में प्रयुक्त 'वत्' प्रत्यय का लोप हो गया है। अतः यहाँ 'लुप्तोपमा' (समासगा वाचकलुप्ता) तथा 'एकपङ्कजमिव' में श्रौती **'पूर्णोपमा'** अलङ्कार है। ल०द्र० १/५ श्लो०। (२) 'अलक्षा पत्रान्तरम्' का हेतु 'इद्धरागया नवोषसा भिन्नम्' है अतः **'काव्यलिङ्ग'** अलङ्कार है। ल०द्र० १/४।

छन्द—इस श्लोक में **'वशंस्थ'** छन्द है। ल०द्र० १/८ श्लो०।

टिप्पणी—(१) 'उषस्' शब्द नपुंसक और स्त्री लिङ्ग दोनों में प्रयुक्त होता है। (२) 'अलक्ष्यपत्रान्तरम्' उषः काल में सूर्य के पूर्ण प्रकाश न होने से कमल पूर्णतः विकसित नहीं हो पाता इसीलिये उसका भीतरी दलों के बीच का अवकाश (अन्तर) दिखायी नहीं देता। इसी प्रकार उस बालक का हाथ ऐसा था कि उसकी अंगुलियाँ सुग्रथित थीं अतः उसके बीच का अन्तर अलक्ष्य था – 'जालग्रथिताङ्गुलिः करः'। भाव यह है कि उसके हाथ की अङ्गुलियाँ घनी थीं। पङ्कज के

समान बालक का हाथ स्वाभाविक रूप से लाल (रक्तवर्ण) था। 'एकपङ्कजमिव' में प्रयुक्त एक शब्द का दो अभिप्राय हो सकता है—१. एक संख्या, २. अद्वितीय अनुपम। बालक ने खिलौना लेने के लिये एक ही हाथ फैलाया है। बालक का हाथ अद्वितीय (अनुपम) कमल के समान था। इस वर्णन से उपमा का चारुत्व एवं बालक के हाथ का सौन्दर्य - दोनों व्यञ्जित होते हैं।

द्वितीया—सुव्रते, न शक्य एष वाचामात्रेण विरमयितुम्। गच्छ त्वम्। मदीये उटजे मार्कण्डेयस्यर्षिकुमारस्य वर्णचित्रितो मृत्तिकामयूरस्तिष्ठति तमस्योपहर। (सुव्वदे, ण सक्को एसो वाआमेत्तेण विरमाविदुं। गच्द तुमं। ममकेरए उडए मक्कंडेअस्स इसिकुमार अस्स वण्णचित्तिदो मित्तिआमोरआ चिट्ठदि। तं से उवहर।)

व्या० एवं श०—शक्यः - शक्+यत् = सम्भव, होने या करने योग्य। वाचामात्रेण = केवल कथन (कहने) से। विरमयितुम् - वि+रम्+णिच्+तुमुन् = रोकना। उटजे = कुटीर (कुटिया) में। मार्कण्डेयस्यर्षिकुमारस्य - मार्कण्डेयस्य+ऋषिकुमारस्य - गुण सन्धि = अ+ऋ = अर्। वर्णचित्रितः - वर्णैः विचित्रैः रङ्गैः चित्रितः आलेखितः = रङ्गो से चित्रित (रंगा हुआ)। मृत्तिकामयूरः - मृत्तिकया मृदा निर्मितः मयूरः (मध्यमपद लोपी समास) = मिट्टी का मोर। तमस्योपहर - तम्+अस्य+उपहर - गुण सन्धि उपहर - उप+हृ+लोट् म०पु०ए०व० = लाओ। अस्य (कृते) = इसके लिये।

दूसरी—हे सुव्रता, कहने मात्र से यह नहीं रोका जा सकता। तुम जाओ मेरी कुटिया में रङ्गों से रँगा हुआ ऋषिकुमार मार्कण्डेय का मिट्टी का मोर रखा हुआ है। उसे इसके लिए लाओ।

टिप्पणी—मृत्तिका मयूरम् - इससे यह प्रतीत होता है कि कालिदास के समय में मिट्टी के खिलौने बनते थे।

प्रथमा—तथा (तह।) (इति निष्क्रान्ता)।

पहली—(जैसा तुम कहती हो) वैसा (ही करती हूँ)। (निकल जाती है)।

बालः—अनेनैव तावत् क्रीडिष्यामि। (इमिणा एव्व कीलिस्सं।) (इति तापसीं विलोक्य हसति)।

व्या० एवं श०—क्रीडिष्यामि - क्रीड् लट्+उ०पु०ए०व० = खेलूँगा।

बालक—तब तक इसी से खेलता हूँ। (तापसी को देखकर हँसता है)।

राजा—स्पृहयामि खलु दुर्ललितायास्मै।

व्या० एवं श०—स्पृहयामि - स्पृह+लट् उ०पु०ए०व० = स्पृहा कर रहा हूँ अर्थात् चाह रहा हूँ। यहाँ 'स्पृहेरीप्सितः' सूत्र से **'स्पृह'** धातु (स्पृहयामि) के योग में सम्प्रदान संज्ञा होने से **'दुर्ललितायास्मैने'** चतुर्थी हुई है। दुर्ललिताय - दुष्टं ललितं यस्य सः तस्मै = हठी-नटखट के लिये।

राजा—वस्तुतः इस हठी (नटखट) बालक (को प्यार करने) के लिये मैं ललक रहा हूँ।

आलक्ष्यदन्तमुकुलाननिमित्तहासैरव्यक्तवर्णरमणीयवचःप्रवृत्तीन्।
अङ्काश्रयप्रणयिनस्तनयान् वहन्तो धन्यास्तदङ्गरजसा मलिनीभवन्ति॥ १७॥

अन्वय—अनिमित्तहासैः आलक्ष्यदन्तमुकुलान् अव्यक्तवर्णरमणीयवचःप्रवृत्तीन् अङ्काश्रयप्रणयिनः तनयान् वहन्तः धन्याः तदङ्गरजसा मलिनीभवन्ति।

शब्दार्थ—अनिमित्तहासैः = अकारण हँसी से। आलक्ष्यदन्तमुकुलान् = जिनका दाँतरूपी अङ्कुर (मुकुल) कुछ-कुछ दिखायी पड़ रहा है ऐसे। अव्यक्तवर्णरमणीयवचःप्रवृत्तीन् = अस्पष्ट वर्णों के (उच्चारण के) कारण जिनका बोलना (तोतली बोली) रमणीय (प्रिय) लग रहा है ऐसे। अङ्काश्रयप्रणयिनः = जो गोद में रहने (चढ़ने) के लिये लालायित (इच्छुक) रहते हैं ऐसे। तनयान् = पुत्रों को। वहन्तः = लिये हुये। धन्याः = भाग्यशाली लोग (ही)। तदङ्गरजसा = उनके अङ्गों की धूल से। मलिनीभवन्ति = मलिन (धूसरित) होते हैं।

अनुवाद—अकारण (अर्थात् बिना किसी कारण के) हँसी से जिनका दाँतरूपी अङ्कुर कुछ-कुछ दिखायी पड़ रहा है, अस्पष्ट वर्णों के (उच्चारण के) कारण (अर्थात् तोतली बोली से) जिनका बोलना रमणीय (प्रिय) लग रहा है, जो गोद में रहने (चढ़ने) के लिये लालायित (इच्छुक) रहते हैं, ऐसे पुत्रों को (गोद में) लिये हुये भाग्यशाली लोग (ही) उन (बच्चों) के (शरीर के) अङ्गों (में लगी हुयी) धूल से मलिन (धूसरित) होते हैं।

संस्कृत व्याख्या—**अनिमित्तहासैः** – अकारणहासैः, **आलक्ष्यदन्तमुकुलान्** – ईषद्दृश्यदन्तकुड्मलान्, **अव्यक्तवर्णरमणीयवचःप्रवृत्तीन्** – अव्यक्ताः अस्पष्टाः वर्णाः अक्षराणि यास् ताः अत एव रमणीयाः वचसां प्रवृत्तयः वाग्व्यवहारः येषां तान् अस्पष्टाक्षरमनोहरवाक्यविन्यासान्, **अङ्काश्रयप्रणयिनः** – क्रोडनिवासप्रणयिनः, **तनयान्** – पुत्रान्, **वहन्तः** – धारयतः, **धन्याः** – भाग्यवन्तः, **तदङ्गरजसा** – तेषां बालानामवयवधूल्या, **मलिनीभवन्ति** – कलुषीभवन्ति।

संस्कृत-सरलार्थः—राजकथनस्यायं संक्षेपः – वस्तुतस्त एव सौभाग्यशालिनो धन्या ये तादृशान् स्वपुत्रान् निजक्रोडे धारयन्तस्तच्छरीरावयवधूल्याऽऽत्मशरीरं कलुषीकुर्वन्ति येऽकारणमेव स्वसहजहास्यैः किञ्चिल्लक्ष्यदन्तमुकुलास्तथाऽस्पष्टवर्णोच्चारणरमणीयवाग्व्यापाराः पित्रादिक्रोडाश्रयाभिलाषिणश्च सन्ति।

व्याकरण—अनिमित्तपरिहासैः – अनिमित्ताः ये परिहासाः तैः। आलक्ष्यदन्तमुकुलान् – आलक्ष्याः दन्तमुकुलाः येषां तान् (बहु०)। अव्यक्तवर्णरमणीयवचःप्रवृत्तीन् – अव्यक्तैः वर्णैः रमणीयाः वचः प्रवृत्तयः येषां तान् (बहु०)। अङ्काश्रयप्रणयिनः – अङ्के आश्रयः तस्मिन् प्रणयिनः (तत्पु०)। तदङ्गरजसा – तेषाम् अङ्गरजसा (तत्पु०)। मलिनीभवन्ति – मलिन+च्वि+भू+लट्। वहन्तः – वह्+शतृ +प्र०ब०व०। प्रणयिनः – प्रणय+णिनि – प्र०ब०व०।

कोष—'उत्सङ्गचिह्नयोरङ्कः' – इत्यमरः। 'कुट् (ड्) मलोमुकुलोऽस्त्रियामित्यमरः'।

रस-भाव—इस श्लोक में वात्सल्य प्रेम की अतिसुन्दर व्यञ्जना है।

अलङ्कार—(१) बाल-स्वभाव का अति स्वाभाविक वर्णन होने से **'स्वभावोक्ति'** अलङ्कार है। ल०द्र० १/७। (२) बालक सर्वदमनरूप विशेष के कार्यों का वर्णन न कर सामान्य बालकों के कार्यों का वर्णन किया गया है अतः **'अप्रस्तुतप्रशंसा'** अलङ्कार है। ल०द्र० १/१७। (३) 'आलक्ष्यदन्तमुकुलानिव' 'दन्ताः मुकुलानीव' इस प्रकार विग्रह कर उपमित समास करने पर समासगा **'लुप्तोपमा'** अलङ्कार है। ल०द्र० १/५। (४) 'धन्यास्तदङ्गरजसा मलिनी-भवन्ति' से 'तादृशा जना धन्या मादृशाः अधन्याः' इस प्रकार के अर्थ की प्रतीति होने से **'परिसंख्या'** अलङ्कार है। लक्षण—'प्रश्नादप्रश्नतो वापि कथिताद्वस्तुनो भवेत्। तादृगन्यव्यपोह- श्चेच्छाब्द आर्थोऽथवा तदा परिसंख्या॥

छन्द—**'वसन्ततिलका'** छन्द है। ल०द्र० १/८ श्लो०।

तापसी—**भवतु । न मामयं गणयति ।** (पार्श्वमवलोक्य) **कोऽत्र ऋषिकुमाराणाम् ?** (राजानमवलोक्य) **भद्रमुख, एहि तावत् । मोचयानेन दुर्मोचहस्तग्रहेण डिम्भलीलया बाध्यमानं बालमृगेन्द्रम् ।** (होदु ण मं अअं गणेदि । को एत्थ इसिकुमाराणं ? भद्दमुह, एहि दाव । मोएहि इमिणा दुम्मोअहत्थग्गहेणं डिम्भलीलाए बाहीअमाणं बालमिइन्दअं ।)

व्या० एवं श०—भद्रमुखः – भद्रं सुन्दरं यस्य सः तत्सम्बुद्धौ = सुन्दर मुख वाले । 'भद्र', 'सौम्य' आदि शब्द माननीय व्यक्ति (राजसुत) के लिये भी प्रयुक्त होते हैं—'सौम्य भद्र मुखेत्येवं मान्यो राजसुतो भवेत्' इति । दुर्मोचहस्तग्रहेण – हस्तेन ग्रहः हस्तग्रहः दुर्मोचः हस्तग्रहः यस्य सः तेन (ब०ब्री०) = कठिनता से छुड़ाने योग्य है हाथ की पकड़ जिसकी, ऐसे । दुर्मोचः – दुर्+मुच्+खल् । डिम्भलीलया – डिम्भस्य लीला डिम्भलीला तया = बाल क्रीडा से । बाध्यमानम् – बाध+यक्+शानच् द्वि०पु०ए०व० = पीड़ित (परेशान) किये जाते हुये । मोचय – मुच्+णिच् – लो०म०पु०ए०व० = छुड़ा दो ।

तपस्विनी—अच्छा, यह मुझे (कुछ) नहीं गिन रहा (समझ रहा) है । (अगल बगल देखकर) यहाँ ऋषि-कुमारों में कौन (उपस्थित) है ? (राजा को देखकर) हे महाशय, यहाँ आइये । जिसके हाथ की पकड़ (हस्तग्रहण) छुड़ाना बड़ा कठिन (दुर्मोच) है ऐसे बालक के द्वारा बालक्रीड़ा के साथ पीड़ित (परेशान) किये जाते हुये इस सिंहशावक को छुड़ा दीजिये ।

राजा—(उपगम्य । सस्मितम्) **अयि भो महर्षिपुत्र,**

राजा—(समीप जाकर मुस्कराते हुये) अरे महर्षिपुत्र,

एवमाश्रमविरुद्धवृत्तिना संयमः किमिति जन्मतस्त्वया ।
सत्त्वसंश्रयसुखोऽपि दूष्यते कृष्णसर्पशिशुनेव चन्दनः ।। १८ ।।

अन्वय—एवम् आश्रमविरुद्धावृत्तिना त्वया जन्मतः सत्त्वसंश्रयसुखः अपि संयमः कृष्णसर्पशिशुना चन्दनः इव किमिति दूष्यते ?

शब्दार्थ—एवम् = इस प्रकार । आश्रमविरुद्धावृत्तिना = आश्रम के विपरीत (विरुद्ध) आचरण (व्यवहार) है जिसका ऐसे, (आश्रम के विपरीत आचरण करने वाले) । त्वया = तुम्हारे द्वारा । जन्मतः = जन्म से ही । सत्त्वसंश्रयसुखः = प्राणियों (जीवों) को आश्रय देने के कारण सुखकर । अपि = भी । संयमः = संयम । कृष्णसर्पशिशुना = काले साँप के बच्चे के द्वारा । चन्दनः इव = चन्दन (वृक्ष) की भाँति । किमिति = क्यों । दूष्यते = दूषित (कलङ्कित) किया जा रहा है ?

अनुवाद—इस प्रकार आश्रम के विपरीत (विरुद्ध) आचरण (व्यवहार) करने वाले तुम, जन्म से ही प्राणियों (जीवों) को आश्रय देने के कारण सुखप्रद भी (अहिंसा आदि) संयम, काले साँप के बच्चे के द्वारा चन्दन के वृक्ष की भाँति क्यों दूषित (कलङ्कित) कर रहे हो ?

संस्कृत व्याख्या—**एवम्** – इत्थम् , **आश्रमविरुद्धवृत्तिना** – आश्रमस्य तपोवनस्य प्रतिकूला विपरीता वृत्तिः हिंसारूपः, व्यवहारः यस्य तादृशेन, **त्वया** – ऋषिकुमारेण, **जन्मनः** – बाल्यादेव, **सत्त्वसंश्रयसुखः, अपि** – सत्त्वानां जीवानां सम्यग्रक्षणेन सुखप्रदः अपि, **संयमः** – शमः, **कृष्णसर्पशिशुना** – कृष्णसर्पपुत्रेण, **चन्दनः इव** – मलयजवृक्षः इव, **किमिति** – केन हेतुना, **दूष्यते** – मलिनीक्रियते ?

संस्कृत-सरलार्थः—राजा वदति बालकम् – बालक ! एवं तपोवनप्रतिकूलव्यवहारेण

त्वया मुनिकुमारेण जीवसंरक्षणेन सुखप्रदो जन्मजातः संयमः, कृष्णसर्पेण चन्दन इव, कथं मलिनीक्रियते। त्वया कथमपि जीवपीडनरूपहिंसादिव्यवहारो न करणीय – इति बालमृगेन्द्रं मुञ्चेति भावः।

व्याकरण—आश्रमविरुद्धवृत्तिना – आश्रमस्य विरुद्धा वृत्तिः यस्य तेन (बहु०)। सत्त्वसंश्रयसुखः – सत्त्वानां संश्रयः तेन सुखः (तत्पु०)। कृष्णसर्पशिशुना – कृष्णश्चासौ सर्पश्च कृष्णसर्पः (कर्म०), तस्य शिशुना (तत्पु०)। दूष्यते – दुष+यक् – प्र०पु०ए०व०।

अलङ्कार—(१) 'कृष्णसर्पशिशुनेव' में 'त्वया' उपमेय, 'कृष्णसर्पशिशु' उपमान, दूषित करना (दूष्यते) साधारण धर्म, 'इव' औपम्य वाचक शब्द है अतः यहाँ श्रौती **'पूर्णोपमा'** अलङ्कार है। ल०द्र० १/५ श्लो०।

छन्द—यहाँ **'रथोद्धता'** छन्द है। लक्षण—'रान्नराविह रथोद्धता लगौ' अर्थात् जिस छन्द के प्रत्येक चरण में क्रमशः रगण, नगण, रगण, लघु एवं गुरु होता है वह रथोद्धता है।

तापसी—भद्रमुख, न खल्वयमृषिकुमारः। (भद्दमुह; ण क्खु अअं इसिकुमारओ।)

तपस्विनी—महाशय, यह ऋषि पुत्र नहीं है।

राजा—आकारसदृशं चेष्टितमेवास्य कथयति। स्थानप्रत्ययात्तु वयमेवंतर्किणः। (यथाभ्यर्थितमनुतिष्ठन् बालस्पर्शमुपलभ्य। आत्मगतम्)।

व्याकरण—चेष्टितम् = व्यवहार कर्म। आकारसदृशम् – आकारेण आकारस्य वा संदृशम् = आकृति के अनुरूप। स्थानप्रत्ययात् – स्थानस्य तपोवनस्य प्रत्ययः विश्वासः तस्मात् (तत्पु०) = स्थान के विश्वास से। 'आश्रम में रहने वाला बालक ऋषिकुमार ही होगा' इस विश्वास से हमने ऋषिकुमार कहा है। यह राजा के कथन का अभिप्राय है। एवंतर्किणः – एवम्+तर्क+णिनि प्र०ब०व० = इस प्रकार तर्क करने (सोचने वाले)।

राजा—आकृति के अनुरूप (सदृश) इसका व्यवहार ही बतला रहा है (कि यह ऋषि पुत्र नहीं)। परन्तु (इस) स्थान के विश्वास के कारण हमने सोचा था। (तपस्विनी की प्रार्थना के अनुसार कार्य करते हुये अर्थात् बालक से सिंह-शावक को छुड़ाते हुये बालक के स्पर्श को प्राप्तकर। (अपने मन में)।

अनेन कस्यापि कुलाङ्कुरेण स्पृष्टस्य गात्रेषु सुखं ममैवम्।
कां निर्वृतिं चेतसि तस्य कुर्याद् यस्मायमङ्कात् कृतिनः प्ररूढः।। १९।।

अन्वय—कस्यापि कुलाङ्कुरेण अनेन स्पृष्टस्य मम गात्रेषु एवं सुखम्, यस्य कृतिनः अङ्कात् अयं प्ररूढः तस्य चेतसि कां निर्वृतिं कुर्यात्।

शब्दार्थ—कस्यापि = किसी भी। कुलाङ्कुरेण = वंश के अङ्कुर स्वरूप। अनेन = इस (बालक) के द्वारा। स्पृष्टस्य = स्पर्श किये गये। मम = मेरे। गात्रेषु = अङ्गों में। एवम् = इस प्रकार (ऐसा)। सुखम् = सुख (हो रहा है तो)। यस्य = जिस। कृतिनः = पुण्यात्मा (भाग्यशाली) की। अङ्कात् = गोद से। अयम् = यह। प्ररूढः = उत्पन्न हुआ है। तस्य = उसके। चेतसि = हृदय में। काम् = कैसी, कितने। निर्वृतिम् = शान्ति को (आनन्द को)। कुर्यात् = करता होगा (देता होगा)। अर्थात् उसकी शान्ति, आनन्द असीम होगा।

अनुवाद—किसी भी वंश के अङ्कुरस्वरूप इस (बालक) के द्वारा स्पर्श किये गये मेर अङ्गों को (यदि) ऐसा सुख (हो रहा है) (तो) जिस भाग्यशाली की गोद से यह उत्पन्न हुआ है, उसके हृदय में कितना सुख (आनन्द) उत्पन्न करता होगा (देता होगा)। अर्थात् उसके आनन्द की

तो सीमा ही नहीं होगी।

संस्कृत व्याख्या—कस्यापि - अज्ञातस्य, **कुलाङ्कुरेण** - वंशाङ्कुरेण, **अनेन** - शिशुना, **स्पृष्टस्य** - स्पर्शं प्राप्तस्य, **मम** - दुष्यन्तस्य, **गात्रेषु** - शरीरावयवेषु, **एवम्** - इत्थम्, **सुखम्** - भवतीति शेषः, **यस्य कृतिनः** - यस्य सुकृतिनः, **अङ्कात्** - क्रोडात् , **अयं** - बालः, **प्ररूढः** - उत्पन्नः, **तस्य** - जनस्य, **चेतसि** - मनसि, **काम्** - अवर्णनीयाम् , **निर्वृतिं** - शान्तिम् , **कुर्यात्** - विदध्यात् ।

संस्कृत-सरलार्थः—राजा बालस्पर्शजनितं सुखं वर्णयन् वदति—यदज्ञातकुलास्याङ्कुरभूतेनानेन शिशुना कतिपयशरीराङ्गे स्पृष्टस्यममैतादृशं सौख्यं भवति, तदा यस्य सौभाग्यशालिनः देहादयं समुत्पन्नस्तस्य हृदये कियत्सुखं विदध्यादिति वर्णयितुं न पार्यते।

व्याकरण—प्ररूढः - प्र+रुह+क्त। निर्वृतिं - निर्+वृ+क्तिन् । स्पृष्टस्य - स्पृश्+क्त+ष०ए०व०।

कोष—'गात्रमङ्गेकलेवरे' - इति विश्वः। 'निर्वृतिस्तु सुखे जीव्ये' इति धरणिः।

रस-भाव—इस श्लोक में 'वात्सल्य' की अभिव्यञ्जना है।

अलङ्कार—(१) प्रस्तुत श्लोक में दुष्यन्त को होने वाले प्राकरणिक सुख से बालक के पिता के असीमित सुख रूप अर्थ की प्रतीति होने से **'अर्थापत्ति'** अलङ्कार है। ल०द्र० ५/१४ श्लो०। (२) 'कुलाङ्कुरेण' में **'रूपक'** अलङ्कार है क्योंकि यहाँ 'कुल' और 'अङ्कुर' में अभेदारोप है। ल०द्र० २/१६।

छन्द—यहाँ **'उपजाति'** छन्द है। ल०द्र० २/७ श्लो०।

टिप्पणी—(१) पुत्रस्पर्शजनित आनन्द का वर्णन अन्यत्र भी हुआ है—१. शिशुरालिङ्गनं तस्मात् चन्दनाधिकं भवेत्। न वाससां न रामाणां नायं स्पर्शस्तथाविधः। शिशोरालिङ्ग्यमानस्य स्पर्शः सूनोर्यथा सुखः। पुत्रस्पर्शात् सुखतरः स्पर्शो लोके न विद्यते ।। महा० ।। २. **कुलाङ्कुरेण** - नवजात पुत्र को कुल का अङ्कुर कहने से उसकी कोमलता, स्वल्पाकारता, भावीवृद्धि आदि का बोध होता है।

तापसी—(उभौ निर्वर्ण्य) **आश्चर्यमाश्चर्यम्।** (अच्छरिअं अच्छरिअं।)

तपस्विनी—(दोनों को देखकर) आश्चर्य है, आश्चर्य है।

राजा—आर्ये, किमिव ?

राजा—आर्ये, (आश्चर्य) क्यों ?

तापसी—अस्य बालकस्य तेऽपि संवादिन्याकृतिरिति विस्मिताऽस्मि। अपरिचितस्यापि तेऽप्रतिलोमः संवृत्त इति। (इमस्सं बालअस्स दे वि संवादिणी आकीदी त्ति बिम्हिदम्हि। अपरिइदस्स वि दे अप्पडिलोमो संवुत्तो त्ति।)

व्या० एवं श०—संवादिनी - संवदतीति - सम्+वद्+णिनि+ङीप् = मिलती हुई। यह पद 'आकृति' इस पद का विशेषण है। विस्मिता - वि+स्मि+क्त+टाप् = आश्चर्यचकित। अप्रतिलोमः - प्रति+लोमन्+अच् - न प्रतिलोम। अप्रतिलोमः = अनुकूल।

तपस्विनी—इस बालक की और आप की मिलती हुयी आकृति है अर्थात् दोनों की आकृति परस्पर मिल रही है। इसलिये मैं आश्चर्य-चकित हूँ। अपरिचित होते हुये भी (यह) आप

के अनुकूल हो गया है (अर्थात् अपरिचित होते हुये भी आप के कहने से यह शान्त हो गया है)।

राजा—(बालकमुपलालयन्) **न चेन्मुनिकुमारोऽयम्, अथ कोऽस्य व्यपदेशः ?**

व्या० एवं श०—व्यपदेशः - व्यपदिश्यते विख्यायते अनेन इति व्यपदेशः - वि+अप+दिश्+घञ् = वंश।

राजा—(बालक को दुलारते हुये) यदि यह मुनि-कुमार नहीं है, तो इसका वंश (व्यपदेश) क्या है ?

तापसी—पुरुवंश। (पुरुवंसो।)

तपस्विनी—पुरुवंश।

राजा—(आत्मगतम्) **कथमेकान्वयो मम ? अतः खलु मदनुकारिणमेनमत्रभवती मन्यते। अस्त्येतत् पौरवाणामन्त्यं कुलव्रतम्।**

व्या० एवं श०—एकान्वयः - एकः अन्वयः यस्य = एक वंश वाला। वंश (कुल) के नौ नाम हैं—'संततिर्गोत्रजननकुलान्यभिजनान्वयौ। वंशोऽन्ववायः संतानः॥ अमरकोष - २/७/१ ब्रह्मवर्ग। अर्थात् १. सन्तति, २. गोत्र, ३. जनन, ४. कुल, ५. अभिजन, ६. अन्वय, ७. वंश, ८. अन्ववाय, ९. सन्तान - ये नौ नाम वंश (कुल) के हैं।

राजा—(अपने मन में) क्या मेरे समान वंश वाला (एकान्वय) है (अर्थात् क्या मेरा और इसका वंश एक ही है) ? इसलिये आदरणीय (आप) (तपस्विनी) इस (बालक को) मेरे समान (अनुरूप) मान रही हैं। यह पुरुवंशियों का अन्तिम कुलव्रत भी है।

भवनेषु रसाधिकेषु पूर्वं क्षितिरक्षार्थमुशन्ति ये निवासम्।
नियतैकयतिव्रतानि पश्चात् तरुमूलानि गृहीभवन्ति तेषाम्॥ २०॥

अन्वय—ये पूर्वं क्षितिरक्षार्थं रसाधिकेषु भवनेषु निवासम् उशन्ति, पश्चात् तेषां नियतैकयतिव्रतानि तरुमूलानि गृहीभवन्ति।

शब्दार्थ—ये = जो। पूर्वम् = पहले। क्षितिरक्षार्थं = पृथ्वी की रक्षा के लिये। रसाधिकेषु = भोगों (रसों) से परिपूर्ण (अत्यधिक भोगों वाले)। भवनेषु = भवनों में। निवासम् = निवास। उशन्ति = चाहते हैं (करते हैं)। पश्चात् = बाद में। तेषाम् = उनका। नियतैकयतिव्रतानि = जहाँ नियमित रूप से तपस्विजन जीवन व्यतीत करते हैं ऐसी। तरुमूलानि = वृक्षों की जड़ें। गृहीभवन्ति = घर हो जाती हैं।

अनुवाद—जो पहले (युवावस्था में) पृथ्वी की रक्षा के लिये भोगों से परिपूर्ण भवनों में निवास चाहते हैं (निवास करते हैं), बाद में (अर्थात् वृद्धावस्था में) जहाँ तपस्विजन नियमित रूप से जीवन व्यतीत करते हैं ऐसी वृक्षों की जड़ें उनका घर हो जाती हैं।

संस्कृत व्याख्या—ये - पौरवाः, **पूर्वं** - प्रथमम्, **यौवने** - इत्यर्थः, **क्षितिरक्षार्थं** - पृथ्वीरक्षणाय, **रसाधिकेषु** - भोग्याढ्येषु, **भवनेषु** - प्रासादेषु, **निवासमुशन्ति** - वासमिच्छन्ति (निवसन्तीत्यर्थः), **पश्चात्** - वृद्धावस्थायाम्, **तेषां** - नृपाणाम्, **नियतैकयतिव्रतानि** - नियतम् व्यवस्थितम् एकम् - पावनम् यतिव्रतम् - वानप्रस्थव्रतम् येषु तथाविधानि निरन्तरतपस्विव्रतानुष्ठानार्हाणि, **तरुमूलानि** - वृक्षमूलानि, **गृहीभवन्ति** - निवासाय सम्पद्यन्ते।

संस्कृत-सरलार्थः—राज्ञः कथनस्यायमभिप्रायः - पौरवा पूर्वं (यौवनकाले) पृथ्वीरक्षणाय भोगाढ्येषु प्रासादेषु निवासं वाञ्छन्ति, तदनन्तरं वार्धक्ये तेषां व्यवस्थितैकवानप्रस्थव्रतानि वृक्षतलानि

भवनानि जायन्ते ।

व्याकरण—रसाधिकेषु – रसैः अधिकेषु (तत्पु०)। क्षितिरक्षार्थम् – क्षितेः रक्षार्थम् (तत्पु०)। नियतैकयतिव्रतानि – नियतम् एकं यतिव्रतं येषु तानि (बहु०)। उशन्ति – वश्+लट्+प्र०पु०ब०व० ।

कोष—'रसो गन्धरसे स्वादे तिक्तादौ विषरागयोः । शृङ्गारादौ द्रवे वीर्ये देहधात्वम्बुपारदे' ।

अलङ्कार—(१) प्रस्तुत श्लोक में 'तरुमूलानि गृहीभवन्ति' में उपमेयभूत तरुमूलों पर जो उपमान भूत गृहत्व का अभिन्नरूप से जो आरोप है, वह (आरोप) प्रकृत अर्थ में उपयोगी है अतः **'परिणाम'** अलङ्कार है । ल०द्र० ३/३ ।

छन्द—यहाँ **'मालभारिणी'** छन्द है । ल०द्र० ३/२१ ।

टिप्पणी—नियतैकयतिव्रतानि – प्राचीन काल में राजा वृद्धावस्था में वानप्रस्थाश्रम का जीवन बिताने के लिये जङ्गल में चले जाते हैं । वहाँ वे यति का व्रत लेकर वृक्षों के नीचे आवास बनाकर रहते थे । यही व्रत पौरवों का भी रहा है । उनके साथ उनकी धर्मपत्नी भी रह सकती थी । याज्ञवल्क्य ने कहा है—'पुत्रेषु दारान् निक्षिप्य वनं गच्छेत् सदैव वा' ।

(प्रकाशम्) **न पुनरात्मगत्या मानुषाणामेष विषयः ।**

(प्रकट रूप में) यह (स्थान) मनुष्यों की अपनी स्वाभाविक गति का विषय नहीं है (अर्थात् मनुष्य अपनी स्वाभाविक शक्ति से इस स्थान तक नहीं पहुँच सकता है)।

तापसी—यथा भद्रमुखो भणति । अप्सरः सम्बन्धेनास्य जनन्यत्र देवगुरोस्तपोवने प्रसूता । (जह भद्दमुहो भणादि । अज्छरासम्बन्धेण इमस्स जणणी एत्थ देवगुरूणो तवोवणे प्पसूदा ।)

व्या० एवं श०—जनन्यत्र – जननी+अत्र – यण सन्धि । देवगुरोः – देवानां गुरुः (जनकः) तस्य (ष०त०) = देवगुरु (पिता) कश्यप के । प्रसूता – प्र+षू (सू)+क्त+टाप् = जन्म दिया ।

तपस्विनी—जैसा महाशय (आप) कहते हैं (वह ठीक है)। अप्सरा (मेनका) से सम्बन्ध होने के कारण इस (बालक) की माँ ने देवताओं के पिता (कश्यप) के आश्रम में (इसको) जन्म दिया है ।

राजा—(अपवार्य) **हन्त, द्वितीयमिदमाशाजननम् ।** (प्रकाशम्) **अथ सा तत्रभवती किमाख्यस्य राजर्षेः पत्नी ?**

व्या० एवं श०—आशाजननम् – आशायाः जननम् = आशाजनक । किमाख्यस्य – का आख्या-नाम – यस्य तस्य = किस नाम वाले । अथ – यह प्रश्नार्थक है—'मङ्गलानन्तरारम्भ-प्रश्नकात्स्न्र्येष्वथो अथ' इत्यमरः ।

राजा—(एक ओर मुख कर) ओह, यह दूसरी आशाजनक (बात) है । (प्रकट रूप में) अच्छा, आदरणीया (इस बालक की माता) किस राजर्षि की पत्नी हैं ?

तपसी—कस्तस्य धर्मदारपरित्यागिनो नाम सङ्कीर्तयितुं चिन्तयिष्यति ? (को तस्स धम्मदारपरिच्चाइणो णाम संकीतिदुं चिन्तिस्सदि ?)

व्या० एवं श०—धर्मदारपरित्यागिनः – धर्मस्य दाराः तादर्थ्ये षष्ठी समासः ताः यः साधु परित्यक्तवान् (इति विनुण्) तस्य = धर्मपत्नी का परित्याग करने वाले । सङ्कीर्तयितुम् –वक्तुम्

= कहने के लिये ।

तपस्विनी—(अपनी) धर्मपत्नी का परित्याग करने वाले उस (व्यक्ति) का नाम लेने को कौन सोचेगा (अर्थात् उसका नाम कौन लेगा) ?

राजा—(स्वगतम्) **इयं खलु कथा मामेव लक्ष्यीकरोति । यदि तावदस्य शिशोर्मातरं नामतः पृच्छामि । अथवाऽनार्यः परदारव्यवहारः ।**

व्या० एवं श०—नामतः = नाम से । 'नामतः पृच्छामि' यह एक प्रकार से संस्कृत का मुहावरा है 'नामतः पृच्छामि' इसका प्रयोग 'नाम पृच्छामि' के स्थान में होता है । अनार्यः – न आर्यः अनार्यः = अनुचित, आर्यजनों श्रेष्ठजनों, द्वारा गर्हीत, अशिष्ट । परदारव्यवहारः – परस्य दाराणां व्यवहारः = आलोचना तत्सम्बन्धिनी कथा ।

राजा—(अपने मन में) वस्तुतः यह कथा तो मुझे ही लक्ष्य बना रही है । तो इस बालक की माता का नाम पूछता हूँ । अथवा दूसरे की स्त्री के प्रति (यह) व्यवहार (पूछ-ताछ) अनुचित है ।

टिप्पणी—(१) **धर्मपरित्यागिनः... चिन्तमिष्यति ?** – अपनी धर्मपत्नी का परित्याग पाप (अधर्म) है । ऐसे पापियों का नामादिग्रहण भी पापजनक माना जाता है । गरुड़ पुराण में कहा गया है—'स्पर्शनाद् भाषणाद् वापि परस्पर स्तवनादपि । दशांशं पुण्यपापानां नित्यं प्राप्नोति मानवः । शिशुपालवध में भी कहा गया है—'कथापि खलु पापानामलमश्रेयसे यतः' । (२) यहाँ 'परिभाषण' नामक 'निबर्हण' सन्धि का अङ्ग है—'वदन्ति परिभाषणम् । परिवादकृतं वाक्यम्' । 'अस्त्येतत् पौरवाणाम्' से 'पारदारव्यवहारः' तक 'विबोध' नामक निर्वहण सन्धि का अङ्ग है । लक्षण—'कार्यस्यान्वेषणं युक्तया विबोधः यदि कीर्तितः' । (३) **'अनार्यःपरदारव्यवहारः'** – यह एक सूक्ति है । इसका अर्थ है कि परस्त्री के विषय में चर्चा आदि करना आर्यगर्हित होने से वर्जित है । अतः परस्त्री के विषय में किसी भी प्रकार की बात नहीं करनी चाहिये । इससे यह भी सिद्ध होता है कि कालिदास के समय में समाज में 'परस्त्री' के विषय में कोई बात करना अशिष्टता समझी जाती थी । राजा के इस कथन से उसकी चारित्रिक उदात्तता का पता चलता है । महाकवि कालिदास ने आगे ऐसा कथाप्रसंग प्रस्तुत किया है कि बिना पूछे ही बालक की माता का 'शकुन्तला' यह नाम ज्ञात हो जाता है ।

(प्रविश्य मृण्मयूरहस्ता)

(मिट्टी का मोर हाथ में ली हुयी प्रवेश कर)

तापसी—सर्वदमन, शकुन्तलावण्यं प्रेक्षस्व । (सव्वदमण, सउन्दनावण्णं पेक्ख ।)

व्या० एवं श०—शकुन्तलावण्यम् – शकुन्तस्य पक्षिणः लावण्यम् = पक्षी के सौन्दर्य को ।

तपस्विनी—सर्वदमन, पक्षी (शकुन्त) का सौन्दर्य देखो ।

बालः—(सदृष्टिक्षेपम्) **कुत्र वा मम माता ?** (कहिं वा मे अज्जू ?)

बालक—(इधर-उधर दृष्टि डालता हुआ) कहाँ है मेरी माँ ?

उभे—नामसादृश्येन वञ्चितो मातृवत्सलः । (णामसारिस्सेण वंचिदो माउवच्छलो) ।

व्या० एवं श०—नामसादृश्येन – नाम्नः अभिधानस्य, सादृश्येन साम्येन, वञ्चितः– प्रतारितः = नाम की समानता के कारण ठगा गया ।

दोनों—नाम की समानता के कारण मातृभक्त (यह बालक) ठगा गया (अर्थात् धोखे में आ गया)।

टिप्पणी—(१) **'शकुन्तलावण्यम् – प्रेक्षस्व'** – तापसी प्राकृत में बोलती है। उसके द्वारा प्रयुक्त 'सउन्दलावण्णं' इस प्राकृत भाषा के पद का दो प्रकार से संस्कृत-रूपान्तर होता है— १. शकुन्तला-वर्णम् , २. शकुन्त-लावण्यम्। शकुन्तला-वर्णम् का अर्थ होता है – शकुन्तला का वर्ण (रूप) यहाँ दूसरा रूपान्तर 'शकुन्तलावण्य' (अर्थात् उसका अर्थ) प्रसङ्ग के अनुसार अभिप्रेत है। 'शकुन्तलावण्यम्' 'शकुन्त' तथा 'लावण्य' इन दो पदों से मिल कर बनता है – 'शकुन्तस्वलावण्यम्' शकुन्तलावण्यम् – और इस का अर्थ होता है शकुन्त अर्थात् पक्षी का लावण्य (सौन्दर्य)। तापसी 'मृण्मयूर' हाथ में लिये हुये थी और उसने सर्वदमन से उसके सौन्दर्य को देखने के लिये कहा था। पर चूँकि 'शकुन्तलावण्य' में 'शकुन्त' इस पद के साथ 'लावण्य' के 'ला' इस पदांश का योग होने से 'शकुन्तला' शब्द बन जाता है, अतः बालक को भ्रमवश पूरे पद (शकुन्तलावण्य) का अर्थ समझ में नहीं आया। केवल उसका 'शकुन्तल' इस अक्षर समूह को सुनते ही अपनी माता का, शकुन्तला का नाम याद आ गया है और वह इस भ्रम के कारण कह उठता है – 'कुत्र वा मम माता शकुन्तला' कहाँ है मेरी माता शकुन्तला ? सर्वदमन के इसी भ्रम का उल्लेख दोनों तापसियाँ इस प्रकार करती हैं—**'नामसादृश्येन वञ्चितो मातृवत्सलः'** और सर्वदमन के उसी भ्रम का निवारण दोनों तापसियाँ इन शब्दों में करती हैं—**'वत्स ! अस्य मृत्तिकामयूर रम्यत्वं पश्येति भणितोऽसि'**।

द्वितीया—वत्स, अस्य मृत्तिकामयूरस्य रम्यत्वं पश्येति भणितोऽसि। (वच्छ, इमस्स मित्तिआमोरअस्स रम्मत्तणं देक्ख त्ति भणिदो सि।)

व्या० एवं श०—रम्यत्वम् – रम्यस्य भावः – रम्य+त्व = रमणीयता को। भणितः – भण्+क्त = कहे गये थे।

दूसरी—बेटा इस मिट्टी के मोर की रमणीयता को देखो, (मेरे द्वारा) तुम कहे गये हो (अर्थात् मैंने तुमसे यह कहा कि इस मिट्टी के मोर का सौन्दर्य देखो)।

राजा—(आत्मगतम्) **किं वा शकुन्तलेत्यस्य मातुराख्या। सन्ति पुनर्नामधेयसादृश्यानि। अपि नाम मृगतृष्णिकेव नाममात्रप्रस्तावो मे विषादाय कल्पते।**

व्या० एवं श०—आख्या = नाम। नामधेयसादृश्यानि – नामधेयस्य नाम्नः सादृश्यानि साम्यानि = नामों की सदृशता। मृगतृष्णिकेव – मृगतृष्णिका+इव (गुण सन्धि) = मृगमरीचिका के समान। नाममात्रप्रस्तावः – नाम एव नाममात्रम् तस्य प्रस्तावः प्रसङ्गः = शकुन्तला के नाम का प्रसङ्ग। विषादाय कल्पते = दुःख के लिये हो जाय। यहाँ 'क्लृप्' धातु के योग में 'क्लृपि सम्पन्नमात्रे च' वार्तिक से विषादाय में चतुर्थी विभक्ति हुई है।

राजा—(अपने मन में) क्या शकुन्तला इसकी माता का नाम है ? किन्तु नामों में समानता भी होती है। ऐसा न हो कि मृगतृष्णा की भाँति (शकुन्तला) के नाम का प्रसङ्ग मेरे दुःख के लिये कारण हो जाय।

बालः—मातः, रोचते म एष भद्रमयूरः। (अज्जुए, रोअदि मे एसो भद्दमोरओ।) (इति क्रीडनकमादत्ते)।

बालक—माँ यह सुन्दर मोर मुझे अच्छा लग रहा है। (खिलौना ले लेता है)।

प्रथमा—(विलोक्य। सोद्वेगम्) **अहो रक्षाकरण्डकमस्य मणिबन्धे न दृश्यते।**

(अम्हहे, रक्खाकरंडअं से मणिबन्धे ण दीसदि।)

व्या० एवं श०—रक्षाकरण्डकम् – रक्षार्थं करण्डकम् = रक्षा सूत्र (ताबीज)। मणिबन्ध – करतलमूल = कलाई में।

पहली—(देखकर, घबराहंट के साथ) हाय, रक्षाकरण्डक रक्षासूत्र यन्त्र इसकी कलाई में नहीं दिखलायी पड़ रहा है।

टिप्पणी—(१) **'शकुन्तलावण्य'** में 'श्लेषवक्रोति' है। द्वयर्थक वाक्य रखने के कारण **'पताकास्थानक'** है सा०द० में इसका लक्षण यह है—द्वयर्थी वचनविन्यासः सुश्लिष्टः काव्यप्रयोजितः। प्रधानार्थान्तरापेक्षी पताकास्थानकं परम्॥ (२) **रक्षाकरण्डकम्** – रक्षार्थं करण्डकम् = रक्षाकरण्डकम्। 'कृ' धातु से 'उणादि सूत्र 'अण्डन कृसृभृवृञः' १/१२९ से 'अण्डन्' प्रत्यय के योग से 'काण्ड' फिर 'कन्' के योग से 'करण्डक' शब्द बनता है। करण्ड का उल्लेख अमरकोष में लिङ्गादिसङ्ग्रहवर्ग में तृतीय काण्ड में हुआ है—'गडुःकरण्डो लगुडो वरण्डश्च किणो ध्रुवः'। मेदिनीकोष में करण्ड का अर्थ, मधुकोष (मधुमक्खी का छत्ता) असि (तलवार), करण्डव (जलपक्षी) दलाढक (फेन समुद्री मछली विशेष की हड्डी आदि) दिया है। करण्ड (करण्डक) का एक अर्थ सन्दूक, सामान रखने का पात्र आदि के साथ छोटी डलिया भी होता है। यदि इसका अर्थ छोटी डिब्बी ले लिया तो उसमें 'अपराजिता' नामक औषधि को रखकर कलाई में बांधने की बात कुछ सङ्गत हो जाती है। वस्तुतः इस 'रक्षा करण्डक' को ही प्रथम तपस्विनी 'अपराजिता' नामक औषधिविशेष बताती है जिसे 'जातकर्म' संस्कार के समय महर्षि कण्व ने दी थी—'एषाऽपराजिता नामौषधिरस्य जातकर्मसमये भगवता मारीचेन दत्ता'। कुछ लोगों ने रक्षाकरण्डक को रक्षासूत्र, कुछ ने रक्षागुलिका, कुछ ने वलयाकारसमूल औषधिविशेष बताया है। वस्तुतः 'रक्षाकरण्डक' से अभिप्राय अपराजिता नामक औषधि विशेष ही है जो ताबीज के रूप में हाथ में बाँधी गयी थी। अब इसे रक्षासूत्र, ताबीज, रक्षागुलिका आदि जो कुछ कह लिया जाय, है वह रक्षात्मक अपराजिता नामक औषधि विशेष ही जो उसके हाथ की कलाई में उसके रक्षार्थ या दृष्टि दोष आदि कुप्रभाव से बचने के लिये बांधी गयी थी।

राजा—अलमावेगेन। नन्विदमस्य सिंहशावकविमर्दात् परिभ्रष्टम्। (इत्यादातुमिच्छति)।

व्या० एवं श०—सिंहशावकविमर्दात् – सिंहशावकस्य विमर्दः तस्मात् = सिंह के बच्चे के कर्षण (रगड़) से। परिभ्रष्टम् – परि+भ्रष्ट+क्त = (कलाई से) गिर गयी।

राजा—घबड़ाइये नहीं। इसका यह रक्षाकरण्डक (रक्षासूत्र, रक्षायन्त्र) सिंह के बच्चे की रगड़ से यहाँ गिर गया है। (उठाना चाहता है)।

उभे—मा खल्वेतदवलम्ब्य। कथं गृहीतमनेन? (मा क्खु एदं अवलम्बिअ। कहं गहीद णेण?)

व्या० एवं श०—मा अवलम्ब्य – अव+लम्ब+क्त्वा – ल्यप् = मत उठाओ (उठाइये)। यहाँ निषेधार्थक 'अलम्' के योग में अव+लम्ब – से 'क्त्वा' प्रत्यय (ल्यप्)।

दोनों—इसे मत उठायिये (छूयिये)। क्या इन्होंने (इस रक्षा-सूत्र को) ले लिया (उठा लिया)?

(इति विस्मयादुरोनिहितहस्ते परस्परमवलोकयतः)

व्या० एवं श०—उरोनिहितहस्ते –'उरसि-वक्षसि निहितः – स्थापितः हस्तः याभ्यां

तादृश्यौ = छाती पर हाथ रखे हुये।

(छाती पर हाथ रखे हुयी दोनों एक दूसरे को देखने लगती हैं)।

राजा—किमर्थं प्रतिषिद्धाः स्मः ?

व्या० एवं श०—प्रतिषिद्धाः - प्रति+सिध्+क्त प्र०ब०व० = रोका गया।

राजा—किसलिये (आप लोगों द्वारा इस रक्षा-सूत्र को उठाने से) मैं रोका गया हूँ।

प्रथमा—श्रृणोतु महाराजः। एषाऽपराजिता नामौषधिरस्य जातकर्मसमये भगवता मारीचेन दत्ता। एतां किल मातापितरावात्मानं च वर्जयित्वाऽपरो भूमिपतितां न गृह्णाति। (सुणादु महाराओ। एसा अवराजिदा णाम ओसही इमस्स जातकम्मसमए भअवदा मारीएण दिण्णा। एदं किल मदापिदरो अप्पाणं च वज्जिअ अवरो भूमिपडिदं ण गेहणादि।)

व्या० एवं श०—वर्जयित्वा = छोड़कर। वृज्+णिच्+क्त्वा। भूमिपतिताम् - भूमौ पतिताम् = भूमि पर गिरी हुयी। मातापितरौ - माता च पिता च मातापितरौ - द्वन्द्व पु०द्वि०व० = माता-पिता को।

पहली—महाराज, सुनिये। यह अपराजिता नाम की औषधि भगवान् कश्यप के द्वारा इस (बालक) के जातकर्म (संस्कार) के समय दी गयी थी। भूमि पर गिरी हुयी इस (औषधि) को माता, पिता और स्वयं को छोड़कर अन्य कोई नहीं उठाता है।

राजा—अथ गृह्णाति ?

राजा—यदि (अन्य कोई इसको) उठा लेता है (तो) ?

प्रथमा—ततस्तं सर्पो भूत्वा दशति। (तदो तं सप्पो भविअ दसइ।)

व्या० एवं श०—दशति - दंश्+लट्+प्र०पु०ए०व० = डँस लेती है।

पहली—तो उसको सर्प होकर डँस लेती (काट लेती) है।

राजा—भवतीभ्यां कदाचिदस्याः प्रत्यक्षीकृता विक्रिया ?

व्या० एवं श०—प्रत्यक्षीकृता - प्रत्यक्ष किया है ? (देखा है ?) प्रत्यक्ष+च्वि+कृ+क्त+टाप्। विक्रिया = विकार-परिवर्तन।

राजा—कभी आप दोनों के द्वारा इस (औषधि) का (साँप के रूप में) बदलना (विक्रिय) होना देखा गया है ?

टिप्पणी—(१) **जातकर्मसमये** - 'जातकर्म' धर्मशास्त्रों द्वारा विहित सोलह संस्कारों में चतुर्थ है। यह संस्कार बच्चे के नाभिवर्धन के पहले होता है। मनु का वचन है—'प्राङ्नाभिवर्धनात् पुंसो जातकर्म विधीयते'। इस संस्कार में शिशु की जिह्वा पर सोने की शलाका से सरस्वती का बीजमन्त्र लिखा जाता है और शिशु को घी एवं मधु चटाया जाता है। (२) **उरोनिहितहस्ते** - छाती पर हाथ रखे हुये - यह विस्मय का अभिनय है - शिरोवृतं पताकश्च वक्षस्थो विस्मये भवेत्। (३) यहाँ **अद्भुत** रस व्यञ्जित हो रहा है। **निर्वहण** सन्धि में **'अद्भुत'** रस की स्थिति आवश्यक है। कहा भी गया है—निर्वहणे कर्त्तव्यो नित्यं हि रसोऽद्भुतः कविभिः।

उभे—अनेकशः। (अणेअसो।)

दोनों—अनेक बार।

राजा—(सहर्षम् । आत्मगतम्) **कथमिव सम्पूर्णमपि मे मनोरथं नाभिनन्दामि ?** (इति बालं परिष्वजते)।

व्या० एवं श०—नाभिनन्दामि – न+अभिनन्दामि–दीर्घ। अभिनन्दामि–अभि+नदि+लट् उ०पु०ए०व० = अभिनन्दन करूँ ?

राजा—(प्रसन्नतापूर्वक, अपने मन में) मैं अपने पूर्ण हुये मनोरथ का अभिनन्दन क्यों न करूँ ! (बालक को छाती से लगा लेता है)।

द्वितीया—सुव्रते, एहि । इमं वृत्तान्तं नियमव्यापृतायै शकुन्तलायै निवेदयावः । (सुव्वदे, एहि। इमं वुत्तन्तं णिअमव्वावुडाए सउन्दलाए णिवेदेम्ह।)

व्या० एवं श०—नियमव्यापृतायै – नियमे–व्रते व्यापृतायै – वि+आ+प्त+क्त+टाप् चतुर्थी विभक्ति = नियम में (व्रत में) तल्लीन। निवेदयावः – नि+विद्+णिच्+ल०उ०पु०द्वि०व० = कहते हैं।

दूसरी—हे सुव्रता, आओ। इस वृत्तान्त को नियम में लगी हुयी शकुन्तला से कह दें।

(इति निष्क्रान्ते)

(दोनों निकल जाती हैं।)

बालः—मुञ्च माम् । यावन्मातुः सकाशं गमिष्यामि । (मुचं मं। जाव अज्जुए सआसं गमिस्सं)।

व्या० एवं श०—सकाशम् = पास।

बालक—मुझको छोड़ो। मैं तो माँ के पास जाऊँगा।

राजा—पुत्रक, मया सहैव मातरमभिनन्दिष्यसि ।

राजा—बेटे, मेरे साथ ही तुम माँ का अभिनन्दन करोगे।

बालकः—मम खलु तातो दुष्यन्तः । न त्वम् । (मम क्खु तादो दुस्सन्दो। ण तुमं।)

बालक—मेरे पिता तो दुष्यन्त हैं। तुम नहीं।

राजा—(सस्मितम्) **एष विवाद एव प्रत्याययति ।**

व्या० एवं श०—प्रत्याययति – प्रति+आ+इ+णिच् प्र०पु०ए०व० = विश्वास दिलाता है।

राजा—(मुस्कराकर) यह विवाद ही (मुझको) विश्वास दिला रहा है (कि तू मेरा पुत्र है)।

(ततः प्रविशत्येकवेणीधरा शकुन्तला)

व्या० एवं श०—एकवेणीधरा – धरतीति धरा – धृ+अच्+टाप् , एका वेणी (कर्म०) तस्याः धरा = एक चोटी धारण करने वाली। यह पद 'शकुन्तला' का विशेषण है। इस पद के दो अर्थ हो सकते हैं—१. एक वेणी बालों की गुंथी चोटी धारण करने वाली, २. एक ही बार बांधी चोटी को धारण करने वाली। अर्थात् विरह के पहले बंधी हुई चोटी धारण करने वाली।

(तत्पश्चात् एक चोटी को धारण करने वाली शकुन्तला प्रवेश करती है)।

टिप्पणी—विरहिणी स्त्री के लिये शृङ्गार करना निषिद्ध है। हारीतस्मृति में कहा गया

है—'न प्रोषिते तु संस्कुर्यात् न वेणीं प्रमोचयेत्' । विष्णुधर्मोत्तरपुराण में भी ऐसा ही प्रतिपादित है—'मण्डनं वर्जयेत् नारी तथा प्रोषितभर्तृका' । वाल्मीकि रामायण में वर्णन है—'एकवेणीधरा हित्वा नगरी सम्प्रतीक्षते' ।

शकुन्तला—विकारकालेऽपि प्रकृतिस्थां सर्वदमनस्यौषधिं श्रुत्वा न मे आशाऽऽसीदात्मनो भागधेयेषु । अथवा यथा सानुमत्याऽऽख्यातं तथा सम्भाव्यत एतत् । (विआरकाले वि पकिदिश्थं सव्वदमणस्स ओसहिं सुणिअ ण मे आसा आसि अत्तणो भाअहेएसु। अहवा जह साणुमदीए आचक्खिदं तह संभावीअदि एदं ।)

व्या० एवं श०—विकारकालेऽपि – विकार = परिवर्तन के समय भी, अर्थात् सर्प का रूप धारण करने के समय भी। प्रकृतिस्थाम् – प्रकृतौ तिष्ठति – प्रकृति+स्था+क+टाप् = स्वाभाविक अवस्था में विद्यमान (अपरिवर्तित)। आत्मनः = अपने। भागधेयेषु = भाग्य पर। आख्यातम् – आ+ख्या+क्त = कहा गया-कहा था। सम्भाव्यते = सम्भव-सम्भावित है। सम्+भू+णिच्+यक् लट् प्र०पु०ए०व० ।

शकुन्तला—(सर्प के रूप में) बदलने (विकार-परिवर्तन) के समय भी सर्वदमन की औषधि को अपनी स्वाभाविक दशा में ही रहने (अर्थात् सर्प के रूप में न बदलने) (के समाचार) को सुनकर (भी) मुझे अपने भाग्य पर आशा नहीं थी। अथवा जैसा कि सानुमती के द्वारा कहा गया था, उस प्रकार यह सम्भव भी है (कि पतिदेव मुझे खोजते हुये यहाँ आये हों)।

टिप्पणी—(१) **'विकारकालेऽपि प्रकृतिस्थाम्'** – सर्वदमन के 'जातकर्म' संस्कार के अवसर पर 'अपराजिता' नामक औषधि विशेष को मारीच ने उसकी कलाई में 'रक्षाकरण्डक' के रूप में बाँध दिया था। उसे भूमि पर गिरने पर माता, पिता तथा सर्वदमन को छोड़कर यदि कोई दूसरा उठाता है, तो वह सर्प रूप में उसे डँस लेता है। उसे दुष्यन्त के द्वारा उठाये जाने पर उसका विकृत अर्थात् सर्प के रूप में परिवर्तित न होना इस बात को सिद्ध करता है कि उसे उठाने वाला व्यक्ति सर्वदमन के पिता दुष्यन्त ही हैं क्योंकि उसे न मैंने उठाया और न ही सर्वदमन ने। अतः तीसरा व्यक्ति और कौन हो सकता है ? **'यथा सानुमत्याऽऽख्यातम्'** – सानुमती ने यह बात शकुन्तला से कह दी थी कि 'अदिति के अनुसार दुष्यन्त के द्वारा शकुन्तला का अभिनन्दन देवता करायेंगे' ।

राजा—(शकुन्तलां विलोक्य) **अये, सेयमत्रभवती शकुन्तला । यैषा—**

राजा—(शकुन्तला को देखकर) अरे, ये वही शकुन्तला हैं जो यह—

वसने परिधूसरे वसाना नियमक्षाममुखी धृतैकवेणिः ।
अतिनिष्करुणस्य शुद्धशीला मम दीर्घं विरहव्रतं बिभर्ति ।। २१ ।।

अन्वय—परिधूसरे वसने वसाना नियमक्षाममुखी धृतैकवेणिः शुद्धशीला, अतिनिष्करुणस्य मम दीर्घं विरहव्रतं बिभर्ति ।

शब्दार्थ—परिधूसरे = अत्यन्त मलिन (मैले)। वसने = दो वस्त्रों को। वसाना = पहनी हुयी। नियमक्षाममुखी = जिसका मुख नियम-पालन के कारण कृश (दुर्बल) हो गया है ऐसी (नियम-पालन के कारण कृश मुख वाली)। धृतैकवेणिः = जिसके द्वारा एक चोटी (वेणी) धारण की गयी है ऐसी, एक चोटी को धारण करने वाली। शुद्धशीला = पवित्र आचरण वाली। अतिनिष्करुणस्य = अत्यन्त निर्दय (निष्ठुर)। मम = मेरे। दीर्घं = लम्बे। विरहव्रतम् = विरह-

व्रत को। बिभर्ति = धारण कर रही है।

अनुवाद—जो अत्यन्त मलिन वस्त्रों को पहनी हुयी, नियम-पालन के कारण कृश (दुर्बल) मुखवाली, एक चोटी (वेणी) को धारण की हुई पवित्र आचरण वाली (ये शकुन्तला) अत्यन्त निर्दय मेरे (इतने) लम्बे (दीर्घकालिक) विरह-व्रत को धारण कर रही हैं।

संस्कृत व्याख्या—परिधूसरे – परि – परितः – धूसरे – मलिने, अत्यन्तमलिने, **वसने** – वस्त्रे, **वसाना** – धारयन्ती, **नियमक्षाममुखी** – नियमेन व्रतेन क्षामं कृशं मुखं यस्याः सा – व्रतपरिपालनक्षीणमुखी, **धृतैकवेणिः** – एकवेणिधारिणी, **शुद्धशीला** – शुद्धम् पवित्रम् शीलम् चरितम् यस्याः सा, पवित्राचारा, **अतिनिष्करुणस्य** – अत्यन्तनिष्ठुरस्य, **मम** – दुष्यन्तस्य, **दीर्घं** – बहुकालीनम् , **विरहव्रतं** – वियोगव्रतम् , **बिभर्ति** – धारयति।

संस्कृत-सरलार्थः—मलिवस्त्रां विरहकृशाञ्च शकुन्तलामवलोक्य राजा कथयति—अत्यन्तमलिनवस्त्रद्वयं धारयन्ती, विरहव्रतपालनेन कृशमुखी (क्षीणवदना), एकवेणीधरा तथा शुद्धाचारेयमत्रभवती शकुन्तला निर्दयस्य मम दीर्घकालीनं विरहव्रतं धारयति।

व्याकरण—वसाना – 'वस' आच्छादने+शानच्। नियमक्षाममुखी – नियमेन क्षामं मुखं यस्याः सा (बहु०)। धृतैकवेणिः – धृता एका वेणीः यया सा (बहु०)। शुद्धशीला – शुद्धं शीलं यस्याः सा (बहु०)। बिभर्ति – भृ+लट् प्र०पु०ए०व०।

रस-भाव—यहाँ शकुन्तला की कारुणिक दशा के वर्णन से सहृदयों के हृदय में कारुण्य भाव की अनुभूति होती है। यहाँ नायकगत निर्वेद व्यञ्जित हो रहा है।

अलङ्कार—(१) प्रस्तुत पद्य में विरहिणी शकुन्तला का स्वाभाविक वर्णन होने से 'स्वभावोक्ति' अलङ्कार है। ल०द्र० १/७। (२) नियमक्षाममुखी में 'काव्यलिङ्ग' अलङ्कार है। ल०द्र० १/४ श्लोक।

छन्द—यहाँ **'मालभारिणी'** छन्द है। ल०द्र० ३/२१।

टिप्पणी—(१) इस श्लोक में विरहिणी शकुन्तला का सजीव चित्रण है। उसकी विरहावस्था का वर्णन करने के लिये तीन विशेषणों का प्रयोग है—१. वसने परिधूसरे वसाना, २. नियमक्षाममुखी, ३. धृतैकवेणिः। **द्रष्टव्य**—टिप्पणी – 'ततः प्रविशत्येकवेणीधरा शकुन्तला'। प्राचीनकाल में विरहिणी के लिये एक चोटी धारण करना, मलिन वस्त्र पहनना तथा नियमव्रत करना पड़ता था। (२) इसी प्रकार विरहिणी का वर्णन संस्कृत-साहित्य में अन्यत्र भी मिलता है। जैसे—'परिपाण्डुदुर्बलकपोलसुन्दरं दधती विलोलकबरीकमाननम्। करुणस्य मूर्तिरथवा शरीरिणी विरहव्यथेव वनमेति जानकी'॥ उत्तररामचरितम्॥

शकुन्तला—(पश्चात्तापाववर्णं राजानं दृष्ट्वा) **न खल्वार्य पुत्र इव। ततः क एष इदानीं कृतरक्षामङ्गलं दारकं मे गात्रसंसर्गेण दूषयति।** (ण क्खु अज्जउत्तो विअ। तदो, को एसो दाणिं किदरक्खामंगलं दारिअं मे गत्तसंसग्गेण दूसेदि ?)

व्या० एवं श०—कृतरक्षामङ्गलम् – कृतं रक्षार्थं मङ्गलं यस्य तम् = मङ्गल रक्षाकरण्डक को धारण किये हुये। दारकम् = पुत्र को। गात्रसंसर्गेण = शरीर के सम्पर्क से।

शकुन्तला—(पश्चात्ताप के कारण मलिन राजा को देखकर) ये तो आर्यपुत्र के सदृश नहीं है। तो यह कौन इस समय मङ्गल रक्षाकरण्डक को धारण करने वाले मेरे पुत्र को (अपने) शरीर के स्पर्श से दूषित कर रहा है।

बालः—(मातरमुपेत्य) **मातः, एष कोऽपि पुरुषो मां पुत्र इत्यालिङ्गति ।** (अज्जुए, एसो को वि पुरिसो मं पुत्त त्ति आलिंगादि ।)

बालक—(माता के पास जाकर) माँ, यह कोई (अपरिचित) पुरुष 'पुत्र'—ऐसा (कहकर मेरा आलिङ्गन कर रहा है)।

राजा—**प्रिये, क्रौर्यमपि मे त्वयि प्रयुक्तमनुकूलपरिणामं संवृत्तम् , यदहमिदानीं त्वया प्रत्यभिज्ञातमात्मानं पश्यामि ।**

व्या० एवं श०—क्रौर्यम् – क्रूरस्य भावः – क्रूर+ष्यञ् = क्रूरता । अनुकूलपरिणामम् – अनुकूलः सरसः परिणामः विपाकः यस्य तथाविधम् = अनुकूल परिणाम वाला । प्रत्यभिज्ञातम् – प्रति+अभि+ज्ञा+क्त = पहचाना गया ।

राजा—प्रिये, तुम्हारे प्रति की गयी मेरी क्रूरता भी (मेरे) अनुकूल परिणाम वाली हो गयी है, क्योंकि अब मैं अपने को तुम्हारे द्वारा पहचाना हुआ देख रहा हूँ।

शकुन्तला—(आत्मगतम्) **हृदय, समाश्वसिहि समाश्वसिहि । परित्यक्तमत्सरेणानुकम्पितास्मि दैवेन । आर्यपुत्रः खल्वेषः ।** (हिअअ, समस्सस समस्सस । परिच्चत्तमच्छरेण अणुअप्पिअ म्हि देव्वेण । अज्जउत्ता क्खु एसो ।)

व्या० एवं श०—समाश्वसिहि – सम्+आ+श्वस्+लोट् म०पु०ए०व० = समाश्वस्त हो, धैर्य धारण करो । परित्यक्तमत्सरेण – परित्यक्तः मत्सरः येन तेन (ब०व्री०) = परित्याग कर दिया है मत्सर (द्वेष भाव) जिसने ऐसे के द्वारा । 'मत्सरोऽन्यशुभद्वेषे' इत्यमरः । 'क्वचित् क्रोधेऽपि मत्सरः' रत्नकोषः । अनुकम्पिता – अनु+कपि (कप्)+क्त+टाप् = प्राप्त कर लिया है अनुकम्पा (कृपा) जिसने ऐसी, कृपापात्र ।

शकुन्तला—(अपने मन में) हृदय, धैर्य रखो, धैर्य रखो । भाग्य ने द्वेषभाव छोड़कर मेरे ऊपर कृपा की है । ये आर्यपुत्र (पतिदेव) ही हैं ।

राजा—**प्रिये,**

स्मृतिभिन्नमोहतमसो दिष्ट्या प्रमुखे स्थितासि मे सुमुखि ।
उपरागान्ते शशिनः समुपगता रोहिणी योगम् ।। २२ ।।

अन्वय—सुमुखि, दिष्ट्या स्मृतिभिन्नमोहतमसः, मे प्रमुखे स्थिता असि, उपरागान्ते रोहिणी शशिनः योगं समुपगता ।

शब्दार्थ—सुमुखि = हे सुमुखी (सुन्दर मुख वाली)। दिष्ट्या = सौभाग्य से। स्मृतिभिन्नमोहतमसः = स्मरण हो जाने के कारण दूर (समाप्त) हो गया है अज्ञान रूपी अन्धकार जिसका ऐसे, (समाप्त अज्ञान रूपी अन्धकार वाले)। मे = मेरे। प्रमुखे = समक्ष (तुम उसी प्रकार)। स्थिता असि = उपस्थित हो गयी हो, जिस प्रकार। उपरागान्ते = ग्रहण के समाप्त होने पर। रोहिणी = रोहिणी। शशिनः = चन्द्रमा के। योगम् = संयोग को (मिलन को)। समुपगता = प्राप्त कर लेती है।

अनुवाद—हे सुमुखी (सुन्दरी), सौभाग्य से स्मरण हो जाने के कारण अज्ञान रूपी अन्धकार से विमुक्त मेरे समक्ष तुम (उसी प्रकार) उपस्थित हो गयी हो, (जिस प्रकार) ग्रहण के समाप्त होने पर (चन्द्रमा की पत्नी) रोहिणी चन्द्रमा के संयोग (मिलन) को प्राप्त कर लेती है (अर्थात् चन्द्रमा से मिल जाती है)।

संस्कृत व्याख्या—सुमुखि – सुन्दरि, **दिष्ट्या** – सौभाग्येन, **स्मृतिभिन्नमोहतमसः** – पूर्ववृत्तान्तस्मरेण नष्टः अज्ञानरूपः अन्धकारः यस्य तस्य, **मे** – मम दुष्यन्तस्य, **प्रमुखे** – सम्मुखे, **स्थितासि** – उपस्थितासि (यथा), **उपरागान्ते** – उपरागः राहुणा ग्रासः तस्य अतो ग्रहणावसाने, **रोहिणी** – चन्द्रस्य पत्नी दक्षकन्या, **शशिनः** – चन्द्रस्य, **योगं** – संयोगम् , **समुपगता** – सम्प्राप्ता।

संस्कृत-सरलार्थः—राजा वदति शकुन्तलाम् – सुमुखि ! यथा चन्द्रस्य राहुग्रासान्ते तत्पत्नया रोहिण्यास्तेन सह सम्मेलनं जायते, तथैव सौभाग्येन पूर्ववृत्तान्तस्मरणेनोच्छिन्नमोहान्धकारस्य मम समक्षं त्वमुपस्थिताऽसि। चन्द्रेण सह यथा रोहिण्याः संयोगस्तथैव मया सह तव संयोग इति भावः।

व्याकरण—स्मृतिभिन्नमोहतमसः – स्मृत्या भिन्नं मोहरूपं तमः यस्य तस्य (बहु०)। उपरागान्ते – (उपरज्यतेऽनेनेति – उप+रञ्ज्+घञ् – उपरागः) उपरागस्य अन्ते (तत्पु०)। समुपगता – सम्+उप+गम्+टाप्। स्थिता – स्था+क्त+टाप्।

कोष—'उपरागो ग्रहो राहुग्रस्ते त्विन्दौ च पुष्णि च' इत्यमरः।

अलङ्कार—(१) सम्पूर्ण पद्य में **'दृष्टान्त'** अलङ्कार है। यहाँ ग्रहण के पश्चात् जिस प्रकार उसके साथ रोहिणी का मिलन होता है, उसी प्रकार विस्मृति के समाप्त होने पर (अज्ञानान्धकार के दूर होने से) दुष्यन्त के साथ शकुन्तला का मिलन हुआ है। यहाँ पूर्वार्द्धगत उपमेयभूत वाक्य का उत्तरार्द्धगत उपमानभूत वाक्य के साथ मिलन रूप साधारण धर्म आदि का बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव होने से **'दृष्टान्त'** अलङ्कार है। ल०द्र० १/२५ श्लो०।

छन्द—यहाँ **'आर्या'** (जाति) छन्द है। ल०द्र० १/२ श्लो०।

टिप्पणी—(१) पौराणिक कथा के अनुसार सभी २७ नक्षत्र दक्ष प्रजापति की पुत्रियाँ हैं, जिनका विवाह चन्द्रमा से हुआ है। रोहिणी इन्हीं नक्षत्रों में चौथी हैं, जो चन्द्रमा की सर्वाधिक प्रिय पत्नी है। (२) राजा के कथन का अभिप्राय है कि हम दोनों का पुनर्मिलन वैसे ही हुआ है जैसे ग्रहण के पश्चात् पुनः चन्द्रमा से रोहिणी का मिलन होता है। (३) यहाँ 'कृति' नामक निर्वहण सन्धि का अङ्ग है।

शकुन्तला—जयतु जयत्वार्यपुत्रः... । (जेदु जेदु अज्जउत्तो।) (इत्यर्धोक्ते बाष्पकण्ठी विरमति)।

व्या० एवं श०—बाष्पकण्ठी – वाष्पेण अश्रुभारेण सन्नः अवरुद्धः कण्ठो यस्याः सा = अश्रुपूरित कण्ठ वाली। विशेष—यह कारुणिक प्रसङ्ग है।

शकुन्तला—जय हो, आर्यपुत्र की जय हो। (आधा ही कहने पर आँसुओं से गला भर जाने के कारण रुक जाती है)।

राजा—सुन्दरि,

बाष्पेण प्रतिषिद्धेऽपि जयशब्दे जितं मया।
यत्ते दृष्टमसंस्कारपाटलोष्ठपुटं मुखम्॥ २३॥

अन्वय—वाष्पेण जयशब्दे प्रतिषिद्धे अपि मया जितम् , यत् असंस्कारपाटलोष्ठपुटं ते मुखं दृष्टम्।

शब्दार्थ—वाष्पेण = आँसू से। जयशब्दे = जयशब्द के। प्रतिषिद्धे = रोक लिये जाने पर। अपि = भी। मया = मेरे द्वारा। जितम् = विजय प्राप्त कर ली गयी है। यत् = क्योंकि।

असंस्कारपाटलोष्ठपुटम् = बिना प्रसाधन (सजावट) के भी लाल ओठों से युक्त। ते = तुम्हारा। मुखम् = मुख। दृष्टम् = (मैंने) देख लिया।

अनुवाद—(गले में) आँसू के कारण जयशब्द के रोक लिये जाने पर भी मैंने (एक प्रकार से) वियज प्राप्त कर ली, क्योंकि बिना प्रसाधन (सजावट) के भी लाल ओठों से युक्त तुम्हारा मुख देख लिया।

संस्कृत व्याख्या—वाष्पेण – अश्रुप्रवाहेण, **जयशब्दे** – 'जयतु जयत्वार्यपुत्रः' इति शब्दे, **प्रतिषिद्धेऽपि** – निरुद्धेऽपि, **मया** – दुष्यन्तेन, **जितम्** – जयः प्राप्तः, **यत्** – यस्मात्, **असंस्कारपाटलोष्ठपुटम्** –प्रसाधनाभावेन अपि रक्तम् ओष्ठपुटं यस्य तत्, **ते** – शकुन्तलायाः, **मुखम्** – आननम् (मया), **दृष्टं** – विलोकितम्।

संस्कृत-सरलार्थः—राजा वदति शकुन्तलाम् – 'सुन्दरि! यद्यपि माम्प्रति (मम कृते) त्वयोच्चारितो जयेति शब्दस्तवाश्रुभिः समवरुद्धस्तथापि मया विजयश्रीः प्रकारान्तरेण प्राप्तैव, यथा हि प्रसाधनाभावे सत्यपि सहजश्वेतरक्तोष्ठपुटं ते मुखं मयाऽवलोकितम्।

व्याकरण—प्रतिषिद्धे – प्रति+सिध्+क्त। असंस्कारपाटलोष्ठपुटम् – असंस्कारेण पाटलम् ओष्ठपुटं यस्य तत् (बहु०)। यहाँ पाटल+ओष्ठपुटम् में 'ओत्वोष्ठयोः समासे वा' से विकल्प से पररूप हुआ है।

कोष—'श्वेतरक्तस्तु पाटलः' इत्यमरः।

अलङ्कार—(१) 'जय' शब्द के रोक लिये जाने पर भी (बाष्पेण प्रतिसिद्धेऽपि जयशब्दे) जय (जितम्) होने का कथन होने से परस्पर विरोध के कारण **'विरोधाभास'** अलङ्कार है। ल०द्र० २/११ श्लो०। 'जितम्' के प्रति उत्तरार्द्धगत वाक्यार्थ के हेतु रूप से उपस्थित होने के कारण **'काव्यलिङ्ग'** अलङ्कार है। ल०द्र० १/४ श्लो०।

छन्द—यहाँ **'अनुष्टुप्'** छन्द है। ल०द्र० १/५ श्लो०।

टिप्पणी—दुष्यन्त के कहने का भाव यह है कि यद्यपि उसकी प्रिया शकुन्तला के द्वारा अश्रुप्रवाह के कारण मेरे लिये पूर्णतः 'जयतु जयतु...' नहीं कहा जा सका पर उसके अभाव में भी मेरी विजय इसलिये हो गयी क्योंकि अपनी प्रिया के चिरकाल से अदृष्ट सुन्दर मुख को मैंने देख लिया। प्रिय मुखदर्शन से बढ़कर मेरे लिये अन्य विजय और क्या हो सकती है?

बालः—मातः क एषः? (अज्जुए, को एसो?)

बालक—माँ, यह कौन हैं?

शकुन्तला—वत्स, ते भाग्यधेयानि पृच्छ। (वच्छ, दे भाअहेआइं पुच्छेहि।)

शकुन्तला—बेटा, अपने भाग्य से पूछो।

विशेष—(१) शकुन्तला का यह वाक्य अत्यन्त भावपूर्ण है। इसमें उसके आहत भावों की व्यञ्जना है। (२) शकुन्तला अपने पुत्र का नाम नहीं लेती। उसे 'वत्स' पुत्र कह कर पुकारती है। कहा गया है—'आत्मनाम गुरोर्नाम नामातिकृपणस्य च। श्रेयस्कामो न गृहणीयात् ज्येष्ठापत्यकलत्रयोः।

राजा—(शकुन्तलायाः पादयोः प्रणिपत्य)—

व्या० एवं श०—प्रणिपत्य – प्र+नि+पत्+क्त्वा – ल्यप् = गिरकर।

राजा—(शकुन्तला के पैरों पर गिरकर)—

सुतनु हृदयात् प्रत्यादेशव्यलीकमपैतु ते
किमपि मनसः सम्मोहो मे तदा बलवानभूत् ।
प्रबलतमसामेवंप्रायाः शुभेषु हि वृत्तयः
स्रजमपि शिरस्यन्धः क्षिप्तां धुनोत्यहिशङ्कया ।। २४ ।।

अन्वय—सुतनु, ते हृदयात् प्रत्यादेशव्यलीकम् अपैतु, तदा मे मनसः किमपि बलवान् सम्मोहः अभूत् , हि शुभेषु प्रबलतमसां वृत्तयः एवंप्रायाः (भवन्ति), अन्धः शिरसि क्षिप्तां स्रजम् अपि अहिशङ्कया धुनोति ।

शब्दार्थ—सुतनु = हे सुन्दरी । ते = तुम्हारे । हृदयात् = हृदय से । प्रत्यादेशव्यलीकम् = (मेरे द्वारा किये गये) परित्याग का दुःख । अपैतु = दूर हो जाय (निकल जाना चाहिये) । तदा = उस समय । मे = मेरे । मनसः = मन में । किमपि = कुछ, विलक्षण । बलवान् = प्रबल । सम्मोहः = अज्ञान । अभूत् = उत्पन्न हो गया था । हि = क्योंकि । शुभेषु = शुभ (मङ्गलमय) वस्तुओं के विषय में । प्रबलतमसाम् प्रबल तमोगुण वाले लोगों की । वृत्तयः = प्रवृत्तियाँ (आचरण, व्यवहार) । एवंप्रायाः = इसी प्रकार की । भवन्ति = होती हैं । अन्धः = अन्धा । शिरसि = शिर पर । क्षिप्ताम् = फेंकी गयी (डाली गयी) । स्रजम् = माला को । अपि = भी । अहिशङ्कया = सर्प की शङ्का से, साँप समझकर । धुनोति = फेंक देता है (हटा देता है) ।

अनुवाद—हे सुन्दरी, तुम्हारे हृदय से (मेरे द्वारा किये गये) परित्याग का दुःख दूर हो जाना चाहिये । उस समय (तुम्हारे परित्याग के समय) मेरे मन में कुछ (विलक्षण) अज्ञान उत्पन्न हो गया था । क्योंकि शुभ (मङ्गलमय) वस्तुओं के विषय में प्रबल तमोगुण वाले लोगों की प्रवृत्तियाँ (आचार पद्धतियाँ) ऐसी ही (हो जाती हैं) । अन्धा व्यक्ति शिर पर डाली गयी (पुष्पों की) माला को भी साँप समझकर फेंक देता है ।

संस्कृत व्याख्या—**सुतनु** – हे सुन्दरि, **ते** – शकुन्तलायाः, **हृदयात्** – चेतसः, **प्रत्यादेशव्यलीकम्** – परित्यागस्य दुःखम् , **अपैतु** – दूरीभवतु, **तदा** – तस्मिन्काले, (तव प्रत्याख्यानसमये इति भावः), **मे** – मम दुष्यन्तस्य, **मनसः** – चेतसः, **किमपि** – अनिर्वचनीयं, **सम्मोहः** – अज्ञानम् , **अभूत्** – जातः, **हि** – यतः, **शुभेषु** – श्रेयस्यकरेषु (कार्येषु), **प्रबलतमसां** – प्रबलः तमोगुणप्रभावः, येषां तेषां जनानाम् , **वृत्तयः** – व्यापाराः, **एवंप्रायाः** – एवंविधा एव, भवन्तीति शेषः, **अन्धः** – नयनविहीनः, **शिरसि** – मूर्धनि, **क्षिप्ताम्** – अन्येन समर्पिताम् , **स्रजम् अपि** – पुष्पमालामपि, **अहिशङ्कया** – सर्पभ्रान्त्या, **धुनोति** – दूरं क्षिपति ।

संस्कृत-सरलार्थः—शकुन्तलायाः पादयोर्निपत्य दुष्यन्तः कथयति—'सुन्दरि ! साम्प्रतं त्वन्मनसो मत्कृतप्रत्याख्यानदुःखं दूरीभवेत् । वस्तुतस्तदा मे मनसि कोऽप्यनिर्वचनीयो भ्रम आसीत् । तद्वशादेवानिच्छताऽपि मया त्वं प्रत्याख्याता । यतो हि संसारे प्रबलमोहग्रस्तानां व्यवहारा एवंविधा एव भवन्ति । मोहवशात्ते शुभकार्येष्वपि – एवमेवाचरन्ति । अन्धो जनः केनापि स्वाशिरसि परिधापितामपि पुष्पमालामहिभ्रान्त्या क्षिपति ।

व्याकरण—सुतनु – शोभना तनूः यस्याः सा सुतनूः – (प्रा०बहु०) तत्सम्बोधने सुतनु । 'अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः' सूत्र से 'ऊ' को ह्रस्व है । प्रत्यादेशव्यलीकम् – प्रत्यादेशस्य व्यलीकम् (तत्पु०) । प्रबलतमसाम् – प्रबलं तमः येषां तेषां (बहु०) । धुनोति – धू+लट्+प्र०पु०ए०व० ।

सम्मोहः – सम्+मुह्+घञ् । क्षिप्ताम् – क्षिप्+क्त+टाप् । एवंप्रायाः- प्रायेण एवम् इति – एवंप्रायाः – (मयूर० स०) ।

कोष—'व्यलीकं त्वप्रियेऽनृते' इत्यमरः । 'पीडार्थे व्यलीकं स्यात्' इत्यमरः ।

अलङ्कार—(१) पद्य में प्रथम चरणगत अर्थ के प्रति द्वितीय चरणगत अर्थ हेतु के रूप में उपन्यस्त है अतः (वाक्यार्थहेतुक) **'काव्यलिङ्ग'** अलङ्कार है । ल०द्र० १/४ श्लो० । (२) तृतीय चरण में वर्णित सामान्य से प्रथम दो चरणों मे वर्णित विशेष का समर्थन किया गया है अतः **'अर्थान्तरन्यास'** अलङ्कार है । ल०द्र० १/२ श्लो० । (३) 'अहिशङ्कया' में **'भ्रान्तिमान्'** अलङ्कार है । क्योंकि माला में सर्प की भ्रान्ति है । ल०द्र० १/२ श्लो० । (४) 'बिम्ब-प्रतिबिम्ब' होने से **'दृष्टान्त'** अलङ्कार भी है । ल०द्र० १/२५ श्लो० ।

छन्द—यहाँ **'हरिणी'** छन्द है । ल०द्र० ३/१० श्लो० ।

टिप्पणी—(१) **'शकुन्तलायाः पादयोः निपत्य'** से लेकर यह पूरा श्लोक दुष्यन्त के द्वारा की गयी क्षमाप्रार्थना है । दुष्यन्त का कहना है कि उसके द्वारा शकुन्तला का किया गया तिरस्कार मोह (अज्ञान) के कारण था, जानबूझकर नहीं था । इस श्लोक में अन्धे का दृष्टान्त अत्यन्त सटीक है । (२) नायिका (प्रेमिका) के कोप की शान्ति के लिये छः उपाय बताये गये हैं—'सामभेदोऽथ दानञ्च नत्युपेक्षे रसान्तरम् । तद्भङ्गाय पतिःकुर्यात् षडुपायानिति क्रमात् ॥ तत्र प्रियवचः साम भेदस्तत्सख्युपार्जवम् । दानं व्याजेन भूषादेः पादयोः पतनं नतिः ॥ (३) **'पादयोः प्रणिपत्य'** से लेकर यहाँ तक **'अनुनय'** नामक नाट्यलक्षण है—'वाक्यैः स्निग्धैरनुनयो भवेदर्थस्य साधनम्' । इसे ही **'अनुनय'** नामक भूषण मानते हैं—अभ्यर्थना परं वाक्यं विशेषोऽनुनयो बुधैः ।

शकुन्तला—उत्तिष्ठत्वार्यपुत्रः । नूनं मे सुचरितप्रतिबन्धकं पुराकृतं तेषु दिवसेषु परिणामाभिमुखमासीद् येन सानुक्रोशेऽप्यार्यपुत्रो मयि विरसः संवृत्तः । (उट्ठेदु अज्जउत्तो । णूणं मे सुअरिअप्पडिबन्धअं पुराकिदं तेसु दिअहेसु परिणामाहिमुहं आसि जेण साणुक्कोसो वि अज्जउत्तो मइ विरसो संवुत्तो ।)

व्या० एवं श०—सुचरितप्रतिबन्धकम् – सुचरितस्य पुण्यकर्मणः प्रतिबन्धकम् – प्रतिरोधकम् = पुण्यकर्म का अवरोधक । पुराकृतम् = पूर्व जन्म में किया हुआ (पाप) । परिणामाभिमुखम् – परिणामे मुखं यस्य तादृशम् – पाकाभिमुखम् = फलोन्मुख । सानुक्रोशः – अनुक्रोशेन सहितः = दयालु ।

शकुन्तला—आर्यपुत्र उठें । निश्चय ही पुण्यकर्म का अवरोधक मेरा पूर्वजन्म में किया हुआ (पाप) उन दिनों फलोन्मुख था, जिससे दयालु होते हुये भी आर्यपुत्र (आप) मेरे प्रति अनुरागहीन (विरस) हो गये थे ।

टिप्पणी—'कृपा दयाऽनुकम्पा स्यादनुक्रोशः' ।

(राजोत्तिष्ठति) ।

(राजा उठता है) ।

शकुन्तला—अथ कथमार्यपुत्रेण स्मृतो दुःखभाग्ययं जनः ? (अह कहं अज्जउत्तेण सुमरिदो दुक्खभाई अअं जणो ?)

शकुन्तला—अच्छा, आर्यपुत्र के द्वारा दुःखी यह व्यक्ति कैसे याद किया गया ?

राजा—उद्धृतविषादशल्यः कथयिष्यामि ।

व्या० एवं श०—उद्धृतमुन्मूलितं विषादशल्यं येन = विषाद रूपी बाण के निकल जाने पर ।

राजा—दु:ख (विषाद) रूपी बाण के निकल जाने पर मैं बतलाऊँगा ।

मोहान्मया सुतनु पूर्वमुपेक्षितस्ते यो बाष्पबिन्दुरधरं परिबाधमानः ।
तं तावदाकुटिलपक्ष्मविलग्नमद्य बाष्पं प्रमृज्य विगतानुशयो भवेयम् ।। २५ ।।

अन्वय—सुतनु, ते अधरं परिबाधमानः यः बाष्पबिन्दुः मया मोहात् पूर्वम् उपेक्षितः अद्य आकुटिलपक्ष्मविलग्नं तं बाष्पं प्रमृज्य तावत् विगतानुशयः भवेयम् ।

शब्दार्थ—सुतनु = हे सुन्दरी ! ते = तुम्हारे । अधरम् = अधर को । परिबाधमानः = पीड़ित करते हुये । यः = जो । बाष्पबिन्दुः = अश्रुकण (आँसू की बूँदे) । मया = मेरे द्वारा । मोहात् = मोहवश (अज्ञानवश), पूर्वम् = पहले । उपेक्षितः = उपेक्षित कर दिये गये थे । आकुटिलपक्ष्मविलग्नम् = कुछ तिरछी बरौनियों (पलकों) में लगे हुये । तम् = उस । बाष्पम् = आँसू को । प्रमृज्य = पोंछकर । तावत् = अब । विगतानुशयः = दूर हो गया है पश्चात्ताप जिसका ऐसा (पश्चात्ताप से रहित) । भवेयम् = हो जाऊँ ।

अनुवाद—हे सुन्दरी (सुन्दर शरीर वाली), तुम्हारे अधर (निचले ओठ) को पीड़ित करते हुये जो अश्रुकण (आँसू की बूँदे) मेरे द्वारा मोहवश (अज्ञानवश) पहले (परित्याग के समय) उपेक्षित कर दिये गये थे । (अर्थात् जिनकी मैंने उपेक्षा कर दी थी), कुछ तिरछी बरौनियों (पलकों) में लगे हुये उस आँसू को (अपने हाथों से) पोंछकर अब मैं पश्चात्ताप से रहित हो जाऊँ ।

संस्कृत व्याख्या—**सुतनु** – हे सुन्दरि, **ते** – तव शकुन्तलायाः, **अधरम्** – अधरोष्ठम् ; **परिबाधमानः** – परितः पीडयन् , **यः बाष्पबिन्दुः** – यः नेत्रजलबिन्दुः (अश्रुकणः), **मया** – दुष्यन्तेन, **मोहात्** – अज्ञानात् , **पूर्वम्** – प्रथमं ते प्रत्याख्यानकाले इत्यर्थः, **उपेक्षितः** – तिरस्कृतः, **आकुटिलपक्ष्मविलग्नम्** – आ-ईषत् कुटिलम्-वक्रम् यत् पक्ष्म नेत्रलोमानि तत्र विलग्नम् – ईषद्वक्रनेत्रलोमसंसक्तम् , **त बाष्पं** – तत् नेत्रजलम् , **प्रमृज्य** – अपनीय, **तावत्** – सम्प्रति, अद्य पुनर्मिलनसमये इत्यर्थः, **विगतानुशयः** – पश्चात्तापरहितः, **भवेयम्** – स्याम् ।

संस्कृत-सरलार्थः—शकुन्तलया पृष्टो राजा कथयति—सुन्दरि ! प्रथमं तवेषद्वक्रनेत्रलोमसंसक्तं तं बाष्पबिन्दुं प्रमृज्याकारणत्यागजन्यपश्चात्तापाद् विमुक्तो भवितुमिच्छामि, यो हि बाष्पविन्दुर्मया पूर्वं प्रत्याख्यानकाले मोहवशादुपेक्षितः ।

व्याकरण—आकुटिलपक्ष्मविलग्नं – आकुटिलेषु पक्ष्मसु विलग्नम् (तत्पु०) । विगतानुशयः – विगतः अनुशयः यस्य सः (बहु०) । परिबाधमानः – परि+बाध+शानच् ।

कोष—'अथानुशयो दीर्घद्वेषानुतापोः' इत्यमरः ।

अलङ्कार—(१) अश्रु न पोंछे जाने या उनकी उपेक्षा किये जाने का हेतु मोह होने के कारण यहाँ **'काव्यलिङ्ग'** अलङ्कार है । ल०द्र० १/४ श्लो० । (२) अश्रुओं के स्थायी एवं स्थूल होने के कारण उनके मार्जनरूप कारण सामग्री होने पर मार्जनरूप कार्य की उत्पत्ति नहीं हो रही है । अतः कारण के विद्यमान रहने पर भी कार्याभाव के कारण **'विशेषोक्ति'** अलङ्कार है । ल०द्र० ३/२२ श्लो० । यहाँ **'विशेषोक्ति'** उक्तनिमित्ता है क्योंकि 'मोहात्' इस निमित्त का कथन किया गया है ।

छन्द—यहाँ **'वसन्ततिलका'** छन्द है। ल०द्र० १/८ श्लो०।

टिप्पणी—(१) यहाँ 'विबोध' नामक 'निर्वहण' सन्धि का अङ्ग है—**'विबोधः कार्यमार्गणम्'**। (२) बाष्पबिन्दुओं के अनेक होने पर भी 'बाष्पबिन्दुः' में एकवचन का प्रयोग जाति अर्थ में हुआ है। (३) प्रत्याख्यान के समय से लेकर आज तक शकुन्तला की आँखों में आँसुओं की विद्यमानता उनके सातत्य और चिरस्थायित्व की द्योतिका है।

शकुन्तला—(नाममुद्रां दृष्ट्वा) **आर्यपुत्र, इदं तदङ्गुलीयकम्।**

शकुन्तला—(नामाङ्कित अङ्गूठी को देखकर) आर्यपुत्र, यह वही अङ्गूठी है (जो आप के द्वारा मेरी अङ्गुलि में पहनायी गयी थी)।

राजा—अस्मादङ्गुलीयोपलम्भात् खलु स्मृतिरुपलब्धा।

व्या० एवं श०—अङ्गुलीयोपलम्भात् - अङ्गुलीयस्य उपलम्भात् प्राप्तेः = अँगूठी के मिलने से (ही)। उपलब्धा - उप+लभ्+क्त+टाप् = प्राप्त हो गयी। यह पद 'स्मृतिः' इस पद से सम्बद्ध है। अतः स्मृतिरुपलब्धा का संयुक्त अर्थ है स्मरण हो गया (याद आ गयी)।

राजा—वास्तव में इस अङ्गूठी के मिलने से ही तो (मुझे तुम्हारी) याद आयी।

शकुन्तला—विषमं कृतमनेन यत्तदार्यपुत्रस्य प्रत्ययकाले दुर्लभमासीत्। (विसमं किदं णेण जं तदा अज्जउत्तस्स पच्चअकाले दुल्लहं आसि।)

व्या० एवं श०—प्रत्ययकाले - प्रत्ययस्य काले (ष०त०) = विश्वास (दिलाने) के समय अर्थात् प्रमाण देने के समय।

शकुन्तला—इस (अङ्गूठी) के द्वारा बहुत बुरा किया गया कि आप को विश्वास दिलाने के समय यह दुर्लभ हो गयी थी।

राजा—तेन हि ऋतुसमवायचिह्नं प्रतिपद्यतां लताकुसुमम्।

व्या० एवं श०—ऋतुसमवायचिह्नम् - ऋतोः वसन्तस्य (ममेति गूढम्) समवायः सम्मेलनं तस्य चिह्नं लक्षणं (सूचकमिति यावत्) = (दुष्यन्त रूपी) वसन्त ऋतु के मिलन की चिह्नभूत (अङ्गुलीयक - अँगूठी) को। प्रतिपद्यताम् - प्रति+पद्+लोट्+प्र०पु०ए०व० = प्राप्त (धारण) करें। लताकुसुमम् - लता वल्लरी (लतेव तन्वी त्वमिति, गूढम्), कुसुमम् स्वपुष्पम् (अङ्गुलीयकमिति गूढम्)।

राजा—तो (दुष्यन्त रूपी) वसन्त ऋतु के मिलन के चिह्न (अङ्गूठीरूपी) पुष्प को (शकुन्तला रूपी) लता धारण करें।

टिप्पणी—**'तेन... लताकुसुमम्'** यह अति सुन्दर उक्ति है। इसमें लिङ्गसाम्य भी अति मनोहर है। यहाँ राजा दुष्यन्त वसन्त ऋतु हैं, अँगूठी पुष्प है और शकुन्तला लता। लता पर फूल होना चाहिये। अतः लता रूपी शकुन्तला द्वारा पुष्परूपी अँगूठी को धारण किया जाना उचित है।

शकुन्तला—नास्य विश्वसिमि। आर्यपुत्र एवैतद् धारयतु। (ण से विस्ससामि। अज्जउत्तो एव्व णं धारेदु।)

शकुन्तला—मैं इस (अङ्गूठी) का विश्वास नहीं करती हूँ। आर्यपुत्र ही इसे धारण करें।

(ततः प्रविशति मातलिः)।—(तत्पश्चात् मातलि प्रवेश करता है)।

मातलिः—दिष्ट्या धर्मपत्नीसमागमेन पुत्रमुखदर्शनेन चायुष्मान् वर्धते ।

मातलि—सौभाग्य से (अपनी) धर्मपत्नी के मिलन तथा पुत्र का मुख देखने के कारण चिरञ्जीवी (आप) वृद्धि को प्राप्त कर रहे हैं (अर्थात् पत्नी तथा पुत्र के मिलन पर आप को बधाई है)।

राजा—अभूत् सम्पादितस्वादुफलो मे मनोरथः । मातले, न खलु विदितोऽयमाखण्डलेन वृत्तान्तः स्यात् ?

व्या० एवं श०—सम्पादितस्वादुफलः – सम्पादितं स्वादुफलं येन तादृशः = प्राप्त हो गया है स्वादिष्ट फल जिसको ऐसा (मनोरथ)। विदितः – विद्+क्त = ज्ञात। आखण्डलेन = इन्द्रेण (इन्द्र के द्वारा)। 'आखण्डलः सहस्राक्षः' इत्यमरः।

राजा—मेरे मनोरथ को (आज) स्वादिष्ट फल प्राप्त हुआ है। मातलि; यह समाचार इन्द्र को तो ज्ञात नहीं हुआ होगा ?

मातलिः—(सस्मितम्) **किमीश्वराणां परोक्षम् ? एत्वायुष्मान् । भगवान् मरीचस्ते दर्शनं वितरति ।**

व्या० एवं श०—परोक्षम् – अक्ष्णः परम् परोक्षम् = अप्रत्यक्ष-अज्ञात। वितरति – दे रहे हैं।

मातलि—(मुस्कराते हुये) ऐश्वर्यशालियों को कौन-सी बात अज्ञात होती है ? (अर्थात् कोई नहीं) ! चिरञ्जीवी (आप) आइये। भगवान् कश्यप (मारीच) आप को दर्शन दे रहे हैं।

राजा—शकुन्तले, अवलम्ब्यतां पुत्रः । त्वां पुरस्कृत्य भगवन्तं द्रष्टुमिच्छामि ।

व्या० एवं श०—अवलम्ब्यताम् – अव+लम्ब्+यक् (कर्मणि) लोट् प्र०पु०ए०व० = संभालो। पुरस्कृत्य – पुरस्+कृ+क्त्वा – ल्यप् = आगे करके। द्रष्टुम् – दृश्+तुमुन् = देखना।

राजा—शकुन्तला, पुत्र को सँभालो। तुमको आगे कर मैं भगवान् (कश्यप) का दर्शन करना चाहता हूँ।

शकुन्तला—जिह्रेम्यार्यपुत्रेण सह गुरुसमीपं गन्तुम् । (हिरिआमि अज्जउत्तेण सह गुरुसमीवं गन्तुं।)

व्या० एवं श०—जिह्रेमि – ह्री+लट्+उ०पु०ए०व० = लजा रही हूँ। आर्यपुत्रेण सह = आर्यपुत्र आपके साथ। यहाँ सह के योग में 'सहयुक्तेऽप्रधाने' से में तृतीया हुई है।

शकुन्तला—आर्यपुत्र के साथ गुरुजन के समीप जाने में मैं लजा कर रही हूँ।

राजा—अप्याचरितव्यमभ्युदयकालेषु । एह्येहि ।

व्या० एवं श०—अभ्युदयकालेषु – अभ्युदयस्य कालः तस्मिन् = अभ्युदयमङ्गलोत्सवादि – के समय (अवसर पर)। आचरितव्यम् – आ+चर्+तव्यत् = ऐसा करना चाहिये।

राजा—अभ्युदय के समय ऐसा करना ही चाहिये। आओ; आओ।

(सर्वे परिक्रामन्ति)—(सभी घूमते हैं)

(ततः प्रविशत्यदित्या सार्धमासनस्थो मारीचः)

(तत्पश्चात् अदिति के साथ आसन पर बैठे हुये कश्यप प्रवेश करते हैं)

मारीचः—(राजानमवलोक्य) दाक्षायणि,

कश्यप—(राजा को देखकर) दाक्षायणि (दक्ष की पुत्री, अदिति),

पुत्रस्य ते रणशिरस्ययमग्रयायी दुष्यन्त इत्यभिहितो भुवनस्य भर्ता।
चापेन यस्य विनिवर्तितकर्म जातं तत्कोटिमत्कुलिशमाभरणं मघोनः ।। २६ ।।

अन्वय—अयं ते पुत्रस्य रणशिरसि अग्रयायी दुष्यन्तः इति अभिहितः भुवनस्य भर्ता, यस्य चापेन विनिवर्तितकर्म कोटिकम् यत् कुलिशं मघोनः आभरणं जातम्।

शब्दार्थ—अयम् = यह। ते = तुम्हारे। पुत्रस्य = पुत्र (इन्द्र) के। रणशिरसि = सङ्ग्राम के अग्रभाग में, (रणभूमि में)। अग्रयायी = आगे-आगे चलने वाले। दुष्यन्तः = दुष्यन्त। इति = इस प्रकार। अभिहितः = कहे जाने वाले, अर्थात् दुष्यन्त नाम से विख्यात। भुवनस्य भर्ता = भूमण्डल (पृथ्वी) के स्वामी राजा। यस्य = जिसके। चापेन = धनुष के द्वारा। विनिवर्तितकर्म = सम्पन्न (सम्पादित) हो गया है कार्य जिसका ऐसा। कोटिमत् = तेज (तीक्ष्ण) धार (कोटि) से युक्त। तत् = वह। कुलिशम् = वज्र। मघोनः = इन्द्र का। आभरणम् = आभूषण। जातम् = रह गया है।

अनुवाद—ये तुम्हारे पुत्र (इन्द्र) की रणभूमि में आगे-आगे चलने वाले 'दुष्यन्त' इस नाम से विख्यात भूमण्डल (पृथ्वी) के स्वामी (राजा) हैं, जिनके धनुष के द्वारा सम्पन्न (सम्पादित) हो गया है कार्य जिसका ऐसा तेज (तीक्ष्ण) धार से युक्त वह (जगत् प्रसिद्ध) वज्र इन्द्र का आभूषण (मात्र बनकर) रह गया है (अर्थात् वह दायित्व विहीन होने से बेकार हो गया है)।

संस्कृत व्याख्या—अयम् – एषः, **ते** – तव दाक्षायण्याः, **पुत्रस्य** – सुतस्य इन्द्रस्य, **रणशिरसि** – रणक्षेत्रे, **अग्रयायी** – अग्रगामी, **दुष्यन्तः इति अभिहितः** – दुष्यन्त इति नाम्ना ख्यातः, **भुवनस्य** – भूमण्डलस्य, **भर्ता** – रक्षकः (स्वामी) वर्तते इति शेषः, **यस्य** – दुष्यन्तस्य, **चापेन** – धनुषा, **विनिवर्तितकर्म** – सम्पादितं कृत्यं यस्य तथाविधम् , **तत्** –लोकप्रसिद्धं, **कोटिमत्** – तीक्ष्णप्रान्तं, **कुलिशं** – वज्रं, **मघोनः** – इन्द्रस्य, **आभरणम्** – आभूषणम् , **जातं** – सम्पन्नम्। सम्प्रति सम्पादितकार्यत्वात् तस्योपयोगित्वं नास्तीति।

संस्कृत-सरलार्थः—राजानमवलोक्य दाक्षायणिं प्रति मारीचो वदति—पुरोदृश्यमानोऽयं महापुरुषो दुष्यन्तमहाराजोऽस्ति। एष तव पुत्रस्य इन्द्रस्य रणभूमावग्रगायी तथा भूमण्डलय भर्त्ता वर्तते। अस्यैव धनुषा राक्षसवधादिरूपमखिलं कार्यं सम्पादितम् , येन देवराजस्य लोकख्यातं तीक्ष्णाग्रं वज्रं कार्याभावादिन्द्रस्य भूषणमेव जातम्।

व्याकरण—विनिवर्तितकर्म – विनिवर्तितं कर्म यस्य तत् (बहु०) = सम्पन्न हो गया कार्य जिसका ऐसा। यह पद 'कुलिशम्' इस पद का विशेषण है। कुलिशम् – वज्र। इसकी कई प्रकार से व्युत्पत्ति की जा सकती है—१. कौ पृथिव्यां लीयते इति 'कुलि', शरीरं स्थावरं जङ्गमं वा तत्र कुलौ शेते इति कुलिशम् – कुलि+शी+क। २. कुलिनः पर्वतान् श्यति नाशयति इति कुलिशम् – कुलि+शो+क। ३. कुलौ हस्ते शेते इति कुलिशम् कोटिमत् – कोटि+मतुप्।

कोष—'वज्रमस्त्री स्यात् कुलिशं भिदुरं पविः' इत्यमरः। 'कुलिर्हस्तः' त्रिकाण्ड शेषः।

अलङ्कार—(१) इस श्लोक में दुष्यन्त की लोकोत्तर पराक्रमशक्ति का वर्णन है अतः **'उदात्त'** अलङ्कार है। **'काव्यालिङ्ग'** अलङ्कार भी है। ल०द्र० १/४ श्लो०।

छन्द—यहाँ **'वसन्ततिलका'** छन्द है। ल०द्र० १/८ श्लो०।

टिप्पणी—(१) इन्द्र के वज्र का जो दानवनाश रूपी कार्य है उसको अब दुष्यन्त का धनुष पूरा कर देता है। अतः वज्र को अब कुछ नहीं करना पड़ता है। कार्य न होने के कारण वज्र

अब इन्द्र का अस्त्र न होकर केवल उनके हाथ की शोभा बढ़ाता है। (२) माँ के सामने पुत्र के हितैषी के रूप में किसी को प्रस्तुत करना उसे विशेष आकर्षक बनाता है। यहाँ इन्द्र की माता अदिति के सामने राजा दुष्यन्त को इन्द्र के हितैषी के रूप में प्रस्तुत किया गया है। (३) इस श्लोक में मारीच जैसे श्रेष्ठ महर्षि के द्वारा दुष्यन्त की प्रशस्ति दुष्यन्त की महत्ता का प्रकाशन करती है।

अदितिः—सम्भावनीयानुभावाऽस्याकृतिः । (संभावणीआणुभावा से आकिदी।)

व्या० एवं श०—सम्भावनीयानुभावा - सम्भावनीयः अनुमेयः अनुभावः प्रभावः यस्याः तादृशी = प्रभाव का अनुमान कराने वाली। यह पद 'आकृति' का विशेषण है।

अदिति—इनकी आकृति (ही) प्रभाव का अनुमान कराने योग्य है (अर्थात् इनकी आकृति से ही इनके प्रभाव का अनुमान किया जा सकता है)।

मातलिः—आयुष्मान्, एतौ पुत्रप्रीतिपिशुनेन चक्षुषा दिवौकसां पितरावा युष्मन्तमवलोकयतः । तावुपसर्प ।

व्या० एवं श०—पुत्रप्रीतिपिशुनेन - पुत्रे सुते प्रीतिः प्रेम तस्य पिशुनेन सूचकेन = पुत्रप्रेम के सूचक (पुत्रप्रेम युक्त)। यह पद 'चक्षुषा' इस पद का विशेषण है। दिवौकसांम् - दिवम् स्वर्ग - ओकः गृहं येषां तेषाम् - देवानाम् = देवताओं का। पितरौ = माता (अदिति) तथा पिता (कश्यप)। तावुपसर्प - तौ+उपसर्प = आवादेश। उपसर्प - उप+सर्प+उपसमीपे सर्प (सृप्+लो०म०पु०ए०व०) = जाओ (जाइये)।

मातलि—चिरञ्जीविन्, ये देवताओं के माता-पिता पुत्रप्रेम-सूचक (वात्सल्य प्रेम से युक्त) नत्रों से आप को देख रहे हैं। उनके समीप चलिये।

राजा—मातले,

प्राहुर्द्वादशधा स्थितस्य मुनयो यत्तेजसः कारणं
भंर्तारं भुवनत्रयस्य सुषुवे यद्यज्ञभागेश्वरम् ।
यस्मिन्नात्मभवः परोऽपि पुरुषश्चक्रे भवायास्पदं
द्वन्द्वं दक्षमरीचिसम्भवमिदं तत्स्त्रष्टुरेकान्तरम् ।। २७ ।।

अन्वय—मुनयः यत् द्वादशधा स्थितस्य तेजसः कारणं प्राहुः, यत् भुवनत्रयस्य भर्तारं यज्ञभागेश्वरं सुषुवे, यस्मिन् आत्मभवः परः पुरुषः अपि भवाय आस्पदं चक्रे, दक्षमरीचिसम्भवं स्त्रष्टुः एकान्तरं तत् इदं द्वन्द्वम्।

शब्दार्थ—मुनयः = मुनि लोग। यत् = जिसको। द्वादशधा = बारह रूपों में। स्थितस्य = स्थित, (विद्यमान)। तेजसः = तेज (सूर्य) का। कारणम् = कारण (जनक)। प्राहुः = कहते हैं। यत् = जो, जिसने। भुवनत्रयस्य = तीनों लोकों के। भर्तारम् = स्वामी। यज्ञभागेश्वरम् = यज्ञ में है भाग जिनका ऐसे (अर्थात् देवताओं) के स्वामी (इन्द्र) को। सुषुवे = पैदा किया है, (जन्म दिया है)। यस्मिन् = जिसमें। आत्मभवः = स्वयम्भूः। परः पुरुषः = परम पुरुष ने (विष्णु ने)। अपि = भी। भवाय = जन्म लेने के लिये। आस्पदम् चक्रे = आश्रय बनाया है (स्थान ग्रहण किया है)। दक्षमरीचिसम्भवम् = दक्ष और मरीच से उत्पन्न। स्त्रष्टुः = विधाता से, ब्रह्मा से। एकान्तरम् = एक पीढ़ी का व्यवधान (अन्तर) वाला। इदम् = यह। तत् = वह। द्वन्द्वम् = जोड़ा (है) (दम्पति-युगल हैं)।

अनुवाद—मुनि लोग जिस (जोड़े) को बारह रूपों में स्थित (विद्यमान) तेज (सूर्य) का

कारण (जनक) कहते हैं, जिस (जोड़े) ने तीनों लोकों के पालक (रक्षक) और यज्ञभाग के अधिकारी देवताओं के स्वामी (इन्द्र) को जन्म दिया है, जिस (जोड़े) में स्वयम्भू: परम पुरुष (विष्णु) ने भी (वामनावतार के रूप में) जन्म लेने के लिये आश्रय (स्थान) बनाया है, दक्ष और मरीचि से उत्पन्न तथा ब्रह्मा से एक पीढ़ी का व्यवधान (अन्तर) वाला (जगद्विदित) यह वही (अदिति और कश्यप का) जोड़ा है।

संस्कृत व्याख्या—मुनयः – व्यासादयः, **यत्** – युगलम् , **द्वादशधा** – द्वादशात्मकस्य, द्वादशरूपेण, **स्थितस्य** – वर्तमानस्य, **तेजसः** – ज्योतिर्मयसूर्यस्य, **कारणं** – निदानम् जनकमित्यर्थः, **प्राहुः** – कथयन्ति; **यत्** – युगलम् , **भुवनत्रयस्य** – त्रैलोक्यस्य, **भर्तारं** – पालकम् , **यज्ञभागेश्वरम्** – यज्ञस्य भागो विद्यते येषां ते यज्ञभागाः देवा तेषामीश्वरं राजनामिन्द्रम् , देवराजमिन्द्रम् इति यावत् , **सुषुवे** – उत्पादयामास; **यस्मिन्** – युगले, **आत्मभवः** – स्वयंभूः, **परः पुरुषः अपि** – श्रेष्ठः पुरुषः विष्णुः अपि, **भवाय** – जन्मने, **आस्पदं चक्रे** – स्थानं, **दक्षमरीचिसम्भवं** – दक्षः मरीचिश्च सम्भवम् उत्पत्तिस्थानं यस्य तत् , **स्रष्टुः** – ब्रह्मणः, **एकान्तम्** – एको मरीच्यादिव्यवधानं यस्य तत् , **तत्** – तादृशम् जगद्विदितम् , **इदं** – एतत् , द्वन्द्वं – मिथुनम् , आस्त इति शेषः।

संस्कृत-सरलार्थः—राजा मातलिं वदति—अदिति-कश्यपद्वन्द्वविषये दक्षमरीचिसमुद्भूतमिदं द्वन्द्वं ब्रह्मण एकपुरुषव्यवधानमात्रं वर्तते। एतदेव युगलं द्वादशरूपेण विद्यमानस्य तेजोमयसूर्यस्य जनकमस्ति। इदमेव (युगलम्) लोकत्रितयस्य पालकं देवानामीश्वरं देवराजमपि जनयामास। अस्मिन्नेव द्वन्द्वे स्वयम्भूः परमपुरुषो विष्णुरपि वामनरूपेण जन्म ग्रहीतुं स्वस्थानं कृतवान्।

व्याकरण—दक्षमरीचिसम्भवम् – दक्षः च मरीचिः च दक्षमरीची तयोः सम्भवः जन्म यस्य तादृशं तत् (ब०ब्री०)। एकान्तरम् – एको मरीचादिः अन्तरं यस्य तादृशम् (ब०ब्री०)। आत्मभवः-आत्मनः स्वस्मात् भवः जन्म यस्य सः (ब०ब्री०)। यज्ञभागेश्वरम् – यज्ञे भागः येषां ते यज्ञभागाः तेषाम् ईश्वरम् (ब०ब्री०)। द्वन्द्वम् – द्वौ-द्वौ – इति द्वन्द्वम्। यह शब्द 'द्वन्द्व रहस्य' से निपातन सिद्ध होता है।

कोष—'द्वादशात्मदिवाकराः' – इत्यमरः।

अलङ्कार—(१) श्लोक के प्रथम तीन चरणों में 'अदिति' और 'मारीच' के चरित्र का उत्कृष्ट (प्रभावशाली) वर्णन करने से यहाँ **'उदात्त'** (मालोदात्त) अलङ्कार है। ल०द्र० ७/२। (२) कुछ लोग यहाँ **'समुच्चय'** अलङ्कार इस लिये मानते हैं क्योंकि अदिति एवं कश्यप उदात्त उत्कर्ष रूप कार्य के प्रतिपादन हेतु अनेक कारणों का कथन है। ल०द्र० २/१०। (३) आत्मभवः भवाय, में परस्पर विरोध जैसी प्रतीति होने से **'विरोधाभास'** अलङ्कार है।

छन्द—यहाँ **'शार्दूलविक्रीडित'** छन्द है। ल०द्र०१/१४ श्लो०।

टिप्पणी—(१) **द्वादशधा स्थितस्य** –(१) **क** – अदिति के पुत्र आदित्य (सूर्य) कहे जाते हैं, जो तेज रूप हैं। बारह मासों के पृथक्-पृथक् सूर्य माने जाते हैं अतः उनके बारह प्रकार ये हैं—१. विष्णु, २. शक्र, ३. अर्यमा, ४. धाता, ५. त्वष्टा, ६. पूषा, ७. विवस्वान् , ८. सविता, ९. मित्र, १०. वरुण, ११. अंशु, १२. भग—'तत्र विष्णुश्च शक्रश्च अज्ञाते पुनरेव हि। अर्यमा चैव धाता च त्वष्टा पूषा तथैव च॥ विवस्वान् सविता चैव मित्रो वरुण एव च। अंशुर्भगादितिश्चादित्या द्वादश स्मृताः'॥

इन बारह मासों में सूर्य की उक्त मूर्तियाँ अलग-अलग मानकर उन्हें 'द्वादशधास्थित' कहा गया है। **ख** – 'द्वादशधास्थित' से 'द्वादशकलात्मक रूप' भी हो सकता है। सूर्य की बारह कलायें हैं—१. तपिनी, २. तापिनी, ३. धूम्रा, ४. मरीचि, ५. ज्वालिनी, ६. रुचि, ७. सुषुम्णा, ८. भोगदा, ९. विश्वा, १०. बोधिनी, ११. धरिणी, १२. क्षमा। (२) वेदकालीन देवताओं में इन्द्र और पुराणकालीन देवताओं में विष्णु की महिमा अधिक मानी जाती है। (३) **आत्मभवः परोऽपि** – 'विष्णु' स्वयम्भू और पर पुरुष हैं इस कथन से उनके माहात्म्यातिशय का प्रख्यापन होता है। इसी प्रकार इन्द्र तीनों लोकों के पालक **'भुवनत्रयस्य भर्तारम्'** हैं इससे इन्द्र की महिमा का प्रकाशन होता है। अदिति और कश्यप को इन दोनों (विष्णु एवं इन्द्र) का जननी-जनक मानकर अदिति तथा कश्यप के अलौकिक महत्त्व का प्रतिपादन किया गया है। 'विष्णुपुराण' के अनुसार विष्णु ने वामनावतार में अदिति और कश्यप के पुत्र के रूप में जन्म लिया था—'मन्वन्तरे च संप्राप्ते तथा वैवश्वते द्विज। वामनः कश्यपाद् विष्णुरदित्यां संबभूव ह॥ श्लोक में **'भार्तारं सुषुवे'** – इस कथन से अदिति-कश्यप का इन्द्र का तथा **'यस्मिन्... भवास्पदम्'** से वामनावतार धारी विष्णु का जनक होना सिद्ध है। (४) **'एकान्तरम्** – ब्रह्मा के मानस पुत्र दक्ष एवं मरीचि हैं। दक्ष की पुत्री अदिति तथा मरीचि के पुत्र कश्यप हैं, इस तरह ब्रह्मा और अदिति-कश्यप के बीच एक पीढ़ी का अन्तर है।

मातलिः—अथ किम्

मातलि—और क्या (अर्थात् बिल्कुल ठीक है)।

राजा—(उपगम्य) **उभाभ्यामपि वासवनियोज्यो दुष्यन्तः प्रणमति।**

व्या० एवं श०—वासवनियोज्यः – वासवस्य इन्द्रस्य नियोज्यः सेवकः = इन्द्र का सेवक। उभाभ्याम् – में 'क्रियार्थोपदस्य...' से कर्म में चतुर्थी मानी जानी चाहिये। अमरकोष के अनुसार 'नियोज्यः' का अर्थ सेवक है—'नियोज्यकिङ्करप्रैष्यभूजिष्यपरिचारकाः' इत्यमरः।

राजा—(समीप में जाकर) आप दोनों को इन्द्र का आज्ञाकारी दुष्यन्त प्रणाम करता है।

मारीचः—वत्स चिरंजीव पृथ्वीं पालय।

कश्यप—बेटा, दीर्घजीवी होओ (बहुत दिनों तक जीओ)। और पृथ्वी का पालन करो।

अदितिः—वत्स, अप्रतिरथो भव। (वच्छ, अप्पडिरहो होहि।)

व्या० एवं श०—अप्रतिरथाः – प्रतिकूलः रथः यस्य सः प्रतिरथः न प्रतिरथः प्रतिद्वन्द्वी यस्य तादृशः अप्रतिरथः = अद्वितीय महारथी।

अदितिः—बेटा, अद्वितीय महारथी होओ।

शकुन्तला—दारकसहितां वां पादवन्दनं करोमि। (दारअसहिदा वो पादवन्दण करेमि।)

व्या० एवं श०—दारकसहिता – दारकेण बालकेन (पुत्रेण) सहिता युता = पुत्र के साथ।

शकुन्तला—पुत्र के साथ मैं आप दोनों के चरणों की वन्दना करती हूँ।

मारीचः—वत्से,

कश्यप—बेटी,

आखण्डलसमो भर्ता जयन्तप्रतिमः सुतः।
आशीरन्या न ते योग्या पौलोमीसदृशी भव॥ २८॥

अन्वय—भर्ता आखण्डलसमः सुतः जयन्तप्रतिमः पौलोमीसदृशी भव, अन्या आशीः ते योग्या न।

शब्दार्थ—भर्ता = (तुम्हारा) पति। आखण्डलसमः = इन्द्र के समान (है)। (और) सुतः = पुत्र। जयन्तप्रतिमः = जयन्त के समान (है)। पौलोमीसदृशी = (तुम) पुलोमा की पुत्री (अर्थात् इन्द्राणी) के समान। भव = होओ (बनो)। अन्या = (इसके अतिरिक्त) दूसरा। आशीः = आशीर्वाद। ते = तुम्हारे। योग्या = योग्य। न = नहीं (है)।

अनुवाद—(तुम्हारे) पति (दुष्यन्त) इन्द्र के सामान (हैं) पुत्र (सर्वदमन) (इन्द्र-पुत्र) जयन्त के समान (है) तुम पुलोमा की पुत्री (अर्थात् इन्द्राणी) के समान बनो। (इसके अतिरिक्त) दूसरा आशीर्वाद तुम्हारे योग्य नहीं है।

संस्कृत व्याख्या—**भर्ता** – तव पतिः दुष्यन्तः, **आखण्डलसमः** – इन्द्रतुल्यः, **सुतः** – पुत्रः सर्वदमनः, **जयन्तप्रतिमः** – इन्द्रपुत्रजयन्तसदृशः, **पौलोमीसदृशी** – पुलोम्नः एतन्नामकराक्षसस्य पुत्री इन्द्राणी तया सदृशी, भव अन्या, **आशीः** – आशीर्वादः, **ते** – तव शकुन्तलायाः, **योग्या** – अनुरूपा, **न** – नास्ति।

संस्कृत-सरलार्थः—कश्यपो वदति प्रणमन्तीं शकुन्तलाम् – पुत्रि ! तव पतिरिद्रसदृश-स्तथा पुत्रो जयन्तसन्निभोऽस्ति। त्वं शचीसमाना भव। अन्य आशीर्वादस्तव योग्यो नास्ति।

व्याकरण—आखण्डलसमः – आखण्डलेन समः (त०त०) – 'सहयुक्तेऽप्रधाने' से तृतीया। जयन्तप्रतिमः – (इन्द्रपुत्रः) जयन्तः प्रतिमा उपमा यस्य सः ब०ब्री०। पौलोमीसदृशी – पुलोम्नः+अण्+ङीष्) तया सदृशी।

कोष—'पुलोमजा शचीन्द्राणी' इत्यमरः। 'जयन्तः पाकशासनि' इत्यमरः।

अलङ्कार—(१) श्लोक में 'आखण्डलसमः' 'जयन्तप्रतिमः' तथा 'पौलोमीसदृशी' में उपमावाचक शब्द के रूप में सम, प्रतिम एवं सदृशी पद का प्रयोग होने से **'उपमा'** अलङ्कार है। ल०द्र० १/५ श्लो०। (२) तृतीय चरण के वाक्यार्थ के प्रति प्रथम और द्वितीय चरण के वाक्यार्थ कारण हैं अतः **'काव्यलिङ्ग'** (वाक्यर्थहेतुक) अलङ्कार है। ल०द्र० १/४ श्लो०।

छन्द—यहाँ **'अनुष्टुप'** छन्द है। ल०द्र० १/५ श्लो०।

टिप्पणी—(१) पौलोमी 'पुलोमन्' नामक राक्षस की पुत्री थी। उसका विवाह इन्द्र के साथ हुआ था। इन्द्र ने पुलोमन् का वध किया था—'कृत्वा सम्बन्धकं चापि विश्वसेत् शत्रुणा नहि। पुलोमानं जघानासौ जामाता सन् शतक्रतुः'॥ (हरिवंश)। (२) मारीच का यह आशीर्वाद अत्यन्त सङ्गत है जिसमें एक ओर इन्द्र, शची और जयन्त तथा दूसरी ओर दुष्यन्त, शकुन्तला और सर्वदमन हैं। जब शकुन्तला के पति इन्द्र के समान और पुत्र जयन्त के समान हैं तब शकुन्तला को पौलोमी (इन्द्राणी) होने का आशीर्वाद ही सार्थक है। (३) यहाँ **'आशंसन'** नामक नाट्यालङ्कार है—'अशंसनं स्यादाशंसा। सा०द

अदितिः—जाते, भर्तुर्बहुमता भव। अयं च दीर्घायुर्वत्सक उभयकुलनन्दनो भवतु। उपविशत। (जादे, भत्तुणो बहुमदा होहि। अअं च दींहाऊ वच्छओ उहअकुलणन्दणो होदु। उपविसह।)

व्या० एवं श०—बहुमता = अभीष्ट-अत्यन्त प्रिय। वत्सकः = प्रिय पुत्र। उभयकुलनन्दनः – उभयं द्वयं च ततकुलं च अभयकुलं तस्य नन्दनः आनन्दवर्धकः = दोनों कुलों के आनन्दवर्धक।

अदिति—बेटी, पति की अत्यन्त प्रिय होओ और यह चिरञ्जीवी बालक (माता और पिता) दोनों कुलों को आनन्दित करने वाला होवे। तुम सब बैठो।

(सर्वे प्रजापतिमभितः उपविशन्ति)

व्या० एवं श०—प्रजापतिमभितः – अभितः के योग में द्वितीया।

(सभी प्रजापति कश्यप के चारों ओर बैठ जाते हैं)।

मारीचः—(एकैकं निर्दिशन्)

कश्यप—(प्रत्येक को निर्देश करते हुये)

दिष्ट्या शकुन्तला साध्वी सदपत्यमिदं भवान् ।
श्रद्धा वित्तं विधिश्चेति त्रितयं तत् समागतम् ।। २९ ।।

अन्वय—साध्वी शकुन्तला इदं सद् अपत्यं भवान् , दिष्ट्या श्रद्धा वित्तं विधिः च इति तत् त्रितयं समागतम् ।

शब्दार्थ—साध्वी = साध्वी, पतिव्रता। शकुन्तला = शकुन्तला। इदम् = यह। सद् अपत्यम् = सद्गुणों से युक्त (सद्गुणसम्पन्न) पुत्र, सुपुत्र। भवान् = आप। दिष्ट्या = सौभाग्य से। श्रद्धा = श्रद्धा। वित्तम् = धन, (सम्पत्ति)। विधिः च = और विधि (विधान)। इति = इस प्रकार। तत् = वे। त्रितयम् = तीनों। समागतम् = मिल गयी हैं, अर्थात् तीनो श्रद्धा, वित्त एवं विधि - इन तीनों का एकत्र समागम हो गया है।

अनुवाद—यह साध्वी (पतिव्रता) शकुन्तला है। यह सद्गुणों से युक्त (सद्गुण-सम्पन्न) पुत्र (सर्वदमन) है। यह आप (राजा दुष्यन्त) हैं। (इस प्रकार) सौभाग्य से श्रद्धा, वित्त और विधि – ये तीनों वस्तुयें एक स्थान पर मिल गयी हैं।

संस्कृत व्याख्या—साध्वी – सती पतिव्रता, **शकुन्तला,** (इयमास्ति) **इदम्** – एतत् (एषः), **सदपत्यं** – सत्पुत्रः (आस्ते), **भवान्** – सर्वगुणविशिष्टो, (दुष्यन्तः), **दिष्ट्या** – सौभाग्येन, **श्रद्धा** – भक्तिः, **वित्तं** – सम्पत्तिः, **विधिः च** – विधानं च, **इति** – इत्थम् , **तत् त्रितयं** – वस्तुत्रयम् , **समागतम्** – मिलितम् ।

संस्कृत-सरलार्थः—मारीचः कथयति—श्रद्धाया धनस्य विधेश्च सदैव योगः सर्वथा दुर्लभः एव जायते। यदि सौभाग्यवशात् कदाचिदेतत्त्रितयं कुत्रापि लभ्येत, तर्हि मनोरथसिद्धौ न कोऽपि सन्देहो भवेत् । अत्र श्रद्धारूपिणी शकुन्तला, धनस्वरूपः पुत्र एवं विधिरूपो दुष्यन्तः सौभाग्येनैतत्त्रयमेकत्र समागतम् , अतः सर्वार्थसिद्धिरवश्यमेव भविष्यति।

व्याकरण—त्रितयम् – त्रि+तयप्। समागतम् – सम्+आ+गम्+क्त। भक्ति – भज्+क्तिन्। श्रद्धा – श्रत्+धा+अङ्+टाप्।

अलङ्कार—(१) इस श्लोक में श्रद्धा, वित्त और विधि के साथ क्रमशः शकुन्तला, पुत्र सर्वदमन और दुष्यन्त का अन्वय किये जाने से 'यथासंख्य' अलङ्कार है। लक्षण—'यथासंख्यमनूद्देश उद्दिष्टानां क्रमेण यत्'। (२) यहाँ श्रद्धा, वित्त तथा विधि – इन तीनों के सम्बन्ध न होने पर भी उनके समागम की कल्पना कर यज्ञादि कर्मानुष्ठान की सम्पन्नता प्रकट की गयी है, उसी प्रकार पुत्र सहित शकुन्तला के दुष्यन्त के साथ समागम होने पर गार्हस्थ्य-धर्मपालन भली-भाँति सम्पन्न होगा

– यह प्रकट किया गया है। अतः यहाँ **'निदर्शना'** (अम्भवद्वस्तुसम्बन्धलक्षणा) अलङ्कार है। कुछ लोग यहाँ सम्भवद्वस्तुसम्बन्धलक्षणा **'निदर्शना'** मानते हैं। ल०द्र० १/१७ श्लो०।

छन्द—यहाँ **'वंशस्थ'** छन्द है। ल०द्र० ५/१७ श्लो०।

टिप्पणी—(१) सभी प्रकार के यज्ञादि पुण्यकार्यों के सम्पन्न और सफल होने के लिये पवित्र श्रद्धा, पवित्र धन और शुद्ध शास्त्रीय विधान की आवश्यकता होती है। इन तीनों का समागम अत्यन्त मङ्गलयुक्त होता है। यहाँ शकुन्तला को श्रद्धा, पुत्र सर्वदमन को धन और दुष्यन्त को विधान के समान बतलाया गया है। तीनों शब्दों का लिङ्गसाम्य द्रष्टव्य है।

राजा—भगवन्, प्रागभिप्रेतसिद्धिः। पश्चाद् दर्शनम्। अतोऽपूर्वः खलु वोऽनुग्रहः। कुतः—

व्या० एवं श०—प्राक् = पहले। अभिप्रेतसिद्धिः – अभिप्रेतस्य इष्टस्य सिद्धिः प्राप्तिः (ब०ब्री०) = अभीष्ट की प्राप्ति। अपूर्वः = अनुपम। युष्माकम् = तुम (आप) लोगों की।

राजा—भगवन्, पहले अभीष्ट की प्राप्ति (सिद्धि) हो गयी। तत्पश्चात् (आपका) दर्शन हुआ। अतः यह आप की कृपा अनुपम (अपूर्व) है। क्योंकि—

उदेति पूर्वं कुसुमं ततः फलं घनोदयः प्राक् तदनतरं पयः।
निमित्तनैमित्तिकयोरयं क्रमस्तव प्रसादस्य पुरस्तु सम्पदः॥ ३०॥

अन्वय—पूर्वं कुसुमम् उदेति ततः फलम्, प्राक् घनोदयः तदनन्तरं पयः निमित्तनैमित्तिकयोः अयं क्रमः, तु तव प्रसादस्य पुरः सम्पदः।

शब्दार्थ—पूर्वम् = पहले। कुसुमम् = पुष्प। उदेति = निकलता है। ततः = तत्पश्चात्। फलम् = फल (लगता है)। प्राक् = पहले। घनोदयः = बादलों का उद्भव (उदय होता है)। तदनन्तरम् = उसके बाद। पयः = जल (आता है)। निमित्तनैमित्तिकयोः = कारण (निमित्त) और कार्य (निमित्तिक) का। अयम् = यह। क्रमः = क्रम (है)। तु = किन्तु। तव = तुम्हारा (आपकी)। प्रसादस्य = कृपा के। पुरः = आगे-आगे। सम्पदः = सम्पत्तियाँ (आ जाती हैं)।

अनुवाद—पहले फूल निकलता है, तत्पश्चात् फल (बनता है)। पहले बादलों का उद्भव (होता है) (अर्थात् पहले बादल घिरते हैं), उसके बाद जल (बरसता है)। कारण और कार्य का यही क्रम है। किन्तु आप की कृपा के आगे-आगे (ही) सम्पत्तियाँ (चलती हैं)।

संस्कृत व्याख्या—पूर्वं – प्रथमम्, **कुसुमम्** – पुष्पम्, **उदेति** – उद्गच्छति, **ततः** – तत्पश्चात्, **फलं** – जायते; **प्राक्** – पूर्वम्, **घनोदयः** – जलदानामागमः मवति-इति शेषः, **तदनन्तरं** – तत्पश्चात्, **पयः** – जलवृष्टिः भवति; **निमित्तनैमित्तिकयोः** – कारणकार्ययोः। **अयम्** – एषः, **क्रमः** – नियमः (वर्तते), **तव** – मारीचस्य, **प्रसादस्य** – अनुग्रहस्य, **पुरः** – पूर्वमेव, **सम्पदः** – पुत्रकलत्रादिप्राप्तिरूपसम्पत्तयः, भवन्तीति शेषः।

संस्कृत-सरलार्थः—राजा मारीचं वदति—'भगवन्! लोके कार्यकारणयोः पौर्वापर्यक्रम इत्थं भवति यत् पूर्वं कारणस्य स्थितिर्जायते तदनत्तरं कार्यं भवति, यथा कारणभूतपुष्पोद्गमानन्तरं कार्यभूतफलागमस्तथा कारणभूतमेघोदयानन्तरं कार्यभूतवर्षाजलागमो भवति। परन्तु भवतामनुग्रहरूपकारणात् पूर्वमेव मम दुष्यन्तस्य पुत्रकलत्रावाप्तिरूपं कार्यमभूदत्र श्रीमतानुग्रह एव कारणम्। नूनमप्रतिमोऽयमनुग्रहो भवतामिति'।

व्याकरण—निमित्तनैमित्तिकयोः – निमित्तं च नैमित्तिकं च तयोः (द्वन्द्व)। नैमित्तिकम् –

निमित्त+ठक् (इक)।

अलङ्कार—(१) श्लोक में 'उदेति' इस क्रिया का सबके साथ अन्वय होता है इसलिये **'दीपक'** अलङ्कार है। ल०द्र० २/१५। कारण कार्य का यह नियम है कि पहले कारण होता है तदनन्तर कार्य। परन्तु चतुर्थ चरण **'तवप्रसादस्य पुरस्तु सम्पदः'** में पहले कार्य का वर्णन है तत्पश्चात् कारण का, अतः कारण-कार्य-भाव का विपर्यय होने से **'अतिशयोक्ति'** (कार्यहेतु पौर्वापर्य व्यतिक्रम रूप) अलङ्कार है। ल०द्र० ३/१७ श्लो०। (२) **'तव प्रसादस्य पुरतस्तु सम्पदः'** सामान्य के स्थान पर शकुन्तला और पुत्र की प्राप्ति रूप प्रस्तुत विशेष का कथन करना चाहिये था परन्तु ऐसा नहीं किया गया है अतः **'अप्रस्तुतप्रशंसा'** अलङ्कार है। ल०द्र० १/१७ श्लो०।

छन्द—श्लोक में **'वंशस्थ'** छन्द है। ल०द्र० १/१८ श्लो०।

टिप्पणी—(१) संसार में कारण तथा कार्य के पौर्वापर्य के विषय में यह नियम है कि पहले कारण होता है, कार्य बाद में। किन्तु मारीच की कृपा का फल तो ऐसा है कि कार्य पहले हो गया और कारण बाद में हो रहा है। अदिति और कश्यप के आशीर्वाद मिलने के पहले ही शकुन्तला की प्राप्ति तथा पुत्र-दर्शन हो गया है। (२) **भगवन्** – भरत के विधानानुसार यहाँ 'भगवन्' यह सम्बोधन प्रयुक्त है—'देवानामपि ये देवा महात्मानो महर्षयः। भगवन्निति ते वाच्यास्तेषां योषितस्तथा॥ (३) यहाँ **'समय'** नाम **'निर्वहण'** सन्धि का अङ्ग है—'समयो दुःखनिर्याणम्'। (४) आचार्य विश्वनाथ ने इस श्लोक को **'प्रियोक्ति** नामक नाट्यलक्षण के उदाहरण रूप में उद्धृत किया है। लक्षण है—'स्यात् प्रमाणयितुं पूज्यं प्रियोक्तिहर्षभाषणम्'।

मातलिः—एवं विधातारः प्रसीदन्ति।

मातलि—(भाग्य के) विधाता लोग इसी प्रकार कृपा करते हैं।

राजा—भगवन् इमामाज्ञाकरीं वो गान्धर्वेण विवाहविधिनोपगम्य कस्यचित् कालस्य बन्धुभिरानीतां स्मृतिशैथिल्यात् प्रत्यादिशन्नपराद्धोऽस्मि तत्रभवतो युष्मत्सगोत्रस्य कण्वस्य। पश्चाङ्गुलीयकदर्शनादूढपूर्वां तद्दुहितरमवगतोऽहम्। तच्चित्रमिव मे प्रतिभाति।

व्या० एवं श०—आज्ञाकारिणीम् – आदेशपालिनीम् = आदेश पालन करने वाली। वः = आपकी। विवाहविधिना – विवाहस्य विधिना (त०) = विवाह की रीति से। उपगम्य – उप+यम्+क्त्वा – ल्यप् = विवाह कर। 'कस्यचित् कालस्य' अनन्तरमिति शेषः = कुछ समय के बाद। बन्धुभिः = (शार्ङ्गरव आदि) भाई-बन्धुओं के द्वारा। आनीताम् – आ+नी+क्त+टाप् = लायी गयी। स्मृतिशैथिल्यात् – शिथिलस्य भावः शैथिल्यम् – शिथिल+ष्यञ्, स्मृतेः शैथिल्यम् तस्मात् = स्मरण की दुर्बलता से। प्रत्यादिशन् – प्रति+आ+दिश्+शत् = परित्याग करते हुये (परित्याग कर)। अपराद्धः – अप+राध+क्त (कर्तरि) = अपराधी। अस्मि = हूँ। युष्मत् सगोत्रस्य – गोत्रेण सहितः सगोत्रः त्वं सगोत्रः यस तस्य = आपके वंशज। यह पद कण्वस्य का विशेषण है। अङ्गुलीयकदर्शनात् – अङ्गुलीयकस्य दर्शनम् अङ्गुलीयकदर्शनं तस्मात् = अगूँठी के दर्शन से। ऊढपूर्वाम् – पूर्वम् ऊढाम्परिणीताम् = पहले विवाहित। तद्दुहितरम् तस्य कण्वस्य दुहितरं पुत्रीम् = उन (कण्व) की पुत्री को। अवगतः – अव+गम्+क्त (कर्तरि) = ज्ञातवान्-जाना। चित्रमिव = आश्चर्य की भाँति। प्रतिभाति = प्रतीत होता है।

राजा—भगवन्, गान्धर्व-विधि से विवाह कर (फिर) कुछ समय के बाद (शार्ङ्गरव

आदि) बाधुजनों के द्वारा (मेरे पास) लायी गयी आप की आज्ञाकारिणी इस (शकुन्तला) को स्मरण की दुर्बलता (शिथिलता) के कारण (इसका) परित्याग कर मैं आपके समान गोत्र वाले (आपके वंशज) आदरणीय कण्व के प्रति अपराधी हूँ। बाद में अङ्गूठी के देखने से मुझे ज्ञात हुआ कि ये (कण्व) की पुत्री (मेरे द्वारा) पहले विवाह की गयी थी (अर्थात् मैंने उनकी पुत्री से पहले विवाह किया था) यह सब बात मुझको विचित्र सी (आश्चर्यजनक सी) लगती है।

टिप्पणी—यहाँ **'उपगूहन'** नामक निर्वहण सन्धि का अङ्ग है। लक्षण—'तद्भवेदुपगूहनं यत्स्याददद्भुतसम्प्राप्तिः'।

यथा गजो नेति समक्षरूपे तस्मिन्नपक्रामति संशयः स्यात्।
पदानि दृष्ट्वा तु भवेत् प्रतीतिस्तथाविधो मे मनसो विकारः।। ३१।।

अन्वय—यथा समक्षरूपे (गजे) गजः न इति (विश्वासः स्यात्) तस्मिन् अपक्रामति संशयः स्यात्, पदानि दृष्ट्वा तु प्रतीतिः भवेत्, तथाविधः मे मनसः विकारः।

शब्दार्थ—यथा = जिस प्रकार। समक्षरूपे = सामने वर्तमान रूप वाले (गज के विद्यमान होने पर)। गजः = यह हाथी। न = नहीं। इति = ऐसा (विश्वास होवे किन्तु)। तस्मिन् = उसके। अपक्रामति = चले जाने पर। संशयः = सन्देह। स्यात् = हो। पदानि = पैरों के चिह्नों को। दृष्ट्वा = देखकर। प्रतीतिः = विश्वास (निश्चयात्मक ज्ञान)। भवेत् = हो जाय। तथाविधः = उसी प्रकार का। मे = मेरे। मनसः = मन का (चित्त का)। विकारः = विकार (हो गया था)।

अनुवाद—जिस प्रकार (हाथी) के सामने होने पर (यह) हाथी नहीं है—ऐसा (निश्चय हो) तदन्तर उसके चले जाने पर (यह हाथी था अथवा नहीं-ऐसा) सन्देह हो और (उसके) पैरों के चिह्नों को देखकर (उसके हाथी होने का) विश्वास (बोध) हो जाय, उसी प्रकार का मेरे मन (चित्त) का विकार था।

संस्कृत व्याख्या—**यथा** - येन प्रकारेण, **समक्षरूपे** - समक्ष रूपमाकृतिः यस्य तादृशे गजे, **गजः न इति** - नायं हस्तीति विश्वासः स्यात्, **तस्मिन्** - गजे, **अपक्रामति** - दूरं गच्छति सति, **संशयः** - 'गजो वा न वा' इति सन्देहः, **स्यात्** - भवेत्, **पदानि** - चरणचिह्नानि, **दृष्ट्वा तु** - विलोक्य, किन्तु, **प्रतीतिः** - निश्चयः, **भवेत्** - स्यात् अयं गजः स एवासीत्, **तथाविधः** - तादृश एव, **मे** - दुष्यन्तस्य, **मनसः** - चेतसः, **विकारः** - विभ्रमः, आसीत् इति शेषः।

संस्कृत-सरलार्थः—राजा ब्रूते कश्यपम्—'भगवन्। प्रत्यक्षतः समुपस्थिते गजेऽयं विश्वासो भवेद् यन्नायं गजः', तस्मिन् गते सति 'अयं गजो न वा' इति सन्देहः स्यात्। तदनन्तरं भूमौ तस्य पदचिह्नानि समवलोक्य द्रढीयान् विश्वासो जायते यद् वस्तुतः 'स एव गज' आसीत्। तादृश एव मम चित्तस्य विकार (विभ्रम) आसीत्। यतो हि पूर्वमुपस्थितायां शकुन्तलायाम् 'इयं न मम भार्येति' पुनस्तिरोहितायां तस्याम् 'इयं किं परिणीतपूर्वा ?' इति तत्पश्चाद् अङ्गुलीयकदर्शनेन 'मम भार्यैवेति च प्रतीतिर्जातेति'।

व्याकरण—समक्षरूपे - समक्षं रूपं यस्य तस्मिन् (ब०ब्री०)। **अपक्रामति** - अप+क्रम+शत्। दृष्ट्वा - दृश+क्त्वा। विकारः - वि+कृ+'घञ्'। तथाविधः - **तथा तादृशी**। विधा - प्रकारः यस्य सः (ब०ब्री०)।

अलङ्कार—प्रस्तुत श्लोक में गजप्रतीति और मानसिक विकार में जिसमें परस्पर किसी

प्रकार का सम्बन्ध नहीं है, सम्बन्ध स्थापित किया गया है अतः 'निदर्शना' (असम्भवद्वस्तुसम्बन्धलक्षणा) अलङ्कार है। ल०द्र० १/१७ श्लो०।

छन्द—यहाँ **'उपजाति'** छन्द है। ल०द्र० २/७ श्लो०।

टिप्पणी—(१) जिस प्रकार किसी व्यक्ति को हाथी के सामने वर्तमान रहने पर भी यह निश्चय हो जाय कि यह हाथी नहीं है। उसी प्रकार शकुन्तला के सामने आने पर राजा दुष्यन्त ने निश्चयपूर्वक कहा कि 'यह मेरी पत्नी नहीं हैं'। हाथी के चले जाने पर यह सन्देह हो कि यह कहीं हाथी तो नहीं था, उसी प्रकार शकुन्तला के चले जाने पर राजा को यह सन्देह हुआ कि सम्भवतः वह मेरी विवाहिता पत्नी थी। पर बाद में हाथी के चले जाने पर उसके पद-चिह्नों के द्वारा यह निश्चय हो जाय कि वह हाथी ही था, उसी प्रकार शकुन्तला के चले जाने पर अङ्गूठी को देखकर राजा को यह निश्चय हो गया कि वह मेरी विवाहिता पत्नी ही थी।

मारीचः—वत्स, अलमात्मापराधशङ्कया। सम्मोहोऽपि त्वय्यनुपपन्नः। श्रूयताम्।

व्या० एवं श०—आत्मापराधशङ्कया – आत्मनः यः अपराधः शकुन्तला प्रत्याख्यानेन कण्वम्प्रति कृतः दोषः तस्य शङ्कया सम्भावनया = अपने अपराध की शङ्का से अलम् – निषेधार्थक अव्यय है। आत्मापराधशङ्कया अलम् – का अर्थ होगा अपने अपराध की शङ्का मत करो। यहाँ निषेधार्थक 'अलम्' इस अव्यय के योग में 'शङ्का' में तृतीया हुई है। अनुपपन्नः – उप+पद्+क्त – उपपन्न न उपपन्नः अनुपपन्नः (नञ् समास) = युक्तिसङ्गत नहीं है।

कश्यप—बेटा, तुम अपने अपराध की शङ्का मत करो। तुममें चित्तविकार की बात भी युक्तिसङ्गत नहीं है। सुनो।

राजा—अवहितोऽस्मि।

व्या० एवं श०—अवहितः – अव+धा+क्त = सावधान।

राजा—मैं (सुनने के लिये) सावधान हूँ।

मारीचः—यदैवाप्सरस्तीर्थावतरणात् प्रत्यक्षवैक्लव्यां शकुन्तलामादाय मेनका दाक्षायणीमुपगता तदैव ध्यानादवगतोऽस्मि दुर्वाससः शापादियं तपस्विनी सहधर्मचारिणी त्वया प्रत्यादिष्टा नान्यथेति। स चायमङ्गुलीयकदर्शनावसानः।

व्या० एवं श०—अप्सरस्तीर्थावतरणात् – अप्सरस्तीर्थस्य अवतरणात् (ष०त०) = अप्सरा तीर्थ के अवतरण अर्थात् घाट से। प्रत्यक्षवैक्लव्याम् – प्रत्यक्षं वैक्लव्यं यस्याः ताम्, बहु० = अत्यन्त व्याकुल। तपस्विनी = बेचारी। प्रत्यादिष्टा – प्रति+आ+दिश्+क्त+टाप् = परित्यक्ता। अङ्गुलीयकदर्शनावसानः – अङ्गुलीयकदर्शनम् अवसानं यस्य सः (बहु०) = अँगूठी देखने से समाप्त होने वाला। **विशेष**—यहाँ **'निर्णय'** नामक निर्वहण सन्धि का अङ्ग उपक्षिप्त है—'निर्णयः पुनः अनुभूतार्थकथनम्'।

कश्यप—ज्यों ही अप्सरातीर्थ घाट (अवतरण) से अत्यन्त व्याकुल (प्रत्यक्ष विकलता वाली) शकुन्तला को लेकर मेनका अदिति (दाक्षायणी) के पास आयी, तभी मैंने ध्यान से जान लिया कि दुर्वासा के शाप के कारण यह बेचारी सहधर्मचारिणी आप के द्वारा परित्याग कर दी गयी है, (इसमें) और कोई कारण नहीं है। और वह (शाप) अङ्गूठी के देखने पर समाप्त हो जाने वाला था।

राजा—(सोच्छ्वासम्) एष वचनीयान्मुक्तोऽस्मि।

शब्दार्थ—वचनीयात् = लोकापवाद (निन्दा) से।

राजा—(लम्बी साँस लेकर) अब मैं लोकापवाद (वचनीय) से मुक्त हो गया हूँ।

शकुन्तला—(स्वगतम्) **दिष्ट्याऽकारणप्रत्यादेशी नार्यपुत्रः न खलु शप्तमात्मानं स्मरामि। अथवा प्राप्तो मया स हि शापो विरहशून्यहृदयया न विदितः। अतः सखीभ्यां सन्दिष्टास्मि भर्तुरङ्गुलीयकं दर्शयितव्यमिति।** (दिट्ठिआ आकारणपच्चादेसी ण उज्जउत्तो। ण हु सत्तं अत्ताणं सुमरेमि। अहवा पत्तो मए स हि सावो विरहसुण्णहिअआए ण विदिदो। अदो सहीहिं संदिट्ठम्हि भत्तुणो अंगुलीअअं दंसइदव्वं त्ति।)

व्या० एवं श०—अकारणप्रत्यादेशी – नास्ति कारणं यस्मिन् तत् यथा स्यात् तथा प्रत्यादेष्टुं शीलमस्येति = अकारण प्रत्यादेशी-अकारण परित्याग करने वाले। प्रत्यादेशी – प्रति+आ+दिश्+णिनि (कर्तरि)। विरहशून्यहृदयया – विरहेण पतिवियोगेन शून्यं-रिक्तं हृदयं चेतः यस्याः सा तया = वियोग के कारण शून्य हृदय वाली मेरे द्वारा। सन्दिष्टा – सम्+दिश्+क्त+टाप् = निर्दिष्ट की गयी थी (सहेजी गयी थी)। दर्शयितव्यम् – दृश्+णिच्+तव्यत् = दिखाना चाहिये।

शकुन्तला—(अपने मन में) सौभाग्य से आर्यपुत्र अकारण परित्याग करने वाले नहीं हैं। मुझे कब शाप दिया गया था – यह याद नहीं है। अथवा प्राप्त हुआ भी वह शाप वियोग के कारण शून्य हृदय वाली मेरे द्वारा नहीं जाना गया। अर्थात् शून्य हृदय वाली मैं उस शाप को नहीं जान पायी। इसीलिये सखियों के द्वारा (आवश्यकता पड़ने पर) पति को अङ्गूठी दिखाने के लिये मैं सहेजी गयी (आदेश दी गयी) थी।

मारीचः—वत्से, चरितार्थासि। तदिदानीं सहधर्मचारिणं प्रति न त्वया मन्युः कार्यः। पश्य—

व्या० एवं श०—चरितार्था – चरितः सफलीभूतः अर्थः प्रयोजनं यस्याः सा = सफल मनोरथ, कृतार्थ। यहाँ चरितार्था का अर्थ वास्तविक बात जानने वाली भी हो सकता है। मन्युः – (प्रत्याख्यानजन्य) = क्रोध। 'मन्युर्दैन्ये क्रतौ क्रुधि' – इत्यमरः।

कश्यप—बेटी तुम कृतार्थ हो गयी हो। तो अब अपने पति के प्रति तुम्हारे द्वारा क्रोध नहीं किया जाना चाहिये। देखो—

शापादसि प्रतिहता स्मृतिरोधरूक्षे भर्तर्यपेततमसि प्रभुता तवैव।
छाया न मूर्च्छति मलोपहतप्रसादे शुद्धे तु दर्पणतले सुलभावकाशा॥ ३२॥

अन्वय—शापात् स्मृतिरोधरूक्षे भर्तरि प्रतिहता असि, अपेततमसि तव एव प्रभुता (अस्ति), मलोपहतप्रसादे दर्पणतले छाया न मूर्च्छति शुद्धे तु सुलभावकाशा।

शब्दार्थ—शापात् = शाप के कारण। स्मृतिरोधरूक्षे = स्मरण शक्ति के अवरुद्ध हो जाने से कठोर (निष्ठुर)। भर्तरि = पति के द्वारा। प्रतिहता = परित्याग की गयी (तिरस्कृत)। असि= हो (थी)। अपेततमसि = जिसका अज्ञान समाप्त (नष्ट) हो गया है ऐसे (पति) पर। तव = तुम्हारी। एव = ही। प्रभुता = प्रभुता (आधिपत्य) है। मलोपहतप्रसादे = धूल के कारण जिसकी स्वच्छता नष्ट हो गयी है ऐसे (धूल से आच्छादित होने के कारण अस्वच्छ)। दर्पणतले = शीशे में। छाया = प्रतिबिम्ब। न = नहीं। मूर्च्छति = प्रतिबिम्बित होता, दिखायी देता। शुद्धे = स्वच्छ हो जाने पर। तु = किन्तु। सुलभावकाशा = आसानी से प्राप्त कर लिया गया है स्थान जिसके द्वारा ऐसा, अर्थात् आसानी से दिखायी देने लगता है।

अनुवाद—शाप के कारण स्मृतिशक्ति के अवरुद्ध हो जाने से कठोर पति (राजा

दुष्यन्त) के द्वारा तुम्हारा परित्याग किया गया था किन्तु (अब) अज्ञान विमुक्त (उस पति) पर तुम्हारा ही आधिपत्य (अधिकार) होगा। न कि सपत्नियों का। रूप स्वच्छताविहीन (धूल के कारण अस्वच्छ) शीशे में प्रतिबिम्ब नहीं दिखायी देता, किन्तु (उस शीशे के) स्वच्छ हो जाने पर (प्रतिबिम्ब) आसानी से दिखायी देने लगता है।

संस्कृत व्याख्या—शापात् – दुर्वाससः शापात् , **स्मृतिरोधरूक्षे** – स्मरणशक्तिरोधनिष्ठुरे, **भर्तरि** – पत्यौ, **प्रतिहता असि** – तिरस्कृता असि; (परमधुना), **अपेततमसि** – विनष्टशापान्धकारे प्रकृतिगते भर्तरीत्यर्थः, **तव** – शकुन्तलायाः, **एव प्रभुता** – आधिपत्यम् न त्वन्यसपत्नीनामिति भावः, **मलोपहतप्रसादे** – धूल्यादिना नष्टा स्वच्छता यस्य तस्मिन् , **दर्पणतले** – मुकुरतले, **छाया** – प्रतिबिम्बम् , **न मूर्च्छति** – न प्रसरति, **शुद्धे तु** – निर्मले तु दर्पणे (सा छाया), **सुलभावकाशा** – सुलभः सुकरः अवकाशः स्थानं यस्याः तादृशी भवति।

संस्कृत-सरलार्थः—मारीचो वदति शकुन्तलाम्—'वत्से! पूर्वं तव प्रत्याख्यानस्य दुर्वाससः शाप एव मूलमासीत्। शापवशादेव तव पतिस्त्वां प्रत्याख्यातवान् नान्यथा। अतस्तम्प्रति त्वया न क्रोधः कार्यः। सम्प्रतिं तवाङ्गुलीयकदर्शनात्स शापो दूरीभूतः। नूनमस्यामवस्थायां भर्तरि (दुष्यन्ते) तवैव प्रभुत्वं स्यान्नान्यसपत्नीनाम्। धूलादिभिर्मलिनीभूते दर्पणे प्रतिबिम्बं न प्रसरति, स्वच्छे तु दर्पणे तदेव स्फुटं दृश्यते।

व्याकरण—स्मृतिरोधरूक्षे – स्मृतेः रोधाद् रूक्षे (तत्पु०)। मलोपहतप्रसादे – मलेन उपहतः प्रसादः यस्य तस्मिन् (ब०व्री०)। प्रतिहता – प्रति+हन्+क्त+टाप्। अपेततमसि – अपेतं तमः यस्मादेवम्भूते (ब०व्री०)।

कोष—'छाया सूर्यप्रिया कान्तिः प्रतिबिम्बमनातपे' – इत्यमरः।

अलङ्कार—(१) 'भर्तरि तवैव प्रभुता' यहाँ असम्बन्ध में सम्बन्ध का वर्णन है। क्योंकि प्रभुता भर्ता में रहती है, पत्नी में नहीं—यह सर्वविदित है। अतः असम्बन्ध में सम्बन्ध का वर्णन होने से **'अतिशयोक्ति'** है। ल०द्र० ३/१७। (२) यहाँ भर्ता दुष्यन्त हैं पर प्रभुता शकुन्तला में वर्णित है। जब कि भर्तृत्व और प्रभुत्व का आश्रय एक होना चाहिये जो नहीं किया गया। अतः **'असङ्गति'** अलङ्कार है।

छन्द—यहाँ **'वसन्ततिलका'** छन्द है। ल०द्र० १/८।

टिप्पणी—(१) शकुन्तला के परित्याग के समय दुष्यन्त की रुखाई में उनका (दुष्यन्त का) दोष नहीं था; उसमें शाप कारण था। (२) जिस प्रकार धूल से स्वच्छता नष्ट हो जाने पर दर्पण में बिम्ब नहीं दिखायी पड़ता, उसी प्रकार शापग्रस्त स्मृति के कारण राजा के मन में शकुन्तला नहीं विद्यमान थी, किन्तु अब शाप के दूर हो जाने पर शुद्ध दर्पण के समान उस पति दुष्यन्त के मन में वह सरलतापूर्वक स्थान प्राप्त करेगी। तात्पर्य यह है कि अब शकुन्तला दुष्यन्त की स्वामिनी रहेगी। वह उनकी पटरानी बनेगी और दुष्यन्त उसके कथनानुसार चलेंगे।

राजा—यथाह भगवान्।

राजा—जैसा पूज्य आप ने कहा (वह ठीक ही है)।

मारीचः—वत्स, कच्चिदभिनन्दितस्त्वया विधिवदस्माभिरनुष्ठितजातकर्मा पुत्र एष शाकुन्तलेयः?

व्या० एवं श०—कच्चित् = प्रश्ने। अनुष्ठितजातकर्मा – अनुष्ठितं कृतं जातकर्म

जातकर्मसंस्कारः यस्य सः तादृशः (ब०ब्री०) = किया गया है 'जातकर्म' संस्कार जिसका ऐसा। अभिनन्दितः – अभि+नन्द्+क्त। शाकुन्तलेयः – शकुन्तलायाः अपत्यं पुमान् – शकुन्तला+ढक् – एय = शकुन्तला से उत्पन्न पुत्र। अनुष्ठित – अनु+स्था+क्त।

कश्यप—बेटा, क्या तुमने हमारे द्वारा विधिपूर्वक किये गये जातकर्म (संस्कार) वाले शकुन्तला से उत्पन्न पुत्र का अभिनन्दन कर लिया है।

राजा—भगवन्, अत्र खलु मे वंशप्रतिष्ठा। (इति बालं हस्तेन गृह्णाति)।

व्या० एवं श०—वंशप्रतिष्ठा – वंशस्य प्रतिष्ठा (ष०त०) = वंश की प्रतिष्ठा। प्रतिष्ठा – प्र+स्था+अङ्+टाप्।

राजा—भगवन्, यहाँ (इसी पर) मेरे वंश की प्रतिष्ठा (आश्रित) है। (बालक को हाथ से पकड़ता है)।

मारीचः—तथाभाविनमेनं चक्रवर्तिनमवगच्छतु भवान्। पश्य—

व्या० एवं श०—अवश्यं तथा भवतीति तथाभावी तम् तथा भाविनम् भाविनि काले तथा सम्पद्यमानम् = भविष्य में वैसा ही होने वाला। तथा भू+कर्तरि आवश्यके णिनि द्वि०ए०व०। चक्रवर्तिनम् = चक्रवर्ती सम्राट्। चक्रवर्ती का लक्षण द्रष्टव्य चतुर्थ अङ्क के श्लोक 'ययातेरिव शर्मिष्ठा...'।

कश्यप—आप इसको उसी प्रकार होने वाला चक्रवर्ती (सम्राट्) समझें। देखिए—

रथेनानुद्घातस्तिमितगतिना तीर्णजलधिः
पुरा सप्तद्वीपां जयति वसुधामप्रतिरथः।
इहायं सत्त्वानां प्रसभदमनात् सर्वदमनः
पुनर्यास्यत्याख्यां भरत इति लोकस्य भरणात्॥ ३३॥

अन्वय—अप्रतिरथः अयम् अनुद्घातस्तिमितगतिना रथेन तीर्णजलधिः पुरा सप्तद्वीपां वसुधां जयति, इह सत्त्वानां प्रसभदमनात् सर्वदमनः, पुनः लोकस्य भरणात् भरतः इति आख्यां यास्यति।

शब्दार्थ—अप्रतिरथः = नहीं है विपक्ष में कोई महारथी जिसके ऐसा (अद्वितीय महारथी)। अयम् = यह। अनुद्घातस्तिमितगतिना = अस्खलित और शान्त गति वाले। रथेन = रथ से। तीर्णजलधिः = सागरों को पार कर। पुरा = भविष्य में। सप्तद्वीपाम् = सात द्वीप हैं जिसके ऐसी (सात द्वीपों वाली)। वसुधाम् = पृथ्वी को। जयति = जीतेगा। इह = यहाँ। सत्त्वानाम् = प्राणियों का। प्रसभदमनात् = बलपूर्वक दमन करने (वश में करने) के कारण। सर्वदमनः = सर्वदमन। पुनः = फिर (बाद में)। लोकस्य = लोक का (संसार का)। भरणात् = भरण करने के कारण। भरतः = भरत। इति = इस। आख्याम् = नाम को। यास्यति = प्राप्त करेगा।

अनुवाद—अद्वितीय महारथी यह उद्घात रहित (अस्खलित) होने से शान्त गति वाले रथ से सागरों को पार कर भविष्य में सात द्वीपों वाली पृथ्वी को जीतेगा। यहाँ (आश्रम में) प्राणियों का बलपूर्वक दमन करने (वश में करने) के कारण (इसका नाम) 'सर्वदमन' है। बाद (भविष्य) में लोक (संसार) का भरण-पोषण करने के कारण 'भरत' इस नाम को प्राप्त करेगा। अर्थात् 'भरत' इस नाम से विख्यात होगा।

संस्कृत व्याख्या—अप्रतिरथः – न विद्यते प्रतिरथः प्रतियोद्धा यस्य सः अद्वितीयशूरः,

अयं – बालकः, **अनुद्घातस्तिमितगतिना** – अनुद्घाता अस्खलिता अतएव स्तिमिता शान्ता गतिः यस्य तेन अस्खलितशान्तगतिना, **रथेन** – स्यन्दनेन, **तीर्णजलधिः** – उत्तीर्णाः सागराः येन सः, **पुरा** – आगामिनि काले, **सप्तद्वीपां** – जम्बुप्लाक्षादिसप्तद्वीपयुक्ताम् , **वसुधां** – पृथ्वीम् , **जयति** – जेष्यति, **इह** – अस्मिन् तपोवने, **सत्त्वानां** – प्राणिनाम् , **प्रसभदमनात्** – सत्त्वानां प्राणिनाम् प्रसभदमनात् प्रसभं हठेन दमनात् शासनात् बलात् शासनात् , **सर्वदमनः** – एतदाख्यः, **पुनः** – भूयः, **लोकस्य** – भुवनस्य, **भरणात्** – पालनात् , **भरतः इति आख्यां** – भरतः इति नाम, **यास्यति** – प्राप्स्यति ।

संस्कृत-सरलार्थः—मारीचः सर्वदमनस्य वैशिष्ट्यं वर्णयन् वदति—'अद्वितीयवीरोऽयम् अस्खलितशान्तगतिना रथेन समुद्रं तीर्त्वाऽऽगामिनि काले सप्तद्वीपां धरित्रीं जेष्यति । तपोवनेऽस्मिन् प्राणिनां प्रसभदमनात् 'सर्वदमनः' इत्यस्य नामान्वर्थकमस्ति ।

व्याकरण—अप्रतिरथः – न विद्यते प्रतिरथः प्रतिद्वन्द्वी रथः यस्य सः (ब०व्री०) । प्रतिरथ का प्रतियोद्धा यह अर्थ लेकर विग्रह इस प्रकार भी होगा—न विद्यते प्रतिरथः प्रतियोद्धा यस्य सः । तीर्णजलधिः – तीर्णाः जलधयः येन सः (ब०व्री०) । सप्तद्वीपां – सप्त द्वीपानि यस्याः सा सप्तद्वीपा ताम् (ब०व्री०) । यास्यति – या – लृट् प्र०पु०ए०व० । पुरा जयति यहाँ 'पुरा' इस अव्यय के साथ योग होने से 'भविष्य' अर्थ में 'यावत्पुरानिपातयोर्लट्' से (ज्यति में) लट् लकार हुआ है । इसलिये 'पुरा' का यह अर्थ भविष्य काल में ठीक है । उक्त सूत्र से 'पुरा' एवं 'यावत्' के साथ निश्चयात्मक भविष्य के अर्थ में वर्तमान काल (लट् लकार) आता है । इसलिये पुरा का अर्थ भविष्य काल आगामी काल तथा 'जयति' का 'जेष्यति' (जीतेगा) ठीक है । 'पुरा' इस अव्यय के तीन अर्थ होते हैं—१. प्रबन्ध, २. बहुत दिन पहले, ३. आने वाला निकट का समय—'स्यात्प्रबन्धे चिरातीते निकटागामिके पुरा' अमरकोष । अनुद्घातस्तिमितगतिना – न उद्घातः (उत्+हन्+घञ्) अनुद्घातः अनुद्घातेन स्तिमिता शान्ता गतिः यस्य तेन तादृशेन (ब०व्री०) । तीर्णजलधिः – तीर्णाः जलधयः येन सः (ब०व्री०) । तीर्ण – तृ+क्त । प्रसभदमनात् – प्रसभं दमनात् – दम+ल्युट दमनं तस्मात् । सर्वदमनः – सर्वं दमयति = सर्वदमनः सर्व+दम+ल्युट् । भरणात् – भृ+ल्युट् प्र०पु०ए०व० । भरतः – भरति बिभर्त्ति वा लोकान् – भृ+अतच् ।

कोष—'स्यात्प्रबन्धे चिरातीते निकटागामिके पुरा' इत्यमरः । 'संत्त्वमस्त्री तु जन्तुषु' इत्यमरः ।

अलङ्कार—(१) इस श्लोक में 'पुरा सप्तद्वीपां वसुधां जयति' से भविष्य में होने वाली (भावी) विजय का प्रत्यक्षवत् वर्णन होने से **'भाविक'** अलङ्कार है । लक्षण—'अद्भुतस्य पदार्थस्य भूतस्याथ भविष्यतः । यत् प्रत्यक्षायमाणत्वं तद् भाविकमुदाहृतम्' ॥ (२) यहाँ 'सर्वदमन' 'भरत' आदि के अन्वर्थक नाम होने का कारण उल्लिखित है अतः **'काव्यलिङ्ग'** अलङ्कार है । ल०द्र० १/४ श्लो० ।

छन्द—यहाँ **'शिखरिणी'** छन्द है । ल०द्र० १/९ श्लो० ।

टिप्पणी—(१) **सप्तद्वीपाम्** – पौराणिक भूगोल के अनुसार सम्पूर्ण पृथ्वी सात द्वीपों में विभक्त मानी गयी है । वायुपुराण के अनुसार सात द्वीप ये हैं—जम्बुप्लक्षाह्वयौ द्वीपौ शाल्मलिश्चापरो द्विज । कुशः क्रौञ्चस्तथा शाकः पुष्करश्चैव सप्तमः ॥ अर्थात् १. जम्बु, २. प्लक्ष, ३. शाल्मलि, ४. कुश, ५. क्रौञ्च, ६. शाक, ७. पुष्कर । कूर्मपुराण भी इन्हीं सात द्वीपों को मानता है पर वह

'जम्बु' द्वीप को प्रधान पृथ्वी का केन्द्र मानता है। उसकी यह भी मान्यता है कि ये सात 'महाद्वीप' हैं और वे सात समुद्रों से (प्रत्येक एक-एक समुद्र से) घिरे हैं—जम्बुद्वीपः प्रधानोऽयं प्लक्षशाल्मलिरेव च। कुशः क्रौञ्चश्च शाकश्च पुष्करश्चैव सप्तमः ॥ एते सप्त महाद्वीपाः समुद्रैः सप्तभिर्वृताः ॥ 'जम्बु' द्वीप को मध्य में स्थित माना जाता है और उसके मध्य में 'मेरु' या 'सुमेरु' पर्वत की स्थिति भी माना है। विष्णुपुराण में 'जम्बु' द्वीप को 'लक्षयोजन माना जाता है और उसमें नौ वर्ष (देश) माने गये हैं। वे हैं—१. कुरु, २. हिरण्मय, ३. रम्यक, ४. श्लावृत, ५. हरि, ६. केतुमाल, ७. भद्राश्व, ८. किन्नर (किं पुरुष), ९. भारत। पृथ्वी को अन्यत्र नौ या अठारह द्वीपों से युक्त माना गया है। महाकवि कालिदास अठारह द्वीपों का उल्लेख करते हैं—'अष्टादशद्वीपनिखातयूपः'। रघुवंश। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने पृथ्वी को सप्तद्वीपा कहा है—'सप्तद्वीपा वसुमती'। (२) **भरणात् भरतः** – मारीच ने लोक (संसार) के भरण-पोषण करने के कारण, शकुन्तला के पुत्र 'सर्वदमन' को, 'भरत' इस नाम से अभिहित किया। 'भरत' शब्द 'भृ' धातु से 'अतच्' प्रत्यय के योग से निष्पन्न होता है। एक धातु भ्वादि गणीय 'भृञ् भरणे' है जिसका रूप 'भरति-भरतः...' इस प्रकार चलता है। दूसरी अदादिगणीय 'डुभृञ् - धरणपोषणयोः' है जिसका रूप बिभर्ति, 'बिभृत...' इस प्रकार चलता है। अतः भरति बिभर्ति वा लोकान् भरतः = भरण-पोषण करने वाला होगा। यहाँ 'भरत' इस नाम से पाँच महापुरुष प्रसिद्ध हैं—१. दशरथ द्वारा कैकेयी के गर्भ से उत्पन्न 'भरत', २. मनु, ३. (जड) भरत महर्षि, ४. शकुन्तला के पुत्र (सर्वदमन नामक) 'भरत', ५. नाट्यशास्त्र प्रणेता 'भरत'। वैसे तो भरत के नट (भरतशिष्य), अग्नि आदि अनेक अर्थ होते हैं। 'ब्रह्माण्डपुराण' और 'वायुपुराण' में 'मनु' की संज्ञा भरत बतायी गयी है। 'वायुपुराण का कथन है—'वर्षं तद् भारतं नाम यत्रेयं भारती प्रजा। भरणाच्च प्रजानां वै मनुर्भरत उच्यते' ॥ यहाँ प्रजाओं के भरण-पोषण के कारण ही 'मनु' भरत कहे गये हैं।

इस सन्दर्भ में थोड़ा 'भारत' अथवा 'भारतवर्ष' नाम पर विचार कर लेना समीचीन है। संस्कृत में भारत शब्द 'नपुंसक लिङ्ग' होने पर भारत देश (भारतवर्ष) का वाचक शब्द है—भरतेन चिह्नितं तस्येदं वा (भरत+अण्) भारतम्। 'भारत' को 'भारतवर्ष' भी कहा जाता है। वर्ष का अर्थ देश होता है। 'जम्बु' द्वीप के अन्तर्गत नौ वर्ष (देश) माने गये हैं जिनमें 'भारत' (भारत नामक वर्ष भारतवर्ष) भी है ('भारतं प्रथमं वर्षम्। पुँल्लिङ्ग में 'भारत' शब्द का भरतवंशज सम्राट भारतवासी आदि अर्थ होता है। अब प्रश्न यह है कि किस भरत के नाम पर इस देश का नाम 'भारत' पड़ा है। शाकुन्तलेय (अर्थात् सर्वदमन को) विश्ववन्द्य महर्षि मारीच ने संसार का भरण-पोषण करने के कारण तथा चक्रवर्ती सम्राट् घोषित कर दिया है, वह चक्रवर्ती के लक्षणों से युक्त है, वीतराग महर्षि कण्व ने भी बहुत पहले ही शकुन्तला को चक्रवर्ती पुत्र की जननी होने का आशीर्वाद दे ही दिया है तो फिर सम्राट् की पदवी को प्राप्त करने वाले, संसार के भरण-पोषण में सर्वदा समर्थ शकुन्तला के पुत्र 'भरत' के नाम पर लोकविश्रुत इस पावन देश के 'भारत' इस नाम के रखे जाने पर क्या आपत्ति हो सकती है। ऐसा करने पर हरिवंशपुराण के वचन की सार्थकता भी हो जाती है—'शकुन्तलायां भरतो यस्य नाम्ना स्याद भारताः'।

राजा—भगवता कृतसंस्कारे सर्वमस्मिन् वयमाशास्महे।

व्या० एवं श०—कृतसंस्कारे – कृतः विहितः संस्कार यस्यासौ तस्मिन् = किया गया है संस्कार जिसका ऐसे। संस्कार सम्पन्न। आशास्महे = आशा करते हैं।

राजा—आप के द्वारा किये गये संस्कार से सम्पन्न इस (बालक) में हम सब कुछ आशा करते हैं।

अदितिः—भगवन् अस्या दुहितृमनोरथसम्पत्तेः कण्वोऽपि तावच्छ्रुतविस्तारः क्रियताम्। दुहितृवत्सला मेनकेहैवोपचरन्ती तिष्ठति। (भअवं इमाए दुहिदुमणोरहसंपत्तीए कण्णो वि दाव सुदवित्थारों करीअदु। दुहिदुवच्छला मेणआ इह एव्व उपचरन्ती चिट्ठति।)

व्या० एवं श०—दुहितृमनोरथसम्पत्तेः - दुहितुः पुत्र्याः यः मनोरथः अभिलाषः तस्य या सम्पत्तिः सिद्धिः तस्याः = पुत्री शकुन्तला की (पूर्ण हुयी) आशा की सिद्धि (समाचार)। श्रुतविस्तारः - श्रुतः आकर्णितः विस्तारः येन तादृशः = विस्तार से सुन लिया है समाचार जिसने ऐसे = (समाचार को) विस्तार से अवगत। दुहितृवत्सला - दुहितरि वत्सला (सुप्सुपा समास) = पुत्री (शकुन्तला) से अति स्नेह रखने वाली। यह पद 'मेनका' इस का विशेषण है। वत्सला - वत्स+लच्+टाप्। मेनकेहैवोपचरन्ती - मेनका+इह+एव+उपचरन्ती क्रमशः गुण, वृद्धि गुणसन्धि। उपचरन्ती - उप+चर्+शतृ+ङीष् = सेवा करती हुयी।

अदिति—भगवन्, पुत्री (शकुन्तला) की (पूर्ण हुयी) इस अभिलाषा (के समाचार) को विस्तारपूर्वक कण्व को भी बता देना चाहिये। पुत्री को अत्यधिक स्नेह करने वाली मेनका तो (हम लोगों की) सेवा करती हुयी यहाँ ही हैं।

शकुन्तला—(आत्मगतम्) **मनोरथः खलु मे भणितो भगवत्या।** (मणोरहो क्खु मे भणिदो भअवदीए।)

व्या० एवं श०—भणितः - भण्+क्त (कर्मणि) = कह दिया।

शकुन्तला—(अपने मन में) भगवती (अदिति) के द्वारा वस्तुतः मेरे मन की बात कही गयी है (भगवती अदिति ने मेरे मन की बात कही है)।

मारीचः—तपःप्रभावात् प्रत्यक्षं सर्वमेव तत्रभवतः।

कश्यप—तपस्या के प्रभाव से सभी बातें महात्मा (कण्व) के प्रत्यक्ष ही हैं (अर्थात् तपस्या के प्रभाव से कण्व को सब कुछ ज्ञात है)।

राजा—अतः खलु मम नातिक्रुद्धो मुनिः।

व्या० एवं श०—नातिक्रुद्धः - न+अति+क्रुद्धः = अत्यधिक क्रुद्ध नहीं (हुये)।

राजा—इसीलिये ये (सब कुछ जान के कारण ही कण्व) मुनि मेरे ऊपर अधिक क्रुद्ध नहीं हुये।

मारीचः—तथाप्यसौ प्रियमस्माभिः श्रावयितव्यः। कः कोऽत्र भोः?

व्या० एवं श०—श्रावयितव्यः - श्रु+णिच्+तव्यत्। सुना देना चाहिये।

कश्यप—तो भी यह शुभ (प्रिय) समाचार हम लोगों के द्वारा (कण्व को) सुना (बता) दिया जाना चाहिये। अरे कौन-कौन है यहाँ?

(प्रविश्य) **शिष्यः—भगवन् अयमस्मि।**

(प्रवेश करके) **शिष्य**—भगवन्, यह मैं हूँ।

मारीचः—गालव, इदानीमेव विहायसा गत्वा मम वचनात् तत्रभवते कण्वाय प्रियमावेदय यथा—पुत्रवती शकुन्तला तच्छापनिवृत्तौ स्मृतिमता दुष्यन्तेन प्रतिगृहीतेति।

व्या० एवं श०—विहायसा गत्वा = आकाशमार्ग से जाकर।

कश्यप—गालव ! (तुम) अभी आकाश-मार्ग से जाकर मेरे आदेशानुसार महात्मा (कण्व) से (यह) शुभ (प्रिय) समाचार कहना कि पुत्र-सहित शकुन्तला को (दुर्वासा के द्वारा दिये गये) शाप से निवृत्त होने पर स्मृतियुक्त दुष्यन्त के द्वारा (अङ्गीकार) कर ली गयी।

शिष्यः—यदाज्ञापयति भगवान्। (इति निष्क्रान्तः)।

शिष्य—पूज्य आप जैसी आज्ञा देते हैं। (निकल जाता है)।

मारीचः—वत्स, त्वमपि स्वापत्यदारसहितः सख्युराखण्डलस्य रथमारुह्य ते राजधानीं प्रतिष्ठस्व।

व्या० एवं श०—स्वापत्यदारसहितः – स्वस्य आत्मनः अपत्येन पुत्रेण दारैः पत्न्या सहितः समेतः = अपनी सन्तान (अपने पुत्र) और पत्नी के साथ। सख्युः – सखिन् षष्ठी ए०व० = मित्र के। आखण्डलस्य = इन्द्र के। आरुह्य – आ+रुह्+क्त्वा – ल्यप् = चढ़कर। प्रतिष्ठस्व – प्र+स्था+लोट् प्र०पु०ए०व० = प्रस्थान करो। यहाँ 'प्र' के योग में 'स्था' धातु का 'समवप्रविभ्यः स्थः' सूत्र से आत्मनेपद हुआ है।

कश्यप—बेटा, तुम भी अपने पुत्र और पत्नी के साथ (अपने) मित्र इन्द्र के रथ पर चढ़कर अपनी राजधानी (हस्तिनापुर) को प्रस्थान करो ?

राजा—यदाज्ञापयति भगवान्।

राजा—पूज्य, आप जो आदेश (आज्ञा) देते हैं।

मारीचः—अपि च—

कश्यप—और भी—

तव भवतु विडौजाः प्राज्यवृष्टिः प्रजासु
त्वमपि विततयज्ञो वज्रिणं प्रीणयस्व।
युगशतपरिवर्तानेवमन्योन्यकृत्यै-
र्नयतमुभयलोकानुग्रहश्लाघनीयैः ।। ३४ ।।

अन्वय—विडौजाः तव प्रजासु प्राज्यवृष्टिः भवतु, त्वम् अपि विततयज्ञः वज्रिणं प्रीणयस्व, एवम् उभयलोकानुग्रहश्लाघनीयैः अन्योन्यकृत्यैः युगशतपरिवर्तान् नयतम्।

शब्दार्थ—विडौजाः = इन्द्र। तव = तुम्हारी। प्रजासु = प्रजाजनों के मध्य (लिये)। प्राज्यवृष्टिः = पर्याप्त वृष्टि करने वाले। भवतु = हो। त्वम् अपि = तुम भी। विततयज्ञः (सन्) = जिसके द्वारा यज्ञों का विस्तार कर दिया गया है ऐसा, (यज्ञों का विस्तार करने वाला होकर)। वज्रिणम् = इन्द्र को। प्रीणयतु = प्रसन्न करो। एवम् = इस प्रकार। उभयलोकानुग्रहश्लाघनीयैः = दोनों लोकों के उपकार (अनुग्रह) के कारण प्रशंसनीय। अन्योन्यकृत्यैः = एक दूसरे के (पारस्परिक) कार्यों से। युगशतपरिवर्तान् = सौ युगों के परिवर्तन को (सैकड़ों युगों को)। नयतम् = ले जाओ (बिताओ)।

अनुवाद—इन्द्र तुम्हारी प्रजाओं के लिये पर्याप्त (अर्थात् पर्याप्त जल बरसावे)। तुम भी यज्ञों का विस्तार करके इन्द्र को प्रसन्न करो। इस प्रकार (स्वर्ग तथा मर्त्य) दोनों लोकों के उपकार (अनुग्रह) के कारण प्रशंसनीय कार्यों से तुम दोनों सैकड़ों युगों को बिताओ।

संस्कृत व्याख्या—विडौजाः – वेवेष्टि इति विट् व्यापकम् ओजः प्रतापो यस्य सः इन्द्रः, अथवा विडति भिनत्ति रिपून् इति विडम् शत्रुभेदकम् ओजः यस्य सः विडौजाः इन्द्रः। **तव** – दुष्यन्तस्य, **प्रजासु** – प्रजाजनेषु, **प्राज्यवृष्टिः** – प्राज्या प्रभूता वृष्टिः वर्षणम् यस्य स तथाविधः, **भवतु** – स्यात् , **त्वं** – दुष्यन्तः, **अपि, विततयज्ञः** – विस्तीर्णाः यज्ञाः येन तादृशः सन् , **वज्रिणम्** – इन्द्रम् , **प्रीणयस्व** – प्रसादय, **एवम्** – इत्थम् , **उभयलोकानुग्रहश्लाघनीयैः** – उभयोः देवमर्त्ययोः लोकयोः अनुग्रहेण उपकारेण श्लाघनीयैः प्रशंसनीयै, **अन्योन्यकृत्यैः** – अन्योन्यस्य परस्परस्य कृत्यैः कार्यैः, **युगशतपरिवर्तान्** – युगानां शतपरिवर्तान् शतावर्तनानि, **नयतम्** – अतिवाहयतम्।

संस्कृत-सरलार्थः—महर्षिमारीचो दुष्यन्तं स्वाशीर्वचोभिः कृतार्थयन् कथयति इन्द्रस्तव प्रजानां कृते प्रचुरवृष्टिर्भवतु। त्वमपि विततयज्ञः सन् तमिन्द्रं यज्ञभागैः प्रसादय। इत्थं (युवाम्) देवमर्त्यलोकोपकारश्लाघ्यैः कार्यैर्युगशतावर्तनानि समतिवाहयतम्।

व्याकरण—विडौजाः – वेवेष्टि इति विट्, विट् ओजः यस्य सः (बहु०)। अथवा विडति भिनत्ति रिपून् इति विड्म् ओजः यस्य सः (ब०व्री०)। प्राज्यवृष्टिः – प्राज्या वृष्टिः यस्य सः (बहु०)। विततयज्ञः – वितताः यज्ञाः येन सः (बहु०)। उभयलोकानुग्रहश्लाघनीयैः – उभयोः लोकयोः अनुग्रहेण श्लाघनीयैः (तत्पु०)। युगशतपरिवर्तान् – युगानां शतपरिवर्तान् (तत्पु०)। नयतम् – नी+लोट्+म०पु०द्वि०व०। प्राज्यम् – प्रकर्षेण अज्यते काम्यते इति प्राज्यम् प्र+अज्ज – व्यत्। अथवा प्रकृष्टम् आज्यं यस्मिन् सः।

कोष—'इन्द्रो मरुत्वान् मघवा विडौजाः पाकशासनः'। 'प्रभूतं प्रचुरं प्राज्यम्' इत्यमरः।

अलङ्कार—परस्पर आदान-प्रदान का भाव होने के कारण यहाँ **'परिवृत्ति'** नामक अलङ्कार है। उसका लक्षण है—'परिवृत्तिर्विनिमयः समन्यूनाधिकैर्भवेत्' – सा०द० १०/८०।

छन्द—पद्य में **'मालिनी'** छन्द है। ल०द्र० १/१०।

टिप्पणी—(१) गीता का यह श्लोक भी परस्पर आदान-प्रदान हेतु द्रष्टव्य है—'देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः। परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥' (२) युग चार हैं—सत्ययुग, त्रेतायुग, द्वापरयुग और कलियुग। वे एक के बाद एक आते रहते हैं। इन चारों के बीतने को चौकड़ी कहते हैं। इस प्रकार उनकी चौकड़ी बराबर घूमती रहती है। (३) महर्षि मारीच के कथन का भाव यह है कि इन्द्र आदि देवता यज्ञ से प्रसन्न होते हैं। यज्ञ से वर्षा होती है—'यज्ञाद् भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवम्'— गीता। राजा दुष्यन्त यज्ञ के द्वारा इन्द्र (देवताओं को) को प्रसन्न करें और इन्द्र उसके बदले में समय की वर्षा से दुष्यन्त की प्रजा को प्रसन्न करें। इस प्रकार देवता (इन्द्रादि) राजा-प्रजा सभी का कल्याण हो। दण्डनीति में कहा गया है—'राजा त्वर्थान् समाहृत्य कुर्यादिन्द्रमहोत्सवम्। प्रीणितो मेघवाहस्तु महतीं वृष्टिमावहेत्। (४) यह श्लोक निर्णय सागर पर आधारित किन्हीं संस्करणों में नहीं है।

राजा—भगवन् , यथाशक्ति श्रेयसे यतिष्ये।

राजा—भगवन् , मैं यथाशक्ति (लोगों के) कल्याण के लिये प्रयत्न करूँगा।

मारीचः—वत्स, किं ते भूयः प्रियमुपकरोमि ?

कश्यप—बेटा, मैं तुम्हारा और क्या प्रिय उपकार करूँ ?

राजा—अतः परमपि प्रियमस्ति ? यदीह भगवान् प्रियं कर्तुमिच्छति तर्हीदमस्तु-

(भरतवाक्यम्)—

व्या० एवं श०—तर्हीदमस्तु – तर्हि+इदम्+अस्तु = तो यह हो जाय।

राजा—क्या इससे भी अधिक और प्रिय कार्य है ? यदि भगवान् (आप) कुछ और प्रिय करना चाहते हैं तो यह हो जाय। (भरतवाक्य)—

प्रवर्ततां प्रकृतिहिताय पार्थिवः सरस्वती श्रुतमहतां महीयताम् ।
ममापि च क्षपयतु नीललोहितः पुनर्भवं परिगतशक्तिरात्मभूः ।। ३५ ।।

अन्वय—पार्थिव; प्रकृतिहिताय प्रवर्तताम् , श्रुतमहतां सरस्वती महीयताम् , परिगतशक्तिः आत्मभूः नीललोहितः मम अपि पुनर्भवं क्षपयतु।

शब्दार्थ—पार्थिवः = राजा। प्रकृतिहिताय = प्रजा के हित (कल्याण) के लिये। प्रवर्तताम् = प्रयत्नशील हो। श्रुतमहताम् = ज्ञान के कारण वरिष्ठ (महान्) लोगों (विभूतियों कवियों) की। सरस्वती = वाणी (कृति)। महीयताम् = गौरवमण्डित हो। परिगतशक्तिः = चारों ओर विद्यमान है शक्ति जिसकी ऐसा (सर्वशक्तिमान्)। आत्मभूः = स्वयं। नीललोहितः = शिव। मम = मेरे। अपि = भी। पुनर्भवम् = पुनर्जन्म को। क्षपयतु = नष्ट करें (समाप्त करें)।

अनुवाद—राजा प्रजा के हित (कल्याण) के लिये प्रयत्नशील हो। ज्ञान के कारण वरिष्ठ (महान्) लोगों (विभूतियों) की वाणी (कृति) गौरव (प्रतिष्ठा) को प्राप्त करे। सर्वशक्तिमान् स्वयम्भू शिव मेरे भी पुनर्जन्म को नष्ट करें (अर्थात् पुनर्जन्म से मुक्त करें)।

संस्कृत व्याख्या—पार्थिवः – राजा, **प्रकृतिहिताय** – प्रजानां कल्याणाय, **प्रवर्तताम्** – प्रवृत्तः स्यात्, **श्रुतमहतां** – श्रुतेन शास्त्रश्रवणेन महतां गरिष्ठानाम् उत्कृष्टशक्तिमतां प्राज्ञानां कवीनां वा, **सरस्वती** – वाणी (कृतिः), **महीयताम्** – गौरवं लभताम्, **परिगतशक्तिः** – परितः सर्वतः गताः व्याप्ताः शक्तयः यस्यासौ तादृशःपरिव्याप्तशक्तिः, **आत्मभूः** – स्वयम्भूः, **नीललोहितः** – शिवः, **मम** – कवेः कालिदासस्य राज्ञो दुष्यन्तस्य, **अपि, पुनर्भवं** – पुनर्जन्म, **क्षपयतु** – नाशयतु।

संस्कृत-सरलार्थः—भरतवाक्ये त्यभिधानेनान्तिमाशीर्वादात्मकेन वाक्येन दुष्यन्तो वदति—(सर्वत्र सर्वदा च) राजगणः प्रजाहितसाधनाय सन्नद्धो भवतु। शास्त्रश्रवणजन्यज्ञानेन गरिष्ठानां कवीनां वाणी (रचना) गौरवम् (प्रतिष्ठाम्) लभताम् । स्वयम्भूः शिवो मम दुष्यन्तस्य (कवेः कालिदासस्य च) पुनर्जन्म नाशयतु मुक्तिं ददात्वित्यर्थः।

व्याकरण—पार्थिव – पृथिव्याः ईश्वर – पृथिवी+अञ् (तस्येश्वरः सूत्र से अञ्) = पार्थिवः (राजा)। प्रकृतिहिताय – प्रकृतेः हिताय (ष०त०) तादर्थ्य कर्म में चतुर्थी। प्रवर्तताम् – प्र+वृत+लो०प्र०पु०ए०व०। श्रुतमहताम् – श्रुतेन महताम् – तृ०त०। पुनर्भवम् – भवतीति भवः (भू+अपी) = जन्म पुनर्भवस्तम्। नीललोहितः – नीलश्चासौ लोहितश्चेति (कर्म०)। परिगतशक्तिः – परिगता (परितः गता) शक्तिः यस्य सः (ब०ब्री०)। आत्मभूः – आत्मनः भवतीति आत्मभूः – आत्मन्+भू+क्विप्। क्षपयतु – क्षप्+लो०प्र०पु०ए०व०।

कोष—'धूर्जटिर्नीललोहितः' इत्यमरः। 'राज्ञि राट्पार्थिवक्ष्माभृन्नृपभूपमहीक्षितः' इत्यमरः।

अलङ्कार—(१) 'प्रवर्तताम्' प्रकृतिहिताय पार्थिवः। **'दीपक'** (आदि क्रिया में दीपक) अलङ्कार है क्योंकि 'प्रवर्तताम्' यह क्रिया द्वितीय चरण के साथ भी अन्वित होती है और वह (क्रिया) वाक्य के आदि में प्रयुक्त है। ल०द्र० ३/१५। (२) **'परगतशक्तिः'** में **'श्लेष'** अलङ्कार

है। इस पद की दो तरह से व्याख्या होती है—(क) परिगता परितो व्याप्ता शक्तिर्यस्य स: (इव) परिगता मिलिता (देहार्धतामवाप्तेति यावत्) शक्ति: – शिवा यस्य स: तथोक्त: । इस प्रकार द्व्यर्थक होने के कारण **'श्लेष'** अलङ्कार है। ल०द्र० २/७।

विशेष—सम्पूर्ण अभिज्ञानशाकुन्तल में प्राय: सर्वत्र अनुप्रास (छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास) की स्थिति है। इस श्लोक में भी – 'तम् ताम्', 'गह', 'गही' आदि में अनुप्रास है। अनुप्रास की सार्वत्रिक स्थिति होने के कारण सभी जगह उसका उल्लेख नहीं किया गया है।

छन्द—इस श्लोक में **'रुचिरा'** छन्द है। उसका लक्षण है—'जभौ सजौ गितिरुचिरा चतुर्ग्रहै:'। इस छन्द के प्रत्येक चरण में ११ वर्ण होते हैं—जगण (।ऽ।), भगण (ऽ।।), सगण (।।ऽ), जगण (।ऽ।) तथा १ गुरु। १३ वर्ण होते हैं। प्रस्तुत छन्द में यह लक्षण चटित होता है—

प्रवर्ततां	प्रकृति	हिताय	पार्थिव:,	
।ऽ।	ऽ।।	।।ऽ	।ऽ।	ऽ
जगण	भगण	सगण	जगण	गुरु

टिप्पणी—(१) **नीललोहित:** – यह पद शिव के लिये प्रयुक्त हुआ है। शिव का आधा भाग (वाम भाग) नील तथा आधा भाग (दक्षिण भाग) लोहित है। इस प्रसङ्ग में एक पौराणिक कथा ध्येय है, वह इस प्रकार है—एक बार ब्रह्मा यज्ञ कर रहे थे। उस समय उनके ललाट के स्वेद में जो तेज था, वह अग्नि में गिर कर नीला, फिर लाल हो गया। उसी से उत्पन्न होने के कारण शिव को 'नीललोहित' कहा जाता है। अमरकोष में शिव का एक नाम 'नीललोहित' है—'धूर्जटिर्नीललोहित:'। (२) **आत्मभू:** (स्वयम्भू:) – किसी (तत्त्व अथवा व्यक्ति के बिना जो अपनी इच्छा से जन्म ग्रहण कर लेता है, उसे आत्मभू (स्वयम्भू) कहते हैं। यहाँ यह पद शङ्कर के लिये आया है। वैसे यह ब्रह्मा, विष्णु और महेश तीनों के लिये प्रयुक्त होता है। (३) **परिगतशक्ति:** – शिव को 'सर्वशक्तिमान्' कहा जाता है क्योंकि उनकी शक्तियाँ चारों ओर व्याप्त हैं। उनको आठ या तीन शक्तियों से युक्त माना जाता है। आठ शक्तियाँ ये हैं—१. ब्राह्मी, २. माहेश्वरी, ३. कौमारी, ४. वैष्णवी, ५. वाराही, ६. माहेन्द्री, ७. चामुण्डा, ८. चण्डिका। तीन शक्तियाँ ये हैं—१. ज्ञान शक्ति, २. इच्छा शक्ति ३. क्रिया शक्ति (प्रयत्न शक्ति)। ये तीन शक्तियाँ राजाओं में भी होती हैं। (४) श्रुतमहताम् – श्रुत अर्थात् ज्ञान के कारण महान् (गौरव युक्त) – श्रुतेन ज्ञानेन महान्तस्तेषाम् । कहीं-कहीं **'श्रुतिमहताम्'** यह पाठ भी मिलता है। उसकी व्याख्या इस प्रकार होगी— श्रुत्या वेदज्ञानेन ये महान्तस्तेषाम् = वेदज्ञान द्वारा गौरवान्वित वैदिक विद्वान्। यहाँ **'प्रशस्ति'** नामक निर्वहण सन्धि का अङ्ग है। (५) **भरतवाक्यम्** – 'भरतस्य वाक्यम् भरतवाक्यम् = भरत का वाक्य। 'भरत' शब्द 'नट' का पर्यायवाची है। अमरकोष के अनुसार नट के छ: नाम हैं—१. शैलाली, २. शैलूष, ३. जायाजीव, ४. कृशाश्वी, ५. भरत, ६. नट – 'शैलालिनस्तु शैलूषा जायाजीवा: कृशाश्विन: । भरता इत्यपि नटा: ।' यहाँ भरत से अभिप्राय नाट्यशास्त्र प्रणेता भरत से नहीं है अपितु उनके शिष्य 'नट' से ही है। 'भरतस्य शिष्य:' इस अर्थ में 'भरत' यह शब्द से 'तस्येदम्' से अण् हो कर भी 'भरत' शब्द व्युत्पन्न होता हे। भरत+अण्। संज्ञावाचक होने से यहाँ वृद्धि नहीं होती है। राघवभट्ट ने इसीलिये 'भरतवाक्यम्' का अर्थ 'नटवाक्यम्' लिया है और कहा है कि नाटक के अभिनय की समाप्ति पर नट के द्वारा जो सामाजिकों को आशीर्वाद दिया जाता है वह भरतवाक्य है—'नाटकाभिनयसमाप्तौ सामाजिकेभ्यो नटेनाशीर्ज्ञापने इत्यर्थ:।' सम्भव है

भरत मुनि के शिष्यों द्वारा उनके प्रति सम्मानभाव प्रकट करने के लिये उनका नाम जोड़ दिया गया हो। वैसे 'भरत' और 'नट' दोनों के पर्यायवाची होने पर इस विकल्प के लिये अवसर नहीं रह जाता। वस्तुतः यह 'शब्द' (पारिभाषिक शब्द के रूप में) नाट्यशास्त्र, दशरूपक तथा साहित्यदर्पण में नहीं वर्णित हुआ है। वस्तुतः नाटक के अभिनय के अन्त में नट (या नटों) के द्वारा सामाजिकों को दिया गया आशीर्वादात्मक वाक्य अथवा शुभाशंसामूलक वाक्य ही भरतवाक्य है। इसका इस दृष्टि से महत्त्व है कि इसमें नट समेत सभी की मङ्गल-कामना की जाती है। वस्तुतः इसके द्वारा सार्वभौम शुभाशंसा हो जाती है।

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

(सभी निकल जाते हैं)।

।। इति सप्तमोऽङ्कः ।।

।। सप्तम अङ्क समाप्त ।।

।। समाप्तमिदमभिज्ञानशाकुन्तलं नाम नाटकम् ।।

।। अभिज्ञानशाकुन्तल नामक यह नाटक समाप्त ।।

परिशिष्ट – १

श्लोकानुक्रमणिका

परिशिष्ट – २

रूपक एवं उसके भेद

इन्द्रियग्राह्यता के आधार पर समस्त काव्यों के दो भेद होते हैं—१. दृश्य, २. श्रव्य। दृश्य-काव्य के अन्तर्गत सभी रूपकों का ग्रहण होता है और श्रव्य-काव्य के अन्तर्गत खण्डकाव्य, महाकाव्य, चम्पूकाव्य आदि परिगृहीत होते हैं। दृश्यकाव्य को 'अभिनेय' (अभिनय के योग्य), 'प्रेक्ष्य' आदि नामों से भी अभिहित किया जाता है। दशरूपककार ने उसे 'नाट्य' 'रूप' तथा 'रूपक' इन तीन नामों से अभिहित किया है—

अवस्थानुकृतिर्नाट्यं रूपं दृश्यतयोच्यते।
रूपकं तत्समारोपात् दशधैव रसाश्रयम् ॥ दश० १/७

नाट्य—'नट्' धातु से 'छन्दोगौक्थिक्' सूत्र से 'ञ्य' प्रत्यय लगाने पर 'नाट्य' शब्द व्युत्पन्न होता है और उसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ होता है—नट या अभिनेता सम्बन्धी कार्य-नटस्येदम् अथवा नटस्य कार्यम्। दशरूपककार धनञ्जय ने इसकों यों परिभाषित किया है—**'अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्'**। इसकी विशद व्याख्या करते हुये धनिक का कहना है कि नाट्य में वर्णित धीरोदात्त, धीरललित, धीरोद्धत तथा धीरशान्त (धीरप्रशान्त) प्रकृति के पात्रों (तथा अन्यपात्रों) की अवस्थाओं का, आङ्गिक, वाचिक, सात्त्विक तथा आहार्य-इन चार प्रकार के अभिनयों से जो अनुकरण किया जाता है, उसे 'नाट्य' कहा जाता है। इसी बात को 'मन्दारमरन्दचम्पू' में निम्नाङ्कित रूप से कहा गया है—

चतुर्विधैरभिनयैः सात्त्विकाङ्गिकपूर्वकैः।
धीरोदात्ताद्यवस्थानुकृतिर्नाट्यं रसाश्रयम्॥

यहाँ अवस्थानुकृति अथवा अवस्थानुकरण से तात्पर्य यह है कि नट अथवा अभिनेता रङ्गमञ्च पर अनुकार्य पात्रों (राम, दुष्यन्त आदि) की विभिन्न अवस्थाओं का चारों प्रकार के अभिनयों द्वारा (अर्थात् अपनी चाल-ढाल, वेश-भूषा, संवाद आदि के द्वारा) इस प्रकार अनुकरण करता है, जिससे समाजिकों को अनुकार्य पात्रों तथा नटों में तादात्म्यापत्ति हो जाय अर्थात् सामाजिक, रङ्गमञ्चस्थ नटों या अभिनेताओं को ही वास्तविक राम, दुष्यन्त आदि समझ लें, नाट्यदर्शन के समय राम, दुष्यन्त आदि तथा अभिनेताओं में भेद-प्रतिपत्ति न रह जाय अपितु अभेद प्रतिपत्ति हो जाय। इसी तथ्य को धनिक इन शब्दों में व्यक्त करते हैं—**'काव्योपनिबद्धधीरोदात्ताद्यवस्थानुकारश्चतुर्विधाभिनयेन तादात्म्यापत्तिर्नाट्यम्'। –धनिकवृत्ति।**

रूप—चूँकि 'नाट्य' रङ्गमञ्च पर दृश्यमान होता है अतः उसको 'रूप' उसी प्रकार कहा जाता है, जिस प्रकार दृश्य (अर्थात् चाक्षुष ज्ञान का विषय) होने के कारण 'नील' आदि वस्तुयें 'रूप' कहलाती हैं। चक्षुरिन्द्रिय का विषय 'रूप' होता है। रङ्गमञ्च पर अभिनीयमान 'नाट्य' भी 'रूप' है—'रूपं दृश्यतयोच्यते'।

रूपक—जिस प्रकार मुख में चन्द्र का आरोप (अभेदारोप) होने से 'मुखचन्द्र' में रूपक अलङ्कार होता है, उसी प्रकार नट (अभिनेता) में राम आदि की अवस्था (रूप) का आरोप होने के कारण 'नाट्य' को 'रूपक' भी कहते हैं। वस्तुतः नट (अभिनेता) में राम, दुष्यन्त आदि (अनुकार्य) पात्रों के रूप का आरोप करना ही 'रूपक' है—'रूपकं तत्समारोपात्'।

ये तीनों, 'नाट्य', 'रूप' तथा 'रूपक' शब्द दृश्यकाव्य के बोधक हैं। इन तीनों शब्दों के अर्थ में भेद नहीं है। परन्तु उनके प्रयोग का निमित्त (कारण) भिन्न है। अर्थात् अभिनेय या दृश्यकाव्य में अनुकार्य पात्रों की विभिन्न अवस्थाओं का अनुकरण (अनुकृति) होता है अतः उसे 'नाट्य' कहा जाता है। इसी प्रकार 'दृश्य' होने के कारण उसे 'रूप' और नट आदि में दुष्यन्त आदि का आरोप होने से उसे 'रूपक' कहा जाता है।

रूपक-भेद—यद्यपि सभी रूपक अनुकरणात्मक एवं रसाश्रय (रसोद्भावक) होते हैं परन्तु उनकी कथावस्तु, नेता (नायक) तथा मुख्य रस की भिन्नता के कारण उनमें भेद हो जाता है—**'वस्तु नेता रसस्तेषां भेदकः'** । दशरूपक में रूपकों के दस भेद इस प्रकार बताये गये हैं—

नाटकं सप्रकरणं भाणः प्रहसनं डिमः ।
व्यायोगसमवकारौ वीथ्यङ्केहामृगा इति ॥ दश० १/८ ।

अर्थात् रूपक के दस भेद हैं—(१) नाटक, (२) प्रकरण, (३) भाण, (४) प्रहसन, (५) डिम, (६) व्यायोग, (७) समवकार, (८) वीथी, (९) अङ्क (उत्सृष्टिकाङ्क), (१०) ईहामृग ।

नाटक—नाट्यदर्पणकार नर्तनार्थक 'नट्' धातु से 'नाटक' शब्द की व्युत्पत्ति मानकर (नट्+णिच्+क) उसके अर्थ का प्रतिपादन करते हुये कहते हैं कि 'नाटक' नाना प्रकार से सौन्दर्य के प्रवेश द्वारा ही सहृदयों के हृदय को नचाता है—**'नाटकमिति नाटयति विचित्रं रञ्जनाप्रवेशेन सभ्यानां हृदयं नर्तयति इति नाटकम्'** । नाट्यदर्पण प्र०वि० वृत्तिभाग पृ० २३ ।

'नाटक' सभी रूपक भेदों में श्रेष्ठ है । इस विषय में दशरूपककार का कहना है कि 'नाटक' अन्य सभी रूपकभेदों की प्रकृति (मूल) है, उसमें पूर्ण रसपरिपाक होता है तथा उसमें सम्पूर्ण लक्षणता होती है, अतः उसका कथन सबसे पहले किया जा रहा है । दश० ३/१ । नाटक की पूर्णलक्षणता का अभिप्राय यही है कि वह सभी सन्धियों, अर्थप्रकृतियों, कार्यावस्थाओं, वृत्तियों, अर्थोपक्षेपकों, रसों, अलङ्कारों आदि से पूर्ण होता है । द्रष्टव्य भावप्रकाशन अष्टम अधिकार पृ० २२१/२२ ।

नाटक के लक्षण—साहित्यदर्पण में नाटक का लक्षण निम्नाङ्कित रूप में दिया गया है—

नाटकं ख्यातवृत्तं स्यात् पञ्चसन्धिसमन्वितम् ।
विलासर्द्ध्यादिगुणवद्युक्तं नानाविभूतिभिः ॥
सुखदुःखसमुद्भूति नानारसनिरन्तरम् ।
पञ्चादिका दशपरास्तत्राङ्काः परिकीर्त्तिताः ॥
प्रख्यातवंशो राजर्षिर्धीरोदात्तः प्रतापवान् ।
दिव्योऽथ दिव्यादिव्यो वा गुणवान्नायको मतः ।
एक एव भवेदङ्गी शृङ्गारो वीर एव वा ।
अङ्गमन्ये रसाः सर्वे कार्यो निर्वहणेऽदभुतः ॥ सा०द० ६/७-१०
दूराध्वजं बधो युद्धं राज्यदेशादिविप्लवः ।
विवाहो भोजनं शापोत्सर्गौ मृत्यू रतं तथा ॥
दन्तच्छेद्यं नखच्छेद्यमन्यद् व्रीडकरं च यत् ।
शयनाधरपानादिनगराद्यवरोधनम् ॥
स्नानानुलेपने चैभिर्वर्जितो नातिविस्तरः । सा०द० ६/१६-१८ ।

इस लक्षण को संक्षिप्त रूप में यों प्रस्तुत किया जा सकता है—

(१) नाटक की कथावस्तु प्रख्यात (प्रसिद्ध) होती है । (२) उसमें मुख, प्रतिमुख आदि पाँच सन्धियाँ होती हैं । (३) उसमें नायक के गुणविशेष विलास एवं ऋद्धि (अभ्युदय) आदि का वर्णन तथा (४) उसमें नाना रसों का अङ्कन होता है । (५) उसमें अङ्कों की संख्या पाँच से लेकर दस तक होती है । (६) उसका नायक प्रख्यात वंशी प्रतापी धीरोदात्त कोटिका राजर्षि होता है । दिव्य अथवा दिव्यादिव्य गुणवान् भी उसका नायक हो सकता है । (७) उसका प्रधान रस शृङ्गार अथवा वीर होता है । अङ्ग रूप से अन्य रसों का भी निबन्धन हो सकता है । 'निर्वहण' सन्धि में 'अद्भुत' रस होता है ।

नाटक में, दूर से पुकारना, वध, युद्ध, राजा-देश आदि का विप्लव, विवाह, भोजन, शाप, मलत्याग, मृत्यु, रतिकर्म, आदि तथा अन्य लज्जाकर बातों का प्रदर्शन वर्जित है ।

इस सन्दर्भ में यह ध्येय है कि **'अभिज्ञानशाकुन्तल'** नाटक में 'नाटक' का पूर्ण लक्षण घटित होता है अतः वह रूपकभेद 'नाटक' के अन्तर्गत आता है। 'शाकुन्तल' के नाटकत्व के लिये भूमिका का पृष्ठ ३१ द्रष्टव्य है।

(२) **प्रकरण**—लक्षण-

अथ प्रकरणे वृत्तमुत्पाद्यं लोकसंश्रयम् ।
अमात्यविप्रवणिजामेकं कुर्याच्च नायकम् ॥
धीरप्रशान्तं सापायं धर्मकामार्थतत्परम् ।
शेषं नाटकवत् सन्धिप्रवेशकरसादिकम् ॥ द०रू०बृ०प्र० ३९-४०।

अर्थात् प्रकरण की कथावस्तु कल्पित (उत्पाद्य) होती है और उसका नायक 'धीरप्रशान्त' कोटि का अमात्य, ब्राह्मण या वैश्य होता है। उसके सन्धि, प्रवेशक, रस आदि नाटक के समान होते हैं।

प्रकरण की नायिका दो प्रकार की होती हैं—कुलीन तथा गणिका। किसी में अकेली कुलीन नारी और किसी में अकेली गणिका होती है और किसी में कुलीन नारी और वेश्या दोनों होती हैं। 'मृच्छकटिक', 'मालतीमाधव' आदि प्रकरण हैं।

(३) **भाण**—लक्षण-

भाणस्तु धूर्तचरितं स्वानुभूतं परेण वा ।
यत्रोपवर्णयेदेको निपुणः पण्डितो विटः ॥
सम्बोधनोक्तिप्रत्युक्ती कुर्यादाकाशभाषितैः ।
सूचयेद्वीरशृङ्गारौ शौर्यसौभाग्यसंस्तवैः ॥
भूयसा भारतीवृत्तिरेकाङ्कं कविकल्पितम् । वही, ४९-५०।

इसमें निपुण एवं कुशल विट एक पात्र होता है, जो स्वानुभूत अथवा परानुभूत धूर्तचरित का वर्णन करता है। इसमें वीर तथा श्रृङ्गार रस सूचित होता है। विट आकाशभाषित का आश्रय लेकर कथ्य का कथन करता है। इसमें कथावस्तु कल्पित तथा एक अङ्क होता है।

(४) **प्रहसन**—लक्षण-

तद्वत्प्रहसनं त्रेधा शुद्धवैकृतसङ्करैः ।
पाखण्डिविप्रप्रभृतिचेटिचेटीविटाकुलम् ॥
चेष्टितं वेशभाषाभिः शुद्धं हास्यवचोऽन्वितम्
कामुकादिवचोवेषैः षण्डकञ्चुकितापसैः
विकृतं सङ्कराद्वीथ्या सङ्कीर्णं धूर्तसङ्कुलम् ।
रसस्तु भूयसा कार्यः षड्विधो हास्य एव तु ॥

भाण के समान प्रहसन होता है, वह तीन प्रकार का होता है—१. शुद्ध, २. वैकृत, ३. सङ्कर। शुद्ध में पाखण्डी विप्र, चेट, चेटी ओर विट आदि होते हैं। 'वैकृत' में नपुंसक कञ्चुकी, तपस्वी आदि पात्र होते हैं। सङ्कीर्ण में वीथी के अङ्कों का मिश्रण धूर्तों का बाहुल्य होता है। प्रहसन में ६ प्रकार का हास्य प्रचुरता से अङ्कित होता है।

(५) **डिम**—लक्षण-

डिमे वस्तु प्रसिद्धं स्याद् वृत्तयः कैशिकीं विना ।
नेतारो देवगन्धर्वयक्षरक्षो महोरगाः ।
भूतप्रेत पिशाचाद्याः षोडशात्यन्तमुद्धताः ।
रसैरहास्यश्रृङ्गारैर्षड्भिर्दीप्तैः समन्वितः ॥

चन्द्रसूर्योपरागैश्च न्याय्ये रौद्ररसेऽङ्गिनि ॥ वही ३/५७-६०।
चतुरङ्कश्चतुस्सन्धिनिर्विमर्शो डिमः स्मृतः ॥

डिम की कथावस्तु प्रसिद्ध होती है। कैशिकी छोड़कर अन्य वही वृत्तियाँ होती हैं। देव, गन्धर्व आदि १६ उद्धत नायक होते हैं। इसमें शृङ्गार और हास्य को छोड़कर अन्य ६ रस होते हैं। रौद्र रस अङ्गी होता है। इसमें माया, इन्द्रजाल आदि का वर्णन होता है और इसमे चार अङ्क एवं चार सन्धियाँ (विमर्श को छोड़कर) होती हैं। 'त्रिपुरदाह' डिम का उदारण है।

(६) **व्यायोग**—लक्षण–

ख्यातेतिवृत्तो व्यायोगः ख्यातोद्धतनराश्रयः ॥
हीनो गर्भविमर्शाभ्यां दीप्ताः स्युर्डिमवद् रसाः।
अस्त्रीनिमित्तसङ्ग्रामो जामदग्न्यजये यथा।
एकाहचरितैरेकाङ्को व्यायोगं बहुभिर्नरैः। ३/६०-६२

व्यायोग की वस्तु प्रसिद्ध तथा प्रख्यात उद्धत नायक होता है। वह गर्भ और विमर्श सन्धि से रहित होता है। उसमें 'डिम' के समान ६ दीप्त रस होते हैं। उसमें ऐसा युद्ध होता है जो स्त्री के निमित्त नहीं होता। उसमें एक दिन का चरित एक अङ्क होता है। पुरुषपात्रों की बहुलता होती है। 'जामदग्न्यजय' व्यायोग है।

(७) **समवकार**—लक्षण–

कार्यं समवकारेऽपि आमुखं नाटकादिवत्।
ख्यातं देवासुरं वस्तु निर्विमर्शस्तु सन्धयः
वृत्तयो मन्द कैशिक्यो नेतारो देवदानवाः ॥
द्वादशोदात्तविख्याताः फलं तेषां पृथक् पृथक्।
बहुवीररसाः सर्वे यद्वदम्भोधिमन्थने ॥
-------------------------------------- वही० ३/६२-६७।

समवकार में देव और असुरों की प्रसिद्ध वस्तु होती है। उसमें विमर्श के अतिरिक्त चार सन्धियाँ एवं देव तथा असुर बारह नायक होते हैं, जो उदात्त प्रकृति के इतिहासप्रसिद्ध होते हैं। इसमें वीररस की प्रचुरता होती है और तीन अङ्क होते है। इसके उदाहरण के रूप में **'समुद्रमन्थन'** को लिया जा सकता है।

(८) **वीथी**—लक्षण–

वीथी तु कैशिकीवृत्तौ सन्ध्यङ्गाङ्कैस्तु भाणवत्।
रसः सूच्यस्तु शृङ्गारः स्पृशेदपि रसान्तरम्।

एवं 'वीथी' विधातव्या द्व्येकपात्रप्रयोजिता ॥ वही ३/६८-७० पू०

'वीथी' में अङ्क आदि भाण के समान होंते हैं। इसका प्रधान सूच्य रस 'शृङ्गार' होता है। इसमें एक या दो पात्र होते हैं। 'वकुलवीथी' 'मालविका' तथा 'इन्द्रलेखा' आदि वीथी के उदाहरण है।

(९) **अङ्क (उत्सृष्टिकाङ्क)**—लक्षण–

उत्सृष्टिकाङ्के प्रख्यातं वृत्तं बुद्ध्या प्रपञ्चयेत्।
रसस्तु करुणः स्थायी नेतारः प्राकृता नराः।
भाणवत्सन्धिवृत्त्यङ्गैर्युक्तिः स्त्रीपरिदेवितैः ॥
वाचा युद्धं विधातव्यं तथा जयपराजयौ। वही ३/७०पू० ७२उ०।

उत्सृष्टिकाङ्क में इतिहास प्रसिद्ध (बुद्धिविस्तृत) कथावस्तु और 'करुण' रस अङ्गी होता है।

साधारण जन 'नायक' होते हैं। इसमें 'भाण' के समान सन्धि आदि होती है। इसमें स्त्रियों का विलाप और वाग्युद्ध वर्णित होता है। 'शर्मिष्ठाययाति' इसका उदाहरण है।

(१०) **ईहामृग**—लक्षण-

मिश्रमीहामृगे वृत्तं चतुरङ्कं त्रिसन्धिगत् ॥
नरदिव्यावनियमान्नायकप्रतिनायकौ ।
ख्यातौ धीरोद्धतावन्त्यो विपर्यासादयुक्तकृत।

संरम्भं परमानीय युद्धं व्याजान्निवारयेत्।
वधप्राप्तस्य कुर्वीत वधं नैव महात्मन:॥ वही ३/७२-७५।

'ईहामृग' में इतिवृत्त मिश्रित, चार अङ्क और तीन सन्धियाँ होती है। बिना किसी नियम के इतिहास प्रसिद्ध धीरोद्धत मनुष्य एवं देवता नायक-प्रतिनायक होते हैं। प्रतिनायक अनुचित कार्य करता है। वह न चाहने वाली स्त्री को अपहरण आदि के द्वारा चाहता है। इसमें शृङ्गार का आंशिक वर्णन होता है। युद्ध को चरम सीमा में पहुँचा कर रोक दिया जाता है। वध की अवस्था में पहुँचे हुये भी महात्मा (वीर) का वध नहीं होता।

परिशिष्ट – ३(क)

वृत्त (कथावस्तु) एवं भेद

नाट्य अथवा रूपक की कथावस्तु दो प्रकार की होती है—**१. आधिकारिक, २. प्रासङ्गिक**। मुख्य कथावस्तु को **'आधिकारिक'** और अङ्गरूप वस्तु को **'प्रासङ्गिक'** कहा जाता है।

आधिकारिक—लक्षण-

अधिकार: फलस्वाम्यमधिकारी च तत्प्रभु:।
तन्निर्वृत्तमभिव्यापि वृत्तं स्यादाधिकारिकम्॥ द०रू० १/१२

फल का स्वाम्य (स्वामी होना) **'अधिकार'** कहा जाता है, उस फल का स्वामी अधिकारी कहलाता है। उसके द्वारा किया हुआ या उससे सम्बद्ध (काव्यादि) में अभिव्याप्त **'इतिवृत्त' आधिकारिक** होता है। जैसे रामायण में राम-सीता का वृत्तान्त अथवा 'अभिज्ञांनशाकुन्तल' में 'दुष्यन्त-शकुन्तला' का वृत्तान्त **आधिकारिक** है।

प्रासङ्गिक—लक्षण-प्रासङ्गिकं परार्थस्य स्वार्थो यस्य प्रसङ्गत:। वही, १/१३ पू०

प्रधान प्रयोजन की सिद्धि के लिये होने वाली जिस (कथा) का प्रसङ्ग से अपने प्रयोजन की भी सिद्धि हो जाती है, उसे **'प्रासङ्गिक'** कहा जाता है। जैसे रामायण में विभीषण तथा सुग्रीव का वृत्तान्त प्रासङ्गिक है।

प्रासङ्गिक कथावस्तु के भी दो भेद होते हैं—**१. पताका, २. प्रकरी**।

'सानुबन्धं **पताकाख्यं प्रकरी** च प्रदेशभाक्।' १/१३

पताका—काव्य या नाटकादि में अनुबन्धसहित दूर तक चलने वाला प्रासङ्गिक वृत्त 'पताका' कहलाता है। जिस प्रकार पताका (ध्वजा) नायक का असाधारण चिह्न होती है और उसका उपकार करती है उसी प्रकार यह इतिवृत्त भी नायक (तथा तत्सम्बन्धी कथा) का उपकार करता है। इसीलिये इसे **'पताका'** कहते हैं। जैसे रामायण में सुग्रीव का वृत्तान्त।

प्रकरी—एक प्रदेश में (अर्थात् सीमित क्षेत्र में) रहने वाला वृत्तान्त 'प्रकरी' कहलाता है। जैसे रामायण में 'शबरी-वृत्तान्त'।

पताकास्थानक—लक्षण-

प्रस्तुतागन्तुभावस्य वस्तुनोऽन्योक्तिसूचकम्।
पताकास्थानकं तुल्यसंविधानविशेषणम्॥ वही, १/१४

जो किसी अन्य वस्तु के कथन द्वारा आगन्तुक प्रस्तुत वस्तु का सूचक होता है, उसे 'पताकास्थानक' कहा जाता है। इसके दो भेद होते हैं—१. **समान इतिवृत** (संविधान), २. **समानविशेषण**।

पताका एवं पताकास्थानक—इस सन्दर्भ में यह सूच्य है कि 'पताका' के समान 'पताकास्थानक' भी प्रधानफल में उपकारक इतिवृत्त होता है। नाट्यदर्पण आदि ग्रन्थों में प्रासङ्गिक इतिवृत्त तीन प्रकार का माना गया है—१. पताका, २. प्रकरी, ३. पताकास्थानक। 'पताका' से 'पताकास्थानक' का अन्तर यह है कि यह (पताकास्थानक) दूर तक चलने वाला इतिवृत्त नहीं होता। यह अन्य के वर्णन द्वारा प्रधान इतिवृत्त सम्बन्धी किसी भावी घटना की सूचना देता है। उसका शब्दों में वर्णन नहीं करता। यह पताका के समान क्रमबद्ध इतिवृत्त नहीं होता अपितु बीच-बीच में कहीं एक या अनेक बार निबद्ध हो जाता है। दशरूपक में पताकास्थानक के उपर्युक्त दो भेद ही बताये गये हैं पर 'नाट्यशास्त्र', नाट्यदर्पण आदि में चार प्रकार का **'पताकास्थानक'** बताया गया है।

इतिवृत्त के अवान्तर भेद—उक्त तीन (आधिकारिक, पताका तथा प्रकरी) इतिवृत्त के पुनः तीन-तीन भेद होते हैं—१. प्रख्यात, २. उत्पाद्य, ३. मिश्र। फिर इनमें भी १. दिव्य, २. मर्त्य (अदिव्य), ३. दिव्यादिव्य – ये तीन भेद होते हैं।

फलप्राप्ति के साधनभूत (अर्थप्रकृतियाँ)

धर्म, अर्थ, काम – यह त्रिवर्ग नाट्य फल हैं। भामह, विश्वनाथ आदि धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष – इन चारों की सिद्धि को काव्य का फल मानते हैं। इन फलों की सिद्धि में जो सहायक होता है उसे **'अर्थप्रकृति'** कहते हैं। 'अर्थप्रकृतयः प्रयोजनसिद्धिहेतवः' (वही, १८ धनिक की वृत्ति)। अर्थप्रकृतियाँ पाँच प्रकार की होती हैं—१. **बीज,** २. **बिन्दु,** ३. **पताका,** ४. **प्रकरी,** ५. **कार्य**।

बीजबिन्दुपताख्यप्रकरीकार्यलक्षणाः।
अर्थप्रकृतयः पञ्च ता एताः परिकीर्तिताः॥ वही, १/१८

बीज—

लक्षण – स्वल्पोदिष्टस्तु तद्धेतुर्बीजं विस्तार्यनेकधा। १/१७ पू०

अर्थात् उस फल का निमित्त **'बीज'** कहलाता है, जिसका (आरम्भ में) सूक्ष्म रूप से संकेत किया जाता है और आगे चलकर अनेक प्रकार से विस्तार होता है।

बिन्दु—

लक्षण – अवान्तरार्थविच्छेदे बिन्दुरच्छेदकारणम्॥ वही, १/१७ उ०

अवान्तर प्रयोजन की समाप्ति से 'कथावस्तु' के (मुख्य) प्रयोजन में विच्छेद प्राप्त हो जाने पर जो उसके सातत्य (अविच्छेद) का कारण होता है, उसे **'बिन्दु'** कहा जाता है।

बीज और बिन्दु में समानता-विषमता

१. दोनों फलप्राप्ति के उपाय (अर्थप्रकृति) हैं और फलप्राप्ति तक दोनों विद्यमान रहते हैं। २. दोनों में अन्तर यह है कि निर्दिष्ट मुख्य फल का हेतु 'बीज' कहा जाता है और मुख्य फल का अनुसन्धान करना बिन्दु कहलाता है।

विशेष—इन पाँचों अर्थप्रकृतियों में बीज, बिन्दु और कार्य आवश्यक हैं। पताका एवं प्रकरी सभी रूपकों में अनिवार्य नहीं हैं। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि यहाँ 'कार्य' फल नहीं है, अपितु

फलप्राप्ति का साधन है।

पाँच कार्यावस्थायें

फल की इच्छा वाले व्यक्ति के द्वारा आरम्भ किये गये कार्य की पाँच अवस्थायें होती हैं—१. आरम्भ, २. यत्न, ३. प्राप्त्याशा, ४. नियताप्ति, ५. फलागम—

अवस्थाः पञ्च कार्यस्य प्रारब्धस्य फलार्थिभिः।
आरम्भयत्नप्राप्त्याशा नियताप्तिफलागमाः॥ वही, १/१९

१. आरम्भ—

लक्षण – औत्सुक्यमात्रमारम्भः फललाभाय भूयसे। वही १/२० पू०

प्रचुर फल की प्राप्ति के लिये उत्सुकता मात्र होना **'आरम्भ'** कहा जाता है।

अर्थात् 'इस कार्य को मैं करूँगा' इस प्रकार का सङ्कल्प या निश्चय 'आरम्भ' कहा जाता है।

२. प्रयत्न—

लक्षण – प्रयत्नस्तु तदप्राप्तौ व्यापारोऽतित्वरान्वितः। १/२० उ०।

फल की प्राप्ति न होने पर, उसकी प्राप्ति हेतु अति वेग के साथ उद्योग करना **'प्रयत्न'** कहा जाता है।

३. प्राप्त्याशा—

लक्षण – उपायापायशङ्काभ्यां प्राप्त्याशा प्राप्तिसम्भवः। १/२१

विघ्न की आशङ्का रहते हुये भी उपाय करने से जो फलप्राप्ति की सम्भावना होती है, उसे **'प्राप्त्याशा'** कहते हैं।

४. नियताप्ति—

लक्षण – अपायाभावतः प्राप्तिर्नियताप्तिः सुनिश्चिता॥ वही, १/२१

विघ्नों के अभाव के कारण फल की निश्चित रूप से प्राप्ति ही **'नियताप्ति'** कहलाती है।

फलागम (फलयोग)—

लक्षण – 'समग्रफलसम्पत्तिः फलयोगो यथोदितः' वही, १/२२ पू०।

पूर्णरूप से फल की प्राप्ति का हो जाना ही **फलागम** है।

पाँच सन्धियाँ

सन्धि का सामान्य अर्थ मेल है, जिसे सन्धान, मिश्रण आदि भी कहा जा सकता है। वस्तुतः यहाँ कथावस्तु को विभक्त कर उसे ठीक रूप से व्यवस्थित करना ही 'सन्धि' शब्द से अभिप्रेत है।

सन्धि का लक्षण—अवान्तरार्थसम्बन्धः सन्धिरेकान्वये सति। वही, १/२३

एक प्रयोजन से अन्वित होने पर किसी एक अवान्तर (अन्य) प्रयोजन के साथ सम्बन्ध होने को **'सन्धि'** कहा जाता है। इसी को धनिक ने वृत्ति में यों स्पष्ट किया है—'एकेन प्रयोजनेनान्वितानां कथांशानामवान्तरैकप्रयोजनसम्बन्धः सन्धिः' अर्थात् किसी एक मुख्य प्रयोजन से सम्बन्ध रखने वाले कथाभागों का एक अवान्तर प्रयोजन के साथ सम्बन्ध होना ही 'सन्धि' है।

सन्धि के भेद—सन्धि पाँच प्रकार की होती है—१. **मुख**, २. **प्रतिमुख**, ३. **गर्भ**, ४. **सावमर्श**, ५. **उपसंहति**—

मुखप्रतिमुखे गर्भः सावमर्शोपसंहतिः। वही, १/२४ पू०।

ये पाँच सन्धियाँ, पाँच अर्थप्रकृतियों तथा पाँच कार्यावस्थाओं के योग से बनती हैं—

अर्थप्रकृतयः पञ्च पञ्चावस्थासमन्विताः ॥
यथासंख्येन जायन्ते मुखाद्याः पञ्चसन्धयः । वही

इस विधान के अनुसार पाँचों सन्धियाँ इस प्रकार बनेंगी—

अर्थप्रकृति कार्यावस्था सन्धि

१. बीज + आरम्भ = **मुख** (सन्धि) २. बिन्दु + प्रयत्न = **प्रतिमुख** (सन्धि) ३. पताका + प्राप्त्याशा = **गर्भ** (सन्धि) ४. प्रकरी + नियताप्ति = **अवमर्श** (सन्धि) ५. कार्य + फलागम = **उपसंहृति** (सन्धि)

१. **'मुख' सन्धि का लक्षण**—मुखं बीजसमुत्पत्तिर्नानार्थरससम्भवा ॥

अङ्ग—अङ्गानि द्वादशैतस्य बीजारम्भसमन्वयात् । वही, १/२४ उ०

जहाँ अनेक प्रकार के प्रयोजन और रस को निष्पन्न करने वाली बीजोत्पत्ति होती है, उसे **'मुखसन्धि'** कहते हैं।

मुख सन्धि के अङ्ग—बीज और आरम्भ के संयोग से इसके निम्नाङ्कित बारह अङ्ग होते हैं—१. उपक्षेप, २. परिकर, ३. परिन्यास, ४. विलोभन, ५. युक्ति, ६. प्राप्ति, ७. समाधान, ८. विधान ९. परिभावना, १०. उद्भेद, ११. भेद, १२. करण। इनका रूपक में अवस्थान आवश्यक है।

२. **प्रतिमुख सन्धि का लक्षण**—लक्ष्यालक्ष्यतयोद्भेदस्तस्य प्रतिमुखं भवेत् ।

अङ्ग—बिन्दुप्रयत्नानुगमादङ्गान्यस्य त्रयोदश ॥ वही, १/३०

जहाँ उक्त बीज का कुछ लक्ष्य रूप में तथा कुछ अलक्ष्य रूप में उद्भेद होता है, उसे **'प्रतिमुख'** सन्धि कहते हैं।

अङ्ग—'बिन्दु' (नामक अर्थप्रकृति) और 'प्रयत्न' (नामक कार्यावस्था) के योग से इसके तेरह अङ्ग होते हैं। वे ये हैं—१. विलास, २. परिसर्प, ३. विधूत, ४. शर्म, ५. नर्म, ६. नर्मद्युति, ७. प्रगमन, ८. निरोध, ९. पर्युपासन १०. वज्र, ११. पुष्प, १२. उपन्यास, १३. वर्णसंहार।

३. **'गर्भ' सन्धि का लक्षण**—गर्भस्तु दृष्टनष्टस्य बीजस्यान्वेषणं मुहुः ।

अङ्ग—द्वादशाङ्गः पताका स्यान्न वा प्राप्तिसम्भवः । वही, १/३६

जहाँ दृष्टिगोचर होकर विलुप्त (खोये हुये) बीज का बार-बार अन्वेषण किया जाता है, उसे **'गर्भ'** सन्धि कहते हैं। इसमें 'पताका' (नामक अर्थप्रकृति) कहीं होती है और कहीं नहीं होती। पर 'प्राप्त्याशा' नामक कार्यावस्था होती है।

अङ्ग—गर्भ सन्धि के १२ अङ्ग होते हैं। १. अभूताहरण, २. मार्ग, ३. रूप, ४. उदाहरण, ५. क्रम, ६. संग्रह, ७. अनुमान, ८. तोटक, ९. अधिबल, १०. उद्वेग, ११. संभ्रम, १२. आक्षेप।

विशेष—गर्भ सन्धि के इन १२ अङ्गों को प्राप्त्याशा के प्रदर्शन के रूप में दिखाना चाहिये। इनमें अभूताहरण, मार्ग, तोटक, अधिबल और आक्षेप – ये प्रमुख हैं।

(४) **अवमर्श सन्धि**—लक्षण –

क्रोधेनावमृशेद्यत्र व्यसनाद्वा विलोभनम् ।
गर्भनिर्भिन्नबीजार्थः सोऽवमर्श इति स्मृतः । वही, १/४३

जहाँ क्रोध से व्यसन से अथवा प्रलोभन से (काल-प्राप्ति के विषय में) विमर्श किया जाता है तथा जिसमें गर्भ सन्धि द्वारा बीजार्थ का सम्बन्ध दिखाया जाता है उसे **'अवमर्श (विमर्श)'** सन्धि कहते हैं।

अवमर्श के अङ्ग—अवमर्श के तेरह अङ्ग ये हैं—१. अपवाद, २. संफेट, ३. विद्रव, ४. द्रव; ५. शक्ति, ६. द्युति, ७. प्रसङ्ग, ८. छलन, ९. व्यवसाय, १०. विरोधन, ११. प्ररोचना, १२.

विचलन, १३. आदान।

(५) **निर्वहण सन्धि**—लक्षण -

बीजवन्तो मुखाद्यर्था विप्रकीर्णा यथायथम् ।

ऐकार्थ्यमुपनीयन्तें यत्र निर्वहणं हि तत्॥ १/४८ उ० ४९ पू०

जहाँ **'बीज'** से सम्बन्ध रखने वाली **'मुख सन्धि'** में अपने स्थान पर बिखरे हुये (प्रारम्भ आदि) अर्थों का एक (मुख्य) प्रयोजन के साथ सम्बन्ध दिखाया जाता है, वह **'निर्वहण'** सन्धि कहलाती है।

अङ्ग—निर्वहण सन्धि के चौदह अङ्ग ये हैं—१. सन्धि, २. विबोध, ३. ग्रथन, ४. निर्णय, ५. परिभाषण, ६. प्रसाद, ७. आनन्द, ८. समय, ९. कृति, १०. भाषा, ११. उपगूहन, १२. पूर्वभाव, १३. उपसंहार, १४. प्रशस्ति।

विशेष—१. इस प्रकार कुल मिलाकर पाँच सन्धियाँ और चौंसठ सन्ध्यङ्ग होते हैं। शाकुन्तल में आयी हुयी सन्धियों और सन्ध्यङ्गों पर यथास्थान मूल में टिप्पणी के अन्तर्गत प्रकाश डाला गया है। २. इन सन्ध्यङ्गों के छः प्रयोजन ये हैं—(१) विवक्षित अर्थ की रचना, (२) गोपनीय को गुप्त रखना, (३) प्रकाशन, (४) राग, (५) प्रयोग का वैचित्र्य, (६) इतिवृत्त का विच्छिन्न न होना।

वस्तु-निबन्धन की दृष्टि से वस्तु-भेद

इस तरह समस्त वस्तु के दो भेद होते हैं—१. सूच्य, २. दृश्य-श्रव्य।

कथावस्तु का नीरस एवं अनुचित भाग, जो रङ्गमञ्च पर प्रदर्शित करने योग्य न हो, उसे **'सूचित'** करना चाहिये और जो भाग चित्ताकर्षक, उदात्त तथा रस-भाव से पूर्ण हो उसे रङ्गमञ्च पर दिखाना चाहिये—

नीरसोऽनुचितस्तत्र संसूच्यो वस्तुविस्तरः।

दृश्यस्तु मधुरोदात्तरसभावनिरन्तरः॥ वही, १/५७

(इतिवृत्त के सूचक) अर्थोपक्षेपकों द्वारा सूच्य वस्तु का प्रतिपादन करना चाहिये। ऐसे अर्थोपक्षेपक पाँच प्रकार के होते हैं—

अर्थोपक्षेपकैः सूच्यं पञ्चभिः प्रतिपादयेत् ।

विष्कम्भचूलिकाङ्कास्यावतारप्रवेशकैः ॥ १/५८

वे पाँच ये हैं—१. विष्कम्भ (विष्कम्भक), २. चूलिका, ३. अङ्कास्य, ४. अङ्कावतार, ५. प्रवेशक।

(१) **विष्कम्भ (विष्कम्भक)**—विष्कम्भक की पूरी जानकारी के लिये द्रष्टव्य तृतीय अङ्क के श्लो० १ के बाद और श्लो० २ के पूर्व 'इति विष्कम्भकः' पर टिप्पणी। यह 'विष्कम्भक' चतुर्थ अङ्क के प्रारम्भ में (श्लोक २ के पूर्व) भी आया है। इन दोनों स्थानों के विष्कम्भकों में यह अन्तर है कि तृतीय अङ्क के विष्कम्भक में कण्व शिष्य मध्यम कोटि का एक पात्र है और संस्कृत बोलता है, अतः वह (विष्कम्भक) शुद्ध है। चतुर्थ अङ्क के 'विष्कम्भक' में अनसूया, प्रियंवदा दो मध्यम कोटि के पात्र हैं और वे प्राकृत भाषा बोलते हैं।

(२) **प्रवेशक**—लक्षण -

तद्वदेवानुदात्तोक्त्या नीचपात्रप्रयोजितः। १/६० उ०

प्रवेशोऽङ्कद्वयस्यान्तः शेषार्थस्योपसूचकः। १/६१ पू०

अर्थात् भूत और भविष्य के कथाङ्कों का सूचक, नीच पात्रों द्वारा अनुदात्त उक्तियों से प्रयुक्त, दो अङ्कों के बीच में स्थित तथा अप्रदर्शनीय अर्थ का सूचक 'प्रवेशक' कहलाता है। यह दो अङ्कों के बीच में ही आता है। प्रथम अङ्क के आदि में इसका प्रयोग नहीं होता। इसके पात्र निम्न कोटि के होते हैं और प्राकृत बोलते हैं। उनके कथोपकथन अशिष्ट होते हैं।

शाकुन्तल के षष्ठ अङ्क के प्रारम्भ में 'प्रवेशक' का प्रयोग हुआ है। उसमें रक्षी, पुरुष, श्याल आदि सभी पात्र निम्न कोटि के हैं और प्राकृत-भाषी हैं। पात्रों की उक्तियाँ भी, विशेषकर रक्षी और श्याल की उक्तियाँ, अशिष्ट कोटिक हैं। अतः वह **'प्रवेशक'** का उदाहरण है।

विशेष विवरण के लिये द्रष्टव्य षष्ठ अङ्क का प्रारम्भिक भाग (श्लोक १ के आगे और श्लोक २ के पहले) अङ्कित 'प्रवेशकः' पर टिप्पणी। उक्त प्रवेशक भूतकालिक तथा भावी घटना की सूचना है।

विष्कम्भक और प्रवेशक में समानता और अन्तर

(१) दोनों भूत और भावी घटना के सूचक होते हैं।

(२) शुद्ध विष्कम्भक में एक या दो मध्यम कोटि के पात्र होते हैं और सङ्कीर्ण (मिश्र) विष्कम्भक में मध्यम तथा निम्न कोटि के पात्र होते हैं। प्रवेशक में समस्त पात्र निम्न कोटि के होते हैं।

(३) विष्कम्भक की भाषा संस्कृत या शौरसेनी प्राकृत होती है। प्रवेशक की भाषा संस्कृत कभी नहीं होती। उसमें केवल निम्न कोटिक प्राकृत का प्रयोग होता है।

(४) 'विष्कम्भक' का प्रयोग नाटक के प्रथम अङ्क के प्रारम्भ में भी हो सकता है और दो अङ्कों के बीच में भी। परन्तु 'प्रवेशक' का प्रयोग दो अङ्कों के बीच ही में होता है, प्रथम अङ्क के प्रारम्भ में कभी नहीं होता।

(३) **चूलिका**—लक्षण –'अन्तरजवनिकासंस्थैश्चूलिकार्थस्य सूचना।' वही १/६१।

जवनिका (पर्दा) के भीतर स्थित पात्रों के द्वारा किसी अर्थ (बात) की सूचना देना 'चूलिका' कहलाता है। जैसे 'उत्तररामचरितम्' के द्वितीय अङ्क के आदि में '(नेपथ्ये) स्वागतं तपोधनायाः' (ततः प्रविशति तपोधनः) यहाँ नेपथ्य पात्र वासन्ती के द्वारा आत्रेयी के आने की सूचना दी गयी है। अतः यहाँ 'चूलिका' नाम अर्थोपक्षेपक है।

(४) **अङ्कास्य**—लक्षण – 'अङ्कन्तपात्रैरङ्कास्यं छिन्नाङ्कस्यार्थसूचनात्। वही, १/६२पू०

अङ्क के अन्त में आने वाले पात्रों के द्वारा पूर्व अङ्क से असम्बद्ध (विछिन्न) अग्रिम अर्थ की सूचना देने के कारण इस अर्थोक्षेपक को 'अङ्कास्य' कहा जाता है। वही, १/६२।

नोट—विशेष—नाट्यशास्त्र में इसे 'अङ्कमुख' कहा गया है। नाट्यदर्पण के अनुसार दोनों (अङ्कास्य और अङ्कमुख) एक ही हैं।

(५) **अङ्कावतार**— लक्षण – 'अङ्कावतारस्त्वङ्कान्ते पातोऽङ्कस्याविभागतः। वही, १/६२ उ०

जहाँ पूर्व अङ्क का अन्त हो जाने पर अग्रिम अङ्क का अविच्छिंन्न रूप से अवतरण हो जाता है, उसे 'अङ्कावतार' कहते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि पहले अङ्क में प्रविष्ट पात्र के द्वारा सूचित किया गया, पहले अङ्क की कथा का विच्छेद किये बिना ही, अङ्क अवतरित हो जाता है तथा 'प्रवेशक' 'विष्कम्भक' आदि का प्रयोग नहीं होता।

नाट्यधर्म की दृष्टि से कथावस्तु के अवान्तर तीन भेद

(१) सर्वश्राव्य (सबके सुनने योग्य) जिसे प्रकाश भी कहते हैं। (२) नियतश्राव्य (नियत जनों के ही सुनने योग्य)। (३) अश्राव्य (किसी के भी न सुनने योग्य) इसे **'स्वगत'** कहते हैं। नाट्यधर्ममपेक्ष्येतत्पुनर्वस्तु त्रिधेष्यते । वही, १/६३ दशरूपक सर्वेषां नियतस्यैव श्राव्यमश्राव्यमेव च। सर्वश्राव्यं प्रकाशं स्यादश्राव्यं स्वगतं मतम्॥ वही, १/६४

नाट्यधर्म **'नियतश्राव्य'** के दो भेद होते हैं—१.जनान्त (जनान्तिक), २. अपवारित।

(१) **जनान्त (जनान्तिक) का लक्षण**—

त्रिपताकाकरेणान्यानपवार्यान्तरा कथाम् ।

अन्योन्यामन्त्रणं यत्स्याज्जनान्ते तज्जनान्तिकम् ॥ वही, १/६५

वार्तालाप के सन्दर्भ में जो त्रिपताकारूप हाथ (की मुद्रा) के द्वारा दूसरों को बचा कर, बहुत से जनों के बीच दो पात्र आपस में बात-चीत करते हैं, उसे **'जनान्तिक'** कहा जाता है। जनान्तिक में जिस पात्र को सुनाना नहीं है, उसके बीच में त्रिपताका रूप में (सारी अंगुलियाँ ऊँची और अनामिका वक्र) हाथ को करके, जब कोई पात्र दूसरे पात्र के साथ मंत्रणा करता है, तो उस संवाद को **'जनान्तिक'** कहते हैं।

विशेष—जब हाथ की तीन अँगुलियाँ ऊपर उठी रहती हैं और केवल अनामिका अँगूठे से दबा दी (नीचे झुका दी) जाती है, उसे 'त्रिपताकाकर' कहते हैं। यह हाथ की एक मुद्रा है। 'नाट्यदर्पण' के अनुसार **'जनान्तिक'** एक ऐसा संवाद है, जहाँ कोई पात्र त्रिपताकाकर से किसी एक पात्र को बचाकर अन्य बहुसंख्यक जनों से बात करता है। बस एक पात्र से गोपनीय होता है और अन्य पात्रों के लिये श्राव्य होता है।

जनान्तिक शब्द की व्युत्पत्ति है—बहूनां (जनानाम्) अन्तिकं श्राव्यतया निबद्धं जनान्तिकम्।

विशेष—**'जनान्तिक'** के विषय में शाकुन्तल के तृतीय अङ्क के श्लोक छः के आगे प्रियंवदा—(जनान्तिकम्) पर टिप्पणी द्रष्टव्य है।

(२) **अपवारित**—लक्षण - रहस्यं कथ्यतेऽन्यस्य परावृत्त्यापवारितम्। द०रू० १/६६

जहाँ कोई पात्र मुँह फेरकर दूसरे व्यक्ति से गुप्त बात कहता है, वह **'अपवारित'** कहलाता है।

नाट्यदर्पण में अपवारित का यह लक्षण है—

'परावृत्यरहस्याख्याऽन्यस्मै तदपवारितम्'।

जनान्तिक एवं अपवारित में भेद—

(क) 'जनान्तिक' में त्रिपताकाकर से अन्य जनों को बचाया जाता है, जबकि 'अपवारित' में मुँह फेरकर अन्यों से बचा जाता है।

(ख) 'जनान्तिक' में जनों के बीच में गोपनीय बात कही जाती है, परन्तु 'अपवारित' में एक ओर मुड़कर रहस्य का कथन किया जाता है।

(ग) 'जनान्तिक' एक जन से गोपनीय होता है और अन्य जनों के लिये श्राव्य होता है। परन्तु 'अपवारित' बहुत जनों से गोपनीय होता है और एक जन के लिये श्राव्य होता है।

(७) **आकाशभाषित**—लक्षणादि के लिये द्रष्टव्य शाकुन्तल के तृतीय अङ्क श्लोक एक के आगे गद्य भाग (परिक्रम्यालोक्य च आकाशे) पर टिप्पणी।

लक्षण— किं ब्रवीष्वेवमित्यादि विना पात्रं ब्रवीति यत्।

श्रुत्वेवानुक्तमप्येकस्तत्स्यादाकाशभाषितम् ॥ द०रू०, १/६७

जहाँ कोई अकेला पात्र दूसरे पात्र के बिना तथा किसी से बिना कहे भी मानों सुनकर ही 'क्या कहते हो?' इस प्रकार कथोपकथन करता है, वह 'आकाशभाषित' है।

(८) **अङ्क**—भरत के नाट्यशास्त्र में 'अङ्क' का यह लक्षण दिया है—

अङ्क इति रूढ शब्दो भावश्च रसैश्च रोहत्यर्थान्।

नानाविधानयुक्तो यस्मात्तस्माद्भवेदङ्कः ॥

यत्रार्थस्य समाप्तिर्यत्र च बीजस्य भवति संहारः।

किंचिदवलग्नबिन्दुः सोऽङ्क इति सदाऽवगन्तव्यः ॥

जो भावों तथा रसों के द्वारा विविध अर्थों को स्फुरित करता है, जहाँ अनेक प्रकार के विधान

होते हैं, जहाँ पर एक अर्थ की परिसमाप्ति होती है और बीज का उपसंहार होता है, किन्तु आंशिक रूप से बिन्दु का सम्बन्ध बना रहता है, उसे अङ्क कहा जाता है।

परिशिष्ट – ३(ख)

वृत्तियाँ (नाट्यवृत्तियाँ)

लक्षण—नायक आदि के व्यवहार को ही 'वृत्ति' कहा जाता है।

'उक्तो नायकस्तद्व्यापारस्तूच्यते' द०रू०द्वि० प्रकाश।

वस्तुतः नायक आदि का मानसिक, वाचिक और कायिक व्यापार नाट्य में **'वृत्ति'** कहलाता है।

वृत्ति के भेद—वृत्ति के चार भेद होते हैं—१. कैशिकी, २. सात्वती, ३. आरभटी, ४. भारती।

(१) **कैशिकी**—लक्षण – गीतनृत्यविलासाद्यैर्मृदुःशृङ्गारचेष्टितैः ॥ वही, २/४७

अर्थात् गीत, नृत्य, विलास आदि शृङ्गारिक चेष्टाओं से कोमल वृत्ति 'कैशिकी' होती है। यह वृत्ति विशेषतः कायिक-व्यापार-रूप होती है।

(२) **सात्त्वती**—लक्षण – विशोका सात्त्वती वृत्तिःसत्त्वशौर्यत्यागदयार्जवैः। २/५३

सात्त्वती वृत्ति शोकरहित होती है। यह सत्त्व, शौर्य, त्याग, दया और सरलता (आदि भावों) से युक्त होती है। यह वृत्ति विशेषतः मानसव्यापाररूप होती है।

(३) **आरभटी**—लक्षण – मायेन्द्रजालसंग्रामक्रोधोद्भ्रान्तादिचेष्टितैः। २/५६

आरभटी वृत्ति में माया, इन्द्रजाल, संग्राम, क्रोध, उद्भ्रान्ति आदि चेष्टायें होती हैं। यह भी विशेषतः कायिक व्यापार रूप होती है।

(४) **भारती**—लक्षण – भारती संस्कृतप्रायो वाग्व्यापारो नटाश्रयः। ३/५

प्रायः संस्कृत में नट द्वारा किया गया वाचिक व्यापार **'भारती'** वृत्ति कहलाता है। यह वृत्ति वाचिक व्यापाररूप होती है। इसमें वाक् चेष्टा की प्रधानता होती है।

इस वृत्ति के चार अङ्ग होते हैं। वे हैं—१. प्ररोचना, २. वीथी, ३. प्रहसन, ४. आमुख।

परिशिष्ट – ३(ग)

नाट्यशास्त्र के अन्य पारिभाषिक शब्द

(१) **नान्दी**—लक्षणादि के लिये द्रष्टव्य शा० प्रथम अङ्क, श्लोक एक के आगे 'नान्दी' से सम्बद्ध टिप्पणी।

(२) **सूत्रधार**—लक्षणादि के लिये द्रष्टव्य वही १/१ श्लो० आगे 'सूत्रधार' पर टिप्पणी।

(३) **नेपथ्य**—लक्षणादि के लिये द्रष्टव्य १/१ श्लो० के आगे 'नेपथ्य' पर टिप्पणी।

(४) **प्रस्तावना (आमुख)**—लक्षणादि के लिये द्रष्टव्य १/५ श्लो० के आगे 'प्रस्तावना' पर टिप्पणी।

(५) **विदूषक**—लक्षणादि के लिये द्रष्टव्य अङ्क २ के प्रारम्भिक गद्यांश के आगे 'विदूषक' पर टिप्पणी।

(६) **प्रतीहारी**—लक्षणादि के लिये द्रष्टव्य शा० ५/५ के आगे और श्लोक ६ के पूर्व 'प्रतीहारी' पर टिप्पणी।

(७) **भरतवाक्य**—विशेष विवरण के लिये द्रष्टव्य शा० ७/३५ श्लो० के आगे टिप्पणी।

(८) **कञ्चुकी**—लक्षणादि के लिये द्रष्टव्य ५/३ के आगे टिप्पणी।

(९) **वैतालिक**—लक्षणादि के लिये द्रष्टव्य ५/७ श्लो० की 'वैतालिक' पर टिप्पणी।

अन्य पारिभाषिक शब्द

(१०) **चक्रवर्ती**—लक्षणादि द्रष्टव्य ७/१६ के पहले 'कथं चक्रवर्तिलक्षणमप्यनेन धार्यते'। गद्यांश पर टिप्पणी। नाटक के प्रथम अङ्क में दोनों वैखानस (तपस्वी) ने राजा को चक्रवर्ती पुत्र पाने का आशीर्वाद दिया है। 'सर्वथा चक्रवर्तिनं पुत्रमाप्नुहि' १/१३ के पहले।

(११) **वानप्रस्थ**—विशेष विवरण के लिये द्रष्टव्य ७/२० के आगे 'वानप्रस्थ' पर टिप्पणी।

(१२) **कुलपति**—दश सहस्र मुनियों (विद्यार्थियों) का भोजनादि के द्वारा पालन-पोषण करते हुये उन्हें अध्यापन करने वाले विप्र को 'कुलपति' कहा जाता है। कुलपति का लक्षण यह है—'मुनीनां दशसाहस्रं योऽन्नपानादिपोषणात्। अध्यायपति विप्रर्षिरसौ कुलपतिःस्मृतः।' पद्मपुराण में कुलपति का यह लक्षण दिया गया है—आचार्यो बहुशिष्याणां मुनीनाम् अग्रणीस्तु यः। व्रतयज्ञादिकर्माढ्यः स वै कुलपतिःस्मृतः॥ अर्थात् जो आचार्य बहुत शिष्यों-मुनियों का अग्रणी तथा व्रत यज्ञादि कर्म में कुशल होता है, उसे 'कुलपति' कहते हैं।

नाटक में महर्षि कण्व कुलपति हैं। राजा दुष्यन्त ने उन्हें कुलपति कहा है—'अपि सन्निहितोऽत्र कुलपतिः'।

(१३) **मदनलेख (प्रेम-लेख)**—मदनलेख का अर्थ होता है कामदेव विषयक लेख अर्थात् 'प्रणयपत्र'। 'शाकुन्तल' के तृतीय अङ्क में शकुन्तला द्वारा अपने प्रेमी दुष्यन्त को लिखा गया 'मदनलेख' यह श्लोक अर्थात् प्रेमपत्र है—

तव न जाने हृदयं मम पुनः कामो दिवाऽपि रात्रावपि।
निर्घृणं तपति बलीयस्त्वयि वृत्तमनोरथाया अङ्गानि। ३/१३

विशेष विवरण के लिये द्रष्टव्य १/१० श्लो० के आगे 'मदनलेख' पर टिप्पणी।

(१४) **गान्धर्व विवाह**—विशेष विवरण के लिये द्रष्टव्य ३/२० की 'गान्धर्व विवाह' पर टिप्पणी।

(१५) **वैतालिक**—विशेष विवरण के लिये द्रष्टव्य ५/७ की 'वैतालिक' पर टिप्पणी।

(१६) **परभृत (कोकिल)**—द्रष्टव्य ५/२२ श्लो० की 'परभृत' पर टिप्पणी।

(१७) **श्याल तथा आवुत्त**—विशेष जानकारी हेतु द्रष्टव्य ६/१ के पहले टिप्पणी।

(१८) **काम के पाँच बाण**—द्रष्टव्य ६/३ के आगे की टिप्पणी।

(१९) **मृगतृष्णिका**—विवरण हेतु द्रष्टव्य ६/१६ श्लो० की टिप्पणी।

(२०) **स्वर्ग के पाँच वृक्ष**—द्रष्टव्य ७/२ के आगे की टिप्पणी।

(२१) **त्रिस्रोतस् (गङ्गा की तीन धारायें)**—द्रष्टव्य ७/६ की टिप्पणी।

(२२) **आकाश के सात भाग (सात वायु)**—वही, ७/६ की टिप्पणी।

(२३) **चातक**—द्रष्टव्य ७/७ के आगे 'चातक' पर टिप्पणी।

(२४) **सप्तद्वीप**—द्रष्टव्य ७/३३ के आगे 'सप्तद्वीप' पर टिप्पणी।

(२५) **भरत**—वही ७/३३ के आगे 'भरत' पर टिप्पणी।

परिशिष्ट – ४

नायक (नेता) और उसके भेद

नायक स्वरूप—संस्कृत की प्रापणार्थक 'णीञ्' (नी) धातु में 'ण्वुल्' प्रत्यय के योग से

'नायक' पद और उसी धातु में 'तृच्' प्रत्यय के योग 'नेता' पद व्युत्पन्न होता है और दोनों का अर्थ होता है—(कथावस्तु को) आगे ले जाने वाला। नाट्यादि में सारे क्रियाकलाप नायक के अनुसार होते हैं। अत: कथावस्तु को उत्तरोत्तर प्रगति की ओर ले जाने में नायक का मुख्य योगदान होता है। वही धर्मादि फलप्राप्ति का भागी होता है। 'नाटकलक्षणरत्नकोष' के नायक प्रकरण में कहा गया है—**'बीजबिन्द्वादिसंवलितस्य नाटकस्य नाट्यमंत्रं नयतीति नायकः। स एव धर्मकामार्थफलभाग् भवति।... सर्वथा येन सर्वं समाप्यते स खलु नायकः।'** नाटक०, नायक द्र०पृ० २७। नायक की यह विशेषता है कि वह सम्पूर्ण-कथाव्यापी होता है और वे सारे नाटकीय कर्मव्यापार उसी के लाभ के लिये होते हैं—'अधिकार: फले स्वाम्यम् अधिकारी च तत्प्रभुः।' सा०द० ६/४३ काव्यानुशासनकार 'नायक' को समस्तगुण युक्त तथा कथाव्यापी मानते हैं—'समग्रगुणः कथाव्यापी नायक:' - काव्या० ७/३५५।

यहाँ यह ध्येय है कि यद्यपि रूपक के नायक (नेता) तत्त्व में नायक, नायिका उनके सहायक तथा अन्य सभी पात्रों का ग्रहण किया जाता है परन्तु यहाँ नायक से अभिप्राय प्रधान कथानायक से है। उसी के गुणों, भेदों, आदि का विवेचन किया गया है।

नायक-गुण—नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों में नायक के गुणों पर विशद प्रकाश डाला गया है। दशरूपक के अनुसार नायक विनीत, मधुर, त्यागी, चतुर, प्रिय बोलने वाला, लोकप्रिय, पवित्र, वाक्पटु, प्रसिद्धवंशोत्पन्न, स्थिर, युवा, बुद्धि-उत्साह-स्मृति-प्रज्ञा-कला तथा मान से युक्त, शूर, दृढ़, तेजस्वी, शास्त्रों का ज्ञाता और धार्मिक होता है। द्रष्टव्य दशरूपक २/१-२।

नायक के सात्त्विक गुण आठ हैं—१. शोभा, २. विलास, ३. माधुर्य, ४. गाम्भीर्य, ५. स्थैर्य, ६. तेजस् , ७. ललित, ८. औदार्य। वही, २/१०।

नायक-भेद—नायक के चार भेद होते हैं। दशरूपककार के अनुसार नायक के चार भेद ये हैं—१. ललित, २. शान्त, ३. उदात्त, ४. उद्धत—'भेदैश्चतुर्धा ललितशान्तोदात्तोद्धतैरयम्' द०रू०द्वि०प्र०। इन चारों नायकों में धीरविशेषण जोड़कर कथन किया जाता है—(१) धीरललित, (२) धीरशान्त या धीरप्रशान्त, (३) धीरोदात्त, (४) धीरोद्धत।

नायक के सात्त्विक गुण आठ हैं—१. शोभा, २. विलास, ३. माधुर्य, ४. गार्म्भीय, ५. स्थैर्य, ६. तेजस्, ७. ललित, ८. औदार्य। - वही २/१०।

(१) **धीरललित**—दशरूपक में धीरललित का यह लक्षण दिया गया है—'निश्चिन्तो धीरललितः कलासक्तः सुखी मृदुः'। द०रू० २/३

अर्थात् सचिवों आदि के द्वारा योग-क्षेम का सम्पादन हो जाने से चिन्तारहित, गीत आदि कलाओं में आसक्त (तल्लीन), सुखी (भोगासक्त), शृङ्गार (भाव) की प्रधानता के कारण कोमल-स्वभाव एवं कोमल-व्यवहार करने वाला होता है।

रत्नावली का नायक 'उदयन' **धीरललित** है।

(२) **धीरशान्त (धीरप्रशान्त)**—विनय आदि सामान्य गुणों से युक्त ब्राह्मण (वणिक्, मन्त्री आदि) नायक को **'धीरशान्त'** कहा जाता है। निश्चिन्तता होने पर इस नायकप्रकार में शान्तता अधिक होती है लालित्य नहीं—

सामान्यगुणयुक्तस्तु धीरशान्तो द्विजादिकः'। द०रू० ३/४ पू०

प्रकरण का नायक 'धीरशान्त' होता है। जैसे 'मालतीमाधव' के नायक माधव तथा 'मृच्छकटिक' के नायक चारुदत्त 'धीरशान्त' नायक हैं।

(३) **धीरोदात्त**—दशरूपककार ने 'दशरूपक' में 'धीरोदात्त' का यह लक्षण दिया है—

महासत्त्वोऽतिगम्भीरः क्षमावानविकत्थनः।
स्थिरो निगूढाहङ्कारो धीरोदात्तो दृढव्रतः॥ वही, ३/४

'धीरोदात्त' नायक की सात विशेषतायें होती हैं—१. वह **'महासत्त्व'** होता है, क्योंकि उसका अन्तःकरण शोक-क्रोध आदि से अभिभूत नहीं होता – (शोकक्रोधाद्यनभिभूतान्तः सत्त्वः), (२) वह अति गम्भीर होता है अर्थात् उसमें गम्भीरता का प्राचुर्य होता है, हल्कापन नहीं होता है, (३) वह **क्षमावान्** (क्षमाशील) होता है, (४) वह अविकत्थन अर्थात् आत्मश्लाघा न करने वाला (अविकत्थनः अनात्मश्लाघनः) होता है, (५) वह स्थिर (चित्त वाला) होता है, (६) वह अपनी नम्रता आदि से अपने अभिमान को छिपाने वाला (निगूढाहङ्कारःविनयावच्छन्नावलेपः) होता है तथा (७) दृढ़व्रत अर्थात् अङ्गीकृत बातों का निर्वाह करने वाला (दृढव्रतः अङ्गीकृतनिर्वाहकः) होता है।

संक्षेप में कह सकते हैं कि शोकक्रोधादि से रहित अन्तःकरण वाला, अति गम्भीर, क्षमाशील, अपनी प्रशंसा न करने वाला, स्थिरचित्त वाला, विनम्रता आदि गुणों से अपने अहङ्कार को छिपाये रखने वाला तथा स्वीकृत बातों का निर्वाह करने वाला नायक **'धीरोदात्त'** कहलाता है।

यहाँ इस बात के लिये कोई अवसर नहीं है कि जब नायक के सामान्य गुणों में **'स्थिरता'** (स्थिरः) का उल्लेख किया जा चुका है, तो फिर यहाँ उस गुण का (स्थिरता गुण का) उल्लेख नहीं करना चाहिये। इसका समाधान यह है कि 'धीरोदात्त' नायक में अन्य नायकों की अपेक्षा 'स्थिरता' गुण का आधिक्य दिखाने के लिये यहाँ उसका पुनः उल्लेख किया गया है। धनिक ने वृत्ति में कहा है—**'यच्च केषांचित् स्थैर्यादीनां सामान्यगुणानामपि** विशेषलक्षणे क्वचित्संकीर्तनं तत्तेषां तत्राधिक्यप्रतिपादनार्थम्'। वही, ३/४ वृत्ति।

रूपकों में सर्वश्रेष्ठ 'नाटक' का नायक 'धीरोदात्त' कोटि का होता है। जैसे अभिज्ञान-शाकुन्तल नामक नाटक का नायक 'दुष्यन्त' धीरोदात्त है। विशेष जानकारी के लिये द्रष्टव्य भूमिका का पृष्ठ ३१ (शाकुन्तल का नाटकत्व) तथा पृष्ठ ६२ (धीरोदात्त नायक दुष्यन्त)। 'नागानन्द' नाटक के नायक 'जीमूतवाहन' भी 'धीरोदात्त' कोटि के हैं।

(४) **धीरोद्धत**—जिस नायक में घमण्ड (दर्प), मात्सर्य (द्वेष-जलन) अधिक होता है, जो माया एवं कपट में तत्पर रहता है, जो अहङ्कारी, चञ्चल, क्रोधी तथा आत्मश्लाघी (अपनी प्रशंसा करने वाला) होता है, वह **'धीरोद्धत'** नायक कहा जाता है—

दर्पमात्सर्यभूयिष्ठोमायाच्छद्मपरापणः।
धीरोद्धतस्त्वहङ्कारी चलश्चण्डो विकत्थनः॥ दश०, ३/५
परशुराम, रावण आदि इसी कोटि के नायक हैं।

विशेष—नायक की शृङ्गार रस सम्बन्धी अवस्थाओं की दृष्टि से भी भेद किये गये हैं (२/६-७)—१. दक्षिण, २. शठ, ३. धृष्ट, ४. अनुकूल। ये नायक दूसरी नायिका के द्वारा आकृष्ट कर लिये जाते हैं और पहिली नायिका के प्रति दक्षिण आदि होते हैं।

(१) **दक्षिण**—यह पूर्व नायिका के प्रति सहृदय होता है—'दक्षिणोऽस्यां सहृदयः'।

(२) **शठ**—पूर्व नायिका का गुप्त रूप से अप्रिय करने वाला **'शठ'** होता है—'गूढविप्रियकृच्छठः'।

(३) **धृष्ट**—जिस नायक के अङ्ग पर अन्य नायिका सम्बन्धी प्रेम चिह्न लांक्षित होते हैं वह **'धृष्ट'** होता है—'व्यक्ताङ्गवैकृतो धृष्टः'।

(४) **अनुकूल**—जिसकी एक ही नायिका होती है उसे **'अनुकूल'** कहते हैं—'अनुकूलस्त्वेकनायिकः'।

नायिका तथा उसके भेद

नायिका—यथासम्भव नायक के सामान्य गुणों से युक्त नायिका होती है—'यथोक्तसम्भवे नायकसामान्यगुणयोगिनी नायिकेति' दशरूपक – २/१४ वृत्ति।

भेद—नायिका के तीन भेद होते हैं—१. स्वकीया, २. परकीया, ३. साधारणस्त्री।

(१) **स्वकीया**—स्वकीया नायिका शील, सरलता आदि गुणों से युक्त होती है, उसके निम्नलिखित तीन भेद होते हैं—१. मुग्धा, २. मध्या, ३. प्रगल्भा।

(२) **परकीया**—परकीया अर्थात् अन्य स्त्री दो प्रकार की होती हैं—१. कन्या, २. विवाहिता। यहाँ यह ध्येय है कि विवाहिता स्त्री को कभी भी प्रधान रस की नायिका नहीं बनाना चाहिये। कन्या के अनुराग को कवि अपनी इच्छा के अनुसार अङ्गीरस अथवा अङ्गरस का आधार बना सकता है।

(३) **साधारणस्त्री**—साधारणस्त्री गणिका होती है। जो कला प्रगल्भता तथा धूर्तता से युक्त होती है—'साधारणस्त्री गणिका कलाप्रागल्भ्यधौर्त्ययुक्' - वही, २/२१।

विशेष—इन नायिकाओं के आठ अवस्थओं का वर्णन भी नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों में कहा गया है।

मुग्धा का लक्षण—मुग्धा नववयःकामा रतौ वामा मृदुः क्रुधि।

अर्थात् जिसकी अवस्था तथा कामभावना नवीन होती है, जो रतिक्रीड़ा में प्रतिकूल अर्थात् झिझकने वाली तथा क्रोध करने में कोमल होती है उसे मुग्धा कहते हैं। अभिज्ञान- शाकुन्तल की नायिका शकुन्तला मुग्धा नायिका है। शकुन्तला के विषय में विशेष ज्ञान के लिए द्रष्टव्य भूमिका का पृष्ठ ६८।

परिशिष्ट – ५

शाकुन्तल में प्रयुक्त छन्द-अलङ्कार

(लक्षण-विवरण)

'शाकुन्तल' में प्रयुक्त छन्दों एवं अलङ्कारों का लक्षण प्रथम बार प्रयुक्त श्लोक से सम्बद्ध 'छन्द' तथा 'अलङ्कार' शीर्षक के अन्तर्गत दे दिये गये हैं। उनके लक्षणों का विवरण निम्नाङ्कित है—

छन्द—(१) **'स्रग्धरा'**—लक्षण द्रष्टव्य अङ्क १ श्लोक १। (२) **'आर्या'**—१/२। (३) **'अद्गाथा'** १/४। (४) **'अनुष्टुप'** १/५। (५) **'वसन्ततिलका'** १/८। (६) **'शिखरिणी'** १/९। (७) **'मालिनी'** १/१०। (८) **'शार्दूलविक्रीडित'** १/१४। (९) **'मन्दाक्रान्ता'** १/१५। (१०) **'वंशस्थ'** १/१८। (११) **'मालिनी'** १/१९। (१२) **'पुष्पिताग्रा'** १/३१। (१३) **'उपजाति'** २/७। (१४) **'द्रुतविलम्बित'** २/११। (१५) **'सुन्दरी'** (वियोगिनी) २/१८। (१६) **'हरिणी'** ३/१०। (१७) **'त्रिष्टुप'** ४/८। (१८) **'अपरवक्त्रा'** ४/१०। (१९) **'इन्द्रवज्रा'** ४/२२। (२०) **'पथ्यावक्त्र'** ६/१४। (२१) **'प्रहर्षिणी'** ६/२७। (२२) **'रथोद्धता'** ७/१८। (२३) **'मालभारिणी'** ७/२०। (२४) **'रुचिरा'** ७/३४।

अलङ्कार—(१) **'पुनरुक्तवदाभास'**—लक्षण द्रष्टव्य अङ्क १ श्लोक १। (२) **'अनुप्रास'** (छेक-वृत्ति) १/१। (३) **'अर्थान्तरन्यास'** १/२। (४) **'स्वभावोक्ति'** १/३। (५) **'काव्यलिङ्ग'** १/४। (६) **'उपमा'** १/५। (७) **'उत्प्रेक्षा'** १/६। (८) **'विरोधाभास'** १/९। (९) **'विषम'** १/१०। (१०) **'परिकर'** १/१३। (११) **'अनुमान'** १/१४। (१२) **'समुच्चय'** १/१५। (१३) **'आक्षेप'** १/१६। (१४) **'अप्रस्तुतप्रशंसा'** १/१७। (१५) **'निदर्शना'** १/१७। (१६) **'विभावना'** १/१८। (१७) **'प्रतिवस्तूपमा'** १/२०। (१८) **'व्यतिरेक'** १/२३। (१९) **'समासोक्ति'** १/२३। (२०) **'दृष्टान्त'** १/२५। (२१) **'दीपक'** १/२९। (२२) **'अतिशयोक्ति'** १/३३। (२३) **'श्लेष'** २/४। (२४) **'सन्देह'** २/९। (२५) **'यथासंख्य'** २/११। (२६) **'हेतु'** २/१२। (२७) **'पर्यायोक्त'** २/१५। (२८) **'परिणाम'** ३/३। (२९) **'विशेषोक्ति'** ३/६। (३०) **'तुल्ययोगिता'** ४/२। (३१) **'रूपक'** ४/१८। (३२) **'मालादीपक'** ४/२०। (३३) **'विशेष'** ५/३। (३४) **'समाधि'** ५/३। (३५) **'मालाप्रतिवस्तूपमा'** ५/४।

(३६) 'यमक' ५/५। (३७) 'मालोपमा' ५/११। (३८) 'अर्थापत्ति' ५/१४। (३९) 'सम' ५/१५। (४०) 'उदात्त' ७/२। (४१) 'भ्रान्तिमान' ७/२। (४२) 'भाविक' ७/३३। (४३) 'परिवृत्ति' ७/३४। (४४) 'क्रिया समुच्चय' ७/३५।

विशेष—उपर्युक्त छन्दों एवं अलङ्कारों का प्रयोग अन्यत्र (अन्य श्लोकों में) भी हुआ होगा, उनका उल्लेख व्याख्या भाग में यथास्थान किया गया है।

परिशिष्ट-६ (क)

अभिज्ञानशाकुन्तल के सुभाषित

अङ्क / श्लोक

१. अकृतार्थेऽपि मनसिजे रतिमुभयप्रार्थना कुरुते। २

१. कामभाव के सफल न होने पर भी दोनों की (प्रेमी एवं प्रेमिका) की परस्पर कामना, प्रीति को उत्पन्न करती है।

२. अचेतनं नाम गुणं न लक्षयेत्। ६/१३

२. अचेतन वस्तु गुणों को नहीं देख सकती।

३. अज्ञातहृदयेस्वेवं वैरीभवति सौहृदम्। ५/२४

३. अज्ञात हृदय वाले लोगों के साथ किया गया प्रेम इसी प्रकार वैर के रूप में बदल जाता है अर्थात् दुःखद बन जाता है।

४. अतिस्नेहः पापशङ्की। ४/१९ के आगे

४. अत्यधिक प्रेम (अनुराग) पाप की शंका करता है, अर्थात् अत्यधिक स्नेह के कारण अनिष्ट की शंका हुआ करती है।

५. अथवा भवितव्यानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र। १/१६

५. भावी (होनहार) घटनाओं के द्वार (मार्ग) सभी स्थानों पर हो जाते हैं। अर्थात् होनहार सर्वत्र होकर ही रहती है।

६. अनतिक्रमणीयानि श्रेयांसि। ७/९ के आगे

६. कल्याण करने वाली वस्तुयें अनुल्लंघनीय होती हैं।

७. अनार्यः परदारव्यवहारः। ७/२० के आगे

७. पर-स्त्री के प्रति (पूछ-ताछ का) व्यवहार अनुचित है।

८. अनियन्त्रणानुयोगस्तपस्विजनो नाम। १/२६ के पहले

८. तपस्वी लोग निःसंकोच प्रश्न वाले होते है। अर्थात् तपस्वी लोगों से कोई भी प्रश्न निःसंकोच पूछा जा सकता है।

९. अनिर्वर्णनीयं परकलत्रम्। ५/१३ के आगे

९. परस्त्री को ध्यानपूर्वक नहीं देखना चाहिये।

१०. अनुशयदुःखायेदं हतहृदयं सम्प्रति विबुद्धम्। ६/७

१०. अभागा हृदय अब पश्चात्ताप के दुःख का अनुभव करने के लिये जाग गया है (होश में आ गया है)।

११. अप्याचरितव्यमभ्युदयकालेषु। ७/२६ श्लोक के आगे

११. अभ्युदय काल में यह कर्त्तव्य ही है।

१२. अरण्ये मया रुदितम्। २/३ के आगे
१२. (ऐसा प्रतीत होता है जैसे) मैंने अरण्य में ही रोदन किया अर्थात् मेरा निवेदन व्यर्थ ही रहा है।
१३. अर्थो हि कन्या परकीय एव। ४/२२
१३. वस्तुतः कन्या पराया धन ही है।
१४. अवश्यम्भाव्यचिन्तनीयः समागमो भवति। ६/११ के पहले
१४. अवश्यम्भावी समागम (मिलन) अचानक होता है।
१५. अवसरोपसर्पणीया राजानः। ६/१ के आगे
१५. राजाओं से अवसर देखकर ही मिलना चाहिये।
१६. अविश्रमोऽयं लोकतन्त्राधिकारः। ५/२ के आगे
१६. यह लोकतंत्र का अधिकार विश्रामरहित होता है अर्थात् प्रजा-रक्षण तत्पर राजा के लिये विश्राम कहाँ ?
१७. अस्त्येतद् अन्यसमाधिभीरुत्वं देवानाम्। १/२४ के आगे
१७. दूसरों की समाधि से भयभीत होना देवताओं का स्वभाव है।
१८. अहो कामी स्वतां पश्यति। २/२
१८. अहो, कामी (सर्वत्र) अपनी ही बात देखता है अर्थात् कामुक व्यक्ति चाही गयी नारी की प्रत्येक क्रिया (चेष्टा) को अपने ही अनुकूल मानता है।
१९. अहो चेष्टाप्रतिरूपिका कामिजनमनोवृत्तिः। १/२८ के पहले
१९. अहो, कामुकों (प्रेमियों) की मनोवृत्ति उनकी चेष्टाओं के अनुकूल ही होती है।
२०. अहो विघ्नवत्यः प्रार्थितार्थसिद्धयः। ३/२२ के पहले
२०. अहो ! अभीष्ट वस्तुओं की प्राप्ति विघ्नों से युक्त होती है।
२१. अहो सर्वास्ववस्थासु रमणीयत्वमाकृतिविशेषाणाम्। ६/६ के पहले
२१. सुन्दर आकृति वाले लोग सभी अवस्थाओं में सुन्दर लगते हैं।
२२. आपन्नाभयसत्रेषु दीक्षिताः खलु पौरवाः। २/१६
२२. पुरुवंशी राजा विपत्तिग्रस्त व्यक्तियों के लिये अभय दान (यज्ञ में दीक्षित होते हैं) अर्थात् पुरुवंशी नरेश अपनों की रक्षा कर उन्हें निर्भय बना देते हैं।
२३. आपन्नस्य विषयनिवासिनो जनस्यार्तिहरेण राज्ञा भवितव्यम्। ३/१५ के आगे
२३. राजा को अपने राज्य के निवासी आपत्तिग्रस्त व्यक्तियों के कष्टों को दूर करने वाला होना चाहिये अर्थात् अपने राज्य के विपन्न व्यक्ति के कष्ट को दूर करना राजा का कर्त्तव्य है।
२४. आशङ्कसे यदग्निं तदिदं स्पर्शक्षमं रत्नम्। १/२७
२४. जिसको तुम अग्नि समझ रहे थे वह स्पर्श के योग्य रत्न है।
२५. इदं तत् प्रत्युत्पन्नमति स्त्रैणमिति यदुच्यते। ५/२१ के आगे
२४. स्त्रियों को प्रत्युत्पन्नमति (हाजिर जवाब) कहा जाता है।
२६. इष्टप्रवासजनितान्यबलाजनस्य दुःखानि नूनमतिमात्रसुदुःसहानि। ४/३
२६. स्त्रियों का अपने प्रियतम के प्रवास से (वियोग से) उत्पन्न दुःख अत्यन्त असह्य होता है।
२७. उत्सर्पिणी खलु महतां प्रार्थना। ७/१२
२७. महान् लोगों की अभिलाषा (सदा) ऊर्ध्वगामिनी होती है।
२८. उत्सवप्रिया खलु मनुष्याः। ६/४ के आगे

२८. मनुष्य (स्वभावतः) उत्सव के प्रेमी होते है।

२९. उपपन्ना हि दारेषु प्रभुता सर्वतोमुखी। ५/२६

२९. पत्नी पर (पति की) सभी प्रकार की प्रभुता मानी जाती है।

३०. एवमात्माभिप्रायसम्भावितेष्टजनचित्तवृत्तिः प्रार्थयिता विडम्ब्यते। २/१ के आगे

३०. इस प्रकार अपने भावों के अनुसार अपने प्रिय व्यक्ति के मनोभावों की कल्पना करने वाला (कामी) उपहास को प्राप्त होता है।

३१. एवमादिभिरात्मकार्यनिर्वर्तिनी नामनृतमयवाङ्गमधुभिराकृष्यन्ते विषयिणः। ५/२२ के पहले

३१. अपने कार्य का सिद्ध करने वाली स्त्रियों के झूठे एवं मधुर वचनों से कामी पुरुष ही आकृष्ट किए जा सकते हैं।

३२. ओदकान्तं स्निग्धो जनोऽनुगन्तव्यः। ४/१५ के आगे।

३२. (ऐसा सुना जाता है कि) जाने वाले प्रिय व्यक्ति का जलाशय तक अनुगमन करना चाहिये।

३३. क इदानीं शरीरनिर्वापयित्रीं शारदीं ज्योत्स्नां पटान्तेन वारयति। ३/११ के आगे

३३. शरीर को शान्ति देने वाली शरत् कालीन चन्द्रिका (चाँदनी) को कौन अपने वस्त्र के अञ्चल से रोकता है अर्थात् सुखप्रद वस्तु को सभी लोग ग्रहण करते हैं।

३४. क इदानीं सहकारमन्तरेणातिमुक्तलतां पल्लवितां सहते। ३/९ के आगे

३४. आम्रवृक्ष को छोड़कर और कौन (वृक्ष) पल्लवित माधवी लता को सहरा दे सकता है।—३/१९ के आगे।

३५. कदापि सत्पुरुषाः शोकवास्तव्या न भवन्ति। ६/९ के पहले।

३५. सज्जन कभी भी शोक के वशीभूत नहीं होते।

३६. कष्टं खल्वनपत्यता। ६/२३ के पहले।

३६. सन्तानहीनता निश्चय ही कष्टदायिनी होती है।

३७. किमत्र चित्रं यदि विशाखे शशाङ्कलेखामनुवर्तेत। ३/९ के आगे

३७. उसमें क्या आश्चर्य है यदि विशाखा नामक तारिकायें (नक्षत्र) चन्द्रकला का अनुकरण करती हैं।

३८. किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्। १/२०

३८. मनोहर आकृति (शरीर) के लिये कौन सी वस्तु आभूषण नहीं बन जाती? अर्थात् शरीर के लिये सभी वस्तु अलङ्कार बन जाती है।

३९. किमीश्वराणां परोक्षम्। ७/२६ के पहले

३९. ऐश्वर्यशाली व्यक्तियों के लिए कौन सी वस्तु परोक्ष (अज्ञात) होती है? अर्थात् कोई नहीं।

४०. को नामोष्णोदकेन नवमालिकां सिञ्चति। ४/२ के पहले

४०. भला कौन व्यक्ति नवमालिका (चमेली) को उष्ण जल से सींचता है अर्थात् कोई नहीं।

४१. कोऽन्यो हुतवहाद्दग्धुं प्रभवति। ४/१ के आगे

४१. अग्नि के अतिरिक्त और कौन (पदार्थ) जलाने में समर्थ हो सकता है।

४२. गण्डस्योपरि पिण्डकः संवृत्तः। २/१ के पहले

४२. अब यह कपोल के ऊपर फोड़ा हो गया अर्थात् एक दुःख के ऊपर इतना दुःख आ गया।

४३. गुर्वेऽपि विरहदुःखमाशाबन्धः साहयति। ४/१६

४३. आशा का बन्धन कठोर से कठोर वियोग के दुःख को सह्य बना देते है।

४४. ग्लपयति यथा शशाङ्को न तथा हि कुमुद्वतीं दिवसः। ३/१४

४४. दिन जिस प्रकार चन्द्रमा को प्रभाविहीन बनाता है उस प्रकार कुमुदिनी को नहीं।
४५. छाया न मूर्च्छति मलोपहतप्रसादे शुद्धे तु दर्पणतले सुलभावकाशा। ७/३२
४५. धूल-धूसरित दर्पण में छाया (प्रतिबिम्ब) नहीं दिखायी देती, परन्तु (उस दर्पण के स्वच्छ हो जाने पर उसमें प्रतिबिम्ब आसानी से दिखायी देता है।
४६. तपःषड्भागमक्षय्यं ददत्यारण्यका हि नः। २/१३
४६. (राजाओं को कर के रूप में जो धन प्राप्त होता है वह विनष्ट हो जाता है) परन्तु तपस्वियों द्वारा उन्हें दिया जाने वाला तपस्या का षष्ठांश (छठां भाग) कभी नष्ट नहीं होता।
४७. तमस्तपति घर्मांशो कथमाविर्भविष्यति। ५/१४
४७. देदीप्यमान सूर्य के आगे अन्धकार कैसे प्रकट हो सकता है।
४८. तेजोद्वयस्य युगपद्व्यसनोदयाभ्यां लोको नियम्यत इवात्मदशान्तरेषु। ४/२
४८. प्रातः काल में तेजद्वय (चन्द्रमा और सूर्य) के एक साथ (क्रमशः) अस्त एवं उदित होने से सम्पूर्ण संसार अपनी परिवर्तनीय अवस्थाओं के विषय में मानो नियमित (शिक्षित) किया जा रहा है अर्थात् यह शिक्षा मिल रही है कि संसार के सभी प्राणियों का उत्थान एवं पतन सम्भावित है।
४९. त्रिशङ्कुरिवान्तरा तिष्ठ। २/१७ के पहले
४९. त्रिशंकु की भाँति बीच में लटकिये।
५०. दूरीकृताः खुल गुणैरुद्यानलता वनलताभिः। १/१७
५०. जंगल की लाताओं ने अपने (सौन्दर्यादि) गुणों के द्वारा उपवन की लताओं को निश्चित रूप से तिरस्कृत कर दिया।
५१. न खलु धीमतां कश्चिदविषयो नाम। ४/१७ के आगे
५१. निस्सन्देह, बुद्धिमानों के लिये कोई भी वस्तु अज्ञात नहीं होती अर्थात् उन्हें सभी वस्तुयें ज्ञात होती है।
५२. ननु प्रवातेऽपि निष्कम्पा गिरयः। ६/८ के आगे
५२. आँधी में भी निश्चय ही पर्वत अडिग रहते हैं।
५३. न प्रभातरलं ज्योतिरुदेति वसुधातलात्। १/२५
५३. प्रभा से देदीप्यमान ज्योति भूतल से उत्पन्न नहीं हो सकती।
५४. प्रायः स्वमहिमानं क्षोभात् प्रतिपद्यते हि जनः। ६/३१
५४. व्यक्ति, प्रायः किसी उत्तेजना के कारण ही अपनी महिमा को प्राप्त होता है अर्थात् किसी के द्वारा उत्तेजित किये जाने पर ही व्यक्ति के प्रभाव का प्रकाशन होता है।
५५. पूर्वावधीरित्तं श्रेयो दुःखं हि परिवर्तते। ७/१३
५५. पहले जिसका तिरस्कार कर दिया गया है ऐसी कल्याणकर वस्तु दुःख रूप में ही परिणत होती है, अर्थात् वह कठिनता से ही पुनः प्राप्त होती है।
५६. प्रबलतमसामेवं प्रायः शुभेषु हि वृत्तयः। ७/२४
५६. शुभ (मङ्गलमय) वस्तुओं के विषय में प्रबल तमोगुणी लोगों की प्रवृत्तियाँ ऐसी ही हो जाती हैं।
५७. बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चेतः। १/२
५७. विशेषरूप से शिक्षित लोगों का भी चित्त अपने ऊपर (अपने ज्ञान के विषय में) विश्वास नहीं कर पाता।
५८. बहुबल्लभा राजानः श्रूयन्ते। ३/१६ के आगे
५८. ऐसा सुना जाता है कि राजाओं की अनेक पत्नियाँ होती है।

५९. भवन्ति नम्रास्तरवः फलागमैर्नवाम्बुभिर्दूरविलम्बिनो घनाः ।
अनुद्धताः सत्पुरुषाः समृद्धिभिः स्वभाव एवैष परोपकारिणाम् । ५/१२

५९. फल के लग जाने पर वृक्ष झुक जाते हैं, नवीन जल भर जाने पर बादल नीचे आ जाते हैं, इसी प्रकार सज्जन समृद्धियों को पाकर विनम्र हो जाते हैं । यह परोपकारी जनों का स्वभाव ही है ।

६०. भवितव्यता खलु बलवती । ६/८ के आगे

६०.भवितव्यता (होनहार) बलवान् होती है ।

६१. भवितव्यानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र । १/१६

६१. भावी घटनाओं के द्वार सभी स्थानों पर हो जानते हैं अर्थात् होनहार होकर रहती है ।

६२. भाग्यायत्तमतः परं न खलु तद्वाच्यं वधूबन्धुभिः । ४/१७

६२. इससे अधिक भाग्य के अधीन है । उसके आगे निश्चय ही कन्या के सम्बन्धियों (भाई-बन्धुओं) को नहीं कहना चाहिये ।

६३. भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि । ५/२

६३. पूर्वजन्मों के प्रणय सम्बन्ध संस्कार रूप से चित्त में विद्यमान रहते हैं ।

६४. मनोरथा नाम तटप्रपाताः । ६/१०

६४. मनोरथ (नदी के) तट के पतन के समान होते हैं अर्थात् जिस प्रकार नदी के तीर गिर जाने पर पुनः नहीं जुड़ते उसी प्रका मनोरथ एक बार भङ्ग हो जाने पर पूर्ण नहीं होते हैं ।

६५. मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति । १/२०

६५. चन्द्रमा का काला कलङ्क (धब्बा) भी उसकी शोभा को बढ़ाता है ।

६६. मूर्च्छन्त्यमी विकाराः प्रायेणैश्वर्यमत्तेषु । ५/१८ के आगे

६६. ऐश्वर्य से मदोन्मत्त लोगों के हृदय में ही (किये गये कार्यों के प्रति द्वेषादि) विकार (विकृत भावना) प्रायः बढ़ते रहते हैं ।

६७. यथा कस्यापि पिण्डखर्जूरुद्वेजितस्य तिन्तिण्यामभिलाषो भवेत् । २/८ के आगे

६७. जिस प्रकार पिण्ड खजूर (उत्तमकोटिक खजूर) से ऊबे हुये किसी व्यक्ति की इमली (तित्तिणी) में इच्छा होती है अर्थात् जैसे कोई व्यक्ति उत्तमकोटिक खजूर खाने से ऊबकर निकृष्ट इमली खांने की इच्छा करे) ।

६८. रन्ध्रोपनिपातिनोऽनर्थाः । ६/८ के पहले

६८. अनर्थ (विपत्तियाँ) छिद्र (दोष) पाकर आ घेरते हैं । अर्थात् 'छिद्रेष्वनर्था बहुली भवन्ति' के अनुसार विपत्ति के आने पर अन्य विपत्तियाँ स्वतः आ जाती है ।

६९. राजरक्षितव्यानि तपोवनानि नाम । १/२३ के आगे

६९. तपोवन राजा के द्वारा रक्षणीय होते हैं अर्थात् राजाओं को तपवनों की रक्षा करनी चाहिये ।

७०. राज्ञां तु चरितार्थता दुःखोत्तरैव । ५/५ के आगे

७०. राजाओं की सफलता कष्टप्रद ही होती है अर्थात् एक कार्यमें सफल होने पर राजा को दूसरे कार्य का बोझ उठाना ही पड़ता है ।

७१. लभेत वा प्रार्थयिता न वा श्रियं श्रिया दुरापः कथमीप्सितो भवेत् । ३/११

७१. (लक्ष्मी को) चाहने वाला व्यक्ति उसे प्राप्त भी कर सकता है और नहीं भी प्राप्त कर सकता है, परन्तु लक्ष्मी जिस व्यक्ति को चाहे वह भला दुष्प्राप्य कैसे हो सकता है ? अर्थात् अभीष्ट व्यक्ति लक्ष्मी के लिये सर्वथा सुलभ ही है ।

७२. वयं तत्त्वान्वेशान्मधुकर हतास्त्वं खलु कृती। १/२३

७२. हम (दुष्यन्त) तो तथ्य का पता लगाने में ही मारे गये, पर मधुकर तुम निश्चय ही (अपने लक्ष्य की प्राप्ति में) सफल रहे।

७३. वशिनां हि परपरिग्रहसंश्लेषपराङ्मुखी वृत्तिः। ५/२८

७३. जितेन्द्रिय व्यक्तियों की मनोवृत्ति परस्त्री सम्पर्क से विमुख रहती है।

७४. विकारं खलु परमार्थतोऽज्ञात्वाऽनारम्भः प्रतीकारस्य। ३/६ के आगे

७४. विकार (रोग) को सम्यक् जाने बिना उसके प्रतिकार (चिकित्सा) का आरम्भ नहीं करना चाहिये।

७५. विनीतवेषेण प्रवेष्टव्यानि तपोवनानि नाम। १/१५ के आगे

७५. विनीत (साधु) वेष धारण कर ही तपोवनों में प्रवेश करना चाहिये।

७६. विवक्षितं ह्यनुक्तमनुतापं जनयति। ३/१५ के आगे

७६. विवक्षित बात को यदि न कहा जाय तो वह पश्चात्ताप पैदा करती है।

७७. सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः। १/२२

७७. सन्दिग्ध वस्तुओं से सम्बन्धित (कर्त्तव्याकर्त्तव्य को निर्धारण में) सज्जनों के अन्तःकरणाकी प्रवृत्तियाँ प्रमाण होती हैं अर्थात् किसी कार्य में सन्देह होने पर सज्जनों को अपने आत्मा के निर्देशानुसार कार्य करना चाहिये।

७८. सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यम्।

७८. सिवार से आच्छन्न होन पर भी कमल रमणीय (मनोहर) ही होता है।

७९. सर्वं कान्तमात्मीयं पश्यति। २/७ के आगे

७९. सभी लोग अपने को सुन्दर समझते हैं।

८०. सर्वः प्रार्थितमर्थमधिगम्य सुखी सम्पद्यते जन्तुः। ५/५ के आगे

८०. सभी प्राणी अपनी अभीष्ट वस्तु को पाकर सुखी होते हैं।

८१. सर्वः सगन्धेषु विश्वसिति। ५/२१ के आगे

८१. सभी लोग अपने साथियों (सहवासियों) पर विश्वास करते हैं।

८२. सहजः किल यद्विनिन्दितं न खलु तत्कर्म विवर्जनीयम्। ६/१

८२. निन्दित होने पर भी सहज (वंशपरम्पराप्राप्त) कर्म का परित्याग नहीं करना चाहिये।

८३. सागरमुज्झित्वा कुत्र वा महानद्यवतरति ३/९ के आगे

८३. महानदी सागर को छोड़कर अन्यत्र कहाँ गिरती (मिलती) हैं।

८४. सिध्यन्ति कर्मसु महत्स्वपि यन्नियोज्याः सम्भावनागुणमवेहि तमीश्वराणाम्। ७/४

८४. महान् कार्यों में भी नियोजित (सेवक) जो सफल होते है; उसे स्वामियों के गौरव का गुण ही समझना चाहिये।

८५. स्त्रीणामशिक्षितपटुत्वममानुषीषु सन्दृश्यते किमुत वा प्रतिबोधवत्य। ५/२२

८५. मानवेतर जाति की स्त्रियों में भी जब शिक्षा के बिना चातुर्य दिखायी देता है तो ज्ञानसम्पन्न (मानवीय) नारियों का क्या कहना ? अर्थात् मानवीय नारियों में शिक्षा के बिना चातुर्य होंना स्वाभाविक है।

८६. स्निग्धजनसंविभक्तं हि दुःखं सह्यवेदनं भवति। ३/७ के आगे

८६. (अपने) स्नेही जनों में बंटकर दुःख की पीड़ा सहनीय हो जाती है अर्थात् निकटवर्ती जनों के सान्त्वनादिमूलक वचनों से दुःख की पीड़ा हलकी हो जाती है।

८७. स्त्रजमपि शिरस्कन्धक्षिप्तां धुनोत्यहिशङ्कया। ७/२४

८७. अन्धा व्यक्ति सिर पर डाली गयी पुष्प माला को भी (सर्प के भ्रम में) फेंक देता है।
८८. स्वाधीनकुशलाः सिद्धिमन्तः। ५/१४ के आगे
८८. सिद्धिमान् (सिद्धिवाले) लोगों की कुशलता उनके अधीन होती है।
८९. हंसो हि क्षीरमादत्ते तन्मिश्रा वर्जयत्यपः। ६/२८
८९. (जल मिश्रित दूध में से) हंस दूध को ले लेता है और उसमें मिश्रित जल को छोड़ देता है।

परिशिष्ट ६ (ख)

प्रमुख सूक्तियों (सुभाषितों) की व्याख्या

(१) 'अथवा भवितव्यानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र'

यह सूक्ति महाकवि कालिदास विरचित 'अभिज्ञानशाकुन्तल' नामक नाटक के प्रथम अङ्क से उद्धृत है। राजा दुष्यन्त जब आश्रम के समीप पहुँचते हैं तब वे सूत (सारथि) से 'विनीतवेषेण प्रवेष्टव्यानि तपोवनानि' ('विनीत वेष में ही तपोवन में प्रवेश करना चाहिये') यह कहकर उसे अपना धनुष, आभूषण आदि दे देते हैं। तदनन्तर आश्रम में प्रवेश करते ही उनकी दाहिनी भुजा फड़कने लगती है। तभी उनके मुख से यह निकल पड़ता है—

शान्तमिदमाश्रमपदं स्फुरति च बाहुः कुतः फलमिहास्य।
अथवा भवितव्यानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र॥ १/१६

'यह आश्रम स्थान शान्त है और मेरी (दाहिनी) भुजा फड़क रही है। इस फड़कने का स्त्री लाभ आदि फल यहाँ कैसे प्राप्त हो सकता है ? यह कहकर वे अपनी कही हुई बात का निषेध करते हुये कहते हैं—

'अथवा भवितव्यानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र' १/१६।

अर्थ—भावी घटनाओं के द्वार (मार्ग) सभी स्थानों पर हो जाते हैं अर्थात् होनहार सर्वत्र होकर ही रहती है।

व्याख्या—इसका अभिप्राय यह है कि भवितव्य अर्थात् अवश्यम्भावी अर्थों के द्वार (साधन) सर्वत्र प्राप्त हो जाते हैं। होनहार प्रबल होती है अतः होने वाली घटना हो कर ही रहती है। चाहे उसके लिये अनुकूल स्थान या परिस्थिति न भी हो। दाहिनी भुजा के फड़कने का फल सुन्दर स्त्री की प्राप्ति है। यदि होनहार प्रबल है तो इस तपोवन में भी सुन्दर स्त्री की प्राप्ति हो सकती है। इसी सूक्ति से मिलती-जुलती सूक्ति षष्ठ अङ्क के श्लोक ८ के आगे भी है—'भवितव्यता खलु बलवती'।

(२) 'अतिस्नेहः पापशङ्की'

यह अति सारगर्भित सूक्ति शाकुन्तल के चतुर्थ अङ्क से उद्धृत है। चतुर्थ अङ्क में जब शकुन्तला अपने पिता कण्व को प्रणाम करने के बाद अपनी दोनों सखियों से गले मिलती है तभी उसकी दोनों सखियाँ (अनसूया तथा प्रियंवदा) उससे कहती हैं कि 'सखि ! यदि वह राजा तुम्हें पहचानने में शिथिल हो तो, यह अँगूठी दिखा देना'। सखियों की उक्त बात को सुनकर शकुन्तला सहसा कह उठती है कि 'तुम दोनों के इस प्रकार के सन्देह से तो मैं काँप (घबरा) गयी हूँ—**'अनेन सन्देहेन वामाकम्पितास्मि'**। तब दोनों सखियाँ कहती हैं—(मा भैषीः)। **'अतिस्नेहः पापशङ्की।'** ४/१९ के आगे।

अर्थ—अत्यधिक प्रेम (अनुराग) पाप की शङ्का करता है अर्थात् अत्यधिक प्रेम (अनुराग) के कारण अनिष्ट की शङ्का हुआ करती है।

व्याख्या—इस सूक्ति का तात्पर्य यह है कि जिसके प्रति जिसका अत्यधिक प्रेम होता है, वह अपने प्रिय के भावी अनिष्ट या अमङ्गल के विषय में सदा आशङ्कित रहता है। इस प्रकार की आशङ्का अत्यधिक प्रेम के कारण होती है। यद्यपि प्रेमी व्यक्ति अपने प्रिय का हितैषी होता है और सदा उसकी

मङ्गल-कामना करता रहता है, परन्तु प्रिय के भावी अनिष्ट अथवा अमङ्गल के विषय में उसे सदा शङ्का सताती रहती है। शकुन्तला की दोनों सखियाँ (अनसूया और प्रियंवदा) शकुन्तला के प्रति अत्यधिक प्रेम रखती हैं, उसी प्रेम के कारण ही वे प्रियतम दुष्यन्त द्वारा पहचाने जाने रूप अमङ्गल से शङ्कित है और इसीलिये वे शकुन्तला से अँगूठी दिखाने की बात कह रही हैं, जिससे दुष्यन्त उसे (शकुन्तला को) पहचान सकें।

यह सूक्ति मनोविज्ञानगत भावों से नितान्त परिपूर्ण है। उदाहरण के लिये माता-पिता को लिया जा सकता है जो अपनी सन्तान के प्रति अतिशय अनुराग के कारण ही, सदा (सन्तान विषयक) नानाविध अमङ्गलों की आशङ्का से त्रस्त रहती हैं। सन्तानों के बाहर जाने पर अथवा निर्धारित समय पर घर न आने पर वे आशङ्कित हो जाते हैं। इस प्रकार की आशङ्का के मूल में अत्यधिक स्नेह ही होता है। इस उक्ति के द्वारा दोनों सखियाँ शकुन्तला के हृदयगत भय का निवारण करने का प्रयास करती हैं। द्रष्टव्य अङ्क ४/१९ के आगे। गद्यांश तथा भूमिका परिशिष्ट -१ सं० ४।

विशेष—कहीं 'स्नेहः पापशङ्की' के स्थान पर 'स्नेहः पापमाशङ्कते' यह पाठ है।

(३) 'अहो कामी स्वतां पश्यति'

यह सूक्ति शाकुन्तल के द्वितीय अङ्क से उद्धृत है। राजा दुष्यन्त अपने अन्तरङ्ग मित्र विदूषक से शकुन्तला के प्रति अपने हृदयानुराग के विषय में कुछ बताने के पूर्व अपने मन में सोचते हैं। वे शकुन्तला द्वारा अपने को सप्रेम देखे जाने तथा उसके मन्द गमन आदि क्रिया कलापों को अपने अनुकूल जोड़कर, पहले मुस्कराते हुये स्वतः कहते हैं कि 'मेरे जैसे सभी प्रेमी (कामी) अपने प्रिय व्यक्ति के मनोभावों को अपने भावों के अनुसार कल्पित कर उपहास को प्राप्त होते हैं—'स्मितं कृत्वा एवमात्माभिप्रायसम्भावितेष्टजनचित्तवृत्तिः प्रार्थयिता विडम्ब्यते'। फिर आगे कहते हैं—

'सर्वं तत् किल परायणमहो कामी स्वतां पश्यति' ।२/२

सूक्ति (अहो कामी स्वतां पश्यति) का अर्थ—अहो ! कामी (सर्वत्र) अपनी ही बात देखता है अर्थात् कामुक व्यक्ति चाही गयी नारी की प्रत्येक क्रिया (चेष्टा) को अपने अनुकूल मानता है।

व्याख्या—राजा दुष्यन्त इस कथन के द्वारा यद्यपि अपनी ही बात का प्रकाशन कर रहे हैं, पर उनके इस कथन में एक सार्वभौम तथ्य का उद्घाटन हो रहा है। वे शकुन्तला द्वारा अपने को प्रेमपूर्वक देखेजाने (स्निग्धं वीक्षितम् ...) उसके हाव-भाव पूर्वक गमन (यातं यच्च...) एवं प्रियंवदा द्वारा जाने के लिये मना करने पर उसे क्रोधपूर्वक देखने आदि को अपने से ही सम्बद्ध मानते हैं। अर्थात् अपनी ही तरह शकुन्तला को भी अपने प्रति आकृष्ट मान कर इस सार्वभौम तथ्य का उद्घाटन कर रहे हैं कि कामी व्यक्ति अभीष्ट (चाही गयी) रमणी की प्रत्येक क्रिया (चेष्टा) में अपनी अनुकूलता देखता है। उसके द्वारा अभीष्ट (चाही गयी) रमणी भले ही उसे न चाहती हो परन्तु वह उसकी वाचिक, आङ्गिक एवं सात्त्विक चेष्टाओं में अपने प्रति उसके अनुराग का दर्शन करता है। अभिलषित रमणी की प्रतिकूल अथवा तटस्थ चेष्टाओं में भी अपने लिये अनुकूलता का दर्शन करना कामियों का स्वभाव होता है। द्रष्टव्य भूमिका पृ० ९५ सूक्ति संख्या १८।

(४) 'अकृतार्थेऽपि मनसिजे रतिमुभय प्रार्थनाकुरुते'

यह सूक्ति शाकुन्तल के द्वितीय अङ्क से उद्धृत है। इसमें कामातुर प्रेमी-युगल की मनोदशा का वर्णन है। राजा दुष्यन्त शकुन्तला के सौन्दर्य को देखकर उस पर प्रेमासक्त हो जाते हैं। यद्यपि अभी शकुन्तला से उनकी साक्षात् भेंट नहीं हुई है और उसके अनुराग आदि के विषय में भी सम्यक् ज्ञान नहीं है। साथ ही वे यह भी जानते हैं कि शकुन्तला सुलभ नहीं है पर वे उसकी भावमूलक चेष्टाओं को देखकर उसके प्रेम के विषय में आश्वस्त होकर सोचते हुये कह रहे हैं—**'अकृतार्थेऽपि मनसिजे रतिमुभयप्रार्थना कुरुते'** ।

अर्थ—काम-भाव के सफल न होने पर भी दोनों प्रेमी-प्रेमिका की परस्पर कामना प्रीति को उत्पन्न करती है।

व्याख्या—इस सूक्ति का तात्पर्य यह है कि यदि प्रेमी युगल एक दूसरे के अनुरागी हैं और अनेक विघ्न बाधाओं के कारण उनके काम की सफलता नहीं हो पाती है अर्थात् वे एक दूसरे से सम्बद्ध नहीं हो पाते हैं। पर इससे उनकी कामना व्यर्थ नहीं होती, क्योंकि काम के कृतार्थ न होने पर भी दोनों की चाह पारस्परिक अनुराग को उत्पन्न कर देती है। अर्थात् दोनों एक दूसरे को प्राप्त करने की अपनी-अपनी कामना के कारण प्रेम-पाश में बँध जाते हैं। दुष्यन्त की ऐसी मान्यता व्यावहारिक तथा यथार्थ भी है। संसार में ऐसे अनेक पुरुष-नारी अपनी-अपनी कामना के बल पर ही पारस्परिक अनुराग को प्राप्त करने में सफल हुये हैं। इसीलिये दुष्यन्त इस बात से आश्वस्त है कि उनकी तथा शकुन्तला दोनों की चाह किसी न किसी दिन उन दोनों को प्रेम-सूत्र में बाँध देगी।

(५) **'मनोरथा नाम तटप्रपाता:'**

यह सूक्ति शाकुन्तल के षष्ठ अङ्क से उद्धृत है। अङ्क के प्रारम्भ में अंगूठी के मिल जाने के कारण शाप से विमुक्त होने पर राजा दुष्यन्त को शकुन्तला का स्मरण हो जाता है। उनकी आँखों के सामने उनके द्वारा किया गया शकुन्तला का तिरस्कार प्रतिबिम्बित होने लगता है। वे सर्वथा विरहकातर हो जाते हैं। जब विदूषक राजा से शकुन्तला के पुनर्मिलन की बात करता है **'यद्येवमस्ति खलु समागमः कालेन तत्रभवत्या'** तब राजा उससे पूछते हैं कि **'समागम कैसे होगा'** (कथमिव)। इस पर विदूषक कहता है कि 'माता-पिता चिरकाल तक पतिवियोग से दुःखी अपनी पुत्री को नहीं देख सकते)। इसे सुनकर राजा की विह्वलता बढ़ जाती है और वे कहते हैं—

'मनोरथा नाम तटप्रपाता:' – ६/१०।

अर्थ—मनोरथ (नदी के) तट के पतन के समान होते हैं अर्थात् जिस प्रकार नदी के तट (तीर) गिर जाने पर पुनः नहीं जुड़ते, उसी प्रकार मनोरथ एक बार भङ्ग हो जाने पर पूर्ण नहीं होते हैं।

व्याख्या—राजा दुष्यन्त इतने खिन्न हैं कि उनके मन में शकुन्तला के भूतकालिक मिलन के विषय में चार प्रकार की कल्पनायें (विकल्प) उठती हैं—१. शकुन्तला का मिलन क्या स्वप्न था ? २. अथवा कोई माया (जादू) थी ? ३. क्या वह मेरी बुद्धि का भ्रम था ? ४. अथवा क्या उतने ही फल वाला मेरा स्वल्प पुण्य था ? इन चारों का उल्लेख करने के बाद वे (दुष्यन्त) अपना यह दृढ़ मत व्यक्त करते हैं कि 'शकुन्तला-मिलन-जन्य-सुख' फिर कभी न लौटने के लिये चला गया (असन्निवृत्यै तदतीतम्)। उनके मतानुसार उनके ये सब मनोरथ कि, 'शकुन्तला का पुनर्मिलन होगा', 'मेनका अपनी पुत्री को पुनः मिला देगी आदि', नदी के तटों (किनारों) के पतन के सामन है अर्थात् जिस प्रकार वर्षा ऋतु में प्रवाह (जल-वेग) के कारण नदी के तट (किनारे) एक के बाद दूसरे निरन्तर गिरते एवं नष्ट होते रहते हैं, उसी प्रकार मेरे मनोरथ (आशायें, इच्छायें) भी हैं जो एक के बाद एक उत्पन्न होते (उठते) और गिरते रहते हैं। उन में कोई स्थायित्व नहीं है। विदूषक से राजा के इस प्रकार कथन का सारांश यह है कि शकुन्तला-मिलन से सम्बन्धित सभी आशायें, सम्भावनायें तथा कामनायें (मनोरथ) व्यर्थ हैं, क्योंकि अब उसके साथ पुनर्मिलन असम्भव है।

(६) **'न प्रभातरलं ज्योतिरुदेति वसुधा तलात्'**

यह सूक्ति कालिदासकृत अभिज्ञानशाकुनतल के प्रथम अङ्क से उद्धृत है। प्रथम अङ्क में जब राजा दुष्यन्त को शकुन्तला की सखी अनसूया के 'गौतमीतीरे... मेनका नामाप्सराः प्रेषिता...' तथा 'ततो वसन्तावतारसमये तस्या उन्मादयितृ रूपं प्रेक्ष्य...' इन कथनों से शकुन्तला की उत्पत्ति का सङ्केत मिल जाता है तब वे इस निष्कर्ष पर पहुँच जाते हैं कि यह शकुन्तला वस्तुतः मेनका नामक अप्सरा की पुत्री है' (सर्वथाप्सरासम्भवैषा)। तब वे सहसा कहते हैं—

मानुषीषु कथं वा स्यादस्य रूपस्य सम्भवः।
न प्रभातरलं ज्योतिरुदेति वसुधातलात्॥ १/२५

अर्थ—प्रभा से देदीप्यमान ज्योति भूतल से उत्पन्न नहीं हो सकती।

व्याख्या—दुष्यन्त के कहने का भाव यह है कि शकुन्तला का रूप-लावण्य अलौकिक है। उसके शरीर की कान्ति-सौन्दर्य मर्त्यलोक की नारियों में सम्भव नहीं हो सकता। उनको जब (दुष्यन्त को) प्रामाणिक रूप से यह ज्ञात हो जाता है कि शकुन्तला की उत्पत्ति देवाङ्गना 'मेनका' से हुई है अर्थात् उसकी जननी मेनका हैं, तब वे कहते हैं कि 'मानव-जगत् की स्त्रियों के गर्भ से ऐसे दिव्य रूप वाली कन्या की उत्पत्ति नहीं हो सकती।'

अपने उक्त कथन की पुष्टि में वे आगे कहते हैं कि कान्ति से समुज्ज्वल तेज (प्रकाश या विद्युत्) की उत्पत्ति भूतल से नहीं हो सकती। वस्तुतः दुष्यन्त की उक्त सूक्ति का सारतत्त्व यह है कि जिस प्रकार प्रभा-पुञ्ज से भासमान विद्युत् की उत्पत्ति पृथ्वीतल से नहीं हो सकती, उसी प्रकार अलौकिक रूप-विभा से विभासित शकुन्तला की उत्पत्ति भी मर्त्यलोक की स्त्री की गोद से नहीं हो सकती।

(७) 'किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्'

यह सूक्ति महाकविकालिदासरचित शाकुन्तल के प्रथम अङ्क से उद्धृत है। दुष्यन्त वल्कलवस्त्र से आच्छादित शकुन्तला को देखकर कहते हैं कि 'यद्यपि वल्कल वस्त्र शकुन्तला के शरीर-सौन्दर्य के अनुरूप नहीं है, तथापि वह (वल्कल) उसके शरीर का आभूषण नहीं बन रहा है ? ऐसी बात भी नहीं है' (अथवा काममनुरूपमस्या वपुषो वल्कलं न पुनरलङ्कारश्रियं न पुष्यति न)। अपनी इस मान्यता के विषय में वे कहते हैं—

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मींतनोति।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्॥ १/२०

सूक्ति (किमिव... नाकृतीनाम्) का अर्थ—मनोहर आकृति (शरीर) के लिये कौन सी वस्तु भी आभूषण नहीं बन जाती ? अर्थात् सुन्दर शरीर के लिये सभी वस्तुयें आभूषण बन जाती हैं।

व्याख्या—दुष्यन्त अपनी इस लोकविश्रुत सूक्ति को यथार्थ बनाने के लिये तीन तथ्यों का पहले उल्लेख करते हैं। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि वे वल्कल वस्त्र धारिणी शकुन्तला के साथ सेवार से आच्छादित कमल एवं मलिन लक्ष्म (चिह्न) से युक्त चन्द्र को भी चर्चित करते हैं। उनके कहने का अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार सेवार से कमल की तथा चिह्न (लक्ष्म) से चन्द्र की शोभा बढ़ती ही है उसी प्रकार वल्कल से शकुन्तला की सुन्दरता भी बढ़ती है। इस सूक्ति का तात्पर्य यह है कि सुन्दर शरीर के लिये प्रत्येक वस्तु अलङ्कार बन जाती है चाहे वह उसके (सुन्दर शरीर के) लिये अनुरूप हो या न हो। सुन्दर शरीर पर धारण किया गया वल्कल हो या मृगचर्म अथवा साधारण वस्त्र – सभी उस सुन्दर शरीर के शोभावर्धक बन जाते हैं। तुच्छ से तुच्छ प्रसाधन भी रमणीय आकृति पर बुरा नहीं लगता, अपितु उसका अलङ्कार ही बन जाता है।

(८) 'सर्वः कान्तमात्मीयं पश्यति'

यह सूक्ति शाकुन्तल के द्वितीय अङ्क से उद्धृत है। जब राजा एकान्त में अपने मित्र विदूषक से यह कहता है कि 'माधव्य ! तुमने अपने नेत्रों का फल नहीं पाया, क्योंकि तुमने दर्शनीय वस्तु (अर्थात् शकुन्तला) को नहीं देखा—(माधव्य ! अनवाप्तचक्षुःफलोऽसि। येन त्वया दर्शनीयं न दृष्टम्)। तब विदूषक झट से कहता है कि (नेत्रों का फल क्यों नहीं पाया ?) (रमणीय) आप तो मेरे सामने ही हैं (ननु भवानग्रतो मे वर्तते)। इसे सुनते ही राजा दुष्यन्त तुरन्त कहते हैं—

'सर्वः कान्तमात्मीयं पश्यति' (२/७ के आगे)।

अर्थात् सभी लोग आत्मीय जनों को सुन्दर समझते हैं अर्थात् सभी लोगों को अपने लोग अच्छे लगते हैं।

व्याख्या—संसार का यह मनोवैज्ञानिक यथार्थ है कि जिस वस्तु अथवा प्राणी के प्रति हमारी ममता होती है अर्थात् जो वस्तु या प्राणी हमसे सम्बद्ध होता है, वह चाहे सुन्दर हो या असुन्दर, हमको अच्छा लगता है। जो व्यक्ति आत्मीय होता है, वह यदि असुन्दर है तो भी वह अपने लोगों को सुन्दर ही लगता है। जैसे माता-पिता के कुरूप भी बेटा-बेटी उन्हें सुन्दर ही लगते हैं, भले ही वे (बेटा-बेटी) वास्तविक रूप से असुन्दर हों। राजा के कहने का भाव यह है कि उसने तो 'शकुन्तला' को लक्षित कर कहा है कि उसने (विदूषक ने) अपने नेत्रों का फल नहीं पाया। वे (राजा) तो विदूषक के आत्मीय है अतः उसे तो वे अच्छे ही लगेंगे।

विशेष—कहीं 'सर्वः खलु कान्त आत्मानं पश्यति' यह पाठान्तर है, इसका अर्थ यह है कि **'सभी लोग अपने को सुन्दर समझते हैं।'**

(९) (क) **'गण्डस्योपरि पिण्डकः संवृत्तः'**

यह सूक्ति कालिदासकृत अभिज्ञान शाकुन्तल से उद्धृत है। यह वस्तुतः एक मुहावरे के रूप में प्रयुक्त है। भोजनभट्ट, निद्रालु एवं आलसी विदूषक द्वितीय अङ्क के प्रारम्भ में खिन्न होकर अपनी दुर्दशा का वर्णन करते हुये कहता है—कि मैं तो शिकारी राजा दुष्यन्त का मित्र बनकर बड़े कष्ट में पड़ गया हूँ। शिकार की खोज में दोहपर में भी मुझे धूप में इधर-उधर भागना पड़ता है। खराब भोजन भी समय से नहीं मिल पाता। रात में नींद भी पूरी नहीं होती और उषःकाल में ही आज जगा दिया गया हूँ। इतने पर भी अभी मेरी पीड़ा समाप्त नहीं हो पायी (**इयतेदानीमपि पीडा न निष्क्रामति**) यह कहकर आगे वह कहता है—

'गण्डस्योपरि पिण्डकः संवृत्तः' (२/१ के पहले)।

अर्थात् फोड़े के ऊपर (यह एक) फोड़ा (और) भी हो गया।

व्याख्या—विदूषक के इस मुहावरेदार कथन का अभिप्राय यह है कि उसके कष्ट की परम्परा बहुत लम्बी है। अभी उसका अन्त भी नहीं हो पाया कि यह दूसरा कष्ट उसके सामने आ गया। विदूषक स्वयं ही अपने कथन का स्पष्टीकरण करते हुये कहता है कि 'कल मेरी अनुपस्थिति में शिकार खेलने के प्रसङ्ग में महाराज को सुन्दरी शकुन्तला दृष्टिगोचर हो गयी। फलस्वरूप वे नगर-गमन का नाम भी नहीं ले रहे हैं। आज भी रातभर उसी शकुन्तला के विषय में सोचते रहे।'

विदूषक की पीड़ा को यों व्यक्त किया जा सकता है कि वह पहले से ही विपत्तियों से घिरा था। चाहने पर भी अभी उनसे मुक्त भी नहीं हो पाया कि राजा की शकुन्तला-विषयक आसक्ति के रूप में एक नयी विपत्ति आगयी। उसके आदरणीय मित्र राजा की व्यस्तता के कारण वह पहले से ही कष्ट भोग रहा था और अब उसके इस नये प्रेम-प्रपंच से एक नया कष्ट सामने आया। इससे वह छुटकारा नहीं पा सकता।

विशेष—इसी प्रकार की सूक्ति शाकुन्तल के षष्ठ अङ्क में (श्लोक ८ के पहले) भी आयी है। अँगूठी की प्राप्ति से शापविमुक्त होने पर शकुन्तला की विरहाग्नि में जलता हुआ राजा अब वसन्त में कामदेव के द्वारा आहत होता हुआ विदूषक से कहता है—

(ख) **'वयस्य, रन्ध्रोपनिपातिनोऽनर्थाः'** (६/८ के पहले)

अनर्थ (विपत्तियाँ) छिद्र (दोष) पाकर घेरते हैं अर्थात् विपत्ति जब आती है तो अन्य विपत्तियाँ भी स्वतः आ जाती हैं। इसका भाव यह है कि राजा (दुष्यन्त) पहले से ही शकुन्तला के वियोग में दुःखी थे और अब वसन्त के अवसर पर कामदेव भी उनपर आक्रमण कर रहा है।

इसी सूक्ति का भाव इस सूक्ति में भी व्यक्त हुआ है—

'छिद्रेष्वनर्था बहुलीभवन्ति'

इसी प्रकार मृच्छकटिक में भी इसी भाव से गर्भित यह सूक्ति है—'एकस्य दुःखस्य न यावदन्तम् ...' ।

(१०) 'अर्थो हि कन्या परकीय एव'

यह सूक्ति कालिदास के 'अभिज्ञानशाकुन्तल' नाटक के चतुर्थ अङ्क से उद्धृत है । महर्षि कण्व अपने दो शिष्यों (शार्ङ्गरव तथा शारद्वत) तथा गौतमी के साथ शकुन्तला को पतिगृह भेज कर निश्चिन्तता का अनुभव करते हुये कहते हैं—

अर्थो हि कन्या परकीय एव तामद्य सम्प्रेष्य परिग्रहीतुः ।
जातो ममायं विशदः प्रकामं प्रत्यर्पितन्यास इवान्तरात्मा ॥ ४/२२

सूक्ति का अर्थ—कन्या वस्तुतः दूसरे का ही धन है अर्थात् वह परायी थाती है । इस सूक्ति का भाव यह है कि यद्यपि कन्या का पिता उसका जनक अवश्य होता है, परन्तु उसका उत्तदायित्व केवल इतना ही होता है कि वह उसके लालन-पालन, शिक्षा-दीक्षा की ऐसी व्यवस्था करे जिससे वह गार्हस्थ्य-सञ्चालन के योग्य बन सके । युवती होने के बाद तो पिता का यह और गहन उत्तरदायित्व हो जाता है कि वह अपनी कन्या को किसी योग्य वर को प्रदान करे, क्योंकि कन्या वस्तुतः उसी की (भावी वर की) सम्पत्ति है । उन सभी बिन्दुओं को दृष्टि में रखकर ही कन्या के पिता होने को कष्टकर बताया गया है—'कन्यापितृत्वं खलु नाम कष्टम्' । आज जब कण्व ने परधनरूपी अपनी पुत्री को उसके पति-गृह भेज दिया । तो वे एक प्रकार से उस व्यक्ति के समान निश्चिन्त हो गये हैं जो धरोहर को वास्तविक मालिक को लौटा कर निश्चिन्त हो जाता है । कण्व की दृष्टि में कन्या का पिता दूसरे की धरोहर का बस संरक्षक (रखवाला) मात्र है । वास्तविकता यह है कि पराया धन होने के कारण कन्या का पिता तब तक निश्चिन्त नहीं हो पाता, जब तक वह उसे योग्य वर को प्रदान नहीं कर देता ।

(११) 'स्निग्धजनसंविभक्तं हि दुःखं सह्यवेदनं भवति'

यह सूक्ति महाकवि कालिदासकृत 'अभिज्ञानशाकुन्तल' नामक नाटक के तृतीय अङ्क से उद्धृत है । दुष्यन्त के प्रति अत्यधिक प्रेमासक्त शकुन्तला की दशा दिनानुदिन बिगड़ती जा रही थी । उसकी दोनों सखियाँ उसकी दयनीय दशा देखकर चिन्तित हो जाती हैं । उन दोनों के द्वारा कष्ट का कारण पूछे जाने पर यद्यपि शकुन्तला लज्जा एवं सङ्कोच के कारण कुछ बताने में हिचकती है, परन्तु दोनों की इच्छा, विशेषकर प्रियंवदा की इस उक्ति—**'किमात्मन आतङ्कमुपेक्षसे । अनुदिवसं खलु परिहीयसेऽङ्गैः केवलं लावण्यमयीछाया त्वां न मुञ्चति'** को ध्यान में रखकर वह अपने कष्ट का कारण बताने के लिये तैयार हो जाती है और कहती है कि **'सखि, कस्य वान्यस्य कथयिष्यामि । किन्त्वायासयित्री वां भविष्यामि'** अर्थात् सखी, भला और किससे बताऊँगी ? किन्तु बताकर तुम लोगों के लिये कष्टदायक ही बनूँगी । इस पर दोनों सखियाँ कहती हैं—

'(एष खलु निर्बन्धः) । स्निग्धजनसंविभक्तं हि दुःखं सह्यवेदनं भवति' । (३/७ के आगे)

(अर्थात् इसीलिये तो आग्रह है) क्योंकि (अपने) स्नेही जनों में बँटकर दुःख की पीड़ा सहनीय हो जाती है अर्थात् निकटवर्ती जनों के सान्त्वनादिमूलक वचनों से दुःख की पीड़ा हल्की हो जाती है ।

व्याख्या—अनसूया एवं प्रियंवदा की इस सूक्ति में एक मनोवैज्ञानिक यथार्थ छिपा है । संसार में जब कोई व्यक्ति दुःखावस्था में पड़ता है तो अपने दुःख को अपने निकटवर्ती जनों से न कहने पर, अत्यन्त दुःख का भागी बन जाता है । उसकी पीड़ा और बढ़ जाती है । पर इसके विपरीत जब वह अपने दुःख को अपने स्नेही जनों से बता देता है तो उसका दुःख कम हो जाता है और वह असह्य न होकर सह्य हो जाता है । दोनों सखियों के कथन का यही अभिप्राय है कि उनकी प्रिय सखी शकुन्तला जब उनसे अपने दुःख की सही स्थिति को बता देगी, तो उसका दुःख निश्चित ही कम हो जायेगा । दुःख और उसका कारण ज्ञात हो जाने पर दुःखी व्यक्ति के स्नेही जन उसका यथाशक्ति निराकरण करते हैं और उसे नानाविध आश्वासन देते हैं,

जिनसे दुःखी व्यक्ति का दुःख सहजतः कम हो जाता है और वह असह्य न होकर सह्य हो जाता है।

(१२) **'अनार्यः परदारव्यवहारः' तथा 'अनिर्वर्णनीयं परकलत्रम्'** (५/१३ के आगे)

(क) **'अनार्यः परदारव्यवहारः'**

यह सूक्ति अभिज्ञानशाकुन्तल के सप्तम अङ्क से उद्धृत है। सप्तम अङ्क में सर्वदमन के विषय में राजा को जिज्ञासा होने पर जब तापसी यह कहती है कि 'अप्सरा से सम्बन्ध होने के कारण इस (बालक की) जननी ने देवों के पिता कश्यप के तपोवन में इसे जन्म दिया है ('अप्सरः सम्बन्धेनास्य जनन्यत्र देवगुरोस्तपोवने प्रसूता')। तब राजा उससे पूछ बैठते हैं कि 'अथ सा तत्र भवती किमाख्यस्य राजर्षेः पत्नी ?' 'इस पर तापसी आवेश में आकर कहती है कि 'पत्नी का परित्याग करने वाले उस व्यक्ति का नाम कौन लेगा ?' तब राजा कहते हैं कि मैं स्वयं इस बालक की माता का नाम पूछता हूँ (यदि तावदस्य शिशोर्मातरं नामतः पृच्छामि) इतना कहने के बाद राजा पुनः कहते हैं—'अथवा अनार्यः खलु परदारव्यवहारः' (७/२० के आगे) अर्थात् 'परस्त्री के विषय में पूछ-ताछ का व्यवहार अनुचित (अनार्य) है'।

व्याख्या—इस सूक्ति का तात्पर्य यह है कि आर्य सभ्यता में परस्त्री का सम्पर्क ही वर्जित नहीं है, अपितु उसका नाम आदि पूछना भी वर्जित है। अर्थात् परस्त्री के विषय में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से किसी भी प्रकार की चर्चादि व्यवहार अशिष्ट (अनार्य) व्यवहार के अन्तर्गत आता है। अतः सज्जन (शिष्ट लोग) परस्त्री विषयक कोई भी पूछ-ताछ नहीं करते। राजा दुष्यन्त इस प्रकार के व्यवहार से अपने को रोक लेते हैं, जो उनके समुज्ज्वल एवं आदर्श चरित्र का द्योतक है।

इसी सूक्ति से मिलती-जुलती दूसरी भी सूक्ति है—

(ख) **'अनिर्वर्णनीयं परकलत्रम्'**

यह सूक्ति शाकुन्तल के पञ्चम अङ्क से उद्धृत है। तापसों के साथ जब शकुन्तला दुष्यन्त की सभा में पहुँचती है, तब प्रतीहारी उसकी सुन्दरता के विषय में कहती है कि 'इसकी आकृति दर्शनीय (सुन्दर) लग रही है (**'ननु दर्शनीया पुनरस्या आकृतिर्लक्ष्यते'**)। इस पर राजा तुरन्त कहते हैं—'अनिर्वर्णनीयं परकलत्रम्' (५/१३ के आगे)।

अर्थात् परस्त्री को ध्यानपूर्वक नहीं देखना चाहिए।

व्याख्या—राजा के कहने का अभिप्राय यह है कि परस्त्री सुन्दर हो या असुन्दर किसी भी दशा में उसे सोद्देश्य नहीं देखना चाहिये। परस्त्री के प्रति इस प्रकार का व्यवहार अनार्य है।

(१३) **'बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चेतः'**

यह सूक्ति कालिदास विरचित शाकुन्तल के प्रथम अङ्क से उद्धृत है। प्रथम अङ्क में 'नान्दी-पाठ' के पश्चात् जब सूत्रधार नटी से यह कहता है कि 'यह सभा अनेक विद्वानों से युक्त है। हमें कालिदासविरचित 'अभिज्ञानशाकुन्तल' नामक नवीन नाटक के साथ उपस्थित होना है अर्थात् कालिदास विरचित नवीन नाटक अभिज्ञान शाकुन्तल का अभिनय करना है, अतः प्रत्येक पात्र के ऊपर पूरा ध्यान देना है—"आर्ये ! अभिरूपभूयिष्ठा परिषदियम्। अत्र खलु कालिदासग्रथितवस्तुनाऽभिज्ञानशाकुन्तलनामधेयेन नवेन नाटकेनात्रोपस्थातव्यमस्माभिः। तत्प्रतिपात्रमाधीयतां यत्नः)"। तब नटी कहती है कि आपके सुव्यवस्थित अभिनय के कारण कुछ भी न्यूनता नहीं रहेगी (सुविदितप्रयोगतयार्यस्य न किमपि परिहास्यते)। नटी के इस कथन को सुनते ही सूत्रधार कहता है कि 'आर्ये ! मैं तुमसे यथार्थ (सच) कहता हूँ—

आपरितोषाद् विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्।
बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चेतः॥ १/२

अर्थात् विद्वानों के सन्तोष तक (अर्थात् जब तक विद्वान् सन्तुष्ट न हो जाँय तब तक) मैं अपनी अभिनयकुशलता को ठीक (सफल) नहीं मानता (समझता)। (क्योंकि) विशेष रूप से शिक्षित लोगों का भी चित्त अपने ऊपर विश्वास रहित होता है।

व्याख्या—इस सूक्ति के माध्यम से सूत्रधार का (व्यक्त) तात्पर्य यह है कि जब बड़े से बड़े विद्वान् भी प्रयोग के क्षेत्र में असफल हो जाते हैं तो उसकी क्या हैसियत है ? यद्यपि वह अभिनय-कला में सिद्धहस्त है और उसने अपने पात्रों को भी सुव्यवस्थित ढंग से अभिनय-कला का प्रशिक्षण दे रखा है। परन्तु वह तबतक पूर्ण आवश्वस्त नहीं होगा जबतक विद्वान् सहृदय उसके अभिनय-चातुर्य से पूर्णतः सन्तुष्ट न हो जाँय। संसार का यह एक बहुत बड़ा यथार्थ है कि बड़े से बड़े प्रशिक्षित विद्वान् भी अपने नानाविध ज्ञान के विषय में पूर्णतः विश्वस्त नहीं हो पाते। उन्हें अपने ज्ञान के विषय में सन्देह बना रहता है। ऐसी स्थिति में नट-नटी एवं सूत्रधार सहित सभी को अपने अभिनय-कौशल के विषय में सदा सावधान रहना चाहिये।

(१४) **'हंसो हि क्षीरमादत्ते तन्मिश्रा वर्जयत्यपः'**

यह सूक्ति कालिदास रचित अभिज्ञानशाकुन्तल के षष्ठ अङ्क (श्लो० २८) से उद्धृत है। नेपथ्य में विदूषक का, 'मित्र ! बचाओ-बचाओ (वयस्य, अविहा, अविहा) यह आर्तनाद सुनकर राजा, उसे बचाने के लिये 'सखे न भेतव्यं न भेतव्यम्' यह कहते हुये उसकी ओर जाते हैं। नेपथ्य से पुनः विदूषक की 'कथं न भेष्यामि...' यह आवाज आती है। राजा बाणसहित धनुष लेकर निर्दिष्ट स्थान की ओर दौड़ते हैं, परन्तु वह स्थान उन्हें शून्य (सूना) मिलता है। फिर नेपथ्य से विदूषक की आवाज 'बचाओ-बचाओ। मैं आप को देख रहा हूँ। क्या आप मुझको नहीं देख रहे हैं ? बिल्ली के द्वारा पकड़े गये चूहे की भाँति (मैं अपने जीवन के विषय में) निराश हो गया हूँ (अविहा, अविहा। अहमत्रभवन्तं पश्यामि। त्वं मां न पश्यसि ? विडाल...संवृत्तः')। इस पर राजा क्रुद्ध होकर 'हे तिरस्करिणी विद्या से गर्वित, मेरा अस्त्र तुम्हें देखेगा। तो यह मैं उसी बाण को चढ़ाता हूँ (भोस्तिरस्करिणीगर्वित, मदीयमस्त्रं त्वां द्रक्ष्यति। एष तमिषुं सन्दधे)—

यो हनिष्यति वध्यं त्वां रक्ष्यं रक्षिष्यति द्विजम्।
हंसो हि क्षीरमादत्ते तन्मिश्रा वर्जयत्यपः॥ ६/२८

'जो वध के योग्य तुमको मार डालेगा और रक्षायोग्य ब्राह्मण (विदूषक) को बचा लेगा, जैसे कि हंस दूध को ले लेता है और उसमें मिले हुये जल को छोड़ देता है।'

व्याख्या—हंस का नीर-क्षीर विवेक विश्वविख्यात है। ऐसी जनश्रुति है कि हंस पानी मिले हुये दूध से पानी को पृथक् कर उसे छोड़ देता है और दूध को ले लेता है। उक्त घोर सङ्कट में विदूषक और आक्रामक दोनों एकत्रित (मिले) हुये हैं। विदूषक दूध के समान है और आक्रामक व्यक्ति पानी के समान है। राजा दूध-स्थानीय अपने मित्र विदूषक को बचा लेंगे और जल-स्थानीय आक्रामक को मार डालेंगे। विशेष विवरण के लिये द्रष्टव्य भूमिका के पृष्ठ १०२ पर सूक्ति संख्या ८९ तथा ६/२८ श्लो० की टिप्पणी।

(१५) **'को नामोष्णोदकेन नवमालिकां सिञ्चति ?'**

यह सूक्ति कालिदासविरचित 'अभिज्ञानशाकुन्तल' के चतुर्थ अङ्क से उद्धृत है। शकुन्तला कुटीर में दुष्यन्त के वियोग से विह्वल होकर बैठी थी और उसकी दोनों सखियाँ पूजा के लिये पुष्पचयन कर रही थीं। इसी बीच नेपथ्य से—'अरे अतिथि का तिरस्कार करने वाली ! जिसकी याद में तुम तल्लीन होने के कारण उपस्थित हुये मुझ अतिथि (दुर्वासा) को नहीं जान पा रही हो, वह (तुम्हारा प्रिय व्यक्ति) याद दिलाये जाने पर भी तुम्हें उसी प्रकार स्मरण नहीं कर पायेगा, जिस प्रकार उन्मत्त व्यक्ति पहले कही हुई बात को स्मरण नहीं कर पाता' (आः अतिथिपरिभाविनि, 'विचिन्तयन्ती... प्रथमं कृतामिव॥ ४/१॥)। प्रियंवदा को दुर्वासा के शाप का ज्ञान हो जाता है और वह अनसूया की सलाह पर वह (प्रियंवदा) दुर्वासा के पास जाती है और अनुनय-विनय कर उन्हें मना कर लौटती है। शाप का वृत्तान्त शकुन्तला को अज्ञात है। जब अनसूया उससे (प्रियंवदा से) कहती है कि 'यह शापवृत्तान्त हम दोनों की ही

जानकारी में रहे। निश्चय हमको स्वभाव से कोमल हृदयवाली शकुन्तला की रक्षा करनी चाहिये (**प्रियंवदे ! द्वयोरेव नौ मुख एष वृत्तान्तस्तिष्ठतु। रक्षितव्या खलु प्रकृतिपेलवा प्रियसखी**)। उसकी बात का समर्थन करती हुयी प्रियंवदा कहती है—

'को नामोष्णदकेन नवमालिकां सिञ्चति।' (४/२ के पहले)

अर्थात् भला कौन व्यक्ति नवमालिका (चमेली) को उष्ण जल (गरम पानी) से सींचेगा ? अर्थात् कोई नहीं।

व्याख्या—दोनों सखियों के सामने यह विषम समस्या है कि कोमल हृदया शकुन्तला को दुर्वासा के शाप का वृत्तान्त ज्ञात न होने पाये। क्योंकि उसका वृत्तान्त जान लेने पर (शकुन्तला को) निश्चित रूप से बड़ा आघात लगेगा, जिसके कुप्रभाव से मुक्ति पाना कठिन होगा। इसीलिये दोनों तदर्थ प्रयत्नशील हैं। शकुन्तला की प्राणरक्षा दोनों का अभीष्ट है। उक्त अवसर पर प्रियंवदा की यह उक्ति अत्यन्त सारगर्भित है। उसका अभिप्राय यही है कि संसार में कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं मिलेगा जो गरम जल से नवमालिका को सींचे। नवमालिका पुष्प इतना कोमल होता है कि गरम जल से उसको सींचने का अर्थ है कि विनाश (अर्थात् सूख जाना)। कोई भी समझदार व्यक्ति नवमालिका जैसे रमणीय एवं स्पृहणीय पुष्प का विनाश नहीं चाहेगा। इसी प्रकार कोई भी व्यक्ति नवमालिका के समान कोमल शकुन्तला को उष्णजल के समान शाप का समाचार सुनाकर उसका अहित नहीं करना चहेगा।

यह है कि दोनों सखियाँ शकुन्तला की हितैषिणी हैं अत: वे किसी भी दशा में उसे शाप का समाचार सुनाकर उसका अहित नहीं करना चाहतीं।

(१६) **'कष्टं खल्वनपत्यता'**

यह सूक्ति कालिदासविरचित 'अभिज्ञानशाकुन्तल' के षष्ठ अङ्क से उद्धृत है। षष्ठ अङ्क में शकुन्तलावियोगजनित शोक से व्याकुल राजा दुष्यन्त के समक्ष राजकार्य से सम्बद्ध अमात्य के पत्र को लेकर प्रतीहारी उपस्थित होती है। उक्त पत्र में समुद्र के द्वारा व्यापार करने वाले सार्थवाह (व्यापारियों के मुखिया) धनमित्र के नौकादुर्घटना में मृत्यु का समाचार था। साथ ही पत्र में उसके अनपत्य (सन्तानहीन) होने की बात भी लिखी गयी थी (अनुवाच्य, कथम् ? समुद्रव्यवहारी सार्थवाहो धनमित्रो नाम नौव्यसने विपन्नः। अनपत्यश्च किल तपस्वी')। उक्त पत्र से धनमित्र की नि:सन्तानता का समाचार जानकर वह दु:खी मन से कहता है—

'कष्टं खल्वनपत्यता' (६/२३ के पूर्व)

अर्थात् सन्तान-हीनता निश्चय ही कष्टदायिनी होती है।

व्याख्या—संसार में सन्तान अपने माता-पिता की अपूर्व सम्पत्ति होती है। मनुष्य क्या, संसार के सभी प्राणियों का सन्तान के प्रति अपूर्व आकर्षण होता है। महाकवि भवभूति ने सन्तान को स्नेह की पराकाष्ठा और माता-पिता के स्नेह की कड़ी माना है—'प्रसवः खलु प्रकृष्टपर्यन्तस्नेहस्य। परं चैतदन्योन्यसंश्लेषणं पित्रोः'। तमसा के माध्यम से प्रकट की गयी सन्तान की परिभाषा कितनी अच्छी है—

'अन्त:करणतत्त्वस्य दम्पत्योः स्नेहसंश्रयात्।
आनन्दग्रन्थिरेकोऽयमपत्यमिति पठ्यते'॥ (उ०रा०च० ३/१७)

इसमें सन्तान को पति-पत्नी के हृदयरूपी वस्तु के प्रेम के आश्रय से आनन्द की गाँठ कहा गया है। ऐसी सन्तान से विहीन होना राजा के क्लेश का बड़ा कारण है। इसीलिये उनका सन्तानाभावजनित अपार कष्ट उनकी इस उक्ति में ('कष्टं खल्वनपत्यता' में) व्यक्त हुआ है। राज के दु:ख-दर्द भरे इस कथन के पीछे दो और कारण हैं। एक यह कि सन्तान के अभाव में पिता की सम्पत्ति दूसरे को चली जाती है। दूसरा यह कि उनके मरने के बाद पुत्र के अभाव में, उनका तर्पणादि श्राद्ध कर्म कौन करेगा ? इस कष्ट को वे निम्नङ्कित कथन में प्रकट भी करते हैं—

'अस्मात् परं बत यथाश्रुति सम्भृतानि, को नः कुले निवपनानि नियच्छतीति ।' ६/२५

निश्चय ही सन्तानहीनता कष्टकर होती है ।

(१७) **'सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः'**

यह सूक्ति कालिदासविरचित 'अभिज्ञानशाकुन्तल' नामक नाटक के प्रथम अङ्क से उद्धृत है । राजा दुष्यन्त आखेट (मृगया-शिकार) के प्रसङ्ग में वन में कण्व के आश्रम में प्रवेश करते हैं, तब वहाँ उन्हें तीन (शकुन्तला, प्रियंवदा तथा अनसूया) आश्रम कन्यायें वृक्षों को सींचती हुई दिखायी पड़ती हैं। शकुन्तला के प्रति विशेष आकर्षण के कारण उसके जन्म, जाति आदि के विषय में उनके मन में जिज्ञासा उत्पन्न होती है, सम्भव है यह (शकुन्तला) कुलपति (कण्व) की असवर्ण (ब्राह्मणेतर) पत्नी से उत्पन्न हुई हो ?' फिर वे उक्त विचार को स्थगित कर 'अथवा सन्देह करना व्यर्थ है'—(अपि नाम कुलपतेरियमक्षेत्रसम्भवा स्यात् अथवा कृतं सन्देहेन) यह सोचते हुये कहते हैं—

असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा यदार्यमस्यामभिलाषि मे मनः ।
सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः ॥ १/२२

सूक्ति का अर्थ—सन्दिग्ध वस्तुओं से सम्बन्धित (कर्त्तव्याकर्त्तव्य के निर्धारण में) सज्ज्नों के अन्तःकरण की प्रवृत्तियाँ प्रमाण होती हैं अर्थात् किसी कार्य में सन्देह होने पर सज्जनों को अपने आत्मा के निर्देशानुसार कार्य करना चाहिये ।

व्याख्या—राजा दुष्यन्त श्लोक के पूर्वार्द्ध में यह कहते हैं कि 'यह शकुन्तला निश्चय ही क्षत्रिय के साथ विवाह करने योग्य है, क्योंकि मेरा निष्कलुष श्रेष्ठ मन इसको प्राप्त करने की इच्छा रखता है। इसका अभिप्राय यह है कि शुद्ध चरित्र वाले व्यक्तियों का मन अजितेन्द्रियों की भाँति कभी भी इधर-उधर नहीं दौड़ता । उनका अन्तःकरण जो कहे, वही प्रमाण होना चाहिये । उनके मन का शकुन्तला के प्रति आकृष्ट होना ही इस बात का प्रमाण है कि शकुन्तला ब्राह्मणतनूजा होने के कारण अग्राह्य नहीं है ।

दुष्यन्त के उक्त कथन का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया जा सकता है कि धर्मशास्त्र के विधानानुसार क्षत्रिय, ब्राह्मण-कन्या से विवाह नहीं कर सकता । ऐसी दशा में यदि शकुन्तला ब्राह्मण की सन्तान है, तो वह दुष्यन्त के द्वारा पत्नी रूप में ग्रहणीय नहीं हो सकती । परन्तु उसके प्रति चूँकि उनका मन आकृष्ट हो चुका है अतः इस विषय में यह सन्देह करने की आवश्यकता नहीं कि 'शकुन्तला विवाह के योग्य है या नहीं ? वह निश्चित रूप से उनके विवाह करने लायक है ।

दुष्यन्त के उक्त कथन को उनके गर्व या अभिमान का द्योतक नहीं माना जाना चाहिये । उक्त कथन उनके आत्मविश्वास का प्रकाशक है। उनको अपने मन की पवित्रता पर पूर्ण विश्वास है। आत्मविश्वास या आत्मतुष्टि धर्म का एक अङ्ग है । मनु ने भी कहा है—

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम् ।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च ।

विशेष—इस सन्दर्भ में १/२२ की टिप्पणी द्रष्टव्य है ।

(१८) **'दूरीकृताः खलु गुणैरुद्यानलता वनलताभिः'**

यह सूक्ति कालिदासविरचित 'अभिज्ञानशाकुन्तल' नामक नाटक के प्रथम अङ्क से उद्धृत है । राजा दुष्यन्त ज्यों ही कण्व के आश्रम में पहुँचते हैं, वहाँ उनको बातचीत की आवाज सुनायी पड़ती है । जब वे कुछ आगे बढ़कर देखते हैं तो उन्हें कुछ तपस्विकन्यायें अपने आकार के अनुरूप सिंचाई के घड़े लिये आती हुयी दिखायी देती हैं । ध्यान से देखने पर वे उनकी रमणीयता पर आश्चर्यचकित हो जाते हैं—(अहो मधुरमासां दर्शनम्) अहो ! इनका रूप अत्यन्त सुन्दर है और वे आगे कहते हैं—

शुद्धान्तदुर्लभमिदं वपुराश्रमवासिनो जनस्य ।
दूरीकृताः खलु गुणैरुद्यानलताः वनलताभिः ॥ १/१७

यदि आश्रम वासी व्यक्तियों (रमणियों) का इस प्रकार का सुन्दर शरीर है, जो अन्त:पुर में भी दुर्लभ है, तो निश्चय ही वनतलाओं ने अपने गुणों से उद्यानलताओं को तिरस्कृत कर दिया। अर्थात् जङ्गल की लताओं को निश्चित रूपसे पराजित कर दिया।

व्याख्या—इस सूक्ति का तात्पर्य यह है कि राजमहलों में, जहाँ की नारियों को अच्छे से अच्छे सौन्दर्यवर्धक शृङ्गार-प्रसाधन उपलब्ध रहते हैं, रहने वाली स्त्रियाँ, शृङ्गारादि साधनविहीन वातावरण में रहने वाली जङ्गली स्त्रियों की अपेक्षा अधिक सौन्दर्यशालिनी होती हैं, परन्तु वन में आकर तथा उन वनवासी कन्याओं के रूप को देखकर उनकी उक्त धारणा निर्मूल हो जाती है। उन्हें ऐसा प्रतीत होने लगता है कि इन वनवासी बालाओं ने, अपने सौन्दर्यादि गुणों से, राजमहलों के सुखद वातावरण में रहने वाली तथा शृङ्गारादि से मण्डित महिलाओं को उसी प्रकार मात कर दिया, जिस प्रकार वन के स्वस्थ एवं सहज वातावरण में, साधनाभाव के कारण स्वत: बढ़ी हुयी वनलतायें उद्यान की उन लताओं को पराभूत कर देती हैं, जो निरन्तर सींची जाती हैं और कृत्रिम रूप से पाली-पोषी जाती हैं।

दुष्यन्त के उक्त कथन का सारांश यह है कि जङ्गल के सहज सौन्दर्य के समक्ष राजसी ठाट-बाट वाला कृत्रिम सौन्दर्य नगण्य है।

(१९) **'अज्ञातहृदयेष्वेव वैरी भवति सौहृदम्'**

यह सूक्ति कालिदासविरचित 'अभिज्ञानशाकुन्तल' नामक नाटक के पञ्चम अङ्क से उद्धृत है। शार्ङ्गरव, शारद्वत तथा गौतमी के साथ शकुन्तला दुष्यन्त की सभा में उपस्थित होती है। शापाभिभूत होने के कारण, अनेक प्रमाणों को प्रस्तुत करने पर भी राजा दुष्यन्त शकुन्तला को पत्नीरूप में स्वीकार करने को उद्यत नहीं होते। दुष्यन्त के अपमान-जनक व्यवहार से शकुन्तला अत्यन्त क्षुब्ध एवं दु:खी हो जाती है। वह 'अच्छा, तो अब मैं स्वच्छन्द विचरण करने वाली दुश्चरित्र सिद्ध कर दी गयी हूँ जो मैं मुख से मीठा बोलने वाले तथा हृदय में विष भरे हुये इस क्रूर पुरुवंशी राजा के हाथों पड़ गयी हूँ। ('सुष्ठु तावदत्र स्वच्छन्दचारिणी कृतास्मि। याऽहमस्य पुरुवंशप्रत्ययेन मुखमधोर्हृदयस्थितविषस्य हस्ताभ्याशमुपगता')। यह कहकर वह आञ्चल से मुख ढककर रोने लगती है। इस पर क्रुद्ध होकर शार्ङ्गरव, पहले (बिना किसी के पूछे) अपने आप की गयी स्वच्छन्द चपलता इसी प्रकार जलाती (दु:ख देती) है (इत्यमात्मकृतमप्रतिहतं चापलं दहति)' यह कहकर आगे कहता है—

अत: परीक्ष्य कर्त्तव्यं विशेषात् सङ्गतं रह:।
अज्ञातहृदयेष्वेव वैरी भवति सौहृदम्॥ ५/२४

सूक्ति का अर्थ—अज्ञात हृदय वाले लोगों के साथ किया गया प्रेम इसी प्रकार वैर के रूप में बदल जाता है अर्थात् दु:खद बन जाता है।

व्याख्या—शार्ङ्गरव भारतीय सभ्यता-संस्कृति में पला हुआ एक संस्कार सम्पन्न व्यक्ति है। उसके कहने का अभिप्राय यह है कि व्यक्ति को सम्यक् परीक्षण करके ही एकान्त में सम्बन्ध स्थापित करना चाहिये। नीतिशास्त्रों में भी कहा गया है कि जिसका कुल, शील आदि अज्ञात हो, उसे अपने घर में कभी रहने का अवसर नहीं देना चाहिये—

'अज्ञात कुलशीलस्य वासो देयो न कस्यचित्'। जब अज्ञात कुल, शील वाले व्यक्ति को आश्रय देने को भी वर्जित किया गया है, तब ऐसे व्यक्ति के साथ प्रेमादि सम्बन्ध स्थापित करना कहाँ तक न्यायसङ्गत है? किसी भी कार्य में विवेक का प्रयोग करना चाहिये और चपलता नहीं करनी चाहिये क्योंकि उसका परिणाम नानाविध विपत्तियों का जनक होता है—

'सहसा विदधीत न क्रियामविवेक: परमापदां पदम्।'

शार्ङ्गरव की दृष्टि में जिस व्यक्ति के साथ मैत्री प्रणय, परिणय आदि का सम्बन्ध रखना हो, पहले उसके हृदय, कुल आदि का सम्यक् परीक्षण कर लेना चाहिये, क्योंकि ऐसे व्यक्ति के साथ (अज्ञात कुल-

शील व्यक्ति के साथ) किया गया प्रेम, शत्रुता के रूप में परिणत हो जाता है। दुष्यन्त के द्वारा अपनी प्रेमिका एवं परिणीता (शकुन्तला) के साथ किया गया शत्रुतामूलक व्यवहार उक्त तथ्य को ही प्रकाशित करता है।

वस्तुतः शार्ङ्गरव के माध्यम से कालिदास ने प्रकारान्तर से गान्धर्व विवाह को उपेक्षणीय बताया है। द्रष्टव्य १/२४ श्लो० की टिप्पणी।

(२०) **'ग्लपयति यथा शशाङ्कं न तथा कुमुद्वतीं दिवसः'**

यह सूक्ति कालिदासविरचित 'अभिज्ञानशाकुन्तल' नामक नाटक के तृतीय अङ्क से उद्धृत है। तृतीय अङ्क में दुष्यन्त के विरहातप से सन्तप्त शकुन्तला की रक्षा के लिये उसकी सखियाँ उसे दुष्यन्त को **मदनलेख** (प्रेमपत्र) भेजने की सलाह देती हैं। वह उनकी सलाह मानकर यह प्रेमपत्र लिखकर उसे पढ़ती है—

तव न जाने हृदयं मम पुनः कामो दिवाऽपि रात्रावपि।
निर्घृण तपति बलीयस्त्वयि वृत्तमनोरथाया अङ्गानि॥ ३/१३

उसे सुनकर राजा दुष्यन्त कहते हैं—

तपति तनुगात्रि मदनस्त्वामनिशं मां पुनर्दहत्येव।
ग्लपयति यथा शशाङ्कं न तथा कुमुद्वतीं दिवसः॥ ३/१४।

अर्थात् 'हे कृशाङ्गी ! कामदेव रातदिन तुम्हें तो केवल तपा ही रहा है, किन्तु मुझे तो भस्म ही कर डाल रहा है। दिवस, जिस प्रकार चन्द्रमा को क्षीण (प्रभाहीन) करता है, उस प्रकार कुमुदिनी को निश्चय ही (निष्प्रभ) नहीं करता।'

व्याख्या—राजा के कहने का भाव यह है कि वियोग की दशा में कामदेव शकुन्तला को तो केवल सन्तप्त ही कर रहा है (तपति), पर इसके विपरीत उसको (राजा को) तो जला ही डाल रहा है (दहति)। अर्थात् शकुन्तला तो केवल पीड़ित ही हो रही है, पर दुष्यन्त का तो अस्तित्व ही समाप्त हो रहा है। ऐसी दशा में यह निष्कर्ष सहज है कि शकुन्तला की अपेक्षा दुष्यन्त की विरह-वेदना तीव्र है। अपने इस कथन के समर्थन में दुष्यन्त यह दृष्टान्त प्रस्तुत कर रहे हैं कि 'दिवस जिस प्रकार चन्द्रमा को निष्प्रभ (प्रभाविहीन) करता है, उस प्रकार कुमुद्वती को (प्रभाहीन) नहीं करता। अर्थात् दिन में तो कुमुदिनी केवल म्लान होकर पड़ी रहती है पर एकदम निष्प्रभ हो जाने के कारण चन्द्रमा तो अदृष्ट (अस्तित्वहीन) ही हो जाता है। यहाँ दुष्यन्त ने अपनी समता चन्द्रमा से, शकुन्तला की कुमुद्वती से तथा कामदेव की दिवस से करके अपनी बात को कहा है। विशेष जानकारी के लिये द्रष्टव्य ३/१४ की टिप्पणी।

(२१) **'स्त्रीणामशिक्षितपटुत्वम्'**

यह सूक्ति कालिदासविरचित 'अभिज्ञानशाकुन्तल' नामक नाटक के पञ्चम अङ्क से उद्धृत है। दुष्यन्त अपनी सभा में, शापग्रस्त होने के कारण, शकुन्तला को न पहचान पाते हैं और न ही उसे विवाहिता के रूप में स्वीकार करते हैं। पर जब वे शकुन्तला द्वारा प्रस्तुत प्रमाणों को नकारते हुये यह कहते हैं कि 'अपने कार्य को सिद्ध करने वाली स्त्रियों के इस प्रकार के झूठे और मुधर वचनों से कामी लोग आकृष्ट किये जाते हैं' (**एवमा दिमिरात्मकार्यनिर्वर्तिनीनामनृतमयवाङ् मधुमिराकृष्यते विषयिणः**)। तब गौतमी के धैर्य का बांध टूट जाता है और वह राजा से कहती है कि 'महानुभाव ! आपको ऐसा नहीं कहना चाहिये, क्योंकि तपोपन में पालित-पोषित एवं संवर्धित शकुन्तला छल-कपट से सर्वथा दूर है (महाभाग, नार्हस्येवं मन्त्रयितुम्। तपोवनसंवर्धितोऽनभिज्ञोऽयं जनः कैतवस्य')। इसको सुनकर राजा कहते हैं—"तापसवृद्धे !

स्त्रीणामशितपटुत्वमानुषीषु
सन्दृश्यतेकिमुत याःप्रतिबोधवत्यः।
प्रागन्तरिक्षगमनात् स्वमपत्यजात-
मन्यैर्द्विजैः परभृताः खलु पालयन्ति॥ ५/२२

सूक्ति का अर्थ—'मानवेतर जाति की स्त्रियों में भी जब शिक्षा के बिना चातुर्य दृष्टिगोचर होता है, तो ज्ञान सम्पन्न (मानवीय) नारियों का क्या कहना ? अर्थात् मानवीय नारियों में शिक्षा के बिना चातुर्य होना स्वाभाविक ही है।'

व्याख्या—शकुन्तला एवं गौतमी की वचनचातुरी को दृष्टिगत कर राजा के उक्त कथन का तात्पर्य यह है कि पुरुषजन तो प्रशिक्षित होने पर ही चतुर बनते हैं पर नारियाँ किसी शिक्षा के बिना ही स्वभावतः चालाक होती हैं। नारियों की इस प्रकार की चालाकी मानव तथा मानवेतर सभी जातियों की स्त्रियों में देखी जाती है। अपनी इस बात के समर्थन में राजा पक्षी जाति की कोयल के चातुर्य को उद्धृत करते हुये कहते हैं कि कोयल (परभृत), अपने बच्चों को, आकाश में उड़ने के पहले तक, कौआ आदि पक्षियों के द्वारा उनके घोसलों में पालन-पोषण कराती है और इसीलिये कोयल को 'परभृत' अर्थात् पर दूसरे पक्षियों (कौओं) के द्वारा, भृत-पालित-पोषित' (परैः = काकैर्भृतः) कहा जाता है। इस दृष्टान्त के द्वारा दुष्यन्त यह भाव प्रकट कर रहे हैं कि जब पक्षी जाति की स्त्री (कोयल) की यह दशा है तो शकुन्तला का क्या कहना, जो चालाकी से अपने भावी बच्चे की देखभाल मुझसे करा लेना चाहती है।

(२२) **'भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि'**

यह सूक्ति कालिदासविरचित 'अभिज्ञानशाकुन्तल' नामक नाटक के पञ्चम अङ्क से उद्धृत है। अन्यमनस्क राजा दुष्यन्त विदूषक के साथ बैठे हैं कि इसी बीच गाये जाने वाले एक गीत की ध्वनि को सुनकर विदूषक राजा से कहता है कि "मित्र, सङ्गीतशाला के भीतर की ओर ध्यान दीजिये, जहाँ से निकलने वाले गीत का मधुर स्वर सुनायी दे रहा है। लगता है महारानी हंसपदिका गानक्रिया का अभ्यास कर रही हैं।" राजा विदूषक को चुप कराकर 'अभिनवमधुलोलुपस्त्वं... कथम्' इस गीत को सुनते हैं और सुनकर अपने मन में सोचते हैं कि 'क्या कारण है कि इस भावपूर्ण गीत को सुनकर प्रिय व्यक्ति के वियोग के बिना ही मैं अत्यन्त उत्कण्ठित (खिन्न) हो रहा हूँ ? (किं नु खलु गीतमेवं विधार्थमाकर्ण्येष्टजनविरहाहतेऽपि बलवदुत्कण्ठितोऽस्मि)। इसके बाद वे 'अथवा' कहकर आगे कहते हैं—

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुको भवति यत्सुखिनोऽपि जन्तुः।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि ॥ ५/२

अर्थ—रमणीय वस्तुओं को देखकर तथा मधुर शब्दों (गीतादि) को सुनकर सुखी प्राणी भी जो उत्कण्ठित (व्याकुल) हो जाता है, वह निश्चय ही संस्कार (वासना) के रूप में दृढ़ रूप से विद्यमान पूर्वजन्म के प्रणय-सम्बन्धों (प्रेम व्यवहारों) को अज्ञानपूर्वक (न जानते हुये) मन से स्मरण करता है।

व्याख्या—राजा दुष्यन्त के कहने का अभिप्राय यह है कि संसार में सुखी व्यक्ति रमणीय वस्तुओं को देखकर तथा मधुरगीत आदि को सुनकर साधारणतः प्रसन्न होता है, परन्तु कभी-कभी ऐसा भी अवसर आ जाता है, जब वह (सुखी) व्यक्ति सुन्दर वस्तुओं को देखते तथा मधुर गीतादि को सुनते ही उत्कण्ठित (खिन्न) हो जाता है। ऐसी स्थिति में यद्यपि वह अपनी खिन्नता का कारण नहीं जान पाता, पर एक प्रकार से वह हृदय में संस्कार रूप से विद्यमान जन्मान्तरीय (या पूर्व घटित) प्रणयादि सम्बन्धों को स्मरण करता है और इसीलिये प्रसन्न होने के स्थान पर खिन्न हो जाता है।

यह सूक्ति अत्यन्त मनोवैज्ञानिक है। इस जन्म या पूर्वजन्म की घटनाओं, वृत्तान्तों आदि से सम्बन्ध संस्कार मन में विद्यमान रहते हैं। यद्यपि मनुष्य उन्हें जान नहीं पाता परन्तु उसके (मनुष्य के) सुख-दुःख की अनुभूति में उनकी (संस्कारों की) भूमिका रहती है। इसीलिये मनुष्य आनन्द के कारणों की उपस्थिति में भी दुःखी हो जाता है। हंसपदिका के गीत को सुनकर दुष्यन्त को जो सुख के स्थान पर खिन्नता की अनुभूति हो रही है, उसका कारण उनके हृदय में विराजमान शकुन्तला से सम्बद्ध प्रणयादि

संस्कार ही हैं। शापग्रस्त होने के कारण वे (दुष्यन्त) उसे जान नहीं पा रहे हैं, इसीलिये उसे जन्मान्तर का संस्कार मान रहे हैं।

विशेष—विशेष ज्ञान के लिये द्रष्टव्य ५/२ श्लो० की टिप्पणी।

(२३) **'लभेत वा प्रार्थयिता न वा श्रियं श्रिया दुरापः कथमीप्सितो भवेत्'**।

यह सूक्ति कालिदासविरचित 'अभिज्ञानशाकुन्तल' नामक नाटक के तृतीय अङ्क से उद्धृत है। जब शकुन्तला अपनी सखियों के साथ दुष्यन्त को प्रेमपत्र (मदन-लेख) लिखने का सर्वसम्मति से निर्णय ले लेती हैं, तब प्रियंवदा शकुन्तला से 'मदन-लेख' के विषय में कहती है कि "तुम अपना उल्लेख करते हुये कोई ललित पदों वाली रचना सोचो" (तेन ह्यात्मन उपन्यासपूर्वं चिन्तय तावत् किमपि ललितपदबन्धनम्')। इस पर शकुन्तला कहती है कि 'सखी, मैं सोचती हूँ किन्तु (राजा के द्वारा किये जाने वाले) तिरस्कार के भय से मेरा हृदय काँप रहा है (हला चिन्तयाम्यहम्। अवधीरणाभीरुकं पुनर्वेपते मे हृदयम्)। तब राजा (दुष्यन्त) प्रसन्नतापूर्वक कहते हैं—

अयं स ते तिष्ठति सङ्गमोत्सुको
विशङ्कसे भीरु यतोऽवधीरणाम्।
लभेत वा प्रार्थयिता न वा श्रियं
श्रिया दुरापः कथमीप्सितो भवेत्॥ ३/११

अर्थ—(लक्ष्मी) को चाहने वाला व्यक्ति उसे (लक्ष्मी को) प्राप्त भी कर सकता है और नहीं भी प्राप्त कर सकता है, परन्तु लक्ष्मी जिस व्यक्ति को चाहे वह भला उसे (लक्ष्मी को) दुष्प्राप्य कैसे हो सकता है? अर्थात् लक्ष्मी के लिये अभीष्ट व्यक्ति सर्वथा सुलभ ही है।

व्याख्या—दुष्यन्त के कहने का तात्पर्य यह है कि संसार में यह देखा जाता है कि लोग लक्ष्मी को चाहते हैं अथवा ढूँढते हैं। पर यह निश्चित नहीं है कि चाहने वाले को लक्ष्मी मिल ही जाय। ठीक इसके विपरीत लक्ष्मी द्वारा चाहा गया व्यक्ति लक्ष्मी के लिये कथमपि दुष्प्राप्य नहीं हो सकता। अतः लक्ष्मीस्वरूपा शकुन्तला का उसके (दुष्यन्त के) विषय में यह भय निराधार और निरर्थक है कि वह (दुष्यन्त) उसका निरादर कर देगा। वास्तविकता यह है कि वह (दुष्यन्त) स्वयं शकुन्तला को हृदय से चाहता है। वह उसका स्वागत करने के लिये तैयार ही बैठा है।

इसी सूक्ति के प्रायः समान 'कुमारसम्भव' की सूक्ति भी है—

'न रत्नमन्विष्यति मृग्यते हि तत्'

अर्थात् रत्न स्वयं किसी को नहीं ढूँढता, अपितु वह ढूँढा जाता है।

विशेष—अन्य सूक्तियों (सुभाषितों) के सम्यक् ज्ञान के लिये द्रष्टव्य सूक्तियों से सम्बद्ध मूलभाग (गद्यांश या पद्यांश) तथा भूमिका का परिशिष्ट - १।

परिशिष्ट – ७

कालिदास विषयक प्रशस्तियाँ

१. अनघा गुणसम्पूर्णा समुचितविच्छितिरीतिरसा।
प्रस्तुतरससंदोहा सरस्वती जयति कालिदासस्य॥ (कस्यापि)

२. अस्पृष्टदोषा नलिनीव हृष्टा हारावलीव ग्रथिता गुणौघैः।
प्रियाङ्कपालीव प्रकामहृद्या न कालिदासादपरस्य वाणी॥ (श्रीकृष्णकवि)

३. अस्मिन्नतिविचित्रकविपरम्परावाहिनि संसारे कालिदासप्रभृतयो द्वित्राः पञ्चषा एव वा महाकवय इति **गण्यन्ते। (आनन्दवर्धनाचार्य : ध्वन्यालोकः)**

४. उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम्।
दण्डिनः पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः ।। (कस्यापि)

५. उपमा कालिदासस्य नोत्कृष्टेति मतं मम।
अर्थान्तरस्य विन्यासे कालिदासो विशिष्यते ।। (कस्यापि)

६. एकोऽपि जीयते हन्त कालिदासो न केनचित्।
शृङ्गारे ललितोद्गारे कालिदासत्रयी किमु ।। (राजशेखरः सूक्तिमुक्तावली)

७. कालिदासगिरां सारं कालिदासः सरस्वती।
चतुर्मुखोऽथवा साक्षाद् विदुर्नान्ये तु मादृशः ।। (मल्लिनाथः)

८. कवयः कालिदासाद्याः कवयो वयमप्यमी।
पर्वते परमाणौ च पदार्थत्वं प्रतिष्ठितम्। (भट्टपादाः)

९. कविरमरः कविरचलः कविरभिनन्दश्च कालिदासश्च।
अन्ये कवयः कपयश्चापलमात्रं परं दधति ।। (कस्यापि)

१०. कालिदासकविता नवं वयः माहिषं दधि सशर्करं पयः।
शारदेन्दुकला च कोमला स्वर्गसौख्यमुपभुञ्जते नराः ।। (उद्भटः)

११. ख्यातः कृती सोऽपि च कालिदासः शुद्धा सुधा स्वादुमती च यस्य।
वाणीमिषाच्चन्द्रमरीचिगोत्रसिन्धोः परं पारमवाप कीर्तिः ।। (सोड्ढलः)

१२. निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु।
प्रीतिर्मधुरसान्द्रासु मञ्जरीष्विव जायते ।। (बाण : हर्षचरितम्)

१३. पुरा कवीनां गणनाप्रसङ्गे कनिष्ठिकाधिष्ठितकालिदासः।
अद्यापि तत्तुल्यकवेरभावादनामिका सार्थवती बभूव। (कस्यापि)

१४. पुष्पेषु चम्पा नगरीषु काञ्ची नदीषु गङ्गा नृवरेषु रामः।
नारीषु रम्भा पुरुषेषु विष्णुः काव्येषु माघः कविकालिदासः ।।

१५. भासयत्यपि भासादौ कविवर्गे जगत्त्रयम्।
के न यान्ति निबन्धारः कालिदासस्य दासताम् ।।

१६. महाकविकालिदासं वन्दे वाग्देवतागुरुम्।
यज्ज्ञाने विश्वमाभाति दर्पणे प्रतिबिम्बितम् ।।

१७. यस्याश्चोरश्चिकुरनिकुरः कर्णपूरो मयूरः
भासो हासः कविकुलगुरुः कालिदासो विलासः।
हर्षो हर्षः हृदयवसतिः पञ्चबाणस्तु बाणः,
केषां नैषा कथय कविताकामिनी कौतुकाय ।। (जयदेवः प्रसन्नराघवम्)

१८. येनायोजि नवेऽश्मस्थिरमर्थविधौ विवेकिनाजिनवेश्म।
स जयतां रविकीर्ति : कविताश्रितकालिदासभारविकीर्तिः ।। (ऐहोलशिलालेखः)

१९. रसभारभरोद्भिन्नां भारतीममरादृते।
श्रीमतः कालिदासस्य विज्ञातुं कः क्षमः पुमान् ।। (स्थिरदेवः)

२०. लिप्ता मधुद्रवेणासन् यस्य निर्विषया गिरः।
तेनेदं वर्त्म वैदर्भं कालिदासेन शोधितम्। (दण्डी-अवन्तिसुन्दरीकथा)

२१. वयमपि कवयः कवयः कालिदासाद्याः ।
दृषदो भवन्ति दृषदश्चिन्तामणयोऽपि हा दृषदः ॥ (कस्यापि)

२२. वाल्मीकेरजनि प्रकाशितगुणा व्यासेन लीलावती ।
वैदर्भी कविता स्वयं वृतवती श्रीकालिदासं वरम् ॥ (कस्यापि)

२३. वाल्मीकिमिव सभासं यशः शरीरेण सर्वदा सन्तम् ।
रसवद्वचनविकासं नमत कविं कालिदासम् तम् ॥

२४. वैदर्भीरीतिसन्दर्भे कालिदासो विशिष्यते । (कस्यापि)

२५. श्रीकालिदासकविवर्यसरस्वतीयं
किं वर्णयाम्यतितरां रसवाहिनीति ।
यत्कलिका भगवती शुचिभावयोगाद्
यस्यामहो मुहुरनुग्रहमादधाति ॥ (बिठो बाअण्णा सुश्लोकलाघव)

२६. श्रीकालिदासस्य वचो विचार्य नैवान्यकाव्ये रमते मतिर्मे ।
किं परिजातं परिहृत्य हन्त भृङ्गालिरानन्दति सिन्दुवारे ॥ (कस्यापि)

२७. साकूतमधुरकोमलविलासिनीकण्ठकूंजितप्राये ।
शिक्षासमयेऽपि मुदे रसलीलाकालिदासोक्ती ॥ (गोर्वर्धनाचार्य : आर्यासप्तशती)

२८. सुवशा कालिदासस्य मन्दाक्रान्ता प्रवल्गति ।
सदश्वदमकस्येव काम्बोजतुरगाङ्गना ॥ (क्षेमेन्द्रः सुवृत्ततिलकम्)

परिशिष्ट-८

शाकुन्तलविषयक प्रशस्तियाँ

१. काव्येषु नाटकं रम्यं तत्र रम्या शकुन्तला ।
तत्रापि च चतुर्थोऽङ्कस्तत्र श्लोकचतुष्टयम् ॥ (कस्यापि)

२. कालिदासस्य सर्वस्वमभिज्ञानशाकुन्तलम् ।
तत्रापि च चतुर्थोऽङ्को यत्र याति शकुन्तला ॥ (कस्यापि)

३. शाकुन्तलचतुर्थोऽङ्कः सर्वोत्कृष्ट इति प्रथा ।
न सर्वसंमता यस्मात् पञ्चमोऽस्ति ततोऽधिकः । (कस्यापि)

४. वासन्तं कुसुमं फलं च युगपद् ग्रीष्मस्य सर्वं च यद्
यच्चान्यन्मनसो रसायनमतः सन्तर्पणं मोहनम् ।
एकीभूतमभूतपूर्वमथवा स्वर्लोकभूलोकयो—
रैश्वर्यं यदि वाञ्छसि प्रियसखे शाकुन्तलं सेव्यताम् ॥
(महाकवि गेटे म०म० वासुदेव निरासी कृतानुवादः)

मुद्रक : *सीमा प्रेस, भरत मिलाप कालोनी, ईश्वरगंगी, वाराणसी।* **फोन :** *211092*